बृहत्तपागच्छनायकश्रीमद्-देवेन्द्रसूरिविरचिताः

नव्याः पञ्च कर्मग्रन्थाः

तथा

श्री पूर्वाचार्यविरचिता सप्ततिका

प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पञ्चमाः स्वोपज्ञविवरणोपेताः

तृतीयः पूर्वस्थविरविरचितावचूरिटीकया समलङ्कृतः

सप्ततिका तु श्रीमन्मलयगिरिसूरिकृतटीकया विभूषिता

प्रेरकाः सकलसंघहितैषिणः सिद्धान्तमहोदधि-कर्मशास्त्रनिष्णाताः

आचार्यदेव-श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वराः

भारतीय-प्राच्य-तत्त्व-प्रकाशन-समिति, पिंडवाडा

卐 श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः 卐

सकलागमरहस्यवेदिपरमज्योतिर्विच्छ्रीमद्विजयदानसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमः ।

भारतीय-प्राच्य-तत्त्व-प्रकाशन-समिति-पिण्डवाडा-संचालितायां

आचार्यदेवश्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरकर्मसाहित्यजैनग्रन्थमालाया ग्रन्थः

बृहत्तपागच्छनायकश्रीमद्-देवेन्द्रसूरिविरचिताः

नव्याः पञ्च कर्मग्रन्थाः

तथा

श्री पूर्वाचार्यविरचिता सप्ततिका

प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पञ्चमाः स्वोपज्ञविवरणोपेताः

तृतीयः पुनरन्याचार्यविरचितयाऽवचूरिरूपटीकया समलङ्कृतः

सप्ततिका तु पूज्यमलयगिरिसूरिकृतवृत्त्या विभूषिता

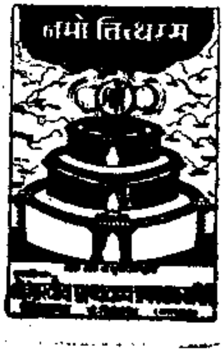

प्रेरका मार्गदर्शकाश्च :-

सिद्धान्तमहोदधि-कर्मशास्त्रनिष्णाता आचार्यदेवाः

श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वराः

प्रकाशिका—भारतीय-प्राच्य-तत्त्व-प्रकाशन-समिति, पिण्डवाडा ।

प्रथम आवृत्तिः- प्रति- २५०	राजाधिराज संस्करण-६०) रु०	वीर संवत् २५०३ विक्रम सवत् २०३३

*** प्राप्तिस्थान ***

भारतीय-प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन-समिति
C/o रमणलाल लालचंद शाह
१३५/१३७ झवेरी बाजार, बम्बई २

•

भारतीय-प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन-समिति
C/o शा. समरथमल रायचंदजी
पिंडवाड़ा, (राज०)
स्टे० सिरोही रोड (W. R.)

•

भारतीय-प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन-समिति
शा. रमणलाल वजेचन्द,
C/o दिलीपकुमार रमणलाल
मस्कती मार्केट,
अहमदाबाद २.

•

मुद्रक—
ज्ञानोदय प्रिंटिंग प्रेस, पिंडवाड़ा

टीकाकारे टीकामां उद्धरेलें शास्त्रीय प्रमाणोना स्थानदर्शक संकेतो

अनु०/अनुयो०	अनुयोगद्वारसूत्र.
अनु० चू०	अनुयोगद्वारसूत्र चूर्णी.
अनु० हा० टी०	अनुयोगद्वारसूत्र हारिभद्रीय टीका
आ० प्र० श्रु० द्वि० अ०	आचाराङ्गसूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध द्वितीय अध्ययन.
आ० नि०	आवश्यकनिर्युक्ति.
आ० नि० गा० / आव० नि० गा०	आवश्यक निर्युक्ति गाथा.
आव० सं० गा०	आवश्यक संग्रहणी गाथा.
उप० मा० गा०	उपदेशमाला गाथा.
प्र० सू० उपयो० पद	प्रज्ञापनासूत्रोपाङ्ग उपयोगपद.
कर्मस्त० गा०	कर्मस्तव गाथा.
जम्बू०	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र.
जीवस० गा०	जीवसमास गाथा.
तत्त्वा० अ० सू०	तत्त्वार्थाधिगम अध्याय सूत्र.
तत्त्वार्थ० अ० सू० सिद्ध० टीका	तत्त्वार्थाधिगम अध्याय सूत्र सिद्धसेनीया टीका.
धर्मसं० गा०	धर्मसङ्ग्रहणी गाथा.
नन्दी०	नन्दीसूत्रटीका.
पञ्चव० गा०	पञ्चवस्तुक गाथा.
पञ्चसं० गा०	पञ्चसङ्ग्रह गाथा.
पञ्चसं० ल० वृ० प०	पञ्चसङ्ग्रह लघुवृत्ति पत्र.
पञ्चाश० गा०	पञ्चाशक गाथा.
प्रज्ञा०/प्रज्ञाप०	प्रज्ञापनासूत्रोपाङ्ग.
प्रज्ञापना पद / प्रज्ञा० पद	प्रज्ञापनासूत्रोपाङ्ग पद.
प्रज्ञा० समु० पद	प्रज्ञापनासूत्रोपाङ्ग समुद्घात पद.
प्रव० गा० / प्रवच० गा०	प्रवचनसारोद्धार गाथा.
प्रश० का० / प्रशम० का० / प्रशम० पद्य	प्रशमरति कारिका.
बृ० कर्मवि० गा० / बृ० क० वि० गा० / बृहत्कर्मवि० गा०	बृहत्कर्मविपाक गाथा.
बृ० क० स्त० गा०	बृहत्कर्मस्तव गाथा.
बृ० क० स्त० भा० गा०	बृहत्कर्मस्तव भाष्य गाथा,
बृ० द्रव्य सं० गा०	बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा.
बृह० क्षे० गा०	बृहत्क्षेत्रसमास गाथा.
बृ० सं० / बृ० सं० गा० / बृ० संग्र० गा० / बृहत्सं० गा०	बृहत्सङ्ग्रहणी गाथा.

भग० श० उ० भ० श० उ०	भगवतीसूत्र शतक उद्देश
भ० श० उ० प०	भगवतीसूत्र शतक उद्देश पत्र.
योगशा० टी०	योगशास्त्रस्वोपज्ञटीका.
विशे० आ० गा० विशे० गा० विशेषा० गा०	विशेषावश्यक भाष्य गाथा.
भ० सू० श० उ०	भगवतीसूत्र शतक उद्देश.
शास्त्र० स्त० श्लो०	शास्त्रवार्तासमुच्चय स्तबक श्लोक.
श्रावकप्र० गा० श्राव० प्र० गा०	श्रावकप्रज्ञप्ति गाथा.
समु० प०	प्रज्ञापनासूत्रोपाङ्ग समुद्घात पद,
अनुयो हा० टी०	अनुयोगद्वार सूत्र हारिभद्री टीका
कर्मप्र० कर्मप्र० गा०	कर्मप्रकृति गाथा
कर्मस्त० भा० गा०	कर्मस्तव भाष्य गाथा
जिनभ० सङ्ग्र० गा०	जिनभद्रीया सङ्ग्रहणी गाथा
जीवसम० गा० जीवसमा० गा०	जीवसमासप्रकरण गाथा
तत्त्वा० अ० सू० भाष्यटी०	तत्त्वार्थ अध्याय सूत्र भाष्यटीका
नन्दी पत्र	नन्दीसूत्र पत्र
पञ्चव० गा०	पञ्चवस्तुक गाथा
पञ्चसं० गा०	पञ्चसंग्रह गाथा
पञ्चाश० गा०	पञ्चाशक गाथा
प्रशम० आ०	प्रशमरतिप्रकरण आर्या
बृहत्क० भा० गा० बृ० कल्प० गा०	बृहत्कल्पसूत्र भाष्य गाथा
बृ० शत० गा०	बृहत् शतक कर्मग्रन्थ गाथा
विशेषा० भा० गा०	विशेषावश्यक भाष्य गाथा
भ० शत० उ० भ० शत० उद्दे०	भगवती सूत्र शतक उद्देश
शत० गा०	शतक कर्मग्रन्थ गाथा
श० बृ० भा० गा शत० बृ० भा० गा०	शतक बृहद्भाष्य गाथा
सि० सिद्धहेम० सिद्ध० सिद्धहे०	सिद्धहेमशब्दानुशासन
सिद्धहेम धा०	सिद्धहेम धातुपाठ

सकलागमरहस्यवेदि–सुरिपुरन्दर–बहुश्रुतगीतार्थ–परमज्योतिर्विद–परमगुरुदेव

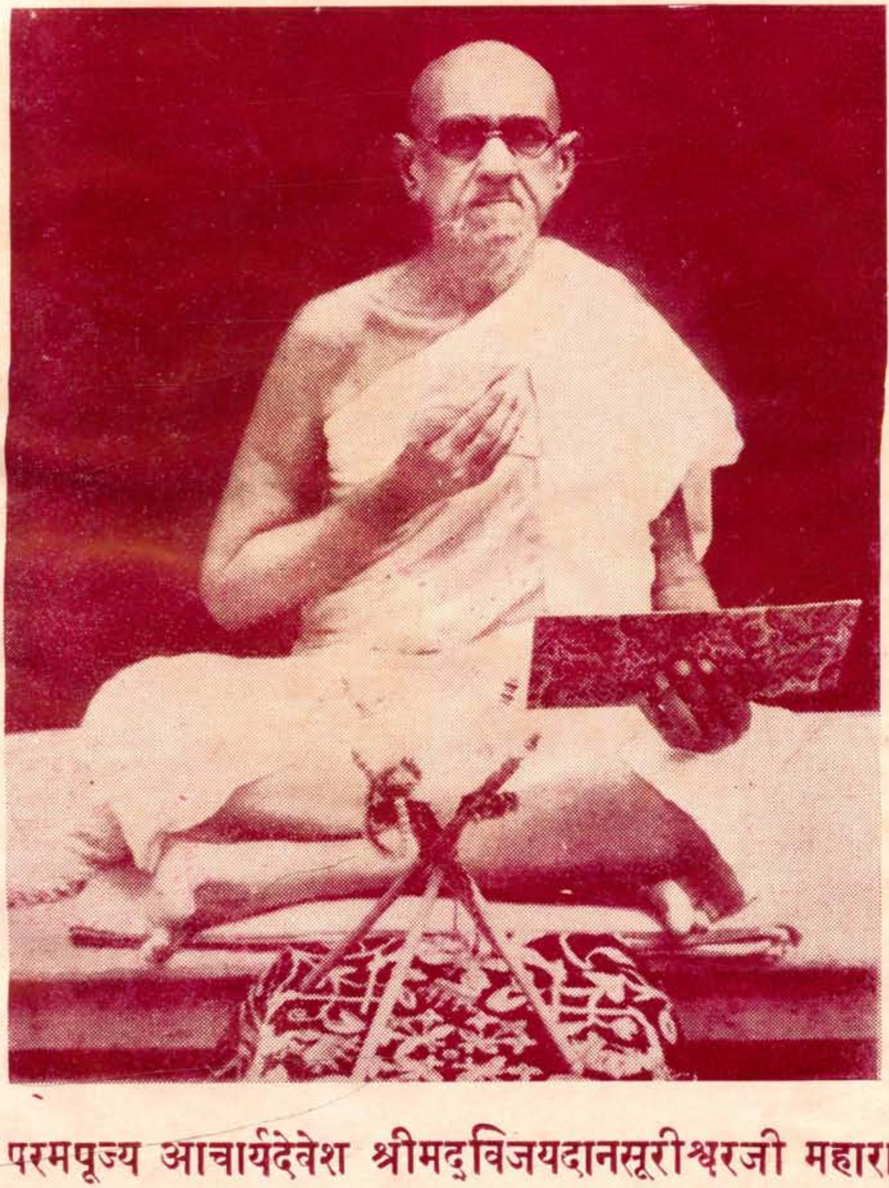

स्व. परमपूज्य आचार्यदेवेश श्रीमद्‌विजयदानसूरीश्वरजी महाराजा

प्रास्ताविक

अनन्त उपकारी ज्ञानी भगवंतोए मानवजन्मनी जे महत्ता बतावी छे, तेनु' मुख्य कारण आ मनुष्यजन्ममां ज सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रनी आराधना सविशेषपणे शक्य छे.

"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥" तथा 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' आदि सूत्रो द्वारा सम्यग्ज्ञाननु' महत्त्व पण शास्त्रोमां स्थाने स्थाने बताववामां आवेल छे.

जैन ग्रंथो मुख्यपणे द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, कथानुयोग अने चरणकरणानुयोग एम चार विभागमां वहेंचायेल छे. तेमां पण दर्शनशुद्धि माटे द्रव्यानुयोग घणो ज उपकारी छे. कह्यु' छे के-**दविए दंसणसोही ।**

द्रव्यानुयोगमां कर्मसाहित्य पण महत्त्वनो भाग भजवे छे. अन्य दर्शनोमां अेनु' नहिवत् स्थान छे, ज्यारे जैन दर्शनमां कर्मसाहित्य विपुल प्रमाणमां उपलब्ध छे.

जैन दर्शन सांसारिक जीव विषयक कार्यनी उत्पत्तिमां पांच कारणो स्वीकारे छे. तेमां कर्म ए पण महत्त्वनो भाग भजवे छे. जीवोने संसारभ्रमण करावनार कोइ होय तो ते कर्मबन्धनां कारणो अने कर्म छे.

अे कर्मनु' स्वरूप समजवा माटे द्वादशांगी उपरांत सामान्य जीवो पण जाणी शके, समजी शके, ए माटे भावदयाथी भरेला पूर्वना उपकारी ज्ञानी महात्माओए तेमांथी (द्वादशांगीमांथी) नानामोटा प्रकरणो द्वारा विशाल प्रमाणमां कर्मसाहित्य रच्यु' छे.

द्वादशांगीमां १२ मु' अंग दृष्टिवाद के जे हाल विच्छेद पामेल छे, तेमां कर्मसाहित्य विशाल प्रमाणमां हतु', छतां तेना अंशरूपे पूर्वाचार्यो रचित अनेक ग्रंथो आजे पण मले छे.

आजे श्वेताम्बर संप्रदायमां कर्मप्रकृतिसंग्रहणी, बन्धशतक, पंचसंग्रह, प्राचीन छ कर्मग्रंथ, सार्द्धशतक, नव्य पांच कर्मग्रन्थ आदि अनेक ग्रंथो टीका-भाष्य-चूर्णि आदि साथे उपलब्ध छे. तेवी रीते दिगंबर संप्रदायमां पण गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार अने पंचसंग्रह आदि कर्मविषयक साहित्य उपलब्ध छे.

नव्य पांच कर्मग्रंथ-विक्रमनी १३-१४ सदीमां थयेल पू. आ. श्री देवेन्द्रसूरि महाराज-श्रीए नव्य पांच कर्मग्रन्थनी रचना करी छे. तेनां नाम अनुक्रमे-१ कर्मविपाक, **२ कर्मस्तव, ३ बन्धस्वामित्व, ४ षडशीति अने ५ शतक,** आ नामो ग्रंथनो विषय

अने तेनी गाथा संख्याने लक्ष्यमां राखीने ग्रंथकारे पाडेल छे. प्रथमनां त्रण नामो ग्रंथना विषयने लक्ष्यमां राखीने अने षडशीति तथा शतक ए नाम गाथा-संख्याना आधारे पाडवामां आव्यां छे.

विषयः–१ कर्मविपाक नामना पहेला कर्मग्रंथमां ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मोना भेद-प्रभेदो, तेना विपाकनुं अने तेना बन्धहेतुओनुं वर्णन करवामां आवेल छे.

२ **कर्मस्तव** नामना बीजा कर्मग्रंथमां चरमतीर्थपति श्री महावीर परमात्मानी स्तुति करवा द्वारा चौद गुणस्थानोमां बन्ध-उदय-उदीरणा अने सत्तामां कइ कइ प्रकृतिओ होय ते अंगे निरूपण करवामां आवेल छे.

३ **बन्धस्वामित्व** नामना त्रीजा कर्मग्रंथमां चौद मूलमार्गणा अने तेना उत्तरमार्गणा-स्थानोमां गुणस्थान उपर बन्धस्वामित्वनो विचार करवामां आवेल छे.

४ **षडशीति** नामना चोथा कर्मग्रंथमां जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, भाव अने संख्यातानुं स्वरूप ए पांच विभाग पाडीने विस्तृत वर्णन करवामां आवेल छे. आ पांच विभाग पैकी प्रथमना त्रण विभागमां बीजा विषयो पण वर्णववामां आव्या छे. (१) **जीवस्थान** उपर गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्ध, उदय, उदीरणा, अने सत्ता अे आठ विषय (२) **मार्गणास्थान** उपर जीवस्थान, गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या अने अल्पबहुत्व अे छ विषय (३) **गुणस्थान** उपर जीवस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्धहेतु, बन्ध, उदय, उदीरणा अने सत्ता तेमज अल्पबहुत्व, ए दश विषय अने ते पछी पांच भाव अने संख्याता-दिना स्वरूपनो विचार करवामां आवेल छे.

५ **शतक** नामनो पंचम कर्मग्रंथ के जे आ बीजा भागमां छे. तेमां नीचे मुजब विषयोनुं वर्णन आवे छे प्रथम कर्मग्रन्थमां बतावेली कर्मप्रकृतिओ पैकीनी कइ-कइ प्रकृतिओ ध्रुवबन्धिनी, अध्रुवबंधिनी, ध्रुवोदया, अध्रुवोदया, ध्रुवसत्ताका, अध्रुवसत्ताका, सर्वघातिनी, देशघातिनी, अघातिनी, पुण्यप्रकृति, पापप्रकृति, परावर्तमानप्रकृति, अपरावर्तमानप्रकृति, क्षेत्र-विपाकी, जीवविपाकी, भवविपाकी, पुद्गलविपाकी, प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध, प्रदेशबन्ध, ते ते बन्धना स्वामी आदिनुं वर्णन करी, अंतमां उपशमश्रेणी अने क्षपकश्रेणीनुं सविस्तर स्वरूप आपवामां आवेल छे.

६ **सप्ततिका** नामनो ग्रन्थ (षष्ठ कर्मग्रन्थ) जे पूर्वाचार्य प्रणीत छे तेना उपर पूज्य मलयगिरि महाराजाअे (१२ मी शताब्दिमां) भव्यवृत्ति करी छे जेमां कर्मोना मूलभेदोथी अने उत्तरभेदोथी बंध-उदय-सत्ताना संयोगोनो सामान्यथी गुणस्थानकोमां, जीवभेदोमां, मार्गणामां

(थोडोक) विचार विस्तारथी करीने आ प्ररूपणा सत्पदरुप अने स्वामित्वरुप होवाथी बाकीना द्रव्यप्रमाणादि अल्पबहुत्वसुधीना द्वारो सूक्ष्मताथी जाणवानी भलामण स्पष्ट रुपमां करी छे जेथी "संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च" इत्यादि द्वारो कर्मविषयमां उतारवा-विचारवा भलामण करेल छे. आ ग्रंथने सूक्ष्मताथी विचारवाथी अनेक विषयोनो विस्तृत बोध थाय छे तेथी आ ग्रन्थ पण घणो उपयोगी होवाथी आजे आनु' पण पठन पाठन सारा प्रमाणमां थाय छे.

आधार-पू. आ. श्री देवेन्द्रसूरि महाराजे पू आ. श्री शिवशर्मसूरि म० तथा श्री चन्दर्षि महत्तर आदि जुदा जुदा पूर्वाचार्योओ कर्म-विषयक ग्रंथोनी रचना करी हती तेना आधारे पोते आ कर्मग्रंथोनी रचना करी छे. तेथी ते नव्य कर्मग्रंथ तरीके ओलखवामां आवे छे

नव्य कर्मग्रंथोनी टीका:-पू० आ० श्री देवेन्द्रसूरि महाराजे पोताना नव्य कर्मग्रंथो उपर स्वोपज्ञ टीका रची हती, पण कोइपण कारणे हालमां तेमना त्रीजा कर्मग्रंथ उपरनी स्वोपज्ञ टीका मलती नथी, एथी तेनी पूरवणी करवा माटे कोइ पूर्वाचार्य के जेमनु' नाम टीकामां नथी तेओओ अवचूरी रूपे टीका रची छे. तेमणे अंतिम पद्मां लख्यु' छे के-

एतद्ग्रन्थस्य टीकाऽभूत्, परं क्वापि न साऽऽप्यते ।
स्थानस्याशून्यताहेतो-रतोऽलेख्यवचूर्णिका ॥

टीकानी रचना शैली:-पू० आ० श्री देवेन्द्रसूरिजी म० नी स्वोपज्ञ टीकानी रचना एवी सुन्दर छे के मूल गाथाना कोइपण पद के वाक्यनु' विवेचन रही जवा पामेल नथी, पदार्थोने विशद रीते समजाववा माटे आगम, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी, टीका वगेरेनां अनेक प्रमाणो, एक एक कर्मप्रकृतिनी शी शी विशेषता छे ? तेनी सुन्दर चर्चा (जुओ प्रथम कर्मग्रंथ गा० ३२ मां 'जाति' नाम कर्मनु' शु' प्रयोजन ? ए अंगेनी चर्चा) द्रव्य इन्द्रिय अने भाव इन्द्रियनु' स्वरूप, द्रव्य मन अने भाव मन कोने कहेवाय ? एकेन्द्रियो पण भावथी पांचे य इन्द्रियोना विषयो जाणी शके (जुओ चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ६ नी टीका तथा प्रथम कर्मग्रन्थ गा० ३२ नी टीका) आदि विषयो सूक्ष्मद्रष्टिए अभ्यास करनारने महत्वपूर्ण सामग्री पूरी पाडे छे.

आ टीकानी भाषा सरल, सुबोध अने हृदयंगम होवाथी रुचिपूर्वक अध्ययन करनार सरलताथी कर्मतत्त्वना विषयनो सारो ज्ञाता बनी शके छे.

ग्रंथकारनो परिचय

ग्रंथकर्ता:-स्वोपज्ञ टीकायुक्त नव्य पंच कर्मग्रंथना कर्ता पू० आ० श्री देवेन्द्रसूरि महाराज बृहत्तपागच्छीय आचार्य श्री **जगच्चन्द्रसूरीश्वरजी** महाराजश्रीना शिष्य छे.

आ हकीकत कर्मग्रंथनी **प्रशस्ति** तथा **गुर्वावली** तेमज **गुरुगुणरत्नाकरकाव्य** आदि ग्रंथो उपरथी जाणी शकाय छे. गुर्वावलीमां तेओश्रीना स्वर्गवासनो समय वि० सं० १३२७ जणाव्यो छे. ए उपरथी तेओश्रीनो समय विक्रमनी १३–१४ सदीनो गणी शकाय.

श्रीमान् जगच्चन्द्रसूरिजी महाराजश्रीने 'तपा' नु' बिरूद मल्या बाद श्री देवेन्द्रसूरिजी तथा श्री विजयचंद्रसूरिजीने सूरिपद समर्पण कर्यानु' वर्णन गुर्वावलीमां आवे छे. आ उपरथी अनुमान थाय छे के सं० १२८५ पछी तेओश्रीने कोइपण समये सूरिपद आपवामां आवेल हशे.

जन्म स्थान आदिः–तेओश्रीना जन्मस्थान, जाति, माता-पिता आदिनी प्रमाणभूत हकीकत जाणवा मलती नथी. मात्र गुर्वावली आदिना आधारे तेओश्रीनो विहार मालवा तथा गुजरातमांज मोटे भागे थयो छे. तेथी तेओश्रीनी जन्मभूमि गुजरात के मालवा होवानो संभव छे.

विद्वत्ताः–तेओश्रीनी विद्वत्ता अजोड हती, तेमणे रचेल प्राकृत अने संस्कृत भाषाना ग्रंथो जोतां तेओ असाधारण प्रतिभाशाली, जैनसिद्धांत तथा दर्शनशास्त्रना पारंगत विद्वान हता. तेनी साक्षी तेओश्रीअे निर्माण करेल ग्रंथो पूरी पाडे छे.

तेओश्री अद्भुत व्याख्यानशक्ति धरावता हता. तेथी तेमना धर्मोपदेशने प्रतिभासंपन्न **वस्तुपाल** जेवा मंत्रिओ अने अनेक ब्राह्मणपंडितो घणा ज रसपूर्वक श्रवण करता हता. अे बाबतनो उल्लेख **गुर्वावली** मां मले छे.

गुरुः–तेओश्रीना गुरु बृद्धगच्छीय आचार्य श्री जगच्चन्द्रसूरि म० हता. तेओश्रीए गच्छमां आवेली शिथिलता दूर करवा चैत्रवालगच्छीय श्री देवभद्र उपाध्यायनी मददथी क्रियोद्धार कर्यो हतो. शरुआतमां छ विगइनो त्याग करी जींदगी सुधी आयंबिल तप करवानो निर्णय कर्यो, आ प्रमाणे आयंबिल तपनी तपश्चर्या करतां बार वर्ष व्यतीत थतां तेमने तपा ए बिरुद मल्यु' हतु'. अने त्यारथी **वृद्धगच्छ** ए नामने बदले **तपागच्छ** नाम प्रवर्त्यु'. **वस्तुपाल** वगेरेए ते महापुरुषनी सत्कार-सन्मानरूप पूजा करी हती, तेमज तेमणे मेवाडनी राजधानी आघाटमां ३२ दिगंबर वादीओनी साथे वाद कर्यो हतोः तेमां तेओ हीरानी जेम अभेद्य रहेवाथी चित्तोडना महाराणाए तेमने **हीरला जगच्चंद्रसूरि** एवु' बिरुद आप्यु' हतु',

आ महापुरुषना प्रभावथी अेमना पछी आ तपागच्छमां अनेक प्रभावशाली आचार्यो विगेरे थया छे.

परिवारः–पू० आ० श्री देवेन्द्रसूरिजी म० नो परिवार केटलो हतो, तेनो सत्तावार खुलासो मलतो नथी, **गुर्वावली** नो उल्लेख जोतां उपाध्याय श्री **हेमकलश** गणि वगेरे संविग्नपाक्षिक मुनिओ पण तेओश्रीना परिवारमां हता.

કર્મસાહિત્ય ગ્રંથોના પ્રેરક, માર્ગદર્શક અને સંશોધક
સિદ્ધાન્તમહોદધિ સુવિશાલ-ગચ્છાધિપતિ કર્મશાસ્ત્રરહસ્યવેદી શાસનશિરછત્ર સ્વ. પરમપૂજ્ય

આચાર્યદેવ શ્રીમદ્ વિજયપ્રેમસૂરીશ્વરજી મહારાજા

वीरधवल अने भीमसिंह नामना बे भाइओने प्रतिबोधी पोताना शिष्यो कर्यानो उल्लेख गुर्वावलीमां मले छे. तेमांना प्रथम शिष्यनुं नाम श्री **विद्यानंदसूरि** छे. तेओश्रीना बीजा शिष्य श्री **धर्मघोषसूरि** हता. तेओ पण विशुद्ध चारित्रशील अने विशिष्टप्रभावक पुरुष हता. तेओश्रीना रचेला **संघाचारभाष्य** अने यमक स्तुतिओ वगेरे अनेक ग्रंथो विद्यमान छे. पू० आ० श्री देवेन्द्रसूरिजिए रचेल स्वोपज्ञटीका युक्त नव्य पंच कर्मग्रंथ आदि ग्रंथोनुं संशोधन आ. श्री विद्यानंदसूरिजीए कर्युं हतुं. ते हकीकत ते ते कर्मग्रंथने अंते आपेली प्रशस्ति उपरथी जाणी शकाय छे.

ग्रंथरचनाः—पू० आ० श्री देवेन्द्रसूरिजी महाराजश्रीए प्राकृत अने संस्कृतभाषामां बनावेला जे ग्रंथो अत्यारे जोवामां आवे छे, तेनां नाम आ प्रमाणे छे.

१ श्राद्ध-दिनकृत्यवृत्ति
२ सटीक पांच नव्यकर्मग्रंथ
३ सिद्धपंचाशिकासूत्रवृत्ति,
४ धर्मरत्नप्रकरण बृहद्वृत्ति
५ सुदर्शनाचरित्र,
६ चैत्यवंदनादि भाष्यत्रयम्
७ वंदारुवृत्ति (वंदित्ता-सूत्रटीका)
८ सिरिउसह-वद्धमाणप्रमुखस्तव.
९ सिद्धदंडिका
१० चत्तारि-अट्ठ-दस. गाथा विवरण
११ श्री उत्तराध्ययनवृत्तिः

आ सिवाय बीजा ग्रंथो पण तेमणे रच्या होवानो संभव छे.

वर्तमान कालीन कर्मसाहित्य

जे **भारतीय-प्राच्य-तत्त्व-प्रकाशन समिति** तरफथी आ ग्रंथनुं प्रकाशन थइ रह्युं छे. ते संस्था मारफत सिद्धांत महोदधि कर्मशास्त्र निष्णात स्व. प. पू. आचार्यदेवश्री **विजयप्रेमसूरीश्वरजी** महाराज साहेबना मार्गदर्शन नीचे तेओश्रीना शिष्य-प्रशिष्योए कर्मसाहित्यविषयक नीचे मुजब ग्रंथो तैयार कर्या छे. अने आ संस्था तरफथी ते ते ग्रंथोनुं प्रकाशन थयेल छे.

१ खवगसेढी स्वोपज्ञवृत्ति सहित	क्राउन आठ पेजी पृष्ठ ५६६
२ ठिइबंधो (मूलप्रकृति स्थितिबन्ध)	क्राउन आठ पेजी पृष्ठ ६७२
३ रसबन्धो (मूलप्रकृति रसबन्ध)	क्राउन आठ पेजी पृष्ठ ६१५
४ पएसबन्धो (मूलप्रकृति प्रदेशबन्ध)	क्राउन आठ पेजी पृष्ठ ५३५
५ उत्तरपयडिरसबंधो (पूर्वार्ध)	क्राउन आठ पेजी पृष्ठ ६८२
६ उत्तरपयडिठिइबंधो (पूर्वार्ध)	क्राउन आठ पेजी पृष्ठ ६२०
७ उत्तरपयडिबन्धो (पूर्वार्ध)	क्राउन आठ पेजी पृष्ठ ६२४
८ उत्तरपयडिपएसबन्धो (पूर्वार्ध)	क्राउन आठ पेजी पृष्ठ ४८०
९ मूलपयडिबन्धो	क्राउन आठ पेजी पृष्ठ ५६२
१० उत्तरपयडिपएसबन्धो (उत्तरार्द्ध)	क्राउन आठ पेजी २९८+२६८=५६६

११ बन्धविधान प्रशस्ति-(पूर्वार्ध) स्वोपज्ञवृत्ति सहित क्राउन आठ पेजी ३२०
१२ बन्धविधान प्रशस्ति-(उत्तरार्ध) ,, ,, ,, ,, ,, ,, ३२१ थी ५८०+१८२
१३ उत्तरपयडिरसबंधो-(उत्तरार्ध) ,, ,, ,, २२८+१४=३६२

आ सिवाय पण अन्य ग्रंथोनु' निर्माण कार्य चालु छे.

परम पूज्य स्व० आचार्यदेवश्री **विजयप्रेमसूरीश्वरजी** महाराजश्रीए पोतानु' समग्र जीवन स्वाध्यायरत पसार कयु' छे. तेओश्री आगम आदिना सारा जाणकार होवा साथे वर्तमान-कालमां कर्मशास्त्रना प्रकांड विद्वान हता तेओश्रीए पण कर्मसाहित्य विशालप्रमाणमां रचेल छे. अेटलु' ज नहि पोतानो शिष्य-प्रशिष्यादि परिवार सदा य स्वाध्यायरत रहे ते माटे पूरती चीवट राखी हती, तेना परिणामे तेओश्रीनी प्रेरणाथी लाखो श्लोक प्रमाण कर्मसाहित्य रचायु' छे.

आ साहित्य तैयार करवा माटे प्रगट-अप्रगट कर्मसाहित्यनो तलस्पर्शी अभ्यास करी, ते ते पदार्थोनो संग्रह करी विभागवार साहित्यसर्जन करेल छे. तेमज आ ग्रंथोमां खवगसेढि ग्रंथनु' संशोधन पू० स्व० आचार्यदेवश्री **विजयोदयसूरि** महाराजाए पण अने अन्य ग्रंथोनु' संशोधन पू० स्व० आ० श्री **प्रेमसूरीश्वरजी** म० तथा स्व० पू० **जम्बूसूरीश्वरजी** म० सा० आदि कर्मशास्त्रना निपुण महात्माओए करेल छे.

आ रीते पूज्यपाद स्व. आचार्यदेवश्री **विजयप्रेमसूरीश्वरजी** महाराजश्रीए पोताना परिवारमां स्वाध्यायगंगा वहावी हती, मनःशुद्धि माटे स्वाध्याय ए मोटु' साधन छे आथी ज ज्ञानीओअे कह्यु' छे के-**सज्झायसमो णत्थि तवो** ।

आ सिवाय पण आज संस्था तरफथी पूर्वधर वाचकवर श्री शिवशर्मसूरिकृत **बन्धशतक** टीप्पन तथा अवचूरि साथे, वृत्ति सहित चार प्राचीन कर्मग्रंथ टीप्पन सहित सप्ततिका नामे छट्ठो कर्मग्रंथ अने सूक्ष्मार्थ विचार सार प्रकरण आदि कर्मसाहित्यने लगतां उत्तम प्रकाशनो बहार पड्यां छे.

पू० आ० श्री देवेन्द्रसूरि रचित सटीक **चार कर्मग्रंथो** तथा आ ग्रंथ श्री जैन आत्मानंद सभा तरफथी वि. सं. १९९० मां बहार पडेल, तेनु' शुद्ध संपादन पू. प्रवर्तक श्री कांतिविजयजी म० श्री ना शिष्यरत्न पू० मुनिराजश्री चतुरविजयजी म० श्रीए घणी महेनतपूर्वक करेल, पण ते हाल अप्राप्य होइ अने अभ्यासमां घणु' ज जरुरीयात वालु होवाथी आ संस्था तरफथी पुनर्मुद्रण थइ रहेल छे, ते अभ्यासकवर्गने घणु' ज उपयोगी निवडशे.

परम पूज्य आचार्यदेवश्री **भुवनभानुसूरीश्वरजी** म. सा. ना प्रशिष्यरत्न प० पू० मुनिराजश्री जयघोषविजयजी महाराजश्री नी सूचनाथी पं. श्री **रतिलाल चीमनलाल दोशी** ए प्रस्तावना लखवा प्रेरणा करी मने आ स्वाध्यायमां सहभागी बनावेल छे ते माटे तेओश्रीनो अंतःकरणपूर्वक आभार मानु' छु'.

નવ્યકર્મગ્રન્થના પ્રથમ ભાગનાં પ્રકાશનમાં દ્રવ્ય સાહયક

કોઠડીયા ગણુપતી મલુકચંદ જત્રાટકર (નીપાણી)

अंते सर्व कोइ आ ग्रंथनो सूक्ष्मता पूर्वक अभ्यास करी, कर्मना स्वरूपने जाणी, कर्मबंधना कारणोथी दूर रही, संवर-निर्जरा द्वारा कर्मनो क्षय करी शाश्वतसुखना भोक्ता बने, ए ज अंतरनी अभिलाषा.

सिद्धक्षेत्र पादलिप्तपुर
वि० सं० २०३२
विजयादशमी
ता० ३-१० ७६

लि०:-
कपूरचंद रणछोडदास वारैया
अध्यापक
श्री जैन सूक्ष्म तत्त्वबोध पाठशाला
(श्री जैन श्रेयस्कर मंडल संचालित)

* प्रकाशकीय *

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन प्रसङ्ग पर कहते प्रसन्नता हो रही है कि सम्प्रति काल में सर्व-जीव-हितकर परमात्म-शासन की आधार-शिला सम श्रुतज्ञान की भक्ति का लाभ प्रदान कर श्रुत-ज्ञान के धारक मुनि वृषभ हमें अत्यन्त अनुग्रहीत कर रहे हैं। प्रस्तुत प्रकाशन इसी अनुग्रह का एक अंश है। अभ्यासियों के लिए पठन-पाठन में नित्य उपयोगी यह ग्रन्थ यद्यपि नूतन प्रकाशन नहीं है तथापि पूर्व-प्रकाशित ग्रन्थ जीर्ण-शीर्ण दशा को प्राप्त हो रहे हैं और नये ज्ञान भण्डारों के लिए तो दुर्लभ है, अतः ग्रन्थ को पुनर्जीवन प्राप्त हो तथा नये ज्ञान-संग्रहालयों की आवश्यकतापूर्ति हो- इसी शुभ आशय से प. पू. स्व. आचार्य-देव सिद्धान्तमहोदधि कर्मसाहित्यनिष्णात **श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरजी** महाराज साहेब के पट्टप्रभावक वर्धमानतपो-निधि प. पू. आचार्यदेव **श्रीमद्विजयभुवनभानुसूरीश्वरजी** म. सा. के प्रशिष्य गीतार्थ गणिवर्यश्री **जयघोषविजयजी** म. सा. तथा शिष्यरत्न प्रतिभा-सम्पन्नगणिवर्य **श्रीधर्मजितविजयजी** म. सा. ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए हमें प्रोत्साहित किया। उसीका यह फल आज आपके समक्ष पेश है।

ग्रन्थ की उपादेयता को शब्द-देह देना अति कठिन है फिर भी संक्षेप में कह सकते हैं कि परम-पद की साधना में साधक के जीवन में वैराग्य की जितनी आवश्यकता है उससे जरा भी कम उपादेयता इस ग्रन्थ की नहीं है। क्योंकि मोक्ष साधना का आधार वैराग्य है तथा वैराग्य का बीज कर्म-विपाकों की विषमता का चिन्तन है और यह अति गहन चिन्तन इसी प्रकार के ग्रन्थों के पठन-पाठन से ही प्रायः सुशक्य है। वाचक शिरोमणि उपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी म० सा० विरचित ज्ञानसार ग्रन्थ के उपसंहार में "ध्याता कर्मविपाकानामुद्विग्नो भववारिधेः" (कर्मविपाकों का चिन्तक भव-समुद्र से विरक्त होता है) श्लोकार्ध से इसी बात का संकेत प्राप्त होता है। फलित यह हुआ कि ग्रन्थ उपयोगी ही नहीं किन्तु प्राणवायु की भाँति साधक-जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक भी है।

ग्रन्थ के सम्पादक श्री हेमचन्द्राचार्य जैन पाठशाला-अहमदाबाद के अध्यापक श्री रतिभाई तथा श्री जैन धार्मिक पाठशाला पिण्डवाडा के अध्यापक श्री चम्पकभाई की सेवा प्रशंसनीय रही। प्रस्तावना लेखक श्री जैन श्रेयस्कर मण्डल संचालित सूक्ष्मतत्त्वबोध पाठशाला पालिताणा के अध्यापक श्री कपूरचन्दभाईने भी प्रास्ताविक वचन में अपने तलस्पर्शी अभ्यास का परिचय दिया है, जिसे भुलाया नही जा सकता है। छ कर्मग्रन्थों के प्रकाशन में प्रथमभाग-स्वरूप 'आद्यकर्मग्रन्थचतुष्क' की २५० नकल पृथक् छपी है—जिसके मुद्रणव्यय का लाभ निपाणी (महाराष्ट्र) नगर के उदारचित्त सुश्रावक **'श्री कोरडिया दत्तु भाइ गणपति जत्राठकर'** ने उठाया है। जिनशासन के प्रति आपके हृदय में अतीव भक्ति है और आपका श्रावक जीवन पुण्य वर्धमान तप की १०० ओली की आयंबिल तपश्चर्या से सुवासित है—आपकी धर्मपत्नी सुश्राविकाने भी ३६ ओली की थी। आपकी अन्य धर्मप्रवृत्ति और धर्मरुचि भी अनुमोदनीय है।

दूसरे भाग—**'पांचवा और छट्ठा कर्मग्रन्थ'** की २५० नकल के मुद्रणव्यय का लाभ कोल्हापुर निवासी सुश्रावक **इन्दुमलजी** ने उठाया है। आपके हृदय में जिनशासन की श्रद्धा और आराधना की ज्योति सदा प्रज्वलित रहती है। धर्मानुष्ठानों में धनव्यय का कार्य भी निरन्तर गतिमान है।

दोनों भाग की मिलित २५० नकल के मुद्रणव्यय का लाभ श्री **जैन संघ केनींग स्ट्रीट कलकत्ता** ने अपने ज्ञाननिधि में से व्यय करके उठाया है। इस संघ के ट्रस्टीमंडल की यह धार्मिक द्रव्य की सुव्यवस्था अनुमोदनीय एवं धन्यवाद के पात्र है तथा ज्ञानोदय प्रिन्टिंग प्रेस, मुद्रणालय पिण्डवाडा के व्यवस्थापक ब्यावर निवासी फतेहचंदजी जैन (हाला वाले) और अन्य कर्मचारिओं का सहयोग भी अविस्मरणीय रहेगा।

और अधिक ग्रन्थों के प्रकाशन की प्रतीक्षा में—

भवदीय-

शा. समरथमल रायचंदजी (मंत्री)
शा. लालचंद छगनलालजी (मंत्री)
भारतीय प्राच्य-तत्त्व प्रकाशन समिति

(i) पिंडवाडा
स्टे. सिरोहीरोड (राजस्थान)
(ii) १३५/१३७ जौहरी बाजार
बम्बई-२

❋ समिति का ट्रस्टी मंडल ❋

(१) शेठ रमणलाल दलसुखभाई (प्रमुख) खंभात
(२) शेठ माणेकलाल चुनीलाल बम्बई
(३) शेठ जीवतलाल प्रतापशी बम्बई
(४) शा. खूबचंद अचलदासजी पिंडवाडा
(५) शा. समरथमल रायचंदजी मंत्री पिंडवाडा
(६) शा. लालचंद छगनलालजी मंत्री पिंडवाडा
(७) शेठ रमणलाल वजेचन्द अहमदाबाद
(८) शा. हिम्मतमल रुगनाथजी बेडा
(९) शेठ जेठालाल चुनीलाल घीवाले बम्बई
(१०) शा. इंद्रमल हीराचंदजी पिंडवाडा

नव्यकर्मग्रन्थ बीजाभागना

द्रव्यसहायक

शा जितराजजी तोलाजी कालंद्री

फर्म

शा जितराजजी हिन्दुमलजी राठोड–कोल्हापुर

कर्मविपाकनामना प्रथमकर्मग्रन्थनी विषयसूची ।

गाथा	विषय	पत्र
१	मङ्गलाचरण, ग्रन्थनो विषय अने संबन्ध आदिनुं कथन	१
	'कर्म' शब्दनी व्युत्पत्ति	२
	जीवनुं लक्षण अने कर्मनी सिद्धि	२
	कर्म अने जीवनो अनादिसम्बन्ध	३
	जीवनी साथे कर्मनो अनादिसम्बन्ध होय तो वियोग केम सम्भवे ? ए शङ्कानुं समाधान	३-४
२	सामान्य रीते कर्मना प्रकृति, स्थिति, रस अने प्रदेश ए चार प्रकारो अने तेनी मोदकना दृष्टान्त द्वारा समज	४-५
	कर्मना मूल अने उत्तर भेदोनी समुच्चय सङ्ख्या	५
३	कर्मनी मूलप्रकृतिनां नाम, ते दरेकनी व्युत्पत्ति तेमज उत्तर भेदोनी सङ्ख्या	५-६
	मूलकर्मप्रकृतिओने ज्ञानावरणीयादिक्रमथी राखवानुं कारण अने	६-७
४	ज्ञानना पांच प्रकार अने व्यञ्जनावग्रहना चार प्रकार	७
	पांच ज्ञाननुं सामान्य स्वरूप	७-८
	केवलज्ञानमां मतिज्ञान आदिना अभावनी चर्चा	८-९
	पांच ज्ञानने मतिज्ञानादिक्रमथी राखवानां कारणो	९-१०-११
	श्रुतनिश्रित अने अश्रुतनिश्रित मतिज्ञाननुं स्वरूप	१२
	अश्रुतनिश्रित मतिज्ञानना औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा अने पारिणामिकी बुद्धिने आश्री चार प्रकारो	१२
	अवग्रहना भेदो	१३
	व्यञ्जनावग्रहना चार भेदो	१३
	व्यञ्जनावग्रहमां मन अने चक्षुनुं वर्जन शा माटे ? ए शङ्कानुं समाधान	१३-१४
	व्यञ्जनावग्रहनो काल	१४
५	मतिज्ञानना अर्थावग्रह आदि २४ भेदो अने श्रुतज्ञानना उत्तरभेदोनी सङ्ख्या	१४
	मतिज्ञानना श्रुतनिश्रित २८ भेदो तथा ३३६ अने ३४० भेदोनुं स्वरूप	१४-१५-१६
६	श्रुतज्ञानना अक्षरश्रुत आदि १४ भेदो अने तेनुं सविशेष स्वरूप	१६-२०
	अढार लिपिनां नाम	१६-१७
	दीर्घकालीकी, हेतुवादोपदेशिकी अने दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञाओनुं स्वरूप,	१७-१८
	मिथ्यादृष्टिने सम्यक्श्रुतना अभावनी चर्चा	१८-१९
	आचाराङ्ग आदि ११ अङ्गनां नाम अने पदनी सङ्ख्या	२०
	दृष्टिवादना पांच भेदो	२०
	चौदपूर्वनां नाम अने प्रत्येकनी पदसङ्ख्या	२०-२१
७	श्रुतज्ञानना पर्याय आदि २० भेदो अने तेनुं स्वरूप	२१-२२
८	अवधि, मनःपर्यव अने केवल ज्ञानना भेदो	२२
	अवधिज्ञानना आनुगामिक आदि छ भेदोनुं सप्रमाण वर्णन	२२-२४

गाथा	विषय	पत्र
	हीयमान अने प्रतिपाति अवधिज्ञानमां फरक	२४
	अवधिज्ञाननी द्रव्यादि चार प्रकारे प्ररूपणा	२४
	ऋजुमति अने विपुलमति मनःपर्यवज्ञाननुं स्वरूप	२४-२५
	मनःपर्यवनी द्रव्यादिभेदोथी प्ररूपणा	२५-२९
	छप्पन अन्तरद्वीपनां नामो तथा तेनुं सविशेष वर्णन	२५-२९
	केवलज्ञाननुं स्वरूप	२९
९	दृष्टान्तपूर्वक पांच ज्ञानावरण अने नव दर्शनावरणनुं स्वरूप	३०-३१
१०	चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन अने केवलदर्शनना आवरणनुं स्वरूप	३१-३२
११-१२	निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला अने स्त्यानर्धि निद्रानुं स्वरूप	३२-३३
१२	वेदनीयकर्मना सातावेदनीय अने असातावेदनीय भेदोनुं स्वरूप	३३-३४
१३	चारगतिमां साता असातानो विभाग अने मोहनीयकर्मनी व्याख्या तथा मोहनीयकर्मना बे भेद	३४
१४	दर्शनमोहनीयना त्रण भेद	३४-३५
	सम्यक्त्वने दर्शनमोहनीय केम कही शकाय ? ए शङ्कानुं समाधान	३५
१५	तत्त्वोनी सङ्ख्या अने सम्यक्त्वमोहनीयनी व्याख्या	३५
	नवतत्त्वस्वरूपनिरूपण गाथाओ	३५-३७
	क्षायिकादिसम्यक्त्वनुं सामान्य स्वरूप	३७-३८
१६	मिश्रमोहनीय अने मिथ्यात्वमोहनीयनुं स्वरूप	३८-३९
१७	चारित्रमोहनीयकर्मना बे भेदो अने तेना उत्तरभेदो	३९-४०
	कषायना सोल भेदोनुं स्वरूप	३९-४०
१८	चार कषायनी स्थिति, गति अने तेनी विद्यमानतामां सम्यक्त्व आदिना अभावनुं वर्णन	४०-४२
१९	जलरेखा आदि दृष्टान्तद्वारा चार प्रकारना क्रोधनुं अने तिनिशलता आदि दृष्टान्तद्वारा चार प्रकारना माननुं वर्णन	४२
	अवलेहिका आदि दृष्टान्तद्वारा चार प्रकारनी मायानुं अने हरिद्रादि दृष्टान्तद्वारा चार प्रकारना लोभनुं वर्णन	४२-४३
	नोकषायमोहनीयकर्मना हास्यादि छ भेदोनुं स्वरूप	४३
	भयमोहनीयना सात भेदोनां नाम	४३
२२	नोकषायमोहनीयकर्मना स्त्रीवेद आदि त्रण वेदोनुं स्वरूप	४४
२३	चारप्रकारना आयुष्कर्मनुं स्वरूप अने नामकर्मना ४२, ९३, १०३ अने ६७ उत्तरभेदोनी सङ्ख्या	४४-४५
२४-२७	नामकर्मनी बेतालीस प्रकृतियो चौद पिण्डप्रकृति, आठ प्रत्येकप्रकृति, त्रसदशक अने स्थावरदशकनुं स्वरूप	४५-४७
२८	त्रसचतुष्क स्थावरषट्क आदि प्रकृतिबोधक शास्त्रीय संज्ञाओ	४७-४८
२९	चौद पिण्डप्रकृतिना ६५ उत्तरभेदो	४८

गाथा	विषय	पत्र
३०	नामकर्मनी ९३, १०३ अने ६७ प्रकृतियोनुं निरूपण	४८-४९
३१	बन्ध, उदय, उदीरणा अने सत्तामां केटली केटली प्रकृतियो होय ? तेनी सङ्ख्या	४९-५०
३२	पिण्डप्रकृतियोनुं विशेष व्याख्यान	५०
	गतिनामकर्मना चार भेदोनुं स्वरूप	५०
	जातिनामकर्मना पांच भेदोनुं स्वरूप	५०-५१
	जातिनामकर्मने मानवानुं प्रयोजन	५१
	तनुनामकर्मना पांच भेदोनुं स्वरूप	५१-५२
	कार्मणशरीरसहित जीव गत्यंतरमां जाय छे तो ते जीव जतो आवतो केम देखातो नथी ? ए शङ्कानुं समाधान	५२-५३
३३	अङ्ग-उपाङ्गना भेदो अने अङ्गोपाङ्गनामकर्मना त्रण भेदोनुं स्वरूप	५३
३४	बन्धननामकर्मना औदारिकबन्धन आदि पांच भेदोनुं दृष्टान्तपूर्वक स्वरूप	५३-५४
३५	सङ्घातननामकर्मना औदारिकसङ्घातन आदि पांच भेदोनुं दृष्टान्तपूर्वक स्वरूप	५४-५५
३६	बन्धननामकर्मना औदारिकौदारिकबन्धन आदि पंदर भेदोनुं स्वरूप	५५-५६
	पांच शरीरना द्विकादिसंयोगोनी अपेक्षाए बन्धन छवीस थाय तो पंदर बंधन केम कह्यां ?	५६
	ए शङ्कानुं समाधान बन्धननी पेठे पंदर संघातन केम न थाय ? ए शङ्कानुं समाधान	५६
३७-३८	संहनननामकर्मना वज्रऋषभनाराच आदि छ भेदोनुं वर्णन	५६-५७
३९	संस्थाननामकर्मना समचतुरस्र आदि छ भेदोनुं स्वरूप अने वर्णनामकर्मना वर्णादि पांच भेदोनुं स्वरूप	५७-५८ ५८
४०	गन्ध, रस अने स्पर्शनामकर्मना अनुक्रमे बे पांच अने आठ भेदो अने तेनुं स्वरूप	५८-६०
४१	वर्णादि चारना वीस उत्तरभेदो पैकी शुभ-अशुभ प्रकृतियोनो विभाग	६०
४२	आनुपूर्वीचतुष्क, नरकद्विकादि शास्त्रीय संज्ञाओ अने विहायोगतिनामकर्मना भेदोनुं स्वरूप	६०-६१
४३	आठ प्रत्येकप्रकृतियो पैकी पराघातनामकर्म अने उच्छ्वासनामकर्मनुं स्वरूप	६१-६२
४४	आतपनामकर्मनुं स्वरूप	६२
४५	उद्द्योतनामकर्मनुं स्वरूप	६२-६३
४६	अगुरुलघु अने तीर्थङ्करनामकर्मनुं स्वरूप	६३
४७	निर्माणनामकर्म अने उपघातनामकर्मनुं स्वरूप	६३
४८	त्रसदशक पैकी त्रसनाम, बादरनाम अने पर्याप्तनामकर्मनुं स्वरूप	६४
	पर्याप्तिशब्दनी व्याख्या, पर्याप्तिनां नाम अने एना प्रत्येक भेदनुं स्वरूप	६४-६५
	लब्धिपर्याप्त अने करणपर्याप्तनुं स्वरूप	६५
	शरीरपर्याप्तिथी ज शरीरनी उत्पत्ति थशे तो शरीरनाम कर्मनुं शुं प्रयोजन छे ? ए शङ्कानुं निवारण	६५
	उच्छ्वासनामकर्मथी ज श्वास लेवानुं काम थई शके तो उच्छ्वासपर्याप्ति निरर्थक केम नहि ? ए शङ्कानुं समाधान	६५
४९	प्रत्येकनाम, स्थिरनाम, शुभनाम अने सुभगनामकर्मनुं स्वरूप	६५-६६

गाथा	विषय	पत्र
५०	सुस्वरनाम, आदेयनाम अने यशःकीर्तिनामकर्मनुं स्वरूप तथा त्रस-दशकथी स्थावरदशकना विपरीतपणानो निर्देश अने स्थावरदशकनुं स्वरूप	६६-६७
	लब्धिअपर्याप्त अने करणअपर्याप्तनुं स्वरूप	६७
५१	गोत्रकर्मना उच्चगोत्र अने नीचगोत्र ए बे भेदोनुं दृष्टान्तद्वारा स्वरूप अने अन्तरायकर्मना दानान्तराय आदि पांच भेदोनुं स्वरूप	६७-६८
५२	अन्तरायकर्मनुं दृष्टान्तद्वारा स्वरूप	६८-६९
५३	ज्ञानावरण अने दर्शनावरणकर्मना बन्धहेतुओ	६९
५४	सातावेदनीय अने असातावेदनीयकर्मना बन्धनां कारणो	७०
५५	दर्शनमोहनीयकर्मना बन्धनां कारणो	७०-७१
५६	कषाय अने नोकषायरूप बे प्रकारना चारित्रमोहनीयकर्म अने नरकायुकर्मना बन्धहेतुओ	७१-७२
५७	तिर्यगायुकर्म अने मनुष्यायुकर्मना बन्धनां कारणो	७२-७३
५८	देवायु अने शुभ-अशुभनामकर्मना बन्धहेतुओ	७३-७४
५९	उच्च-नीचगोत्रकर्मना बन्धहेतुओ	७४-७५
६०	अन्तरायकर्मना बन्धहेतुओ तथा ग्रन्थनो उपसंहार	७५
	ग्रन्थकारनी प्रशस्ति.	७५-७६

कर्मस्तवनामक बीजा कर्मग्रन्थनी विषयसूची ।

गाथा	विषय	पत्र
१	मङ्गलाचरण आदि	७७
	बन्ध, उदय, उदीरणा अने सत्तानुं लक्षण	७८
२	चौद गुणस्थाननां नामो	७८-७९
	'गुणस्थान' शब्दनी व्याख्या	७९
	मिथ्यादृष्टिगुणस्थाननुं स्वरूप	७९
	मिथ्यादृष्टिने गुणस्थाननो संभव केम होइ शके ? ए शङ्कानुं समाधान	७९
	जो गुणस्थान होय तो तेने मिथ्यादृष्टि केम कही शकाय ? ए शङ्कानुं समाधान	७९-८०
	सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थाननुं अने ग्रन्थि भेदनुं स्वरूप	८०-८१
	मिश्रगुणस्थाननुं अने त्रणपुञ्जनुं स्वरूप	८१-८२
	अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थाननुं स्वरूप, तेने लागता आठ भङ्गो अने ए भङ्गोनी स्थापना	८२
	देशविरतगुणस्थाननुं स्वरूप	८२
	प्रमत्तगुणस्थाननुं स्वरूप	८३
	अप्रमत्तगुणस्थाननुं स्वरूप	८३
	अपूर्वगुणस्थाननुं स्वरूप अने एना भेदोनुं कथन	८३
	अपूर्वगुणस्थानना त्रण कालनी अपेक्षाये असंख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण अध्यवसायो	८३-८४

गाथा	विषय	पत्र
	अपूर्वगुणस्थानना त्रणकालनी अपेक्षाए अनन्त अध्यवसाय केम न थाय ? ए शङ्कानुं निवारण	८४
	अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थाननुं स्वरूप अने तेना बे भेदो	८४
	सूक्ष्मसंपरायगुणस्थाननुं स्वरूप	८४
	उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थाननुं स्वरूप	८५
	उपशमश्रेणिनुं स्वरूप अने तेनी स्थापना	८५-८६
	एक जीव एकभवमां उपशमश्रेणि केटली वार प्राप्त करे ? तेनुं अने तद्विषयक मतान्तरनुं कथन	८६
	क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थाननुं स्वरूप	८६
	क्षपकश्रेणिनुं स्वरूप	८६-८७
	क्षपकश्रेणिनी स्थापना	८७
	सयोगिकेवलिगुणस्थाननुं स्वरूप	८७-८८
	अयोगिकेवलिगुणस्थाननुं अने अयोगित्व केवी रीते थाय ? तेनुं स्वरूप	८८
	केवलिसमुद्घात कोण करे ? अने कोण न करे ? तेनुं स्वरूप	८८
	योगनिरोध अने शैलेशीकरणनुं संक्षिप्त स्वरूप	८८-९०

बन्धाधिकार ।

गाथा	विषय	पत्र
३	बन्धनुं लक्षण तथा ओघथी १२० अने मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमां ११७ प्रकृतिना बन्धनुं स्वरूप	९०-९२
४-५	सास्वादनगुणस्थानमां १०१ अने मिश्रगुणस्थानमां ७४ प्रकृतिना बन्धनुं स्वरूप	९२-९३
६	अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमां ७७ अने देशविरतिगुणस्थानमां ६७ प्रकृतिना बन्धनुं स्वरूप	९३-९४
७-८	प्रमत्तगुणस्थानमां ६३ अने अप्रमत्तगुणस्थानमां ५९-५८ प्रकृतिना बन्धनुं स्वरूप	९४-९५
९-१०	अपूर्वकरणगुणस्थानना सात भागमांथी पहेला भागमां ५८ अने ते पछीना पांच भागमां ५६-५६ अने अन्त्य भागमां २६ प्रकृतिना बन्धनु स्वरूप	९५-९६
११	अनिवृत्तिबादरना पांच भागमां क्रमथी २२, २१, २०, १९ अने १८ प्रकृतिना बन्धनुं स्वरूप	९६
११	सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानमां १७ प्रकृतिना बन्धनुं स्वरूप	९६
१२	उपशान्तमोह आदि त्रण गुणस्थानमां १-१-१ प्रकृतिना बन्धनुं अने अयोगिगुणस्थानमां बन्धना अभावनुं स्वरूप	९७
	बन्धाधिकारनी समाप्ति	९७

उदयाधिकार ।

गाथा	विषय	पत्र
१३	उदय अने उदीरणानुं लक्षण तथा ओघथी १२२ अने मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमां ११७ प्रकृतिना उदयनुं वर्णन	९८
१४	सासादनगुणस्थानमां १११ प्रकृतिना उदयनुं वर्णन	९८-९९

गाथा	विषय	पत्र
१४-१५	मिश्रगुणस्थानमां १०० प्रकृतिना उदयनुं वर्णन	९९-१००
१५	अविरतगुणस्थानमां १०४ प्रकृतिना उदयनुं वर्णन	९९-१००
१५-१६	देशविरतिगुणस्थानमां ८७ प्रकृतिना उदयनुं वर्णन	९९-१००
१६-१७	प्रमत्तगुणस्थानमां ८१ प्रकृतिना उदयनुं वर्णन	१००-१०१
१७	अप्रमत्तगुणस्थानमां ७६ प्रकृतिना उदयनुं वर्णन	१०१-१०२
१८	अपूर्वकरणगुणस्थानमां ७२ प्रकृतिना उदयनुं वर्णन	१०२
१८	अनिवृत्तिगुणस्थानमां ६६ प्रकृतिना उदयनुं वर्णन	१०२
१८-१९	सूक्ष्मसम्पराय अने उपशान्तमोहगुणस्थानमां अनुक्रमथी ६०-५९ प्रकृतिना उदयनुं वर्णन	१०२-१०३
१९-२०	क्षीणमोहगुणस्थानमां ५७-५५ प्रकृतिना उदयनुं वर्णन	१०२-१०३
२०-२१	सयोगिकेवलिगुणस्थानमां ४२ प्रकृतिना उदयनुं वर्णन	१०३
२१-२३	अयोगिकेवलिगुणस्थानमां १२ प्रकृतिना उदयनुं वर्णन	१०३-१०४
	उदयाधिकारनी समाप्ति.	१०४

उदीरणाधिकार ।

२३-२४	ओघमां १२० अने मिथ्यादृष्टि आदि छ गुणस्थानमां क्रमथी ११७, १११, १००, १०४, ८७ अने ८१ प्रकृतिनी उदीरणानुं कथन	१०४-१०५
२४	अप्रमत्तादि सात गुणस्थानोमां क्रमथी ७३, ६९, ६३, ५७, ५६, ५४ अने ३९ प्रकृतिनी उदीरणा	१०५-१०६
	अयोगिकेवलिगुणस्थानमां योगनो अभाव होवाथी उदीरणानो अभाव	१०६
	उदीरणाधिकारनी समाप्ति.	१०६

सत्ताधिकार ।

२५	सत्तानुं लक्षण तथा प्रथमथी अगीयार गुणस्थानपर्यन्त १४८ प्रकृतिनी सत्तानुं निरूपण	१०६
२५	सासादन अने मिश्रगुणस्थानमां १४७ प्रकृतिनी सत्तानुं निरूपण	१०६-१०७
२६	अनन्तानुबंधिचतुष्कनुं जेणे विसंयोजन कर्युं होय, देव-मनुष्यना आयुनो बन्ध कर्यो होय अने उपशमश्रेणि उपर आरूढ थयो तेनी अपेक्षाए अपूर्वकरण आदि चार गुणस्थानमां १४२ प्रकृतिनी सत्तानुं वर्णन	१०७
२६	अविरतसम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानमां अनन्तानुबन्धि आदि-सप्तक क्षयनी अपेक्षाए १४१ प्रकृतिनी सत्तानुं निरूपण	१०७
२७	अविरतसम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानमां नरक, तिर्यंच अने सुरायुना क्षयनी अपेक्षाये १४५ प्रकृतिनी सत्तानुं निरूपण	१०७-१०८
२७	अनन्तानुबन्धि ४ मिथ्यात्व ५ मिश्र ६ अने सम्यक्त्व ७ आ सात प्रकृतिना क्षयनी अपेक्षाए अविरतसम्यग्दृष्टिथी लईने अनिवृत्तिबादर गुणस्थानना प्रथम भाग सुधी १३८ प्रकृतिनी सत्तानुं निरूपण	१०८
२८-२९	क्षपकश्रेणिने आश्री अनिवृत्तिबादरगुणस्थानना बीजा भागथी नवमा भाग सुधी क्रमथी १२२, ११४, ११३, ११२, १०६, १०५, १०४ अने १०३ प्रकृतिनी सत्तानुं निरूपण	१०८-१०९

गाथा	विषय	पत्र
३०	सूक्ष्मसम्परायमां १०२ अने क्षीणमोहमां १०१ अने ९९ प्रकृतिनी सत्तानुं निरूपण	१०९-११०
३०-३१	सयोगिकेवलिगुणस्थानमां ८५ प्रकृतिनी सत्तानुं निरूपण	१०९-११०
३१-३३	अयोगिकेवलिगुणस्थानमां १३ प्रकृतिनी सत्तानुं निरूपण	११०-१११
३४	अयोगिकेवलिगुणस्थानमां मतान्तरे १२ प्रकृतिनी सत्तानुं निरूपण	१११
३४	महावीरस्वामिना दीक्षाग्रहणादिनुं संक्षिप्त वर्णन	१११
	महावीरस्वामिने नमस्कार करवानो श्रोताने उपदेश आदि वर्णन	११२
	सत्ताधिकारनी समाप्ति साथे ग्रन्थनी समाप्ति	११२
	ग्रन्थकारनी प्रशस्ति	११३

बन्धस्वामित्वनामका त्रीजा कर्मग्रन्थनी विषयसूची ।

गाथा	विषय	पत्र
१	मङ्गल अने विषयादिकनुं कथन	११४
	बन्धस्वामित्वनुं लक्षण	११४
	चौद मार्गणास्थान अने तेना उत्तरभेदोनी सङ्ख्या	११४-११५
२-३	बन्धस्वामित्वमां उपयोगी पंचावन प्रकृतियोनो संग्रह	११५-११६
४-५	सामान्यथी नरकगतिमां तथा रत्नप्रभा आदि त्रण नरकना नारकोना ओघथी १०१ अने आद्यनां चार गुणस्थानमां क्रमथी १००, ९६, ७० अने ७२ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	११६-११७
५	पङ्कप्रभा आदि त्रण नरकना नारकोना ओघथी १०० अने पहेलां चार गुणस्थानमां क्रमथी १००, ९६, ७० अने ७१ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	११६
६-७	सातमी नारकीमां ओघथी ९९, अने आदिना चार गुणस्थानमां क्रमथी ९६, ९१, ७० अने ७० प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	११७
७-८	तिर्यग्गतिमां पर्याप्ततिर्यञ्चोना ओघथी ११७ अने आदिना पांच गुणस्थानमां क्रमथी ११७, १०१, ९९, ७० अने ६६ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	११७-११८
९	मनुष्यगतिमां पर्याप्तमनुष्योना ओघथी १२० अने आदिथी तेर गुणस्थानमां क्रमथी ११७, १०१, ६९, ७१, ६७, ६३, ५९-५८, ५८ ५६-५६, २६, २२-२१-२०-१९-१८, १७, १, १, अने १ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	११८-११९
९	लब्धिअपर्याप्त तिर्यञ्च अने मनुष्योना ओघथी तथा मिथ्या-दृष्टिमां १०९ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	११९-१२०
१०	सामान्यथी देवगतिमां तथा आदिना बे देवलोकमां देवोना ओघथी १०४ अने आदिना चार गुणस्थानमां क्रमथी १०३, ९६, ७०, अने ७२ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२०

गाथा	विषय	पत्र
१०	ज्योतिष्क, भवनपति, व्यन्तर अने तेनी देवीयोना ओघथी १०३ तथा आदिना चार गुणस्थानमां क्रमथी १०३, ६६, ७० अने ७१ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनु' कथन	१२०
११	सनत्कुमार आदि छ कल्पना देवोना ओघथी १०१ अने आदिना चार गुणस्थानमां क्रमथी १००, ६६, ७० अने ७२ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनु' कथन	१२०
११	आनतादि चार कल्पना तथा नव ग्रैवेयकना देवोना ओघथी ६७, अने आदिना चार गुणस्थानमां ६६, ६२, ७०, अने ७२ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनु' कथन	१२०
११	पांच अनुत्तरना देवोना ओघथी अने अविरतसम्यग्दृष्टि-गुणस्थानमां ७२ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनु' कथन	१२०
११-१२	एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पृथ्वी, जल अने वनस्पतिना ओघथी १०९ तथा आदिना बे गुणस्थानमां क्रमथी १०६, ९६ अने मतान्तरे ९४ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनु' कथन	१२१
१३	पञ्चेन्द्रिय तथा त्रसकायिकोना ओघथी १२० अने प्रथमथी तेर गुणस्थानमां क्रमथी ११७, १०१, ७४, ७७, ६७, ६३, ५९-५८, ५८-५६-२६, २२-२१-२०-१९-१८, १७, १, १ अने १ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनु' कथन	१२१
१३	अग्निकाय अने वायुकायिकोना ओघथी तथा मिथ्यादृष्टि-गुणस्थानमां १०५ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनु' कथन	१२१
१३	योगमार्गणामां मनयोग ४ तथा वचनयोग ४ मां ओघथी अने आदिथी तेर गुणस्थानमां पञ्चेन्द्रिय प्रमाणे प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनु' कथन	१२२
१३	सत्यादिमनोयोग ४ अने वचनयोग ४ नु' स्वरूप	१२२
१३	औदारिककाययोगमां ओघथी अने प्रथमथी तेर गुणस्थानमां पर्याप्तमनुष्यनी पेठे प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनु' कथन	१२२
१३-१५	औदारिकमिश्रकाययोगमां ओघथी ११४ अने पहेला, बीजा, चोथा अने तेरमा गुणस्थानमां क्रमथी १०९, ९४, ७५ अने १ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनु' कथन	१२२-१२३
१५	कार्मणकाययोगमां ओघथी ११२ अने पहेला, बीजा, चोथा अने तेरमा गुणस्थानमां क्रमथी १०७, ९४, ७५ अने १ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनु' कथन	१२३
१५	आहारककाययोग अने आहारकमिश्रकाययोगमां ओघथी अने छट्ठा गुणस्थानमां ६३ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनु' कथन	१२३
१६	वैक्रियकाययोगमां ओघथी अने प्रथमनां चार गुणस्थानमां सामान्य देवगति-प्रमाणे प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनु' कथन	१२४
१६	वैक्रियमिश्रकाययोगमां ओघथी १०२ अने पहेला, बीजा अने चोथा गुणस्थानमां क्रमथी १०१, ९४ अने ७१ कृतिना बन्धस्वामित्वनु' कथन	१२४
१६	स्त्रीवेद आदि त्रण वेदमां ओघथी १२० अने आदिनां नव गुणस्थानमां क्रमथी ११७, १०१, ७४, ७७, ६७, ६३, ५९-५८, ५८-५६-२६ अने २२ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनु' कथन	१२५

गाथा	विषय	पत्र
१६	कषायमार्गणामां अनन्तानुबन्धिचतुष्कमां ओघथी ११७ अने पहेला, बीजा गुणस्थानमां ११७ अने १०१ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२४
१६	अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कमां ओघथी ११८ अने आदिना चार गुणस्थानमां क्रमथी ११७, १०१, ७४ अने ७७ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२४
१६	प्रत्याख्यानावरणचतुष्कमां ओघथी ११८ अने आदिना पांच गुणस्थानमां क्रमथी ११७, १०१, ७४, ७७ अने ६७ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२४
१७	संज्वलनक्रोध, मान अने मायामां ओघथी १२० अने आदिना नव गुणस्थानमां क्रमथी ११७, १०१, ७४, ७७, ६७, ६३, ५९–५८, ५८–५६-२६, २२-२१–२०–१९ अने १८ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२५
१७	संज्वलनलोभमां ओघथी १२० अने आदिना दश गुणस्थानमां क्रमथी ११७, १०१, ७४, ७७, ६७, ६३, ५९–५८, ५८-५६-२६, २२-२१-२०-१९–१८ अने १७ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२५
१७	संयममार्गणामां असंयतना ओघथी ११८ अने आदिना चार गुणस्थानमां क्रमथी ११७, १०१, ७४ अने ७७ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२५
१७	ज्ञानमार्गणामां मतिअज्ञान आदि त्रण अज्ञानमां ओघथी ११७ अने आदिना त्रण गुणस्थानमां क्रमथी ११७, १०१ अने ७४ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२५
१७	दर्शनमार्गणामां चक्षु अने अचक्षुदर्शनमां ओघथी १२० तथा आदिना बार गुणस्थानमां क्रमथी ११७, १०१, ७४, ७७, ६७, ६३, ५९-५८, ५८-५६-२६, २२-२१-२०-१९-१८, १७, १ अने १ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२५
१७	यथाख्यातचारित्रमां ओघथी १ अने उपशान्तमोह आदि चार गुणस्थानमां क्रमथी १, १, १ अने ० प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२५
१८	मनःपर्यवज्ञानमां ओघथी ६५ अने प्रमत्तादि सात गुणस्थानमां क्रमथी ६३, ५९-५८, ५८-५६-२६, २२-२१-२०-१९-१८, १७, १ अने १ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२५
१८	सामायिक अने छेदोपस्थापनीयमां ओघथी ६५ अने प्रमत्तादि चार गुणस्थानमां क्रमथी ६३, ५९-५८, ५८-५६-२६, अने २२-२१-२०-१९-१८ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२५
१८	परिहारविशुद्धिमां ओघथी ६५ अने छट्ठा तथा सातमा गुणस्थानमां ६३ अने ५९-५८ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२५
१८	केवलज्ञान अने केवलदर्शनमां ओघथी तथा तेरमा गुणस्थानमां १ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२५-१२६
१८	मति, श्रुत, अवधिज्ञान अने अवधिदर्शनमां ओघथी ७९ अने अविरतसम्यग्दृष्टि आदि नव गुणस्थानमां क्रमथी ७७, ६७, ६३, ५९-५८, ५८-५६-२६ २२-२१-२०-१९-१८-१७, १ अने १ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२६
१९	औपशमिकसम्यक्त्वमां ओघथी ७५ अने अविरतसम्यग्दृष्टि आदि आठ	

गाथा	विषय	पत्र
	गुणस्थानमां क्रमथी ७५, ६६, ६२, ५८, ५८-५६-२६, २२-२१-२०-१६-१८, १७ अने १ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२६
१६	क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमां ओघथी ७९ अने अविरतसम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानमां क्रमथी ७७, ६७, ६३ अने ५६-५८ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२६
१९	क्षायिकसम्यक्त्वमां ओघथी ७६ अने अविरतसम्यग्दृष्टि आदि ११ गुणस्थानमां क्रमथी ७७, ६७, ६३, ५६-५८, ५८-५६-२६, २२-२१-२०-१९-१८, १७, १, १, १ अने ० प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२६
१६	मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र, देशविरति अने सूक्ष्मसम्पराय-गुणस्थानमां ओघथी अने स्व स्व गुणस्थानमां क्रमथी ११७, १०१, ७४, ६७, अने १७ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२६-१२७
१६	आहारकमार्गणामां आहारकने ओघथी १२० अने प्रथमथी तेर गुणस्थानमां क्रमथी ११७, १०१, ७४, ७७, ६७, ६३, ५९-५८, ५८-५६-२६, २२-२१-२०-१९-१८, १७, १, १ अने १ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२७-१२८
२०	औपशमिकसम्यक्त्वमां कांइक विशेष कथन	१२७
२०	औपशमिक अने क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमां फरक	१२७
२१	कृष्ण, नील अने कापोत लेश्यामां ओघथी ११८ अने आदिना चार गुणस्थानमां क्रमथी ११७, १०१, ७४ अने ७७ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२७-१२८
२२	तेजोलेश्यामां ओघथी १११ अने आदिना सात गुणस्थानमां क्रमथी १०८, १०१, ७४, ७७, ६७, ६३, अने ५९-५८ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२८
२२	शुक्ललेश्यामां ओघथी १०४ अने आदिथी तेर गुणस्थानमां क्रमथी १०१, ६७, ७४, ७७, ६७, ६३, ५६-५८ ५८,५६-२६, २२-२१-२०-१६-१८ १७ १, १ अने १ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२८
२२	पद्मलेश्यामां ओघथी १०८ अने आदिथी सात गुणस्थानमां क्रमथी १०५, १०१, ७४, ७७, ६७, ६३ अने ५९-५८, प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२८
२३	भव्य अने संज्ञिमां ओघथी १२० अने आदिथी तेर गुणस्थानमां क्रमथी ११७, १०१, ७४, ७७, ६७, ६३, ५६-५८, ५८-५६-२६, २२-२१-२० १९-१८ १७, १, १ अने १ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२८
२३	अभव्यमां ओघथी अने प्रथम गुणस्थानमां ११७ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२८-१२६
२३	असंज्ञिमां ओघथी ११७ अने पहेला तथा बीजा गुणस्थानमां क्रमथी ११७, अने १०१ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२९
२३	अनाहारकमां ओघथी ११२ अने पहेला, बीजा, चोथा अने तेरमा गुणस्थानमां क्रमथी १०७, ६४, ७५ अने १ प्रकृतिना बन्धस्वामित्वनुं कथन	१२९
२४	लेश्यामां गुणस्थाननी सङ्ख्या	१२९
२४	मतान्तरथी कृष्णादि त्रण लेश्यामां छ गुणस्थाननुं कथन	१२६-१३०
२४	ग्रन्थनी समाप्ति	१३०

षडशीतिनामक चोथा कर्मग्रन्थनी विषयसूची।

गाथा	विषय	पत्र
१	मङ्गल अने अभिधेयादि	१३१
१	द्रव्यादि चार प्रकारथी नमस्कार	१३१
१	जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, उपयोग, योग, लेश्या, बन्ध, अल्पबहुत्व, भाव अने सङ्ख्यादि दश मुख्य विषयोनी व्याख्या तेमां लेश्यानुं सविशेषनिरूपण	१३१-१३४
१	दश विषयोने जीवस्थानादि क्रमथी स्थापवामां कारण	१३५
१	चौद जीवस्थानमां गुणस्थानादि आठ, चौद मार्गणास्थानमां जीवादि छ अने चौदगुणस्थानमां जीवादि दश पदार्थोनुं निरूपण	१३५-१३६
	प्रथम जीवस्थान-अधिकार.	
२	चौद जीवस्थाननुं स्वरूप	१३६
२	पर्याप्तिनां छ नाम अने तेनुं स्वरूप	१३७
२	लब्धि अने करण अपर्याप्तनुं स्वरूप	१३७
३	चौद जीवस्थानमां गुणस्थान	१३७
३	चौद गुणस्थाननां नामो अने तेना साधारण अर्थनुं निरूपण करती गाथाओ	१३७-१३८
३	कया कया जीवस्थानमां कयां कयां गुणस्थान होय ? तेनुं निरूपण	१३९-१४०
३	सयोगि-अयोगिरूप बे गुणस्थानो संज्ञिने केवी रीते होय ? ए शङ्कानुं समाधान	१४०
	पन्दर योगनां नाम	१४०-१४१
	औदारिकादि सात योगोनो कयां कयां सम्भव होय ? तेनुं वर्णन	१४१
४-५	चौद जीवस्थान पैकी कया कया जीवस्थानमां कया कया योग होय ? तेनुं सविस्तर वर्णन	१४१-१४३
५-६	उपयोगनां नामो अने चौद जीवस्थान पैकी कया कया जीवस्थानमां कया कया उपयोगो होय ? तेनुं वर्णन	१४३-१४५
६	एकेन्द्रियने श्रुतज्ञान केम घटे ? एनुं निरूपण	१४४
७	चौद जीवस्थान पैकी कया कया जीवस्थानमां कई कई लेश्या होय ? तेनुं स्वरूप	१४५
७-८	चौद जीवस्थान पैकी कया कया जीवस्थानमां कर्मनी मूल आठ प्रकृतियोमांथी केटली केटली प्रकृतिनो बन्ध, उदय, उदीरणा अने सत्ता होय ? तेनुं स्वरूप	१४५-१४८
	द्वितीय मार्गणास्थान-अधिकार	
९	चौद मार्गणानां नाम अने तेनुं स्वरूप	१४८-१४९
१०	गति, इन्द्रिय, काय अने योग आ चार मार्गणाना उत्तर भेदोनी सङ्ख्या अने तेनी व्याख्या	१४९-१५०

गाथा	विषय	पत्र
११	वेद, कषाय, अने ज्ञान आ त्रण मार्गणाना उत्तर भेदोनी सङ्ख्या अने तेनुं सविस्तर व्याख्यान	१५०–५२
१२	संयम अने दर्शन आ बे मार्गणाना उत्तर भेदोनी सङ्ख्या	१५२
१२	संयममार्गणाना उत्तर भेदो पैकी सामायिक अने छेदोपस्थापनीय चारित्रनुं स्वरूप	१५२-१५३
१२	छेदोपस्थापनीयचारित्रना बे भेद	१५३
१२	संयममार्गणाना उत्तर भेदो पैकी परिहारविशुद्धिकचारित्रनी व्याख्या तथा तेना बे भेद अने तपस्या आदिना स्वरूपनी गाथाओ	१५३-१५४
१२	परिहारविशुद्धिक चारित्रनी प्ररूपणा माटे क्षेत्रादि वीस द्वारो	१५४
	क्षेत्रद्वारमां परिहारविशुद्धिकचारित्री भरतादिक्षेत्रो पैकी कया क्षेत्रमां होय ? तेनुं स्वरूप	१५४
	कालद्वारमां परिहारविशुद्धिक अवसर्पिण्यादिकाल पैकी कया कालमां होय ? तेनुं स्वरूप	१५४-१५५
	चारित्रद्वारमां परिहारविशुद्धिक सामायिकादि पांच चारित्र पैकी कया चारित्रमां होय ? तेनुं स्वरूप	१५५
	तीर्थद्वारमां परिहारविशुद्धिक तीर्थमां होय के अतीर्थमां होय ? तेनुं स्वरूप	१५५-१५६
	पर्यायद्वारमां परिहारविशुद्धिकने गृहस्थ अने यतिपणानो जघन्य तथा उत्कृष्ट केटलो पर्याय होय ? तेनुं स्वरूप	१५६
	आगमद्वारमां परिहारविशुद्धिक नवीन आगमनुं अध्ययन करे के न करे ? तेनुं स्वरूप	१५६
	वेदद्वारमां परिहारविशुद्धिनी प्रवृत्ति वखते स्त्रीवेदादि पैकी कया वेदमां होय ? तेनुं स्वरूप	१५६
	कल्पद्वारमां परिहारविशुद्धिक स्थितकल्प अने अस्थितकल्प पैकी कया कल्पमां होय ? तेनुं स्वरूप	१५६-१५७
	लिङ्गद्वारमां परिहारविशुद्धिक द्रव्यलिङ्ग अने भावलिङ्ग पैकी कया लिङ्गमां होय तेनुं स्वरूप	१५७
	लेश्याद्वारमां परिहारविशुद्धिकने कृष्णादि छ लेश्या पैकी कई लेश्याओ होय ? तेनुं स्वरूप	१५७
	ध्यानद्वारमां परिहारविशुद्धिकने आर्तादि चार ध्यान पैकी कयां होय ? तेनुं स्वरूप	१५७-१५८
	गणद्वारमां परिहारविशुद्धिकनी जघन्य अने उत्कृष्टथी गणसङ्ख्या अने पुरुषसङ्ख्या केटली होय ? तेनुं स्वरूप	१५८
	अभिग्रहद्वारमां परिहारविशुद्धिकने द्रव्यादि चार अभिग्रह पैकी कोई पण अभिग्रह होय के न होय ? तेनुं स्वरूप	१५८-१५९
	प्रव्रज्याद्वारमां परिहारविशुद्धिक कोईने प्रव्रज्या आपे के न आपे ? तेनुं स्वरूप	१५९
	मुण्डापनद्वारमां परिहारविशुद्धिक कोईने मुण्डे के न मुण्डे ? तेनुं स्वरूप	१५९

गाथा	विषय	पत्र
	प्रायश्चित्तद्वारमां परिहारविशुद्धिकने कयां प्रायश्चित्त होय ? तेनुं स्वरूप	१५६
	कारणद्वारमां परिहारविशुद्धिकने कारण एटले आलम्बन होय के न होय ? तेनुं स्वरूप	१५९
	निष्प्रतिकर्मताद्वारमां परिहारविशुद्धिक निष्प्रतिकर्म होय के अनिष्प्रतिकर्म होय ? तेनुं स्वरूप	१५६
	भिक्षाद्वारमां परिहारविशुद्धिकना भिक्षा अने विहार कया कालमां होय ? तेनुं स्वरूप	१६०
	परिहारविशुद्धिकना इत्वर अने यावत्कथिक बे भेदो आदिनुं स्वरूप	१६०
१२	संयममार्गणाना उत्तरभेदोमांथी सूक्ष्मसम्पराय, यथाख्यात, देशविरत अने अविरतसम्यग्दृष्टिनी व्याख्या	१६०-१६१
१२	दर्शनमार्गणाना चक्षुदर्शन आदि चार उत्तर भेदोनी व्याख्या	१६१
१३	लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व अने संज्ञिरूप मार्गणाना उत्तर भेदो	१६१
१३	लेश्यामार्गणामां छ लेश्यानां नाम	१६१
१३	भव्यमार्गणामां भव्य-अभव्यनी व्याख्या	१६१
१३	सम्यक्त्वमार्गणाना उत्तरभेदो पैकी वेदकसम्यक्त्वनी व्याख्या	१६१
१३	सम्यक्त्वमार्गणाना उत्तरभेदो पैकी क्षायिकसम्यक्त्वनुं स्वरूप	१६१-१६२
१३	सम्यक्त्वमार्गणाना उत्तरभेदो पैकी औपशमिकसम्यक्त्व, तेना बे भेदो अने ग्रन्थिभेदनुं स्वरूप	१६२-१६५
१३	सम्यक्त्वमार्गणाना उत्तरभेदो पैकी मिथ्यात्व,मिश्र,त्रण पुञ्ज अने सासादननुं स्वरूप	१६५-१६६
१३	संज्ञिमार्गणामां संज्ञि-असंज्ञिनी व्याख्या	१६६
१४	आहारकमार्गणाना भेद अने मार्गणास्थानमां जीवस्थान	१६६
१४	आहारक अनाहारकनी व्याख्या अने चौदमूलमार्गणाना बासठ उत्तरभेदोनां नाम	१६६-१६७
१४-१८	मार्गणास्थानना उत्तरभेदो पैकी कया कया भेदमां कयां कयां जीवस्थान होय ? तेनुं स्वरूप	१६७-१७२
	अपर्याप्तसंज्ञिने औपशमिक सम्यक्त्व न होवाना अने होवाना मतनुं निरूपण	१६७-१६८
	सम्मूर्छिममनुष्यनी उत्पत्तिनां स्थानो	१६८-१६९
	बादर अपर्याप्तने तेजोलेश्या केम सम्भवे ? ए शङ्कानुं निवारण	१६९
१९-२३	चौदमार्गणास्थानना उत्तरभेदोमां कयां कयां गुणस्थान होय ? तेनुं स्वरूप	१७२-१७६
२४	योगोनी सङ्ख्या अने मार्गणास्थानमां योग	१७६
२४	सत्यमनोयोग आदि पंदर योगोनुं सप्रमाण स्वरूपनिरूपण	१७६-१८०
२४	कार्मणशरीर गत्यंतरमां साथे जाय छे तो केम देखातुं नथी ? ए शङ्कानुं समाधान	१८०
	तैजसने शरीर मान्युं छे तो तेने योगमां केम गण्युं नथी ? एनुं समाधान	१८०
२४-२९	चौद मार्गणास्थानना उत्तरभेदोमां कया कया योगो होय ? तेनुं स्वरूप	१८०-१८६
२६	वैक्रियलब्धिवाला अने मिश्रगुणस्थानवाला मनुष्य-तिर्यञ्चोने वैक्रियना आरंभनो सम्भव होवा छतां वैक्रियमिश्र केम न होय ? ए शङ्कानुं समाधान	१८५-१८६
२६	केवलिसमुद्घातनुं सविस्तर स्वरूपनिरूपण	१८६-१९०
२६	बधाए केवलियो समुद्घात करे के न करे ? ए शङ्कानुं समाधान	१८७

गाथा	विषय	पत्र
३०	उपयोगनां नाम अने मार्गणास्थानना उत्तरभेदोमां उपयोग	१६२
३०	बार उपयोगमां साकार अने अनाकार विभाग	१६२-१६३
३०-३४	चौद मार्गणास्थानना उत्तरभेदोमां कया कया उपयोगो होय ? तेनुं स्वरूप	१६३-१६५
३५	योगनी अन्दर जीवस्थान, गुणस्थान, योग अने उपयोगने आश्री मतान्तरनुं निरूपण	१९५-१६६
३६-३७	चौदमार्गणास्थानना उत्तरभेदोमां कई कई लेश्याओ होय ? तेनुं स्वरूप	१६६-१६७
३७	मार्गणास्थानमां स्वस्थाननी अपेक्षाए गतिनुं गतिसाथे परस्पर अल्पबहुत्व अने मनुष्यादिनी सङ्ख्याप्रमाण विगेरे सविशेष स्वरूपनिरूपण	१६७-२०२
३८	मार्गणास्थानमां इन्द्रियनुं इन्द्रियसाथे अने कायनुं काय साथे परस्पर अल्पबहुत्व	२०२-२०४
३९	मार्गणास्थानमां योगनुं योग साथे अने वेदनुं वेद साथे परस्पर अल्पबहुत्व	२०४-२०५
४०-४२	मार्गणास्थानमां कषायनी साथे कषायनुं ज्ञाननी साथे ज्ञाननुं, संयमनी साथे संयमनुं अने दर्शननी साथे दर्शननुं परस्पर अल्पबहुत्व	२०५-२०७
४३-४४	मार्गणास्थानमां लेश्यानी साथे लेश्यानुं, भव्याभव्यनुं, सम्यक्त्वनी साथे सम्यक्त्वनुं, संज्ञि-असंज्ञिनुं अने आहारक-अनाहारकनुं परस्पर अल्पबहुत्व	२०७-२०९
४४	सिद्ध करतां संसारी जीवो अनन्तगुणा छे अने ते बधाए प्रायः आहारी छे तो अनाहारीथी आहारी असङ्ख्यातगुणा केम सम्भवे ? ए शङ्कानुं समाधान	२१०

तृतीय गुणस्थानाधिकार.

४५	गुणस्थानमां चौद जीवस्थाननुं स्वरूप	२१०
४६-४७	गुणस्थानमां पंदर योगोनुं स्वरूप	२१०-२१२
४८-४९	गुणस्थानमां बार उपयोगनुं स्वरूप अने कार्मग्रन्थिक करतां सिद्धान्तनुं जुदुं मन्तव्य	२१२-२१४
५०	गुणस्थानमां छ लेश्यानुं स्वरूप	२१४
५०	मिथ्यात्वादि मूलबन्धहेतुनुं कथन	२१४-२१५
५०	अहीं प्रमादने बन्धहेतु तरीके केम न जणाव्यो ? तेनुं समाधान	२१५
५१	मिथ्यात्व अने अविरतिरूप मूलबन्धहेतुना उत्तरभेदोनुं स्वरूप	२१५
५२	कषाय अने योगरूप मूलबन्धहेतुना उत्तरभेदोनुं स्वरूप	२१५
५२	गुणस्थानमां चार मूलबन्धहेतुनुं स्वरूप	२१५
५३	प्रसङ्गोपात मूलबन्धहेतुनो कर्मनी उत्तरप्रकृति आश्री विचार	२१६-२१७
५४	गुणस्थानमां सामान्यथी बन्धहेतुना उत्तर भेदोनी सङ्ख्या	२१७-२१८
५५-५८	गुणस्थानमां बन्धहेतुना उत्तरभेदोनुं सविशेष स्वरूप.	२१८-२२०
५९	गुणस्थानमां कर्मनी मूलप्रकृतिना बन्धनुं स्वरूप	२२०
६०	गुणस्थानमां कर्मनी मूलप्रकृतिनी सत्ता अने उदयनुं स्वरूप	२२०-२२१
६१-६२	गुणस्थानमां कर्मनी मूलप्रकृतिनी उदीरणानुं स्वरूप	२२१
६२-६३	गुणस्थानमां वर्तमान जीवोना अल्पबहुत्वनुं स्वरूप	२२१-२२२

चतुर्थ भावाधिकार.

६४	छ भावनां नाम, तेनी व्याख्या अने उत्तरभेदोनी सङ्ख्या	२२२-२२३
६४	औपशमिक भावना बे भेदोनुं स्वरूप	२२३

गाथा	विषय	पत्र
६५	क्षायिक अने क्षायोपशमिकभावना क्रमथी नव अने अढार भेदोनुं स्वरूप	२२३-२२४
६५	दानादि पांच लब्धियो प्रथम क्षायिकभावनी जणावी अहीं क्षायोपशमिक भावनी कही तो विरोध केम नहिं ? ए शङ्कानु समाधान	२२४
६६	औदयिक अने पारिणामिकभावना क्रमथी अढार अने त्रण भेदोनुं स्वरूप	२२४
६६	कर्मना उदयथी उत्पन्न थनारा निद्रापञ्चक आदि घणा भावो होइ शके छे तो छ भावो ज केम कह्या ? ए शङ्कानुं समाधान	२२५
६६	छट्ठा सान्निपातिक भावना छवीस भेदो	२२५
६७-६८	सान्निपातिक भावना संभवी शकता छ भेदोमांथीगत्यादि आश्री केटला होय अने केटला न होय ? तेनुं स्वरूप	२२५-२२६
६८	सान्निपातिक भावना पूर्वे छवीस भेदो बताव्या छे आ ठेकाणे वीस अने पंदर मलीने पांत्रीस थाय छे तो विरोध केम नहि ! ए शङ्कानुं समाधान	२२६
६९	जीवआश्रित आठ कर्मोमां औपशमिकादि पांच भावोनु स्वरूप	२२७
६९	धर्मास्तिकायादि पांच अजीवनुं स्वरूप	२२७
६९	अतीतादि भेदथी कालना पण त्रण भेदो थई शके छे तो ते अहीं केम बताव्या नहिं ? ए शङ्कानुं समाधान	२२८
६९	समयथी लईने शीर्षप्रहेलिका पर्यन्त कालनुं स्वरूप	२२८-२३०
६९	धर्मास्तिकायादि पांच अजीवमां कया कया भावो होय ? तेनुं स्वरूप	२३०
६९	कर्मस्कन्धाश्रित औपशमिकादि भावो अजीवोने पण संभवे छे तो ते कहेवा जोइए ? ए बाबतनो निर्णय	२३०
७०	प्रत्येक गुणस्थानमां औपशमिकादि पांच भावोमांथी कया कया भावो होय ? तेनुं स्वरूप	२३१
७०	क्षायोपशमिक, औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक अने सान्निपातिक भावना उत्तरभेदो जेटला जे गुणस्थानमां होय ? तेनुं स्वरूप	२३१-२३२
७०	उपरोक्त अर्थने प्रतिपादन करनारी सङ्ग्रह गाथाओ	२३३-२३४

पञ्चम सङ्ख्याधिकार.

गाथा	विषय	पत्र
७१	सङ्ख्यातना त्रण, असङ्ख्यातना नव अने अनन्तना नव मली संख्याना एकवीस भेदोनुं कथन	२३४-२३५
७२	जघन्य, मध्यम अने उत्कृष्टसङ्ख्यात तथा पल्य (पाला) अने परिधिनुं स्वरूप	२३५-२३६
७३	चार पल्योनां (पालानां) नाम तेनी ऊंडाइ, वेदिका वगेरेनुं स्वरूप	२३६-२३७
७४-७७	पल्योने (पालाओने) भरवा अने खाली करवाथी केवी रीते उत्कृष्टसङ्ख्यातुं थाय ? तेनुं सविस्तर स्वरूप	२३७-२४२
७८-७९	नवप्रकारना असङ्ख्यातनुं अने नवप्रकारना अनन्तनुं स्वरूप	२४३-२४५
७९	जघन्यसङ्ख्यातादि संख्याना एकवीस भेदोनी स्थापना	२४४
८०	अनुयोगद्वारसूत्रना अभिप्राय प्रमाणे उपरोक्त भेदोनुं कथन अने ते सूत्रनो पाठ	२४५-२४७
८०-८६	मतान्तरथी असङ्ख्यात अने अनन्तनुं सविस्तर स्वरूप	२४७-२५१
८६	प्रस्तुत प्रकरणनी समाप्ति	२५२

पांचमा कर्मग्रन्थनी विषयसूचि

गाथा	विषय	पत्र
१	मंगलाचरण अने ग्रन्थनो विषय	१-४
	[ध्रुवबन्धि-अध्रुवबन्धि, ध्रुवोदयि-अध्रुवोदयि, ध्रुवसत्ताक-अध्रुवसत्ताक, घाति-अघाति, पुण्य-पाप, परावर्त्तमान-अपरावर्त्तमान, चार प्रकारना विपाक, चार प्रकारना बन्ध, बन्धना स्वरूपने स्पष्ट करतुं मोदकनुं दृष्टान्त अने चार प्रकारना बन्धस्वामित्वनुं स्वरूप।	
२-४	ध्रुवबन्धि-अध्रुवबन्धी प्रकृतिओ अने तेना साद्यनादि भांगा	४-७
५-७	ध्रुवोदयि-अध्रुवोदयि प्रकृतिओ अने तेने लगता भांगा	५-८
८-१२	ध्रुवसत्ताक-अध्रुवसत्ताक प्रकृतिओ अने गुणस्थानने आश्रयी तेनुं वर्णन	८-१३
१३-१४	सर्वघाती, देशघाती अने अघाती प्रकृतिओनुं स्वरूप	१३-१६
१५-१७	पुण्य-पाप प्रकृतिओ	१६-१८
१८-१९	अपरावर्त्तमान-परावर्त्तमान प्रकृतिओ	१८-१९
१९-२१	क्षेत्रविपाकी जीवविपाकी भवविपाकी अने पुद्गलविपाकी प्रकृतिओ	१८-२२
२२-२३	मूलकर्मप्रकृतिओने आश्रयी भूयस्कार अल्पतर अवस्थित अने अवक्तव्य ए चार प्रकारना प्रकृतिबन्धनुं स्वरूप	२२-२४
२४-२५	उत्तरकर्मप्रकृतिओने आश्रयी भूयस्कारादि चार प्रकारना प्रकृतिबन्धनुं स्वरूप	२४-३०
२६-२७	मूलकर्मप्रकृतिओने आश्रयी जघन्य-उत्कृष्ट स्थितिबन्धनुं स्वरूप, कर्मनिषेकनुं स्वरूप	३०-३२
२८-३४	उत्तरकर्मप्रकृतिओने आश्रयी उत्कृष्ट स्थितिबन्धनुं स्वरूप	३२-३८
३५-३६	उत्तरकर्मप्रकृतिओने आश्रयी जघन्य स्थितिबन्धनुं वर्णन	३८-४२
३७-३८	एकेन्द्रियादि जीवोने विषे तेमने योग्य प्रकृतिओने आश्रयी उत्कृष्ट-जघन्य स्थितिबन्धनुं स्वरूप	४२-४३
३९	उत्तरकर्मप्रकृतिओना जघन्य अबाधाकालनुं वर्णन	४३-४४
४०-४१	क्षुल्लकभवनुं विस्तृत स्वरूप	४४-४५
४२-४४	उत्तरकर्मप्रकृतिओना उत्कृष्ट स्थितिबन्धना स्वामीओ	४५-४९
४४-४५	उत्तरकर्मप्रकृतिओना जघन्य स्थितिबन्धना स्वामीओ	४९-५१
४६-४७	स्थितिबन्धना उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट आदि अने साद्यनादि भांगाओ	५१-५३
४८	गुणस्थानकोमां स्थितिबंध	५३-५५
४९-५१	एकेन्द्रियादि जीवोने आश्रयी स्थितिबन्धनुं अल्पबहुत्व अने तेने समजवा माटेनां यंत्रो	५५-५८
५२	कर्मस्थितिना शुभ-अशुभपणानुं कथन	५८-६०
५३-५४	सूक्ष्मनिगोदादिजीवोने आश्रयी योगस्थान अने स्थितिस्थानोना अल्पबहुत्वनुं वर्णन अने तेने लगता यंत्रो	६०-६५
५५	अपर्याप्त जीवोने आश्रयी योगस्थानोनी वृद्धि अने स्थितिबन्धने आश्रयी सर्व कर्मोना अध्यवसायस्थानोनुं निरूपण	६५-६६

गाथा	विषय	पत्र
५९-६२	पंचेन्द्रियमां जे एकतालीस कर्मप्रकृतिओनो उत्कृष्ट स्थितिए बन्ध जेटला समय सुधी नथी थतो तेनुं निरूपण	६६-७३
६३-६४	अनुभागनुं स्वरूप तथा शुभाशुभ प्रकृतिओना तीव्र-मन्द रस बंधावानां कारणो अने चार प्रकारना रसनुं स्वरूप	७३-७७
६५	शुभाशुभ रसोनुं विशेष स्वरूप	७७-७९
६६-६८	सर्व कर्मप्रकृतिओने आश्रयी उत्कृष्ट अनुभागबन्धना स्वामीओ	७९-८२
६९-७३	सर्व कर्मप्रकृतिओने आश्रयी जघन्य अनुभागबन्धना स्वामीओ	८२-८६
७४	मूल अने उत्तर कर्मप्रकृति विषयक अनुभागबन्धना भांगाओ	८६-९४
७५-७७	ग्रहणयोग्य अने अग्रहणयोग्य कर्मवर्गणानुं स्वरूप अने साथे साथे औदारिक-वैक्रियादि समस्त योग्य-अयोग्य वर्गणाओनुं स्वरूप तथा तेनुं अवगाहनाक्षेत्र	९५-९९
७८-७९	जीवने ग्रहण करवा योग्य कर्मदलिकनुं स्वरूप	९९-१०१
७९-८१	एक अध्यवसायथी ग्रहण करेलां कर्मदलिकोमांथी केटलो केटलो अंश कई कई मूलकर्मप्रकृतिने अने उत्तरकर्मप्रकृतिने जाय ? तेनुं स्वरूप	१०१-१०९
८२-८३	कर्मक्षपणमां हेतुभूत अगिआर प्रकारनी गुणश्रेणिनुं स्वरूप अने ते द्वारा थती कर्मदलिकनी निर्जरानुं स्वरूप समजाववा माटे दलिकरचनानुं वर्णन	११०-११२
८४	गुणस्थानकोना जघन्य उत्कृष्ट अंतरकालनुं वर्णन	११२-११४
८५	सूक्ष्म अने बादर एम बे प्रकारना उद्धार, अद्धा अने क्षेत्र पल्योपम सागरोपमनुं स्वरूप	११४-११६
८६-८८	सूक्ष्म अने बादर एम बे प्रकारना द्रव्य, क्षेत्र, काल अने भाव पुद्गलपरावर्तोनुं स्वरूप	११६-१२३
८९	उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अने जघन्य प्रदेशबन्धना स्वामीओ	१२३
९०-९२	मूलकर्मप्रकृति अने उत्तरकर्मप्रकृतिने आश्री उत्कृष्ट प्रदेशबन्धना स्वामीओ	१२४-१२९
९३	मूलकर्मप्रकृति अने उत्तरकर्मप्रकृतिने आश्री जघन्य प्रदेशबन्धना स्वामीओ	१२९-१३१
९४	प्रदेशबन्धना साद्यनादि भांगाओ	१३१-१३६
९५-९६	योगस्थान, प्रकृतिभेदो, स्थितिभेदो, स्थितिबन्धाध्यवसाय, अनुभागस्थानो कर्मप्रदेशो, रसाविभागो ए सातनुं परस्पर अल्पबहुत्व	१३६-१४३
९७	घनीकृत लोक, श्रेणिरज्जु-सूचीरज्जु, प्रतररज्जु अने घनरज्जुनुं स्वरूप	१४३-१४५
९८	उपशमश्रेणि	१४५-१५५
९९-१००	क्षपकश्रेणि अने शतक कर्मग्रन्थनो उपसंहार	१५५-१५९
	ग्रन्थकारनी प्रशस्ति	१६०

छट्ठा कर्मग्रन्थनो विषयानुक्रम।

गाथा	विषयः	पत्र
१	मंगलाचरण अने अभिधेयनु निरूपण	१६१-६२
	बन्ध उदय सत्ता अने प्रकृतिस्थाननुं स्वरूप	१६२
२	जीव केटली प्रकृतिओने बांधतो केटली वेदे, केटली सत्तामां होय इत्यादि प्रश्न अने तेना उत्तरमां अनेक विकल्पो	१६३-१६४

गाथा	विषय	पत्र
	ज्ञानावरणीयादि मूलकर्मप्रकृतिओनुं स्वरूप अने तेने आश्रयी प्रकृतिस्थानोनुं वर्णन आदि	१६३-६६
३	मूलप्रकृतिने आश्रयी बंध-उदय-सत्तास्थानविषयक परस्पर संवेधना सात विकल्पो	१६६-६७
४-५	मूलप्रकृतिविषयक संवेधना साते प्रकारोनो जीवस्थान अने गुणस्थानोने आश्रयी विचार	१६७-६८
	ज्ञानावरणीयादिकर्मोनी उत्तरप्रकृतिओनुं स्वरूप	१६९-८०
६	ज्ञानावरणीयकर्म अने अन्तरायकर्मनी उत्तरप्रकृतिओने आश्रयी बन्धादिस्थानोनुं निरूपण अने तेमनो परस्पर संवेध	१८०-८१
७-९	दर्शनावरणीयकर्मनी उत्तरप्रकृतिओने आश्रयी बन्धादिस्थानोनुं कथन अने तेमनो संवेध	१८१-८३
९	वेदनीय आयुःकर्म अने गोत्रकर्मने आश्रयी बन्धादिस्थानोनुं निरूपण अने तेमनो संवेध	१८४-८६
१०	मोहनीयकर्मनां बन्धस्थानो	१८७
११	मोहनीयकर्मनां उदयस्थानो	१८७-८८
१२-१३	मोहनीयकर्मनां सत्तास्थानो	१८८-८९
१४	मोहनीयकर्मनां बन्धस्थानोने लगता भांगाओ अने तेनुं कालप्रमाण	१८९-९०
१५-२०	मोहनीयकर्मनां बन्धस्थानोनो उदयस्थानो साथे संवेध, तेने लगता भांगाओ, भांगाओनी सर्व संख्यानुं प्रमाण अने पदवृन्दोनी संख्या	१९०-९७
२१-२३	मोहनीयकर्मनां बन्धस्थानोनो सत्तास्थानो साथे संवेध	१९७-२०२
२४-२५	नामकर्मनां बन्धस्थानो अने तेने लगता भांगाओ	२०२-२०८
२६-२८	नामकर्मनां उदयस्थानो अने तेने लगता भांगाओ	२०८-२१६
२९	नामकर्मनां सत्तास्थानो	२१७
३०-३२	नामकर्मनां बन्ध-उदय-सत्तास्थानोनो परस्पर संवेध	२१७-२२४
३३-३८	आठे कर्मनी उत्तरप्रकृतिओनां बन्ध-उदय-सत्तास्थानो अने तेना संवेधना जीवस्थानोने आश्रयी स्वामीओ	२२५-२३८
३९-५०	आठे कर्मनी उत्तरप्रकृतिओनां बन्ध-उदय-सत्तास्थानो अने तेना संवेधनो गुणस्थानोने आश्रयी विचार	२३८-२६९
५१-५३	आठे कर्मनी उत्तरप्रकृतिओना बन्ध-उदय-सत्तास्थानोनो अने संवेधनो गत्यादि मार्गणास्थानोने आश्रयी विचार	२६९-२७६
५४	आठे कर्मनां उदीरणास्थानोने उदयस्थाननी माफक समजी लेवानी भलामण	२७६-७७
५५	उदीरणा सिवाय उदयमां आवती एकतालीस प्रकृतिओनां नामो	२७७-७८
५६-६०	कया गुणस्थानमां कई प्रकृतिओ बंधाय तेनुं निरूपण	२७८-८०
६१	शुं बधी गतिओमां बधी प्रकृतिओ प्राप्य छे ? ए प्रश्ननुं निराकरण	२८१
६२	उपशमश्रेणिनुं स्वरूप	२८१-९३

गाथा	विषय	पत्र
	अनन्तानुबन्धीनी उपशमना	२८१-८४
	यथाप्रवृत्तिकरणनुं स्वरूप	२८२
	अपूर्वकरणनुं स्वरूप	२८२-२८४
	स्थितिघातनुं स्वरूप	२८३
	रसघातनुं स्वरूप	२८३
	गुणश्रेणिनुं स्वरूप	२८३
	गुणसंक्रमनुं स्वरूप	२८४
	अनिवृत्तिकरणनुं स्वरूप	२८४
	मतान्तरे अनंतानुबंधीनी विसंयोजना	२८५
	दर्शनत्रिकनी उपशमना	२८५-२८६
	मिथ्यादृष्टिनी मिथ्यात्वनी उपशमना	२८५-८७
	वेदकसम्यग्दृष्टिनी दर्शनत्रिकनी उपशमना	२८६-८७
	चारित्रमोहनीयनी उपशमना	२८७-९३
	स्पर्धकनुं स्वरूप	२९१
	अश्वकर्णकरणाद्धा अने किट्टिकरणाद्धानुं स्वरूप	२९१-२९२
	किट्टिनुं स्वरूप	२९१-९२
६३-६७	क्षपकश्रेणिनुं स्वरूप	२९३-३०३
६८-६९	क्षपकश्रेणिवाला प्राणिना कर्मप्रकृतिवेदनविषयक मतान्तर	३०३-३०४
७०	क्षपकश्रेणि आरोहणनुं अंतिम फल	३०४-३०५
७१	विशेष ज्ञान माटे भलामण	३०५-३०६
७२	सप्ततिकानी रचनामां रही गएली उणप पूरी करवा माटे बहुश्रुतोने विज्ञप्ति अने दोषोनी क्षमा	३०६-३०७
	टीकाकारनी प्रशस्ति	३०८

॥ अर्हम् ॥

॥ श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

पूज्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचित-स्वोपज्ञ-टीकोपेतः

कर्मविपाकनामा प्रथमः कर्मग्रन्थः ।

॥ नमः श्रीप्रवचनाय ॥

दिनेशवद्ध्यानवरप्रतापैरनन्तकालप्रचितं समन्तात् ।
योऽशोषयत् कर्मविपाकपङ्कं, देवो मुदे वोऽस्तु स वर्धमानः ॥१॥
ज्ञानादिगुणगुरूणां, धर्मगुरूणां प्रणम्य पदकमलम् ।
कर्मविपाके विवृतिं, स्मृतिबीजविवृद्धये विदधे ॥२॥

तत्राऽऽदावेवाभीष्टदेवतास्तुत्यादिप्रतिपादिकामिमां गाथामाह—

सिरिवीरजिणं वंदिय, कम्मविवागं समासओ वुच्छं ।
कीरइ जिएण हेऊहिँ जेणं तो भण्णए कम्मं ॥१॥

श्रिया—सकलत्रिभुवनजनमनश्चमत्कारिमनोहारिपरमार्हन्त्यमहामहिमाविस्तारि—

"अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यो ध्वनिश्चामरमासनं च ।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥"

इति स्पष्टाष्टप्रातिहार्यशोभया चतुस्त्रिंशदतिशयविभूत्या वा समन्वितो वीरः श्रीवीरः, स चासौ रागद्वेषमोहप्रभृतिवैरिवारपराजयाद् जिनश्च श्रीवीरजिनस्तं श्रीवीरजिनं-श्रीमद्वर्धमानस्वामिनं 'वन्दित्वा' विशुद्धमानसप्रणिधानसमन्वितेन वाग्योगेन स्तुत्वा, काययोगेन च प्रणम्य, "वदुङ् स्तुत्यभिवादनयोः" इति वचनात् । एतेन मङ्गलार्थमभीष्टदेवतायाः स्तुतिरुक्ता । क्त्वाप्रत्ययस्य चोत्तरक्रियासापेक्षत्वादुत्तरक्रियामाह--'कर्मविपाकं वक्ष्ये' तत्र कर्मणां-ज्ञानावरणादीनां विपाकः—अनुभवः कर्मविपाकस्तं कर्मविपाकं "वक्ष्ये' अभिधास्ये । अनेनाभिधेयमाह । कथम् ? इत्याह—'समासतः' सङ्क्षेपेण, न विस्तरेण, दुष्षमानुभावापचीयमानमेधाऽऽयुर्बलादिगुणानामैदंयुगीनजनानां विस्तराभिधाने सत्युपकारासम्भवात्, तदुपकारार्थं चैष शास्त्रारम्भप्रयासः एतेन सङ्क्षिप्तरुचिसत्त्वानाश्रित्य प्रयोजनमाचष्टे । सम्बन्धस्त्वर्थापत्तिगम्यः, स

चोपायोपेयलक्षणः साध्यसाधनलक्षणो गुरुपर्वक्रमलक्षणो वा स्वयमभ्यूह्य इति । अथ 'कर्मविपाकं वक्ष्ये' इत्युक्तं तत्र कर्मशब्दं व्युत्पादयन्नाह—'क्रियते' विधीयतेऽञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवद् निरन्तरपुद्गलनिचिते लोके क्षीरनीरन्यायेन वह्न्ययःपिण्डवद्वा कर्मवर्गणाद्रव्यमात्मसम्बद्धं 'येन' कारणेन 'ततः' तस्मात् कारणात् कर्म भण्यत इति सम्बन्धः । केन क्रियते ? इत्याह—'जीवेन' जन्तुना, तत्र जीवति—इन्द्रियपञ्चकमनोवाक्कायबलत्रयोच्छ्वासनिःश्वासाऽऽयुर्लक्षणान् दश प्राणान् यथायोगं धारयतीति जीवः । क इत्थम्भूतः ? इति चेद् उच्यते—यो मिथ्यात्वादिकलुषितरूपतया सातादिवेदनीयादिकर्मणामभिनिर्वर्तकः, तत्फलस्य च विशिष्टसातादेरुपभोक्ता, नरकादिभवेषु च यथाकर्मविपाकोदयं संसर्ता, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रासपत्नरत्नत्रयाभ्यासप्रकर्षवशाच्च निःशेषकर्मांशापगमतः परिनिर्वाता स जीवः सत्त्वः प्राणी आत्मेत्यादि[1]पर्यायः । उक्तं च—

यः कर्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च ।
संसर्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षणः ॥ इति ।

कैः कृत्वा जीवेन क्रियते ? इत्याह—'हेतुभिः' मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणैश्चतुर्भिः सामान्यरूपैः,

"पडिणीयत्तण निन्हव, पओस उवघाय अंतराएण ।
अच्चासायणयाए, आवरणदुगं जिओ जयइ ॥"

इत्यादिभिर्विशेष[2]प्रकारैरिहैव (गा० ५३) वक्ष्यमाणैः । तदयमत्र तात्पर्यार्थः—क्रियते जीवेन हेतुभिर्येन कारणेन ततः कर्म भण्यत इति । कथमेतत्सिद्धिः ? इति चेद्[3] उच्यते—इहात्मत्वेनाविशिष्टानामात्मनां यदिदं देवासुरमनुजतिर्यगादिरूपं क्ष्मापतिद्रमकमनीषिमन्दमहर्द्धिदरिद्रादिरूपं वा वैचित्र्यं तन्न निर्हेतुकमेष्टव्यम्, मा प्रापत् सदा भावाभावदोषप्रसङ्गः, "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात्" । सहेतुकत्वाभ्युपगमे च यदेवास्य हेतुस्तदेव चास्माकं कर्मेति मतमिति तत्सिद्धिः ।

यद्वोचाम श्रीदिनकृत्यटीकायां जीवस्थापनाधिकार एनमेवार्थम्—

क्ष्माभृद्रङ्कयोर्मनीषिजडयोः सद्रूपनीरूपयोः,
श्रीमद्दुर्गतयोर्बलाबलवतोर्नीरोगरोगार्त्तयोः ।
सौभाग्यासुभगत्वसङ्गमजुषोस्तुल्येऽपि नृत्वेऽन्तरं,
यत् तत् कर्मनिबन्धनं तदपि नो जीवं विना युक्तिमत् ॥

---

१ पर्यायाः क० ख० घ० । २ ०कारैश्चेहै० ग० ३ चेद् इहा० ख० ग० ।

अन्यत्राप्युक्तम्—

आत्मत्वेनाविशिष्टस्य, वैचित्र्यं तस्य यद्वशात् ।
नरादिरूपं तच्चित्रमदृष्टं कर्मसंज्ञितम् ॥

पौराणिका अपि कर्मसिद्धिं प्रतिपद्यन्ते । तथा च ते प्राहुः—

यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः, फलं निधानस्थमिवावतिष्ठते ।
तथा तथा तत्प्रतिपादनोद्यता, प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्तते ॥
यत्तत्पुराकृतं कर्म, न स्मरन्तीह मानवाः ।
तदिदं पाण्डवज्येष्ठ !, दैवमित्यभिधीयते ॥
मुदितान्यपि मित्राणि, सुक्रुद्धाश्चैव शत्रवः ।
न हीमे तत् करिष्यन्ति, यन्न पूर्वं कृतं त्वया ॥

बौद्धा अप्याहुः—

इत एकनवतौ कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ! ॥

तदपि च कर्म पुद्गलस्वरूपं प्रतिपत्तव्यम्, नामूर्त्तम्; अमूर्त्तत्वे हि कर्मणः सकाशादात्मनामनुग्रहोपघातासम्भवात्, आकाशादिवत् । यदाह—

[1]अन्ने उ अमुत्तं चिय, कम्मं मन्नंति वासणारूवं ।
तं तु न जुज्जइ तत्तो, उवघायाणुग्गहाभावा ॥
नागासं उवघायं, अणुग्गहं वा वि कुणइ सत्ताणं ॥ इत्यादि ।

तच्च कर्म प्रवाहतोऽनादि, "[2]अणाइयं तं पवाहेण" इति वचनात् । यदि प्रवाहापेक्षयाऽपि सादि स्यात् तदा जीवानां पूर्वं कर्मवियुक्तत्वमासीत् पश्चादकर्मकस्य जीवस्य कर्मणा सह संयोगः सञ्जातः; एवं सति मुक्तानामपि कर्मयोगः स्यात्, अकर्मकत्वाविशेषात्, ततश्च मुक्ता अमुक्ताः, स्युः, न चेदमिष्टम्, तस्मादनादिर्जीवस्य कर्मणा सह संयोगः । नन्वनादिसंयोगे कथं वियोगो जीवस्य कर्मणा सह ? उच्यते—अनादिसंयोगेऽपि वियोगो दृष्टः काञ्चनोपलवत् । तथाहि—काञ्चनोपलानां यद्यप्यनादिसंयोगस्तथापि तथाविधसामग्रीसद्भावे धमनादिना किञ्चिद्वियोगो दृष्टः; एवं जीवस्यापि ज्ञानदर्शनचारित्रध्यानानलादिनाऽनादिनाऽनादिकर्मणा सह वियोगः सिद्धो भवति । यदाह भगवान् **भाष्यसुधाम्भोनिधिः**—

---

१ अन्ये तु अमूर्त्तमेव कर्म मन्यन्ते वासनारूपम् । तत् तु न युज्यते ततः उपघातानुग्रहाभावात् ॥ *नाकाशमुपघातमनुग्रहं वाऽपि कुरुते सत्त्वानाम् ॥ २ अनादिकं तत् प्रवाहेण ॥*

[1]जह[2] इह य कंचणोवलसंयोगोऽणाइसंतइगओ वि ।
वुच्छिज्जइ सोवायं, तह जोगो जीवकम्माणं ॥ (विशे० गा० १८१९)

इत्यलं विस्तरेण ॥१॥ अथ कतिभेदं कर्म ? इत्याशङ्कयाह--

पयइठिइरसपएसा, तं चउहा मोयगस्स दिट्ठंता ।
मूलपगइट्ठ उत्तरपगईअडवन्नसयभेयं ॥२॥

तत् कर्म पूर्वव्यावर्णितशब्दार्थं 'चतुर्धा' चतुष्प्रकारं चतुर्भेदं भवतीति शेषः । कथम् ? इत्याह-"पयइठिइरसपएस" त्ति, इह "गम्ययपः कर्माधारे" (सिद्धहेम० २-२-७४) इति पञ्चमी, यथा प्रासादात् प्रेक्षत इति । ततश्च प्रकृतिस्थितिरसप्रदेशानाश्रित्य, प्रकृतिबन्धस्थिति-बन्धरसबन्धप्रदेशबन्धतयेत्यर्थः । तत्र स्थित्यनुभागप्रदेशबन्धानां यः समुदायः स प्रकृतिबन्धः, अध्यवसायविशेषगृहीतस्य कर्मदलिकस्य यत् स्थितिकालनियमनं स स्थितिबन्धः, कर्मपुद्गलाना-मेव शुभोऽशुभो वा घात्यघाति वा यो रसः सोऽनुभागबन्धो रसबन्धः, इत्यर्थः, कर्मपुद्गलाना-मेव यद् ग्रहणं स्थितिरसनिरपेक्षदलिकसङ्ख्याप्राधान्येनैव करोति स प्रदेशबन्धः । उक्तं च--

[3]ठिइबंधु[4] दलस्स ठिई, पएसबंधो पएसगहणं जं ।
ताण रसो अणुभागो, तस्समुदाओ पगइबंधो ॥ (पञ्चसं० गा० ४३१)

अन्यत्राप्युक्तम्--

प्रकृतिः समुदायः स्यात् , स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसः प्रोक्तः, प्रदेशो दलसञ्चयः ॥

इदं च प्रकृतिस्थितिरसप्रदेशानां स्वरूपं 'मोदकस्य' कणिक्कादिमयलड्डुकस्य 'दृष्टान्तात्' दृष्टान्तेन भावनीयम् । दृष्टान्तादित्यत्र तृतीयार्थे पञ्चमी । यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे-"व्यत्ययोऽप्यासाम्" इति । यथा वातविनाशिद्रव्यनिष्पन्नो मोदकः प्रकृत्या वातमुपशमयति, पित्तोपशमकद्रव्यनिर्वृत्तः पित्तम् , कफापहारिद्रव्यसमुद्भूतः कफमित्येवंस्वभावा प्रकृतिः । स्थितिस्तु तस्यैव कस्यचिद्दिनमेकम् , अपरस्य तु दिनद्वयम् , एवं यावत् कस्यचिन्मासादिकमपि कालं भवति ततः परं विनाशादिति । रसः पुनः स्निग्धमधुरादिरूपस्तस्यैव कस्यचिदेकगुणः, अपरस्य द्विगुणः, अन्यस्य त्रिगुण इत्यादिकः । प्रदेशाश्च कणिक्कादिरूपास्तस्यैव कस्यचिदेक-प्रसृतिप्रमाणाः, अन्यस्य तु प्रसृतिद्वयप्रमाणाः, यावदपरस्य सेतिकादिप्रमाणाः । एवं कर्मणोऽपि

---

१ यथेह च काञ्चनोपलसंयोगोऽनादिसन्ततिगतोऽपि । व्युच्छिद्यते सोपायं तथा योगो जीवकर्मणोः ॥ २ ०इ व इह ख० ॥३ स्थितिबन्धो दलस्य स्थितिः, प्रदेशबन्धः प्रदेशग्रहणं यत् । तेषां (कर्मपुद्गलानां) रसोऽनुभागस्तत्समुदायः प्रकृतिबन्धः ॥ ४ ०बंध ग०॥

कस्यचिद् ज्ञानाच्छादनस्वभावा प्रकृतिः, अपरस्य दर्शनावरणरूपा, अन्यस्याऽऽह्लादादिप्रदानलक्षणा, कस्यचित् सम्यग्दर्शनादिविघातजननस्वभावेत्यादि । स्थितिश्च तस्यैव कस्यचित् त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीरूपा, अपरस्य तु सप्ततिसागरोपमकोटाकोटिलक्षणेत्यादि । रसस्त्वनुभागशब्दवाच्यस्तस्यैवैकस्थानद्विस्थानत्रिस्थानादिरूपः । प्रदेशा अल्पबहुबहुतरबहुतमादिरूपा इति । पुनः किंविशिष्टं तत् कर्म भवति ? इत्याह—"मूलपगइऽट्ठ उत्तरपगईअडवन्नसयभेयं" ति मूलप्रकृतयः सामान्यरूपाः 'अष्टौ' अष्टसङ्ख्या यत्र तन्मूलप्रकृत्यष्ट, उत्तरप्रकृतीनां—मूलप्रकृतिविशेषरूपाणामष्टपञ्चाशच्छतभेदा यस्य तदुत्तरप्रकृत्यष्टपञ्चाशच्छतभेदमिति ॥२॥

अधुना मूलप्रकृतिभेदतस्तस्यैवाष्टविधत्वमुत्तरप्रकृतिभेदतोऽष्टपञ्चाशच्छतभेदत्वं च प्रदर्शयन् स्वनामग्राहमष्टौ मूलभेदान् एकैकस्य च भेदस्य यस्य यावन्त उत्तरभेदास्तांश्च वक्तुमाह—

इह नाणदंसणावरणवेयमोहाऽऽउनामगोयाणि ।
विग्घं च पणनवदुअट्ठवीसचउतिसयदुपणविहं ॥३॥

'इह' प्रवचने कर्मोच्यते इति शेषः । "नाणदंसणावरण" त्ति ज्ञायते—परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति ज्ञानम्, ज्ञातिर्वा ज्ञानम्, सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोध इत्यर्थः । तथा दृश्यते[1]ऽनेनेति दर्शनम्, दृष्टिर्वा दर्शनम्, सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यग्रहणात्मको बोधः । आव्रियते—आच्छाद्यतेऽनेनेत्यावरणम्, यद्वा आवृणोति—आच्छादयति —"रम्यादिभ्यः कर्तरि" (सि० ५-३-१२६) अनटि प्रत्यये आवरणं—मिथ्यात्वादिसचिवजीवव्यापाराहृतकर्मवर्गणान्तःपाती विशिष्टपुद्गलसमूहः । ततो ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शने तयोरावरणं ज्ञानदर्शनावरणं ज्ञानावरणं दर्शनावरणं चेत्यर्थः । तथा वेद्यते—सुखदुःखरूपतयाऽनुभूयते यत् तद् वेद्यम्, "य एचातः" (सि० ५-१-२८) इति यप्रत्यये वेदनीयम् । यद्यपि सर्वं कर्म वेद्यते तथापि पङ्कजादिशब्दवद् वेद्यशब्दस्य रूढिविषयत्वात् सातासातरूपमेव कर्म वेद्यमित्युच्यते न शेषम् । तथा मोहयति—[2]जानानमपि प्राणिनं सदसद्विवेकविकलं करोतीति मोहः, लिहादित्वादच्प्रत्ययः, मोहनीयमित्यर्थः । तथा एति—गच्छत्यनेन गत्यन्तरमित्यायुः, यद्वा एति-आगच्छति प्रतिबन्धकतां स्वकृतकर्मावाप्तनरकादि[3]दुर्गतेर्निर्गन्तुमनसोऽपि जन्तोरित्यायुः, उभयत्रापि (इणो णित् ११८) औणादिको णुस्प्रत्ययः, यद्वा आयाति—भवाद् भवान्तरं सङ्क्रामतां जन्तूनां निश्चयेनोदयमागच्छति "पृषोदरादयः" (सि० ३-२-१५५) इत्यायुःशब्दसिद्धिः । यद्यपि च सर्वं कर्म उदयमायाति तथाप्यस्यायुषो विशेषः, यतः शेषं कर्म बद्धं सत् किञ्चित्तस्मिन्नेव भवे उदयमायाति, किञ्चित्तु प्रदेशोदयमुक्तं जन्मान्तरेऽपि स्वविपाकत

---

१ ०ऽनेनेति दृष्टि० क० ख० ग० घ० ॥ २ ज्ञानिनमपि ग० ॥ ३ ०दुष्क्रिर्निष्क्रमितुम० ख० ।

उदयं नायात्येव इत्युभयथाऽपि व्यभिचारः आयुषि त्वयं नास्ति, बद्धस्य तस्मिन्नेव भवेऽवेदनात्, जन्मान्तरसङ्क्रान्तौ तु स्वविपाकतोऽवश्यं वेदनादिति विशिष्टस्यैवोदयागमनस्य विवक्षितत्वात् तस्य चायुष्येव सद्भावात् तस्यैवैतन्नाम । अथवा आयान्त्युपभोगाय तस्मिन्नुदिते सति तद्भवप्रायोग्याणि सर्वाण्यपि शेषकर्माणीत्यायुः । तथा नामयति–गतिजातिप्रभृतिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम । तथा 'गुङ् शब्दे' गूयते–शब्द्यत उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् तद् गोत्रम् । ततो ज्ञानदर्शनावरणं च वेद्यं च मोहश्चायुश्च नाम च गोत्रं च ज्ञानदर्शनावरणवेद्यमोहायुर्नामगोत्राणि । तथा विशेषेण हन्यन्ते–दानादिलब्धयो विनाश्यन्तेऽनेनेति ("स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यः कः" इति कप्रत्यये 'विघ्नम्' अन्तरायम् । 'चः' समुच्चये ।) "पणनवदुअट्ठवीस" इत्यादि । अत्र द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिसमासः । भावार्थः पुनरयम् पञ्चविधं ज्ञानावरणम्, नवविधं दर्शनावरणम्, द्विविधं वेद्यम्, अष्टाविंशतिविधो मोहः, चतुर्विधमायुः, त्रिशतविधं नाम, त्रिभिरधिकं शतं त्रिशतं–त्र्युत्तरशतविधमित्यर्थः; द्विविधं गोत्रम्, पञ्चविधं विघ्नमिति ।

अत्राह—नन्वित्थं ज्ञानावरणाद्युपन्यासे किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ? उत यथाकथञ्चिदेव प्रवृत्तः ? इति, अस्तीति ब्रूमः । किं तद् ? इति चेद् उच्यते—इह ज्ञानं दर्शनं च जीवस्य स्वतत्त्वभूतम्, तदभावे जीवत्वस्यैवायोगात्, चेतनालक्षणो हि जीवः, ततः स कथं ज्ञानदर्शनाभावे भवेत् ?; ज्ञानदर्शनयोरपि च मध्ये प्रधानं ज्ञानम्, तद्वशादेव सकलशास्त्रादिविचारसन्ततिप्रवृत्तेः । अपि च—सर्वा अपि लब्धयो जीवस्य साकारोपयोगोपयुक्तस्योपजायन्ते, न दर्शनोपयोगोपयुक्तस्य; "[1]सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगोवउत्तस्स, नो अणागारोवओगोवउत्तस्स" इति वचनप्रामाण्यात् । अन्यच्च यस्मिन् समये सकलकर्मविनिर्मुक्तो जीवः सञ्जायते तस्मिन् समये ज्ञानोपयोगोपयुक्त एव, न दर्शनोपयोगोपयुक्तः, दर्शनोपयोगस्य द्वितीयसमये भावात्, ततो ज्ञानं प्रधानम्, तदावारकं च ज्ञानावरणं कर्म, ततस्तत् प्रथममुक्तम् । तदनन्तरं च दर्शनावरणम्, ज्ञानोपयोगाच्च्युतस्य दर्शनोपयोगेऽवस्थानात् । एते च ज्ञानदर्शनावरणे स्वविपाकमुपदर्शयन्ती यथायोगमवश्यं सुखदुःखरूपवेदनीयकर्मविपाकोदयनिमित्ते भवतः । तथाहि-ज्ञानावरणमुपचयोत्कर्षप्राप्तं विपाकतोऽनुभवन् सूक्ष्मसूक्ष्मतरवस्तुविचारासमर्थमात्मानं जानानः खिद्यते भूरिलोकः, ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमपाटवोपेतश्च सूक्ष्मसूक्ष्मतराणि वस्तूनि निजप्रज्ञयाऽभिजानानो बहुजनातिशायिनमात्मानं पश्यन् सुखं वेदयते; तथाऽतिनिबिडदर्शनावरणविपाकोदये जात्यन्धादिरनुभवति दुःखसन्दोहं वचनगोचरातिक्रान्तम्, दर्शनावरणक्षयोपशमपटिष्ठतापरिकरितश्च स्पष्टचक्षुराद्युपेतो यथावद् वस्तुनिकुरम्बं सम्यगवलोकमानो वेदयतेऽस-

१ सर्वा लब्धयः साकारोपयोगोपयुक्तस्य नोऽनाकारोपयोगोपयुक्तस्य ॥

न्दमानन्दसन्दोहम्, तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं दर्शनावरणानन्तरं वेदनीयग्रहणम्। वेदनीयं च सुखदुःखे जनयति, अभीष्टानभीष्टविषयसम्बन्धे चावश्यं संसारिणां रागद्वेषौ, तौ च मोहनीयहेतुकौ, तत एतदर्थप्रतिपत्तये वेदनीयानन्तरं मोहनीयग्रहणम्। मोहनीयमूढाश्च जन्तवो बह्वारम्भपरिग्रहप्रभृतिकर्मादानासक्ता नरकाद्यायुष्कमारचयन्ति, ततो मोहनीयानन्तरमायुर्ग्रहणम् । नरकाद्यायुष्कोदये चावश्यं नरकगत्यादीनि नामान्युदयमायान्ति, तत आयुरनन्तरं नामग्रहणम्। नामकर्मोदये च नियमादुच्चनीचान्यतरगोत्रकर्मविपाकोदयेन भवितव्यम्, अतो नामग्रहणानन्तरं गोत्रग्रहणम्। गोत्रोदये चोच्चैःकुलोत्पन्नस्य प्रायो दानलाभान्तरायादिक्षयो भवति, राजप्रभृतीनां प्राचुर्येण दानलाभादिदर्शनात्; नीचैःकुलोत्पन्नस्य तु दानलाभान्तरायाद्युदयः, नीचजातीनां तथादर्शनात्, तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं गोत्रानन्तरमन्तरायग्रहणमिति ॥ ३ ॥ अथ 'यथोद्देशं निर्देशः' इति न्यायात् प्रथमं तावत् पञ्चधा ज्ञानावरणं व्याचिख्यासुराह—

मइसुयओहीमणकेवलाणि नाणाणि तत्थ मइनाणं ।
वंजणवग्गह चउहा, मणनयणविणिंदियचउक्का ॥ ४ ॥

इह ज्ञानशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् मतिज्ञानम्, श्रुतज्ञानम्, अवधिज्ञानम्, "मण त्ति" पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् मनःपर्यवज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं वा, केवलज्ञानम् । तत्र "बुधि मनिच् ज्ञाने" मननं मतिः, यद्वा मन्यते—इन्द्रियमनोद्वारेण नियतं वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मतिः—योग्यदेशावस्थितवस्तुविषय इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेषः, मतिश्च सा ज्ञानं च मतिज्ञानम्। इदं चाऽऽगमे आभिनिबोधिकज्ञानमुच्यते ।

यदाह भगवान् **देवर्द्धिक्षमाश्रमणः**—

[1]नाणं पंचविहं पन्नत्तं, तं जहा—आभिणिबोहियनाणं सुयनाणं ओहिनाणं मणपज्जवनाणं केवलनाणं। (नन्दी पत्र ६५—१)।

तत्र चायमाभिनिबोधिकज्ञानशब्दार्थः—अभि—इत्याभिमुख्ये, नि—इति नैयत्ये, ततश्चाभिमुखः—वस्तुयोग्यदेशावस्थानापेक्षी नियतः—इन्द्रियमनः समाश्रित्य स्वस्वविषयापेक्षी बोधनं बोधोऽभिनिबोधः, स एवाऽऽभिनिबोधिकम्, विनयादेराकृतिगणत्वादिकण्प्रत्ययः, अभिनिबुध्यत इत्यभिनिबोध इति कर्तरि लिहादित्वादच् वा, यद्वाऽभिनिबुध्यते आत्मना स इत्यभिनिबोध इति, कर्मणि घञ्, स एवाऽऽभिनिबोधिकमिति तथैव आभिनिबोधिकं च तद् ज्ञानं चाऽऽभिनिबोधिकज्ञानम्। तथा श्रवणं श्रुतम्—अभिलापप्लावितार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिवि-

१ ज्ञानं पञ्चविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—आभिनिबोधिकज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्यवज्ञानं केवलज्ञानम्॥

शेषः, एवमाकारं वस्तु घटशब्दाभिलाप्यं जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थमित्यादिरूपतया प्रधानीकृतत्रिकालसाधारणसमानपरिणामः शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष इत्यर्थः, श्रुतं च तद् ज्ञानं च श्रुतज्ञानम् । तथाऽवधानमवधिः—इन्द्रियाद्यनपेक्षमात्मनः साक्षादर्थग्रहणम्, अत एवेदं प्रत्यक्षज्ञानम् । यदुक्तं नन्द्यध्ययने—

[1]नोइंदियपच्चक्खं तिविहं पन्नत्तं, तंजहा—ओहिनाणपच्चक्खं मणपज्जवनाणपच्चक्खं केवलनाणपच्चक्खं (नन्दी पत्र ७६–२) ।

अथवा अवशब्दोऽधःशब्दार्थः, अव—अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते- परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः, यद्वा अवधिः—मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा, तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः, अवधिश्च तद् ज्ञानं चावधिज्ञानम् । तथा परिः—सर्वतोभावे, अवनम् अवः, "तुदादिभ्योऽनक्कौ" इत्यधिकारेऽकितौ चेत्यनेन औणादिकोऽकारप्रत्ययः, अवनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवो मनःपर्यवः—सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः, मनःपर्यवश्च स ज्ञानं च मनःपर्यवज्ञानम् । यद्वा मनःपर्यायज्ञानम्, तत्र संज्ञिभिर्जीवैः काययोगेन गृहीतानि मनःप्रायोग्यवर्गणाद्रव्याणि चिन्तनीयवस्तुचिन्तनव्यापृतेन मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्यमानानि मनांसीत्युच्यन्ते, तेषां मनसां पर्यायाश्चिन्तनानुगताः परिणामा मनःपर्यायाः, तेषु तेषां वा संबन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्; यद्वा आत्मभिर्वस्तुचिन्तने व्यापारितानि मनांसि पर्येति—अवगच्छतीति मनःपर्यायम्, "कर्मणोऽण्" (सि० ५-१-७२) इति अण्प्रत्ययः, मनःपर्यायं च तद् ज्ञानं च मनःपर्यायज्ञानम् । तथा केवलम्—एकं मत्यादिज्ञानरहितत्वात् "[2]नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" (आव० नि० गा० ५३९) इति वचनप्रामाण्यात् ।

आह—यदि मत्यादीनि ज्ञानानि स्वस्वावरणक्षयोपशमभावेऽपि प्रादुःषन्ति ततो निःशेषतः स्वस्वावरणक्षये सुतरां भवेयुश्चारित्रपरिणामवत्, तत् कथं तेषां तदानीमभावः ?ः आह च—

[3]आवरणदेसविगमे, जाइं विज्जंति मइसुयाईणि ।
आवरणसव्वविगमे, कह ताइँ न हुंति जीवस्स ? ॥ इति ।

उच्यते—इह यथा सहस्रभानोरतिसमुन्नतघनाघनघनपटलान्तरितस्यापान्तरालावस्थितकटकुट्याद्यावरणविवरप्रविष्ट[:] प्रकाशो घटपटादीन् प्रकाशयति, तथा केवलज्ञानावरणावृतस्य केवलज्ञानस्यापान्तरालमतिज्ञानावरणादिक्षयोपशमरूपविवरविनिर्गतः प्रकाशो जीवादीन् प्रका-

१ नोइन्द्रियप्रत्यक्षं त्रिविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अवधिज्ञानप्रत्यक्षं मनःपर्यवज्ञानप्रत्यक्षं केवलज्ञानप्रत्यक्षम् ।
२ नष्टे तु छाद्मस्थिके ज्ञाने ॥ ३ आवरणदेशविगमे, यानि विद्यन्ते मतिश्रुतादीनि । आवरणसर्व (सर्वावरण) विगमे, कथं तानि न भवन्ति जीवस्य ? ॥

शयति, स च तथा प्रकाशयन् मतिज्ञानमित्यादिलक्षणं तत्तत्क्षयोपशमानुरूपमभिधानमुद्वहति; ततो यथा सकलघनपटलकटकुट्याद्यावरणापगमे स तथाविधः प्रकाशः सहस्रभानोरस्पष्टरूपो न भवति किन्तु सर्वात्मना स्फुटरूपोऽन्य एव, तथेहापि सकलकेवलज्ञानावरणमतिज्ञानाद्यावरणविलये न तथाविधो मतिज्ञानादिसंज्ञितः केवलज्ञानस्य प्रकाशो भवति, किन्तु सर्वात्मना यथावस्थितं वस्तु परिच्छिन्दन् परिस्फुटरूपोऽन्य एवेत्यदोषः ।

उक्तं च श्रीपूज्यैः–

[1]कटविवरागयकिरणा, मेहंतरियस्स जह दिणेसस्स ।
ते कडमेहावगमे, न हुंति जह तह इमाइं पि ॥

अन्यैरपि न्यगादि–

मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः ।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथाऽनेकप्रकारतः ॥
यथा जात्यस्य रत्नस्य, निःशेषमलहानितः ।
स्फुटैकरूपाऽभिव्यक्तिर्विज्ञप्तिस्तद्वदात्मनः ॥

अन्ये पुनराहुः–सन्त्येव मतिज्ञानादीन्यपि सयोगिकेवल्यादौ, केवलमफलत्वात् सन्त्यपि तदानीं न विवक्ष्यन्ते, यथा सूर्योदये नक्षत्रादीनि । उक्तं च–

[2]अन्ने आभिणिबोहियणाणाईणि वि जिणस्स विज्जंति ।
अफलाणि य सूरुदए, जहेव नक्खत्तमाईणि ॥

शुद्धं वा केवलम् , तदावरणमलकलङ्कपङ्कापगमात् । सकलं वा केवलम् , तत्प्रथमतयैव निःशेषतदावरणविगमतः संपूर्णोत्पत्तेः । असाधारणं वा केवलम् , अनन्यसदृशत्वात् । अनन्तं वा केवलम् , ज्ञेयानन्तत्वात् अपर्यवसितानन्तकालावस्थायित्वाद्वा । निर्व्याघातं वा केवलम् , लोकेऽलोके वा क्वापि व्याघाताभावात् । केवलं च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानं यथावस्थितसमस्तभूतभवद्भाविभावस्वभावावभासि ज्ञानमिति भावना ।

आह–नन्वेतेषां पञ्चानां ज्ञानानामित्थं क्रमोपन्यासे किं कारणम् ? उच्यते- इह मतिश्रुते तावदेकत्र वक्तव्ये, परस्परमनयोः स्वामिकालकारणविषयपरोक्षत्वसाधर्म्यात् । तथाहि– य एव मतिज्ञानस्य स्वामी स एव श्रुतज्ञानस्य य एव श्रुतज्ञानस्य स्वामी स एव मतिज्ञानस्यापि " [3]जत्थ मइनाणं तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुयनाणं तत्थ मइनाणं" (नन्दी पत्र १४०–१)

---

१ कटविवरागतकिरणाः, मेघान्तरितस्य यथा दिनेशस्य । ते कटमेघापगमे, न भवन्ति यथा तथेमान्यपि । २ अन्ये आभिनिबोधिकज्ञानादीन्यपि जिनस्य विद्यन्ते । अफलानि च सूर्योदये यथैव नक्षत्रादीनि । ३ यत्र मतिज्ञानं तत्र श्रुतज्ञानं यत्र श्रुतज्ञानं तत्र मतिज्ञानम् ।

इत्यादिवचनप्रामाण्यात् , ततः स्वामिसाधर्म्यम् । तथा यावानेव मतिज्ञानस्य स्थितिकालस्तावानेव श्रुतज्ञानस्यापि, तत्र प्रवाहापेक्षयाऽतीतानागतवर्तमानरूपः सर्वकालः, अप्रतिपतितैकजीवापेक्षया षट्षष्टिसागरोपमाणि समधिकानि, उक्तं च–

[1]दो वारे विजयाइसु, गयस्स तिन्नऽच्चुए अहव ताइं ।
अइरेगं नरभवियं, नाणाजीवाण सव्वद्धा ॥ (विशे० गा० २७६२)

इति कालसाधर्म्यम् । यथा चेन्द्रियनिमित्तं मतिज्ञानं तथा श्रुतज्ञानमपीति कारणसाधर्म्यम् । तथा यथा मतिज्ञानमादेशतः सर्वद्रव्यादिविषयमेवं श्रुतज्ञानमपि इति विषयसाधर्म्यम् । यथा च मतिज्ञानं परोक्षं तथा श्रुतज्ञानमपि इति परोक्षत्वसाधर्म्यम् । तत इत्थं स्वाम्यादिसाधर्म्यादेते मतिश्रुते नियमादेकत्र वक्तव्ये, ते चावध्यादिज्ञानेभ्यः प्रागेव, तद्भाव एवाऽवध्यादिसद्भावात् । उक्तं च—

[2]जं सामिकालकारणविसयपरोक्खत्तणेहि तुल्लाइं ।
तब्भावे सेसाणि य, तेणाऽऽईए मइसुयाइं ॥ (विशे० गा० ८५)

ननु भवतामेकत्र मतिश्रुते, प्रागेव चावध्यादिभ्यः, परमेतयोरेव मतिश्रुतयोर्मध्ये पूर्वं मतिः पश्चात् श्रुतमित्येव तत् कथम्? उच्यते–मतिपूर्वत्वात् श्रुतज्ञानस्य, तथाहि–सर्वत्रापि पूर्वमवग्रहादिरूपं मतिज्ञानमुदयते पश्चात् श्रुतम् । यदाह निविडजडिमसम्भारतिरस्कारतरणिः श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः —

[3]मइपुव्वं सुयमुत्तं, न मई सुयपुव्विया विसेसोऽयं ।
पुव्वं पालणपूरणभावाओ जं मई तस्स ॥ (विशे० गा० १०५)

नन्द्यध्ययनचूर्णावप्युक्तम्––

[4]तेसु वि य मइपुव्वयं सुयं ति किच्चा पुव्वं मइनाणं कयं, तप्पिट्ठओ सुयं ति ॥ (पत्र ११)

आह–यदि स्वामित्वादिभिरनयोरभेदस्तर्हि द्वयोरप्येकत्वमस्तु, भेदहेत्वभावाद् अभेदहेतूनां चाभिहितत्वात् , तदयुक्तम् , भेदहेत्वभावस्यासिद्धत्वात् । तथाहि–स्वाम्यादिभिरभेदे सत्यपि लक्षणभेदादनयोर्भेदः, तथाहि–मन्यते योग्योऽर्थोऽनयेति मतिः, श्रवणं श्रुतमित्यादि । तथा हेतुफलभावाद् भेदः, तथाहि–मतिज्ञानं श्रुतस्य कारणम् , श्रुतं तु कार्यम् । यच्च यदुत्कर्षापक-

---

१ द्वौ वारौ विजयादिषु, गतस्य त्रीन् (वारान्) अच्युतेऽथवा तानि (सागराणि ६६) । अतिरेकं नरभविकं नानाजीवानां सर्वाद्धा ॥ २ यत् स्वामिकालकारणविषयपरोक्षत्वैस्तुल्ये । तद्भावे शेषाणि च तेनाऽऽदौ मतिश्रुते ॥ ३ मतिपूर्वं श्रुतमुक्तं न मतिः श्रुतपूर्विका विशेषोऽयम् । पूर्वं पालनपूरणभावात् यन्मतिस्तस्य (श्रुतस्य) ॥ ४ तयोरपि च मतिपूर्वकं श्रुतमिति कृत्वा पूर्वं मतिज्ञानं कृतं तत्पृष्ठतः श्रुतमिति ॥

र्षवशादुत्कर्षापकर्षभाक् तत् तस्य कारणम्, यथा घटस्य मृत्पिण्डः, तथाहि—श्रुतेष्वपि बहुषु ग्रन्थेषु यद्विषयं स्मरणमीहाऽपोहादि वाऽधिकतरं प्रवर्तते स ग्रन्थः स्फुटतरः प्रतिभाति न शेषः । तथा भेदभेदाद् भेदः, तथाहि—मतिज्ञानमष्टाविंशत्यादिभेदम्, श्रुतज्ञानं तु चतुर्दशादिभेदम् । तथा इन्द्रियविभागाद् भेदः, तत्प्रतिपादिका चेयं पूर्वान्तर्गता गाथा—

[1]सोइंदिओवलद्धी, होइ सुयं सेसयं तु मइनाणं ।
मुत्तूणं दव्वसुयं, अक्खरलंभो य सेसेसु ॥ (विशे० गा० ११७)

तथा [2]वल्कसमं मतिज्ञानं कारणत्वात्, [3]शुम्बसमं श्रुतज्ञानं तत्कार्यत्वादित्यप्यनयोर्भेदनिबन्धनम् । तथा इतश्च भेदः—मतिज्ञानमनक्षरं साक्षरं च, तथाहि—अवग्रहज्ञानमनक्षरम्, तस्यानिर्देश्यसामान्यमात्रप्रतिभासात्मकतया निर्विकल्पत्वात्; ईहादिज्ञानं तु साक्षरम्, तस्य परामर्शादिरूपतयाऽवश्यं वर्णाऽऽरूषितत्वात्; श्रुतज्ञानं पुनः साक्षरमेव, अक्षरमन्तरेण शब्दार्थपर्यालोचनस्यानुपपत्तेः । तथा इतश्च भेदः-मूककल्पं मतिज्ञानम्, स्वमात्रप्रत्यायकत्वात्; अमूककल्पं श्रुतज्ञानम्, स्वपरप्रत्यायकत्वात् । तथा चामूनेव हेतून् संगृहीतवान् भाष्यसुधाम्भोनिधिः—

[4]लक्खणभेया हेउफलभावओ भेयइंदियविभागा ।
वागक्खरमूएयरभेया भेओ मइसुयाणं ॥ (विशे० गा० ९७)

तथा कालविपर्ययस्वामित्वलाभसाधर्म्यान्मतिश्रुतज्ञानानन्तरमवधिज्ञानम्, तथाहि—अप्रतिपतितैकजन्त्वाधारापेक्षयाऽवस्थितिका[6]लोऽवधिज्ञानस्य षट्षष्टिसागरोपमाणि । तथा यथैव मतिश्रुतज्ञाने मिथ्यात्वोदयतो विपर्ययतामासादयतस्तथाऽवधिज्ञानमपि, तथाहि—मिथ्यादृष्टेः सतस्तान्येव मतिश्रुतावधिज्ञानानि मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानानि भवन्ति । उक्तं च—

आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तम् ॥ (प्रशम० पद्य २२७) इति ।

तथा य एव मतिश्रुतयोः स्वामी स एवावधिज्ञानस्यापि । तथा विभङ्गज्ञानिनस्त्रिदशादेः सम्यग्दर्शनावाप्तौ युगपदेव मतिश्रुतावधिज्ञानानां लाभसंभवस्ततो लाभसाधर्म्यम् । अवधिज्ञानानन्तरं च छद्मस्थविषयभावप्रत्यक्षत्वसाधर्म्यान्मनःपर्यायज्ञानमुक्तम्, तथाहि—यथाऽवधिज्ञानं छद्मस्थस्य भवति तथा मनःपर्यायज्ञानमपि इति छद्मस्थसाधर्म्यम् । तथा यथाऽवधिज्ञानं रूपिद्रव्यविषयं तथा मनःपर्यायज्ञानमपि, तस्य मनःपुद्गलाऽऽलम्बनत्वाद् इति विषयसाधर्म्यम् । तथा यथाऽवधिज्ञानं क्षायोपशमिके भावे वर्तते तथा मनःपर्यायज्ञानमपि इति भावसाधर्म्यम् ।

---

१ श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः भवति श्रुतं शेषकं तु मतिज्ञानम् । मुक्त्वा द्रव्यश्रुतमक्षरलाभश्च शेषेषु ॥ २ त्वक्सदृशम् ॥ ३ रज्जुसदृशम् ॥ ४ मिश्रितत्वात् ॥ ५ लक्षणभेदाद् हेतुफलभावतो भेदेन्द्रियविभागात् । वल्काक्षरमूकेतरभेदाद्भेदो मतिश्रुतयोः ॥ ६ ०लो मतिश्रुतयोरिवावधि० ग०ङ ॥

तथा यथाऽवधिज्ञानं प्रत्यक्षं तथा मनःपर्यायज्ञानमपि इति प्रत्यक्षत्वसाधर्म्यम् । उक्तं च—

[1]कालविवज्जयसामित्तलाभसाहम्मओऽवही तत्तो ।
माणसमित्तो छउमत्थविसयभावाइसाहम्मा ॥ (विशे० गा० ८७)

तथा मनःपर्यायज्ञानानन्तरं केवलज्ञानस्योपन्यासः, सर्वोत्तमत्वाद् अप्रमत्तयतिस्वामिसाधर्म्यात् सर्वावसाने लाभाच्च । तथाहि—सर्वाण्यपि मतिज्ञानादीनि ज्ञानानि देशतः परिच्छेदकानि, केवलज्ञानं तु सकलवस्तुस्तोमपरिच्छेदकं सर्वोत्तमम्, सर्वोत्तमत्वाच्चान्ते सर्वशिरःशेखर[2]कल्पमुपन्यस्तम् । तथा यथा मनःपर्यवज्ञानमप्रमत्तयतेरेवोत्पद्यते तथा केवलज्ञानमपि इत्यप्रमत्तयतिस्वामिसाधर्म्यम् । तथा यः सर्वाण्यपि ज्ञानानि समासादयितुं योग्यः स नियमात् सर्वज्ञानावसाने केवलज्ञानमवाप्नोति, ततः सर्वान्ते केवलमुक्तम् । उक्तं च—

[3]अंते केवलमुत्तमजइसामित्तावसाणलाभाओ ॥ (धर्मसं० गा० ८५) इति ॥

व्याख्यातानि नामसंस्कारमात्रेण पञ्चापि ज्ञानानि । अथामून्येव सविस्तरं व्याचिख्यासुः प्रथमं मतिज्ञानं प्रकटयन्नाह—"तत्थ मइनाणं" इत्यादि । 'तत्र' तेषु पञ्चसु ज्ञानेषु मतिज्ञानमष्टाविंशतिभेदं भवतीत्युत्तरगाथायां सम्बन्धः । इह किल द्वेधा मतिज्ञानम्—श्रुतनिश्रितमश्रुतनिश्रितं च । तत्र च यत् प्रायः श्रुताभ्यासमन्तरेणापि सहजविशिष्टक्षयोपशमवशादुत्पद्यते तद् अश्रुतनिश्रितमौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयम्, यदाह श्री**देवर्द्धिवाचकः**—

[4]से किं तं मइनाणं ? मइनाणं दुविहं पन्नत्तं, तं जहा—सुयनिस्सियं च अस्सुयनिस्सियं च । से किं तं अस्सुयनिस्सियं ? अस्सुयनिस्सियं चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा—

उप्पत्तिया वेणइया, कम्मिया [5]परिणामिया ।
बुद्धी चउव्विहा वुत्ता, पंचमा नोवलब्भई ॥ (नन्दी पत्र १४४—१)

तत्रौत्पत्तिकी बुद्धिर्यथा **रोहकस्य** । वैनयिकी बुद्धिः पददर्शनात्करिण्यादिज्ञायकच्छात्रस्येव । कर्मजा कर्षकस्येव । पारिणामिकी श्री**वज्रस्वामिन** इव । यत्तु पूर्वं श्रुतपरिकर्मितमतेर्व्यवहारकाले पुनरश्रुतानुसारितया समुत्पद्यते तत् श्रुतनिश्रितम् । यदुक्तं श्री**विशेषावश्यके**—

[6]पुव्वं सुयपरिकम्मियमइस्स जं संपयं सुयाईयं ।
तं निस्सियमियरं पुण अणिस्सियं मइचउक्कं तं ॥ (विशे० गा० १६९)

---

१ कालविपर्ययस्वामित्वलाभसाधर्म्यतोऽवधिः ततः । मानसं (मनःपर्यायं) इतः छद्मस्थविषयभावादिसाधर्म्यात् ॥ २०कल्पे उप० क० घ० ङ० ॥ ३ अन्ते केवलमुत्तमयतिस्वामित्वावसानलाभात् ॥ ४ अथ किं तद् मतिज्ञानम् ?, मतिज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—श्रुतनिश्रितं चाश्रुतनिश्रितं च । अथ किं तदश्रुतनिश्रितम् ? अश्रुतनिश्रितं चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—औत्पत्तिकी वैनयिकी, कर्मजा पारिणामिकी । बुद्धिश्चतुर्विधा प्रोक्ता, पञ्चमी नोपलभ्यते ॥ ५ ०पारि० ख० ग० ॥ ६ पूर्वं श्रुतपरिकर्मितमतेर्यत् साम्प्रतं श्रुतातीतं । तद् निश्रितमितरत् पुनरनिश्रितं मतिचतुष्कं तत् ॥

तच्चतुर्धा भवति, तद्यथा—अवग्रह ईहा अपायः धारणा । यदाह—

[1]से किं तं सुयनिस्सियं मइनाणं ? सुयनिस्सियं मइनाणं चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा—उग्गहो ईहा अवाए धारणा ॥ (नन्दी पत्र १९८--१)

पुनरवग्रहो द्वेधा—व्यञ्जनावग्रहः अर्थावग्रहश्च । आह च—

[2]से किं तं उग्गहे ? उग्गहे दुविहे [3]पन्नत्ते, तं जहा—वंजणुग्गहे अत्थुग्गहे य ॥ (नन्दी पत्र १६८--२)

तत्र व्यज्यते—प्रकटीक्रियतेऽनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनम् । आह च—

[4]वंजिज्जइ जेणत्थो घडु व्व दीवेण वंजणं तं च । (विशे० गा० १९४)

तच्चोपकरणेन्द्रियं कदम्बपुष्पातिमुक्त[5]कपुष्पक्षुरप्रनानाकृतिसंस्थितश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनलक्षणं शब्दगन्धरसस्पर्शपरिणतद्रव्यसङ्घातो वा । ततश्च व्यञ्जनेनोपकरणेन्द्रियेण व्यञ्जनानां शब्दादिपरिणतद्रव्याणामवग्रहणं परिच्छेदनमेकस्य व्यञ्जनशब्दस्य लोपाद्व्यञ्जनावग्रहः, किमपीदमित्यव्यक्तज्ञानरूपार्थावग्रहादधोऽव्यक्ततरं ज्ञानमित्यर्थः । अयं चतुर्धा । यदाह सूत्रकृत्—"वंजणवग्गहु चउह" त्ति स्पष्टम् । चातुर्विध्यमेव भावयति--"मणनयणविणिंदियचउक" त्ति मनश्च मानसं नयनं च लोचनं मनोनयने, मनोनयने विना मनोनयनविना, "नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुलम्" (सि० ३-१-१८) इति समासः । इन्द्रियाणां चतुष्कमिन्द्रियचतुष्कं तस्माद् इन्द्रियचतुष्कात्, अत्र "गम्ययपः कर्माधारे" (सि० २-२-७४) इति पञ्चमी । मनोनयनवर्जमिन्द्रियचतुष्कमाश्रित्य व्यञ्जनावग्रहश्चतुर्धा भवतीति भावार्थः ।

उक्तं च **नन्द्यध्ययने**—

से [6]किं तं वंजणुग्गहे ? वंजणुग्गहे चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा—सोइंदियवंजणुग्गहे घाणिंदियवंजणुग्गहे रसणिंदियवंजणुग्गहे फासिंदियवंजणुग्गहे ॥ (नन्दी पत्र १६९--२)

मनोनयनयोर्वर्जनं किमर्थम् ? इति चेद् उच्यते--मनोनयनयोरप्राप्तकारित्वात्, अप्राप्तकारित्वं च विषयकृतानुग्रहोपघातशून्यत्वात्, प्राप्तकारित्वे पुनरनलजलशूल्यादीनां चिन्तनेऽवलोकने च दहनक्लेदनपाटनादयः स्युः । अत्र च विषयदेशं गत्वा न पश्यति, प्राप्तं चार्थं नालम्बत इत्येतावन्नियम्यते, मूर्तिमता पुनः प्राप्तेन भवत एवानुग्रहोपघातौ दिनकरकिरणादिनेति ।

---

१ अथ किं तत् श्रुतनिश्रितं मतिज्ञानम् ? श्रुतनिश्रितं मतिज्ञानं चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अवग्रह ईहा अपायः धारणा ॥ २ अथ कोऽसाववग्रहः ? अवग्रहो द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—व्यञ्जनावग्रहोऽर्थावग्रहश्च ॥ ३ ०न्नत्ते वंज० क० ग० ॥ ४ व्यज्यते येनार्थः घट इव दीपेन व्यञ्जनं तच्च ॥ ५ ०क्तचन्द्रक्षु० क० । ०क्तपुष्पचन्द्रक्षु घ० ङ० ॥ ६ अथ कोऽसौ व्यञ्जनावग्रहः ? व्यञ्जनावग्रहश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहो घ्राणेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहो रसनेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहः स्पर्शेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहः ।

अन्यस्त्वाह—व्यवहितार्थानुपलब्धेरनुमानात् प्राप्तकारित्वं लोचनस्येति, एतदयुक्तम् , अनैकान्तिकत्वात् , काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितस्याप्युपलब्धेः । स्यादेतत् , नायना रश्मयो निर्गत्य तमर्थं गृह्णन्तीति दर्शनरश्मीनां तैजसत्वात् तेजोद्रव्यैरप्रतिस्खलनाददोष इति, एतदप्ययुक्तम् , महाज्वालादौ प्रतिस्खलनोपलब्धेरित्यत्र बहु वक्तव्यम् तत्तु नोच्यते, ग्रन्थगहनताप्रसङ्गात् ।

व्यञ्जनावग्रहस्य च कालो जघन्य आवलिकासङ्ख्येयभागतुल्यः, उत्कृष्ट आनप्राणपृथक्त्वम् । उक्तं च—

[1]वंजणवग्गहकालो, आवलियअसंखभागतुल्लो उ ।
थोवो उक्कोसो पुण, आणापाणप्पहुत्तं ति ॥ इति ॥ ४ ॥

उक्तश्चतुर्धा व्यञ्जनावग्रहः । अथार्थावग्रहादीन् व्याचिख्यासुराह—

अत्थुग्गहईहावायधारणा करणमाणसेहिं छहा ।
[2]इय अट्ठवीसभेयं, चउदसहा वीसहा व सुयं ॥ ५ ॥

अर्यत इत्यर्थस्तस्य शब्दरूपादिभेदानामन्यतरेणापि भेदेनानिर्धारितस्य सामान्यरूपस्यावग्रहणमर्थावग्रहः, किमपीदमित्यव्यक्तज्ञानमित्यर्थः । स च करणमानसैः षोढा भवति, तत्र करणानि चेन्द्रियाणि पञ्च मानसं च मनः करणमानसानि तैः करणमानसैः कृत्वा । इदमुक्तं भवति--श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रहः १ चक्षुरिन्द्रियार्थावग्रहः २ घ्राणेन्द्रियार्थावग्रहः ३ रसनेन्द्रियार्थावग्रहः ४ स्पर्शनेन्द्रियार्थावग्रहः ५ मानसार्थावग्रहः ६ इति षोढाऽर्थावग्रहः । तथाऽवगृहीतस्यैव वस्तुनः 'किमयं भवेत् स्थाणुरेव ? न तु पुरुषः' इत्यादिवस्तुधर्मान्वेषणात्मकं ज्ञानचेष्टनमीहा, ईहनमीहेति कृत्वा ।

अरण्यमेतत् सविताऽस्तमागतो, न चाधुना सम्भवतीह मानवः ।
प्रायस्तदेतेन खगादिभाजा, भाव्यं [2]स्मरारातिसमाननाम्ना ॥

इत्याद्यन्वयधर्मघटनव्यतिरेकधर्मनिराकरणाभिमुखतालिङ्गितो ज्ञानविशेष ईहेति हृदयम् । साऽपि करणमानसैः षोढैव । तथा ईहितस्यैव वस्तुनः स्थाणुरेवायमिति निश्चयात्मको बोधविशेषोऽपायः, अयमपि करणमानसैः षोढा । तथा निश्चितस्यैवाविच्युतिस्मृतिवासनारूपं धरणं धारणा । साऽपि करणमानसैः षोढैव । अर्थावग्रहादीनां च कालप्रमाणमिदम्—

[3]उग्गह एक्कं समयं, ईहाऽवाया मुहुत्तमद्धं तु ।
कालमसंखं संखं, च धारणा होइ नायव्वा ॥ (आ० नि० गा० ४) इति ।

---

१ व्यञ्जनावग्रहकाल आवलिकासङ्ख्यभागतुल्यस्तु । स्तोक उत्कृष्टः पुनरानप्राणपृथक्त्वमिति ॥ २ स्थाणुनाम्नेत्यर्थः ॥ ३ अवग्रह एकं समयमीहाऽपायौ मुहूर्तमध्यं (भिन्नमुहूर्तं) तु । कालमसङ्ख्यातं सङ्ख्यातं च धारणा भवति ज्ञातव्या ॥

पूर्वोक्तप्रकारेणार्थावग्रहादीनां चतुर्णां प्रत्येकं षड्विधत्वात् व्यञ्जनावग्रहभेदचतुष्टयेन सह श्रुतनिश्रितं मतिज्ञानमष्टाविंशतिभेदं भवति। अश्रुतनिश्रितेन त्वौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयेन सह द्वात्रिंशद्भेदं भवति। जातिस्मरणमपि समतिक्रान्तसङ्ख्यातभवावगमस्वरूपं मतिज्ञानभेद एव। तथा **चाचाराङ्गटीका—**

जातिस्मरणं त्वाभिनिबोधिकविशेषः ॥ (पत्र २०-१)

अथवा "बहु १बहुविध२क्षिप्रा३ऽनिश्रिता४ऽसन्दिग्ध५ध्रुवाणां६सेतराणाम्" (तत्त्वा० अ० १ सू० १६) इति वचनादष्टाविंशतिरपि द्वादशधा भिद्यते। तथाहि—बहूनामपि श्रोतॄणामविशेषेण प्राप्तिविषयस्थेऽपि शङ्खभेर्यादितूर्यसमुदाये क्षयोपशमवैचित्र्यात् कश्चिदवग्रहादिभिर्बहु गृह्णाति, एकहेलास्फालितानामपि शङ्खभेर्यादितूर्याणां पृथक् पृथक् शब्दं गृह्णातीत्यर्थः १। अपरस्त्वबहु गृह्णाति, अव्यक्ततूर्यध्वनिमेवोपलभत इत्यर्थः २। अन्यस्तु योषिदादिवाद्यमानतामधुरमन्द्रत्वादिबहुपर्यायोपेतान् शङ्खादिध्वनीन्[1] पृथक् पृथग् जानातीति बहुविधग्राहीत्युच्यते ३। एकद्विपर्यायोपेतांस्तु तानेव जानानोऽबहुविधग्राही ४। अन्यस्तु क्षिप्रमचिरेणार्थं जानाति ५। अन्यस्तु [2]विमृश्य चिरेणेति ६। अन्यस्त्वनिश्रितमलिङ्गं गृह्णाति न पुनः पताकयेव देवकुलम् ७। अपरस्तु पताकया देवकुलमिव लिङ्गनिश्रया गृह्णाति ८। यद् असंशयं गृह्णाति तद् असन्दिग्धम् ९। संशयोपेतं तु यद् गृह्णाति तत् सन्दिग्धम् १०। यद् एकदा गृहीतं तत् सर्वदैवावश्यं गृह्णाति न पुनः कालान्तरे तद्ग्रहणे परोपदेशादिकमपेक्षते तद् ध्रुवम् ११। यत् पुनः कदाचिदेव गृह्णाति न सर्वदा तद् अध्रुवम् १२। एवमेतैर्द्वादशभिर्भेदैरवग्रहादयः पूर्वोक्तभेदयुक्ता वस्तु गृह्णन्तीत्यष्टाविंशत्या द्वादशभिर्गुणितया त्रीणि शतानि षट्त्रिंशदधिकानि भवन्ति। यदाह **भाष्यपीयूषपयोधिः—**

[3]जं बहुबहुविहखिप्पानिस्सियनिच्छियधुवेयरविभत्ता ।
पुणरुग्गहादओ तो, तं छत्तीसं तिसयभेयं ॥
[4]ना[5]णासद्दसमूहं, बहुं पिहं मुणइ भिन्नजाईयं ।
बहुविहमणेगभेयं, इक्किक्कं निद्धमहुराई ॥
[6]खिप्पमचिरेण तं चिय, सरूवओ तं अणिस्सियमलिंगं ।
निच्छियमसंसयं जं, धुवमच्चंतं न य कयाई ॥ (विशे० गा० ३०७-९)

---

१ ०न पृथग् जा० क० ख० ग० ॥ २ ०श्य विमृश्य चि० ख० घ० ङ० ॥ ३ यद् बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितनिश्चितध्रुवेतरविभक्ताः। पुनरवग्रहादयोऽतस्तत् षट्त्रिंशत्त्रिशतभेदम् ॥ ४ नानाशब्दसमूहं बहुं पृथग् जानाति भिन्नजातिकम्। बहुविधमनेकभेदमेकैकं स्निग्धमधुरादि ॥५ नाणं सद्द० क० ख० ग० घ०ङ०॥६ क्षिप्रमचिरेण तच्चैव स्वरूपतः तदनिश्रितमलिङ्गम्। निश्चितमसंशयं यद् ध्रुवमत्यन्तं न च कदाचित्।

अश्रुतनिश्रितबुद्धिचतुष्टयेन सह चत्वारिंशदधिकानि त्रीणि शतानि मतिज्ञानस्य भेदानां भवन्ति। यद्वा मतिज्ञानं चतुर्विधं द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्। यदाहुर्निर्दलिताज्ञानसम्भारप्रसराः [1]श्रीदेवर्द्धिवाचकवराः–

[2]तं समासओ चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा–दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वदव्वाइं जाणइ न पासइ। खित्तओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वं खित्तं जाणइ न पासइ। कालओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वकालं जाणइ न पासइ। भावओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वभावे जाणइ न पासइ। (नन्दी पत्र १८३-२) इति।

व्याख्यातं सप्रपञ्चं मतिज्ञानम्। साम्प्रतं श्रुतज्ञानं व्याचिख्यासुराह–"चउदसहा वीसहा व सुयं" ति 'श्रुतं' श्रुतज्ञानं 'चतुर्दशधा' चतुर्दशभेदं 'विंशतिधा' विंशतिप्रकारं[3] वा भवतीति ॥ ५ ॥ तत्र प्रथमं श्रुतस्य चतुर्दश भेदान् व्याख्यानयन्नाह–

अक्खर सन्नी सम्मं, साईअं खलु सपज्जवसियं च।
गमियं अंगपविट्ठं, सत्त वि एए सपडिवक्खा ॥ ६ ॥

इह श्रुतशब्दः पूर्वगाथातः सम्बध्यते। ततोऽक्षरश्रुतं १ संज्ञिश्रुतं २ सम्यक्श्रुतं ३ सादिश्रुतं ४ सपर्यवसितश्रुतं ५ गमिकश्रुतम् ६ अङ्गप्रविष्टश्रुतम् ७ इत्येते सप्त भेदाः सप्रतिपक्षाः श्रुतस्य चतुर्दश भेदा भवन्ति। तथाहि–अक्षरश्रुतप्रतिपक्षम् अनक्षरश्रुतम् १ एवमसंज्ञिश्रुतं २ मिथ्याश्रुतम् ३ अनादिश्रुतम् ४ अपर्यवसितश्रुतम् ५ अगमिकश्रुतम् ६ अङ्गबाह्यश्रुतम् ७ इति। तत्राक्षरं त्रिधा–संज्ञाव्यञ्जनलब्धिभेदात्। उक्तं च–

[4]तं सन्नावंजणलद्धिसन्नियं तिविहमक्खरं भणियं।
सुबहुलिविभेयनिययं, सन्नक्खरमक्खरागारो ॥ (विशे० गा० ४६४)

सुबह्व्यो या एता अष्टादश लिपयः श्रूयन्ते, तथाहि–

[5] हंसलिवी १ भूयलिवी २, जक्खी ३ तह रक्खसी ४ य बोधव्वा।
उड्डी ५ जवणि ६ [6]तुरुकी ७, कीरी ८ दविडी ९ य सिंधविया १० ॥

---

१ ०ववाचक० क० ङ० ॥ २ तत् समासतश्चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतः। द्रव्यतः णमिति वाक्यालङ्कारे (एवं सर्वत्र) आभिनिबोधिकज्ञानी आदेशेन सर्वद्रव्याणि जानाति न पश्यति। क्षेत्रतः आभिनिबोधिकज्ञानी आदेशेन सर्वं क्षेत्रं जानाति न पश्यति। कालतः आभिनिबोधिकज्ञानी आदेशेन सर्वं कालं जानाति न पश्यति। भावतः आभिनिबोधिकज्ञानी आदेशेन सर्वान् भावान् जानाति न पश्यति। ३ ०कारं भव० क० ख० ग० ॥ ४ तत् संज्ञाव्यञ्जनलब्धिसंज्ञिकं त्रिविधमक्षरं भणितम्। सुबहुलिपिभेदनियतं संज्ञाक्षरमक्षराकारः॥ ५ हंसलिपिर्भूतलिपिर्यक्षी तथा राक्षसी च बोद्धव्या। ओड्री यवनी तुरुष्की कीरी द्राविडी च सिन्धविका ॥ ६ पुरुकी क० ख० ग० ङ० ॥

[1]मालविणी ११ नडि १२ नागरि १३, लाडलिवी १४ पारसी १५ य बोधव्वा ।
तह अनिमित्तीय १६ लिवी, चाणक्की १७ मूलदेवी य १८ ॥

व्यञ्जनाक्षरमकारादि हकारपर्यन्तमुच्यते । तदेतद्द्वितयमज्ञानात्मकमपि श्रुतकारणत्वादुपचारेण श्रुतम् । लब्ध्यक्षरं तु शब्दश्रवणरूपदर्शनादेरर्थप्रत्यायनगर्भोऽक्षरोपलब्धिः । यदाह—

[2]जो अक्खरोवलंभो, सा लद्धी तं च होइ विन्नाणं ।
इंदियमणोनिमित्तं, जो आवरणक्खओवसमो ॥ (विशे० गा० ४६६)

ततोऽक्षरैरभिलाप्यभावानां प्रतिपादनप्रधानं श्रुतमक्षरश्रुतम् १ । नन्वनभिलाप्या अपि किं केचिद्भावाः सन्ति, येनैवमुच्यतेऽभिलाप्यभावानां प्रतिपादनप्रधानं श्रुतम् ? इति, उच्यते—सन्त्येव । यदाहुः **श्रीपूज्याः**—

[3]पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं ।
पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुयनिबद्धो ॥
[4]जं चउदसपुव्वधरा, छट्ठाणगया परुप्परं हुंति ।
तेण उ अणंतभागो, पण्णवणिज्जाण जं [5]सुत्तं ॥
[6]अक्खरलंभेण समा, ऊणहिया हुंति मइविसेसेणं ।
ते वि हु मईविसेसा, सुयनाणब्भंतरे जाण (विशे० गा० १४१-४३)

अनक्षरश्रुतं क्ष्वेडितशिरःकम्पनादिनिमित्तं मामाह्वयति वारयति वेत्यादिरूपमभिप्रायपरिज्ञानम् २। तथा संज्ञिश्रुतं तत्र संज्ञानं संज्ञा "उपसर्गादातः" (सि० ५-३-११०) इत्यङ्प्रत्ययः । सा च त्रिविधा—दीर्घकालिकी हेतुवादोपदेशिकी दृष्टिवादोपदेशिकी ।

यदाह **भाष्यसुधाम्भोनिधिः**—

[7]इह दीहकालिगी कालिगि त्ति सन्ना जया सुदीहं पि ।
संभरइ भूयमिस्सं, चिंतेइ य किह णु कायव्वं ॥ (विशे० गा० ५०८)
[8]जे पुण संचिंतेउं, इट्ठाणिट्ठेसु विसयवत्थूसु ।
वट्टंति नियत्तंति य, सदेहपरिवालणाहेउं ॥

---

१ मालविनी नटी नागरी लाटलिपिः पारसी च बोद्धव्या । तथाऽनिमित्तिका लिपिश्चाणक्या मूलदेवी च ॥
२ योऽक्षरोपलम्भः सा लब्धिस्तच्च भवति विज्ञानम् । इन्द्रियमनोनिमित्तं य आवरणक्षयोपशमः ॥ ३ प्रज्ञापनीया भावा अनन्तभागस्त्वनभिलाप्यानाम् । प्रज्ञापनीयानां पुनरनन्तभागः श्रुतनिबद्धः ॥ ४ यच्चतुर्दशपूर्वधराः षट्स्थानगताः परस्परं भवन्ति । तेन त्वनन्तभागः प्रज्ञापनीयानां यत् सूत्रम् ॥ ५ वुत्तं क० घ० ॥
६ अक्षरलम्भेन समा ऊनाधिका भवन्ति मतिविशेषैः । तानपि तु मतिविशेषान् श्रुतज्ञानाभ्यन्तरे जानीहि ॥
७ इह दीर्घकालिकी कालिकीति संज्ञा यया सुदीर्घमपि । संस्मरति भूतमेष्यत् चिन्तयति च कथं नु कर्तव्यम् ॥ ८ ये पुनः सञ्चिन्त्य इष्टानिष्टेषु विषयवस्तुषु । वर्तन्ते निवर्तन्ते च स्वदेहपरिपालनाहेतोः ॥

[1]पाएण संपयं चिय, कालम्मि न यावि दीह[2]कालंजा ।
ते हेउवायसन्नी, निच्चिट्ठा हुंति अस्सण्णी ॥
[3]सम्मद्दिट्ठी सन्नी, संते नाणे खओवसमियम्मि ।
अस्सण्णी मिच्छत्तम्मि दिट्ठिवाओवएसेणं ॥ (विशे० गा० ५१५-१७)

ततश्च संज्ञा विद्यते येषां ते संज्ञिनः, परं सर्वत्राप्यागमे ये दीर्घकालिक्या संज्ञया संज्ञिनस्ते संज्ञिन उच्यन्ते, ततः संज्ञिनां श्रुतं संज्ञिश्रुतम् समनस्कानां मनःसहितैरिन्द्रियैर्जनितं श्रुतं संज्ञिश्रुतमिति भावः ३ । मनोरहितेन्द्रियजं श्रुतमसंज्ञिश्रुतम् ४ । तथा सम्यग्दृष्टेरर्हत्प्रणीतं मिथ्यादृष्टिप्रणीतं वा यथास्वरूपमवगमात् सम्यक्श्रुतम् ५ । मिथ्यादृष्टेः पुनरर्हत्प्रणीतमितरद्वा मिथ्याश्रुतं, यथास्वरूपमनवगमात् ६ ।

आह-मिथ्यादृष्टेरपि मतिश्रुते सम्यग्दृष्टेरिव तदावरणकर्मक्षयोपशमसमुद्भवे सम्यग्दृष्टेरिव पृथुबुध्नोदराद्याकारं घटादिकं च संविदाते, तत् कथं मिथ्यादृष्टेरज्ञाने ? उच्यते-सदसद्विवेकपरिज्ञानाभावात् । तथाहि-मिथ्यादृष्टिः सर्वमप्येकान्तपुरःसरं प्रतिपद्यते, न भगवदुक्तस्याद्वादनीत्या, ततो घट एवायमिति यदा ब्रूते तदा तस्मिन् घटे घटपर्यायव्यतिरेकेण शेषान् सत्त्वज्ञेयत्वप्रमेयत्वादीन् सतोऽपि धर्मानपलपति, अन्यथा घट एवायमित्येकान्तेनावधारणानुपपत्तेः; घटः सन्नेवेति ब्रुवाणः पररूपेण नास्तित्वस्यानभ्युपगमात् पररूपतामसतीमपि तत्र प्रतिपद्यते; ततः सन्तमसन्तं प्रतिपद्यतेऽसन्तं च सन्तमिति सदसद्विशेषपरिज्ञानाभावादज्ञाने मिथ्यादृष्टेर्मतिश्रुते । इतश्च ते मिथ्यादृष्टेरज्ञाने, भवहेतुत्वात् । तथाहि-मिथ्यादृष्टीनां मतिश्रुते पशुवधमैथुनादीनां धर्मसाधकत्वेन परिच्छेदके, ततो दीर्घतरसंसारपथप्रवर्तिनी । तथा यदृच्छोपलम्भादुन्मत्तकविकल्पवत् । तथाहि-उन्मत्तकविकल्पा वस्त्वनपेक्ष्यैव यथाकथञ्चित् प्रवर्तन्ते; यद्यपि च ते क्वचिद्यथावस्थितवस्तुसंवादिनस्तथापि सम्यग्यथावस्थितवस्तुतत्त्वपर्यालोचनाविरहेण प्रवर्तमानत्वात् परमार्थतोऽपारमार्थिकाः, तथा मिथ्यादृष्टीनां मतिश्रुते यथावद्वस्त्वविचार्यैव प्रवर्तेते, ततो यद्यपि ते क्वचिद्रसोऽयं स्पर्शोऽयमित्यादाववधारणाध्यवसायाभावे संवादिनी तथापि न ते स्याद्वादमुद्रापरिभावनातस्तथाप्रवृत्ते, किन्तु यथाकथञ्चित्, अतस्ते अज्ञाने । तथा ज्ञानफलाभावात्, ज्ञानस्य हि फलं हेयस्य हानिरुपादेयस्य चोपादानम्, न च संसारात् परं किञ्चन हेयमस्ति, न च मोक्षात् परं किञ्चिदुपादेयम्, ततो भवमोक्षावेकान्तेन हेयोपादेयौ, भवमोक्षयोश्च हान्युपादाने सर्वसङ्गविरतेर्भवतः, ततः साऽवश्यं तत्त्ववेदिना कर्तव्या, सैव च तत्त्वतो ज्ञानस्य फलम् । तथा चाह **भगवानुमास्वातिवाचकः**—

---

१ प्रायेण साम्प्रतमेव काले न चापि दीर्घकालज्ञाः । ते हेतुवादसंज्ञिनः निश्चेष्टा भवन्ति असंज्ञिनः ॥ २ ०कालन्ना क० ॥ ३ सम्यग्दृष्टिः संज्ञी सति ज्ञाने क्षायोपशमिके । असंज्ञी मिथ्यात्वे दृष्टिवादोपदेशेन ॥

ज्ञानस्य फलं विरतिः, (प्रशम० पद्य० ७२) इति।

सा च मिथ्यादृष्टेर्नास्तीति ज्ञानफलाभावादज्ञाने मिथ्यादृष्टेर्मतिश्रुते। यदाह **भाष्यसुधाम्भोनिधिः**—

[1]सदसदविसेसणाओ, भवहेउ जहिच्छिओवलंभाओ।
नाणफलाभावाओ, मिच्छद्दिट्ठिस्स अन्नाणं॥ (विशे० गा० ११५) इति।

तथा—

"[2]साईयं ७ सपज्जवसियं ८ अणाईयं ९ अपज्जवसियं १० इच्चेयं दुवालसंगं वुच्छित्तिनयट्ठयाए साईयं सपज्जवसियं, अवुच्छित्तिनयट्ठयाए अणाईयं अपज्जवसियं, तं समासओ चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा–दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं सम्मसुयं एगं पुरिसं पडुच्च साईयं सपज्जवसियं, बहवे पुरिसे पडुच्च अणाईयं अपज्जवसियं। खित्तओ णं पंच भरहाइं पंच एरवयाइं पडुच्च साईयं सपज्जवसियं, पंच महाविदेहाइं पडुच्च अणाईयं अपज्जवसियं। कालओ णं उस्सप्पिणिं अवसप्पिणिं च पडुच्च साईयं सपज्जवसियं, नो उस्सप्पिणिं नोअवसप्पिणिं च पडुच्च अणाईयं अपज्जवसियं"। नोउत्सर्पिणी नोअवसर्पिणी चेति कालो महाविदेहेषु ज्ञेयः, तत्रोत्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणकालाभावात्। "भावओ णं जे जया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति ते तया पडुच्च साईयं सपज्जवसियं, खाओवसमियं पुण भावं पडुच्च अणाईयं अपज्जवसियं; अहवा भवसिद्धियस्स सुयं साईयं सपज्जवसियं"। केवलज्ञानोत्पत्तौ तदभावात्, "नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" (आ० नि० गा० ५३९) इति वचनात्। "अभवसिद्धियस्स सुयं अणाईयं अपज्जवसियं"। (नन्दी पत्र १९५–१)।

इह च सामान्यतः श्रुतशब्देन श्रुतज्ञानं श्रुताज्ञानं चोच्यते। यदाह—

[3]अविसेसियं सुयं सुयनाणं सुयअन्नाणं च।

---

१ सदसदविशेषणाद्भवहेतुतो यदृच्छोपलम्भात्। ज्ञानफलाभावान्मिथ्यादृष्टेरज्ञानम्॥ २ सादिकं ७ सपर्यवसितम् ८ अनादिकम् ९ अपर्यवसितम् १० इत्येतत् द्वादशाङ्गं व्युच्छित्तिनयार्थतया सादिकं सपर्यवसितम् अव्युच्छित्तिनयार्थतयाऽनादिकमपर्यवसितम्, तत् समासतश्चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतः। द्रव्यतः सम्यक्श्रुतं एकं पुरुषं प्रतीत्य सादिकं सपर्यवसितम्, बहून् पुरुषान् प्रतीत्यानादिकमपर्यवसितम्। क्षेत्रतः पञ्च भरतानि पञ्चैरवतानि प्रतीत्य सादिकं सपर्यवसितम्, पञ्च महाविदेहानि प्रतीत्यानादिकमपर्यवसितम्। कालतः उत्सर्पिणीमवसर्पिणीं च प्रतीत्य सादिकं सपर्यवसितम्, नोउत्सर्पिणीं नोअवसर्पिणीं च प्रतीत्यानादिकमपर्यवसितम्। भावतो ये यदा जिनप्रज्ञप्ता भावा आख्यायन्ते प्रज्ञाप्यन्ते प्ररूप्यन्ते दर्श्यन्ते निदर्श्यन्ते, तान् तदा प्रतीत्य सादिकं सपर्यवसितम्, क्षायोपशमिकं पुनर्भावं प्रतीत्यानादिकमपर्यवसितम्। अथवा भवसिद्धिकस्य श्रुतं सादिकं सपर्यवसितम्। नष्टे तु छाद्मस्थिके ज्ञाने। अभवसिद्धिकस्य श्रुतमनादिकमपर्यवसितम्॥ ३ अविशेषितं श्रुतं श्रुतज्ञानं श्रुताज्ञानं च॥

तथा गमाः–सदृशपाठास्ते विद्यन्ते यत्र तद् गमिकम्, "अतोऽनेकस्वरात्" (सि० ७-२-६) इति इकप्रत्ययः, तद् प्रायो दृष्टिवादगतम् ११। अगमिकम्–असदृशाक्षरालापकम्, तद् प्रायः कालिकश्रुतगतम् १२। अङ्गप्रविष्टं द्वादशाङ्गीरूपम् १३। तथाहि—

[1]अट्ठारस पयसहसा, आयारे १ दुगुण दुगुण सेसेसु।
सूयगड २ ठाण ३ समवाय ४ भगवई ५ नायधम्मकहा ६॥
अंगं उवासगदसा ७, अंतगड ८ अणुत्तरोववाइदसा ९।
पन्हावागरणं तह १०, विवायसुयमिगदसं अंगं ११॥
परिकम्म १ सुत्त २ पुव्वाणुओग ३ पुव्वगय ४ चूलिया ५ एवं।
पण दिट्ठिवायभेया, चउदस पुव्वाइं पुव्वगयं॥
उप्पाए १ पयकोडी, [2]अग्गाणीयम्मि छन्नवइलक्खा।
विरियपवाए ३ अत्थिप्पवाइ ४ लक्खा सयरि सट्ठी॥
[3]एगपऊणा कोडी, पयाण नाणप्पवायपुव्वम्मि ५।
सच्चप्पवायपुव्वे ६, एगा पयकोडि छच्च पया॥
छव्वीसं पयकोडी, पुव्वे आयप्पवायनामम्मि ७।
कम्मप्पवायपुव्वे ८, पयकोडी असिइलक्खजुया॥
पच्चक्खाणभिहाणे ९, पुव्वे चुलसीइ पयसयसहस्सा।
दसपयसहसजुया पयकोडी विज्जापवायम्मि १०॥
कल्लाणनामधिज्जे ११, पुव्वम्मि पयाण कोडि छव्वीसा।
छप्पन्नलक्खकोडी, पयाण पाणाउपुव्वम्मि १२॥
किरियाविसालपुव्वे १३, नव पयकोडीउ बिंति समयविऊ।

---

१ अष्टादश पदसहस्राणि आचारे १ द्विगुणद्विगुणानि शेषेषु। सूत्रकृत२स्थान३समवाय४भगवती५ ज्ञाताधर्मकथाः ६॥ अङ्गमुपासकदशा ७ ऽन्तकृद् ८ अनुत्तरोपपातिकदशाः ९। प्रश्नव्याकरणं १० तथा विपाकश्रुतमेकादशमङ्गम् ११॥ परिकर्म १ सूत्र २ पूर्वानुयोग ३ पूर्वगत ४ चूलिका ५ एवम्। पञ्च दृष्टिवादभेदाश्चतुर्दश पूर्वाणि पूर्वगतम्॥ उत्पादे १ पदकोटी अग्राणीये २ षण्णवतिलक्षाः। वीर्यप्रवादे ३ अस्तिप्रवादे ४ लक्षाः सप्ततिः षष्टिः॥ २ अग्गेणीय० क० ख० ग०॥ ३ एकपदोना कोटी पदानां ज्ञानप्रवादपूर्वे ५। सत्यप्रवादपूर्वे ६ एका पदकोटी षट् च पदानि॥ षड्विंशतिः पदकोटी पूर्वे आत्मप्रवादनामनि ७। कर्मप्रवादपूर्वे ८ पदकोटी अशीतिलक्षयुता॥ प्रत्याख्यानाभिधाने ९ पूर्वे चतुरशीतिः पदशतसहस्राणि। दशपदसहस्रयुक्ता पदकोटी विद्याप्रवादे १०॥ कल्याणनामधेये ११ पूर्वे पदानां कोटिः षड्विंशतिः। षट्पञ्चाशल्लक्षकोटी पदानां प्राणायुःपूर्वे १२॥ क्रियाविशालपूर्वे १३ नव पदकोट्यो ब्रुवते समयविदः।

★ सिरिलोकबिन्दुसारे १४, सड्ढुदुवालस य पयलक्खा ॥

अङ्गबाह्यश्रुतम् आवश्यकदशवैकालिकादि १४ इति ॥६॥

व्याख्यातं चतुर्दशधा श्रुतम् । सम्प्रति विंशतिधा श्रुतं व्याख्यानयन्नाह–

पज्जय १ अक्खर २ पय ३ संघाया ४ पडिवत्ति ५ तह य अणुओगो ६ ।

पाहुडपाहुड ७ पाहुड ८ वत्थू ९ पुव्वा १० य ससमासा ॥७॥

पर्यायश्च अक्षरं च पदं च सङ्घातश्च पर्यायाक्षरपदसङ्घाताः । "पडिवत्ति" त्ति प्रतिपत्तिः, प्राकृतत्वात् लुप्तविभक्तिको निर्देशः । तथा च 'अनुयोगः' अनुयोगद्वारलक्षणः । प्राभृतप्राभृतं च प्राभृतं च वस्तु च पूर्वं च प्राभृतप्राभृतप्राभृतवस्तुपूर्वाणि । प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययः । यदाह **पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे**–"लिङ्गं व्यभिचार्यपि" । 'चः' समुच्चये । एते पर्यायादयः श्रुतस्य दश भेदाः कथम्भूताः ? इत्याह–"ससमास" त्ति समासः–संक्षेपो मीलक इत्यर्थः, सह समासेन वर्तन्ते ससमासास्ततश्च प्रत्येकं सम्बन्धः । तथाहि–पर्यायः पर्यायसमासः, अक्षरम् अक्षरसमासः, (पदं पदसमासः, सङ्घातः सङ्घातसमासः, प्रतिपत्तिः प्रतिपत्तिसमासः, अनुयोगः अनुयोगसमासः,) प्राभृतप्राभृतं प्राभृतप्राभृतसमासः, प्राभृतं प्राभृतसमासः, वस्तु वस्तुसमासः, पूर्वं पूर्वसमास इति विंशतिधा श्रुतं भवतीति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्–पर्यायो ज्ञानस्यांशो विभागः पलिच्छेद इति पर्यायाः । तत्रैको ज्ञानांशः पर्यायः, अनेके तु ज्ञानांशाः पर्यायसमासः । एतदुक्तं भवति–लब्ध्यपर्याप्तस्य सूक्ष्मनिगोदजीवस्य यत् सर्वजघन्यं श्रुतमात्रं तस्मादन्यत्र जीवान्तरे य एकः श्रुतज्ञानांशोऽविभागपलिच्छेदरूपो वर्धते स पर्यायः १ ये तु द्व्यादयः श्रुतज्ञानाविभागपलिच्छेदा नानाजीवेषु वृद्धा लभ्यन्ते ते समुदिताः पर्यायसमासः २ । अकारादिलब्ध्यक्षराणामन्यतरदक्षरम् ३ । तेषामेव द्व्यादिसमुदायोऽक्षरसमासः ४ । पदं तु 'अर्थपरिसमाप्तिः पदम्' इत्याद्युक्तिसद्भावेऽपि येन केनचित्पदेनाऽष्टादशपदसहस्रादिप्रमाणा आचारादिग्रन्था गीयन्ते तदिह गृह्यते, तस्यैव द्वादशाङ्गश्रुतपरिमाणेऽधिकृतत्वात् , श्रुतभेदानामेव चेह प्रस्तुतत्वात् । तस्य च पदस्य तथाविधाम्नायाभावात् प्रमाणं न ज्ञायते । तत्रैकं पदं पदमुच्यते ५ । द्व्यादिपदसमुदायस्तु पदसमासः ६ । "[1]गइ इंदिए य काए" (आ० नि० गा० १४) इत्यादिगाथाप्रतिपादितद्वारकलापस्यैकदेशो यो गत्यादिकस्तस्याप्येकदेशो यो नरकगत्यादिस्तत्र जीवादिमार्गणा यका क्रियते स सङ्घातः ७ । द्व्यादिगत्याद्यवयवमार्गणा सङ्घातसमासः ८ । गत्यादिद्वाराणामन्यतरैकपरिपूर्णगत्यादिद्वारेण जीवादिमार्गणा प्रतिपत्तिः ९ । द्वारद्वयादिमार्गणा तु प्रतिपत्तिसमासः १० । "[2]संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च" (आ०

★ श्रीलोकबिन्दुसारे १४ सार्धद्वादश च पदलक्षम् ॥ १ गतिः इन्द्रियं कायः ॥ २ सत्पदप्ररूपणता द्रव्यप्रमाणं च ॥

नि० गा० १३) इत्यादि अनुयोगद्वाराणामन्यतरदेकमनुयोगद्वारमुच्यते ११। तद्द्व्यादिसमुदायः पुनरनुयोगद्वारसमासः १२। प्राभृतान्तर्वर्ती अधिकारविशेषः प्राभृतप्राभृतम् १३। तद्द्व्यादिसमुदायस्तु प्राभृतप्राभृतसमासः (१४। वस्त्वन्तर्वर्ती अधिकारविशेषः प्राभृतम् १५। तद्द्व्यादिसंयोगस्तु प्राभृतसमासः) १६। पूर्वान्तर्वर्ती अधिकारविशेषो वस्तु १७। तद्द्व्यादिसंयोगस्तु वस्तुसमासः १८। पूर्वमुत्पादपूर्वादि पूर्वोक्तस्वरूपम् १९। तद्द्व्यादिसंयोगस्तु पूर्वसमासः २०। एवमेते संक्षेपतः श्रुतज्ञानस्य विंशतिर्भेदा दर्शिताः, विस्तरार्थिना तु **बृहत्कर्मप्रकृति**रन्वेषणीया। एते च पर्यायादयः श्रुतभेदा यथोत्तरं तीव्र-तीव्रतरादिक्षयोपशमलभ्यत्वादित्थं निर्दिष्टा इति परिभावनीयमिति। अथवा चतुर्विधं श्रुतज्ञानम्, तथाहि–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च। तत्र द्रव्यतः श्रुतज्ञानी सर्वद्रव्याण्यादेशेन जानाति, क्षेत्रतः सर्वक्षेत्रमादेशेन श्रुतज्ञानी जानाति, कालतः सर्वं कालमादेशेन श्रुतज्ञानी जानाति, भावतः सर्वान् भावान् आदेशेन श्रुतज्ञानी जानातीति ॥ ७॥

व्याख्यातं सविस्तरं श्रुतज्ञानम्। सम्प्रत्यवधिज्ञानं व्याख्यायते, तच्च द्वेधा–भवप्रत्ययं देवनारकाणाम्, गुणप्रत्ययं मनुष्यतिरश्चाम्, तच्च षोढा, तथा चाह सूत्रम्—

अणुगामिवड्ढमाणयपडिवाईयरविहा छहा ओही।
रिउमइविउलमई मणनाणं केवलमिगविहाणं ॥ ८॥

[1]'आनुगामि च वर्धमानकं च प्रतिपाति च इतराणि' च–अनानुगामिहीयमानकाप्रतिपातीनि आनुगामिवर्धमानकप्रतिपातीतराणि, विधानानि विधाः–भेदाः, तत आनुगामिवर्धमानकप्रतिपातीतराणि विधा यस्य तत्तथा तस्माद् आनुगामिवर्धमानकप्रतिपातीतरविधात् षड्धा 'अवधिः' अवधिज्ञानं भवति। उक्तं च **नन्द्यध्ययने**—

[2]तं समासओ छव्विहं पन्नत्तं, तं जहा–आणुगामियं अणाणुगामियं वड्ढमाणयं हीयमाणयं पडिवाई अपडिवाई। (नन्दी पत्र ८१-१)

तत्र गच्छन्तं पुरुषम् आ–समन्तादनुगच्छतीत्येवंशीलमानुगामि, यद् देशान्तरगतमपि ज्ञानिनमनुगच्छति लोचनवत् तद् अवधिज्ञानमानुगामीति भावः १। तथा न आनुगामि अनानुगामि, शृङ्खलाबद्धप्रदीप इव यद् न गच्छन्तं ज्ञानिनमनुगच्छति, यत् किल तद्देशस्थस्यैव भवति, तद्देशनिबन्धनक्षयोपशमजत्वात्, देशान्तरगतस्य त्वपैति, तद् अवधिज्ञानमनानुगामीति भावः २। यदाह भगवान् **श्रीदेवर्द्धिक्षमाश्रमणः**—

---

१ अनुगामि क० ख० ग० एवमग्रेऽपि ॥ २ तत् समासतः षड्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-आनुगामिकमनानुगामिकं वर्धमानकं हीयमानकं प्रतिपात्यप्रतिपाति ॥

से [1] किं तं अणाणुगामियं ओहिनाणं ? अणाणुगामियं ओहिनाणं से जहानामए केइ पुरिसे एगं महं जोइट्ठाणं काउं तस्सेव जोइट्ठाणस्स परिपेरंतेसु परिपेरंतेसु परिहिंडमाणे परिहिंडमाणे परिघोलमाणे परिघोलमाणे तमेव जोइट्ठाणं पासइ अन्नत्थ गए न पासइ, ए[2]वमेव अणाणुगामियं ओहिनाणं जत्थेव समुप्पज्जइ तत्थेव संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा जोयणाइं पासइ न अन्नत्थ। (नन्दी पत्र ८९-१) **भाष्यकारोऽप्याह—**

[3]अणु[4]गामि उ अणुगच्छइ, गच्छंतं लोयणं जहा पुरिसं।
इयरो उ नाणुगच्छइ, ठियप्पईवु व्व गच्छंतं ॥ (विशे० गा० ७१५)

तथा वर्धत इति वर्धमानम्, ततः संज्ञायां कन्प्रत्ययः, बहुबहुतरेन्धनप्रक्षेपादभिवर्धमानज्वलनज्वालाकलाप इव पूर्वावस्थातो यथायोगं प्रशस्तप्रशस्ततराध्यवसायतो वर्धमानमवधिज्ञानं वर्धमानकम्। एतत् किलाङ्गुलासङ्ख्येयभागादिविषयमुत्पद्य पुनर्वृद्धिं विषयविस्तरणात्मिकां याति यावदलोके लोकप्रमाणान्यसङ्ख्येयानि खण्डानीति ३। तथा हीयते—तथाविधसामग्र्यभावतो हानिमुपगच्छतीति हीयमानम्, कर्मकर्तृविवक्षायाम् अनट्प्रत्ययः, हीयमानमेव हीयमानकम्, "कुत्सिताल्पाज्ञाते" (सि० ७-३-३३) कप्रत्ययः, पूर्वावस्थातो यदधोऽधो ह्रासमुपगच्छति तद् हीयमानकमवधिज्ञानमिति ४। **उक्तं च नन्दिचूर्णौ—**

[5]हीयमाणं पुव्वावत्थाओ अहोऽहो हस्समाणं **(पत्र १४)** इति।

तथा प्रतिपततीत्येवंशीलं प्रतिपाति ५। यदाह—

से[6] किं तं पडिवाई ? पडिवाई जन्नं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखिज्जभागं वा संखिज्जभागं वा वालग्गं वा वालग्गपुहत्तं वा एवं लिक्खं वा जूयं वा जवं वा जवपुहत्तं वा अंगुलं वा अंगुलपुहत्तं वा, एवं एएणं अहिलावेणं विहत्थिं वा हत्थं वा कुच्छिं वा कुक्षिर्हस्तद्वयमुच्यते धणुं वा गाउयं वा जोयणं वा जोयणसयं वा जोयणसहस्सं वा संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा

---

१ अथ किं तदनानुगामिकमवधिज्ञानम्? अनानुगामिकमवधिज्ञानं स यथानामकः कश्चित्पुरुष एकं महज्ज्योतिःस्थानं कृत्वा तस्यैव ज्योतिःस्थानस्य परिपर्यन्तेषु परिपर्यन्तेषु परिहिण्डमानः परिहिण्डमानः परिघोलयमानः परिघोलयमानः तदेव ज्योतिःस्थानं पश्यति अन्यत्र गतो न पश्यति, एवमेव अनानुगामिकमवधिज्ञानं यत्रैव समुत्पद्यते तत्रैव सङ्ख्येयानि वाऽसङ्ख्येयानि वा योजनानि पश्यति नान्यत्र ॥ २ ०वामेव ख० ॥ ३ अनुगामि त्वनुगच्छति गच्छन्तं लोचनं यथा पुरुषम्। इतरस्तु नानुगच्छति स्थितप्रदीप इव गच्छन्तम् ॥ ४ ०गामिओऽणु० ग० । ५ हीयमानं पूर्वावस्थातोऽधोऽधो ह्रस्यमानं ॥ ६ अथ किं तत् प्रतिपाति? प्रतिपाति यद् जघन्येनाङ्गुलस्यासङ्ख्येयभागं वा सङ्ख्येयभागं वा वालाग्रं वा वालाग्रपृथक्त्वं वा एवं लिक्षां वा यूकां वा यवं वा यवपृथक्त्वं वा अङ्गुलं वा अङ्गुलपृथक्त्वं वा, एवमेतेनाभिलापेन वितस्तिं वा हस्तं वा कुक्षिं वा धनुर्वा क्रोशं वा योजनं वा योजनशतं वा योजनसहस्रं वा सङ्ख्येयानि वा असङ्ख्येयानि वा योजनसहस्राणि, उत्कर्षेण लोकं दृष्ट्वा प्रतिपतेत्, एतत्तत् प्रतिपाति ॥

जोयणसहस्साइं, उक्कोसेणं लोगं पासित्ताणं परिवडिज्जा, से त्तं पडिवाई। (नन्दी पत्र ९६-२)

तथा न प्रतिपाति अप्रतिपाति, यत् किलाऽलोकस्य प्रदेशमेकमपि पश्यति तद् अप्रतिपातीति भावः ६। हीयमानकप्रतिपातिनोः कः प्रतिविशेषः? इति चेद् उच्यते–हीयमानकं पूर्वावस्थातोऽधोऽधो ह्रासमुपगच्छदभिधीयते, यत् पुनः प्रदीप इव निर्मूलमेककालमपगच्छति तत् प्रतिपातीति।

यद्वाऽनन्तद्रव्यभावविषयत्वात् तत्तारतम्यविवक्षयाऽनन्तभेदम्, असङ्ख्येयक्षेत्रकालविषयत्वात्तु तत्तारतम्यविवक्षयाऽसङ्ख्येयभेदमवधिज्ञानम्। यद्वा चतुर्विधमवधिज्ञानं द्रव्यक्षेत्रकालभावात्। तथा चाह—

[1]तं समासओ चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा–दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं ओहिनाणी जहन्नेणं अणंताइं रूविदव्वाइं जाणइ पासइ, उक्कोसेणं सव्वरूविदव्वाइं जाणइ पासइ। खित्तओ णं ओहिनाणी जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं असंखेज्जाइं अलोए लोयप्पमाणमित्ताइं खंडाइं जाणइ पासइ। कालओ णं ओहिनाणी जहन्नेणं आवलियाए असंखिज्जइभागं, उक्कोसेणं असंखिज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ तीयं च अणागयं च कालं जाणइ पासइ। भावओ णं ओहिनाणी जहन्नेण वि अणंते भावे जाणइ पासइ, उक्कोसेण वि अणंते भावे जाणइ पासइ सव्वभावाणं अणंतभागं। (नन्दी पत्र ९७-१) इति।

उक्तमवधिज्ञानम्। इदानीं मनःपर्यवज्ञानं व्याख्यानयन्नाह–"रिउमइविउलमई मणनाणं" ति। 'मनोज्ञानं' मनःपर्यायज्ञानमित्यर्थः, ऋजुमतिविपुलमतिभेदाद्द्विविधम्। तत्र ऋज्वी सामान्यग्राहिणी मतिः ऋजुमतिः, घटोऽनेन चिन्तित इत्यध्यवसायनिबन्धना मनोद्रव्यपरिच्छित्तिरित्यर्थः। यदाह—

> रिउ[2] सामन्नं तम्मत्तगाहिणी रिउमई मणोनाणं।
> पायं विसेसविमुहं, घडमित्तं चिंतियं मुणइ॥ (विशे० गा० ७८४)

तथा विपुला–विशेषग्राहिणी मतिर्विपुलमतिः, घटोऽनेन चिन्तितः स च सौवर्णः पाटलिपुत्रकोऽद्यतनो महानित्याद्यध्यवसायहेतुभूता मनोद्रव्यविज्ञप्तिरिति भावार्थः, अस्यां व्युत्पत्तौ

---

१ तत् समासतश्चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतः। द्रव्यतोऽवधिज्ञानी जघन्येनानन्तानि रूपिद्रव्याणि जानाति पश्यति, उत्कर्षेण सर्वरूपिद्रव्याणि जानाति पश्यति। क्षेत्रतोऽवधिज्ञानी जघन्येनाङ्गुलस्यासङ्ख्येयभागम्, उत्कर्षेणाऽसङ्ख्येयानि अलोके लोकप्रमाणमात्राणि खण्डानि जानाति पश्यति। कालतोऽवधिज्ञानी जघन्येनाऽऽवलिकाया असङ्ख्येयभागम्, उत्कर्षेणाऽसङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिणीः अतीतं चानागतं च कालं जानाति पश्यति। भावतोऽवधिज्ञानी जघन्येनाप्यनन्तान् भावान् जानाति पश्यति, उत्कर्षेणापि अनन्तान् भावान् जानाति पश्यति सर्वभावानामनन्तभागम्॥ २ ऋजु सामान्यं तन्मात्रग्राहिणी ऋजुमतिर्मनोज्ञानम्। प्रायो विशेषविमुखं, घटमात्रं चिन्तितं जानाति।

स्वतन्त्रं ज्ञानमेव गृह्यत इति । अथवा ऋज्वी–सामान्यग्राहिणी मतिरस्यासौ ऋजुमतिः । विपुला-विशेषग्राहिणी मतिरस्य स विपुलमतिः, अस्यां व्युत्पत्तौ तद्वान् गृह्यते । यद्वा मनःपर्यायज्ञानं चतुर्विधम्—द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् । उक्तं च—

[1]तं समासओ चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा–दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ । दव्वओ णं उजुमई अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ पासइ । ते चेव विउलमई अब्भहियतराए विमलतराए जाणइ पासइ (नन्दी पत्र १०७–२) त्ति ।

क्षेत्रतः पुनर्ऋजुमतिरधो यावदधोलौकिकग्रामान् जानाति । यदाहुश्चतुर्दशप्रकरणशतप्रासादसूत्रधारकल्पप्रभुश्रीहरिभद्रसूरिपादा नन्दिवृत्तौ—

[2]इहाधोलौकिकान् ग्रामान् , तिर्यग्लोकविवर्तिनः ।
मनोगतांस्त्वसौ भावान् , वेत्ति तद्वर्तिनामपि ।। (पत्र ४७)

ऊर्ध्वं यावद् ज्योतिश्चक्रस्योपरितलम् ।

तिरियं जाव अंतो मणुस्सखित्ते अड्ढाइज्जेसु दीवेसु दोसु य समुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पन्नाए अंतरदीवेसु सन्नीणं पंचिंदियाणं पज्जत्तगाणं मणोगए भावे जाणइ पासइ । तं चेव विउलमई अड्ढाइज्जेहिं अंगुलेहिं अब्भहियतरयं विसुद्धतरयं खेत्तं जाणइ पासइ । (नन्दी पत्र १०८–१) ।

इह व्याख्या–'अन्तः' मध्ये मनुष्यक्षेत्रस्य 'अर्धतृतीयद्वीपेषु' जम्बूद्वीपधातकीखण्डपुष्करवरद्वीपार्धेषु 'द्वयोः समुद्रयोः' लवणसमुद्रकालोदसमुद्रयोः 'पञ्चदशसु कर्मभूमिषु' भरतपञ्चकैरवतपञ्चकमहाविदेहपञ्चकलक्षणासु 'त्रिंशत्यकर्मभूमिषु' हैमवतपञ्चकहरिवर्षपञ्चकदेवकुरुपञ्चकोत्तरकुरुपञ्चकरम्यकपञ्चकहैरण्यवतपञ्चकरूपासु । तथा लवणसमुद्रस्यान्तर्मध्ये भवा द्वीपा आन्तरद्वीपास्ते च षट्पञ्चाशत्सङ्ख्याः । तथाहि–इह जम्बूद्वीपे भरतस्य हैमवतस्य च क्षेत्रस्य सीमाकारी भूमिनिमग्नपञ्चविंशतियोजनो योजनशतोच्छ्रयपरिमाणो भरतक्षेत्रापेक्षया द्विगुणविष्कम्भो हेममयश्चीनपट्टवर्णो नानावर्णविशिष्टद्युतिमणिनिकरपरिमण्डितोभयपार्श्वः सर्वत्र तुल्यविस्तरो गगनमण्डलोल्लेखिरत्नमयैकादशकूटोपशोभितो वज्रमयतलविविधमणिकनकमण्डितभूमिभागदशयोजनावगाढपूर्वपश्चिमयोजनसहस्रायामदक्षिणोत्तरपञ्चयोजनशतविस्तारपद्मह्रदशोभितशिरोमध्यविभागः सर्वतः कल्पपादपश्रेणिरमणीयः पूर्वापरपर्यन्ताभ्यां लवणोदार्णवजलसंस्पर्शी हिमवन्नाम पर्वतः, तस्य लवणोदार्णवजलसंस्पर्शादारभ्य पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि प्रत्येकं द्वे द्वे

---

१ तत् समासतश्चतुर्विधं प्रज्ञप्तम् , तद्यथा-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतः । द्रव्यत ऋजुमतिरनन्तानन्तप्रदेशिकान् स्कन्धान् जानाति पश्यति । तानेव विपुलमतिरभ्यधिकतरान् विमलतरान् जानाति पश्यति ॥ २ एतद् वृत्तं नन्दिचूर्णावप्यस्ति ॥

गजदन्ताकारे दंष्ट्रे विनिर्गते, तत्रैशान्यां दिशि या विनिर्गता दंष्ट्रा तस्यां हिमवतः पर्यन्तादारभ्य त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्यात्रान्तरे योजनशतत्रयायामविष्कम्भः किञ्चिन्न्यूनैकोनपञ्चाशदधिकनवयोजनशतपरिरय एकोरुकनामा द्वीपो वर्तते, अयं च पञ्च-धनुःशतप्रमाणविष्कम्भया द्विगव्यूतोच्छ्रितया पद्मवरवेदिकया सर्वतः परिमण्डितः, साऽपि च पद्मवरवेदिका सर्वतो वनखण्डपरिक्षिप्ता, तस्य च वनखण्डस्य चक्रवालतया विष्कम्भो देशोने द्वे योजने परिक्षेपः पद्मवरवेदिकाप्रमाणः । तथा तस्यैव हिमवतः पर्वतस्य पर्यन्तादारभ्य दक्षिणपूर्वस्यां दिशि त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य द्वितीयदंष्ट्राया उपरि एकोरुक-द्वीपप्रमाण आभासिकनामा द्वीपो वर्तते । तथा तस्यैव हिमवतः पश्चिमायां दिशि पर्यन्तादारभ्य दक्षिणपश्चिमायां त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य दंष्ट्राया उपरि यथोक्तप्रमाणो वैषा-णिकनामा द्वीपः । तथा तस्यैव हिमवतः पश्चिमायां दिशि पर्यन्तादारभ्य पश्चिमोत्तरस्यां दिशि त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य दंष्ट्राया उपरि पूर्वोक्तप्रमाणो नाङ्गोलिकनामा द्वीपः । एवमेते चत्वारो द्वीपा हिमवतश्चतसृष्वपि विदिक्षु तुल्यप्रमाणा अवतिष्ठन्ते । तत एषामेको-रुकादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि योजन-शतान्यतिक्रम्य चतुर्योजनशतायामविष्कम्भाः किञ्चिन्न्यूनपञ्चषष्टिसहितद्वादशयोजनशतपरिक्षेपा यथोक्तपद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितपरिसरा जम्बूद्वीपवेदिकातश्चतुर्योजनशतप्रमाणान्तरा हय-कर्णगजकर्णगोकर्णशष्कुलीकर्णनामानश्चत्वारो द्वीपाः । तद्यथा—एकोरुकस्य परतो हयकर्णः, आभासिकस्य परतो गजकर्णः, वैषाणिकस्य परतो गोकर्णः, नाङ्गोलिकस्य परतः शष्कुलीकर्णः, एवमग्रेऽपि भावना कार्या । तत एतेषामपि हयकर्णादीनां चतुर्णामपि द्वीपानां परतः पुनरपि यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं पञ्च पञ्च योजनशतान्यतिक्रम्य पञ्चयोजनशतायामविष्कम्भा एकाशीत्यधिकपञ्चदशयोजनशतपरिक्षेपाः पूर्वोक्तप्रमाणपद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितबाह्यप्रदेशा जम्बूद्वीपवेदिकातः पञ्चयोजनशतप्रमाणान्तरा आदर्शमुखमेण्ढमुखाऽयोमुखगोमुखनामानश्चत्वारो द्वीपाः । एतेषामप्यादर्शमुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो भूयोऽपि यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं षट् षट् योजनशतान्यतिक्रम्य षड्योजनशतायामविष्कम्भाः सप्तनवत्यधिकाष्टादशयोजन-शतपरिक्षेपा यथोक्तप्रमाणपद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितपरिसरा जम्बूद्वीपवेदिकातः षड्योजन-शतप्रमाणान्तरा अश्वमुखहस्तिमुखसिंहमुखव्याघ्रमुखनामानश्चत्वारो द्वीपाः । एतेषामप्यश्वमुखा-दीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं सप्त सप्त योजनशतान्यतिक्रम्य सप्तयोजनशतायामविष्कम्भास्त्रयोदशाधिकद्वाविंशतियोजनशतपरिरयाः पूर्वोक्तप्रमाणपद्मवरवे-दिकावनखण्डसमवगूढा जम्बूद्वीपवेदिकातः सप्तयोजनशतप्रमाणान्तरा अश्वकर्णहयकर्णाकर्णक-र्णप्रावरणनामानश्चत्वारो द्वीपाः । तत एतेषामश्वकर्णादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वोत्त-

रादिविदिक्षु प्रत्येकमष्टावष्टौ योजनशतान्यतिक्रम्याष्टयोजनशतायामविष्कम्भा एकोनत्रिंशदधिकपञ्चविंशतियोजनशतपरिक्षेपा यथोक्तप्रमाणपद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितपरिसरा जम्बूद्वीपवेदिकातोऽष्टयोजनशतप्रमाणान्तरा उल्कामुखमेघमुखविद्युन्मुखविद्युद्दन्ताभिधानाश्चत्वारो द्वीपाः। ततोऽमीषामप्युल्कामुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं नव नव योजनशतान्यतिक्रम्य नवयोजनशतायामविष्कम्भाः पञ्चचत्वारिंशदधिकाष्टाविंशतियोजनशतपरिक्षेपा यथोक्तप्रमाणपद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितपरिसरा जम्बूद्वीपवेदिकातो नवयोजनशतप्रमाणान्तरा घनदन्तलष्टदन्तगूढदन्तशुद्धदन्तनामानश्चत्वारो द्वीपाः। एवमेते सप्त चतुष्का हिमवति पर्वते चतसृष्वपि विदिक्षु व्यवस्थिताः, सर्वसङ्ख्ययाऽष्टाविंशतिः। एवं हिमवत्तुल्यवर्णप्रमाणे पद्महदप्रमाणायामविष्कम्भावगाहपुण्डरीकहृदोपशोभिते शिखरिण्यपि लवणोदार्णवजलसंस्पर्शादारभ्य यथोक्तप्रमाणान्तराश्चतसृषु विदिक्षु व्यवस्थिता एकोरुकादिनामानोऽक्षुण्णापान्तरालायामविष्कम्भा अष्टाविंशतिसङ्ख्या द्वीपा वक्तव्याः, सर्वसङ्ख्यया षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपाः। एतद्गता मनुष्या अप्येतन्नामान उपचारात्, भवति च तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेशः, यथा पञ्चालदेशनिवासिनः पुरुषाः पञ्चाला इति। ते च मनुष्या वज्रऋषभनाराचसंहनिनः समचतुरस्रसंस्थानाः सर्वाङ्गोपाङ्गसुन्दराः कमण्डलुकलशयूपस्तूपवापीध्वजपताकासौवस्तिकयवमत्स्यमकरकूर्मरथवरस्थालांशुकाष्टापदाङ्कुशसुप्रतिष्ठकमयूरश्रीदामाभिषेकतोरणमेदिनीजलधिवरभवनादर्शपर्वतगजवृषभसिंहचामररूपप्रशस्तोत्तमद्वात्रिंशल्लक्षणधराः स्वभावत एव सुरभिवदनाः प्रतनुक्रोधमानमायालोभाः सन्तोषिणो निरौत्सुक्या मार्दवार्जवसम्पन्नाः सत्यपि मनोहारिणि मणिकनकमौक्तिकादौ ममत्वकारणे ममत्वाभिनिवेशरहिताः सर्वथाऽपगतवैरानुबन्धा हस्त्यश्वकरभगोमहिषादिसद्भावेऽपि तत्परिभोगपराङ्मुखाः पादविहारिणो ज्वरादिरोगयक्षभूतपिशाचादिग्रहमारिव्यसनोपनिपातविकलाः परस्परप्रेष्यप्रेषकभावरहितत्वादहमिन्द्राः। तेषां पृष्ठकरण्डकानि चतुःषष्टिसङ्ख्याकानि, चतुर्थातिक्रमे चाहारग्रहणम्, आहारोऽपि च न शाल्यादिधान्यनिष्पन्नः किन्तु पृथिवीमृत्तिका कल्पद्रुमाणां पुष्पफलानि च। तथाहि—जायन्ते खलु तत्रापि विस्रसात एव शालिगोधूममुद्गमाषादीनि धान्यानि परं न तानि मनुष्याणामुपभोगं गच्छन्ति, या तु पृथिवी सा शर्करातोऽप्यनन्तगुणमाधुर्या, यश्च कल्पद्रुमफलानामास्वादः स चक्रवर्तिभोजनादप्यधिकगुणः। यदुक्तम्—

[1]तेसिं णं भंते! पुप्फफलाणं केरिसए आसाए पन्नत्ते? गोयमा! से जहानामए रण्णो चाउरंतचक्कवट्टिस्स कल्लाणे भोयणजाए सयसहस्सनिप्फन्ने वन्नोववेए गंधोववेए रसोववेए

१ तेषां भगवन्! पुष्पफलानां कीदृश आस्वादः प्रज्ञप्तः? गौतम! स यथानामकः राज्ञश्चातुरन्तचक्रवर्तिनः कल्याणं भोजनजातं शतसहस्रनिष्पन्नं वर्णोपपेतं गन्धोपपेतं रसोपपेतं स्पर्शोपपेतं आस्वादनीयं विस्वादनीयं

फासोववेए आसायणिज्जे विस्सायणिज्जे दप्पणिज्जे मयणिज्जे विंहणिज्जे सव्विंदियगायपल्हायणिज्जे आसाएणं पन्नत्ते, इत्तो इट्ठतराए चेव पन्नत्ते । (जम्बू० पत्र ११८-१)

ततः पृथिवी कल्पपादपपुष्पफलानि च तेषामाहारः । तथाभूतं चाहारमाहार्य प्रासादादिसंस्थाना ये गृहाकाराः कल्पद्रुमास्तेषु यथासुखमवतिष्ठन्ते । न च तत्र क्षेत्रे दंशमशकयूकामत्कुणमक्षिकादयः शरीरोपद्रवकारिणो जन्तव उपजायन्ते । येऽपि जायन्ते भुजगव्याघ्रसिंहादयस्तेऽपि मनुष्याणां न बाधायै प्रभवन्ति, नापि ते परस्परं हिंस्यहिंसकभावे वर्तन्ते, क्षेत्रानुभावतो रौद्रभावरहितत्वात् । मनुष्ययुगलानि च पर्यवसानसमये युगलं प्रसुवते, तत् पुनर्युगलमेकोनाशीतिदिनानि पालयन्ति । तेषां शरीरोच्छ्रयोऽष्टौ धनुःशतानि, पल्योपमासङ्ख्येयभागप्रमाणमायुः, स्तोककषायतया स्तोकप्रेमानुबन्धतया च ते मृत्वा दिवमुपसर्पन्ति । मरणं च तेषां जृम्भिकाकाशक्षुतादिमात्रव्यापारपुरस्सरं भवति, न शरीरपीडारम्भपुरस्सरमिति ।

अत्र गाथाः—

[1]हिमगिरिनिग्गयपुव्वावरदाढा विदिसि संठिया लवणे ।
जोयणतिसए गंतुं, तिन्नि सए वित्थराऽऽयामा ॥
वेइयवणसंडजुया, चउ अंतरदीव तेसिं नामाइं ।
एगोरुग १ आभासिय २, वेसाणियनाम ३ नंगूली ४ ॥
[2]एसिं परओ चउपणछसत्तअडनवयजोयणसएसु ।
हयकन्ना ५ गयकन्ना ६, गोकन्ना ७ सक्कुलीकन्ना ८ ॥
आयंसग ९ मिंढमुहा १०, अओमुहा ११ गोमुहा १२ चउर दीवा ।
अस्समुहा १३ हत्थिमुहा १४, सिंहमुहा १५ तह य वग्घमुहा १६ ॥
तत्तो य अस्सकन्ना १७, हत्थि १८ अकन्ना य १९ कन्नपावरणा २० ।
उक्कामुह २१ मेहमुहा २२, विज्जुमुहा २३ विज्जुदंता य २४ ॥
घणदंत २५ लट्ठदंता २६, निगूढदंता य २७ सुद्धदंता य २८ ।

दर्पणीयं मदनीयं बृंहणीयं सर्वेन्द्रियगात्रप्रह्लादनीयमास्वादेन प्रज्ञप्तम्, इत इष्टतरश्चैव प्रज्ञप्तः ॥ [1]हिमगिरिनिर्गतपूर्वापरदाढा विदिशि संस्थिता लवणे । योजनत्रिशतं गत्वा त्रीणि शतानि विस्तराऽऽयामाः । वेदिकावनखण्डयुताश्चत्वार अन्तरद्वीपास्तेषां नामानि । एकोरुकः १ आभासिकः २ वैषाणिकनामा ३ नाङ्गोलिः ४ ॥
[2] एषां परतश्चतुःपञ्चषट्सप्ताष्टनवकयोजनशतेषु । हयकर्णः ५ गजकर्णः ६ गोकर्णः ७ शष्कुलीकर्णः ८ ॥ आदर्शमुख९मेण्ढ्रमुखौ१० अयोमुखः ११ गोमुखः १२ चत्वारो द्वीपाः । अश्वमुखः १३ हस्तिमुखः १४सिंहमुखः १५ तथा च व्याघ्रमुखः १६ ॥ ततश्चाश्वकर्णः १७ हस्तिकर्णा १८ऽकर्णौ च १९ कर्णप्रावरणः २० । उल्कामुखः २१ मेघमुखः २२ विद्युन्मुखः २३ विद्युद्दन्तश्च २४ ॥ घनदन्तः २५ लष्टदन्तः २६ निगूढदन्तश्च २७ शुद्धदन्तः २८ ।

इय सिहरिम्मि वि सेले, अट्ठावीसंतरद्दीवा ॥

उभयेऽपि मिलिताः षट्पञ्चाशत्सङ्ख्याः ।

[1]एएसु जुगलधम्मी, धणुसय अट्ठूसिया परमरूवा ।
पल्लअसंखिज्जाऊ, गुणसीदिणऽवच्चपालणया ॥
चउसट्ठीपिट्ठिकरंडमंडियंगा चउत्थभोई य ।
कप्पतरुपूरियासा, सुरगइगामी तणुकसाया ॥ शेषं सूत्रं स्पष्टम् ॥

[2]कालओ णं उज्जुमई जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखिज्जइभागं, उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखिज्जइभागं तीयं अणागयं च कालं जाणइ पासइ । तं चेव विउलमई अब्भहियतरागं जाणइ पासइ । (नन्दी पत्र १०८–२)

जीनकल्पभाष्येऽप्युक्तम्—

[3]कालओ उज्जुमई उ, जहन्नउक्कोसए वि पलियस्स ।
भागमसंखिज्जइमं, अतीय [4]एस्से व कालदुगे ॥
जाणइ पासइ ते ऊ, मणिज्जमाणे उ सन्निजीवाणं ।
ते चेव य विउलमई, वितिमिरसुद्धे उ जाणेइ ॥ (गा० ८२–८३)

भावतस्तु तत्पर्यायांश्चिन्तनानुगुणपरिणतिरूपा ऋजुमतेर्विषय इति । चिन्तनीयं तु मूर्त्तममूर्तं वा त्रिकालगोचरमपि बाह्यमर्थमनुमानादवैति, "[5]जाणइ बज्झेऽणुमाणाओ" (विशे० गा० ८१४) इति वचनात् । यत एतत्परिणतान्येतानि मनोद्रव्याणि इत्येतदन्यथानुपपत्तेरमुकोऽर्थोऽनेन चिन्तित इति लेखाक्षरदर्शनात् तदुक्तार्थमिव प्रत्यक्षं मनोद्रव्यदर्शनाच्चिन्त्यमर्थमनुमिमीते । स चैष बाह्याभ्यन्तररूपो द्विविधोऽपि विषयः स्फुटतरबहुतरविशेषाध्यासितत्वेन विपुलमतेर्विमलतरोऽवसेय इति । निरूपितं मनःपर्यायज्ञानम् ॥

अथ केवलज्ञानं व्याचिख्यासुराह—"केवलमिगविहाणं" ति 'केवलं' केवलज्ञानम् 'एकविधानम्' एकविधम्, प्रथमत एव सर्वद्रव्यक्षेत्रकालभावग्राहकत्वादिति भाव इति ॥ ८ ॥ अभिहितं केवलज्ञानं तदभिधाने च व्याख्यातानि पञ्चापि ज्ञानानि । इदानीमेतेषामावरणमाह—

इति शिखरिण्यपि शैलेऽष्टाविंशतिरन्तर द्वीपाः । १ एतेषु युगलधर्माणो धनुःशतान्यष्टोच्छ्रिताः परमरूपाः । पल्यासङ्ख्येयायुष एकोनाशीतिदिनापत्यपालनकाः चतुःषष्टिपृष्ठकरण्डकमण्डिताङ्गाश्चतुर्थभोजिनश्च । कल्पतरुपूरिताशाः सुरगतिगामिनस्तनुकषायाः । २ कालत ऋजुमतिर्जघन्येन पल्योपमस्यासङ्ख्येयभागम्, उत्कर्षेणापि पल्योपमस्यासङ्ख्येयभागमतीतमनागतं च कालं जानाति पश्यति । तदेव विपुलमतिरभ्यधिकतरकं जानाति पश्यति ॥ ३ कालत ऋजुमतिस्तु जघन्यत उत्कर्षतोऽपि पल्यस्य । भागमसङ्ख्येयमतीते एष्यति वा कालद्विके ॥ जानाति पश्यति तांस्तु मन्यमानांस्तु संज्ञिजीवानाम् । तानेव च विपुलमतिर्वितिमिरशुद्धांस्तु जानाति ॥ ४ एसे व क० ख० ग० घ० ङ० ॥ ५ जानाति बाह्यानुमानात् ॥

एसिं जं आवरणं, पडु व्व चक्खुस्स तं तयावरणं ।
दंसणचउ पणनिद्दा, वित्तिसमं दंसणावरणं ॥ ९ ॥

'एषां' मतिज्ञानादीनां पञ्चानां ज्ञानानां यद् 'आवरणम्' आच्छादकम्, 'पट इव' सूत्रादिनिष्पन्नशाटक इव 'चक्षुषः' लोचनस्य, तत् तेषां—मतिज्ञानादीनामावरणं तदावरणमुच्यते। इदमत्र हृदयम्—यथा घनघनतरघनतमेन पटेनावृतं सत् निर्मलमपि चक्षुर्मन्दमन्दतरमन्दतमदर्शनं भवति, तथा ज्ञानावरणेन कर्मणा घनघनतरघनतमेनावृतोऽयं जीवः शारदशशधरकरनिकरनिर्मलतरोऽपि मन्दमन्दतरमन्दतमज्ञानो भवति, तेन पटोपमं ज्ञानावरणं कर्मोच्यते। तत्रावरणस्य सामान्यत एकरूपत्वेऽपि यत् पूर्वोक्तानेकभेदभिन्नस्य मतिज्ञानस्यानेकभेदमेवाऽऽवरणस्वभावं कर्म तद् मतिज्ञानावरणमेकग्रहणेन गृह्यते चक्षुषः पटलमिव १। तथा पूर्वाभिहितभेदसन्दोहस्य श्रुतज्ञानस्य यद् आवरणस्वभावं कर्म तत् श्रुतज्ञानावरणम् २। तथा प्राक्प्रपञ्चितभेदकदम्बकस्यावधिज्ञानस्य यद् आवरणस्वभावं कर्म तद् अवधिज्ञानावरणम् ३। तथा प्राग्निर्णीतभेदद्वयस्य मनःपर्यायज्ञानस्य यद् आवारणस्वभावं कर्म तद् मनःपर्यायज्ञानावरणम् ४। तथा पूर्वप्ररूपितस्वरूपस्य केवलज्ञानस्य यद् आवरणस्वभावं कर्म तत् केवलज्ञानावरणम् ५।

उक्तं च बृहत्कर्मविपाके—

[1]सरउग्गयससिनिम्मलतरस्स जीवस्स छायणं जमिह ।
नाणावरणं कम्मं, पडोवमं होइ एवं तु ॥
जह निम्मला वि चक्खू, पडेण केणावि छाईया संती ।
मंदं मंदतरागं, पिच्छइ सा निम्मला जइ वि ॥
[2]तह मइसुयनाणावरण अवहिमणकेवलाण आवरणं ।
जीवं निम्मलरूवं, आवरइ इमेहिं भेएहिं ॥ (गा० १०—१२)

तदेवमेतानि पञ्चावरणान्युत्तरप्रकृतयः, तन्निष्पन्नं तु सामान्येन ज्ञानावरणं मूलप्रकृतिः। यथाऽङ्गुलीपञ्चकनिष्पन्नो मुष्टिः, मूलत्वक्पत्रशाखादिसमुदयनिष्पन्नो वा वृक्षः, घृतगुडकणिक्कादिनिष्पन्नो वा मोदक इति। एवमुत्तरत्रापि भावनीयम्। व्याख्यातं पञ्चविधं ज्ञानावरणं कर्म॥

इदानीं नवविधं दर्शनावरणं कर्म व्याख्यानयन्नाह—"दंसणचउ पणनिद्दा वित्तिसमं दंसणावरणं" ति। इह भीमो भीमसेन इति न्यायात् पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद्वा "दंसण-

१ शरदुद्गतशशिनिर्मलतरस्य जीवस्य च्छादनं यदिह। ज्ञानावरणं कर्म पटोपमं भवति एवं तु॥ यथा निर्मलमपि चक्षुःपटेन केनापि च्छादितं सत्। मन्दं मन्दतरकं प्रेक्षते तद् निर्मलं यद्यपि॥ तथा मतिश्रुतज्ञानावरणमवधिमनःकेवलानामावरणम्। जीवं निर्मलरूपमावृणोत्येभिर्भेदैः॥ २ "तह मइसुयनाणाणं ओहीमणकेवलाण आवरणं।" इति बृहत्कर्मविपाके॥

चउ" इति शब्देन दर्शनावरणचतुष्कं गृह्यते । तत्र दृष्टिर्दर्शनम्, दृश्यते परिच्छिद्यते सामान्यरूपं वस्त्वनेनेति वा दर्शनम्, तस्यावरणानि—आच्छादनानि दर्शनावरणानि तेषां चतुष्कं दर्शनावरणचतुष्कम् । तथा "पणनिद्द" त्ति द्राक् कुत्सितगतौ, नितरां द्राति—कुत्सितत्वमविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यं यासु ता निद्रा, "भिदादयः" (सि० ५-३-१०८) इति अङ्प्रत्ययः,' पञ्च' इति पञ्चसङ्ख्याः—निद्रा१निद्रानिद्रा२प्रचला३प्रचलाप्रचला४स्त्यानर्द्धि५रूपा निद्राः पञ्चनिद्रा निद्रापञ्चकम् । ततो दर्शनावरणचतुष्कं निद्रापञ्चकमिति नवधा दर्शनावरणं भवति । किं विशिष्टम् ? इत्याह—"वित्तिसमं" ति वेत्रिणा—प्रतीहारेण समं—तुल्यं वेत्रिसमम् । यथा राजानं द्रष्टुकामस्याप्यनभिप्रेतस्य लोकस्य वेत्रिणा स्खलितस्य राज्ञो दर्शनं नोपजायते, तथा दर्शनस्वभावस्याप्यात्मनो येनाऽऽवृतस्य स्तम्भकुम्भाम्भोरुहादिपदार्थसार्थस्य न दर्शनमुपजायते तद् वेत्रिसमं दर्शनावरणम् । उक्तं च—

[1]दंसणसीले जीवे, दंसणघायं करेइ जं कम्मं ।
तं पडिहारसमाणं, दंसणवरणं भवे कम्मं ॥
जह रन्नो पडिहारो, अणभिप्पेयस्स सो उ लोगस्स ।
रन्नो तर्हि दरिसावं, न देइ दट्ठुं पि कामस्स ॥
जह राया तह जीवो, पडिहारसमं तु दंसणावरणं ।
तेणिह विबंधएणं, न पेच्छए सो घडाईयं ॥
(बृहत्कर्मवि० गा० १९-२१) ॥ ९ ॥

अथ दर्शनावरणचतुष्कं व्याचिख्यासुराह—

चक्खूदिट्ठिअचक्खूसेसिंदियओहिकेवलेहिं च ।
दंसणमिह सामन्नं, तस्सावरणं तयं चउहा ॥ १० ॥

इह चक्षुःशब्देन दृष्टिगृह्यते, अचक्षुःशब्देन "सेसिंदिय" त्ति चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियाणि गृह्यन्ते, ततश्चक्षुश्च अचक्षुश्च अवधिश्च केवलं च चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानि तैः चक्षुरचक्षुरवधिकेवलैः । चशब्दः "अचक्खूसेसेंदिय" इत्यत्र मनसः संसूचकः । दर्शनम् 'इह' प्रवचने 'सामान्यं' सामान्योपयोग उच्यते, यदुक्तम्—

---

१ दर्शनशीले जीवे दर्शनघातं करोति यत् कर्म । तत् प्रतिहारसमानं दर्शनावरणं भवेत्कर्म ॥ यथा राज्ञः प्रतिहारोऽनभिप्रेतस्य स तु लोकस्य । राज्ञस्तत्र दर्शनं न ददाति द्रष्टुमपि कामस्य ॥ यथा राजा तथा जीवः प्रतिहारसमं तु दर्शनावरणम् । तेनेह विबन्धकेन न प्रेक्षते स घटादिकम् ॥

[1]जं सामन्नग्गहणं, भावाणं नेव कट्टु आगारं ।
अविसेसिऊण अत्थे, दंसणमिय वुच्चए समए ।। (बृ० द्रव्यसं० गा० ४३)

'तस्यावरणं' दर्शनावरणम्, तत् चतुर्धा भवति–चक्षुर्दर्शनावरणम् १ अचक्षुर्दर्शनावरणम् २ अवधिदर्शनावरणम् ३ केवलदर्शनावरणम् ४ इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्–इह चक्षुर्दर्शनं नाम यत् चक्षुषा रूपसामान्यग्रहणं तस्यावरणं चक्षुर्दर्शनावरणं चक्षुःसामान्योपयोगावरणमिति यावत् १ । अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा च यद् दर्शनं स्वस्वविषयसामान्यपरिच्छेदो-ऽचक्षुर्दर्शनं तस्यावरणमचक्षुर्दर्शनावरणम् २ । अवधिना रूपिद्रव्यमर्यादया दर्शनं सामान्यार्थग्रहणमवधिदर्शनं तस्यावरणमवधिदर्शनावरणम् ३ । केवलेन सम्पूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेषरूपेण यद् दर्शनं वस्तुसामान्यांशग्रहणं तत् केवलदर्शनं तस्यावरणं केवलदर्शनावरणम् ४ ।

अत्राह–ननु यथाऽवधिदर्शनावरणं कर्मोच्यते तथा मनःपर्यायज्ञानस्यापि दर्शनावरणं कर्म किमिति नोच्यते ?, उच्यते–मनःपर्यायज्ञानं तथाविधक्षयोपशमपाटवात् सर्वदा विशेषानेव गृह्णदुत्पद्यते, न सामान्यम्, अतस्तद्दर्शनाभावात्तदावरणं कर्मापि न भवति । अत्र च चक्षुर्दर्शनावरणोदये एकद्वित्रीन्द्रियाणां मूलत एव चक्षुर्न भवति, चतुःपञ्चेन्द्रियाणां तु भूतमपि चक्षुस्तथाविधे तदुदये विनश्यति तिमिरादिना वाऽस्पष्टं भवति । चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनसां पुनर्यथासम्भवमभवन[2]मस्पष्टभवनं वाऽचक्षुर्दर्शनावरणोदयादिति ॥ १० ॥

अभिहितं दर्शनावरणचतुष्कम्, सम्प्रति निद्रापञ्चकमभिधित्सुराह —

सुहपडिबोहा निद्दा १, निद्दानिद्दा २ य दुक्खपडिबोहा ।
पयला ३ ठिओवविट्ठस्स पयलपयला ४ उ चंकमओ ॥ ११ ॥

सुखेन-अकृच्छ्रेण नखच्छोटिकामात्रेणापि प्रतिबोधः-जागरणं स्वप्तुर्यस्यां स्वापावस्थायां सा सुखप्रतिबोधा निद्रा, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि कारणे कार्योपचारात् निद्रेत्युच्यते १ । निद्रातोऽतिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रा, मयूरव्यंसकादित्वान्मध्यपदलोपी समासः, 'चः' समुच्चये, दुःखेन–कष्टेन बहुभिर्घोलनाप्रकारैरत्यर्थमस्फुटतरीभूतचैतन्यत्वेन स्वप्तुः प्रतिबोधो यस्यां सा दुःखप्रतिबोधा, अत एव सुखप्रतिबोधनिद्रापेक्षयाऽस्या अतिशायिनीत्वम्, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रानिद्रा २ । प्रचलति-विघूर्णते यस्यां स्वापावस्थायां प्राणी सा प्रचला, सा च स्थितस्योर्ध्वस्थानेन उपविष्टस्य-आसीनस्य[3] भवति, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचला ३ । प्रचलातोऽतिशायिनी प्रचला प्रचलाप्रचला, इयं 'तुः' पुनरर्थे 'चङ्क्रमतः' चङ्क्रमणमपि कुर्वतो

---

१ यत् सामान्यग्रहणं भावानां नैव कृत्वाऽऽकारम् । अविशेषयित्वाऽर्थान् दर्शनमित्युच्यते समये ॥
२ ०नमचक्षुर्द० क० ख० ग० घ० ङ० ॥ ३ ०स्यापि भ० ग० ॥

जन्तोरुपतिष्ठते, अतः स्थानस्थितस्वप्तृप्रभवप्रचलामपेक्ष्याऽतिशायिनीत्वमस्याः, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचलाप्रचला ४। सूत्रे च "पयलपयला" इति ह्रस्वत्वं "दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ" (सि० ८–१–४) इति सूत्रेण। इति ॥ ११ ॥

दिणचिंतियत्थकरणी, थीणद्धी ५ अद्धचक्किअद्धबला ।
महुलित्तखग्गधारालिहणं व दुहा उ वेयणियं ॥ १२ ॥

स्त्याना–बहुत्वेन सङ्घातमापन्ना गृद्धिः–अभिकाङ्क्षा जाग्रदवस्थाध्यवसितार्थसाधनविषया स्वापावस्थायां सा स्त्यानगृद्धिः । "गोणादयः" (सि० ८–२–१७४) इति प्राकृतसूत्रेण "थीणद्धी" इति निपात्यते । अस्यां हि जाग्रदवस्थाध्यवसितमर्थमुत्थाय साधयति । श्रूयते ह्येतदागमे कथानकम्—

कश्चित् प्रदेशे कोऽपि क्षुल्लको द्विरदेन दिवा खलीकृतः स्त्यानर्द्ध्युदये वर्तमानस्तस्मिन्नेव द्विरदे बद्धाभिनिवेशो रजन्यामुत्थाय तद्दन्तयुगलमुत्पाट्य स्वोपाश्रयद्वारे क्षिप्त्वा पुनः सुप्तवान् इत्यादि ।

इमां च व्युत्पत्तिमाश्रित्याह–"दिणचिंतियत्थकरणी थीणद्धी" इति दिने–दिवसे चिन्तितमुपलक्षणत्वा न्निशायामपि चिन्तितम्–अध्यवसितमर्थं करोति–साधयति निद्रानिद्रावतोरभेदोपचाराद्दिनचिन्तितार्थकरणी, "रम्यादिभ्यः" (सि० ५–३–१२६) कर्तर्यनट्प्रत्ययः । यद्वा स्त्याना–पिण्डीभूता ऋद्धिः–आत्मशक्तिरस्यामिति स्त्यानर्द्धिः, एतत्सद्भावे हि प्रथमसंहननस्य केशवार्धबलसदृशी शक्तिः । एनां च व्युत्पत्तिमाश्रित्याह—"अद्धचक्किअद्धबल" त्ति अर्धचक्रिणः–वासुदेवस्य बलापेक्षया अर्धं बलं–स्थाम यस्या उदये जन्तोर्भवति साऽर्धचक्र्यर्धबला, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि थीणद्धीति ५ । अत्र चक्षुर्दर्शनावरणादिचतुष्कं मूलत एव दर्शनलब्धिमुपहन्ति, निद्रापञ्चकं तु प्राप्ताया दर्शनलब्धेरुपघातकृत् । आह च **गन्धहस्ती**—

निद्रादयः समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते, दर्शनावरणचतुष्टयं तूद्गमोच्छेदित्वात् समूलघातं हन्ति दर्शनलब्धिमिति (तत्त्वार्थ अ० ८ सू० ८ सिद्ध०टीका) ।

अभिहितं द्वितीयं नवविधं दर्शनावरणम् । साम्प्रतं तृतीयं कर्म वेद्यं वेदनीयापरपर्यायं व्याचिख्यासुराह—"महुलित्त" इत्यादि । मधुना–मधुररसेन लिप्ता–खरण्टता खड्गस्य–करवालस्य धारा–तीक्ष्णाग्ररूपा तस्या जिह्वया लेहनमिव–आस्वादनसदृशं 'द्विधैव' द्विप्रकारमेव सातासातभेदात्, तुशब्द एवकारार्थः, 'वेदनीयं' वेद्यं कर्म भवति । इह च मधुलेहनसन्निभं सातवेदनीयम्, खड्गधाराच्छेदनस[१]ममसातवेदनीयम् । उक्तं च—

१ ०समानम० ख० ग० ङ० ॥

[1]महुआसायणसरिसो, सायावेयस्स होइ हु विवागो ।
जं असिणा तहि छिज्जइ, सो [2]उ विवागो असायस्स ॥
(बृ० कर्मवि० गा० २९) ॥१२॥

अथ गतिचतुष्टये सातासातस्वरूपमाह—

ओसन्नं सुरमणुए, सायमसायं तु तिरियनरएसु ।
मज्जं व मोहणीयं, दुविहं दंसणचरणमोहा ॥१३॥

ओसन्नशब्दो देशीवचनो बाहुल्यवाचकः, यथा—"[3]ओसन्नं देवा सायं वेयणं वेयंति ।" तत्र 'ओसन्नं' बाहुल्येन प्रायेणेत्यर्थः, सुराश्च—देवा मनुजाश्च—मनुष्याः सुरमनुजं समाहारद्वन्द्वः, तस्मिन् सुरमनुजे सुरेषु मनुजेष्वित्यर्थः 'सातं' सातवेदनीयं भवति । ओसन्नग्रहणात् च्यवनकालेऽन्यदाऽपि सुराणामसातोदयोऽप्यस्ति, चारकनिरोधवधबन्धनशीतातपादिभिर्मनुजानामप्यसातमिति । नरकभवाः प्राणिनोऽप्युपचारात् नरकाः, ततस्तिर्यञ्चश्च नरकाश्च तिर्यग्नरकास्तेषु तिर्यक्षु नरकेष्वित्यर्थः, ओसन्नशब्दस्येहापि सम्बन्धादसातम्, 'तुः' पुनरर्थे व्यवहितसम्बन्धश्च, स चैवं योज्यते—तिर्यग्नरकेषु पुनरसातं प्रायो भवति । ओसन्नग्रहणात् केषाञ्चित् पट्टहस्तितुरङ्गादीनां[4] तिरश्चां नारकाणामपि जिनजन्मकल्याणकादिषु सातमप्यस्तीति । उक्तं द्विविधं वेदनीयं तृतीयं कर्म ॥

इदानीमष्टाविंशतिविधं मोहनीयं चतुर्थं कर्माभिधित्सुराह—"मज्जं व मोहणीयं" इत्यादि । 'मद्यमिव' मदिरासदृशं मोहयतीति मोहनीयं कर्म । "प्रवचनीयादयः" (सि० ५ १-८) इति कर्तर्यनीयप्रत्ययः । यथा हि मद्यपानमूढः प्राणी सदसद्विवेकविकलो भवति, तथा मोहनीयेनापि कर्मणा मूढो जन्तुः सदसद्विवेकविकलो भवतीति । तच्च 'द्विविधं' द्विभेदम्, कथम्? इत्याह—"दंसणचरणमोह" त्ति दर्शनमोहाच्चरणमोहाच्चेत्यर्थः । तत्र दृष्टिर्दर्शनं—यथावस्थितवस्तुपरिच्छेदस्तद् मोहयतीति "कर्मणोऽण्" (सि० ५-१-७२) इत्यण्प्रत्यये दर्शनमोहम् । चरन्ति—परमपदं गच्छन्ति जीवा अनेनेति चरणं चारित्रं तद् मोहयतीति चरणमोहमिति ॥१३॥ अथ दर्शनमोहं व्याख्यानयन्नाह—

दंसणमोहं तिविहं, सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं ।
सुद्धं अद्धविसुद्धं, अविसुद्धं तं हवइ कमसो ॥१४॥

दर्शनमोहं पूर्वोक्तशब्दार्थं 'त्रिविधं' त्रिप्रकारं भवति । "सम्मं" ति सम्यक्त्वं 'मिश्रं' सम्यग्मिथ्यात्वं तथैव मिथ्यात्वम् । एतदेव स्वरूपत आह—शुद्धमर्धविशुद्धमविशुद्धं तद् भवति

---

१ मध्वास्वादनसदृशः सातवेद्यस्य भवति खलु विपाकः । यदसिना तत्र छिद्यते स तु विपाकोऽसातस्य ॥ २ ह ख० ग० ॥ ३ बाहुल्येन देवाः सातं वेदनं वेदयन्ति ॥ ४ ०रां नार० ३ क० ख० ग० घ० ङ० ॥

'क्रमशः' क्रमेणेति । अयमत्रार्थः—मिथ्यात्वपुद्गलकदम्बकं मदनकोद्रवन्यायेन शोधितं सद् विकाराजनकत्वेन शुद्धं सम्यक्त्वं भवति, तदेव किञ्चिद्विकारजनकत्वेनार्धविशुद्धं मिश्रम्, तदेव सर्वथाप्यविशुद्धं मिथ्यात्वमिति । उक्तं च—

तथेह प्रदीपस्य, स्वच्छाभ्रपटलैर्गृहम् । न करोत्यावृतिं काञ्चिदेवमेतद्रुचेरपि ।

एकपुञ्जी द्विपुञ्जी च, त्रिपुञ्जी वाऽनुक्रमात् । दर्शन्युभयवांश्चैव, मिथ्यादृष्टिः प्रकीर्तितः ॥

अत्राह—सम्यक्त्वं कथं दर्शनमोहनीयं स्यात् ?, न हि तद् दर्शनं मोहयति, तस्यैव दर्शनत्वात्, उच्यते—मिथ्यात्वप्रकृतित्वेनातिचारसम्भवाद् औपशमिकादिमोहत्वाच्च दर्शनमोहनीयमिति ॥१४॥ इत्युक्तं सङ्क्षेपतस्त्रिविधं दर्शनमोहम् । सम्प्रत्येतदेव व्याचिख्यासुः प्रथमं सम्यक्त्वस्वरूपमाह—

जियअजियपुन्नपावाऽऽसवसंवरबंधमुक्खनिज्जरणा ।
जेणं सद्दहइ तयं, सम्मं खइगाइबहुभेयं ॥१५॥

जीवश्च अजीवश्च पुण्यं च पापं च आश्रवश्च संवरश्च बन्धश्च मोक्षश्च निर्जरणं च निर्जरा, एतानि नव तत्त्वानि 'येन' क्रमेणा 'श्रद्धाति' प्रत्येति तद् सम्यक्त्वमुच्यते । तत्र नव तत्त्वान्यमूनि—

[1]जीवा१ऽजीवा२पुन्नं३, पावा४ऽऽसव ५ संवरो ६ य निज्जरणा ७ ।
बंधो ८ मुक्खो ९ य तहा, नव तत्ता हुंति इय नेया ॥१॥
एगविहदुविहतिविहा, चउहा पंचविहछव्विहा जीवा ।
चेयण १ तसइयरेहिं २, वेय ३ गई ४ करण ५ काएहिं ६ ॥२॥
एगिंदिय सुहुमियरा, बितिचउसन्नीअसन्निपंचिंदी ।
अपजत्ता पज्जत्ता, चउदसभेया अहव जीवा ॥३॥
पण थावर सुहुमियरा, परित्तवणसन्नऽसन्निविगलतिगं ।
इय सोलस अपजत्ता, पज्जत्ता जीव बत्तीसा ॥४॥
धम्माऽधम्माऽऽगासा, य दव्वदेसप्पएसओ तिविहा ।
गइठाणऽवगाहगुणा, कालो य अरूविणो दसहा ॥५॥

---

१ जीवाजीवौ पुण्यं पापमाश्रवः संवरश्च निर्जरणा । बन्धो मोक्षश्च तथा नव तत्त्वानि भवन्ति इति ज्ञेयानि ॥१॥ एकविधद्विविधत्रिविधाश्चतुर्धा पञ्चविधषड्विधा जीवाः । चेतनत्रसेतरैर्वेदगतिकरणकायैः ॥२॥ एकेन्द्रियाः सूक्ष्मेतरा द्वित्रिचतुःसंज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः । अपर्याप्ताः पर्याप्ताश्चतुर्दशभेदा अथवा जीवाः ॥३॥ पञ्च स्थावराः सूक्ष्मेतराः प्रत्येकवनसंज्ञ्यसंज्ञिविकलत्रिकम् । इति षोडशापर्याप्ताः पर्याप्ता जीवा द्वात्रिंशत् ॥४॥ धर्माधर्माकाशाश्च द्रव्यदेशप्रदेशतस्त्रिविधाः । गतिस्थानावकाशगुणाः कालश्चारूपिणो दशधा ॥५॥

खंधा देस पएसा, परमाणू पुग्गला चउह रूवी ।
जीवं विणा अचेयण, अक्किरिया सव्वगय वोमं ॥६॥
कालो माणुसलोए, जियधम्माऽधम्म लोयपरिमाणा ।
सव्वे दव्वं इट्ठा, काल विणा अत्थिकाया य ॥७॥
धम्माऽधम्माऽऽगासा, कालो परिणामिए इहं भावे ।
उदयपरिणामिए पुग्गला उ सव्वेसु पुण जीवा ॥८॥ जीवाजीवतत्त्वे ॥
तिरिनरसुराउ उच्चं, सायं परघायआयवुज्जोयं ।
जिणऊसासनिमाणं, पणिंदिवइरुसभचउरंसं ॥९॥
तसदस चउवन्नाई, सुरमणुदुग पंचतणु उवंगतिगं ।
अगुरुलहु पढमखगई, बायाला पुन्नपगईओ ॥१०॥ पुण्यतत्त्वम् ॥
नाणंतराय पण पण, नव बीए नियअसायमिच्छत्तं ।
थावरदस नरयतिगं, कसायपणवीस तिरियदुगं ॥११॥
चउजाई उवघायं, अपढमसंघयणखगइसंठाणा ।
वन्नाइअसुभचउरो, बासीई पावपगईओ ॥१२॥ पापतत्त्वम् ॥
इंदिय कसाय अव्वय, किरिया पण चउर पंच पणवीसा ।
जोगतिगं बायाला, आसवभेया इमा किरिया ॥ १३ ॥
काइय १ अहिगरणिया २, पाउसिया ३ पारितावणी किरिया ४ ।
पाणइवाया ५ ऽऽरंभिय ६, परिग्गहिया ७ मायवत्ती य ८ ॥१४॥
मिच्छादंसणवत्ती ९, अप्पच्चक्खाण १० दिट्ठि ११ पुट्ठिय १२ ।
पाडुच्चिय १३ सामंतोवणीय १४ नेसत्थि १५ साहत्थी १६ ॥१५॥

स्कन्धा देशाः प्रदेशाः परमाणवः पुद्गलाश्चतुर्धा रूपिणः । जीवं विनाऽचेतना अक्रियाः सर्वगतं व्योम ॥६॥ कालो मनुष्यलोके जीवधर्माऽधर्मा लोकपरिमाणाः । सर्वाणि द्रव्याणीष्टानि कालं विनाऽस्तिकायाश्च ॥७॥ धर्माऽधर्माऽकाशाः कालः पारिणामिके इह भावे । उदयपारिणामिके पुद्गलास्तु सर्वेषु पुनर्जीवाः ॥८॥ तिर्यग्नरसुरायुरुच्चैः (गोत्रं) सातं पराघाताऽऽतपोद्योतम् । जिनोच्छ्वासनिर्माणं, पञ्चेन्द्रियवज्रर्षभचतुरस्रम् ॥९॥ त्रसदशकं चत्वारो वर्णादयः सुरमनुष्यद्विकं पञ्च तनव उपाङ्गत्रिकम् । अगुरुलघु प्रथमखगतिर्द्विचत्वारिंशत्पुण्यप्रकृतयः ॥१०॥ ज्ञानान्तरायाः पञ्च पञ्च नव द्वितीये नीचासातमिथ्यात्वम् । स्थावरदशकं नरकत्रिकं कषायपञ्चविंशतिस्तिर्यग्द्विकम् ॥११॥ चतस्रो जातय उपघातमप्रथमसंहननखगतिसंस्थानानि । वर्णाद्यशुभचतुष्कं द्व्यशीतिः पापप्रकृतयः ॥१२॥ इन्द्रियाणि कषायाः अव्रतानि क्रियाः पञ्च चत्वारः पञ्च पञ्चविंशतिः । योगत्रिकं द्वाचत्वारिंशदाश्रवभेदा इमाः क्रियाः ॥१३॥ कायिक्यधिकरणिकी प्राद्वेषिकी पारितापनिकी क्रिया । प्राणातिपातिक्यारम्भिकी पारिग्रहिकी मायाप्रत्ययिकी च ॥१४॥ मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी अप्रत्याख्यानिकी दृष्टिकी स्पृष्टिकी च । प्रातित्यकी सामन्तोपनिपातिकी नैःशस्त्रिकी स्वाहस्तिकी ॥१५॥

आणवणि १७ वियारणिया १८, अणभोगा १९ अणवकंखपच्चइया २० ।
अन्नापओग२१समुदाण२२, पिज्ज२३दोसे२४रियावहिया२५ ॥१६॥

आश्रवतत्त्वम् ॥

भावण चरण परीसह, समिई जइधम्म गुत्ति बारस उ ।
पंच दुवीसा पण दस, तिय संवरभेय सगवन्ना ॥१७॥

संवरतत्त्वम् ॥

बारसविहं तवो निज्जरा उ अहवा अकामसकामा ।
पयइठिईअणुभागप्पएसभेया चउह बंधो ॥१८॥

निर्जराबन्धतत्त्वे ॥

संतपयपरूवणया१, दव्वपमाणं च २ खित्त ३ फुसणा य ४ ।
कालो ५ अंतर ६ भागा ७, भाव ८ऽप्पबहू ९ नवह मुक्खो ॥१९॥
जिण१अजिण२तित्थ३तित्था४, गिह५अन्न६सलिंग७थी८नर९नपुंसा१० ।
पत्तेय११संयबुद्धा१२, वि बुद्धबोहि१३क१४ऽणिका य १५ ॥२०॥

इति मोक्षतत्त्वम् ॥

इत्युक्तं सङ्क्षेपतो नवतत्त्वस्वरूपम्, विस्तरतस्तु श्री**धर्मरत्नटीकातो**ऽवसेयम् । तदेवं येन कर्मणाऽमूनि नव तत्त्वानि श्रद्धाति तत् सम्यक्त्वम्, किंविशिष्टं ? "खइगाइबहुभेयं" ति क्षायिकमादौ येषां ते क्षायिकादयः, क्षायिकादयो बहवो भेदाः प्रकारा यस्य तत् क्षायिकादिबहुभेदम् । इहादिशब्दाद्वेदकौपशमिकसास्वादनक्षायोपशमिकग्रहणम् । एतद्व्याख्यानगाथा—

* खीणे दंसणमोहे, तिविहम्मि वि खाइयं भवे सम्मं ।
वेयगमिह सव्वोइयचरमिल्लयपुग्गलग्गासं ॥ (धर्मसं० ८०१)

आनयनिकी विदारणिकाऽनाभोगिकी अनवकाङ्क्षाप्रत्ययिकी । अन्यप्रायोगिकी समुदानिकी प्रैमिकी द्वैषिकी ऐर्यापथिकी ॥१६॥ भावनाः चरणानि परीषहाः समितयः यतिधर्माः गुप्तयः द्वादश तु । पञ्च द्वाविंशतिः पञ्च दश त्रिकं संवरभेदाः सप्तपञ्चाशत् ॥१७॥ द्वादशविधं तपो निर्जरा तु अथवा अकामसकामा । प्रकृतिस्थितिअनुभागप्रदेशभेदाच्चतुर्धा बन्धः ॥१८॥ सत्पदप्ररूपणता द्रव्यप्रमाणं च क्षेत्रं स्पर्शना च । कालोऽन्तरभागौ भावाल्पबहुत्वे नवधा मोक्षः ॥१९॥ जिनाजिनतीर्थातीर्था गृहान्यस्वलिंगस्त्रीनरनपुंसका । प्रत्येकस्वयंबुद्धा अपि बुद्धबोधितैकानेके (सिद्धाः) च ॥२०॥ * क्षीणे दर्शनमोहे त्रिविधेऽपि क्षायिकं भवेत्सम्यक्त्वम् । वेदकमिह सर्वोदितचरमपुद्गलग्रासम् ॥ उपशमश्रेणिगतस्य तु भवति खलु औपशमिकं तु सम्यक्त्वम् । यो वाऽकृतत्रिपुञ्जोऽक्षपितमिथ्यात्वो लभते सम्यक्त्वम् ॥ उपशमसम्यक्त्वाच्च्यवमानस्य मिथ्यात्वमप्राप्नुवतः । सास्वादनसम्यक्त्वं तदन्तराले षडावलिकम् ॥ मिथ्यात्वं यदुदीर्णं तत्क्षीणमनुदितं चोपशान्तम् । मिश्रीभावपरिणतं वेद्यमानं क्षायोपशमिकम् ।

[1]उवसमसेढिगयस्स उ, होइ हु उवसामियं तु सम्मत्तं ।
जो वा अकयतिपुंजो, अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥
उवसमसम्मत्ताओ, चयओ मिच्छं अपावमाणस्स ।
सासायणसम्मत्तं, तयंतरालम्मि छावलियं ॥
मिच्छत्तं जमुइन्नं, तं खीणं अणुइयं च उवसंतं ।
मीसीभावपरिणयं, वेइज्जंतं खओवसमं ॥
(विशे० आ० गा० ५२९-३१-३२) इति ॥ १५ ॥

उक्तं सम्यक्त्वम् । अथ मिश्रमाह—

मीसा न रागदोसो, जिणधम्मे अंतमुहु जहा अन्ने ।
नालियरदीवमणुणो, मिच्छं जिणधम्मविवरीयं ॥ १६ ॥

'मिश्रात्' मिश्रोदयाद् जीवस्य 'जिनधर्मे' जिनधर्मस्योपरि न रागः सर्वज्ञनिर्दोषत्वादिना एकान्तनिश्चयात्मकश्रद्धानरूपः प्रीतिविशेषः, न च द्वेषः—एकान्तविप्रतिपत्तिपरिणामोपजातनिन्दात्मकोऽप्रीतिरूपः । मिश्रोदयश्च "अंतमुहु" त्ति 'अन्तर्मुहूर्तं' भिन्नमुहूर्तकालं यावद् भवतीत्यर्थः । अथ कथं मिश्रोदयाज्जिनधर्मे न रागो न द्वेषः ? इत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह—"जहा अन्ने" इत्यादि । 'यथा' इत्युदाहरणोपन्यासे 'अन्ने' कूराद्योदने 'नालिकेरद्वीपमनुजस्य'=नालिकेरद्वीपवासिपुरुषस्य न रागो न च द्वेषोऽदृष्टाऽश्रुतत्वेन । उक्तं च बृहच्छतकबृहच्चूर्णौ—

[2]जहा नालिकेरदीववासिस्स अइछुहाइयस्स वि पुरिसस्स इत्थ ओयणाइए अणेगविहे वि ढोइए तस्स आहारस्स उवरिं न रुई न य निंदा, जेण कारणेण सो ओयणाइओ आहारो न कयाइ दिट्ठो नावि सुओ । एवं सम्मामिच्छदिट्ठिस्स वि जीवाइपयत्थाणं उवरिं न रुई न य निंदा ॥ इत्यादि ।

उक्तं मिश्रम् । सम्प्रति मिथ्यात्वमाह—"मिच्छं जिणधम्मविवरीयं" ति । "मिच्छं" ति मिथ्यात्वं जिनधर्माद् विपरीतं—विपर्यस्तं ज्ञेयमिति शेषः । अत्रायमाशयः—रागद्वेषमोहादिकलङ्काङ्कितेऽदेवेऽपि देवबुद्धिः,

"धर्मज्ञो धर्मकर्ता च, सदा धर्मपरायणः ।
सत्त्वानां धर्मशास्त्रार्थदेशको गुरुरुच्यते ॥"

---

१ उवसामगसेढिगयस्स होइ उव० इति भाष्ये ॥ २ यथा नालिकेरद्वीपवासिनोऽतिक्षुधादितस्यापि पुरुषस्येहौदनादिकेऽनेकविधेऽपि ढौकिते तस्याहारस्योपरि न रुचिर्न च निन्दा, येन कारणेन स ओदनादिक आहारो न कदाचिद् दृष्टो नापि श्रुतः । एवं सम्यग्मिथ्यादृष्टेरपि जीवादिपदार्थानामुपरि न रुचिर्न च निन्दा ॥

इन्द्यादिप्रतिपादितगुरुलक्षणविलक्षणेऽगुरावपि गुरुबुद्धिः, संयमसूनृतशौचब्रह्मसत्यादि(ब्रह्मा-किञ्चन्यादि) स्वरूपधर्मप्रतिपक्षेऽधर्मेऽपि धर्मबुद्धिरिति मिथ्यात्वम् ॥१६॥ उक्तं मिथ्यात्वम्, तद्भणने चाभिहितं त्रिविधमपि दर्शनमोहनीयम् । इदानीं चारित्रमोहनीयमभिधित्सुराह—

सोलस कसाय नव नोकसाय दुविहं चरित्तमोहणियं ।
अण अप्पच्चक्खाणा, पच्चक्खाणा य संजलणा ॥ १७ ॥

'द्विविधं' द्विभेदं चारित्रमोहनीयं भवति, तद्यथा—"सोलस कसाय" त्ति कष्यन्ते-हिंस्यन्ते परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः—संसारः, कषमयन्ते—गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कषायाः । यद्वा कषस्याऽऽयः—लाभो येभ्यस्ते कषायाः क्रोधमानमायालोभाः । तत्र क्रोधोऽक्षान्तिपरिणतिरूपः, मानो जात्यादिसमुत्थोऽहङ्कारः, माया परवञ्चनाद्यात्मिका, लोभोऽसन्तोषात्मको गृद्धिपरिणामः । ततः षोडशसङ्ख्याः कषायाः कषायमोहनीयमुच्यते । विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात्, एवमुत्तरत्रापि । "नव नोकसाय" त्ति कषायैः सहचरा नोकषायाः, ते च नव—हास्यादयः षट् त्रयो वेदाः । अत्र नोशब्दः साहचर्यवाची । एषां हि केवलानां न प्राधान्यमस्ति, किन्तु कषायैरनन्तानुबन्ध्यादिभिः सहोदयं यान्ति, तद्विपाकसदृशमेव विपाकं दर्शयन्ति, बुधग्रहवदन्यसंसर्गमनुवर्तन्ते इति भावः । कषायोद्दीपनाद्वा नोकषायाः । उक्तं च—

कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि ।
हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता ॥

ततो नवसङ्ख्या नोकषाया नोकषायमोहनीयमुच्यते । अथ "यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायात् प्रथमं कषायमोहनीयं व्याख्यानयन्नाह—"अण अप्पच्चक्खाणा" इत्यादि । "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनः । तत्रानन्तं संसारमनुबध्नन्तीत्येवंशीला[1]अनन्तानुबन्धिनः । यदवाचि—

यस्मादनन्तं संसारमनुबध्नन्ति देहिनाम् ।
ततोऽनन्तानुबन्धीति, संज्ञाऽऽद्येषु निवेशिता ॥

ते चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः । यद्यपि चैतेषां शेषकषायोदयरहितानामुदयो नास्ति, तथाप्यवश्यमनन्तसंसारमौलकारणमिथ्यात्वोदयाक्षेपकत्वादेषामेवानन्तानुबन्धित्वव्यपदेशः । शेषकषाया हि नावश्यं मिथ्यात्वोदयमाक्षिपन्ति, अतस्तेषामुदययौगपद्ये सत्यपि नायं व्यपदेश इत्यसाधारणमेतेषामेवैतन्नामेति । तथा न विद्यते स्वल्पमपि प्रत्याख्यानं येषामुदयादतोऽप्रत्याख्यानाः ।

यदभाणि—

---

१ आद्याः कषायाः ।

नाल्पमप्युत्सहेद्येषां, प्रत्याख्यानमिहोदयात् ।
अप्रत्याख्यानसंज्ञाऽतो, द्वितीयेषु निवेशिता ॥

ते चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः । तथा प्रत्याख्यानं–सर्वविरतिरूपमावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणाः । यन्न्यगादि—

सर्वसावद्यविरतिः, प्रत्याख्यानमिहोच्यते ।
तदावरणसंज्ञाऽतस्तृतीयेषु निवेशिता ॥

ते चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः । तथा परीषहोपसर्गोपनिपाते सति चारित्रिणमपि 'संशब्द ईषदर्थे' सम्–ईषद् ज्वलयन्ति–दीपयन्तीति संज्वलनाः । यदभ्यधायि–

परीषहोपसर्गोपनिपाते यतिमप्यमी ।
समीषद् ज्वलयन्त्येव, तेन संज्वलनाः स्मृताः ॥

ते चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः । तदेवं चत्वारश्चतुष्ककाः षोडश भवन्तीति ॥१७॥
उक्ताः षोडश कषायाः, सम्प्रत्येतेषामेव विशेषतः किञ्चित् स्वरूपं प्रतिपिपादयिषुराह–

जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरियनरअमरा ।
सम्माणुसव्वविरईअहक्खायचरित्तघायकरा ॥१८॥

"जाजीव" त्ति "यावत्तावज्जीवितावर्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवे वः" (सि० ८-१-२७१) इति प्राकृतसूत्रेण वकारलोपे यावज्जीवं च वर्षं च चतुर्मासं च पक्षश्च यावज्जीववर्षचतुर्मासपक्षास्तान् गच्छन्तीति यावज्जीववर्षचतुर्मासपक्षगाः । "नाम्नो गमः खड्डौ च विहायसस्तु विहः" (सि० ५-१-१३१) इति डप्रत्ययः । इदमुक्तं भवति–यावज्जीवानुगा अनन्तानुबन्धिनः, वर्षगा अप्रत्याख्यानावरणाः, चतुर्मासगाः प्रत्याख्यानावरणाः, पक्षगाः संज्वलनाः । इदं च–

[1]फरुसवयणेण दिणतवं, अहिक्खिवंतो य हणइ मासतवं ।
वरिसतवं सवमाणो, हणइ हणंतो य सामन्नं ॥ (उप० मा० गा० १३४)

इत्यादिवद् व्यवहारनयमाश्रित्योच्यते; अन्यथा हि बाहुबलिप्रभृतीनां पक्षादिपरतोऽपि संज्वलनाद्यवस्थितिः श्रूयते, अन्येषां च संयतादीनामाकर्षादिकाले प्रत्याख्यानावरणानामप्रत्याख्यानावरणानामनन्तानुबन्धिनां चान्तर्मुहूर्तादिकं कालमुदयः श्रूयत इति । तथा नरकगतिकारणत्वादनन्तानुबन्धिनः कषाया अपि नरकाः, भवति च कारणे कार्योपचारः, यथा–"आयुर्घृतम्, नड्वलोदकं पादरोगः" इति । एवं तिर्यग्गतिकारणत्वात् तिर्यञ्चोऽप्रत्याख्यानावरणाः,

१ परुषवचनेन दिनतपोऽधिक्षिपंश्च हन्ति मासतपः । वर्षतपः शपमानः हन्ति घ्नंश्च श्रामण्यम् ॥

नरगतिकारणत्वान्नराः प्रत्याख्यानावरणाः, अमरगतिकारणत्वादमराः संज्वलनाः । एतदुक्तं भवति–अनन्तानुबन्ध्युदये मृतो नरकगतावेव गच्छति, अप्रत्याख्यानावरणोदये मृतस्तिर्यक्षु, प्रत्याख्यानावरणोदये मृतो मनुष्येषु, संज्वलनोदये पुनर्मृतोऽमरेष्वेव गच्छति । उक्तश्चायमर्थः पश्चानुपूर्व्याऽन्यत्रापि–

[1]पक्खचउमासवच्छरजावज्जीवाणुगामिणो भणिया ।
देवनरतिरियनारयगइसाहणहेयवो नेया ॥ (विशे० गा० २९९२)

इदमपि व्यवहारनयमधिकृत्योच्यते; अन्यथा हि अनन्तानुबन्ध्युदयवतामपि मिथ्यादृशां केषाञ्चिदुपरितनग्रैवेयकेषूत्पत्तिः श्रूयते, प्रत्याख्यानावरणोदयवतां देशविरतानां देवगतिः, अप्रत्याख्यानावरणोदयवतां च सम्यग्दृष्टिदेवानां मनुष्यगतिः । तथा "सम्म" त्ति सम्यक्त्वं च "अणुसव्वविरइ"त्ति विरतिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् अणुविरतिश्च–देशविरतिः सर्वविरतिश्च यथाख्यातचारित्रं च । सम्यक्त्वाणुसर्वविरतियथाख्यातचारित्राणि तेषां घातः–विनाशः सम्यक्त्वाणुसर्वविरतियथाख्यातचारित्रघातस्तं कुर्वन्तीत्येवंशीलाः सम्यक्त्वाणुसर्वविरतियथाख्यातचारित्रघातकराः । एतदुक्तं भवति—अनन्तानुबन्धिनः कषायाः सम्यक्त्वघातकाः ।

यदाहुः **श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः**—

[2]पढमिल्लुयाण उदए, नियमा संजोयणाकसायाणं ।
सम्मद्दंसणलंभं, भवसिद्धीया वि न लहंति ॥ (आ० नि० गा० १०८)

अप्रत्याख्यानावरणा देशविरतेर्घातकाः, न सम्यक्त्वस्येत्यर्थाल्लब्धम् । यदाहुः पूज्यपादाः-

[3]बीयकसायाणुदये, अप्पच्चक्खाणनामधिज्जाणं ।
सम्मद्दंसणलंभं, विरयाविरयं न उ लहंति ॥ (आ० नि० गा० १०९)

प्रत्याख्यानावरणास्तु सर्वविरतेर्घातकाः, सामर्थ्यान्न देशविरतेः । उक्तं च—

[4]तइयकसायाणुदए, पच्चक्खाणावरणनामधिज्जाणं ।
देसिक्कदेसविरइं, चरित्तलंभं न उ लहंति ॥ (आ० नि० गा० ११०)

संज्वलनाः पुनर्यथाख्यातचारित्रस्य घातकाः, न सामान्यतः सर्वविरतेः । उक्तं च श्रीमदाराध्यपादैः—

---

१ पक्षचतुर्मासवत्सरयावज्जीवानुगामिनो भणिताः । देवनरतिर्यग्नारकगतिसाधनहेतवो ज्ञेयाः ॥ २ प्राथमिकानामुदये नियमात्संयोजनाकषायाणाम् । सम्यग्दर्शनलाभं भवसिद्धिका अपि न लभन्ते ॥ ३ द्वितीयकषायाणामुदयेऽप्रत्याख्याननामधेयानाम् । सम्यग्दर्शनलाभं विरताविरतं न तु लभन्ते ॥ ४ तृतीयकषायाणामुदये प्रत्याख्यानावरणनामधेयानाम् । देशैकदेशविरतिं चरित्रलाभं न तु लभन्ते ॥

[1]मूलगुणाणं लंभं, न लहइ मूलगुणघाइणं उदए ।
संजलणाणं उदए, न लहइ चरणं अहक्खायं ॥

(आ० नि० गा० १११) इति ॥१८॥

अथ जलरेखादिदृष्टान्तेन विशिष्टानि क्रोधादिस्वरूपाणि स्वरूपं व्याचिख्यासुराह—

जलरेणुपुढविपव्वयराईसरिसो चउव्विहो कोहो ।
तिणिसलयाकट्ठट्ठियसेलत्थंभोवमो माणो ॥१९॥

इह क्रोधादयः संज्वलनादिक्रमेण दृष्टान्तैः कथ्यन्ते । तत्र जलराजितुल्यः संज्वलनः क्रोधः, यथा दण्डादिभिर्जलमध्ये राजी—रेखा विनैव यत्नं शीघ्रमेव मिलति, तथा यो जातः समुत्पन्नोऽपि शीघ्रमेव व्यपगच्छति स संज्वलनः क्रोधोऽभिधीयते १ । रेणुराजितुल्यः प्रत्याख्यानावरणः क्रोधः, अयं हि रेणुराजिवत् कियद्भिर्दिवसैः स्वयमेव निवर्तेत इति भावः २ । पृथिवीराजितुल्योऽप्रत्याख्यानावरणः, यथा स्फुटितपृथिवीरेखा- निष्पन्ना राजी वर्षणादिभिः पूर्यमाणा कालेन निवर्तते, एवमेषोऽपि अप्रत्याख्यानावरणोऽपि महता कालेन निवर्तते इति भावः ३ । पर्वतराजितुल्यस्तु अनन्तानुबन्धी क्रोधः, कथमपि निवर्तयितुमशक्य इत्यर्थः ४ । उक्तश्चतुर्विधः क्रोधः ॥

इदानीं मानोऽभिधीयते—तत्र तिनिसलतास्तम्भसदृशः संज्वलनो मानः, यथा तिनिशः—वृक्ष- विशेषस्तस्य लता सुखेनैव नमति, एवं यस्य मानस्योदये जीवः स्वाग्रहं मुक्त्वा सुखेनैव नमति स संज्वलनमानः १ । यथा काष्ठं स्निग्धं तैलादिभिरतिशयेन स्नेहितं कष्टेन नमति, एवं यस्य मानस्योदये जीवोऽपि कष्टेन नमति स काष्ठस्तम्भसमः प्रत्याख्यानावरणो मानः २ । यथाऽस्थि—हड्डं बहुभिरुपायैरतिशयेन महता कष्टेन नमति, एवं यस्य मानस्योदये जीवोऽप्यति- महता कष्टेन नमति सोऽस्थिस्तम्भोपमोऽप्रत्याख्यानावरणो मानः ३ । शिलायां घटितः शैलः शैलश्चासौ स्तम्भश्च तेन समः तत्समोऽनन्तानुबन्धी मानः, कथमप्यनमनीय इत्यर्थः ४॥१९॥

उक्तश्चतुर्विधो मानः । अथ मायालोभौ व्याख्यातुमाह—

मायाऽवलेहिगोमुत्तिमिंढसिंगघणवंसिमूलसमा ।
लोहो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसामाणो ॥२०॥

मायाऽवलेहिकासदृशा संज्वलनी, वंशादीनामवलेखनसमुत्पन्नानां याऽवलेहिका वक्रत्वग्रूपा भवति, यथा सा करादिस्पर्शमात्रात् सुखेनैव सरलीक्रियते, एवं यस्या उदये समुत्पन्नाऽपि हृदये कुटिलता सुखेनैव निवर्तते सा संज्वलनी माया १ । गोमूत्रिका—वलीवर्दस्य मार्गे मूत्रकुटिला वक्ररेखा

[1] मूलगुणानां लाभं न लभते मूलगुणघातिनामुदये । संज्वलनानामुदये न लभते चरणं यथाख्यातम् ॥

[illegible] ... [illegible] ॥२०॥

[illegible] ... [illegible] —

[illegible] ।
[illegible] ॥२१॥

[illegible] ... [illegible]

१ [illegible] ॥ २ [illegible] ॥

पुरिसित्थि तदुभयं पइ, अहिलासो जव्वसा हवइ सो उ ।
थीनरनपुवेउदओ, फुंफुमतणनगरदाहसमो ॥ २२ ॥

प्रतिशब्दः प्रत्येकं योज्यते, पुरुषं प्रति स्त्रियं प्रति तदुभयं प्रति–स्त्रीपुरुषं प्रतीत्यर्थः 'यद्वशात्' यत्पारतन्त्र्याद् 'अभिलाषः' वाञ्छा 'भवति' जायते, तुशब्दः परस्परापेक्षया पुनरर्थे, स्त्री-योषित् नरः–पुरुषः "नपु" त्ति नपुंसकं तैर्वेद्यते–अनुभूयते स्त्रीनरनपुंवेदस्तस्योदयः स्त्रीनरनपुंवेदोदयो ज्ञेय इति शेषः । फुम्फुमा–करीषम् तृणानि प्रतीतानि नगरं–पुरम् फुम्फुमातृणनगराणि तेषां दाहस्तेन समः–तुल्य इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्–यद्वशात् स्त्रियाः पुरुषं प्रत्यभिलाषो भवति, यथा पित्तवशाद् मधुरद्रव्यं प्रति, स फुम्फुमादाहसमः, [[1]*यथा [2]यथा चाल्यते तथा तथा ज्वलति [3]बृंहति च, [4]एवमबलाऽपि यथा यथा संस्पृश्यते पुरुषेण तथा तथाऽस्या अधिकतरोऽभिलाषो जायते,/अभुज्यमानायां तु च्छन्नकरीषदाहतुल्योऽभिलाषो मन्द इत्यर्थः, इति*] स्त्रीवेदोदयः १। यद्वशात् पुरुषस्य स्त्रियं प्रत्यभिलाषो भवति, यथा श्लेष्मवशादम्लं प्रति, स पुनस्तृणदाहसमः, [* यथा तृणानां [5]दाहे ज्वलनं झटिति विध्यापनं च भवति, एवं पुंवेदोदये स्त्रियाः सेवनं प्रत्युत्सुकोऽभिलाषो भवति, निवर्तते च तत्सेवने शीघ्रमिति*] नरवेदोदयः २ । यद्वशाद् नपुंसकस्य तदुभयं प्रत्यभिलाषो भवति, यथा पित्तश्लेष्मवशात् मज्जिकां प्रति, स पुनर्नगरदाहसमः, [* यथा नगरं दह्यमानं महता कालेन दह्यते विध्याति च महतैव, एवं नपुंसकवेदोदयेऽपि स्त्रीपुरुषयोः सेवनं प्रत्यभिलाषातिरेको महताऽपि कालेन न निवर्तते, नापि सेवने तृप्तिरिति *] नपुंवेदोदयः ३ । अभिहितं वेदत्रिकम्, तदभिधाने चाभिहितं नवधा नोकषायमोहनीयम्, तदभिधाने च समर्थितं चारित्रमोहनीयमिति ॥ २२ ॥

उक्तमष्टाविंशतिविधं चतुर्थं मोहनीयं कर्म, इदानीं पञ्चममायुष्कर्म व्याचिख्यासुराह––

सुरनरतिरिनरयाऊ, हडिसरिसं नामकम्म चित्तिसमं ।
बायालतिनवइविहं, तिउत्तरसयं च सत्तट्ठी ॥ २३ ॥

आयुःशब्दः प्रत्येकं योज्यते, ततश्च सुष्ठु राजन्त इति सुराः, यद्वा "सुरत् ऐश्वर्यदीप्त्योः" सुरन्ति–विशिष्टमैश्वर्यमनुभवन्ति दिव्याभरणकान्त्या सहजशरीरकान्त्या च दीप्यन्त इति सुराः, यदि वा सुष्ठु रान्ति–ददति प्रणतानामीप्सितमर्थं लवणाधिपसुस्थित इव लवणजलधौ मार्गं जनार्दनस्येति सुराः–देवाः तेषामायुः सुरायुर्येन तेष्ववस्थितिर्भवति १ । नृणन्ति–निश्चिन्वन्ति

---

१ [* *]–एतादृक् सफुल्लिककोष्ठकान्तःपाती सन्दर्भः क पुस्तके नास्ति, एवमग्रेऽपि ॥ २ ०था फुम्फुमा चा० ख० ॥ ३ दहति च ख० ग० घ० ङ० ॥ ४ ०वमङ्गनाऽपि ख० ॥ ५ दाघे ख० ग० ङ० ॥

वस्तुतत्त्वमिति नराः—मनुष्याः तेषामायुर्नरायुस्तद्भवावस्थितिहेतुः २ । "तिरि" त्ति प्राकृतत्वात् तिरोऽञ्चन्ति—गच्छन्तीति तिर्यञ्चः, व्युत्पत्तिनिमित्तं चैतत्, प्रवृत्तिनिमित्तं तु तिर्यग्गतिनाम, एते चैकेन्द्रियादयः, ततस्तिरश्चामायुस्तिर्यगायुर्येनैतेषु स्थीयते ३ । नरान् उपलक्षणत्वात् तिरश्चोऽपि प्रभूतपापकारिणः कायन्तीव—आह्वयन्तीवेति[1] नरकाः—नरकावासास्तत्रोत्पन्ना जन्तवोऽपि नरकाः, नरको वा विद्यते येषां ते "अभ्रादिभ्यः" (सि० ७-२-४६) इति अप्रत्यये नरकास्तेषामायुर्नरकायुर्येन ते तेषु ध्रियन्ते । एतच्चायुर्हडिसदृशं भवति । तत्र हडिः—खोडकस्तेन सदृशं तत्तुल्यम्, यथा हि राजादिना हडौ क्षिप्तः कश्चिच्चौरादिस्ततो निर्गमनमनोरथं कुर्वाणोऽपि विवक्षितं कालं यावत् तया ध्रियते, तथा नारकादिस्ततो निष्क्रमितुमना अपि तदायुषा ध्रियत इति हडिसदृशमायुः । व्याख्यातं चतुर्विधं पञ्चममायुष्कर्म ॥

सम्प्रति षष्ठं नामकर्माभिधित्सुराह—"नामकम्म चित्तिसमं" इत्यादि । नामकर्म भवति 'चित्रिसमं' चित्रं कर्म तत् कर्तव्यतया विद्यते यस्य स चित्री—चित्रकरस्तेन समम्—सदृशं चित्रिसमम् । यथा हि चित्री चित्रं चित्रप्रकारं विविधवर्णकैः करोति, तथा नामकर्मापि जीवं नारकोऽयं तिर्यग्जातिकोऽयमेकेन्द्रियोऽयं द्वीन्द्रियोऽयमित्यादिव्यपदेशैरनेकधा करोतीति चित्रिसममिदमिति । एतच्चानेकभेदम्, कथम्? इत्याह—"बायालतिनवइविहं तिउत्तरसयं च सत्तट्ठी" त्ति । अत्र विधाशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्विचत्वारिंशद्विधम्, यद्वा त्रिनवतिविधम्, यदि वा त्र्युत्तरशतविधम्, अथवा सप्तषष्टिविधम् । चशब्दः समुच्चये व्यवहितसम्बन्धश्च, स च तथैव योजितः ॥ २३ ॥ अथ नामकर्मणो द्विचत्वारिंशतं भेदान् प्रचिकटयिषुराह—

गइजाइतणुउवंगा, बंधणसंघायणाणि संघयणा ।
संठाणवन्नगंधरसफासअणुपुव्विविहगगई ॥२४॥

इह नाम्नः प्रस्तावात् सर्वत्र गत्यादिषु नामेत्युपस्कारः कार्यः । तथाहि—गतिनाम जातिनाम तनुनाम उपाङ्गनाम (ग्रन्थाग्रम् १०००) बन्धननाम सङ्घातननाम संहनननाम संस्थाननाम वर्णनाम गन्धनाम रसनाम स्पर्शनाम आनुपूर्वीनाम विहायोगतिनामेति । तत्र गम्यते—तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यत इति गतिः—नारकादिपर्यायपरिणतिः, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि गतिः, सैव नाम गतिनाम १ । जननं जातिः—एकेन्द्रियादिशब्दव्यपदेश्येन पर्यायेण जीवानामुत्पत्तिः, तद्भावनिबन्धनभूतं नाम जातिनाम २ । तनोति-जन्तुरात्मप्रदेशान् विस्तारयति यस्यां सा तनुः, तज्जनकं कर्मापि तनुः, सैव नाम तनुनाम, शरीरनामेत्यर्थः ३ । "उवंग" त्ति उपलक्षणत्वाद् अङ्गोपाङ्गनाम, तत्र "अञ्जौप् व्यक्तिम्रक्षणगतिषु" इति धातोः

---

१ ०ति नरकावासास्त० ख० ग० ङ० ॥

अङ्ग्यन्ते—गर्भोत्पत्तेरारभ्य व्यक्तीभवन्ति जन्मप्रभृतेर्लक्ष्यन्ते चेत्यङ्गानि शिरउरउदरादीनि वक्ष्यमाणस्वरूपाणि, तदवयवभूतान्यङ्गुल्यादीन्युपाङ्गानि, शेषाणि तु तत्प्रत्यवयवभूतान्यङ्गुलिपर्वरेखादीन्यङ्गोपाङ्गानि, ततश्चाङ्गानि चोपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि चेति द्वन्द्वे "स्यादावसङ्ख्येयः" (सि० ३-१-११९) इत्येकशेषे च कृते अङ्गोपाङ्गानीति, तत्र यदुदयात् शरीरतयोपात्ता अपि पुद्गला अङ्गोपाङ्गविभागेन परिणमन्ति तत् कर्मापि अङ्गोपाङ्गनाम ४ । बध्यन्ते—गृह्यमाणपुद्गलाः पूर्वगृहीतपुद्गलैः सह श्लिष्टाः क्रियन्ते येन तत् बन्धनं तदेव नाम बन्धननाम ५ । सङ्घात एव संघन्ति—सङ्घातमापद्यन्ते, ततस्ते संहन्यन्तः सन्तः सङ्घात्यन्ते—प्रत्येकं शरीरपञ्चकप्रायोग्याः पुद्गलाः पिण्ड्यन्ते येन तत् सङ्घातनं तदेव नाम सङ्घातननाम ६ । संहन्यन्ते—धातूनामनेकार्थत्वात् दृढीक्रियन्ते शरीरपुद्गलाः कपाटादयो लोहपट्टिकादिनेव येन तत् संहननं तदेव नाम संहनननाम ७ । संतिष्ठन्ते—विशिष्टावयवरचनात्मिकया शरीराकृत्या जन्तवो भवन्ति येन तत् संस्थानं तदेव नाम संस्थाननाम ८ । वर्ण्यते—अलङ्क्रियतेऽनेनेति वर्णः कृष्णादिः,[4]जन्तुशरीरे कृष्णादिवर्णहेतुकं नामकर्मापि वर्णनाम ९ । गन्ध्यते—आघ्रायत इति गन्धः, तद्धेतुत्वान्नामकर्मापि गन्धनाम १० । रस्यते—आस्वाद्यत इति रसस्तिक्तादिः, जन्तुशरीरे तिक्तादिरसहेतुकं कर्मापि रसनाम ११ । स्पृश्यत इति स्पर्शः कर्कशादिः, तद्धेतुत्वात् कर्मापि स्पर्शनाम १२ । द्विसमयादिना विग्रहेण भवान्तरं गच्छतो जन्तोरनुश्रेणिनियता गमनपरिपाटी आनुपूर्वी, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरप्यानुपूर्वी १३ । गमनं गतिः, सा पुनरत्र पादादिविहरणात्मिका देशान्तरप्राप्तिहेतुर्द्वीन्द्रियादीनां प्रसिद्धा परिगृह्यते, नैकेन्द्रियाणां पादाद्यभावात्, ततो विहायसा—नभसा गतिर्विहायोगतिः, तद्धेतुत्वात् कर्मापि विहायोगतिनाम १४ । ननु विहायसः सर्वगतत्वेन ततोऽन्यत्र गमनाभावाद् व्यवच्छेद्याभावेन विहायसेति विशेषणस्य वैयर्थ्यम्, सत्यम्, किन्तु यदि गतिरित्येवोच्येत तदा नाम्नः प्रथमप्रकृतिरपि गतिरस्तीति पौनरुक्त्याशङ्का स्यात्, तद्व्यवच्छेदार्थं विहायोग्रहणमकारि, विहायसा गतिः प्रवृत्तिर्न तु भवगतिर्नारकादिरिति ॥ २४ ॥

अथ प्रदर्शितानां गत्यादिप्रकृतीनामभिधानमनुवादकथनपूर्वकमष्टौ प्रत्येकप्रकृतीराह—

पिंडपयडि त्ति चउदस, परघाउस्सासआयवुज्जोयं ।
अगुरुलहुतित्थनिमिणोवघायमिय अट्ठ पत्तेया ॥ २५ ॥

एतैर्गत्यादिभिः पदैर्वक्ष्यमाणचतुरादिभेदानां पिण्डितानां प्रतिपादनात् पिण्डप्रकृतय उच्यन्ते । काः ? 'इति' इति एता गत्यादयोऽनन्तरगाथोदिताः प्रकृतयः । कियन्त्यः पुनस्ताः ? इत्याह—चतुर्दशसङ्ख्याः । तथा प्रकृतनामशब्दः पराघातादिष्वप्यध्याहार्यः, तद्यथा—पराघातनाम उच्छ्वासनाम आतपनाम उद्योतनाम अगुरुलघुनाम "तित्थ" त्ति तीर्थकरनाम

"निमिण" त्ति निर्माणनाम उपघातनाम 'इति' एताः पराघातादयः 'अष्टौ' अष्टसङ्ख्याः प्रत्येकप्रकृतयो ज्ञेयाः, आसां पिण्डप्रकृतिवदन्यभेदाभावादिति ॥ २५ ॥

तस बायर पज्जत्तं, पत्तेय थिरं सुभं च सुभगं च।
सुसराऽऽइज्ज जसं तसदसगं थावरदसं तु इमं ॥ २६ ॥

नामशब्दस्येहापि सम्बन्धात् त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरनाम शुभनाम सुभगनाम 'चशब्दौ' समुच्चये सुस्वरनाम आदेयनाम "जसं" ति यशःकीर्तिनाम इत्येवं त्रसशब्देनोपलक्षितं प्रकृतिदशकं त्रसदशकमिदमुच्यते इति शेषः । तथा स्थावरेण–स्थावरशब्देनोपलक्षितं त्रसदशकस्य विपक्षभूतं "दस" त्ति प्राकृतत्वाद् दशकं स्थावरदशकम् , तत् पुनरिदं वक्ष्यमाणमिति ॥ २६ ॥ तदेवाह—

थावर सुहुम अपज्जं, साहारणअथिरअसुभदुभगाणि ।
दुस्सरऽणाइज्जाऽजस, इय नामे सेयरा वीसं ॥ २७ ॥

इहापि नामशब्दस्य सम्बन्धात् स्थावरनाम सूक्ष्मनाम अपर्याप्तनाम साधारणनाम अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम दुःस्वरनाम अनादेयनाम "अजस" त्ति अयशःकीर्तिनाम । प्ररूपितं दशकद्वयमदि, अधुना दशकद्वयमीलने यथाभूता सतीयं विंशतिर्यद्विषयोच्यते तदाह— "इय" त्ति 'इति' अमुना त्रसादिप्रदर्शितप्रकारेण "नामे" त्ति नामकर्मणि 'सेतरा' सप्रतिपक्षा प्रत्येकसंज्ञिता विंशतिर्विज्ञेया । तथाहि–त्रसनाम्नः स्थावरनाम प्रतिपक्षभूतम् , एवं बादरसूक्ष्मप्रकृतीनामपि सेतरत्वं सुप्रतीतमेवेति ॥ २७ ॥ अथानन्तरोद्दिष्टत्रसादिविंशतिमध्ये यासां प्रकृतीनामाद्यपदनिर्देशेन याः संज्ञा भवन्ति ताः कथयन्नाह—

तसचउथिरछक्कं अथिरछक्कसुहुमतिगथावरचउक्कं ।
सुभगतिगाइविभासा, तदाइसंखाहिँ पयडीहिं ॥ २८ ॥

त्रसप्रकृत्योपलक्षितं चतुष्कं त्रसचतुष्कम् , एतदनुसारतः समासोऽन्यत्रापि कार्यः, ततो यथासम्भवं पुनरपि समाहारद्वन्द्वश्च । तत्र त्रसचतुष्कं[1] यथा–त्रसं बादरं पर्याप्तं प्रत्येकमिति । स्थिरषट्कम्–स्थिरं शुभं सुभगं सुस्वरम् आदेयं यशःकीर्तिश्चेति । अस्थिरषट्कम्–अस्थिराऽशुभदुर्भगदुःस्वराऽनादेयाऽयशःकीर्तिस्वरूपम् । सूक्ष्मत्रिकम्–सूक्ष्माऽपर्याप्तसाधारणलक्षणम् । स्थावरचतुष्कम्—स्थावरसूक्ष्माऽपर्याप्तसाधारणाख्यम् । सुभगत्रिकम्—सुभगसुस्वराऽऽदेयाभिधम् । आदिशब्दाद् दुर्भगत्रिकम्–दुर्भगदुःस्वराऽनादेयस्वरूपं गृह्यते । ततः सूत्रपदे

१ ०ष्कं त्रसं क० ग० ॥

समासो यथा—सुभगत्रिकमादिर्यस्य दुर्भगत्रिकस्य तत् सुभगत्रिकादि तस्य विभाषा—प्ररूपणा कर्तव्येति शेषः । काभिः कृत्वा पुनस्त्रसचतुष्कादिका विभाषा कर्तव्या ? इत्याह—'तदादिसङ्ख्याभिः प्रकृतिभिः' सा—निर्दिष्टा प्रकृतिरादिर्यस्याः सङ्ख्यायाः सा तदादिः, तदादिः सङ्ख्या यासां प्रकृतीनां तास्तदादिसङ्ख्यास्ताभिस्तदादिसङ्ख्याभिः प्रकृतिभिः, कोऽर्थः ? याऽसौ प्रकृतिस्त्रसादिका निर्दिष्टा तामादौ कृत्वा निर्दिष्टसङ्ख्या पूरणीयेति । एताश्च संज्ञाः प्रकृतिपिण्डकसङ्ग्राहिण्यो यथास्थानमुपयोगमायास्यन्तीति कृत्वा प्ररूपिता इति ॥ २८ ॥

उक्ता नामकर्मणो द्वाचत्वारिंशद् भेदाः । अथ तस्यैव त्रिनवतिभेदान् प्ररूपयितुकामो गत्यादिपदानां पिण्डप्रकृतिसंज्ञिकानां मध्ये येन पदेन यावन्तो भेदाः पिण्डिता वर्तन्ते तान् भेदान् तेषामाह—

गइयाईण उ कमसो, चउपणपणतिपणपंचछच्छक्कं ।
पणदुगपणऽट्ठचउदुग, इय उत्तरभेयपणसट्ठी ॥ २९ ॥

'गत्यादीनां' पिण्डप्रकृतीनां पूर्वप्रदर्शितस्वरूपाणां पुनः 'क्रमशः' क्रमेण यथासङ्ख्यमिति यावत् चतुरादयो भेदा भवन्तीति वाक्यार्थः । तथाहि—गतिनाम चतुर्धा, जातिनाम पञ्चधा, तनुनाम पञ्चधा, उपाङ्गनाम त्रिधा, बन्धननाम पञ्चधा, सङ्घातननाम पञ्चधा, संहनननाम षोढा, संस्थाननाम षोढा, वर्णनाम पञ्चधा, गन्धनाम द्विधा, रसनाम पञ्चधा, स्पर्शनामाऽष्टधा, आनुपूर्वीनाम चतुर्धा, विहायोगतिनाम द्वेधा । एतेषां सर्वमीलने भेदाग्रमाह—"इय" त्ति 'इति' अमुना चतुरादिभेदमीलनप्रकारेणोत्तरभेदानां पञ्चषष्टिरिति ॥ २९ ॥

अडवीसजुया तिनवइ, संते वा पनरबंधणे तिसयं ।
बंधणसंघायगहो, तणूसु सामन्नवन्नचऊ ॥ ३० ॥

एषा पूर्वोक्ता पञ्चषष्टिः 'अष्टाविंशतियुता' प्रत्येकप्रकृत्यष्टाविंशत्या सह मीलने त्रिभिरधिका नवतिस्त्रिनवतिर्भवति । सा च क्वोपयुज्यते ? इत्याह—"संते" त्ति प्राकृतत्वात् सत्तायां सत्कर्म प्रतीत्य बोद्धव्येत्यर्थः । वाशब्दो विकल्पार्थो व्यवहितसंबन्धश्च, स चैवं योज्यते—'पञ्चदशबन्धनैस्त्रिशतं वा' पञ्चदशसङ्ख्यै र्वक्ष्यमाणस्वरूपैर्बन्धनैः प्रदर्शितत्रिनवतिमध्ये प्रक्षिप्तैस्त्रिभिरधिकं शतं त्रिशतं वा सत्तायामधिक्रियते इति शेषः । अथ त्रिनवतिमध्ये पञ्चदशानां प्रकृतीनां प्रक्षेपेऽष्टोत्तरं शतं भवतीति चेद् उच्यते—या वक्ष्यमाणाः पञ्चदश बन्धननामप्रकृतयस्तासु मध्यात् सामान्यत औदारिकादिबन्धनपञ्चकस्य त्रिनवतिमध्ये पूर्वं प्रक्षिप्तत्वात् शेषाणां दशानां प्रक्षेपे त्रिशतमेव भवतीति न कश्चिद्विरोधः । सूत्रे च "पनरबंधणे" इत्यत्र विभक्तिवचनव्यत्ययः प्राकृतत्वादिति । उक्ता नामकर्मणस्त्रिनवतिस्त्र्युत्तरशतं च भेदानाम् ।

अथ सप्तषष्टिभेदानाह—"बंधणसंघायगहो तणूसु" त्ति । बन्धनानि च पञ्चदश, सङ्घाताश्च—सङ्घातनानि पञ्च, बन्धनसङ्घातास्तेषां ग्रहणं ग्रहो बन्धनसङ्घातग्रहः । 'तनुषु' शरीरेषु, तनुग्रहणेनैव बन्धनसङ्घाता गृह्यन्ते न पृथग् विवक्ष्यन्त इत्यर्थः । तथा "सामन्नवन्नचऊ" त्ति सामान्यं—कृष्णनीलाद्यविशेषितं वर्णेनोपलक्षितं चतुष्कं सामान्यवर्णचतुष्कं गृह्यत इति शेषः । अयमत्राशयः—इह सप्तषष्टिमध्ये औदारिकादितनुपञ्चकमेव गृह्यते, न तद्बन्धनानि तत्सङ्घातनानि च, यत औदारिकतन्वा स्वजातीयत्वाद् औदारिकतनुसदृशानि बन्धनानि तत्सङ्घाताश्च गृहीताः, एवं वैक्रियादितन्वाऽपि निज[1]निजबन्धनसङ्घाता गृहीता इति न पृथगेते पञ्चदश बन्धनानि पञ्च सङ्घाता गण्यन्ते । तथा वर्णगन्धरसस्पर्शानां यथासङ्ख्यं पञ्चद्विपञ्चाऽष्टभेदैर्निष्पन्नां विंशतिमपनीय तेषामेव सामान्यं वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षणं चतुष्कं गृह्यते, ततश्चानन्तरोदितात् त्र्युत्तरशताद् वर्णादिषोडशकबन्धनपञ्चदशकसङ्घातपञ्चकलक्षणानां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनामपसारणे सति सप्तषष्टिर्भवतीति ॥ ३० ॥ एतदेवाह—

इय सत्तट्ठी बंधोदए य न य सम्ममीसया बंधे ।
बंधुदए सत्ताए, वीसदुवीसऽट्ठवन्नसयं ॥ ३१ ॥

'इति' पूर्वोक्तप्रकारेण सप्तषष्टिर्नामकर्मप्रकृतीनां भवति । सा च क्वोपयुज्यते ? इत्याह—"बंधोदए य" त्ति बन्धश्च उदयश्च बन्धोदयं तस्मिन् 'बन्धोदये' बन्धे च उदये च सप्तषष्टिर्भवति, चशब्दाद् उदीरणायां च सप्तषष्टिः । अथ बन्धनसङ्घातनवर्णादिविशेषाणां विवक्षावशादेव बन्धे नाधिकार इत्युक्तम्, सम्प्रति ययोः प्रकृत्योः सर्वथैव बन्धो न भवति ते आह—"न य सम्ममीसया बंधे" त्ति 'न च' नैव सम्यक्त्वमिश्रके बन्धेऽधिक्रियेते । अयमभिप्रायः—सम्यक्त्वमिश्रयोर्बन्ध एव न भवति, किन्तु मिथ्यात्वपुद्गलानामेव जीवः सम्यक्त्वगुणेन मिथ्यात्वरूपतामपनीय केषाञ्चिदत्यन्तविशुद्धिमापादयति, अपरेषां त्वीषद्विशुद्धिम्, केचित् पुनर्मिथ्यात्वरूपा एवावतिष्ठन्ते, तत्र येऽत्यन्तविशुद्धास्ते सम्यक्त्वव्यपदेशभाजः, ईषद्विशुद्धा मिश्रव्यपदेशभाजः, शेषा मिथ्यात्वमिति । उक्तं च—

सम्यक्त्वगुणेन ततो, विशोधयति कर्म तत् स मिथ्यात्वम् ।
यद्वच्छगणप्रमुखैः, शोध्यन्ते कोद्रवा मदनाः ॥
यत् सर्वथाऽपि तत्र विशुद्धं तद् भवति कर्म सम्यक्त्वम् ।
मिश्रं तु दरविशुद्धं, भवत्यशुद्धं तु मिथ्यात्वम् ॥

उदयोदीरणासत्तासु पुनः सम्यक्त्वमिश्रके अप्यधिक्रियेते । एवं च सति ज्ञानावरणे पञ्च,

---

१ ०जा निजा व० ख० ग० ङ० ॥

दर्शनावरणे नव, वेदनीये द्वे, मोहे सम्यक्त्वमिश्रवर्जाः षड्विंशतिः, आयुषि चतस्रः, नाम्नि भेदान्तरसम्भवेऽपि प्रदर्शितयुक्त्या सप्तषष्टिः, गोत्रे द्वे, अन्तराये पञ्च इत्येतद्विंशत्युत्तरं प्रकृतिशतं बन्धेऽधिक्रियते। एतदेव सम्यक्त्वमिश्रसहितं द्वाविंशत्युत्तरप्रकृतिशतमुदये उदीरणायां च। सत्तायां पुनः शेषकर्मणां पञ्चपञ्चाशत् नाम्नस्त्रिनवतिरित्यष्टाचत्वारिंशं शतम्, यद्वा शेषकर्मणां पञ्चपञ्चाशत् नाम्नस्त्र्युत्तरशतमित्यष्टापञ्चाशं शतमधिक्रियत इति। एतदेव मनसिकृत्याह—"बंधुदए सत्ताए" इत्यादि। इह शतशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् यथासङ्ख्यं बन्धे विंशं शतम्, उदये उपलक्षणत्वाद् उदीरणायां च द्वाविंशं शतम्, सत्तायामष्टपञ्चाशं शतम् उपलक्षणत्वादष्टाचत्वारिंशं शतमिति, भावना सुकरैव ॥ ३१ ॥

अथ पूर्वनिर्दिष्टान् गतिजातिप्रभृतीनां पिण्डप्रकृतीनां चतुरादिभेदान् व्याचिख्यासुराह—

निरयतिरिनरसुरगई, इगबियतियचउपणिंदिजाईओ।
[1]ओरालियवेउव्वियआहारगतेयकम्मइगा ॥ ३२ ॥

निरयाश्च तिर्यञ्चश्च नराश्च सुराश्च तेषु गतिरिति विग्रहः। भावार्थोऽयम्—गतिशब्दः प्रत्येकं योज्यते, ततश्च "अयमिष्टफलं दैवम्" इति वचनाद् निर्गतम् अयम्-इष्टफलं सातवेदनीयादिरूपं येभ्यस्ते निरयाः-सीमन्तकादयो नरकावासाः, ततो निरयेषु विषये गतिरिति गतिनाम निरयगतिनाम, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निरयगतिनाम, नारकशब्दव्यपदेश्यपर्यायनिबन्धनं निरयगतिनामेति हृदयम्। एवं तिर्यग्नरसुरगतिनामापि वाच्यम्।

अत्राह—ननु सर्वेऽपि पर्याया जीवेन गम्यन्ते प्राप्यन्त इति सर्वेषामपि तेषां गतित्वप्रसङ्गः, तथा च प्राग्गतिशब्दस्येयमेव व्युत्पत्तिर्दर्शितेति, नैवम्, यतोऽविशेषेण व्युत्पादिता अपि शब्दा रूढितो गोशब्दवत् प्रतिनियतमेवार्थं विषयीकुर्वन्तीत्यदोषः। उक्तं गतिनाम चतुर्विधम् १।

तथा सूचकत्वात् सूत्रस्य एकेन्द्रियाश्च द्वीन्द्रियाश्च त्रीन्द्रियाश्च चतुरिन्द्रियाश्च पञ्चेन्द्रियाश्च तेषां जातय इति विग्रहः। भावार्थोऽयम्-एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिनामभेदात् पञ्चधा जातिनाम। तत्र एकस्य स्पर्शनेन्द्रियज्ञानस्यावरणक्षयोपशमाद् एकविज्ञानभाज एकेन्द्रियाः, द्वयोः स्पर्शनरसनज्ञानयोरावरणक्षयोपशमाद् द्विविज्ञानभाजो द्वीन्द्रियाः, त्रयाणां स्पर्शनरसनघ्राणज्ञानानामावरणक्षयोपशमात् त्रिविज्ञानभाजस्त्रीन्द्रियाः, चतुर्णां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्ज्ञानानामावरणक्षयोपशमात् चतुर्विज्ञानभाजश्चतुरिन्द्रियाः, पञ्चानां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रज्ञानानामावरणक्षयोपशमात् पञ्चविज्ञानभाजः पञ्चेन्द्रियाः। तत एकेन्द्रियाणां

---

१ ओरालविउव्वाहारगतेयकम्मण पण सरीरा घ० ॥

जातिनाम एकेन्द्रियजातिनाम, एवं यावत् पञ्चेन्द्रियजातिनाम ।

अत्राह–ननु एतेन जातिनाम्ना किं भावेन्द्रियमेकादिकं जन्यते ? उत द्रव्येन्द्रियम् ? आहोस्विदेकेन्द्रियोऽयमित्यादिव्यपदेशः ? इति त्रयी गतिः । तत्र यद्याद्यः पक्षः स न युक्तः, भावेन्द्रियस्य श्रोत्रादीन्द्रियज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यत्वात् "क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि" इति वचनात् । अथ द्रव्येन्द्रियं जन्यते तदप्ययुक्तम्, द्रव्येन्द्रियस्येन्द्रियपर्याप्तिनामोदयजन्यत्वात् । एकेन्द्रियादिव्यपदेशस्त्वेकादीन्द्रियज्ञानावरणक्षयोपशमपर्याप्तिनामभ्यामेव सेत्स्यति किमन्तर्गडुना जातिनाम्ना ?, अत्रोच्यते—आद्यविकल्पयुगलं तावद् अनभ्युपगमादेव निरस्तम् । यत् पुनरुक्तम् 'एकेन्द्रियादिव्यपदेशस्तु' इत्यादि तदयुक्तम्, यत इन्द्रियज्ञानावरणक्षयोपशम इन्द्रियपर्याप्तिश्च यथाक्रमं भावेन्द्रियजनने द्रव्येन्द्रियजनने च कृतार्था कथमेकेन्द्रियादिव्यपदेशनिबन्धनपरिणतिलक्षणं कार्यान्तरं जनयितुमलम् ?, न ह्यन्यसाध्यं कार्यमन्यः साधयति, अतिप्रसङ्गात्, तस्माद् एकेन्द्रियादीनां समानजातीयजीवान्तरेण सह समाना बाह्या काचित् परिणतिरेकेन्द्रियादिशब्दवाच्या अवश्यं जातिनामकर्मोदयत एवाभ्युपगन्तव्या । उक्तं च–

अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा जातिः इति ।

तथाहि–बकुलादीनामनुमानादिसिद्धे इन्द्रियपञ्चकक्षयोपशमे सत्यपि पञ्चेन्द्रियशब्दव्यपदेश्यपञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयजन्यविशिष्टबाह्यपरिणत्यभावात् न पञ्चेन्द्रियव्यपदेशो भवति । यद्येवं गोतुरगभुजगमातङ्गादिक्रमे सत्यपि पञ्चेन्द्रियव्यपदेश्यस्यापि पर्यायस्य कारणं किञ्चित् कर्माभ्युपगन्तव्यम् ? इति चेद् नैवम्, जातिनामकर्मवैचित्र्यादेव तत्सिद्धेः । न चात्रैकान्तेन युक्त्युपन्यास एवाग्रहः कार्यः, आगमोपपत्तिगम्यत्वात् तत्त्वस्य । यदवादि—

आगमश्चोपपत्तिश्च, सम्पूर्णं ¹दृष्टिलक्षणम् ।
अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये ॥ इति ।

उक्तं जातिनाम पञ्चधा २ । तथा औदारिकं च वैक्रियं च आहारकं च तैजसं च कार्मिकं चेति द्वन्द्वः । भावार्थोऽयम्–औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणनामभेदात् पञ्चधा शरीरनाम । तत्र उदारं–प्रधानम्, प्राधान्यं चास्य तीर्थकरगणधरशरीरापेक्षया, ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्यापि अनन्तगुणहीनत्वात्, यद्वा उदारं–सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात् शेषशरीरापेक्षया बृहत्प्रमाणम्, बृहत्ता चास्य वैक्रियं प्रति भवधारणीयसहजशरीरापेक्षया द्रष्टव्या, अन्यथोत्तरवैक्रियं योजनलक्षमानमपि लभ्यते; उदारमेवौदारिकम्, "विनयादिभ्यः" (सि० ७–२–१६९)इतीकण्प्रत्ययः, तन्निबन्धनं नाम औदारिकनाम, यदुदयवशाद् औदारिकशरीरप्रायोग्यान्

---

१ विद्धि ल० ख ॥

पुद्गलानादाय औदारिकशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयति, तद् औदारिकशरीरनामेत्यर्थः १। तथा विविधा क्रिया विक्रिया तस्यां भवं वैक्रियम्। तथाहि–तदेकं भूत्वा अनेकं भवति, अनेकं भूत्वा एकम्, अणु भूत्वा महद् भवति, महच्च भूत्वा अणु, खेचरं भूत्वा भूमिचरं भवति, भूमिचरं भूत्वा खेचरं भवति, दृश्यं भूत्वा अदृश्यं भवति, अदृश्यं भूत्वा दृश्यमित्यादि। तच्च द्विधा––औपपातिकं लब्धिप्रत्ययं च। तत्रौपपातिकम्–उपपातजन्मनिमित्तम्, तच्च देवनारकाणाम्। लब्धिप्रत्ययं तिर्यङ्मनुष्याणाम्। वैक्रियनिबन्धनं नाम वैक्रियनाम, यदुदयाद् वैक्रियशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय वैक्रियशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयतीति २। तथा चतुर्दशपूर्वविदा तीर्थकरस्फातिदर्शनादिकतथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ सत्यां विशिष्टलब्धिवशाद् आह्रियते–निर्वर्त्यत इत्याहारकम्, "बहुलम्" (सि० ५–१–२) इति वचनात् कर्मणि णकप्रत्ययः, यथा पादहारक इत्यादौ, तच्च वैक्रियापेक्षयाऽत्यन्तशुभं स्वच्छस्फटिकशिलेव शुभ्रपुद्गलसमूहघटनात्मकम्, आहारकनिबन्धनं नाम आहारकनाम, यदुदयवशाद् आहारकशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय आहारकशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयतीति ३। तथा तेजसा तेजःपुद्गलैर्निर्वृत्तं तैजसम्, यद् भुक्ताहारपरिणमनहेतुर्यद्वशाच्च विशिष्टतपःसमुत्थलब्धिविशेषस्य पुंसस्तेजोलेश्याविनिर्गमः, तेजोनिबन्धनं नाम तैजसनाम, यदुदयवशात् तैजसशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय तैजसशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयतीति ४। तथा कर्मपरमाणुषु भवं कार्मिकं[1] कार्मणशरीरमित्यर्थः। कर्मपरमाणव एवात्मप्रदेशैः सह क्षीरनीरवदन्योऽन्यानुगताः सन्तः /कार्मणशरीरम्, कर्मणो विकारः कार्मणमिति व्युत्पत्तेः तदुक्तम्—

[2]कम्मविगारो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्नं।
सव्वेसिं सरीराणं, कारणभूयं मुणेयव्वं॥

अत्र "सव्वेसिं" ति सर्वेषामौदारिकादिशरीराणां 'कारणभूतं' बीजभूतं कार्मणशरीरम्। न खल्वामूलमुच्छिन्ने भवप्रपञ्चप्ररोहबीजभूते कार्मणे वपुषि शेषशरीरप्रादुर्भावसम्भवः। इदं च कार्मणशरीरं जन्तोर्गत्यन्तरसङ्क्रान्तौ साधकतमं कारणम्। तथाहि–कार्मणेनैव वपुषा परिकरितो जन्तुर्मरणदेशमपहायोत्पत्तिदेशमभिसर्पति। ननु यदि कार्मणवपुःपरिकरितो गत्यन्तरं

१ कार्मणं श० क० ख० ग० घ०॥ २ कर्मविकारः कार्मणमष्टविधविचित्रकर्मनिष्पन्नम्। सर्वेषां शरीराणां कारणभूतं ज्ञातव्यम्॥

सङ्क्रामति तर्हि स गच्छन्नागच्छन् वा कस्मात् नोपलक्ष्यते ? उच्यते—कर्मपुद्गलानामतिसूक्ष्मतया चक्षुरादीन्द्रियाऽगोचरत्वात् । आह च **प्रज्ञाकरगुप्तो**ऽपि—

अन्तरा भवदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वान्नोपलक्ष्यते ।
निष्क्रामन् प्रविशन् वाऽपि, नाभावोऽनीक्षणादपि ॥

कार्मणनिबन्धनं नाम कार्मणनाम, यदुदयात् कार्मणप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय कार्मणशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयतीति ५ ॥ ३२ ॥ उक्तं तनुनाम पञ्चधा ३, इदानीमङ्गोपाङ्गनाम त्रिधा प्राह—

बाहूरु [1]पिट्ठि सिर उर, उयरंग उवंग अंगुलीपमुहा ।
सेसा अंगोवंगा, पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ॥ ३३ ॥

'बाहू' भुजद्वयम् 'ऊरू' ऊरुद्वयम् 'पृष्ठिः' प्रतीता 'शिरः' मस्तकम् 'उरः' वक्षः 'उदरं' पोट्टमित्यष्टावङ्गान्युच्यन्ते । इह विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् , एवमन्यत्रापि । उपाङ्गानि अङ्गुलीप्रमुखाणि, इह पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् । 'शेषाणि' तत्प्रत्यवयवभूतान्यङ्गुलपर्वरेखादीनि अङ्गोपाङ्गानि, *इहापि पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् । प्राकृते हि लिङ्गमतन्त्रम् । यदाहुः प्रभुश्रीहेमचन्द्रसूरि*पादाः **स्वप्राकृतलक्षणे**—"लिङ्गमतन्त्रम्" (सि० ८-४-४४५) इति । इमानि च उपाङ्गानि "पढमतणुतिगस्स" त्ति प्रथमाः-आद्या यास्तनवः-शरीराणि तासां त्रिकं-त्रितयमौदारिकवैक्रियाऽऽहारकस्वरूपम् तस्य प्रथमतनुत्रिकस्य भवन्ति । ततः प्रथमतनुत्रिकद्वारेणाङ्गोपाङ्गनामापि त्रिविधं मन्तव्यम् । तथाहि—औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम आहारकाङ्गोपाङ्गनाम । तत्र यदुदयाद् औदारिकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तद् औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम १ । यदुदयाद् वैक्रियशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तद् वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम २ । यदुदयाद् आहारकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तद् आहारकाङ्गोपाङ्गनाम ३ । तैजसकार्मणयोस्तु जीवप्रदेशसंस्थानानुरोधित्वात् नास्त्यङ्गोपाङ्गसम्भव इति ॥ ३३ ॥

उक्तं त्रिविधमङ्गोपाङ्गनाम । साम्प्रतं बन्धननामस्वरूपमाह—

उरलाइपुग्गलाणं, निबद्धबज्झंतयाण संबंधं ।
जं कुणइ जउसमं तं, उरलाईबंधणं नेयं ॥ ३४ ॥

औदारिकादिपुद्गलानाम् आदिशब्दाद् वैक्रियपुद्गलानाम् आहारकपुद्गलानां तैजसपुद्गलानां कार्मणपुद्गलानाम् , किंविशिष्टानाम् ? इत्याह—"निबद्धबज्झंतयाण" त्ति निबद्धाश्च बध्यमानाश्च

१ पुट्ठि क० ख० ग० ङ० ॥ २ पेट्टमि० घ० ॥

निबद्धबध्यमानास्तेषां 'निबद्धबध्यमानानां' पूर्वबद्धानां बध्यमानानां च य कर्म 'सम्बन्धं' परस्परं मीलनं करोति दारूणामिव जतु, अत एव जतुसमं तद् औदारिकादिबन्धनम्, आदिशब्दाद् वैक्रियबन्धनम् आहारकबन्धनं तैजसबन्धनं कार्मणबन्धनं 'ज्ञेयं' ज्ञातव्यमिति गाथाक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयम्–इह पूर्वगृहीतैरौदारिकपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणान् औदारिकपुद्गलान् उदितेन येन कर्मणा बध्नाति–आत्मा अन्योन्यसंयुक्तान् करोति तद् औदारिकशरीरबन्धननाम दारुपाषाणादीनां जतुरालाप्रभृतिश्लेषद्रव्यतुल्यम् १। पूर्वगृहीतैर्वैक्रियपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणान् वैक्रियपुद्गलान् उदितेन येन कर्मणा बध्नाति–आत्माऽन्योऽन्यसंयुक्तान् करोति तद् जतुसमं वैक्रियशरीरबन्धननाम २। पूर्वगृहीतैराहारकशरीरपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणान् आहारकपुद्गलान् उदितेन येन कर्मणा बध्नाति–आत्माऽन्योऽन्यसंयुक्तान् करोति तद् जतुसममाहारकशरीरबन्धननाम ३। पूर्वगृहीतैस्तैजसपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणांस्तैजसपुद्गलान् उदितेन येन कर्मणा बध्नाति–आत्माऽन्योऽन्यसंयुक्तान् करोति तद् जतुसमं तैजसशरीरबन्धननाम ४। पूर्वगृहीतैः कार्मणपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणान् कार्मणपुद्गलान् उदितेन येन कर्मणा बध्नाति–आत्माऽन्योऽन्यसंयुक्तान् करोति तद् जतुसमं कार्मणशरीरबन्धननाम ५। यदि पुनरिदं शरीरपञ्चकपुद्गलानामौदारिकादिशरीरनाम्नः सामर्थ्याद्गृहीतानामन्योऽन्यसम्बन्धकारि बन्धनपञ्चकं न स्यात् ततस्तेषां शरीरपरिणतौ सत्यामप्यसम्बन्धत्वात् पवनाहतकुण्डस्थितास्तीमितसक्तूनामिवैकत्र स्थैर्यं न स्यादिति। ३४॥ उक्तं बन्धनस्वरूपम्। इदं च बन्धननाम असंहतानां पुद्गलानां न सम्भवति, अतोऽन्योऽन्यसन्निधानलक्षणपुद्गलसंहतेः कारणं सङ्घातनमाह—

जं संघायइ उरलाइपुग्गले तणगणं व दंताली।
तं संघायं बन्धणमिव तणुनामेण पंचविहं॥ ३५॥

यत् कर्म 'सङ्घातयति' पिण्डीकरोति औदारिकादिपुद्गलान् आदिशब्दाद् वैक्रियपुद्गलान् आहारकपुद्गलान् तैजसपुद्गलान् कार्मणपुद्गलान्, तत्र दृष्टान्तमाह–'तृणगणमिव' तृणोत्करमितश्चेतश्च विक्षिप्तं 'दन्ताली' काष्ठमयी मरुमण्डलप्रसिद्धा, तत् 'सङ्घातं' सङ्घातननाम, तच्च पूर्वोक्तं बन्धननामापि 'तनुनाम्ना' शरीराभिधानेन पञ्चविधं भवतीति। तत्र बन्धननाम पूर्वमेव भावितम्। अथ सङ्घातनाम भाव्यते—औदारिकसङ्घातनाम वैक्रियसङ्घातनाम आहारकसङ्घातनाम तैजससङ्घातनाम कार्मणसङ्घातनाम। तत्र यदुदयाद् औदारिकशरीरत्वपरिणतान् पुद्गलानात्मा सङ्घातयति–अन्योऽन्यसन्निधानेन व्यवस्थापयति तद् औदारिकसङ्घातननाम १। यदुदयाद् वैक्रियशरीरत्वपरिणतान् पुद्गलानात्मा सङ्घातयति–अन्योऽन्यसन्निधानेन

१ णमवि त० क०॥

व्यवस्थापयति तद् वैक्रियसङ्घातननाम २ । यदुदयाद् आहारकशरीरत्वपरिणतान् पुद्गलानात्मा सङ्घातयति—अन्योऽन्यसन्निधानेन व्यवस्थापयति तद् आहारकसङ्घातननाम ३ । यदुदयात् तैजसशरीरत्वपरिणतान् पुद्गलानात्मा सङ्घातयति—अन्योऽन्यसन्निधानेन व्यवस्थापयति तत् तैजससङ्घातननाम ४ । यदुदयात् कार्मणशरीरत्वपरिणतान् पुद्गलानात्मा सङ्घातयति—अन्योऽन्यसन्निधानेन व्यवस्थापयति तत् कार्मणसङ्घातननाम ५ इति ॥ ३५ ॥

उक्तं पञ्चधा बन्धननाम पञ्चधा सङ्घातननाम । सम्प्रति "संते वा पनरबंधणे तिसयं" इति (३०) गाथासूचितं बन्धनपञ्चदशकं व्याचिख्यासुराह—

ओरालविउव्वाहारयाण सगतेयकम्मजुत्ताणं ।
नव बंधणाणि इयरदुसहियाणं तिन्नि तेसिं च ॥ ३६ ॥

औदारिकवैक्रियाऽऽहारकशरीराणां नव बन्धनानीति योगः । कीदृशानां सताम् ? इत्याह—'स्वकतैजसकार्मणयुक्तानाम्, प्रत्येकं [1]स्वकतैजसकार्मणानां मध्यादन्यतरेण युक्तानामित्यर्थः । "नव" त्ति नवसङ्ख्यानि बन्धनानि बन्धनप्रकृतयो भवन्तीति । औदारिकवैक्रियाहारकाणां त्रयाणामपि प्रत्येकं स्वनाम्ना तैजसेन कार्मणेन च योगाद् द्विकसंयोगनिष्पन्नान्येकैकस्य औदारिकादेस्त्रीणि त्रीणि बन्धनानि भवन्ति, तेषां च त्रयाणां त्रिकाणां मीलने नव बन्धनानीति । तथाहि—औदारिकऔदारिकबन्धननाम १ औदारिकतैजसबन्धननाम २ औदारिककार्मणबन्धननाम ३, वैक्रियवैक्रियबन्धननाम १ वैक्रियतैजसबन्धननाम २ वैक्रियकार्मणबन्धननाम ३, आहारकाऽऽहारकबन्धननाम १ आहारकतैजसबन्धननाम २ आहारककार्मणबन्धननाम ३ । तत्र पूर्वगृहीतैरौदारिकशरीरपुद्गलैः सह गृह्यमाणौदारिकपुद्गलानां बन्धो येन क्रियते तद् औदारिकौदारिकबन्धननाम १ । येनौदारिकपुद्गलानां तैजसशरीरपुद्गलैः [2]सह सम्बन्धो विधीयते तद् औदारिकतैजसबन्धननाम २ । येनौदारिकपुद्गलानां कार्मणशरीरपुद्गलैः [3]सह सम्बन्धो विधीयते तद् औदारिककार्मणबन्धननाम ३। एवमनेन न्यायेनान्यान्यपि बन्धनानि वाच्यानि । शेषबन्धननिरूपणायाह—"इयरदुसहियाणं तिन्नि" त्ति इतरे—स्वकीयनामापेक्षयाऽन्ये तैजसकार्मणशरीरे, ततः प्राकृतत्वादन्यथोपन्यासेऽपि द्वे च ते इतरे च द्वीतरे ताभ्यां सहितानि—युक्तानि द्वीतरसहितानि, यद्वा "दु" त्ति द्विकं तत इतरच्च तद्द्विकं चेतरद्विकं तेन सहितानि इतरद्विकसहितानि तेषां द्वीतरसहितानाम् इतरद्विकसहितानां वा, औदारिकवैक्रियाहारकाणामत्रापि योज्यम्, त्रीणि बन्धनानि भवन्ति । अयमाशयः—प्रत्येकमौदारिकवैक्रियाहारकाणां तैजसकार्मणाभ्यां युगपत् संयोगे त्रिकसंयोगरूपाणि त्रीणि बन्धनानि भव-

१ स्वस्वतै० क० घ० ॥ २-३ ०ह बन्धो ख० ग० ङ० ॥

न्ति । तथाहि--औदारिकतैजसकार्मणबन्धननाम १ वैक्रियतैजसकार्मणबन्धननाम २ आहारकतैजसकार्मणबन्धननाम ३ । अर्थः पूर्वोक्त एव । न केवलमेषामौदारिकादीनामितरद्विकसहितानामेव त्रीणि बन्धनानि भवन्ति, किन्तु "तेसिं च" त्ति त्रीणीति शब्दो डमरुकमणिन्यायादत्रापि योज्यः । ततोऽयमर्थः—तयोश्चेतरशब्दवाच्ययोस्तैजसकार्मणयोः स्वनाम्ना इतरेण च योगे त्रीणि बन्धनानि भवन्ति । यथा—तैजसतैजसबन्धननाम १ तैजसकार्मणबन्धननाम २ कार्मणकार्मणबन्धननाम ३ । तदेवं नव त्रीणि त्रीणि च मिलितानि पञ्चदश बन्धनानीति ।

अत्राह—पञ्चानां शरीराणां द्विकादियोगप्रकारेण षड्विंशतिः संयोगा भवन्ति, तत्तुल्यबन्धनानि च कस्मात् न भवन्ति ? उच्यते—औदारिकवैक्रियाहारकाणां परस्परविरुद्धाऽन्योऽन्यसम्बन्धाभावात् पञ्चदशैव भवन्ति, नाधिकानि ।

आह—यथा पञ्चदश बन्धनानि भवन्ति, एवमनेनैव क्रमेण पञ्चदश सङ्घाता अपि कस्मात् नाभिधीयन्ते ? सङ्घातितानामेव बन्धनभावात् , तथाहि- पाषाणयुग्मस्य कृतसङ्घातस्यैवोत्तरकालं वज्रलेपलाक्षादिना बन्धनं क्रियते, तदसत् , यतो लोके ये स्वजातौ संयोगा भवन्ति त एव शुभाः, एवमिहापि स्वशरीरपुद्गलानां स्वशरीरपुद्गलैः सह ये संयोगरूपाः सङ्घातास्ते शुभा इति प्राधान्यख्यापनाय पञ्चैव सङ्घाता अभिहिता इति ॥ ३६ ॥

व्याख्यातानि पञ्चदशापि बन्धनानि । सम्प्रति संहनननाम षड्विधमभिधित्सुर्गाथायुगलमाह—

संघयणमट्ठिनिचओ, तं छद्धा वज्जरिसहनारायं ।
तह रिसहनारायं, नारायं अद्धनारायं ॥ ३७ ॥
कीलिय छेवट्ठं इह, रिसहो पट्टो य कीलिया वज्जं ।
उभओ मक्कडबंधो, नारायं इममुरालंगे ॥ ३८ ॥

संहन्यन्ते- दृढीक्रियन्ते शरीरपुद्गला येन तत् संहननम्, तच्च 'अस्थिनिचयः, कीलिकादिरूपाणामस्थ्नां निचयः-रचनाविशेषोऽस्थिनिचयः । तत् संहननं 'षड्धा' षट्प्रकारैर्भवति । तद्यथा—वज्रऋषभनाराचं १ तथा ऋषभनाराचम् २ इहानुस्वारोऽलाक्षणिकः, नाराचम् ३ अर्धनाराचं ४ कीलिका ५ सेवार्तम् ६ । 'इह' प्रवचने 'ऋषभः' ऋषभशब्देन परिवेष्टनपट्ट उच्यते, 'वज्र' वज्रशब्देन कीलिकाऽभिधीयते, 'नाराचं' नाराचशब्देनोभयतो मर्कटबन्धो भण्यते । 'इदम्' अस्थिनिचयात्मकं संहननम् 'औदारिकाङ्गे' औदारिकशरीर एव, नान्येषु शरीरेषु, तेषामस्थिरहितत्वात् । इति गाथायुगलाक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्—इह द्वयोरस्थ्नो-

१ ०कारैं क० ख० ग० ङ० ॥

रुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः पट्टाकृतिना तृतीयेन अस्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तदस्थित्रयभेदि-कीलिकाख्यं वज्रनामकमस्थि यत्र भवति तद् वज्रऋषभनाराचम् , तन्निबन्धनं नाम वज्रऋषभनाराचनाम १ । यत् पुनः कीलिकारहितं संहननं तद् ऋषभनाराचम् , तन्निबन्धनं नाम ऋषभनाराचनाम २ । यत्र पुनर्मर्कटबन्धः केवलो भवति न पुनः कीलिका ऋषभसंज्ञः पट्टश्च तद् नाराचम् , तन्निबन्धनं नाम नाराचनाम ३ । यत्र त्वेक[1]पार्श्वेन मर्कटबन्धो द्वितीयपार्श्वेन च कीलिका भवति तद् अर्धनाराचम् , तन्निबन्धनं नामाऽर्धनाराचनाम ४ । यत्र पुनरस्थीनि कीलिकामात्रबद्धान्येव भवन्ति तत् कीलिकासंहननम् , तन्निबन्धनं नाम कीलिकानाम ५ । यत्र तु परस्परं पर्यन्तस्पर्शलक्षणां सेवामागतान्यस्थीनि भवन्ति स्नेहाभ्यवहार-तैलाभ्यङ्गविश्रामणादिरूपां च परिशीलनां नित्यमपेक्षन्ते तत् सेवार्तम् , तन्निबन्धनं नाम सेवार्तनाम ६ । यद्वा "छेवट्ठ" ति दकारस्य लुप्तस्येह दर्शनात् छेदानाम्–अस्थिपर्यन्तानां वृत्तं–परस्परसम्बन्धघटनालक्षणं वर्तनं वृत्तिर्यत्र तत् छेदवृत्तम् , कीलिकापट्टमर्कटबन्धरहितमस्थिपर्यन्तमात्रसंस्पर्शि षष्ठमित्यर्थः । ततो यदुदयात् शरीरे वज्रऋषभनाराचसंहननं भवति तद् वज्रऋषभनाराचसंहनननामकर्मेति । एवमृषभनाराचादिष्वपि वाच्यमिति ॥३७॥३८॥

व्याख्यातं षड्विधं संहनननाम । सम्प्रति षोढा संस्थाननाम विवक्षुराह—

समचउरंसं निग्गोहसाइखुज्जाइँ वामणं हुंडं ।
संठाणा वन्ना किण्हनीललोहियहलिद्दसिया ॥३९॥

समचतुरस्रम् १ "निग्गोह" त्ति पदैकदेशेऽपि पदप्रयोगदर्शनात् न्यग्रोधपरिमण्डलम् २ [2]सादि ३ कुब्जम् ४ वामनम् ५ हुण्डम् ६ इति षट् 'संस्थानानि' अवयवरचनात्मकशरीराकृतिस्वरूपाणि शरीरे भवन्तीति शेषः । तत्र समाः–शास्त्रोक्तलक्षणाऽविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयः-पर्यङ्कासनोपविष्टस्य जानुनोरन्तरम् , आसनस्य ललाटोपरिभागस्य चान्तरम् , दक्षिणस्कन्धस्य वामजानुनश्चान्तरम् , वामस्कन्धस्य दक्षिणजानुनश्चान्तरमिति चतुर्दिग्विभागोपलक्षिताः शरीरावयवा यत्र तत् समचतुरस्रम् , "सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरस्रैणीपदाऽजपदप्रोष्ठपदभद्रपदम्" (सि० ७–३–१२९) इति सूत्रेण समासान्तोऽप्रत्ययः, समचतुरस्रं च तत् संस्थानं च समचतुरस्रसंस्थानम् । तुल्यारोहपरिणाहः सम्पूर्णलक्षणोपेताङ्गोपाङ्गावयवः स्वाङ्गुलाष्टाधिकशतोच्छ्रयः सर्वसंस्थानप्रधानः पञ्चेन्द्रियजीवशरीराकारविशेषः समचतुरस्रसंस्थानंनिबन्धनं नाम समचतुरस्रनाम १ । न्यग्रोधवत् परिमण्डलं यस्य तद् न्यग्रोधपरिमण्डलम् , यथा न्यग्रोधः-वटवृक्ष उपरि सम्पूर्णावयवोऽधस्तु हीनस्तथा यत् संस्थानं नाभेरुपरि सम्पूर्णावयवम् अधस्तु न

१ ०पार्श्वे म० क० ग० । एवमग्रेऽपि ॥ २ साचि ३ वामनम् ४ कुब्जम् ५ हु० ख० ग० ङ० ॥

तथा तद् न्यग्रोधपरिमण्डलम्, तन्निबन्धनं नाम न्यग्रोधपरिमण्डलनाम २ । सह आदिना–नाभेरधस्तनभागरूपेण यथोक्तप्रमाणयुक्तेन वर्तत इति सादि । सर्वमपि हि शरीरं सादि, ततः सादित्वविशेषणान्यथानुपपत्तेरादिरिह विशिष्टो ज्ञातव्यः । ततो यत्र नाभेरधो यथोक्तप्रमाण-युक्तमुपरि च हीनं तत् सादि संस्थानम्, तन्निबन्धनं नाम सादिनाम ३ । यत्र पाणिपाद-शिरोग्रीवं यथोक्तप्रमाणोपपन्नम् उरउदरादि च मडभं तत् कुब्जसंस्थानम्, तन्निबन्धनं नाम कुब्जनाम ४ । यत्र पुनरुरउदरादि यथोक्तप्रमाणोपेतं हस्तपादादिकं च हीनं तद् वामन-संस्थानम्, तन्निबन्धनं नाम वामननाम ५ । अन्ये तु कुब्जवामनयोर्विपरीतं लक्षणमाहुः । यत्र सर्वेऽप्यवयवाः शास्त्रोक्तप्रमाणहीनास्तत् सर्वत्रासंस्थितं [1]हुण्डसंस्थानम्, तन्निबन्धनं नाम हुण्ड-नाम ६ । ततो यदुदयाद् जन्तुशरीरं समचतुरस्रसंस्थानं भवति तत्कर्मापि समचतुरस्रसंस्थान-नामेति । एवं न्यग्रोधपरिमण्डलादिष्वपि योज्यम् । उक्तं षोढा संस्थाननाम ॥

इदानीं पञ्चधा वर्णनामाऽऽह–वर्णाः पञ्च भवन्ति कृष्ण१नील२लोहित३हरिद्र४सिताः ५ । तत्र यदुदयाद् जन्तुशरीरं कृष्णं भवति राजपट्टादिवत् तत्कर्मापि कृष्णनाम १ । यदुदयाद्-जन्तुशरीरं मरकतादिवद् नीलं भवति तद् नीलनाम २ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं लोहितं–रक्तं [2]हिङ्गुलादिवद् भवति तद् लोहितनाम ३ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं–हारिद्रं–पीतं हरिद्रावद् भवति तद् हारिद्रनाम ४ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं सितं–श्वेतं शङ्खादिवद् भवति तद् सितनाम ५ । कपिशादयस्त्वेतत्संयोगेनैवोत्पद्यन्ते, न पुनः सर्वथैतद्विलक्षणा इति न दर्शिताः ॥३९॥

उक्तं वर्णनाम पञ्चधा । अथ गन्धनाम द्विधाऽऽह—

सुरहिदुरही रसा पण, तित्तकडुकसायअंबिला महुरा ।
फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्हसिणिद्धरुक्खऽट्ठा ॥४०॥

इह गन्धशब्दः प्रक्रमाद् गम्यते, ततः सुरभिगन्धो दुरभिगन्धश्च द्वेधा गन्धः । तत्र सौमु-ख्यकृत् सुरभिगन्धः, यदुदयाद् जन्तुशरीरं कर्पूरादिवत् सुरभिगन्धं भवति तत् सुरभिगन्ध-नाम १ । वैमुख्यकृत् दुरभिगन्धः, यदुदयाद् जन्तुशरीरं लशुनादिवद् दुरभिगन्धं भवति तद् दुरभिगन्धनाम २ । अत्राप्युभयसंयोगजाः पृथग् नोक्ताः, एतत्संसर्गजत्वादेव भेदाविवक्ष-णात् । उक्तं द्विधा गन्धनाम ॥

अथ पञ्चधा रसनामाऽऽह–रसाः पूर्वोक्तशब्दार्थाः पञ्च भवन्ति । तथाहि–तिक्तकटु-कषायाऽम्लाश्चत्वारो मधुरश्च पञ्चमः । तत्र श्लेष्मादिदोषहन्ता निम्बाद्याश्रितस्तिक्तो रसः ।

तथा च भिषक्शास्त्रम्—

---

१ हुण्डं सं० ख० ग० ॥ २ ०ङ्गुलकादि० ख० ग० ङ० ॥

श्लेष्माणमरुचिं पित्तं, तृषं कुष्ठं विषं ज्वरम् ।
हन्यात् तिक्तो रसो बुद्धेः, कर्ता मात्रोपसेवितः ॥इति ।

यदुदयाद् जीवशरीरं निम्बादिवत् तिक्तं भवति तत् तिक्तनाम १ ।
गलामयादिप्रशमनो मरिचनागराद्याश्रितः कटुः । यदवादि—

कटुर्गलामयं शोफं, हन्ति युक्त्योपसेवितः ।
दीपनः पाचको रुच्यो, बृंहणोऽतिकफापहः ॥

यदुदयाद् जन्तुशरीरं मरिचादिवत् कटु भवति तत् कटुनाम २ ।
रक्तदोषाद्यपहर्ता बिभीतकाऽऽमलककपित्थाद्याश्रितः कषायः । यदभाणि—

रक्तदोषं कफं पित्तं, कषायो हन्ति सेवितः ।
रूक्षः शीतो गुरुग्राही, रोपणश्च स्वरूपतः ॥

यदुदयाद् जन्तुशरीरं बिभीतकादिवत् कषायं भवति तत् कषायनाम ३ ।
अग्निदीपनादिकृद् अम्लीकाद्याश्रितोऽम्लः । यदभ्यधायि—

अम्लोऽग्निदीप्तिकृत् स्निग्धः, शोकपित्तकफापहः ।
क्लेदनः पाचनो रुच्यो, मूढवातानुलोमकः ॥

यदुदयाद् जीवशरीरमम्लीकादिवद् अम्लं भवति तद् अम्लनाम ४ ।
पित्तादिप्रशमकः खण्डशर्कराद्याश्रितो मधुरः । यदवाचि—

पित्तं वातं कफं हन्ति, धातुवृद्धिकरो गुरुः ।
जीवनः केशकृद् बालवृद्धक्षीणौजसां हितः ॥

यदुदयाद् जन्तुशरीरमिक्ष्वादिवद् मधुरं भवति तद् मधुरनाम ५ । स्थानान्तरे स्तम्भिताहारविध्वंसादिकर्ता सिन्धुलवणाद्याश्रितो लवणोऽपि रसः पठ्यते, स चेह नोपात्तः, मधुरादिसंसर्गजत्वात् तदभेदेन विवक्षणात् । सम्भाव्यते च तत्र माधुर्यादिसंसर्गः, सर्वरसानां लवणप्रक्षेप एव स्वादुत्वोपपत्तेरिति । अभिहितं पञ्चधा रसनाम ॥

अधुना स्पर्शनाम अष्टधा प्राह—स्पृश्यन्त इति स्पर्शाः 'अट्ठ' अष्टसङ्ख्याका भवन्ति । तथाहि—गुरु१लघु२मृदु३खर४शीत५उष्ण६स्निग्ध७रूक्षाः ८ इति । तत्राधोगमनहेतुरयोगोलकादिगतो गुरुः १ । प्रायस्तिर्यगूर्ध्वगमनहेतुरर्कतूलादिनिश्रितो लघुः २ । सन्नतिकारणं तिनिसलतादिगतो मृदुः ३ । स्तब्धतादिकारणं दृषदादिगतः खरः ४ । देहस्तम्भादिहेतुः प्रालेयाद्याश्रितः शीतः ५ । आहारपाकादिकारणं ज्वलनाद्यनुगत उष्णः ६ । पुद्गलद्रव्याणां मिथः संयुज्यमानानां बन्धनिबन्धनं तैलादिस्थितः स्निग्धः ७ । पुद्गलद्रव्याणां मिथोऽसंयुज्य-

मानानामबन्धनिबन्धनं भस्माद्याधारो रूक्षः ८ । एतत्संसर्गजास्तु नोक्ताः, एष्वेवान्तर्भावादिति । ततो यदुदयाद् जन्तुशरीरं गुरु भवति वज्रादिवद् तद् गुरुस्पर्शनाम १ । यदुदयाद् जन्तुशरीरमर्कतूलादिवद् लघु भवति तद् लघुस्पर्शनाम २ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं हंसरूतादिवद् मृदु भवति तद् मृदुस्पर्शनाम ३ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं खरं-कर्कशं पाषाणादिवद् भवति तत् खरस्पर्शनाम ४ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं शीतं-शीतलं मृणालादिवद् भवति तत् शीतस्पर्शनाम ५ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं हुतभुजादिवद् उष्णं भवति तद् उष्णस्पर्शनाम ६ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं घृतादिवत् स्निग्धं भवति तत् स्निग्धस्पर्शनाम ७ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं भूत्यादिवत् रूक्षं भवति तद् रूक्षस्पर्शनाम ८ ॥ ४० ॥ उक्तमष्टधा स्पर्शनाम । इदानीं वर्णादिचतुष्कोत्तरविंशतिभेदानां शुभाशुभत्वयोरभिधित्सया प्राह—

नीलकसिणं दुगंधं, तित्तं कडुयं गुरुं खरं रुक्खं ।
सीयं च असुहनवगं, इक्कारसगं सुभं सेसं ॥४१॥

'नीलकृष्णं' नीलकृष्णाख्ये कर्मणी अशुभे, दुर्गन्धनाम, "तित्तं कडुयं" इति तिक्तकटुके रसनाम्नी, गुरु खरं रूक्षं शीतं चेति चत्वारि स्पर्शनामानि । एतानि च सर्वाण्यपि समुदितानि किमुच्यते ? इत्याह–'अशुभनवकं' नव प्रकृतयः परिमाणमस्य प्रकृतिवृन्दस्य तद् नवकम्, अशुभं च तद् नवकं च अशुभनवकम् । 'एकादशकम्' एकाद[१]शप्रकृतिसमूहरूपं, यथा रक्तपीतश्वेतवर्णाः, सुरभिगन्धः मधुराऽम्लकषायरसाः, लघुमृदुस्निग्धोष्णस्पर्शा इति 'शुभं' शुभविपाकवेद्यत्वात् शुभस्वरूपम् । कीदृक्षं तत् ? इत्याह–'शेषं' कुवर्णनवकाद् अवशिष्टम्, कोऽर्थः ? कुवर्णनवकात् शेषा एकादश वर्णादिभेदाः शुभवर्णैकादशकमुच्यत इति ॥४१॥

अधुना गतिनामातिदेशेनाऽऽनुपूर्वीचतुष्टयम्, आनुपूर्वीसम्बन्धेनोत्तरत्रोपयोगिप्रकृतिसमुदायसङ्ग्राहिनरकद्विकादिरूपं संज्ञान्तरं, विहायोगतिद्विकं चाभिधातुमाह–

चउह गइ व्वऽणुपुव्वी, गइपुव्विदुगं तिगं नियाउजुयं ।
पुव्वीउदओ वक्के, सुह असुह वसुट्ट विहगगई ॥४२॥

चतुर्धा गतिरिवाऽऽनुपूर्वी प्रागुक्तरूपा भवति । कोऽर्थः ? –गत्यभिधानव्यपदेश्यमानुपूर्वीनाम, ततो निरयानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्वीमनुष्यानुपूर्वीदेवानुपूर्वीभेदत आनुपूर्वीनाम चतुर्धेति तात्पर्यम् । तत्र नरकगत्या नामकर्मप्रकृत्या सहचरिताऽऽनुपूर्वी नरकगत्यानुपूर्वी, तत्समकालं चास्या वेद्यमानत्वात् तत्सहचरित्वम् । एवं तिर्यग्मनुष्यदेवाऽऽनुपूर्व्योऽपि वाच्याः । "गइपुव्विदुगं" ति इह पूर्वीशब्देनाऽऽनुपूर्वी भण्यते, आनुशब्दलोपः "ते लुग्वा" (सि० ३-२-

---

१ शसङ्ख्याप्रकृ० ख० ग० ङ० ॥

१०८) इति सूत्रेण, यथा देवदत्तः देवः दत्तः इति । ततो नरकादिगतिनरकाद्यानुपूर्वीस्वरूपं नरकादिद्विकमुच्यते । तदेव त्रिकमभिधीयते--गतिपूर्वीद्विकमिह काकाक्षिगोलकन्यायेन सम्बध्यते । कीदृक्षं तद् ? इत्याह-'निजायुयु तं'' नरकाद्यायुष्कसमन्वितं नरकादित्रिकमुच्यत इति हृदयम् । उपलक्षणत्वाद् वैक्रियषट्कं विकलत्रिकम् औदारिकद्विकं वैक्रियद्विकम् आहारकद्विकम् अगुरुलघुचतुष्कं वैक्रियाष्टकमित्याद्यनुक्तं संज्ञान्तरं ग्राह्यम् । तत्र देवगतिर्देवानुपूर्वी नरकगतिर्नरकानुपूर्वी वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गमिति वैक्रियषट्कम् । द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणां जातयो विकलत्रिकम् । औदारिकशरीरं औदारिकाङ्गोपाङ्गमित्यौदारिकद्विकम् । वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गमिति वैक्रियद्विकम् । आहारकशरीरम् आहारकाङ्गोपाङ्गमित्याहारकद्विकम् । देवगतिर्देवानुपूर्वी देवायुर्नरकगतिर्नरकानुपूर्वी नरकायुर्वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गमिति वैक्रियाष्टकम् । अगुरुलघु१उपघात२पराघात३उच्छ्वास४लक्षणमगुरुलघुचतुष्कमिति । ननु आनुपूर्व्या उदयो नरकादिषु किमृजुगत्या गच्छत आहोस्विद् वक्रगत्या ? इत्याशङ्क्याह-"पुव्वीउदओ वक्के'' त्ति पूर्व्याः-आनुपूर्व्या वृषभस्य नासिकारज्जुकल्पाया उदयः-विपाको वक्र एव भवति । अयमर्थः—नरके द्विसमयादिवक्रेण गच्छतो जीवस्य नरकानुपूर्व्या उदयः, तिर्यक्षु द्विसमयादिवक्रेण जीवस्य गच्छतस्तिर्यगानुपूर्व्या उदयः, मनुष्येषु द्विसमयादिवक्रेण गच्छतो जीवस्य मनुष्यानुपूर्व्या उदयः, देवेषु द्विसमयादिवक्रेण गच्छतो जीवस्य देवानुपूर्व्या उदयः । उक्तं च बृहत्कर्मविपाके—

[1]नरयाउयस्स उदए, नरए वक्केण गच्छमाणस्स ।
नरयाणुपुव्वियाए, तहिँ उदओ अन्नहिं नत्थि ॥ (गा०१२२)
एवं तिरिमणुदेवे, तेसु वि वक्केण गच्छमाणस्स ।
तेसिमणुपुव्वियाणं, तहिं उदओ अन्नहिं नत्थि ॥ (गा०१२३)

✓ तथा विहायसा-आकाशेन गतिर्विहायोगतिः, सा द्विधा-'शुभा' प्रशस्ता 'अशुभा' अप्रशस्ता । क्रमेणोदाहरणमाह—"वसुट्ट'' त्ति वृषः-वृषभः सौरभेयो बलीवर्द इति यावत्, ततो वृषस्य उपलक्षणत्वाद् गजकलभराजहंसादीनां प्रशस्ता विहायोगतिः । उष्ट्रः-करभः क्रमेलक इति यावत् , तत उष्ट्रस्य उपलक्षणत्वात् खरतिड्डादीनामप्रशस्ता विहायोगतिरिति ॥४२॥

व्याख्याताः पिण्डप्रकृतीनामुत्तरभेदाः, साम्प्रतमष्टौ प्रत्येकप्रकृतीरभिधित्सुराह—

परघाउदया पाणी, परेसि बलिणं पि होइ दुद्धरिसो ।
ऊससणलद्धिजुत्तो, हवेइ ऊसासनामवसा ॥४३॥

---

१ नरकायुष उदये नरके वक्रेण गच्छतः । नरकानुपूर्व्यास्तत्रोदयोऽन्यत्र नास्ति ॥ एवं तिर्यग्मनुष्यदेवेषु तेष्वपि वक्रेण गच्छतः । तेषामानुपूर्वीणां तत्रोदयोऽन्यत्र नास्ति ॥

परान् आहन्ति–परिभवति परैर्वा न हन्यते–नाभिभूयत इति पराघातम्, तन्निबन्धनं नाम पराघातनाम। ततः 'पराघातोदयात्' पराघातनामकर्मविपाकात् 'प्राणी' जन्तुः 'परेषाम्' अन्येषां 'बलिनामपि' बलवतामपि आस्तां दुर्बलानामित्यपिशब्दार्थः, 'भवति' जायते 'दुर्धर्षः' अनभिभवनीयमूर्तिः। अयमर्थः—यदुदयात् परेषां दुष्प्रधर्षः–महौजस्वी दर्शनमात्रेण वाक्सौष्ठवेन वा महाभूपसभामपि गतः सभ्यानामपि क्षोभमुत्पादयति प्रतिपक्षप्रतिभाप्रतिघातं च करोति तत् पराघातनामेत्यर्थः १। 'उच्छ्वासनामवशाद्' उच्छ्वासनामकर्मोदयेन 'उच्छ्वसनलब्धियुक्तो भवति' उच्छ्वासलब्धिसमन्वितो जायते, यदुदयाद् उच्छ्वसनलब्धिरात्मनो भवति तद् उच्छ्वासनाम २। सर्वलब्धीनां क्षायोपशमिकत्वाद् औदयिकी लब्धिर्न सम्भवतीति चेत्, नैतदस्ति, वैक्रियाहारकलब्धीनामौदयिकीनामपि सम्भवाद्, वीर्यान्तरायक्षयोपशमोऽपि चात्र निमित्तीभवतीति सत्यप्यौदयिकत्वे क्षायोपशमिकव्यपदेशोऽपि न विरुध्यते ॥४३॥

रविबिंबे उ जियंगं, तावजुयं आयवाउ न उ जलणे।
जमुसिणफासस्स तहिं, लोहियवन्नस्स उदउ त्ति ॥४४॥

'आतपाद्' आतपनामोदयाद् जीवानामङ्ग-शरीरं 'तापयुतं' स्वयमनुष्णमप्युष्णप्रकाशयुक्तं भवति। आतपस्य पुनरुदयो रविबिम्ब एव, तुशब्द एवकारार्थः। कोऽर्थः?—भानुमण्डलादिपार्थिवशरीरेष्वेव 'न तु' न पुनः 'ज्वलने' हुतभुजि। अत्र युक्तिमाह–'यद्' यस्मात् कारणात् 'तत्र' ज्वलने–ज्वलनजन्तुशरीरे तेजस्कायशरीर इत्यर्थः उष्णस्पर्शस्योदयस्तथा लोहितवर्णस्योदय इति, तेजस्कायशरीराण्येवोष्णस्पर्शोदयेनोष्णानि लोहितवर्णनामोदयात्तु प्रकाशयुक्तानि भवन्ति, न त्वातपोदयादिति भावः। यदुदयाद् जन्तुशरीराण्यात्मनाऽनुष्णान्यप्युष्णप्रकाशरूपमातपं कुर्वन्ति तद् आतपनामेत्यर्थः ३ ॥४४॥

अणुसिणपयासरूवं, जियंगमुज्जोयए इहुज्जोया।
जइदेवुत्तरविक्कियजोइसखज्जोयमाइ व्व ॥४५॥

इह 'उद्योताद्' उद्योतनामोदयेन 'जीवाङ्गं' जन्तुशरीरम् 'उद्योतते' उद्योतं करोति, कथम्? इत्याह—अनुष्णप्रकाशरूपम्, उष्णप्रकाशरूपं हि वह्निरप्युद्योतत इति तद्व्यवच्छेदार्थमनुष्णप्रकाशरूपमित्युक्तम्। आह क इवोद्योतोदयाद् जन्तुशरीराण्यनुष्णप्रकाशरूपमुद्योतं कुर्वन्ति? इत्याह—'यतिदेवोत्तरवैक्रियज्योतिष्कखद्योतादय इव' तत्र यतयश्च–साधवः देवाश्च–सुराः यतिदेवाः, यतिदेवैर्मूलशरीरापेक्षयोत्तरकालं क्रियमाणं वैक्रियं यतिदेवोत्तरवैक्रियम्, ज्योतिष्काः–चन्द्रग्रहनक्षत्रताराः, खद्योताः–प्रतीताः, ततो यतिदेवोत्तरवैक्रियं च ज्योतिष्काश्च

१ ०सनिःश्वासल० सं० ग० ङ० ॥

खद्योताश्च ते आदिर्येषां रत्नौषधीप्रभृतीनां ते यतिदेवोत्तरवैक्रियज्योतिष्कखद्योतादयस्त इव। अत्र मकारोऽलाक्षणिकः । अयमर्थः—यथा यतिदेवोत्तरवैक्रियं चन्द्रग्रहादिज्योतिष्काः खद्योता रत्नौषधीप्रभृतयश्चानुष्णप्रकाशात्मकमुद्योतं विदधति तथा यदुदयाद् जन्तुशरीराण्यनुष्णप्रकाशरूपमुद्योतमातन्वन्ति तद् उद्योतनामेत्यर्थः ४ ॥ ४५ ॥

अंगं न गुरु न लहुयं, जायइ जीवस्स अगुरुलहुउदया ।
तित्थेण तिहुयणस्स वि, पुज्जो से उदओ केवलिणो ॥४६॥

'अगुरुलघूदयाद्' अगुरुलघुनामोदयेन जीवस्य 'अङ्गं' शरीरं न गुरु न लघु 'जायते' भवति किन्तु अगुरुलघु । यत एकान्तगुरुत्वे हि वोढुमशक्यं स्यात्, एकान्तलघुत्वे तु वायुनाऽपह्रियमाणं धारयितुं न पार्येत । यदुदयाद् जन्तुशरीरं न गुरु न लघु नापि गुरुलघु किन्त्वगुरुलघुपरिणामपरिणतं भवति तद् अगुरुलघुनामेत्यर्थः ५ । 'तीर्थेन' तीर्थकरनामकर्मवशात् 'त्रिभुवनस्यापि' देवमानवदानवलक्षणत्रिलोकलोकस्यापि 'पूज्यः' अभ्यर्चनीयो भवति । 'से' तस्य तीर्थकरनामकर्मणः 'उदयः' विपाकः 'केवलिनः' उत्पन्नकेवलज्ञानस्यैव । यदुदयाद् जीवः सदेवमनुजासुरलोकपूज्यमुत्तमोत्तमं "[1]तित्थं भंते ! तित्थं ? तित्थयरे तित्थं ? गोयमा ! अरिहा ताव नियमा तित्थंकरे, तित्थं पुण चाउवन्ने समणसंघे पढमगणहरे वा ॥" (भग० श० २० उ० ८ पत्र ७९२-२) इति परममुनिप्रणीतधर्मतीर्थस्य प्रवर्तयितृपदमवाप्नोति तत् तीर्थकरनामेत्यर्थः ६ ॥४६॥

अंगोवंगनियमणं, निम्माणं कुणइ सुत्तहारसमं ।
उवघाया उवहम्मइ, सतणुवयवलंबिगाईहिं ॥४७॥

'निर्माणं' निर्माणनाम 'अङ्गोपाङ्गनियमनम्' अङ्गप्रत्यङ्गानां नियतप्रदेशव्यवस्थापनं 'करोति' विदधाति, [2]अत एवेदं 'सूत्रधारसमं' सूत्रभृत्कल्पम् । यदुदयाद् जन्तुशरीरेष्वङ्गोपाङ्गानां प्रतिनियतस्थानवृत्तिता भवति तत् सूत्रधारकल्पं निर्माणनामेत्यर्थः । तदभावे हि तद्भृतककल्पैरङ्गोपाङ्गनामादिभिर्निर्वर्तितानामपि शिरउदरादीनां स्थानवृत्तेरनियमः स्यात् ७। 'उपघाताद्' उपघातनामोदयाद् 'उपहन्यते' विनाश्यते जन्तुः, कैः ? इत्याह—स्वा—स्वकीया तनुः—शरीरं स्वतनुस्तस्या अवयवाः—अंशा ये लम्बिकादयः, आदिशब्दात् प्रतिजिह्वाचौरदन्तादिपरिग्रहस्तैः, "सतणुवयव" इत्यत्र अकारलोपः प्राकृतत्वात् । यदुदयात् स्वशरीरान्तःप्रवर्धमानैर्लम्बिकाप्रतिजिह्वाचौरदन्तादिभिर्जन्तुरुपहन्यते तद् उपघातनामेत्यर्थः ८ ॥४७॥

---

१ तीर्थं भदन्त ! तीर्थम् ? तीर्थकरस्तीर्थम् ? गौतम ! अर्हंस्तावन्नियमात् तीर्थङ्करः, तीर्थं पुनश्चतुर्वर्णः श्रमणसङ्घः प्रथमगणधरो वा ॥ २ ततः सू० ख० ॥

व्याख्याता अष्टौ प्रत्येकप्रकृतयः। साम्प्रतं त्रसदशकं व्याख्यानयन्नाह—

बितिचउपणिंदिय तसा, बायरओ बायरा जिया थूला।
नियनियपज्जत्तिजुया, पज्जत्ता लद्धिकरणेहिं ॥४८॥

त्रस्यन्ति—उष्णाद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानाद् उद्विजन्ते गच्छन्ति च छायाद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसाः, तत्पर्यायविपाकवेद्यं कर्मापि त्रसनाम। ततः 'त्रसात्' त्रसनामोदयाद् जीवाः "बितिचउपणिंदिय" ति इन्द्रियशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्वे इन्द्रिये स्पर्शनरसनलक्षणे येषां ते द्वीन्द्रियाः, शङ्खचान्दनककपर्दजलूकाकृमिगण्डोलकपूतरकादयो भवन्ति। त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणलक्षणानीन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः, यूकामत्कुणगर्दभेन्द्रगोपककुन्थु[1]मत्कोटकादयः। चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्लक्षणानीन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः, मक्षिका-भ्रमरमशकवृश्चिकादयः। पञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्ररूपाणीन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः, मत्स्यमकरहरिहरिणसारसराजहंसनरसुरनारकादयो भवन्तीति। यदुदयाद् जीवास्त्रसा द्वित्रि-चतुःपञ्चेन्द्रिया भवन्ति तत् त्रसनामेत्यर्थः १। 'बादराद्' बादरनामोदयाद् 'जीवाः' जन्तवो बादराः—स्थूला भवन्ति।

बादरत्वं चेह न चक्षुर्ग्राह्यत्वमिष्टम्, बादरस्याप्येकैकस्य पृथिव्यादिशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वा-भावात्। तस्माद् जीवविपाकित्वेन जीवस्यैव कश्चिद् बादरपरिणामं जनयति एतद्, न पुद्गलेषु, किन्तु जीवविपाक्यप्येतत् शरीरपुद्गलेष्वपि काञ्चिदप्यभिव्यक्तिं दर्शयति। तेन बादराणां बहुतरसमुदितपृथिव्यादीनां चक्षुषा ग्रहणं भवति, न सूक्ष्माणाम्। जीवविपाकिकर्मणः शरीरे स्वशक्तिप्रकटनमयुक्तमिति चेत्, नैवम्, जीवविपाक्यपि क्रोधो भ्रूभङ्गत्रिवलीतरङ्गितालिक-फलकक्षरत्स्वेदजलकणनेत्राद्याताम्रत्वपरुषवचनवेपथुप्रभृतिविकारं कुपितनरशरीरेऽपि दर्शयति, विचित्रत्वात् कर्मशक्तेरिति।

यदुदयाद् जीवा बादरा भवन्ति तद् बादरनामेत्यर्थः २। 'पर्याप्तात्' पर्याप्तनामोदयाद् जीवा निजनिजपर्याप्तियुता भवन्ति। तत्र पर्याप्तिर्नाम पुद्गलोपचयजः पुद्गलग्रहणपरिणमनहेतुः —शक्तिविशेषः, सा च विषयभेदात् षोढा—आहारपर्याप्तिः १ शरीरपर्याप्तिः २ इन्द्रियपर्याप्तिः ३ उच्छ्वासपर्याप्तिः ४ भाषापर्याप्तिः ५ मनःपर्याप्तिः ६ चेति। तत्र यया बाह्यमाहारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति सा आहारपर्याप्तिः १। यया रसीभूतमाहारं रसासृग्मांसमेदोऽस्थि-मज्जाशुक्रलक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्तिः २। यया धातुरूपतया परिण-मितमाहारमिन्द्रियरूपतया परिणमयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः ३। यया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्ग-

[1] ०मत्कोटका० ख० घ० ङ०॥

णादलिकमादाय उच्छ्वासरूपतया परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्याप्तिः ४ । यया तु भाषाप्रायोग्यवर्गणाद्रव्यं गृहीत्वा भाषात्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा भाषापर्याप्तिः ५ । यया पुनर्मनोयोग्यवर्गणादलिकं गृहीत्वा मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा मनःपर्याप्तिः ६ । एताश्च यथाक्रममेकेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां च चतुःपञ्चषट्सङ्ख्या भवन्ति । तथा वैक्रियशरीरिणां शरीरपर्याप्तिरेवैका आन्तर्मौहूर्तिकी, शेषाः पञ्चाप्येकसामयिक्यः । औदारिकशरीरिणां पुनराहारपर्याप्तिरेवैका एकसामयिकी, शेषाः पुनरान्तर्मौहूर्तिक्यः । आह च —

'वेउव्वियपज्जत्ती, सरीर अंतमुहु सेस इगसमया ।
आहारे इगसमया, सेसा अंतमुहु ओराले ॥

ततः पर्याप्तयो विद्यन्ते येषां "अभ्रादिभ्यः" (सि० ७-२-४६) इति अप्रत्यये ते पर्याप्ताः, तद्विपाकवेद्यं कर्मापि पर्याप्तनाम । यदुदयात् स्वपर्याप्तियुक्ता भवन्ति जीवास्तत् पर्याप्तनामेत्यर्थः ३ । ते च पर्याप्ता द्विधा—लब्ध्या करणैश्च । तत्र ये स्वयोग्यपर्याप्तीः सर्वा अपि समर्थ्य म्रियन्ते नार्वाक् ते लब्धिपर्याप्ताः, ये च पुनः करणानि—शरीरेन्द्रियादीनि निर्वर्तितवन्तस्ते करणपर्याप्ता इति ।

ननु च शरीरपर्याप्त्यैव शरीरं भविष्यति, किं प्रागभिहितेन शरीरनाम्ना ?, नैतदस्ति साध्यभेदात् । तथाहि—शरीरनाम्नो जीवेन गृहीतानां पुद्गलानामौदारिकादिशरीरत्वेन परिणतिः साध्या, शरीरपर्याप्तेः पुनरारब्धशरीरस्य परिसमाप्तिरिति । अथ प्रागुक्तेनोच्छ्वासनाम्नैवोच्छ्वसनस्य सिद्धत्वात् इहोच्छ्वासपर्याप्तिर्निर्विषयेति, नैवम्, सतीमप्युच्छ्वासनामोदयेन जनितामुच्छ्वसनलब्धिमात्मा शक्तिविशेषरूपामुच्छ्वासपर्याप्तिमन्तरेण व्यापारयितुं न शक्नुयात् । यथा हि शरीरनामोदयेन गृहीता अप्यौदारिकादिशरीरपुद्गलाः शक्तिविशेषरूपां शरीरपर्याप्तिं विना शरीररूपतया परिणमयितुं न शक्यन्त इति शरीरनाम्नः पृथग् इष्यते शरीरपर्याप्तिः, एवमत्राप्युच्छ्वासनाम्नः पृथगुच्छ्वासपर्याप्तिरेष्टव्या, तुल्ययुक्तित्वादिति ॥४८॥

पत्तेय तणू पत्तेउदयेणं दंतअट्ठिमाइ थिरं ।
नाभुवरि सिराइ सुहं, सुभगाओ सव्वजणइट्ठो ॥४९॥

'प्रत्येकोदयेन' प्रत्येकनामकर्मोदयवशाद् जन्तूनां 'प्रत्येकं तनुः' पृथक् पृथक् शरीरं भवति, यदुदयाद् एकैकस्य जन्तोरेकैकं शरीरमौदारिकं वैक्रियं वा भवति तत् प्रत्येकनामे-

---

१ वैक्रियपर्याप्तिः शरीरे आन्तर्मौहूर्तिकी शेषा एकसामयिक्यः । आहारे (पर्याप्तिः) एकसामयिकी शेषा आन्तर्मौहूर्तिक्य औदारिके ॥

त्यर्थः ४ । 'स्थिरं' स्थिरनामोदयेन दन्ताऽस्थ्यादि निश्चलं भवति, यदुदयात् शिरोऽस्थिग्रीवादीनामवयवानां स्थिरता भवति तत् स्थिरनामेत्यर्थः ५ । 'शुभं' शुभनामोदयात् नाभ्युपरि शिरआदिर्भवति, यदुदयाद् नाभेरुपर्यवयवाः शुभा भवन्ति तत् शुभनाम, शिरःप्रभृतिभिः स्पृष्टः परो हृष्यतीति तेषां शुभत्वम् ६ । 'सुभगात्' सुभगनामोदयेन सर्वजनेष्टो भवति, यदुदयाद् अनुपकार्यपि सर्वस्य मनःप्रियो भवति तत् सुभगनामेत्यर्थः ७ । तदभ्यधायि—

[1]अणुवकए वि बहूणं, होइ पिओ तस्स सुभगनामुदओ त्ति ।
सुभगुदए वि हु कोई, कंची आसज्ज दूभगो जइ वि ।
जायऍ तद्दोसाओ, जहा अभव्वाण तित्थयरो ॥

सुसरा महुरसुहझुणी, आइज्जा सव्वलोयगज्झवओ ।
जसओ जसकित्ति इओ, थावरदसगं विवज्जत्थं ॥५०॥

'सुस्वरात्' सुस्वरनामोदयेन मधुरः—माधुर्यगुणालङ्कृतः सुखयतीति सुखः—सुखदो ध्वनिः-स्वरो भवति, यदुदयाद् जीवस्य स्वरः श्रोत्रप्रीतिहेतुर्भवति तत् सुस्वरनामेत्यर्थः ८ । 'आदेयाद्' आदेयनामोदयेन सर्वलोकेन समस्तजनेन ग्राह्यम्—आदेयं वचः—वचनं यस्य स तथा, यदुदयाद् यत्किञ्चिदपि ब्रुवाणो जीवः सर्वस्योपादेयवचनो भवति, दर्शनसमनन्तरमेव तस्याभ्युत्थानादि समाचरति तद् आदेयनामेत्यर्थः ९ । "जसउ" [2]त्ति यशःकीर्तिनामोदयाद् यशःकीर्तिर्भवति । तत्र सामान्यतस्तपःशौर्यत्यागादिसमुपार्जितयशसा कीर्तनं—संशब्दनं श्लाघनं यशःकीर्तिरुच्यते । यद्वा—

दानपुण्यकृता कीर्तिः, पराक्रमकृतं यशः ।

अथवा—

एकदिग्गामिनी कीर्तिः, सर्वदिग्गामुकं यशः । १० इति ।

व्याख्यातं त्रसदशकम् । सम्प्रति स्थावरदशकं व्याचिख्यासुरतिदिशति—'इतः' त्रसदशकात् स्थावरदशकं 'विपर्यस्तं' विपरीतार्थं भवति । तथाहि—तिष्ठन्तीत्येवंशीला उष्णाद्यभितापेऽपि तत्परिहाराऽसमर्थाः स्थावराः, "स्थेशभासपिसकसो वरः" (सि० ५-२-८२) इति वरप्रत्ययः, पृथिवीकायिका अप्कायिकास्तेजस्कायिका वायुकायिका वनस्पतिकायिका एकेन्द्रियाः, तद्विपाकवेद्यं कर्मापि स्थावरनाम । तेजोवायूनां तु स्थावरनामोदयेऽपि चलनं स्वाभाविकमेव,

१ अनुपकृतेऽपि बहूनां भवति प्रियस्तस्य सुभगनामोदयः ॥ सुभगोदयेऽपि खलु कश्चिन् कञ्चिदासाद्य दुर्भगो यद्यपि । जायते तद्दोषात् यथाऽभव्यानां तीर्थकरः ॥ २ °त्ति यशसः यशोनामकर्मोदयेन यशःकी° ग० ॥

न पुनरुष्णाद्यभितापेन द्वीन्द्रियादीनामिव विशिष्टम् १ इति । यदुदयात् सूक्ष्माः पृथिवीकायिकादयः पञ्च भवन्ति तदपि जीवविपाकि सूक्ष्मनामकर्म २ इति । यदुदयात् पूर्वोक्तस्वयोग्यपर्याप्तिपरिसमाप्तिविकला जन्तवो भवन्ति तद् अपर्याप्तनाम, अपर्याप्तयो विद्यन्ते येषां तेऽपर्याप्ता इति कृत्वा, तन्निबन्धनं नाम अपर्याप्तनाम । तत्र द्वेधा अपर्याप्ताः–लब्ध्या करणैश्च । तत्र येऽपर्याप्तका एव सन्तो म्रियन्ते, न पुनः स्वयोग्यपर्याप्तीः सर्वा अपि समर्थयन्ति, ते लब्ध्यपर्याप्ताः । ये पुनः करणानि–शरीरेन्द्रियादीनि न तावत् निर्वर्तयन्ति, अथ चावश्यं पुरस्ताद् निर्वर्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्ताः । इह चैवमागमः–लब्ध्यपर्याप्ता अपि नियमादाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तावेव म्रियन्ते नार्वाक्, यस्मादागामिभवायुर्बद्ध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिनः, तच्चाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपर्याप्तानामेव बध्यत इति ३ । यदुदयाद् अनन्तानां जीवानां साधारणम्–एकं शरीरं भवति तत् साधारणनाम ४ । यदुदयात् कर्णभ्रूजिह्वाद्यवयवा अस्थिराः–चपला भवन्ति तद् अस्थिरनाम ५ । यदुदयाद् नाभेरधः पादादीनामवयवानामशुभता भवति तद् अशुभनाम, पादादिना हि स्पृष्टः परो रुष्यतीति तेषामशुभत्वम् । कामिनीव्यवहारेण व्यभिचार इति चेत् , नैवम् , तस्य मोहनिबन्धनत्वात् , वस्तुस्थितिश्चेह चिन्त्यत इति ६ । यदुदयवशाद् उपकारकृदपि जनस्याऽप्रियो भवति तद् दुर्भगनाम । उक्तं च—

[1]उवगारकारगो वि हु, न रुचई दूभगो उ जस्सुदए । ७ इति ।

यदुदयात् खरभिन्नहीनस्वरो भवति तद् दुःस्वरनाम ८ । यदुदयवशाद् युक्तियुक्तमपि ब्रुवाणो नाऽऽदेयवचनो भवति न च लोकोऽभ्युत्थानादि तस्य करोति तद् अनादेयनाम ९ । यदुदयात् पूर्वप्रदर्शिते यशःकीर्ती न भवतस्तद् अयशःकीर्तिनाम १० इति ॥५०॥

व्याख्यातं द्विचत्वारिंशद्भेदं त्रिनवतिभेदं त्र्युत्तरशतभेदं सप्तषष्टिभेदं षष्ठं नाम । सम्प्रति द्विभेदं गोत्रकर्माभिधित्सुराह—

गोयं दुहुच्चनीयं, कुलाल इव सुघडभुंभलाईयं ।
विग्घं दाणे लाभे, भोगुवभोगेसु विरिए य ॥५१॥

गोत्रं प्राग्वर्णितशब्दार्थं 'द्विधा' द्विभेदम् , कथम्? इत्याह—'उच्चनीचं' उच्चं च नीचं च उच्चनीचम् , उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रमित्यर्थः । एतच्च 'कुलाल इव' कुम्भकारतुल्यम् । शोभनो घटः सुघटः–पूर्णकलशः, भुम्भलं–मद्यस्थानम् , सुघटभुम्भले आदी यस्य तत्कृतोपकरणस्य तत् सुघटभुम्भलादि करोतीति शेषः । अयमत्र भावः–यथा हि कुलालः पृथिव्यास्तादृशं पूर्णकलशादिरूपं करोति यादृशं लोकात् कुसुमचन्दनाक्षतादिभिः पूजां लभते, स एव भुम्भ-

१ उपकारकारकोऽपि हि न रोचते दुर्भगस्तु यस्योदये ॥

लादि तादृशं विदधाति यादृशमप्रक्षिप्तमग्र्यमपि लोकाद् निन्दां लभते; तथा यदुदयाद् निर्धनः कुरूपो बुद्ध्यादिपरिहीणोऽपि पुरुषः सुकुलजन्ममात्रादेव लोकात् पूजां लभते तद् उच्चैर्गोत्रम् १; यदुदयात् पुनर्महाधनोऽप्रतिरूपरूपो बुद्ध्यादिसमन्वितोऽपि पुमान् विशिष्टकुलाऽभावाद् लोकाद् निन्दां प्राप्नोति तद् नीचैर्गोत्रम् २ इति । उक्तं द्विविधं गोत्रकर्म ॥

अथ विघ्नकर्म पञ्चधा व्याख्यानयन्नाह—"विग्घं दाणे लाभे" इत्यादि । विशेषेण हन्यन्ते-तद्दानादिलब्धयो विनाश्यन्तेऽनेनेति विघ्नम्—अन्तरायकर्म । तच्च विषयभेदात् पञ्चधेति दर्शयति—दीयत इति दानं तस्मिन्, लभ्यत इति लाभस्तस्मिन्, भुज्यते—सकृदुपभुज्यत इति भोगः पुष्पाहारादिः, उपेति—पुनः पुनर्भुज्यत इति उपभोगो भ[1]वनाऽऽसनाङ्गनादि । उक्तं च—

[2]सइ भुज्जइ त्ति भोगो, सो पुण आहारपुप्फमाईसु ।

उवभोगो उ पुणो पुण, उवभुज्जइ भवणवणियाई ॥ (बृ०क०वि० गा० १६४)

ततो भोगश्च उपभोगश्च भोगोपभोगौ तयोः, प्राकृतवशाच्च द्विवचनस्थाने बहुवचनं भवति, यदाहुः श्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः **स्वप्राकृतलक्षणे**—"द्विवचनस्य बहुवचनम्" (सि० ८-३-१३०) इति । विशेषेण ईर्यते—चेष्टयतेऽनेनेति वीर्यम्, यद्वा विविधम्—अनेकप्रकारमीरयति—यत् प्राणिनं क्रियासु तद् वीर्यं सामर्थ्यं शक्तिरिति पर्यायास्तस्मिन् 'चः' समुच्चये, सर्वत्र विघ्नमिति योज्यम् । विषयसप्तमी चेयं सर्वत्र । ततो दानादिविषयभेदतो दानादिविषयं पञ्चधा विघ्नं कर्म भवतीति वाक्याक्षरार्थः भावार्थस्त्वयम्—सत्यपि दातव्ये वस्तुनि, आगते च गुणवति पात्रे, जानन्नपि दानफलं, यदुदयाद् दातुं नोत्सहते तद् दानान्तरायम् १ । यदुदयाद् विशिष्टेऽपि दातरि, विद्यमानेऽपि देये वस्तुनि, याच्ञाकुशलोऽपि याचको न लभते तद् लाभान्तरायम् २ । यदुदयात् सति विभवादौ सम्पद्यमाने चाहारमाल्यादौ विरतिहीनोऽपि न भुङ्क्ते तद् भोगान्तरायम् ३ । यदुदयाद् विद्यमानमपि वस्त्रालङ्कारादि नोपभुङ्क्ते तद् उपभोगान्तरायम् ४ । यदुदयवशाद् बलवान् नीरुजो वयःस्थो[3]ऽपि च तृणकुब्जीकरणेऽप्यसमर्थस्तद् वीर्यान्तरायम् ५ इति ॥ ५१ ॥ एतच्च भाण्डागारिकसममिति दर्शयन्नाह—

सिरिहरियसमं एयं, जह पडिकूलेण तेण रायाई ।
न कुणइ दाणाईयं, एवं विग्घेण जीवो वि ॥ ५२ ॥

श्रियो गृहं श्रीगृहं—भाण्डागारं तद् विद्यते यस्य स श्रीगृहिकः—भाण्डागारिकस्तेन समं-तुल्यमेतदन्तरायकर्म । यथा 'तेन' श्रीगृहिकेण 'प्रतिकूलेन' अननुकूलेन 'राजादिः' राजा-

१ ०वनवसनाङ्ग० ग० ङ०॥ २ सकृद्भुज्यते इति भोगः स पुनराहारपुष्पादिषु । उपभोगस्तु पुनः पुनरुपभुज्यते भवनवनितादि ॥ ३ ०ऽथ च ख०ग०ङ० ॥

नृपतिः, आदिशब्दात् श्रेष्ठीश्वरतलवरादिपरिग्रहः 'न करोति' कर्तुं न पारयति दानादि, आदिशब्दाद् लाभभोगोपभोगादिग्रहणम् । 'एवम्' अमुना श्रीगृहिकदृष्टान्तेन 'विघ्नेन' अन्तरायकर्मणा 'जीवोऽपि' जन्तुरपि दानादि कर्तुं न पारयतीति ॥ ५२ ॥

व्याख्यातं पञ्चविधमन्तरायं कर्म, तद्व्याख्याने च समर्थिता "इह नाणदंसणावरणवेय" (गा० ३) इत्यादिमूलगाथा । अथ "कीरइ जिएण हेऊहिँ जेण तो भण्णए कम्मं" (गा० १) इत्यादौ यदुक्तं तद्व्याख्यानार्थं यस्य कर्मणो ये बन्धहेतवस्तान् क्वचन हेतुद्वारेण क्वाऽपि च हेतुमद्द्वारेण दिदर्शयिषुराह—

पडिणीयत्तण निन्हव, उवघाय पओस अंतराएणं ।
अच्चासायणयाए, आवरणदुगं जिओ जयइ ॥ ५३ ॥

'आवरणद्विकं' ज्ञानावरणदर्शनावरणरूपं जीवः 'जयति' धातूनामनेकार्थत्वाद् बध्नातीति सम्बन्धः । तत्र ज्ञानस्य—मत्यादेर्ज्ञानिनां—साध्वादीनां ज्ञानसाधनस्य—पुस्तकादेः 'प्रत्यनीकत्वेन' तदनिष्टाचरणलक्षणेन 'निह्नवेन' न मया तत्समीपेऽधीतमित्यादिस्वरूपेण 'उपघातेन' मूलतो विनाशस्वरूपेण 'प्रद्वेषेण' आन्तराप्रीतिरूपेण 'अन्तरायेण' भक्तपानवसनोपाश्रयलाभनिवारणलक्षणेन 'अत्याशातनया' च जात्याद्युद्घट्टनादिहीलारूपया ज्ञानावरणं कर्म जयतीति सर्वत्र द्रष्टव्यम् । एतच्चोपलक्षणम् , अतो ज्ञान्यवर्णवादेन आचार्योपाध्यायाद्यविनयेनाऽकालस्वाध्यायकरणेन काले च स्वाध्यायाऽविधानेन प्राणिवधाऽनृतभाषणस्तैन्याऽब्रह्मपरिग्रहरात्रिभोजनाऽविरमणादिभिश्च ज्ञानावरणं जयतीत्याद्यपि वक्तव्यमिति । एवं दर्शनावरणेऽपि वाच्यम् , नवरं दर्शनाभिलापो वक्तव्यः । तथाहि-दर्शनस्य—चक्षुर्दर्शनादेर्दर्शनिनां—साध्वादीनां दर्शनसाधनस्य-श्रोत्रनयननासिकादेः **सम्मत्यनेकान्तजयपताका**दिप्रमाणशास्त्रपुस्तकादेर्वा प्रत्यनीकत्वेन[1]— तदनिष्टाचरणलक्षणेन, निह्नवेन-न मया तत्समीपेऽधीतमित्यादिस्वरूपेण, उपघातेन-मूलतो विनाशेन, प्रद्वेषेण—आन्तराप्रीत्यात्मकेन, अन्तरायेण—भक्तपानवसनोपाश्रयलाभनिवारणेन, अत्याशातनया च—जात्यादिहीलया दर्शनावरणं कर्म जयतीति सर्वत्र द्रष्टव्यम् । उपलक्षणमिदम् , अतो दर्शनिनां दूषणग्रहणेन श्रवणकर्तननेत्रोत्पाटननासाच्छेदजिह्वाविकर्तनादिना प्राणिवधाऽनृतभाषणस्तैन्याऽब्रह्मपरिग्रहरात्रिभोजनाऽविरमणादिभिश्च दर्शनावरणं जयतीत्याद्यपि वक्तव्यम् । यदवादि श्रीहेमचन्द्रसूरिप्रभुपादैः—

ज्ञानदर्शनयोस्तद्वत् , तद्धेतूनां च ये किल । विघ्ननिह्नवपैशून्याऽऽशातनाघातमत्सराः ॥
ते ज्ञानदर्शनावारकर्महेतव आश्रवाः । (योगशा० टी० पत्र ३०६-२) ॥ ५३ ॥

---

१ कत्वनिह्नवोपघातान्तरायात्याशातनादिभिर्दर्श० क०ध०पुस्तकयोरेवं पाठः ॥

उक्ता ज्ञानावरणदर्शनावरणबन्धहेतवः इदानीं वेदनीयस्य द्विविधस्यापि तानाह—

गुरुभत्तिखंतिकरुणावयजोगकसायविजयदाणजुओ ।

दढधम्माई अज्जइ, सायमसाय विवज्जयओ ॥ ५४ ॥

इह युतशब्दस्य प्रत्येकं योगः, ततो गुरवः—मातापितृधर्माचार्यादयस्तेषां भक्तिः-आसनादि-प्रतिपत्तिर्गुरुभक्तिस्तया युतो गुरुभक्तियुतः—गुरुभक्तिसमन्वितो जन्तुः 'सातं' सातवेदनीयम् 'अर्जयति' समुपार्जयतीति सम्बन्धः । 'क्षान्तियुतः' क्षमान्वितः 'करुणायुतः' दयापरिंतचेताः 'व्रतयुतः' महाव्रताऽणुव्रतादिसमन्वितः 'योगयुतः' दशविधचक्रवालसामाचार्याद्याचरणप्रगुणः 'कषायविजययुतः' क्रोधादिकषायपरिभवनशीलः 'दानयुतः' दानरुचिः 'दृढधर्मः' आपत्स्वपि निश्चलधर्मः, आदिशब्दाद् बालवृद्धग्लानादिवैयावृत्त्यकरणशीलो जिनचैत्यपूजापरायणश्च सातम् 'अर्जयति' बध्नाति । यदवाचि—

[1]देवपूजागुरूपास्तिपात्रदानदयाक्षमाः । (योगशा० टी० पत्र ३०६-२)

सरागसंयमो देशसंयमोऽकामनिर्जरा । शौचं बालतपश्चेति, सद्वेद्यस्य स्युराश्रवाः ॥

(योगशा० टी० पत्र ३०६-२)

तथा 'विपर्ययतः' सातबन्धविपर्ययेण असातमर्जयति, तथाहि—गुरूणामवज्ञायकः क्रोधनो निर्दयो व्रतयोगविकल उत्कटकषायः कार्पण्यवान् सद्धर्मकृत्यप्रमत्तः हस्त्यश्वबलीवर्दादि-निर्दयदमनवाहनलाञ्छनादिकरणप्रवणः स्वपरदुःखशोकवधतापक्रन्दनपरिदेवनादिकारकश्चेति । यदभ्यधायि—

दुःखशोकवधास्तापक्रन्दने परिदेवनम् । स्वान्योभयस्थाः स्युरसद्वेद्यस्यामी इहाश्रवाः ॥

(योगशा० टी० पत्र ३०६-२) ॥ ५४ ॥

उक्ता वेदनीयस्य बन्धहेतवः । साम्प्रतं मोहनीयस्य द्विविधस्यापि तानाह—

उम्मग्गदेसणामग्गनासणादेवदव्वहरणेहिं ।

दंसणमोहं जिणमुणिचेइयसंघाइपडिणीओ ॥ ५५ ॥

उन्मार्गस्य--भवहेतोर्मोक्षहेतुत्वेन देशना--कथनमुन्मार्गदेशना, मार्गस्य--ज्ञानदर्शनचारित्रल-क्षणस्य मुक्तिपथस्य नाशना अपलपनं मार्गनाशना, देवद्रव्यस्य चैत्यद्रव्यस्य हरणं-भक्षणोपेक्षण-प्रज्ञाहीनत्वलक्षणम् , तत उन्मार्गदेशना च मार्गनाशना च देवद्रव्यहरणं [2]च तैर्हेतुभिर्जीवः 'दर्शनमोहं' मिथ्यात्वमोहनीयमर्जयति । तथा 'जिनमुनिचैत्यसङ्घादिप्रत्यनीकः' तत्र जिनाः—तीर्थकराः, मुनयः—साधवः, चैत्यानि—प्रतिमारूपाणि, सङ्घः—साधुसाध्वीश्रावकश्राविकाल-

१ देवपूजा गुरूपास्तिः पात्रदानं दया क्षमा । इति योगशास्त्रे ॥ २ च इति हेतु० क० ग० घ० ॥

क्षणः, आदिशब्दात् सिद्धगुरुश्रुतादिपरिग्रहः, तेषां प्रत्यनीकः--अवर्णवादाशातनाद्यनिष्टनिर्वर्तको दर्शनमोहमर्जयति ।। यदभाणि—

वीतरागे श्रुते सङ्घे, धर्मे सर्वसुरेषु च । अवर्णवादिता तीव्रमिथ्यात्वपरिणामिता ॥
सर्वज्ञसिद्धदेवापह्नवो धार्मिकदूषणम् । उन्मार्गदेशनानर्थाग्रहोऽसंयतपूजनम् ॥
असमीक्षितकारित्वं, गुर्वादिष्ववमानना । इत्यादयो दृष्टिमोहस्याश्रवाः परिकीर्तिताः ॥
(योगशा० टी० पत्र ३०७-१) ॥ ५५ ॥

दुविहं पि चरणमोहं, कसायहासाइविसयविवसमणो ।
बंधइ नरयाउ महारंभपरिग्गहरओ रुद्दो ॥ ५६ ॥

'द्विविधमपि' द्विभेदमपि 'चरणमोहं' चारित्रमोहनीयं -कषायमोहनीयनोकषायमोहनीयरूपं जीवो बध्नातीति सम्बन्धः । किंविशिष्टः ? इत्याह—'कषायहास्यादिविषयविवशमनाः' तत्र कषायाः--क्रोधादय उक्तस्वरूपाः षोडश, हास्यादयः-हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा इति गृह्यन्ते, विषयाः--शब्दरूपरसगन्धस्पर्शाख्याः पञ्च, ततः कषायाश्च हास्यादयश्च विषयाश्च कषायहास्यादिविषयास्तैर्विवशं--विसंस्थुलं पराधीनं मनः—मानसं यस्य स कषायहास्यादिविषयविवशमनाः । इदमत्र हृदयम्—कषायविवशमनाः कषायमोहनीयं बध्नाति, हास्यादिविवशमनास्तु हास्यादिमोहनीयं--हास्यमोहनीयरतिमोहनीयाऽरतिमोहनीयशोकमोहनीयभयमोहनीयजुगुप्सामोहनीयाख्यं नोकषायमोहनीयं बध्नाति विषयविवशमनाः पुनर्वेदत्रयाख्यं नोकषायमोहनीयं बध्नाति । सामान्यतः सर्वेऽपि कषायहास्यादिविषया द्विविधस्यापि चारित्रमोहनीयस्य बन्धहेतवो भवन्ति । यत्प्रत्यपादि—

कषायोदयतस्तीव्रः, परिणामो य आत्मनः [1] चारित्रमोहनीयस्य, स आश्रव उदीरितः ॥
उत्प्रासनं सकन्दर्पोपहासो हासशीलता । बहुप्रलापो दैन्योक्तिर्हास्यस्यामी स्युराश्रवाः ॥
देशादिदर्शनौत्सुक्यं, चित्रे रमणखेलने । परिचित्तावर्जना चेत्याश्रवाः कीर्तिता रतेः ॥
असूया पापशीलत्वं, परेषां रतिनाशनम् । अकुशलप्रोत्साहनं, चारतेराश्रवा अमी ॥
स्वयं भयपरीणामः, परेषामथ भापनम् । त्रासनं निर्दयत्वं च, भयं प्रत्याश्रवा अमी ॥
परशोकाविष्करणं, स्वशोकोत्पादशोचने । रोदनादिप्रसक्तिश्च, शोकस्यैते स्युराश्रवाः ॥
चतुर्वर्णस्य सङ्घस्य, परिवादजुगुप्सने । सदाचारजुगुप्सा च, जुगुप्सायां स्युराश्रवाः ॥
ईर्ष्या विषादगार्ध्ये च, मृषावादोऽतिवक्रता । परदाररतासक्तिः, स्त्रीवेदस्याश्रवा इमे ॥
स्वदारमात्रसन्तोषोऽनीर्ष्या मन्दकषायता । अवक्राचारशीलत्वं, पुंवेदस्याश्रवा इति ॥

१ ०वर्जनं योगशास्त्रे ॥

स्त्रीपुंसानङ्गसेवोग्राः, कषायास्तीव्रकामता। पाखण्डिस्त्रीव्रतभङ्गः, षण्ढवेदाश्रवा अमी ॥
साधूनां गर्हणा धर्मोन्मुखानां विघ्नकारिता। मधुमांसविरतानामविरत्यभिवर्णनम् ॥
विरताविरतानां चान्तरायकरणं मुहुः। अचारित्रगुणाख्यानं, तथा चारित्रदूषणम् ॥
कषायनोकषायाणामन्यस्थानामुदीरणम्। चारित्रमोहनीयस्य, सामान्येनाश्रवा अमी ॥
(योगशा० टी० पत्र ३०७-१)

अभिहिता मोहनीयस्य बन्धहेतवः। सम्प्रति चतुर्विधस्याप्यायुषस्तानाह—"बंधइ नरयाउ" इत्यादि। 'बध्नाति' अर्जयति 'नरकायुः' नारकायुष्कं जीवः। किंविशिष्टः ? इत्याह—'महारम्भ-परिग्रहरतः' महारम्भरतो महापरिग्रहरतश्चेत्यर्थः। 'रौद्रः' रौद्रपरिणामो गिरिभेदसमानकषाय-रौद्रध्यानाऽऽरूषितचेतोवृत्तिरित्यर्थः। उपलक्षणत्वात् पञ्चेन्द्रियवधादिपरिग्रहः। यन्न्यगादि—

पञ्चेन्द्रियप्राणिवधो, बह्वारम्भपरिग्रहौ। निरनुग्रहता मांसभोजनं स्थिरवैरता ॥
रौद्रध्यानं मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिकषायता। कृष्णनीलकापोताश्च, लेश्या अनृतभाषणम् ॥
परद्रव्यापहरणं, मुहुर्मैथुनसेवनम्। अवशेन्द्रियता चेति, नरकायुष आश्रवाः ॥
(योगशा० टी० पत्र ३०७-१) ॥ ५६ ॥

उक्ता नरकायुषो बन्धहेतवः। इदानीं तिर्यगायुषस्तानाह—

निरियाउ गूढहियओ, सढो ससल्लो तहा मणुस्साउं।
पयईइ तणुकसाओ, दाणरुई मज्झिमगुणो य ॥ ५७ ॥

तिर्यगायुर्बध्नाति जीवः, किंविशिष्टः ? इत्याह—'गूढहृदयः' उदायिनृपमारकादिवत् तथा आत्माभिप्रायं सर्वथैव निगूहति यथा नापरः कश्चिद् वेत्ति, 'शठः' वचसा मधुरः, परिणामे तु दारुणः, 'सशल्यः' रागादिवशाऽऽचीर्णाऽनेकव्रतनियमाऽतिचारस्फुरदन्तःशल्योऽनालोचिताऽ-प्रतिक्रान्तः, तथाशब्दाद् उन्मार्गदेशनादिपरिग्रहः। उक्तं च—

उन्मार्गदेशना मार्गप्रणाशो गूढचित्तता। आर्तध्यानं सशल्यत्वं, मायारम्भपरिग्रहौ ॥
— शीलव्रते सातिचारो, नीलकापोतलेश्यता। अप्रत्याख्यानकषायास्तिर्यगायुष आश्रवाः ॥
(योगशा० टी० पत्र ३०७-२)

उक्तास्तिर्यगायुर्बन्धहेतवः। अथ मनुष्यायुषस्तानाह-"मणुस्साउं" इत्यादि। मनुष्यायुर्जीवो बध्नाति, किंविशिष्टः ? इत्याह—'प्रकृत्या' स्वभावेनैव 'तनुकषायः' रेणुराजिसमानकषायः, 'दानरुचिः' यत्र तत्र वा दानशीलः, मध्यमास्तदुचिताः केचिद् गुणाः—क्षमामार्दवाऽऽर्जवादयो

---

१ ०तभ्रंशः योगशास्त्रे ॥ २ ०ग्रहाः ख० ग० ङ० ॥ ३ ०नाः क० योगशास्त्रे ॥ ४ ०णुस्साउ इ० क० ख० ग० ङ० ॥

यस्य स मध्यमगुणः अधमगुणस्य हि नरकायुःसम्भवाद्, उत्तमगुणस्य तु सिद्धेः सुरलोकायुषो वा सम्भवादिति भावः । चशब्दाद् अल्पपरिग्रहाऽल्पारम्भादिपरिग्रहः । आह च—

अल्पौ परिग्रहारम्भौ, सहजे मार्दवाऽऽर्जवे । कापोतपीतलेश्यात्वं, धर्मध्यानानुरागिता ॥
प्रत्याख्यानकषायत्वं, परिणामश्च मध्यमः । संविभागविधायित्वं, देवतागुरुपूजनम् ॥
पूर्वालापप्रियालापौ, सुखप्रज्ञापनीयता । लोकयात्रासु माध्यस्थ्यं, मानुषायुष आश्रवाः ॥
(योगशा० टी० पत्र० ३०७-२)

उक्ता मनुष्यायुषो बन्धहेतवः । सम्प्रति देवायुषस्तानाह—

अविरयमाइ सुराउं, बालत[1]वोऽकामनिज्जरो जयइ ।
सरलो अगारविल्लो, सुहनामं अन्नहा असुहं ॥५८॥

'अविरतः' अविरतसम्यग्दृष्टिः 'सुरायुः' देवायुष्कं 'जयति' बध्नाति, आदिशब्दाद् देशविरतसरागसंयतपरिग्रहः । वीतरागसंयतस्त्वतिविशुद्धत्वादायुर्न बध्नाति, घोलनापरिणाम एव तस्य बध्यमानत्वात् । बालं तपो यस्य सः 'बालतपाः' अनधिगतपरमार्थस्वभावो दुःखगर्भमोहगर्भवैराग्योऽज्ञानपूर्वकनिर्वर्तिततपःप्रभृतिकष्टविशेषो मिथ्यादृष्टिः, सोऽप्यात्मगुणानुरूपं किञ्चिद्सुरादिकायुर्बध्नाति । यदाह भगवान् **भाष्यकारः**—

[2]बालतवे पडिबद्धा, उक्कडरोसा तवेण गारविया ।
वेरेण य पडिबद्धा, मरिउं असुरेसु उववाओ ॥ (बृ० संग्र० गा० १६०)

अकामस्य—अनिच्छतो निर्जरा—कर्मविघटनलक्षणा यस्यासावकामनिर्जरः । इदमुक्तं भवति—"[3]अकामतण्हाए अकामछुहाए अकामबंभचेरवासेणं अकामसीयायवदंसमसगअण्हाणगसेयजल्लमलपंकपरिग्गहेणं दीहरोगचारगनिरोहबंधणयाए गिरितरुसिहरनिवडणयाए जलजलणपवेसअणसणाईहिं" उदकराजिसमानकषायस्तदुचितशुभपरिणामः किञ्चिद् व्यन्तरादिकायुर्बध्नाति । उपलक्षणत्वात् कल्याणमित्रसम्पर्कमानसो धर्मश्रवणशील इत्यादिपरिग्रहः । यदाहुः—

सरागसंयमो देशसंयमोऽकामनिर्जरा । कल्याणमित्रसम्पर्को, धर्मश्रवणशीलता ॥
पात्रे दानं तपः श्रद्धा, रत्नत्रयाऽविराधना । मृत्युकाले परिणामो, लेश्ययोः पद्मपीतयोः ॥
बालतपोऽग्नितोयादिसाधनोल्लम्बनानि च । अव्यक्तसामायिकता, देवस्यायुष आश्रवाः ॥
(योगशा० टी० पत्र ३०७-२)

---

१ ०तवाऽका० क०ख०ग०ङ० २ बालतपसि प्रतिबद्धा उत्कटरोषास्तपसा गर्विताः । वैरेण च प्रतिबद्धाः (तेषां) मृत्वा असुरेषु उपपातः । ३ अकामतृष्णया अकामक्षुधया अकामब्रह्मचर्यवासेन अकामशीतातपदंशमशकास्नानकस्वेदजल्लमलपङ्कपरिग्रहेण दीर्घरोगचारकनिरोधबन्धनतया गिरितरुशिखरनिपतनतया जलज्वलनप्रवेशानशनादिभिः ॥

उक्ता देवायुषो बन्धहेतवः। सम्प्रति नामकर्म यद्यपि द्विचत्वारिंशदादिभेदादनेकधा तथापि शुभाशुभविवक्षया द्विविधमित्यस्य द्विविधस्यापि बन्धहेतूनाह–"सरलो" इत्यादि। 'सरलः' सर्वत्र मायारहितः, गौरवाणि–ऋद्धिरससातलक्षणानि विद्यन्ते यस्य स गौरववान्, न गौरववान् अगौरववान् 'आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणा मतोः" (सि० ८-२ १५९) इति प्राकृतसूत्रेण मतोः स्थाने इल्लादेशः। उपलक्षणत्वात् संसारभीरुः–क्षमामार्दवार्जवादिगुणयुक्तः शुभं-देवगतियशःकीर्तिपञ्चेन्द्रियजात्यादिरूपं नामकर्म बध्नाति। 'अन्यथा' उक्तविपरीतस्वभावः, तथाहि–मायावी गौरववान् उत्कटक्रोधादिपरिणामः 'अशुभं' नरकगत्ययशःकीर्त्येकेन्द्रियादि-जातिलक्षणं नामकर्मार्जयतीति। उक्तं च––

मनोवाक्कायवक्रत्वं, परेषां विप्रतारणम्। मायाप्रयोगो मिथ्यात्वं, पैशून्यं चलचित्तता॥
सुवर्णादिप्रतिच्छन्दःकरणं कूटसाक्षिता। वर्णगन्धरसस्पर्शान्यथोपपादनानि[1] च॥
अङ्गोपाङ्गच्यावनानि, यन्त्रपञ्जरकर्म च। कूटमानतुलाकर्माऽन्यनिन्दात्मप्रशंसनम्॥
हिंसानृतस्तेयाऽब्रह्ममहारम्भपरिग्रहाः। परुषाऽसभ्यवचनं, शुचिवेषादिना मदः॥
मौखर्याक्रोशौ सौभाग्योपघाताः कार्मणक्रिया। परकौतूहलोत्पादः, परहास्यविडम्बने॥
वेश्यादीनामलङ्कारदानं दावाग्निदीपनम्। देवादिव्याजाद्गन्धादिचौर्यं तीव्रकषायता॥
चैत्यप्रतिश्रयाऽऽरामप्रतिमानां विनाशनम्। अङ्गारादिक्रिया चेत्यशुभस्य नाम्न आश्रवाः॥
एत एवान्यथारूपास्तथा संसारभीरुता। प्रमादहानं सद्भावार्पणं क्षान्त्यादयोऽपि च॥
दर्शने धार्मिकाणां च, सम्भ्रमः स्वागतक्रिया। परोपकारसारत्वमाश्रवाः शुभनामनि[2]॥
(योगशा० टी० पत्र ३०७-२) ॥५८॥

उक्ता नाम्नो बन्धहेतवः। सम्प्रति गोत्रस्य द्विविधस्यापि तानाह––

गुणपेही मयरहिओ, अज्झयणऽज्झावणारुई निच्चं।
पकुणइ जिणाइभत्तो, उच्चं नीयं इयरहा उ॥५९॥

'गुणप्रेक्षी' यस्य यावन्तं गुणं पश्यति तस्य तमेव प्रेक्षते पुरस्करोति, दोषेषु सत्स्वप्युदास्त इत्यर्थः। 'मदरहितः, विशिष्टजातिलाभकुलैश्वर्यबलरूपतपःश्रुतादिसम्पत्समन्वितोऽपि निरहङ्कारः, 'नित्यं' सर्वदा 'अध्ययनाध्यापनारुचिः, स्वयं पठति इतरांश्च पाठयति, अर्थतश्च स्वयमभीक्ष्णं विमृशति परेषां च व्याख्यानयति, असत्यां वा पठनादिशक्तौ तीव्रबहुमानः परानध्ययनाध्यापनापरायणान् अनुमोदते, तथा 'जिनादिभक्तः 'जिनानां--तीर्थनाथानाम् आदिशब्दात्

१ शाद्यन्यथापादनानि च। ग० ङ० योगशास्त्रे च॥ २ आश्रवाः शुभनाम्नोऽथ तीर्थकृन्नाम्न आश्रवाः॥ इति योगशास्त्रे॥

सिद्धाऽऽचार्योपाध्यायसाधुचैत्यानामन्येषां च गुणगरिष्ठानां भक्तः—बहुमानपरः 'प्रकरोति' प्रकर्षेण समुपार्जयति 'उच्चम्' उच्चैर्गोत्रम् । 'नीचं' नीचैर्गोत्रम् 'इतरथा तु' भणितविपरीतस्वभावः ।

उक्तं च—

परस्य निन्दावज्ञोपहासाः सद्गुणलोपनम् । सदसद्दोषकथनमात्मनस्तु प्रशंसनम् ॥
सदसद्गुणशंसा च, स्वदोषाच्छादनं तथा । जात्यादिभिर्मदश्चेति, नीचैर्गोत्राश्रवा अमी ॥
नीचैर्गोत्राश्रवविपर्यासो विगतगर्वता । वाक्कायचित्तैर्विनयः, उच्चैर्गोत्राश्रवा अमी ॥

(योगशा० टी० पत्र ३०८-१) ॥५९॥

उक्ता गोत्रस्य बन्धहेतवः । साम्प्रतमन्तरायस्य ये बन्धहेतवस्तानभिधित्सुः शास्त्रमिदं समर्थयन्नाह—

जिणपूयाविग्घकरो, हिंसाइपरायणो जयइ विग्घं ।
इय कम्मविवागोऽयं, लिहिओ देविंदसूरीहिं ॥६०॥

'जिनपूजाविघ्नकरः' सावद्यदोषोपेतत्वाद् गृहिणामप्येषा अविधेया इत्यादिकुदेशनादिभिः समयान्तरस्तत्त्वदूरीकृतो जिनपूजानिषेधक इत्यर्थः । हिंसा—जीववध आदिशब्दाद् अनृतभाषणस्तैन्याऽब्रह्मपरिग्रहरात्रिभोजनाऽविरमणादिपरिग्रहस्तेषु परायणः—तत्परः, उपलक्षणत्वात् मोक्षमार्गस्य [1] ज्ञानदर्शनचारित्रादेस्तद्दोषग्रहणादिना विघ्नं करोति, साधुभ्यो वा भक्तपानोपाश्रयोपकरणभैषजादिकं दीयमानं निवारयति, तेन चैतद् विदधता मोक्षमार्गः सर्वोऽपि विघ्नितो भवति, अपरेषामपि सत्त्वानां दानलाभभोगपरिभोगविघ्नं करोति, मन्त्रादिप्रयोगेण च परस्य वीर्यमपहरति, हठाच्च वधबन्धनिरोधादिभिः परं निश्चेष्टं करोति, छेदनभेदनादिभिश्च परस्येन्द्रियशक्तिमुपहन्ति । स किम् ? इत्याह—'जयति' धातूनामनेकार्थत्वाद् अर्जयति 'विघ्नं' पञ्चप्रकारमप्यन्तरायकर्म । 'इति' पूर्वोक्तप्रकारेण 'कर्मविपाकः' कर्मविपाकनामकं शास्त्रम् 'अयं' सम्प्रत्येव निगदितस्वरूपः 'लिखितः' अक्षरविन्यासीकृतः **देवेन्द्रसूरिभिः** करालकलिकालपातालतलावमज्जद्विशुद्धधर्मधुरोद्धरणधुरीणश्रीमज्जगच्चन्द्रसूरिचरणसरसीरुहचञ्चरीकैरिति ॥६०॥

॥ इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिता स्वोपज्ञकर्मविपाकटीका समाप्ता ॥

[ग्रन्थकारप्रशस्तिः]

विष्णोरिव यस्य विभोः, पदत्रयी व्यानशे जगन्निखिलम् ।
कर्ममलपटलजलदः, स श्रीवीरो जिनो जयतु ॥ १ ॥

---

१ ०ज्ञानाचा० ख०ग०घ० ॥

कुन्दोज्ज्वलकीर्ति[1]भरैः, सुरभीकृतसकलविष्टपाभोगः ।
शतमखशतविनतपदः, श्रीगौतमगणधरः पातु ॥ २ ॥
तदनु सुधर्मस्वामी, जम्बूप्रभवादयो मुनिवरिष्ठाः ।
— श्रुतजलनिधिपारीणा, भूयांसः श्रेयसे सन्तु ॥ ३ ॥

ततः प्राप्ततपाचार्येत्यभिख्या भिक्षुनायकाः । समभूवन् कुले चान्द्रे, श्रीजगच्चन्द्रसूरयः ॥४॥
जगज्जनितबोधानां, तेषां शुद्धचरित्रिणाम् । विनेयाः समजायन्त, श्रीमद्देवेन्द्रसूरयः ॥५॥
स्वान्ययोरुपकाराय, श्रीमद्देवेन्द्रसूरिणा । टीकाकर्मविपाकस्य, सुबोधेयं विनिर्ममे ॥६॥

विबुधवरधर्मकीर्तिश्रीविद्यानन्दसूरिमुख्यबुधैः ।
स्वपरसमयैककुशलैस्तदैव संशोधिता चेयम् ॥ ७ ॥

यद्गदितमल्पमतिना, सिद्धान्तविरुद्धमिह किमपि शास्त्रे ।
विद्वद्भिस्तत्त्वज्ञैः, प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥ ८ ॥

कर्मविपाके विवृतिं, वितन्वता यन्मयाऽर्जितं सुकृतम् ।
कर्मविपाकविमुक्तः, समस्तु सर्वोऽपि तेन जनः ॥ ९ ॥ ग्रन्थाग्र[2]म्--१८८२ ॥

समाप्तोऽयं

सटीकः कर्मविपाकः

---

१ ०मरः ख० ङ०॥ २ ०ग्रम्--१७८२ क० घ ०॥

॥ अर्हम् ॥

पूज्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितस्वोपज्ञटीकोपेतः

कर्मस्तवाख्यो द्वितीयः कर्मग्रन्थः ।

॥ नमः श्रीप्रवचनाय ॥

बन्धोदयोदीरणसत्पदस्थं, निःशेषकर्मारिबलं निहत्य ।
यः सिद्धिसाम्राज्यमलञ्चकार, श्रिये स वः श्रीजिनवीरनाथः ॥
नत्वा गुरुपदकमलं, गुरूपदेशाद्यथाश्रुतं किञ्चित् ।
कर्मस्तवस्य विवृतिं, विदधे स्वपरोपकाराय ॥

तत्राऽऽदावेव मङ्गलार्थमभीष्टदेवतास्तुतिमाह---

तह थुणिमो वीरजिणं, जह गुणठाणेसु सयलकम्माइं ।
बंधुदओदीरणयासत्तापत्ताणि खवियाणि ॥ १ ॥

'तथा' तेन प्रकारेण 'स्तुमः' असाधारणसद्भूतसकलकर्मनिर्मूलक्षपणलक्षणगुणोत्कीर्तनेन स्तवनगोचरीकुर्मः, कम् ? 'वीरजिनं' तत्र विशेषेण-अपुनर्भावेन ईर्ते-ईरिक् गतिकम्पनयोः' इति वचनाद् याति शिवं, कम्पयति-आस्फोटयति अपनयति कर्म वेति वीरः, यदि वा 'शूर वीरणि विक्रान्तौ' वीरयति स्म-कषायोपसर्गपरिषहादिशत्रुगणमभिभवति स्म वीरः, उभयत्र लिहादित्वाद् अच्, यद्वा ईरणमीरः, "भावाकर्त्रोः" (सि० ५-३-१८) इति घञ्, ततश्च विशिष्ट ईरः-गमनं 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः' इति वचनाद् ज्ञानं यस्य स वीर इति, अनेन व्युत्पत्तित्रयेण भगवतश्चरमजिनेश्वरस्य स्वार्थसम्पदमाह । अथवा विशिष्टा-सकलभुवनाद्भुता यका स्वर्गापवर्गादिका ईः-लक्ष्मीस्तां राति-भव्येभ्यः प्रयच्छति 'रांक् दाने' इति वचनाद् वीरः, "आतो डोऽह्वावामः" (सि० ५-१-७६) इति डप्रत्ययः, राति च भगवान् सुरासुरनरोरगतिर्यक्साधारणया वाण्या निःश्रेयसाभ्युदयसाधनोपायोपदेशेन भव्यानां भुवनाद्भुतां श्रियम्, तथा चोक्तम्—

[1]अरहंता भगवंतो, अहियं च हियं च न वि इहं किंचि ।
वारंति कारवंति य, घेत्तूण जणं बला हत्थे ॥ (उप० मा० गा० ४४८)

---

१ अर्हन्तो भगवन्तोऽहितं च हितं च नापि इह किञ्चित् । वारयन्ति कारयन्ति च गृहीत्वा जनं बलाद् हस्ते ॥

[1]उवएसं पुण तं देंति जेण चरिएण कित्तिनिलयाणं ।

देवाण वि हुंति पहू, किमंग पुण मणुयमित्ताणं ? ॥ (उप० मा० ४४९) इति ।

इत्यनया व्युत्पत्त्या च प्रसिद्धसिद्धार्थपार्थिवविपुलकुलविमलनभस्तलनिशीथिनीनाथस्य जिननाथस्य परार्थसम्पदमाह । वीरश्चासौ जिनश्च कषायादिप्रत्यर्थिसार्थजयाद् वीरजिनस्तं वीरजिनम् । 'यथा' येन प्रकारेण

अभिनवकम्मग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थ वीससयं ।

तित्थयराहारगदुगवज्जं मिच्छम्मि सत्तरसयं ॥ (गा० ३)

इत्यादिवक्ष्यमाणेषु 'गुणस्थानेषु' परमपदप्रासादशिखरारोहणसोपानकल्पेषु व्याख्यास्यमानस्वरूपेषु मिथ्यादृष्ट्यादिषु सकलानि–समस्तानि मतिज्ञानावरणप्रभृत्युत्तरप्रकृतिकदम्बकसहितानि कर्माणि--ज्ञानावरणीयादिमूलप्रकृतिरूपाण्यष्टौ कर्माणि च **स्वोपज्ञकर्मविपाके** विस्तरेण व्याख्यातानि । कथम्भूतानि ? '"बंधुदओदीरणयासत्तापत्ताणि" त्ति । तत्र मिथ्यात्वादिभिर्बन्धहेतुभिरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवद् निरन्तरं पुद्गलनिचिते लोके कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मनः क्षीरनीरवद् वह्न्ययःपिण्डवद्वाऽन्योऽन्यानुगमाभेदात्मकः सम्बन्धो बन्धः १, तेषां च यथास्वस्थितिबद्धानां कर्मपुद्गलानामपवर्तनादिकरणविशेषकृते स्वाभाविके वा स्थित्यपचये सति उदयसमयप्राप्तानां विपाकवेदनमुदयः २, तेषामेव कर्मपुद्गलानामकालप्राप्तानां जीवसामर्थ्यविशेषाद् उदयावलिकायां प्रवेशनमुदीरणा ३, तेषामेव कर्मपुद्गलानां बन्धसङ्क्रमाभ्यां लब्धात्मलाभानां निर्जरणसङ्क्रमणकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावे सद्भावः सत्ता ४, बन्धश्च उदयश्च उदीरणा च सत्ता च बन्धोदयोदीरणासत्तास्ताः प्राप्तानि–गतानि । सूत्रे च "उदीरणया" इत्यत्र कप्रत्ययः स्वार्थिकः, 'क्षपितानि' निर्मूलोच्छेदेनाभावत्वमापादितानीति ॥ १ ॥

गुणस्थानेषु कर्माणि क्षपितानीत्युक्तम् । ततो गुणस्थानान्येव तावत् स्वरूपतो निर्दिशति–

मिच्छे १ सासण २ मीसे ३,

अविरय ४ देसे ५ पमत्त ६ अपमत्ते ७ ।

नियट्टि ८ अनियट्टि ९ सुहुमु १०-

वसम ११ खीण १२ सजोगि १३ अजोगि १४ गुणा ॥२॥

"गुण" त्ति गुणस्थानानि ततः "सूचनात् सूत्रम्" इति न्यायात् पदैकदेशेऽपि पदसमुदायोपचाराद् वा इहैवं गुणस्थानकनिर्देशो द्रष्टव्यः । तद्यथा–मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं १ सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं २ सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् ३ अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं ४ देशविर-

१ उपदेशं पुनस्तं ददति येन चरितेन कीर्तिनिलयानाम् । देवानामपि भवन्ति प्रभवः किमङ्ग पुनर्मनुजमात्राणाम् ? ॥

तिगुणस्थानं ५/प्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ६ अप्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ७ अपूर्वकरणगुणस्थानम् ८ अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानं ९ सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् १० उपशान्तकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थानं ११ क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थानं १२ सयोगिकेवलिगुणस्थानम् १३ अयोगिकेवलिगुणस्थानम् १४ इति ।

तत्र गुणाः–ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषाः, स्थानम्–पुनरत्र तेषां शुद्ध्यविशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतः स्वरूपभेदः, तिष्ठन्त्यस्मिन् गुणा इति कृत्वा, गुणानां स्थानं गुणस्थानम्, मिथ्या–विपर्यस्ता दृष्टिः–अर्हत्प्रणीतजीवाजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य भक्षितहृत्पूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिवत् स मिथ्यादृष्टिः, तस्य गुणस्थानं–ज्ञानादिगुणानामविशुद्धिप्रकर्षविशुद्ध्यपकर्षकृतः स्वरूपविशेषो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् ।

ननु यदि मिथ्यादृष्टिः ततः कथं तस्य गुणस्थानसम्भवः ? गुणा हि ज्ञानादिरूपाः, तत् कथं ते दृष्टौ विपर्यस्तायां भवेयुः ? इति, उच्यते–इह यद्यपि सर्वथाऽतिप्रबलमिथ्यात्वमोहनीयोदयाद् अर्हत्प्रणीतजीवाजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिरूपा दृष्टिरसुमतो विपर्यस्ता भवति तथापि काचिद् मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्तिरविपर्यस्ता, ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताऽव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्तिरविपर्यस्ताऽपि भवति, अन्यथाऽजीवत्वप्रसङ्गात् । यदागमः—

[1]सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ चिट्ठइ, जइ पुण सो वि आवरिज्जिज्जा ता णं जीवो अजीवत्तणं पाविज्जा । (नन्दीपत्र १९५–२) इति ।

तथाहि–समुन्नताऽतिबहलजीमूतपटलेन दिनकररजनिकरकरनिकरतिरस्कारेऽपि नैकान्तेन तत्प्रभानाशः सम्पद्यते, प्रतिप्राणिप्रसिद्धदिनरजनिविभागाऽभावप्रसङ्गात् । उक्तं च—

[2]सुट्ठु वि मेहसमुदए, होइ पहा चंदसूराणं । (नन्दीपत्र० १९५–२) इति ।
एवमिहापि प्रबलमिथ्यात्वोदयेऽपि काचिदविपर्यस्ताऽपि दृष्टिर्भवतीति तदपेक्षया मिथ्यादृष्टेरपि गुणस्थानसम्भवः ।

यद्येवं ततः कथमसौ मिथ्यादृष्टिरेव ? मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्त्यपेक्षया अन्ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताऽव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्त्यपेक्षया वा सम्यग्दृष्टित्वादपि, नैष दोषः, यतो भगवदर्हत्प्रणीतं सकलमपि द्वादशाङ्गार्थमभिरोचयमानोऽपि यदि तदुदितमेकमप्यक्षरं न रोचयति तदानीमप्येष मिथ्यादृष्टिरेवोच्यते, तस्य भगवति सर्वज्ञे प्रत्ययनाशात् । तदुक्तम्–

---

१ सर्वजीवानामपि च अक्षरस्यानन्तभागो नित्योद्घाटितस्तिष्ठति यदि पुनः सोऽपि आव्रियेत ततो जीवोऽजीवत्वं प्राप्नुयात् ।। २ सुष्ठ्वपि मेघसमुदये भवति प्रभा चन्द्रसूर्ययोः ।।

[1]पयमक्खरं पि इक्कं, पि जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठं ।
सेसं रोयंतो वि हु, मिच्छद्दिट्ठी जमालि व्व ॥ (बृहत्सं० गा० १६७) इति ।

किं पुनर्भगवदर्हदभिहितसकलजीवाजीवादिवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिविकलः ? इति १ ।

आयम्–औपशमिकसम्यक्त्वलाभलक्षणं सादयति–अपनयतीत्यायसादनम्, अनन्तानुबन्धिकषायवेदनम् । अत्र पृषोदरादित्वाद् यशब्दलोपः, कृद्बहुलमिति कर्तर्यनट्, सति ह्यस्मिन् परमानन्दरूपानन्तसुखफलदो निःश्रेयसतरुबीजभूत औपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यतः समयमात्रेण उत्कर्षतः षड्भिरावलिकाभिरपगच्छतीति । ततः सह आसादनेन वर्तत इति सासादनः, सम्यग्–अविपर्यस्ता दृष्टिः–जिनप्रणीतवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य स सम्यग्दृष्टिः, सासादनश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च सासादनसम्यग्दृष्टिः, तस्य गुणस्थानं सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम् । सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमिति वा पाठः, तत्र सह सम्यक्त्वलक्षणरसास्वादनेन वर्तत इति सास्वादनः । यथा हि भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीकचित्तः पुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमास्वादयति, तथैषोऽपि मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तः सम्यक्त्वमुद्वमंस्तद्रसमास्वादयति । ततः स चासौ सम्यग्दृष्टिश्च तस्य गुणस्थानं सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम् । एतच्चैवं भवति–इह गम्भीरापारसंसारसागरमध्यमध्यासीनो जन्तुर्मिथ्यात्वप्रत्ययमनन्तान् पुद्गलपरावर्ताननन्तदुःखलक्षाण्यनुभूय कथमपि तथाभव्यत्वपरिपाकवशतो गिरिसरिदुपलघोलनाकल्पेनाऽनाभोगनिर्वर्तितयथाप्रवृत्तकरणेन "करणं परिणामोऽत्र" इति वचनाद् अध्यवसायविशेषरूपेणाऽऽयुर्वर्जानि ज्ञानावरणीयादिकर्माणि सर्वाण्यपि पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनैकसागरोपमकोटाकोटीस्थितिकानि करोति । अत्र चान्तरे जीवस्य कर्मजनितो घनरागद्वेषपरिणामः कर्कशनिबिडचिरप्ररूढगुपिलवक्रग्रन्थिवद् दुर्भेदोऽभिन्नपूर्वो ग्रन्थिर्भवति । तदुक्तम्–

[2]तीए वि थोवमित्ते, खविए इत्थंतरम्मि जीवस्स ।
हवइ हु अभिन्नपुव्वो, गंठी एवं जिणा विंति ॥
(धर्मसं० गा० ७५२, श्राव० प्र० गा० ३२)

गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढगूढगंठि व्व ।
जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागद्दोसपरिणामो ॥ (विशेषा० गा० ११९५) इति ।

इमं च ग्रन्थिं यावदभव्या अपि यथाप्रवृत्तिकरणेन कर्म क्षपयित्वाऽनन्तशः समागच्छन्ति । उक्तं चाऽऽवश्यकटीकायाम्–

---

१ पदमक्षरमप्येकमपि यो न रोचयति सूत्रनिर्दिष्टम् । शेषं रोचयमानोऽपि हि मिथ्यादृष्टिर्जमालिरिव ॥
२ तस्या अपि स्तोकमात्रे क्षपित अत्रान्तरे जीवस्य । भवति हि अभिन्नपूर्वो ग्रन्थिरेवं जिना ब्रुवन्ति ॥
ग्रन्थिरिति सुदुर्भेदः कर्कशघनरूढगूढग्रन्थिरिव । जीवस्य कर्मजनितो घनरागद्वेषपरिणामः ॥

अभव्यस्यापि कस्यचिद् यथाप्रवृत्तिकरणतो ग्रन्थिमासाद्याऽर्हदादिविभूतिदर्शनतः प्रयोजनान्तरतो वा प्रवर्तमानस्य श्रुतसामायिकलाभो भवति न शेषलाभ इति ।

एतदनन्तरं कश्चिदेव महात्माऽऽसन्नपरमनिर्वृतिसुखः समुल्लसितप्रचुरदुर्निवारवीर्यप्रसरो निशितकुठारधारयेव परमविशुद्ध्या यथोक्तस्वरूपस्य ग्रन्थेर्भेदं विधाय मिथ्यात्वस्थितेरन्तर्मुहूर्तमुदयक्षणाद् उपर्यतिक्रम्याऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणलक्षणविशुद्धिजनितसाम[1]र्थ्याद् अन्तर्मुहूर्तकालप्रमाणं तत्प्रदेशवेद्यदलिकाभावरूपमन्तरकरणं करोति । अत्र यथाप्रवृत्तिकरणाऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणानामयं क्रमः—

[2]जा गंठी ता पढमं, गंठिं समइच्छओ [3]भवे बीयं ।
अनियट्टीकरणं पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ॥ (विशे० आ० गा० १२०३)

"गंठिं समइच्छओ" त्ति ग्रन्थिं समतिक्रामतः—भिन्दानस्येति, "सम्मत्तपुरक्खड" त्ति सम्यक्त्वं पुरस्कृतं येन तस्मिन् आसन्नसम्यक्त्वे जीवेऽनिवृत्तिकरणं भवतीत्यर्थः ।

एतस्मिंश्चान्तरकरणे कृते सति तस्य मिथ्यात्वकर्मणः—स्थितिद्वयं भवति । अन्तरकरणादधस्तनी प्रथमा स्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, तस्मादेवान्तरकरणाद् उपरितनी शेषा द्वितीया । स्थापना तत्र प्रथमस्थितौ मिथ्यात्वदलिकवेदनादसौ मिथ्यादृष्टिरेव, अन्तर्मुहूर्तेन पुनस्तस्यामपगतायामन्तरकरणप्रथमसमय एवौपशमिकसम्यक्त्वमाप्नोति, मिथ्यात्वदलिकवेदनाऽभावात् । यथा हि वनदावानलः पूर्वदग्धेन्धनमूषरं वा देशमवाप्य विध्यायति, तथा मिथ्यात्ववेदनवनदवोऽप्यन्तरकरणमवाप्य विध्यायति । तथा च सति तस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभः । उक्तं च—

[4]ऊसरदेसं दड्ढिल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प ।
इय मिच्छस्स अणुदए, उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥ (विशेषा० गा०२७३४)

तस्यां चान्तर्मौहूर्तिक्यामुपशान्ताद्धायां परमनिधिलाभकल्पायां जघन्यतः समयशेषायामुत्कृष्टतः षडावलिकाशेषायां सत्यां कस्यचिन्महाविभीषिकोत्थानकल्पोऽनन्तानुबन्ध्युदयो भवति, तदुदये चासौ सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने वर्तते, उपशमश्रेणिप्रतिपतितो वा कश्चित् सासादनत्वं याति, तदुत्तरकालं चावश्यं मिथ्यात्वोदयादसौ मिथ्यादृष्टिर्भवतीति २ ।

तथा सम्यक् च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिः, तस्य गुणस्थानं सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् । इहानन्तराभिहितविधिना लब्धेनौपशमिकसम्यक्त्वेन औषधविशेषकल्पेन मदन-

---

१ ०र्थोऽन्त० क० ग० ॥ २ यावद् ग्रन्थिः तावत् प्रथमं ग्रन्थिं समतिक्रामतो भवेद्द्वितीयम् । अनिवृत्तिकरणं पुनः सम्यक्त्वपुरस्कृते जीवे ॥ ३ अपुव्वं तु विशेषावश्यकभाष्ये । ४ ऊषरदेशं दग्धं च विध्यायति वनदवः प्राप्य । इति मिथ्यात्वस्यानुदये उपशमसम्यक्त्वं लभते जीवः ॥

कोद्रवस्थानीयं मिथ्यात्वमोहनीयं कर्म शोधयित्वा त्रिधा करोति । तद्यथा—शुद्धमर्धविशुद्धम-विशुद्धं चेति । स्थापना [1]○ ⊙ ● । तत्र त्रयाणां पुञ्जानां मध्ये यदाऽर्धविशुद्धः पुञ्ज उदेति तदा तदुदयाद् जीवस्यार्धविशुद्धं जिनप्रणीततत्त्वश्रद्धानं भवति, तेन तदाऽसौ सम्यग्मिथ्यादृष्टि-गुणस्थानमन्तर्मुहूर्तं कालं स्पृशति, तत ऊर्ध्वमवश्यं सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं वा गच्छतीति ३ ।

तथा विरतिर्विरतं क्लीबे क्तप्रत्ययः, तत्पुनः सावद्ययोगप्रत्याख्यानं तद् न जानाति नाभ्यु-पगच्छति न तत्पालनाय यतत इति त्रयाणां पदानामष्टौ भङ्गाः । स्थापना—

न	ना	य
न	ना	पा
न	अ	य
न	अ	पा
जा	ना	य
जा	ना	पा
जा	अ	य
जा	अ	पा

तत्र प्रथमेषु चतुर्षु भङ्गेषु मिथ्यादृष्टिरज्ञानित्वात्, शेषेषु सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानित्वात्, सप्तसु भङ्गेषु नास्य विरतमस्तीत्यविरतः, "अभ्रादिभ्यः" (सि०७–२–४६) इति अप्रत्ययः, चरमभङ्गे तु विरतिरस्तीति । यद्वा विरमति स्म–सावद्ययोगेभ्यो निवर्तते स्मेति विरतः, "गत्यर्थाऽकर्मकपिबभुजेः" (सि० ५–१–११) इति कर्तरि क्तप्रत्यये विरतः, न विरतोऽविरतः, स चासौ सम्यग्दृष्टिश्चाविरतसम्य-ग्दृष्टिः । इदमुक्तं भवति—यः पूर्ववर्णितौपशमिकसम्यग्दृष्टिः शुद्धदर्शनमोहपुञ्जो-दयवर्ती क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिर्वा क्षीणदर्शनसप्तकः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्वा परममुनिप्रणीतां सावद्ययोगविरतिं सिद्धिसौधाध्यारोहणनिःश्रेणिकल्पां जानन् अप्रत्याख्यानकषायोदयविघ्नितत्वात् नाभ्युपगच्छति, न च तत्पालनाय यतत इत्यसावविरतसम्यग्दृष्टिरुच्यते, तस्य गुणस्थानम-विरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम् । उक्तं च—

[2]बंधं अविरइहेउं, जाणंतो रागदोसदुक्खं च ।
विरइसुहं इच्छंतो, विरइं काउं च असमत्थो ॥
एस असंजयसम्मो, निंदंतो पावकम्मकरणं च ।
अहिगयजीवाजीवो, अचलियदिट्ठी [3]चलियमोहो ॥ ४ ।

तथा सर्वसावद्ययोगस्य देशे–एकव्रतवि[4]षये॥स्थूलसावद्ययोगादौ सर्वव्रतविषयानुमतिवर्ज-सावद्ययोगान्ते विरतं विरतिर्यस्यासौ देशविरतः । सर्वसावद्यविरतिः पुनरस्य नास्ति, प्रत्याख्या-नावरणकषायोदयात्, सर्वविरतिरूपं प्रत्याख्यानमावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणाः । उक्तं च-

[5]सम्मदंसणसहियो, गिण्हंतो विरइमप्पसत्तीए ।
एगव्वयाइचरिमो, अणुमइमित्त त्ति देसजई ॥

देशविरतस्य गुणस्थानं देशविरतगुणस्थानम् ५ ।

---

१ प्रतिस्थिति दलिकान्येवं त्रिधा कुर्वन्ति । २ बन्धमविरतिहेतुं जानानो रागद्वेषदुःखं च । विरति-सुखमिच्छन् विरतिं कर्तुं चासमर्थः ॥ एषोऽसंयतसम्यग्दृष्टिः निन्दन् पापकर्मकरणं च । अधिगतजीवा-जीवोऽचलितदृष्टिश्चलितमोहः ॥ ३ छलियमोहो क० ख० घ० ॥ ४ ०षयस्थूल० क० घ० ॥ ५ सम्यग्दर्शन-सहितः गृह्णन् विरतिमात्मशक्त्या । एकव्रतादिचरिमः अनुमतिमात्र इति देशयतिः ॥

तथा संयच्छति स्म--सम्यग् उपरमति स्म संयतः, "गत्यर्थाऽकर्म०" (५--१--११) इति क्तः, प्रमाद्यति स्म- संयमयोगेषु सीदति स्म, प्राग्वत् कर्तरि क्तः प्रमत्तः, यद्वा प्रमदनं प्रमत्तं-प्रमादः, स च मदिराविषयकषायनिद्राविकथानामन्यतमः सर्वे वा। प्रमत्तमस्यास्तीति प्रमत्तः--प्रमादवान् "अभ्रादिभ्यः" (सि० ७-२-४६) इति अप्रत्ययः, प्रमत्तश्चासौ संयतश्च प्रमत्तसंयतः, तस्य गुणस्थानं प्रमत्तसंयतगुणस्थानम्, विशुद्ध्यविशुद्धिप्रकर्षाऽपकर्षकृतः स्वरूपभेदः। तथाहि–देशविरतिगुणापेक्षया एतद्गुणानां विशुद्धिप्रकर्षोऽविशुद्ध्यपकर्षश्च, अप्रमत्तसंयतापेक्षया तु विपर्ययः। एवमन्येष्वपि गुणस्थानेषु पूर्वोत्तरापेक्षया विशुद्ध्यविशुद्धिप्रकर्षाऽपकर्षयोजना द्रष्टव्या ६।

न प्रमत्तोऽप्रमत्तः। यद्वा नास्ति प्रमत्तमस्यासावप्रमत्तः, स चासौ संयतश्च, तस्य गुणस्थानम् अप्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ७।

अपूर्वम्--अभिनवं प्रथममित्यर्थः करणं–स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसङ्क्रमस्थितिबन्धानां पञ्चानामर्थानां निर्वर्तनं यस्यासावपूर्वकरणः। तथाहि–बृहत्प्रमाणाया ज्ञानावरणीयादिकर्मस्थितेरपवर्तनाकरणेन खण्डनम् अल्पीकरणं स्थितिघात उच्यते। रसस्यापि प्रचुरीभूतस्य सतोऽपवर्तनाकरणेन खण्डनम् –अल्पीकरणं रसघात उच्यते। एतौ द्वावपि पूर्वगुणस्थानेषु विशुद्धेरल्पत्वादल्पावेव कृतवान्, अत्र पुनर्विशुद्धेः प्रकृष्टत्वाद् बृहत्प्रमाणतया अपूर्वाविमौ करोति। तथा उपरितनस्थितेर्विशुद्धिवशादपवर्तनाकरणेनाऽवतारितस्य [1]दलिकस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणमुदयक्षणादुपरि क्षिप्रतरक्षपणाय प्रतिक्षणमसङ्ख्येयगुणवृद्ध्या विरचनं गुणश्रेणिः। स्थापना 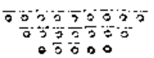 । एतां च पूर्वगुणस्थानेष्वविशुद्धत्वात् कालतो द्राघीयसीं दलिकरचनामाश्रित्याऽप्रथीयसीमल्पदलिकस्यापवर्तनाद् विरचितवान् इह तु तामेव विशुद्धत्वादपूर्वां कालतो ह्रस्वतरां दलिकरचनामाश्रित्य पुनः पृथुतरां बहुतरदलिकस्यापवर्तनाद् विरचयतीति। तथा बध्यमानशुभप्रकृतिष्वबध्यमानाशुभप्रकृतिदलिकस्य प्रतिक्षणमसङ्ख्येयगुणवृद्ध्या विशुद्धिवशाद् नयनं गुणसङ्क्रमः, तमप्यसाविहापूर्वं करोति। तथा स्थितिं कर्मणामशुद्धत्वात् प्राग् द्राघीयसीं बद्धवान्, इह तु तामपूर्वां विशुद्धत्वादेव ह्रसीयसीं बध्नातीति [स्थितिबन्धः]।

अयं चापूर्वकरणो द्विधा–क्षपक उपशमकश्च, क्षपणोपशमनार्हत्वात् चैवमुच्यते, राज्यार्हकुमारराजवत्, न पुनरसौ क्षपयत्युपशमयति वा, तस्य गुणस्थानम् अपूर्वकरणगुणस्थानम्।

एतच्च गुणस्थानं प्रपन्नानां कालत्रयवर्तिनो नानाजीवानपेक्ष्य सामान्यतोऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति। कथं पुनस्तानि भवन्ति? इति विनेयजनानुग्रहार्थं विशेषतोऽपि प्ररूप्यन्ते–इह तावदिदं गुणस्थानकमन्तर्मुहूर्तकालप्रमाणं भवति। तत्र च प्रथमसमयेऽपि ये प्रपन्नाः प्रपद्यन्ते प्रपत्स्यन्ते च तदपेक्षया[2]जघन्यादीन्युत्कृष्टान्तान्यसङ्ख्येय-

---

१ ०यसीं दलिकस्याल्पस्यापवर्व० ख०॥

यल्लोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि/लभ्यन्ते, प्रतिपत्तॄणां बहुत्वादध्यवसायानां च विचित्रत्वादिति भावनीयम् ।

ननु यदि कालत्रयापेक्षा क्रियते तदैतद्गुणस्थानकं प्रतिपन्नानामनन्तान्यध्यवसायस्थानानि कस्माद् न भवन्ति? अनन्तजीवैरस्य प्रतिपन्नत्वाद् अनन्तैरेव च प्रतिपत्स्यमानत्वादिति, सत्यम्, स्यादेवं यदि तत्प्रतिपत्तॄणां सर्वेषां पृथक् पृथग्भिन्नान्येवाध्यवसायस्थानानि स्युः, तच्च नास्ति, बहूनामेकाध्यवसाय[1]स्थानवर्तित्वादपीति । ततो द्वितीयसमये तदन्यान्यधिकतराण्यध्यवसायस्थानानि लभ्यन्ते, तृतीयसमये तदन्यान्यधिकतराणि, चतुर्थसमये तदन्यान्यधिकतराणीत्येवं तावन्नेयं यावत् चरमसमयः । एतानि च स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमभिव्याप्नुवन्ति । तद्यथा—

४०००००००।
३००००००।
२०००००।
१००००।

अत्र प्रथमसमयजघन्याध्यवसायस्थानात् प्रथमसमयोत्कृष्टमध्यवसायस्थानमनन्तगुणविशुद्धम्, तस्माच्च द्वितीयसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम्, [2]ततोऽपि द्वितीयसमयजघन्यात् तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धम्, तस्माच्च तृतीयसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम्, ततोऽपि तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धमित्येवं तावन्नेयं यावद् द्विचरमसमयोत्कृष्टात् चरमसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम्, ततोऽपि तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धमिति । एकसमयगतानि चामून्यध्यवसायस्थानानि परस्परमनन्तभागवृद्ध्यसङ्ख्यातभागवृद्धिसङ्ख्यातभागवृद्धिसङ्ख्येयगुणवृद्ध्यसङ्ख्येयगुणवृद्ध्यनन्तगुणवृद्धिरूपषट्स्थानकपतितानि । युगपदेतद्गुणस्थानप्रविष्टानां च परस्परमध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिलक्षणा निवृत्तिरप्यस्तीति निवृत्तिगुणस्थानकमप्येतदुच्यते, अत एवोक्तं सूत्रे "नियट्टि अनियट्टी" इत्यादि ८ ।

तथा युगपदेतद्गुणस्थानकं प्रतिपन्नानां बहूनामपि जीवानामन्योऽन्यमध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिः निवृत्तिर्नास्त्यस्येति अनिवृत्तिः समकालमेतद्गुणस्थानकमारूढस्यापरस्य यदध्यवसायस्थानं विवक्षितोऽन्योऽपि कश्चित्तद्वर्त्येवेत्यर्थः । सम्परैति—पर्यटति संसारमनेनेति सम्परायः—कषायोदयः, बादरः—सूक्ष्मकिट्टीकृतसम्परायापेक्षया स्थूरः सम्परायो यस्य स बादरसम्परायः, अनिवृत्तिश्चासो बादरसम्परायश्च अनिवृत्तिबादरसम्परायः, तस्य गुणस्थानमनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानम् । इदमप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणमेव । तत्र चान्तर्मुहूर्ते यावन्तः समयास्तत्प्रविष्टानां तावन्त्येवाध्यवसायस्थानानि भवन्ति, एकसमयप्रविष्टानामेकस्यैवाध्यवसायस्थानस्यानुवर्तनादिति । स्थापना

०
०
०
०
०

प्रथमसमयादारभ्य प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्धं यथोत्तरमध्यवसायस्थानं भवतीति वेदितव्यम् । स चानिवृत्तिबादरो द्विधा— क्षपक उपशमकश्च ९ ।

तथा सूक्ष्मः सम्परायः किट्टीकृतलोभकषायोदयरूपो यस्य सोऽयं सूक्ष्मसम्परायः । सोऽपि द्विधा-क्षपक उपशमको वा, क्षपयति उपशमयति वा लोभमेकमिति कृत्वा, तस्य गुणस्थानं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् १० ।

---

१ •स्थानित्वानतिवर्तित्वा• क० घ० ॥ २ ततोऽपि तदुत्कृ० क०ख०ग०घ० ॥

तथा छाद्यते केवलज्ञानं केवलदर्शनं चात्मनोऽनेनेति च्छद्म–ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायकर्मोदयः । सति तस्मिन् केवलस्यानुत्पादात्, तदपगमानन्तरं चोत्पादात् । छद्मनि तिष्ठतीति च्छद्मस्थः । स च सरागोऽपि भवति इत्यतस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम् । वीतः–विगतो रागः-मायालोभकषायोदयरूपो यस्य स वीतरागः, स चासौ छद्मस्थश्च वीतरागच्छद्मस्थः । स च क्षीणकषायोऽपि भवति, तस्यापि यथोक्तरागापगमाद् अतस्तद्व्यवच्छेदार्थम् उपशान्तकषायग्रहणम् । "कष शिष" इत्यादिदण्डकधातुर्हिंसार्थः, कषन्ति कष्यन्ते च परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः–संसारः, कषमयन्ते–गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कषायाः–क्रोधादयः, उपशान्ताः–उपशमिता विद्यमाना एव सङ्क्रमणोद्वर्तनादिकरणोदयायोग्यत्वेन व्यवस्थापिताः कषाया येन स उपशान्तकषायः, स चासौ वीतरागच्छद्मस्थश्चेति उपशान्तकषायवीतरागच्छद्मस्थः, तस्य गुणस्थानमिति प्राग्वत् । तत्राविरतसम्यग्दृष्टेः प्रभृत्यनन्तानुबन्धिनः कषाया उपशान्ताः सम्भवन्ति । उपशमश्रेण्यारम्भे ह्यनन्तानुबन्धिकषायान् अविरतो देशविरतः प्रमत्तोऽप्रमत्तो वा सन् उपशमय्य दर्शनमोहत्रितयमुपशमयति । तदुपशमानन्तरं प्रमत्ताऽप्रमत्तगुणस्थानपरिवृत्तिशतानि कृत्वा ततोऽपूर्वकरणगुणस्थानोत्तरकालमनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थाने चारित्रमोहनीयस्य प्रथमं नपुंसकवेदमुपशमयति, ततः स्त्रीवेदम्, ततो हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सारूपं युगपत् षट्कम्, ततः पुरुषवेदम्, ततो युगपद् अप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणौ क्रोधौ, ततः संज्वलनक्रोधम्, ततो युगपद् द्वितीयतृतीयौ मानौ, ततः संज्वलनमानम्, ततो युगपद् द्वितीयतृतीये माये, ततः संज्वलनमायाम्, ततो युगपद् द्वितीयतृतीयौ लोभौ, ततः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने संज्वलनलोभमुपशमयति इत्युपशमश्रेणिः । स्थापना चेयम् ।

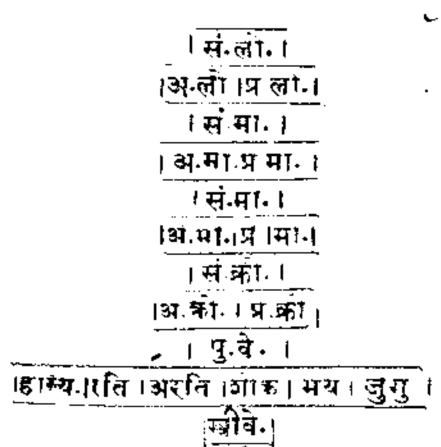

विस्तरतस्तूपशमश्रेणिः **स्वोपज्ञशतकटीकायां** व्याख्याता ततः परिभावनीया । तदेवमन्येष्वपि गुणस्थानकेषु क्वापि कियतामपि कषायाणामुपशान्तत्वसम्भवाद् उपशान्तकषायव्यपदेशः सम्भवति, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम् । उपशान्तकषायवीतराग इत्येतावताऽपीष्टसिद्धौ छद्मस्थग्रहणं स्वरूपकथनार्थं, व्यवच्छेद्याभावात्; न ह्यच्छद्मस्थ उपशान्तकषायवीतरागः सम्भवति यस्य च्छद्मस्थग्रहणेन व्यवच्छेदः स्यादिति । अस्मिंश्च गुणस्थानेऽष्टाविंशतिरपि मोहनीयप्रकृतय उपशान्ता ज्ञातव्याः । उपशान्तकषायश्च जघन्येनैकं समयं भवति, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तं कालं यावत्, तत

ऊर्ध्वं नियमादसौ प्रतिपतति । प्रतिपातश्च द्वेधा–भवक्षयेणाऽद्धाक्षयेण च । तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य, अद्धाक्षय उपशान्ताद्धायां समाप्तायाम् । अद्धाक्षयेण च प्रतिपतन् यथैवारूढस्तथैव प्रतिपतति, यत्र यत्र बन्धोदयोदीरणा व्यवच्छिन्नास्तत्र तत्र प्रतिपतता सता ते आरभ्यन्त इति यावत् । प्रतिपतंश्च तावत् प्रतिपतति यावत् प्रमत्तगुणस्थानम् । कश्चित्तु ततोऽप्यधस्तनं गुणस्थानकद्विकं याति, कोऽपि सासादनभावमपि । यः पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि बन्धनादीनि करणानि प्रवर्तयतीति विशेषः । उत्कर्षतश्चैकस्मिन् भवे द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते । यश्च द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात् तस्मिन् भवे क्षपकश्रेण्यभावः । यः पुनरेकं वारं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिर्भवेदपीति । उक्तं च **सप्ततिकाचूर्णौ**—

[1]जो दुवे वारे उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि, जो इक्कसिं उवसमसेढी पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी वि हुज्ज त्ति ॥

एष **कार्मग्रन्थिका**भिप्रायः । **आगमा**भिप्रायेण त्वेकस्मिन् भव एकामेव श्रेणिं प्रतिपद्यते, यदुक्तं **कल्पभाष्ये**–

> [2]एवं अप्पडिवडिए, सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु ।
> अन्नयरसेढिवज्जं, एगभवेणं च सव्वाइं ॥ (गा० १०७)

सर्वाणि देशविरत्यादीनि । अन्यत्राप्युक्तम्–

> मोहोपशम एकस्मिन्, भवे द्विः स्यादसन्त[3]तम् ।
> यस्मिन् भवे तूपशमः, क्षयो मोहस्य तत्र न ॥ इति ११ ।

तथा क्षी[4]णाः–अभावमापन्नाः । कषाया यस्य स क्षीणकषायः । तत्रानन्तानुबन्धिकषायान् प्रथममविरतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रम[5]त्तान्तेषु गुणस्थानेषु क्षपयितुमारभते, ततो मिथ्यात्वं मिश्रं सम्यक्त्वम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरणान् प्रत्याख्यानावरणान् कषायानष्टौ क्षपयितुमारभते, तेषु चार्धक्षपितेष्वेवातिविशुद्धिवशादन्तराल एव स्त्यानर्द्धित्रिकं नरकद्विकं तिर्यग्द्विकम् एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातयः आतपम् उद्योतं स्थावरं सूक्ष्मं साधारणमिति प्रकृतिषोडशकं क्षपयति । तस्मिंश्च क्षीणे कषायाष्टकस्य क्षपितशेषं क्षपयति । ततो नपुंसकवेदं स्त्रीवेदं हास्यादिषट्कं पुंवेदं संज्वलनं क्रोधं मानं मायां क्षपयति, एताश्च प्रकृतीरनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थाने क्षपयति, संज्वलनलोभं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान इति क्षपकश्रेणिः । स्थापना चेय[6]म् ।

---

१ यो द्वौ वारौ उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात्तस्मिन् भवे क्षपकश्रेणिर्नास्ति, य एकवारं उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिरपि भवेदिति ॥ २ एवमप्रतिपतिते सम्यक्त्वे देवमनुजजन्मसु । अन्यतरश्रेणिवर्जम् एगभवेन च सर्वाणि ॥ ३ ०ततः क० ख० ग० घ० ङ० ॥ ४ ०णाः क्षयमा० ख० ॥ ५ ०त्तान्तगु० ख० ग० ङ० ॥ ६ स्थापनाऽग्रेतनपृष्ठे न्यस्ताऽस्ति ॥

विस्तरतस्तु क्षपकश्रेणिस्वरूपं **स्वोपज्ञशतकटीकायां** निरूपितं तत एव परिभावनीयम् । तदेवमन्येष्वपि गुणस्थानेषु क्षीणकषायव्यपदेशः सम्भवति, क्वापि कियतामपि कषायाणां क्षीणत्वात् , अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम् । क्षीणकषायवीतरागत्वं च केवलिनोऽप्यस्ति इति तद्व्यवच्छेदार्थं छद्मस्थग्रहणम् । छद्मस्थग्रहणे च कृते सरागव्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम् । वीतरागश्चासौ छद्मस्थश्च वीतरागच्छद्मस्थः । स चोपशान्तकषायोऽप्यस्ति इति तद्व्यवच्छेदार्थं क्षीणकषायग्रहणम् । क्षीणकषायश्चासौ वीतरागच्छद्मस्थश्च **क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थः**, तस्य गुणस्थानं क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थानम् १२ इति ।

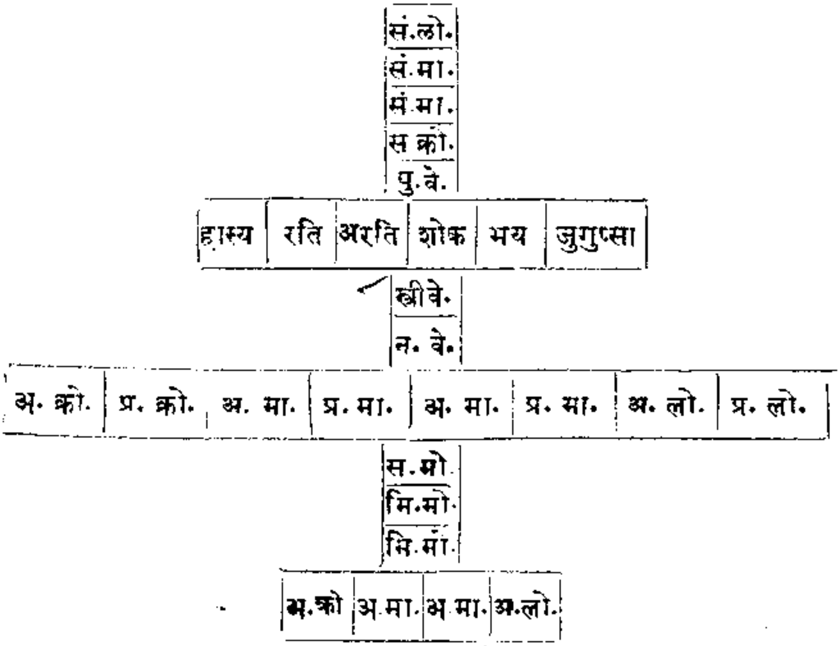

तथा योगो वीर्यं शक्तिः उत्साहः पराक्रम इति पर्यायाः, स च मनोवाक्कायलक्षणकर[१]णभेदात् तिस्रः संज्ञा लभते, मनोयोगो वाग्योगः काययोगश्चेति । तथा चोक्तं **कर्मप्रकृतौ**—

[२]परिणामालंबणगहणकारणं तेण लद्धनामतिगं ।
कज्जब्भासान्नुन्नप्पवेसविसमीकयपएसं ॥ (गा० ४)

तत्र भगवतो मनोयोगो मनःपर्यायज्ञानिभिरनुत्तरसुरादिभिर्वा मनसा पृष्टस्य सतो मनसैव देशनात् , ते हि भगवत्प्रयुक्तानि मनोद्रव्याणि मनःपर्यायज्ञानेनाऽवधिज्ञानेन वा पश्यन्ति, दृष्ट्वा च ते विवक्षितवस्त्वाकारान्यथानुपपत्त्या लोकस्वरूपादिबाह्यमर्थमवगच्छन्तीति । वाग्योगो

१ ०णत्रयभे० ख० ॥ २ परिणामालम्बनग्रहणकरणं तेन लब्धनामत्रिकम् । कार्याभ्यासान्योऽन्यप्रवेशविषमीकृतप्रदेशम् ॥

धर्मदेशनादौ। काययोगो निमेषोन्मेषचङ्क्रमणादौ। ततोऽनेन योगत्रयेण सह वर्तत इति सयोगी "सर्वादेरिन्" (सि० ७-२-५६) इतीन् प्रत्ययः। केवलं–केवलज्ञानं केवलदर्शनं च विद्यते यस्य स केवली, सयोगी चासौ केवली च सयोगिकेवली, तस्य गुणस्थानं सयोगिकेवलिगुणस्थानम् १३।

तथा न विद्यन्ते योगाः पूर्वोक्ता यस्यासावयोगी। कथमयोगित्वमसावुपगच्छति ? इति चेद् उच्यते—स भगवान् सयोगिकेवली जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम् उत्कृष्टतो देशोनां पूर्वकोटीं विहृत्य कश्चित् कर्मणां समीकरणार्थं समुद्घातं करोति, यस्य वेदनीयादिकमायुषः सकाशादधिकतरं भवति, अन्यस्तु न करोति। यदाहुः **श्रीआर्यश्यामपादाः**—

[1]सव्वे वि णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छन्ति ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे।

जस्साउएण तुल्लाइं, बंधणेहिं ठिईहि य।
भवोवग्गाहिकम्माइं, न समुग्घायं स गच्छइ॥
अगंतूणं समुग्घायं, अणंता केवली जिणा।
जरमरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगइं गया (प्रज्ञा० पत्र ६०१–१)

अत्र "बंधणेहिं" ति बध्यन्त इति बन्धनानि "भुजिपत्यादिभ्यः कर्मापादाने" (सि० ५–३–१२८) इति कर्मण्यनट्, कर्मपरमाणवस्तैः, शेषं सुगमम्। गत्वा वाऽगत्वा वा समुद्घातम्। समुद्घातस्वरूपं च **स्वोपज्ञषडशीतिकटीकायां** विस्तरतः प्ररूपितं तत एवावधारणीयम्। भवोपग्राहिकर्मक्षपणाय लेश्यातीतमत्यन्ताप्रकम्पं परमनिर्जराकारणं ध्यानं प्रतिपित्सुर्योगनिरोधार्थमुपक्रमते। तत्र पूर्वं बादरकाययोगेन बादरमनोयोगं निरुणद्धि, ततो वाग्योगम्, ततः सूक्ष्मकाययोगेन बादरकाययोगम्; तेनैव सूक्ष्ममनोयोगं सूक्ष्मवाग्योगं च; सूक्ष्मकाययोगं तु सूक्ष्मक्रियमनिवर्तिशुक्लध्यानं ध्यायन् स्वावष्टम्भेनैव निरुणद्धि, अन्यस्यावष्टम्भनीयस्य योगान्तरस्य तदाऽसत्त्वात्। तद्ध्यानसामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन सङ्कुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति। तदनन्तरं [2]समुच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति शुक्लध्यानं ध्यायन् मध्यमप्रतिपत्त्या ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्गिरणमात्रं कालं शैलेशीकरणं प्रविशति। तत्र शैलेशः–मेरुः तस्येयं स्थिरता–साम्यावस्था शैलेशी, यद्वा सर्वसंवरः शीलं तस्य य ईशः शीलेशः तस्येयं योगनिरोधावस्था शैलेशी, तस्याः करणं–पूर्वविरचितशैलेशीसमयसमानगुणश्रेणीकस्य वेदनीयनामगोत्राख्याऽघातिकर्मत्रितयस्याऽ-

---

१ सर्वेऽपि खलु भदन्त ! केवलिनः समुद्घातं गच्छन्ति ? गौतम ! नायमर्थः समर्थः। *यस्य आयुषा तुल्यानि बन्धनैः स्थितिभिश्च। भवोपग्राहिकर्माणि न समुद्घातं स गच्छति॥ अगत्वा समुद्घातम् अनन्ताः केवलिनो जिनाः। जरामरणविप्रमुक्ताः सिद्धिं वरगतिं गताः॥* २समुत्सन्न० क०ख०ग०घ०ङ०॥

सङ्ख्येयगुणया श्रेण्या आयुःशेषस्य तु यथास्वरूपस्थितया श्रेण्या निर्जरणं शैलेशीकरणम् । तत्रासौ प्रविष्टोऽयोगी स चासौ केवली च अयोगिकेवली । अयं च शैलेशीकरणचरमसमयानन्तरमुच्छिन्नचतुर्विधकर्मबन्धनत्वाद् अष्टमृत्तिकालेपलिप्ताऽधोनिमग्नक्रमापनीतमृत्तिकालेपजलतलमर्यादोर्ध्वगामितथाविधाऽलाबुवद् ऊर्ध्वं लोकान्ते गच्छति, न परतोऽपि, मत्स्यस्य जलकल्पगत्युपष्टम्भधर्मास्तिकायाऽभावात् । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाढस्तावत एव प्रदेशानूर्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसमयाच्च समयान्तरमसंस्पृशन् गच्छति ।

तदुक्तमावश्यकचूर्णौ—

[1]जत्तिए जीवो अवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उड्ढं उज्जुगं गच्छइ न वंकं,' बीयं च समयं न फुसइ ॥ (पूर्वार्द्धे पत्र ५८२) इति ॥

दुःषमान्धकारनिमग्नजिनप्रवचनप्रदीपप्रतिमाः **श्रीजिनभद्रगणिपूज्या** अप्याहुः—

[2]पज्जत्तमित्तसन्निस्स जत्तियाइं जहन्नजोगिस्स ।
हुंति मणोदव्वाइं, तव्वावारो य जम्मत्तो ॥ (विशेषा० गा० ३०५९)
तदसंखगुणविहीणं, समए समए निरुंभमाणो सो ।
मणसो सव्वनिरोहं, कुणइ असंखिज्जसमएहिं ॥ (विशेषा० गा० ३०६०)
[3]पज्जत्तमित्तबिंदियजहन्नवइजोगपज्जया जे उ ।
तदसंखगुणविहीणे, समए समए निरुंभंतो ॥ (विशे० गा०३०६१)
सव्ववइजोगरोहं, संखाईएहिं कुणइ समएहिं ।
तत्तो य सुहुमपणयस्स पढमसमओववन्नस्स ॥ (विशेषा० गा० ३०६२)
जो किर जहन्नजोगो, तदसंखिज्जगुणहीणमिक्केक्के ।
समए निरुंभमाणो, देहतिभागं च मुंचंतो ॥ (विशेषा० गा० ३०६३)
रुंभइ स कायजोगं, संखाईएहिं चेव समएहिं ।
तो कयजोगनिरोहो, सेलेसीभावणामेइ ॥ (विशेषा० गा० ३०६४)

---

१ यावत्यां जीवोऽवगाढस्तावत्याऽवगाहनया ऊर्ध्वमृजुकं गच्छति न वक्रम्, द्वितीयं च समयं न स्पृशति ॥ २ पर्याप्तमात्रसंज्ञिनो यावन्ति जघन्ययोगिनः । भवन्ति मनोद्रव्याणि तद्व्यापारश्च यन्मात्रः ॥ तदसङ्ख्यगुणविहीनं समये समये निरुन्धानः सः । मनसः सर्वनिरोधं करोत्यसङ्ख्येयसमयैः ॥ ३ पर्याप्तमात्रद्वीन्द्रियजघन्यवचोयोगपर्यया ये तु । तदसङ्ख्यगुणविहीनान् समये समये निरुन्धानः ॥ सर्ववचोयोगरोधं सङ्ख्यातीतैः करोति समयैः । ततश्च सूक्ष्मपनकस्य प्रथमसमयोपपन्नस्य ॥ यः किल जघन्ययोगस्तदसङ्ख्येयगुणहीनमेकैकस्मिन् । समये निरुन्धानो देहत्रिभागं च मुञ्चन् ॥ रुणद्धि स काययोगं सङ्ख्यातीतैरेव समयैः । ततः कृतयोगनिरोधः शैलेशीभावनामेति ॥

[1]हस्सक्खराइं मज्झेण जेण कालेण पंच भन्नंति ।
अच्छइ सेलेसिगओ, तत्तियमेत्तं तओ कालं ॥ (विशेषा० गा० ३०६८)
तणुरोहारंभाओ, झायइ सुहुमकिरियानियट्टिं सो ।
वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाई सेलेसिकालम्मि ॥ (विशेषा० गा० ३०६९)
तदसंखेज्जगुणाए, गुणसेढीइ रइयं पुरा कम्मं ।
समए समए [2]खविउं, कमेण सव्वं तहिं कम्मं ॥ (विशेषा० गा० ३०८२)
उजुसेढीपडिवन्नो, समयपएसंतरं अफुसमाणो ।
एगसमएण सिज्झइ, अह सागरोवउत्तो सो ॥ (विशेषा० गा० ३०८८) इति

तस्य गुणस्थानमयोगिकेवलिगुणस्थानम् १४ इति ॥ २ ॥

व्याख्यातानि सभावार्थानि चतुर्दशापि गुणस्थानानीति। अथ यथैतेष्वेव गुणस्थानेषु भगवता बन्धमुदयमुदीरणां सत्तां चाऽऽश्रित्य कर्माणि क्षपितानि तथा बिभणिषुः प्रथमं तावद् बन्धमाश्रित्य क्व गुणस्थाने कियत्यः कर्मप्रकृतयो व्यवच्छिन्नाः ? इत्येतद् बन्धलक्षणकथनपूर्वकं प्रचिकटयिषुराह—

अभिनवकम्मग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थ वीस सयं ।
तित्थयराहारगदुगवज्जं मिच्छम्मि सतरसयं ॥ ३ ॥

मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिरभिनवस्य—नूतनस्य कर्मणः—ज्ञानावरणादेर्ग्रहणम्—उपादानं बन्ध इत्युच्यते । 'ओघेन' सामान्येनैकं किञ्चिद् गुणस्थानकमनाश्रित्येत्यर्थः । "तत्थ" त्ति तत्र बन्धे 'विंशं शतं' विंशत्युत्तरं शतं कर्मप्रकृतीनां भवतीति शेषः । तथाहि—मतिज्ञानावरणं श्रुतज्ञानावरणम् अवधिज्ञानावरणं मनःपर्यायज्ञानावरणं केवलज्ञानावरणमिति पञ्चधा ज्ञानावरणम् । निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचलाप्रचला स्त्यानर्द्धिः चक्षुर्दर्शनावरणम् अचक्षुर्दर्शनावरणम् अवधिदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणमिति नवविधं दर्शनावरणम् । वेदनीयं द्विधा—सातवेदनीयम् असातवेदनीयं च । मोहनीयमष्टाविंशतिभेदम्, तद्यथा—मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वमिति दर्शनत्रिकम्, अनन्तानुबन्धी क्रोधो मानो माया लोभः ४ अप्रत्या-

---

१ ह्रस्वाक्षराणि मध्येन येन कालेन पञ्च भण्यन्ते । आस्ते शैलेशीगतः तावन्मात्रं सकः कालम् ॥ तनुरोधारम्भाद् ध्यायति सूक्ष्मक्रियानिवृत्तिं सः । व्युच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति शैलेशीकाले ॥ तदसङ्ख्येयगुणायां गुणश्रेणौ रचितं पुरा कर्म । समये समये क्षपयित्वा क्रमेण सर्वं तत्र कर्म ॥ ऋजुश्रेणिप्रतिपन्नः समयप्रदेशान्तरमस्पृशन् । एकसमयेन सिध्यति अथ साकारोपयुक्तः सः ॥ २ खविथं कमसो सेलेसिकालेणं ॥ इति भाष्ये पाठः ॥

ख्यानावरणः क्रोधो मानो माया लोभः ४ प्रत्याख्यानावरणः क्रोधो मानो माया लोभः ४ संज्वलनः क्रोधो मानो माया लोभः ४ इति षोडश कषायाः, स्त्री पुमान् नपुंसकमिति वेदत्रयम्, हास्यं रतिः अरतिः शोको भयं जुगुप्सेति हास्यषट्कम्, मिलितं नव नोकषायाः। आयुश्चतुर्धा—नरकायुः तिर्यगायुः मनुष्यायुः देवायुरिति। अथ नामकर्म द्विचत्वारिंशद्विधम्, तद्यथा—चतुर्दश पिण्डप्रकृतयः अष्टौ प्रत्येकप्रकृतयः त्रसदशकं स्थावरदशकं चेति। तत्र पिण्डप्रकृतय इमाः—गतिनाम जातिनाम शरीरनाम अङ्गोपाङ्गनाम बन्धननाम सङ्घातननाम संहनननाम संस्थाननाम वर्णनाम गन्धनाम रसनाम स्पर्शनाम आनुपूर्वीनाम विहायोगतिनामेति। आसां भेदा दर्श्यन्ते—नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतिनामभेदात् चतुर्धा गतिनाम, एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिनामेति पञ्चधा जातिनाम, औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणशरीरनामेति पञ्चधा शरीरनाम, औदारिकाङ्गोपाङ्गं वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् आहारकाङ्गोपाङ्गनामेति[1] त्रिधाऽङ्गोपाङ्गनाम, बन्धननाम पञ्चधा औदारिकबन्धनादि शरीरवत् एवं सङ्घातनमपि, संहनननाम षड्भेदम्—वज्रऋषभनाराचम् ऋषभनाराचं नाराचम् अर्धनाराचं कीलिका सेवार्तं चेति, संस्थाननाम षड्विधं—समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमण्डलं सादि वामनं कुब्जं हुण्डं चेति, वर्णनाम पञ्चधा—कृष्णं नीलं लोहितं हारिद्रं शुक्लं चेति, गन्धनाम द्विधा—सुरभिगन्धनाम,[2] दुरभिगन्धनामेति, रसनाम पञ्चधा-तिक्तं कटुकं कषायम् अम्लं मधुरं चेति, स्पर्शनाम अष्टधा—कर्कशं मृदु लघु गुरु शीतम् उष्णं स्निग्धं रूक्षं च, आनुपूर्वी चतुर्धा—नरकानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी मनुष्यानुपूर्वी देवानुपूर्वीति, विहायोगतिर्द्विधा—प्रशस्तविहायोगतिः अप्रशस्तविहायोगतिरिति आसां चतुर्दशपिण्डप्रकृतीनामुत्तरभेदा अमी पञ्चषष्टिः। प्रत्येकप्रकृतयस्त्विमाः—पराघातनाम उपघातनाम उच्छ्वासनाम आतपनाम उद्योतनाम अगुरुलघुनाम तीर्थकरनाम निर्माणनामेति। त्रसदशकमिदम्—त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरनाम शुभनाम सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्तिनामेति। स्थावरदशकं पुनरिदम्—स्थावरनाम सूक्ष्मनाम अपर्याप्तनाम साधारणनाम अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम दुःस्वरनाम अनादेयनाम अयशःकीर्तिनामेति। पिण्डप्रकृत्युत्तरभेदाः पञ्चषष्टिः प्रत्येकप्रकृतयोऽष्टौ त्रसदशकं स्थावरदशकं च सर्वमीलने त्रिनवतिः। गोत्रं द्विधा—उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं च। अन्तरायं पञ्चधा—दानान्तरायं लाभान्तरायं भोगान्तरायम् उपभोगान्तरायं वीर्यान्तरायं चेति। एवं च कृत्वा ज्ञानावरणे कर्मप्रकृतयः पञ्च ५ दर्शनावरणे नव ९ वेदनीये द्वे २ मोहनीयेऽष्टाविंशतिः २८ आयुषि चतस्रः ४ नाम्नि त्रिनवतिः ९३ गोत्रे द्वे २ अन्तराये पञ्च ५ सर्वपिण्डेऽष्टाचत्वारिंशं शतं भवति, तेन च सत्तायामधिकारः। उदयोदीरणयोः पुनरौदारिकादिबन्धनानां

१ ०पाङ्गमिति ख० ग०॥ २ ०रभिनाम असुरभिना० क० ख० ग०॥

पञ्चानामौदारिकादिसङ्घातनानां च पञ्चानां यथास्वमौदारिकादिषु पञ्चसु शरीरेष्वन्तर्भावः। वर्णगन्धरसस्पर्शानां यथासङ्ख्यं पञ्चद्विपञ्चाऽष्टभेदानां तद्भेदकृतां विंशतिमपनीय तेषामेव चतुर्णामभिन्नानां ग्रहणे षोडशकमिदं बन्धनसङ्घातनसहितमष्टचत्वारिंशच्छताद् अपनीयते, शेषेण द्वाविंशेन शतेनाधिकारः। बन्धे तु सम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वयोः सङ्क्रमेणैव निष्पाद्यमानत्वाद् बन्धो न सम्भवतीति तयोर्द्वाविंशतिशताद् अपनीतयोः शेषेण विंशत्युत्तरशतेनाऽधिकार इति प्रकृतिसमुत्कीर्तना कृता। प्रकृत्यर्थः स्वोपज्ञकर्मविपाकटीकायां विस्तरेण निरूपितस्ततः एवावसेय इत्यलं प्रसङ्गेन। प्रकृतं प्रस्तुमः। तत्र बन्धे सामान्येन विंशं शतं भवतीति प्रकृतम्। तदेव च विंशं शतं 'तीर्थकराहारकद्विकवर्जं' तीर्थकराहारकद्विकरहितं सत् "मिच्छम्मि" त्ति भीमसेनो भीम इत्यादिवत् पदवाच्यस्यार्थस्य पदैकदेशेनाऽप्यभिधानदर्शनात् मिथ्यात्वे मिथ्यादृष्टिगुणस्थान इत्यर्थः। एवमुत्तरेष्वपि पदवाच्येषु पदैकदेशप्रयोगो द्रष्टव्यः। "सतरसयं" ति सप्तदशाधिकं शतं सप्तदशशतं बन्धे भवतीति। अयमत्राभिप्रायः—तीर्थकर-नाम तावत् सम्यक्त्वगुणनिमित्तमेव बध्यते, आहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमाहारकद्विकं त्वप्रमत्तयतिसम्बन्धिना संयमेनैव। यदुक्तं श्रीशिवशर्मसूरिपादैः शतके—

[1]सम्मत्तगुणनिमित्तं, तित्थयरं संजमेण आहारं। (गा० ४४) इति।

मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने एतत्प्रकृतित्रयवर्जनं कृतम्, शेषं पुनः सप्तदशशतं मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिर्बध्यत इति मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने तद्बन्ध इति ॥ ३ ॥ नन्वेता मिथ्यादृष्टिप्रायोग्याः सप्तदशशतसङ्ख्याः सर्वा अपि प्रकृतय उत्तरगुणस्थानेषु गच्छन्त्युत काश्चिदेव? इत्याशङ्क्याह—

नरयतिग जाइथावरचउ हुंडायवछिवट्ठनपुमिच्छं।
सोलंतो इगहियसय, सासणि तिरिथीणदुहगतिगं ॥ ४ ॥

'नरकत्रिकं' नरकगतिनरकानुपूर्वीनरकायुर्लक्षणम् "जाइथावरचउ" त्ति चतुःशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद् 'जातिचतुष्कम्' एकेन्द्रियजातिद्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातिरूपं 'स्थावरचतुष्कं' स्थावरसूक्ष्माऽपर्याप्तसाधारणलक्षणं, हुण्डम् आतपं छेदपृष्ठं "नपु" त्ति नपुंसकवेदः "मिच्छं" ति मिथ्यात्वमित्येतासां "सोलंतु" त्ति षोडशानां प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने 'तत्र भाव उत्तरत्राभावः' इत्येवंलक्षणोऽन्तो विनाशः क्षयो भेदो व्यवच्छेद उच्छेद इति पर्यायाः। इयमत्र भावना—एता हि षोडश प्रकृतयो मिथ्यादृष्टिगुणस्थान एव बन्धमायान्ति, मिथ्यात्वप्रत्ययत्वादेतासाम्; नोत्तरत्र सास्वादनादिषु, मिथ्यात्वाभावादेव। यत एताः प्रायो नारकैकेन्द्रियविकलेन्द्रिययोग्यत्वाद् अत्यन्ताऽशुभत्वाच्च मिथ्यादृष्टिरेव बध्ना-

१ सम्यक्त्वगुणनिमित्तं तीर्थकरं संयमेनाहारम्॥

तीति सप्तदशशतात् पूर्वोक्ताद् एतदपगमे शेषमेकोत्तरं प्रकृतिशतमेवाविरत्यादिहेतुभिः सास्वादने बन्धमायाति, अत एवाह—"इगहियसय सासणि" त्ति एकाधिकशतं सास्वादने बध्यते। "इगहियसय" इत्यत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात्। एवमन्यत्रापि विभक्तिलोपः प्राकृतलक्षणवशादवसेयः। "तिरिथीणदुहगतिगं" ति। त्रिकशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, 'तिर्यक्त्रिकं' तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीतिर्यगायुर्लक्षणं 'स्त्यानर्द्धित्रिकं' निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिस्वरूपं 'दुर्भगत्रिकं, दुर्भगदुःस्वराऽनादेयस्वरूपमिति ॥ ४ ॥

अणमज्झागिइसंघयणचउ निउज्जोयकुखगइत्थि त्ति ।
पणवीसंतो मीसे, चउसयरि दुआउयअबंधा ॥ ५ ॥

चतुःशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिचतुष्कम् अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाख्यम् मध्याः—मध्यमा आद्यन्तवर्जा आकृतयः—संस्थानानि मध्याकृतयः तासां चतु[1]ष्कं—न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थानं सादिसंस्थानं वामनसंस्थानं कुब्जसंस्थानमिति, तथा काकाक्षिगोलकन्यायात् मध्यशब्दस्यात्रापि योगः, ततो मध्यानि—मध्यमानि प्रथमान्तिमवर्जानि संहननानि-अस्थिनिचयात्मकानि तेषां चतु[2]ष्कम्—ऋषभनाराचसंहननं नाराचसंहननम् अर्धनाराचसंहननं कीलिकासंहननमिति, "निउ" त्ति नीचैर्गोत्रम्, उद्योतम्, कु—कुत्सिताऽप्रशस्ता खगतिः—विहायोगतिः कुखगतिः अप्रशस्तविहायोगतिरित्यर्थः, "त्थि" ति स्त्रीवेद इत्येतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां सास्वादनेऽन्तः, अत्र बध्यन्ते नोत्तरत्रेत्यर्थः, यतोऽनन्तानुबन्धिप्रत्ययो ह्यासां बन्धः, स चोत्तरत्र नास्तीति। ततश्चैकाधिकशतात् पञ्चविंशत्यपगमे "मीसि" त्ति 'मिश्रे' सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने षट्सप्ततिर्बन्धे भवति। ततोऽपि "दुआउयअबंध" त्ति द्वयोर्मनुष्यायुर्देवायुषोरबन्धो द्व्यायुरबन्धस्तस्माद् द्व्यायुरबन्धादिति हेतोश्चतुःसप्ततिर्भवति। इदमुक्तं भवति—इह नारकतिर्यगायुषी यथासङ्ख्यं मिथ्यादृष्टिसास्वादनगुणस्थानयोर्व्यवच्छिन्ने, शेषं तु मनुष्यायुर्देवायुर्द्वयमवतिष्ठते तदपि मिश्रो न बध्नाति, मिश्रस्य सर्वथाऽऽयुर्बन्धप्रतिषेधात्। उक्तं च—

[3]सम्मामिच्छद्दिट्ठी, आउअबंधं पि न करेइ। त्ति।

ततः षट्सप्ततेरायुर्द्वयापगमे चतुःसप्ततिर्भवतीति ॥ ५ ॥

सम्मे सगसयरि जिणाउबंधि वइर नरतिग बियकसाया ।
उरलदुगंतो देसे, सत्तट्ठी तिअकसायंतो ॥ ६ ॥

"सम्मि" त्ति अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने "सगसयरि" त्ति सप्तसप्ततिप्रकृतीनां बन्धो भवति। कथम्? इति चेद् उच्यते—पूर्वोक्तैव चतुःसप्ततिः "जिणाउबंधि" त्ति तीर्थकरनाममनुष्या-

---

१ ०ष्कं मध्याकृतिचतुष्कं—न्य० ख० ॥ २ ०ष्कं संहननचतुष्कम्—ऋ० क० ख० ग० घ० ङ० ॥
३ सम्यग्मिथ्यादृष्टिरायुर्बन्धमपि न करोति ॥

युर्देवायुर्द्वयबन्धे सति सप्तसप्ततिर्भवति। एतदुक्तं भवति—तीर्थंकरनाम तावत् सम्यक्त्वप्रत्ययादेवात्र बन्धमायाति, ये च तिर्यग्मनुष्या अविरतसम्यग्दृशस्ते देवायुर्बध्नन्ति, ये तु नारकदेवास्ते मनुष्या[1]युर्बध्नन्ति, ततोऽत्रेयं प्रकृतित्रयी समधिका लभ्यते, सा च पूर्वोक्तायां चतुःसप्ततौ क्षिप्यते जाता सप्तसप्ततिरिति। "वइर" त्ति वज्रर्षभनाराचसंहननं "नरतिय" त्ति नरत्रिकं–नरगतिनरानुपूर्वीनरायुर्लक्षणं "बियकसाय" त्ति द्वितीयकषायाः–अप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः "उरलदुग" त्ति औदारिकद्विकम्–औदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणमित्येतासां दशप्रकृतीनामविरतसम्यग्दृष्टावन्तो भवति, एता अत्र बध्यन्ते नोत्तरत्रेत्यर्थः। अयमत्राभिप्रायः—द्वितीयकषायास्तावत् तदुदयाभावान्न बध्नाति देशविरतादिः; कषायाः ह्यनन्तानुबन्धिवर्जा वेद्यमाना एव बध्यन्ते, "[2]जे वेएइ ते बंधइ" इति वचनात्; अनन्तानुबन्धिनस्तु चतुर्विंशतिसत्कर्माऽनन्तवियोजको मिथ्यात्वं गतो बन्धावलिकामात्रं कालमनुदितान् बध्नाति।

यदाहुः सप्ततिकाटीकायां मोहनीयचतुर्विंशतिकावसरे **श्रीमलयगिरिपादाः**—

इह सम्यग्दृष्टिना सता केनचित् प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनो विसंयोजिताः, एतावतैव स विश्रान्तो न मिथ्यात्वादिक्षयाय उद्युक्तवान्, तथाविधसामग्र्यभावात्। ततः कालान्तरेण मिथ्यात्वं गतः सन् मिथ्यात्वप्रत्ययतो भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति। ततो बन्धावलिकां यावत् नाद्याप्यतिक्रामति तावत् तेषामुदयं विना बन्ध इति। (पत्र १३५–२)

नरत्रिकं पुनरेकान्तेन मनुष्यवेद्यम्, औदारिकद्विकं वज्रऋषभनाराचसंहननं च मनुष्यतिर्यगेकान्तवेद्यम्, देशविरतादिषु देवगतिवेद्यमेव बध्नाति नान्यत्, तेनासां दशप्रकृतीनामविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानेऽन्तः। तत एतत् प्रकृतिदशकं पूर्वोक्तसप्तसप्ततेरपनीयते, ततः "देसे सत्तट्ठि" त्ति 'देशे' देशविरतगुणस्थाने सप्तषष्टिर्बध्यते "तियकसायंतु" त्ति तृतीयकषायाणां–प्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभानां देशविरतेऽन्तः, तदुत्तरेषु तेषामुदयाभावाद् अनुदितानां चाबन्धात् "[3]जे वेयइ ते बंधइ" इति वचनाद् इति भावः। एतच्च प्रकृतिच[4]तुष्कं पूर्वोक्तसप्तषष्टेरपनीयते॥ ६॥ ततः—

तेवट्ठि पमत्ते सोग अरइ अथिरदुग अजस अस्सायं।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व, नेइ सुराउं जया निट्ठं॥ ७॥

"तेवट्ठि पमत्ति" त्ति त्रिषष्टिः प्रमत्ते बध्यते। शोकः अरतिः। "अथिरदुग" त्ति अस्थिरद्विकम्–अस्थिराऽशुभरूपम् "अजस" त्ति अयशःकीर्तिनाम असातमित्येताः षट् प्रकृतयः प्रमत्ते "वुच्छिज्ज" त्ति प्राकृतत्वादादेशस्य व्यवच्छिद्यन्ते–क्षीयन्ते बन्धमाश्रित्येति भावः। यद्वा

१ ०युर्निर्वर्तयन्ति, क० ख०॥ २—३ यान् वेदयते तान् बध्नाति ४॥ ०तुष्टयं ख० ग०॥

सप्त वा व्यवच्छिद्यन्ते । कथम् ? इत्याह—"नेइ सुराउ जया निट्ठं" ति यदा कश्चित् प्रमत्तः सन् सुरायुर्बन्द्धुमारभते निष्ठां च नयति सुरायुर्बन्धं समापयतीत्यर्थः तदा पूर्वोक्ताः षट् सुरायुःसहिताः सप्त व्यवच्छिद्यन्त इति ॥ ७ ॥

गुणसट्ठि अप्पमत्ते, सुराउबंधं तु जइ इहागच्छे ।
अन्नह अट्ठावन्ना, जं आहारगदुगं बंधे ॥ ८ ॥

"गुणसट्ठि" त्ति एकोनषष्टिरप्रमत्ते बध्यत इति शेषः । कथम् ? इत्याह—'सुरायुर्बध्नन्' देवायुर्बन्धं कुर्वन् यदि चेद् 'इह' अप्रमत्तगुणस्थान आगच्छेत् । इयमत्र भावना—सुरायुर्बन्धं हि प्रमत्त एवारभते नाऽप्रमत्तादिः, तस्यातिविशुद्धत्वात्, आयुष्कस्य तु घोलनापरिणामेनैव बन्धनात्, परं सुरायुर्बध्नन् प्रमत्ते किञ्चित् सावशेषे सुरायुर्बन्धेऽप्रमत्तेऽप्यगच्छेत्, अत्र च सावशेषं सुरायुर्निष्ठां नयति तत एकोनषष्टिरप्रमत्ते भवति "[1]देवाउयं च इक्कं, नायव्वं अप्पमत्तम्मि ।" इति वचनात् । "अन्नह अट्ठावन्न" त्ति अन्यथा यदि सुरायुर्बन्धः प्रमत्तेनारब्धः प्रमत्तेनैव निष्ठां नीतस्ततोऽष्टापञ्चाशदप्रमत्ते भवतीति ।

ननु यदि पूर्वोक्तत्रिषष्टेः शोकाऽरत्यस्थिरद्विकाऽयशोऽसातलक्षणं प्रकृतिषट्कमपनीयते तर्हि सा सप्तपञ्चाशद् भवति, अथ सुरायुःसहितं पूर्वोक्तप्रकृतिषट्कमपनीयते तर्हि षट्पञ्चाशत्, ततः कथमुक्तमेकोनषष्टिरष्टपञ्चाशद्वाऽप्रमत्ते ? इत्याशङ्क्याह—"जं आहारगदुगं बंधे" त्ति 'यद्' यस्मात् कारणाद् आहारकद्विकं बन्धे भवतीति शेषः । अयमत्राशयः—अप्रमत्तयतिसम्बन्धिना संयमविशेषेणाऽऽहारकद्विकं बध्यते, तच्चेह लभ्यत इति पूर्वापनीतमप्यत्र क्षिप्यते, ततः षट्पञ्चाशद् आहारकद्विकक्षेपेऽष्टापञ्चाशद् भवति, सप्तपञ्चाशत् पुनराहारकद्विकक्षेप एकोनषष्टिरिति ॥८॥

अडवन्न अपुव्वाइम्मि, निद्ददुगंतो छपन्न पणभागे ।
सुरदुग पणिंदि सुखगइ, तसनव उरलविणु तणुवंगा ॥९॥
समचउर निमिण जिण वन्नअगुरुलहुचउ छलंसि तीसंतो ।
चरमे छवीसबंधो, हासरईकुच्छभयभेओ ॥१०॥

"अडवन्न अपुव्वाइम्मि" त्ति । इह किलाऽपूर्वकरणाद्धायाः सप्त भागाः क्रियन्ते । तत्राऽपूर्वस्य-अपूर्वकरणस्यादिमे-प्रथमे सप्तभागेऽष्टापञ्चाशत् पूर्वोक्ता भवति । तत्र चाद्ये सप्तभागे निद्राद्विकस्य-निद्राप्रचलालक्षणस्यान्तो भवति, अत्र बध्यते नोत्तरत्रापि, उत्तरत्र तद्बन्धाध्यवसायस्थानाभावात्, उत्तरेष्वप्ययमेव हेतुरनुसरणीयः । ततः परं षट्पञ्चाशद् भवति । कथम् ? इत्याह—"पणभागि" त्ति पञ्चानां भागानां समाहारः पञ्चभागं तस्मिन् पञ्चभागे, पञ्चसु भागे-

---

१ देवायुष्कं चैकं ज्ञातव्यमप्रमत्ते ॥

ष्वित्यर्थः । इदमुक्तं भवति—अपूर्वकरणाद्धायाः सप्तसु भागेषु विवक्षितेषु प्रथमे सप्तभागेऽष्टपञ्चाशत् , तत्र च व्यवच्छिन्ननिद्राप्रचलापनयने षट्पञ्चाशत् , सा च द्वितीये सप्तभागे तृतीये सप्तभागे चतुर्थे सप्तभागे पञ्चमे सप्तभागे षष्ठे सप्तभागे भवतीत्यर्थः । तत्र च षष्ठे सप्तभागे आसां त्रिंशत्प्रकृतीनामन्तो भवति इत्याह—"सुरदुग" इत्यादि । सुरद्विकं-सुरगति-सुरानुपूर्वीरूपं "पणिंदि" त्ति पञ्चेन्द्रियजातिः, सुखगतिः-प्रशस्तविहायोगतिः "तसनव" त्ति त्रसनवकं-त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभसुभगसुस्वराऽऽदेयलक्षणं "उरल विणु" त्ति औदारिकशरीरं विना औदारिकाङ्गोपाङ्गं च विनेत्यर्थः "तणु" त्ति तनवः-शरीराणि "उवंग" त्ति उपाङ्गे । इदमुक्तं भवति—वैक्रियशरीरम् आहारकशरीरं तैजसशरीरं कार्मणशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् आहारकाङ्गोपाङ्गं चेति । "समचउर" त्ति समचतुरस्रसंस्थानं "निमिण" त्ति निर्माणं "जिण" त्ति जिननाम-तीर्थकरनामेत्यर्थः । "वन्नअगुरुलहुचउ" त्ति चतुःशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद् वर्णचतुष्कं-वर्णगन्धरसस्पर्शरूपम् , अगुरुलघुचतुष्कम्-अगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासलक्षणमित्येतासां त्रिंशत्प्रकृतीनां "छलंसि" त्ति षष्ठोंऽशः-भागः षडंशः, मयूरव्यंसकादित्वात् समासः, यथा—तृतीयो भागस्त्रिभाग इति । अत्र डकारस्य लकारो "डो लः" (सि० ८-१-२०२) इति प्राकृतसूत्रेण तस्मिन् षडंशे । ततः पूर्वोक्तषट्पञ्चाशत इमास्त्रिंशत् प्रकृतयोऽपनीयन्ते शेषाः षड्विंशतिप्रकृतयोऽपूर्वकरणस्य "चरमि" त्ति चरमे-अन्तिमे सप्तमे सप्तभागे बन्धे लभ्यन्त इत्यर्थः । चरमे च सप्तभागे हास्यं च रतिश्च "कुच्छ" त्ति कुत्सा च-जुगुप्सा भयं च हास्यरतिकुत्साभयानि तेषां भेदः-व्यवच्छेदो हास्यरतिकुत्साभयभेदो भवतीति । एताश्चतस्रः प्रकृतयः पूर्वोक्तषड्विंशतेरपनीयन्ते, शेषा द्वाविंशतिः, सा चाऽनिवृत्तिबादरप्रथमभागे भवतीति ॥ ९-१० ॥ एतदेवाह—

अनियट्टिभागपणगे, इगेगहीणो दुवीसविहबंधो ।
पुमसंजलणचउण्हं, कमेण छेओ सतर सुहुमे ॥ ११ ॥

'अनिवृत्तिभागपञ्चके' अनिवृत्तिबादराद्धायाः पञ्चसु भागेष्वित्यर्थः । स पूर्वोक्तो द्वाविंशतिबन्ध एकैकहीनो वाच्यः, एकैकस्मिन् भागे एकैकस्याः प्रकृतेर्बन्धव्यवच्छेद इत्यर्थः । कथम् ? इत्याह—"पुमसंजलणचउण्हं कमेण छेउ" त्ति क्रमेणाऽऽनुपूर्व्या प्रथमे भागे पुंवेदस्य च्छेदस्तत एकविंशतेर्बन्धः, द्वितीये भागे संज्वलनक्रोधस्य च्छेदस्ततो विंशतेर्बन्धः, तृतीये भागे संज्वलनमानस्य च्छेदस्तत एकोनविंशतेर्बन्धः, चतुर्थे भागे संज्वलनमायायाश्छेदस्ततोऽष्टादशानां बन्धः, पञ्चमभागे संज्वलनलोभस्य च्छेदः, उत्तरत्र तद्बन्धाध्यवसायस्थानाभावः, छेदहेतुः संज्वलनलोभस्य तु बादरसम्परायप्रत्ययो बन्धः, स चोत्तरत्र नास्तीत्यतश्छेदस्ततः सूक्ष्मसम्पराये सप्तदशप्रकृतीनां बन्धो भवतीत्यत आह—"सतर सुहुमि" त्ति स्पष्टम् ॥ ११ ॥

चउदंसणुच्चजसनाणविग्घदसगं ति सोलसुच्छेओ ।
तिसु सायबंध छेओ, सजोगि बंधंतुणंतो अ ॥१२॥
बंधो सम्मत्तो ।

"चउदंसण" त्ति चतुर्णां दर्शनानां समाहारश्चतुर्दर्शनं—चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनावधिदर्शन-केवलदर्शनरूपम् "उच्च" त्ति उच्चैर्गोत्रम् "जस" त्ति यशःकीर्तिनाम "नाणविग्घदसगं" ति ज्ञानावरणपञ्चकं विघ्नपञ्चकम्—अन्तरायपञ्चकमुभयमीलने ज्ञानविघ्नदशकमित्येतासां षोडशप्रकृतीनां सूक्ष्मसम्पराये बन्धस्योच्छेदो भवति, एतद्बन्धस्य साम्परायिकत्वाद् उत्तरेषु च साम्परायिकस्य कषायोदयलक्षणस्याऽभावादिति । "तिसु सायबंध" त्ति त्रिषु—उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिगुणस्थानेषु सातबन्धः सातस्य केवलयोगप्रत्ययस्य द्विसामयिकस्य तृतीयसमयेऽवस्थानाभावादिति भावः, न साम्परायिकस्य, तस्य कषायप्रत्ययत्वात् ।

आह च **भाष्यसुधाम्भोनिधिः**—

[1]उवसंतखीणमोहा, केवलिणो एगविहबंधा[2] ।
ते [3]पुण दुसमयठिइयस्स बंधगा न उण संपरायस्स[4] । इति ।

"छेओ सजोगि" त्ति डमरुकमणिन्यायात् सातबन्धशब्दस्येह सम्बन्धस्ततः सयोगिकेवलिगुणस्थाने सातबन्धस्य च्छेदः—व्यवच्छेदः ; इह सातबन्धोऽस्ति, योगसद्भावात् । नोत्तरत्राऽयोगिकेवलिगुणस्थाने, योगाभावात् । ततोऽबन्धका अयोगिकेवलिनः । उक्तं च—

[5]सेलेसी पडिवन्ना, अबन्धगा हुंति नायव्वा[6] ।

"बंधंतुणंतो अ" त्ति बन्धस्यान्तोऽनन्तश्च बन्धशब्दस्याऽग्रे षष्ठीलोपः प्राकृतत्वात् । तत इदमुक्तं भवति——यत्र हि गुणस्थाने यासां प्रकृतीनां बन्धहेतुव्यवच्छेदस्तत्र तासां बन्धस्यान्तः, यथा मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने व्यवच्छिन्नबन्धानां षोडशानां प्रकृतीनाम् मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बन्धहेतवस्तेषु मिथ्यात्वं तत्रैव व्यवच्छिन्नम् , ततश्च मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने तासां बन्धस्यान्तः, तत उत्तरेषु कारणवैकल्येन बन्धाभावात् ; इतरासां बन्धस्यानन्तः, तत उत्तरेष्वपि तद्बन्धकारणसाकल्येन बन्धभावादिति । एवमन्येष्वपि गुणस्थानेषु प्रकृतीनां स्वस्वबन्धहेतुव्यवच्छेदाव्यवच्छेदाभ्यां साकल्यवैकल्यवशाद् बन्धस्यान्तोऽनन्तश्च भावनीय इति ॥ १२ ॥

॥ इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितायां स्वोपज्ञकर्मस्तवटीकायां बन्धाधिकारः समाप्तः ॥

---

१ उपशान्तक्षीणमोहाः केवलिन एकविधबन्धाः ॥ ३ ते पुनर्द्विसमयस्थितिकस्य बन्धका न पुनः सम्परायस्य ॥ ५ शैलेशीं प्रतिपन्ना अबन्धका भवन्ति ज्ञातव्याः ॥ २-४-६ षोडशे पञ्चाशके क्रमेण ४१ गाथाया उत्तरार्धं ४२ गाथायाः पूर्वार्द्धमुत्तरार्द्धं चोपलभ्यते ॥

बन्धाधिकारमेनं, विवृण्वता यन्मयाऽर्जितं पुण्यम् ।
इह कर्मबन्धमुक्तो, लोकः सर्वोऽपि तेनास्तु ॥

साम्प्रतमुदयस्य प्रायस्तत्समानत्वाद् उदीरणायाश्च लक्षणकथनपूर्वकं कस्मिन् गुणस्थाने कियत्यः प्रकृतयस्तस्य भगवतः क्षीणाः ? इत्येतन्निर्दिदिक्षुराह--

उदओ विवागवेयणमुदीरण अपत्ति इह दुवीससयं ।
सतरसयं मिच्छे मीससम्मआहारजिणऽणुदया ॥ १३ ॥

इह कर्मपुद्गलानां यथास्वस्थितिबद्धानामुदयसमयप्राप्तानां यद् विपाकेन–अनुभवनेन वेदनं स उदय उच्यते । "उदीरण अपत्ति" त्ति कर्मपुद्गलानां यथास्वस्थितिबद्धानां यद् अप्राप्त-कालं वेदनमुदीरणा भण्यते । "इह" त्ति 'इह' उदये उदीरणायां च "दुवीससयं" ति 'द्विविंशशतं' द्वाभ्यामधिकं विंशं शतं द्विविंशशतं मयूरव्यंसकादित्वात् समासः, तत् सामा-न्यतोऽधिक्रियत इति शेषः । सप्तदशशतं "मिच्छे" त्ति मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने उदये भवति । कथम् ? इत्याह--"मीससम्मआहारजिणणुदय" त्ति, मिश्रं च "सम्म" त्ति सम्यक्त्वं च "आहार" त्ति इहाऽऽहारकशब्देन सर्वत्राऽऽहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमाहारकद्विकं गृह्यते तत आहारकं च "जिण" त्ति जिननाम च मिश्रसम्यक्त्वाहारजिनास्तेषामनुदयात् । इदमत्र हृदयम्–मिश्रोदयस्तावत् सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान एव भवति, सम्यक्त्वोदयस्त्व-विरतसम्यग्दृष्ट्यादौ, आहारकद्विकोदयः प्रमत्तादौ, जिननामोदयः सयोगिकेवल्यादौ भवति । तत इदं प्रकृतिपञ्चकं द्वाविंशतिशताद् अपनीयते ततो मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने सप्तदशशतं भवतीति ॥ १३ ॥

सुहुमतिगायवमिच्छं, मिच्छंतं सासणे इगारसयं ।
निरयाणुपुव्विणुदया, अणथावरइगविगलअंतो ॥ १४ ॥

सूक्ष्मत्रिकं च–सूक्ष्माऽपर्याप्तसाधारणरूपम् आतपं च मिथ्यात्वं च सूक्ष्मत्रिकातपमिथ्यात्वं मिथ्यात्वे–मिथ्यादृष्टावन्तो यस्य तद् मिथ्यात्वान्तम्, एतत्प्रकृतिपञ्चकस्य मिथ्यात्वेऽन्तो भवतीत्यर्थः । अयमत्राशयः–सूक्ष्मनाम्न उदयः सूक्ष्मैकेन्द्रियेषु, अपर्याप्तनाम्नस्तु सर्वे-ष्वप्यपर्याप्तकेषु, साधारणनाम्नोऽनन्तवनस्पतिषु, आतपनामोदयस्तु बादरपृथिवीकायि[1]केष्वेव; न चैतेषु स्थितो जीवः सास्वादनादित्वं लभते, नापि पूर्वप्रतिपन्नस्तेषूत्पद्यते, सास्वादनस्तु यद्यपि बादरपर्याप्तैकेन्द्रियेषूत्पद्यते तथापि न तस्यातपनामोदयः, तत्रोत्पन्नमात्रस्यासमाप्तशरीर-स्यैव सास्वादनत्ववमनात्, समाप्ते च शरीरे तत्राऽऽतपनामोदयो भवति, मिथ्यात्वोदयः

१ ०केषु च; क० ध० ॥

पुनर्मिथ्यादृष्टावेव, तेनैतासां पञ्चप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टावुदयस्यान्तः। तत इदं प्रकृतिपञ्चकं पूर्वोक्तसप्तदशशताद् अपनीयते शेषं द्वादशशतं सास्वादने उदयं प्रतीत्य भवति, नरकानुपूर्व्यपनयने चैकादशशतं भवतीत्येतदेवाह—"सासणे इगारसयं निरयाणुपुव्विणुदय" त्ति सास्वादन एकादशशतमुदये भवति, नरकानुपूर्व्यनुदयात्, नरकानुपूर्व्या उदयो हि नरके वक्रेण गच्छतो जीवस्य भवति, न च सास्वादनो नरकं गच्छति।

यदुक्तं बृहत्कर्मस्तवभाष्ये—

[2]नरयाणुपुव्वियाए, सासणसम्मम्मि होइ न हु उदओ।
नरयम्मि जं न गच्छइ, अवणिज्जइ तेण सा तस्स॥ (गा०८)

ततो नरकानुपूर्वी मिथ्यादृष्टिव्यवच्छिन्नसूक्ष्मत्रिकातपमिथ्यात्वलक्षणप्रकृतिपञ्चकं च सप्तदशशताद् अपनीयते शेषं सासादने एकादशशतं भवतीति। "अणथावरइगविगलअंतु" त्ति "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः स्थावरनाम "इग" त्ति एकेन्द्रियजातिः विकलाः—पञ्चेन्द्रियजात्यपेक्षयाऽसम्पूर्णा द्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातय इत्यर्थः, इत्येतासां नवानां प्रकृतीनां सास्वादनेऽन्त उदयमाश्रित्य भवति। इयमत्र भावना—अनन्तानुबन्धिनामुदये हि सम्यक्त्वलाभ एव न भवति।

यदाहुः श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः—

[3]पढमिल्लुयाण उदए, नियमा संजोयणाकसायाणं।
सम्मद्दंसणलंभं, भवसिद्धीया वि न लहंति॥ (आ० नि० गा० १०८)

नापि सम्यग्मिथ्यात्वं कोऽप्यनन्तानुबन्ध्युदये गच्छति, योऽपि पूर्वप्रतिपन्नसम्यक्त्वोऽनन्तानुबन्धिनामुदयं करोति सोऽपि सास्वादन एव भवतीत्युत्तरेष्वासामुदयाभावः। स्थावरैकेन्द्रियजातिविकलेन्द्रियजातयस्तु यथास्वमेकेन्द्रियविकलेन्द्रियवेद्या एव। उत्तरगुणस्थानानि तु संज्ञिपञ्चेन्द्रिय एव प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नोऽपि पञ्चेन्द्रियेष्वेव गच्छतीत्युत्तरेष्वासामुदयाभाव इति॥ १४॥

मीसे सयमणुपुव्वीणुदया मीसोदएण मीसंतो।
चउसयमजए सम्माणुपुव्विखेवा बियकसाया॥ १५॥

'मिश्रे' सम्यग्मिथ्यादृष्टौ शतमुदये भवति, कथम्? इत्याह—"अणुपुव्वीणुदय" त्ति, इहानुपूर्वीशब्देन तिर्यगानुपूर्वीमनुजानुपूर्वीदेवानुपूर्वीलक्षणा आनुपूर्वीत्रयी गृह्यते तस्या अनुद-

---

१ ०व्युदं० ख० ग०॥ २ नरकानुपूर्व्याः सासादनसम्यक्त्वे भवति न ह्युदयः। नरकं यन्न गच्छति अपनीयते तेन सा तस्य॥ ३ प्रथमानामुदये नियमात् संयोजनाकषायाणाम्। सम्यग्दर्शनलाभं भवसिद्धिका अपि न लभन्ते॥

यात् मिश्रोदयेन च । अयमत्र भावः---नरकानुपूर्वी तावद् उदयमाश्रित्य सास्वादने व्यवच्छिन्ना, इह सा न गृह्यते; शेषमानुपूर्वीत्रिकं मिश्रदृष्टेर्नोदेति, तस्य मरणाभावात् "[1]न सम्ममीसो कुणइ कालं" इति वचनात्; मिश्रप्रकृतिः पुनरत्रोदये प्राप्यते, ततः सास्वादनव्यवच्छिन्नं प्रकृतिनवकमानुपूर्वीत्रिकं च पूर्वोक्तैकादशशताद् अपनीयते शेषा तिष्ठति प्रकृतीनां नवनवतिः, तत्र मिश्रप्रकृतिप्रक्षेपे जातं शतमिति । "मीसंतु" त्ति मिश्रगुणस्थाने मिश्रप्रकृतेरन्तो भवति, एतदुदये हि मिश्रदृष्टिरेव भवति नान्य इति । "चउसयमजए सम्माणुपुव्विखेव" त्ति चतुर्भिरधिकं शतं चतुःशतमुदये भवति, क्व? इत्याह—'अयते' अविरतसम्यग्दृष्टौ, कथम्? इत्याह—"सम्म" त्ति सम्यक्त्वं "अणुपुव्वि" त्ति आनुपूर्व्यश्चतस्रस्तासां क्षेपात्–प्रक्षेपात् । इदमुक्तं भवति---पूर्वोक्तशताद् मिश्रगुणस्थानव्यवच्छिन्नैका मिश्रप्रकृतिरपनीयते, शेषा नवनवतिः, तत्र सम्यक्त्वानुपूर्वीचतुष्कलक्षणं प्रकृतिपञ्चकं क्षिप्यते जातं चतुःशतम्, यतः सम्यक्त्वमत्र गुणे उदयत एव, तथाऽविरतसम्यग्दृशां यथास्वं चतस्रोऽप्यानुपूर्व्य इति । "बियकसाय" त्ति द्वितीयकषायाः–अप्रत्याख्यानावरणाश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः ॥ १५ ॥

मणुतिरिणुपुव्वि विउवऽट्ठ दुहग अणाइज्जदुग सतरछेओ ।
सगसीइ देसि तिरिगइआउ निउज्जोय तिकसाया ॥ १६ ॥

"मणुतिरिणुपुव्वि" त्ति आनुपूर्वीशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद् मनुजानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी "विउवऽट्ठ" त्ति वैक्रियाष्टकं–वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गदेवगतिदेवानुपूर्वीदेवायुर्नरकगतिनरकानुपूर्वीनरकायुर्लक्षणं दुर्भगम् अनादेयद्विकम्–अनादेयाऽयशःकीर्तिरूपम् इत्येतासां सप्तदशप्रकृतीनामविरतसम्यग्दृष्टावुदयं प्रतीत्य च्छेदो भवति । तत इमाः सप्तदश प्रकृतयः पूर्वोक्तचतुःशताद् अपनीयन्ते शेषा "सगसीइ देसि" त्ति सप्ताशीतिः "देसि" त्ति देशविरते उदये भवति । इदमत्र तात्पर्यम्--द्वितीयकषायोदये हि देशविरतेर्लाभ आगमे निषिद्धः; यदागमः—

[2]बीयकसायाणुदए, अप्पच्चक्खाणनामधिज्जाणं ।
सम्मदंसणलंभं विरयाविरयं न उ लहंति ॥ (आ० नि० गा० १०८)

नापि पूर्वप्रतिपन्नदेशविरत्यादेर्जीवस्य तदुदयसम्भवस्तेनोत्तरेषु तदुदयाभावः; मनुजानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्व्योस्तु परभवादिसमयेषु त्रिष्वपान्तरालगतावुदयसम्भवः, स च यथायोगं मनुजतिरश्चां वर्षाष्टकाद् उपरिष्टात् सम्भविषु देशविरत्यादिगुणस्थानेषु न सम्भवति; देवत्रिकं

१ न सम्यग्मिश्रः करोति कालम् ॥ २ द्वितीयकषायाणामुदये अप्रत्याख्याननामधेयानाम् । सम्यग्दर्शनलाभं विरताविरतं न तु लभन्ते ॥

नारकत्रिकं च देवनारकवेद्यमेव, न च तेषु देशविरत्यादेः सम्भवः, वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोस्तु देवनारकेषूदयः, तिर्यग्मनुष्येषु तु प्राचुर्येणाऽविरतसम्यग्दृष्ट्यन्तेषु; यस्तूत्तरगुणस्थानेष्वपि केषाञ्चिदागमे **विष्णुकुमारस्थूलभद्रादीनां** वैक्रियद्विकस्योदयः श्रूयते स प्रविरलतरत्वादिना केनापि कारणेन पूर्वाचार्यैर्न विवक्षित[1] इत्यस्माभिरपि न विवक्षित इति; दुर्भगमनादेयद्विकमित्येतास्तु तिस्रः प्रकृतयो देशविरत्यादिषु गुणप्रत्ययाद् नोदयन्त इत्येता अविरते व्यवच्छिन्ना इति । "तिरिगइआउ" त्ति तिर्यक्शब्दस्य प्रत्येकं योगात् तिर्यग्गतिस्तिर्यगायुः "निउज्जोय" त्ति नीचैर्गोत्रमुद्योतं च "तिकसाय" त्ति तृतीयाः कषायास्त्रिकषाया मयूरव्यंसकादित्वात् पूरणप्रत्ययलोपी समासः, प्रत्याख्यानावरणाश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः ॥ १६ ॥

अट्ठच्छेओ इगसी, पमत्ति आहारजुगलपक्खेवा ।
थीणतिगाहारगदुगछेओ छस्सयरि अपमत्ते ॥ १७ ॥

पूर्वोक्ताष्टप्रकृतीनां देशविरते उदयमाश्रित्य च्छेदो भवति, ततः प्रमत्ते एकाशीतिर्भवति, आहारकयुगलप्रक्षेपात् । इदमत्र हृदयम्–तिर्यग्गतितिर्यगायुषी तिर्यग्वेद्ये एव, तेषु च देशविरतान्तान्येव गुणस्थानानि घटन्ते नोत्तराणीत्युत्तरेषु तदुदयाभावः; नीचैर्गोत्रं तु तिर्यग्गतिस्वाभाव्याद् ध्रुवोदयिकं न परावर्तते, ततश्च देशविरतस्यापि तिरश्चो नीचैर्गोत्रोदयोऽस्त्येव, मनुजेषु पुनः सर्वस्य देशविरतादेगुणिनो गुणप्रत्ययाद् उच्चैर्गोत्रमेवोदेतीत्युत्तरत्र नीचैर्गोत्रोदयाभावः, उद्योतनाम स्वभावतस्तिर्यग्वेद्यम् , तेषु च देशविरतान्तान्येव गुणस्थानानि नोत्तराणीत्युत्तरेषु तदुदयाभावः, यद्यपि यतिवैक्रियेऽप्युद्योतनामोदेति "[2]उत्तरदेहे च देवजई" इति वचनात् तथापि स्वल्पत्वादिना केनापि कारणेन पूर्वाचार्यैर्न विवक्षितमित्यस्माभिरपि न विवक्षितम् , तृतीयकषायोदये हि चारित्रलाभ एव न भवति, उक्तं च पूज्यैः–

[3]तइयकसायाणुदए, पच्चक्खाणावरणनामधिज्जाणं ।
देसिक्कदेसविरइं, चरित्तलंभं न उ लहंति ॥ (आ० नि० गा० ११०)

न च पूर्वप्रतिपन्नचारित्रस्य तदुदयसम्भव इत्युत्तरेषु तदुदयाभाव इत्येता अष्टौ प्रकृतयः पूर्वोक्तसप्ताशीतेरपनीयन्ते शेषा एकोनाशीतिः, तत आहारकयुगलं क्षिप्यते, यतः प्रमत्तयतेराहारकयुगलस्योदयो भवतीत्येकाशीतिः । "थीणतिग" त्ति स्त्यानर्द्धित्रिकं–निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिरूपम् आहारकद्विकम्–आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमिति प्रकृतिपञ्चकस्य

१ ०त इति । दुर्भ० क० घ० ङ० ॥ २ उत्तरदेहे च देवयती ॥ ३ तृतीयकषायाणामुदये प्रत्याख्यानावरणनामधेयानाम् । देशैकदेशविरतिं चारित्रलाभं न तु लभन्ते ॥

प्रमत्ते छेदो भवति, ततः पूर्वोक्तैकाशीतेरिदं प्रकृतिपञ्चकमपनीयते शेषा षट्सप्ततिरप्रमत्ते उदये भवति । अयमत्राशयः–स्त्यानर्द्धित्रिकोदयः प्रमादरूपत्वाद् अप्रमत्ते न सम्भवति, आहारकद्विकं च विकुर्वाणो यतिरौत्सुक्याद् अवश्यं प्रमादवशगो भवत्यत इदमप्यप्रमत्ते उदयमाश्रित्य न जाघटीति, यत्पुनरिदमन्यत्र श्रूयते-प्रमत्तयतिराहारकं विकृत्य पश्चाद् विशुद्धिवशात् तत्रस्थ एवाप्रमत्ततां यातीति तत् केनापि स्वल्पत्वादिना कारणेन पूर्वाचार्यैर्न विवक्षितमित्यस्माभिरपि न विवक्षितमिति ॥ १७ ॥

सम्मत्तंतिमसंघयणतिगच्छेओ बिसत्तरि अपुव्वे ।
हासाइछक्कअंतो, छसट्ठि अनियट्टि वेयतिगं ॥ १८ ॥

सम्यक्त्वम् अन्तिमसंहननत्रिकम्–अर्धनाराचसंहननकीलिकासंहननसेवार्तसंहननरूपमित्येतत्प्रकृतिचतुष्टयस्याप्रमत्ते छेदो भवति, तत इदं प्रकृतिचतुष्कं पूर्वोक्तषट्सप्ततेरपनीयते शेषा द्वासप्ततिः "अपुव्वि" त्ति अपूर्वकरणे उदये भवतीति । अयमत्राशयः–सम्यक्त्वे क्षपिते उपशमिते वा श्रेणिद्वयमारुह्यत इत्यपूर्वकरणादौ तदुदयाभावः, अन्तिमसंहननत्रयोदये तु श्रेणिमारोढुमेव न शक्यते तथाविधशुद्धेरभावाद् इत्युत्तरेषु तदुदयाभावः । "हासाइछक्कअंतु" त्ति हास्यमादौ यस्य षट्कस्य तद् हास्यादिषट्कं–हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साख्यं तस्यान्तोऽपूर्वकरणे भवति, संक्लिष्टतरपरिणामत्वाद् एतस्य, उत्तरेषां च विशुद्धतरपरिणामत्वात् तेषु तदुदयाभाव इति । उत्तरेष्वप्ययमुदयव्यवच्छेदहेतुरनुसरणीयः । तत इदं प्रकृतिषट्कं पूर्वोक्तद्विसप्ततेरपनीयते शेषा "छसट्ठि अनियट्टि" त्ति षट्षष्टिरनिवृत्तिबादरे भवति, उदयमाश्रित्येति शेषः । "वेयतिगं" ति वेदत्रिकं–स्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदाख्यम् ॥ १८ ॥

संजलणतिगं छच्छेओ सट्ठि सुहुमम्मि तुरियलोभंतो ।
उवसंतगुणे गुणसट्ठि रिसहनारायदुगअंतो ॥ १९ ॥

'संज्वलनत्रिकं' संज्वलनक्रोधमानमायारूपमित्येतासां षण्णां प्रकृतीनामनिवृत्तिबादरे छेदो भवति । तत्र स्त्रियाः श्रेणिमारोहन्त्याः स्त्रीवेदस्य प्रथममुदयच्छेदः ततः क्रमेण पुंवेदस्य नपुंसकवेदस्य संज्वलनत्रयस्य चेति, पुंसस्तु श्रेणिमारोहतः प्रथमं पुंवेदस्योदयच्छेदस्ततः क्रमेण स्त्रीवेदस्य षण्ढवेदस्य संज्वलनत्रयस्य चेति, षण्ढस्य तु श्रेणिमारोहतः प्रथमं षण्ढवेदस्योदयच्छेदस्ततः स्त्रीवेदस्य पुंवेदस्य संज्वलनत्रयस्य चेति । एतत्प्रकृतिषट्कं पूर्वोक्तषट्षष्टेरपनीयते, शेषा "सट्ठि सुहुमम्मि" त्ति षष्टिः सूक्ष्मसंपराये उदये भवति । अत्र च 'तुर्यलोभान्तः' चतुर्थलोभान्तः संज्वलनलोभव्यवच्छेद इत्यर्थः । तत इयमेका प्रकृतिः षष्टेरपनीयते शेषा 'उपशान्तगुणे' उपशान्तमोहगुणस्थाने एकोनषष्टिरुदये भवति । "रिसहनारायदुगअंतु" त्ति ऋषभ-

नाराचद्विकम्–ऋषभनाराचसंहनननाराचसंहननाख्यं तस्यान्त उपशान्तगुणे भवति, प्रथमसंहननेनैव क्षपकश्रेण्यारोहणात् क्षीणमोहादौ तदुदयाभावः । उपशमश्रेणिस्तु प्रथमसंहननत्रयेणारुह्यते, तत इदं प्रकृतिद्वयं पूर्वोक्तैकोनषष्टेरपनीयते, शेषा ॥ १९ ॥

सगवन्न खीण दुचरमि, निद्दुगंतो य चरमि पणपन्ना ।
नाणंतरायदंसणचउ छेओ सजोगि बायाला ॥ २० ॥

सप्तपञ्चाशत् "खीण" त्ति क्षीणमोहस्य "दुचरिमि" त्ति द्विचरमसमये–चरमसमयादर्वाग् द्वितीये समये निद्राद्विकस्य–निद्राप्रचलाख्यस्य क्षीणद्विचरमसमयेऽन्त इत्येतत् प्रकृतिद्वयं पूर्वोक्तसप्तपञ्चाशतोऽपनीयते ततः "चरमि" त्ति चरमसमये क्षीणमोहस्येति शेषः, "पणपन्न" त्ति पञ्चपञ्चाशद् उदये भवति । इदमुक्तं भवति–निद्राप्रचलयोः क्षीणमोहस्य द्विचरमसमये उदयच्छेदः । अपरे पुनराहुः–उपशान्तमोहे निद्राप्रचलयोरुदयच्छेदः, पञ्चानामपि निद्राणां घोलनापरिणामे भवत्युदयः, क्षपकाणां त्वतिविशुद्धत्वाद् न निद्रोदयसम्भवः, उपशमकानां पुनरनतिविशुद्धत्वात् स्यादपीति "नाणंतरायदंसणचउ" त्ति ज्ञानावरणपञ्चकं–मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानावरणरूपम् अन्तरायपञ्चकं–दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायाख्यं दर्शनचतुष्कं–चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणलक्षणमित्येतासां क्षीणमोहचरमसमये छेदो भवति, तदनन्तरं क्षीणमोहत्वाद् इत्येतत्प्रकृतिचतुर्दशकं पूर्वोक्तपञ्चपञ्चाशतोऽपनीयते, शेषैकचत्वारिंशत् तीर्थकरनामोदयाच्च तत्प्रक्षेपे द्वाचत्वारिंशत् सयोगिकेवलिनि भवतीति । एतदेवाह— "सजोगि बायाल" त्ति स्पष्टम् ॥ २० ॥

तित्थुदया उरलाऽथिरखगइदुग परित्ततिग छ संठाणा ।
अगुरुलहुवन्नचउ निमिणतेयकम्माइसंघयणं ॥ २१ ॥

ननु पञ्चपञ्चाशतो ज्ञानावरणपञ्चकाऽन्तरायपञ्चकदर्शनचतुष्कलक्षणप्रकृतिचतुर्दशकापनयन एकचत्वारिंशदेव भवति, ततः कथमुक्तं सयोगिनि द्विचत्वारिंशत् ?, इत्याह—"तित्थुदय" त्ति 'तीर्थोदयात्' तीर्थकरनामोदयादित्यर्थः । यतः सयोग्यादौ तीर्थकरनामोदयो भवति, यदुक्तम्—

[1]उदए जस्स सुरासुरनरवइनिवहेहिँ पूइओ होइ ।
तं तित्थयरनामं, तस्स विवागो हु केवलिणो ॥ (बृ० क० वि० गा० १४६)

ततः पूर्वोक्तैकचत्वारिंशति तीर्थकरनाम क्षिप्यते जाता द्विचत्वारिंशत्, सा च सयोगिनि भवतीति । "उरलाऽथिरखगइदुग' त्ति द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् औदारिकद्विकम्–औदारिक-

१ उदये यस्य सुरासुरनरपतिनिवहैः पूजितो भवति । तत् तीर्थकरनाम तस्य विपाको हि केवलिनः ॥

शरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणम् अस्थिरद्विकम्—अस्थिराऽशुभाख्यं खगतिद्विकं—शुभविहायोगत्य-शुभविहायोगतिरूपम् "परित्ततिग" त्ति प्रत्येकत्रिकम्—प्रत्येकस्थिरशुभाख्यम् "छ संठाण" त्ति षट्संस्थानानि—समचतुरस्रन्यग्रोधपरिमण्डलसादिवामनकुब्जहुण्डस्वरूपाणि संस्थानशब्दस्य च पुंस्त्वं प्राकृतलक्षणवशात्, यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे-"लिंगं व्यभिचार्यपि"। "अगुरु-लहुवन्नचउ" त्ति चतुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् अगुरुलघुचतुष्कम्—अगुरुलघूपघातपराघातो-च्छ्वासाख्यं वर्णचतुष्कं—वर्णगन्धरसस्पर्शरूपम्—"निमिण" त्ति निर्माणं "तेय" त्ति तैजसशरीरं "कम्म" त्ति कार्मणशरीरं "आइसंघयणं" ति प्रथमसंहननं—वज्रर्षभनाराचसंहननमित्यर्थः ॥२१॥

दूसर सूसर सायासाएगयरं च तीस वुच्छेओ ।

बारस अजोगि सुभगाइज्जजसन्नयरवेयणियं ॥ २२ ॥

तसतिग पणिंदि मणुयाउगइ जिणुच्चं ति चरमसमयंता ।

॥ उदओ सम्मत्तो ॥

दुःस्वरं सुस्वरं सातं च—सुखम् असातं च—दुःखं सातासाते तयोरेकतरम्—अन्यतरत् सातं वाऽसातं वेत्यर्थः, [1]तदेतासां त्रिंशतः प्रकृतीनां सयोगिकेवलिन्युदयव्यवच्छेदः । तत्रैकतरवेदनीयं यदयोगिकेवलिनि न वेदयितव्यं तत् सयोगिकेवलिचरमसमये व्युच्छिन्नोदयं भवति, पुनरु-त्तस्योदयाभावात् । दुःस्वरसुस्वरनाम्नोस्तु भाषापुद्गलविपाकित्वाद् वाग्योगिनामेवोदयः, शेषाणां पुनः शरीरपुद्गलविपाकित्वात् काययोगिनामेव । तेन हि योगेन पुद्गलग्रहणपरिणा-मालम्बनानि, ततस्तेषु गृहीतेष्वेतेषां कर्मणां स्वस्वविपाकेनोदयो भवति, तेनाऽयोगिकेवलिनि तद्योगाभावात् तदुदयाभाव इति एतास्त्रिंशत् प्रकृतयः पूर्वोक्तद्विचत्वारिंशतोऽपनीयन्ते, ततः शेषा द्वादश प्रकृतयोऽयोगिकेवलिन्युदयमाश्रित्य भवन्तीति । एतदेवाह—"बारस अजोगि" इत्यादि । द्वादश प्रकृतयोऽयोगिकेवलिनि "चरमसमयान्ताः" चरमसमयेऽयोगिकेवलिगुणस्थान-स्यान्तः व्यवच्छेदो यासां ताश्चरमसमयान्ताः । ता एवाह—सुभगं आदेयं "जस" त्ति यशः-कीर्तिनाम अन्यतरवेदनीयं सयोगिकेवलिचरमसमयव्यवच्छिन्नोद्धरितं वेदनीयमित्यर्थः ॥२२॥

"तसतिगं" ति त्रसत्रिकं—त्रसबादरपर्याप्ताख्यं "पणिंदि" त्ति पञ्चेन्द्रियजातिः "मणुयाउ-गइ" त्ति मनुजशब्दस्य प्रत्येकं योगात् मनुजायुर्मनुजगतिः "जिण" त्ति जिननाम "उच्चं" ति उच्चैर्गोत्रम् इतिशब्दो द्वादशप्रकृतिपरिसमाप्तिद्योतक इति ॥

॥ इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितायां स्वोपज्ञकर्मस्तवटीकायामुदयाधिकारः समाप्तः ॥

उदयाधिकारमेनं, विवृण्वता यन्मयाऽर्जितं सुकृतम् ।

दुष्कर्मोदयरहितो, लोकः सर्वोऽपि तेनास्तु ॥

---

१ तत एता० ख० ङ० ॥

अथ तस्य भगवतः कस्मिन् गुणस्थाने कियत्यः प्रकृतय उदीरणामाश्रित्य व्यवच्छिन्ना ? इत्येतदतिदेशद्वारेणाह—

उदय व्वुदीरणा परमपमत्ताईसगगुणेसु ॥ २३ ॥

उदयवद् उदीरणा पूर्वोक्तशब्दार्था गुणस्थानेषु वक्तव्या। किमुक्तं भवति ? यावतीनां प्रकृतीनामुदयस्वामी तावतीनामुदीरणास्वाम्यपीति। अतिप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थमाह—"परमपमत्ताईसगगुणेसु" त्ति 'परं' केवलमियान् विशेषः—अप्रमत्त आदौ येषां तेऽप्रमत्तादयः गुणाः—गुणस्थानानि, सप्त च ते गुणाश्च सप्तगुणाः, अप्रमत्तादयश्च ते सप्तगुणाश्च अप्रमत्तादिसप्तगुणास्तेष्वप्रमत्तादिसप्तगुणेषु ॥ २३ ॥ किम् ? इत्याह—

एसा पयडितिगूणा, वेयणियाऽऽहारजुगल थीणतिगं।
मणुयाउ पमत्तंता; अजोगि अणुदीरगो भगवं ॥ २४ ॥

॥ उदीरणा सम्मत्ता ॥

'एषा' उदीरणा प्रकृतित्रिकेण ऊना—हीना वक्तव्या। इयमत्र भावना—मिथ्यादृष्टेः सप्तदशोत्तरशतस्योदयः, उदीरणाऽप्येवम्। सास्वादनस्य एकादशशतस्योदयस्तथैवोदीरणाऽपि। मिश्रस्योदयः शतस्य, उदीरणाऽपि। अविरतसम्यग्दृष्टेरुदयश्चतुरुत्तरशतस्य, तथैवोदीरणा। देशविरतस्य सप्ताशीतेरुदयः, उदीरणाऽपि। प्रमत्तस्यैकाशीतेरुदयः, उदीरणाऽपि च। अप्रमत्ते उदयः षट्सप्ततेः, उदीरणा त्रिसप्ततेः १ अपूर्वकरणे उदयो द्विसप्ततेः, उदीरणा एकोनसप्ततेः २। अनिवृत्तिबादरे उदयः षट्षष्टेः उदीरणा त्रिषष्टेः ३। सूक्ष्मसम्पराये उदयः षष्टेः, उदीरणा सप्तपञ्चाशतः ४। उपशान्तमोहे उदय एकोनषष्टेः उदीरणा षट्पञ्चाशतः ५। क्षीणमोहे उदयः सप्तपञ्चाशतः, उदीरणा चतुष्पञ्चाशतः ६। सयोगिकेवलिन्युदयो द्विचत्वारिंशतः उदीरणा एकोनचत्वारिंशत ७। इति ननु केन प्रकृतित्रिकेणाऽप्रमत्तादिषूदीरणा ऊना ? इत्याशङ्क्याह—वेयणियाहारजुगल" त्ति युगलशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद् वेदनीययुगलं—सातवेदनीयाऽसातवेदनीयरूपम् आहारकयुगलम्—आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणम्, "थीणतिगं" ति 'स्त्यानर्द्धित्रिकं' निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिरूपं, मनुष्यायुः इत्येतासामष्टानां प्रकृतीनां प्रमत्तेऽन्तः—व्यवच्छेद उदीरणां प्रतीत्य यासां ताः प्रमत्तान्ताः। अयमत्र भावार्थः—स्त्यानर्द्धित्रिकं) प्रमादरूपत्वाद् अप्रमत्तादिषु नास्त्येव, कुतस्तेषु तदुदीरणा ?; आहारकशरीरं च विकुर्वाण औत्सुक्याद् यतिः प्रमत्त एवेति अप्रमत्तादिषु तदपि नास्ति, कुतस्तेषु तदुदीरणा ?; सातासातमनुजायुषां हि प्रमादसहितेनैव योगेनोदीरणा भवति नान्येनेत्युत्तरेषु न तदुदीरणा। तदयमत्र तात्पर्यार्थः—उदयमाश्रित्य प्रमत्ते हि स्त्यानर्द्धित्रिकाहारकद्विका-

रूयपञ्चप्रकृतयो व्यवच्छिद्यन्ते, उदीरणामाश्रित्य पुनः स्त्यानर्द्धित्रिकाहारकद्विकसातासातमनुजायुर्लक्षणा अष्टौ प्रकृतय इति मनुजायुःसातासातरूपप्रकृतित्रयेणाऽप्रमत्तादिषु ऊना उदीरणा वाच्येति । 'अयोगी' अयोगिकेवली 'अनुदीरकः' न किमपि कर्मोदीरणया क्षिपति, योगाभावात्, उदीरणा हि योग/कृ`तकरणविशेष इति भगवान् परमप्रयत्नवान् सर्वसंवररूपचारित्रधर्मवान् वेत्यर्थः ॥२४॥

इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितायां स्वोपज्ञकर्मस्तवटीकायामुदीरणाधिकारः समाप्तः ॥

सुकृतं मया यदाप्तं, विवृण्वतोदीरणाधिकारमिमम् ।
तेनास्तु सर्वलोको, दुष्कर्मोदीरणारहितः ॥

अथ सत्तालक्षणकथनपूर्वकं यथा तेन भगवता त्रिलोकीपतिना श्रीमद्वर्धमानस्वामिना सत्तामाश्रित्य गुणस्थानेषु कर्माणि क्षपितानि तथा प्रतिपादयन्नाह—

सत्ता कम्माण ठिई, बंधाईलद्धअत्तलाभाणं ।
संते अडयालसयं, जा उवसमु विजिणु बियतइए ॥२५॥

सत्ता उच्यत इति शेषः, किम् ? इत्याह–'कर्मणां' ज्ञानावरणादियोग्यपरमाणूनां स्थितिः अवस्थानं सद्भाव इति पर्यायाः । किंविशिष्टानां कर्मणाम् ? इत्याह—'बन्धादिलब्धात्मलाभानां' तत्र मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिः कर्मयोग्यपुद्गलैरात्मनो वह्न्ययःपिण्डवद् अन्योऽन्यानु[1]गमाभेदात्मकः सम्बन्धो बन्धः, आदिशब्दात् सङ्क्रमकरणादिपरिग्रहः, ततो बन्धादिभिर्लब्धः–प्राप्त आत्मलाभः–आत्मस्वरूपं यैस्तानि बन्धादिलब्धात्मलाभानि तेषां बन्धादिलब्धात्मलाभानां कर्मणां या स्थितिः सा सत्ता, तस्यां "संते" त्ति सत्कर्मणि–सत्तायामष्टाचत्वारिंशं शतं प्रकृतीनां भवति । कियन्ति गुणस्थानानि यावद् ? इत्याह—"जा उवसमु" त्ति 'यावदुपशमम्' उपशान्तमोहम् । अयमर्थः—मिथ्यादृष्टिगुणस्थानात् प्रभृत्युपशान्तमोहगुणस्थानं यावदष्टाचत्वारिंशं शतं सत्तायां भवति । किमविशेषेण ? नेत्याह–"विजिणु बियतइए" त्ति विगतं जिननाम यस्मात् तद् विजिनं जिननामविरहितं तदेवाष्टाचत्वारिंशं शतं भवति । क्व ? इत्याह–द्वितीये–सास्वादने तृतीये–मिश्रदृष्टौ, "[3]सासणमिस्सरहिएसु वा तित्थं" इति वचनात् सास्वादनमिश्रयोः सप्तचत्वारिंशं शतं भवतीत्यर्थः । इदमत्र हृदयम्–इह मिथ्यादृष्टेरष्टचत्वारिंशमपि शतं सत्तायाम्; यदा हि प्राग्बद्धनरकायुः क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वमवाप्य तीर्थकरनाम्नो बन्धमारभते तदाऽसौ नरकेषूत्पद्यमानः सम्यक्त्वमवश्यं वमतीति मिथ्यादृष्टे-

---

१ °तः कर० ग० ङ० ॥ २ °गमोऽभे० ङ० ॥ ३ सास्वादनमिश्ररहितेषु वा तीर्थङ्करम् ॥

स्तीर्थकरनाम्नोऽपि सत्ता सम्भवतिः सास्वादनमिश्रयोस्तु तस्मिन्नेव जिननामरहिते सप्तचत्वारिंशं शतं सत्तायां, जिननामसत्कर्मणो जीवस्य तद्भावाऽनवाप्तेः, तद्बन्धारम्भस्य च शुद्धसम्यक्त्वप्रत्ययत्वात् । यदुक्तं **बृहत्कर्मस्तवभाष्ये**--

[1]तित्थयरेण विहीणं, सीयालसयं तु संतए होइ ।
सासायणम्मि उ गुणे, सम्मामीसे य पयडीणं ॥ (गा० २५)

अविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनामक्षिप्तदर्शनसप्तकानामष्टचत्वारिंशस्यापि शतस्य सत्ता सम्भवतीति ॥२५॥

अप्पुव्वाइचउक्के, अण तिरिनिरयाउ विणु बिआलसयं ।
सम्माइचउसु सत्तगखयम्मि इगचत्तसयमहवा ॥२६॥

गाथापर्यन्तवर्त्यथवाशब्दस्य सम्बन्धात् पूर्वं तावदष्टचत्वारिंशं शतं सत्तायामुक्तम्, अथवाऽयमपरः सत्तामाश्रित्य भेदः, तथाहि–'अपूर्वादिचतुष्के' अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहरूपे "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिचतुष्कं "तिरिनिरयाउ" त्ति आयुःशब्दस्य प्रत्येकं योगात् तिर्यगायुर्नरकायुश्च विना द्विचत्वारिंशं शतं भवतीति । अयमाशयः–यः कश्चिद् विसंयोजितानन्तानुबन्धिचतुष्को बद्धदेवायुर्मनुजायुषि वर्तमान उपशमश्रेणिमारोहति, तस्य तिर्यगायुर्नरकायुरनन्तानुबन्धिचतुष्कलक्षणप्रकृतिषट्करहितं शेषं द्विचत्वारिंशं शतं सत्तायां प्राप्यते । यदुक्तं **बृहत्कर्मस्तवभाष्ये**--

[2]अणतिरिनारयरहियं, बायालसयं वियाण संतम्मि ।
उवसामगस्सऽपुव्वानियट्टि सुहुमो व संतम्मि ॥ (गा० २६)

"सम्माइचउसु" त्ति सम्यक्त्वादिचतुर्षु--अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तेषु "सत्तगखयम्मि" त्ति अनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वलक्षणसप्तकक्षये सत्येकचत्वारिंशं शतमथवा सत्तायां भवति । इहाप्यथवाशब्द आवृत्त्या योज्यते । यदुक्तं **बृहत्कर्मस्तवसूत्रे**--

[3]अणमिच्छमीससम्मं, अविरयसम्माइअप्पमत्तंता । (गा० ६) इति ॥२६॥

खवगं तु पप्प चउसु वि, पणयालं नरयतिरिसुराउ विणा ।
सत्तग विणु अडतीसं, जा अनियट्टी पढमभागो ॥२७॥

---

१ तीर्थकरेण विहीनं सप्तचत्वारिंशं शतं तु सत्तायां भवति । सास्वादने तु गुणे सम्यग्मिश्रे च प्रकृतीनाम् ॥ २ अनतिर्यङ्नारकरहितं द्वाचत्वारिंशं शतं विजानीहि सत्तायाम् । उपशामकस्य अपूर्वस्याऽनिवृत्तेः सूक्ष्मस्य (अपूर्वस्येत्यादौ विभक्तिव्यत्ययात्षष्ठी) वा सत्तायाम् (अनेत्यनेनानन्तानुबन्धिचतुष्कं गृह्यते) ॥ ३ अनमिथ्यामिश्रसम्यक् अविरतसम्यक्त्वाद्यप्रमत्तान्तम् ॥ (अत्राप्यनेत्यनेनानन्तानुबन्धिचतुष्कं ।)

क्षपकं 'तु' पुनरर्थे, [1]क्षपकं पुनः 'प्रतीत्य' आश्रित्य 'चतुर्ष्वपि' अविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तेषु "पणयाल" त्ति पञ्चचत्वारिंशं शतमथवा भवति । अथवाशब्द इहापि सम्बध्यते । कथम् ? इत्याह--"नरयतिरिसुराउ विण" त्ति, आयुःशब्दस्य प्रत्येकं योगात् नरकायुस्तिर्यगायुः सुरायुर्विना--अन्तरेण । इदमुक्तं भवति--यो जीवो नारकतिर्यक्सुरेषु चरमं तद्भवमनुभूय मनुष्यतयोत्पन्नस्तस्य नारकतिर्यक्सुरायूंषि स्वस्वभवे व्यवच्छिन्नसत्ताकानि जातानि, पुनस्तदनवाप्तेः । उक्तं च—

[2]सुरनरयतिरियआउं, निययभवे सव्वजीवाणं । (बृ० क० स्त० गा० ६) इति ।

इयं चैतेषु गुणस्थानेषु सामान्यजीवानां सम्भवमाश्रित्य सत्ता वर्णिता, न त्वधिकृतस्तवस्तुत्यस्य चरमजिनपरिवृढस्य, अस्याः सुरनारकतिर्यगायुःसम्भवापेक्षणीयत्वात् , जिनस्य च तदसम्भवात् , तस्यापि च प्राग्भवापेक्षया सम्भवो वाच्यः । इदमेव पञ्चचत्वारिंशं शतं सप्तकमनन्तानुबन्धिमिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वाख्यं विनाऽष्टात्रिंशं शतं भवति । कियन्ति गुणस्थानानि यावद् ? इत्याह-"जा अनियट्टी पढमभागु" त्ति, इहानिवृत्तिबादराद्धाया नव भागाः क्रियन्ते, ततोऽविरते देशविरते प्रमत्तेऽप्रमत्ते निवृत्तिबादरेऽनिवृत्तिबादरस्य च प्रथमो भागस्तावदष्टात्रिंशं शतं भवति । उक्तं च—

[3]संते अडयालसयं, खवगं तु पडुच्च होइ पणयालं ।
आउतिगं नत्थि तहिं, सत्तगखीणम्मि अडतीसं ॥
(बृ० क० स्त० भा० गा० २९)

[4]पणयालं अडतीसं, अविरयसम्माउ अप्पमत्तु त्ति ।
अप्पुव्वे अडतीसं, नवरं खवगम्मि बोधव्वं ॥

अथ क्षपकश्रेणिमधिकृत्याऽनिवृत्तिबादरादिषु प्रकृतिषु सत्ता वर्ण्यते उपशमश्रेणिसत्तायास्त्विह नाधिकार इति—

थावरतिरिनिरयायवदुग थीणतिगेग विगल साहारं ।
सोलखओ दुवीससयं, बियंसि बियतियकसायंतो ॥२८॥

इहानिवृत्तिबादरस्य प्रथमे भागेऽष्टात्रिंशं शतं सत्तायां भवति । तत्र च "थावरतिरिनिरयायवदुग" त्ति द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योगात् स्थावरद्विकं--स्थावरसूक्ष्मलक्षणम् , तिर्यग्द्विकं--तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूपम् , नरकद्विकं--नरकगतिनरकानुपूर्वीलक्षणम् , आतपद्विकम्--आतपोद्यो-

---

१ ६५कजिन पु० ख० ग० ॥ २ सुरनरकतिर्यगायुर्निजकभवे सर्वजीवानाम् ॥ ३ सत्तायामष्टचत्वारिंशं शतं क्षपकं तु प्रतीत्य भवति पञ्चचत्वारिंशम् । आयुस्त्रिकं नास्ति तत्र सप्तके क्षीणेऽष्टात्रिंशम् ॥ ४ पञ्चचत्वारिंशमष्टात्रिंशमविरतसम्यक्त्वादप्रमत्त इति । अपूर्वेऽष्टात्रिंशं नवरं क्षपके बोद्धव्यम् ॥

ताख्यम् , "थीणतिग" त्ति स्त्यानर्द्धित्रिकं–निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिलक्षणम् , "इग" त्ति एकेन्द्रियजातिः, "विगल" त्ति विकलेन्द्रिय[1]जातयः–द्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातिलक्ष[2]णाः, "साहारं" ति साधारणनाम इत्येतासां षोडशानां प्रकृतीनां क्षयः सत्तामाश्रित्य भवति । ततोऽनिवृत्तिबादरस्य 'द्व्यंशे' द्वितीयभागे द्वाविंशं शतं भवति । तत्र "बियतियकसायं तु" त्ति कषायशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्वितीयकषायाः–अप्रत्याख्यानावरणाश्चत्वारः, तृतीयकषायाः–प्रत्याख्यानावरणाश्चत्वार इत्येतासामष्टानां प्रकृतीनामन्तः–क्षयः । ततस्तृतीयांशे चतुर्दशशतं भवतीति ॥२८॥ एतदेवाह—

तइयाइसु चउदसतेरबारछपणचउतिहिय सय कमसो ।
नपुइत्थिहासछगपुंसतुरियकोहमयमायखओ ॥२९॥

तृतीयादिषु भागेषु चतुर्दश च त्रयोदश च द्वादश च षट् च पञ्च च चत्वारि च त्रीणि चेति द्वन्द्वः, तैरधिकं शतम् , "तिहिय सय" इत्यत्राकारलोपो विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात् , 'क्रमशः' क्रमेण सत्तायां भवति । कथम् ? इत्याह–"नपुइत्थि" इत्यादि । नपुं च–नपुंसकवेदः स्त्री च–स्त्रीवेदः हास्यषट्कं च–हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साख्यं पुमांश्च–पुंवेदः नपुंस्त्रीहास्यषट्कपुमांसः, क्रोधश्च–कोपः मदश्च–मदो मानोऽहङ्कार इति पर्यायाः माया च–निकृतिः क्रोधमदमायाः, तुर्याः–चतुर्थाः संज्वलनाः क्रोधमदमायास्तुर्यक्रोधमदमायाः, नपुंस्त्रीहास्यषट्कपुमांसश्च तुर्यक्रोधमदमायाश्च नपुंस्त्रीहास्यषट्कपुंतुर्यक्रोधमदमायाः, तासां 'क्षयो नपुंस्त्रीहास्यषट्कपुंतुर्यक्रोधमदमायाक्षयः । 'मायखओ' इत्यत्र ह्रस्वत्वं "दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ" (सि० ८–१–४) इत्यनेन प्राकृतसूत्रेण । इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्–अनिवृत्तिबादरस्य तृतीये भागे द्वितीयतृतीयकषायाष्टकक्षये चतुर्दशाधिकं शतम् , चतुर्थभागे नपुंसकवेदक्षये त्रयोदशाधिकं शतम् , पञ्चमे भागे स्त्रीवेदक्षये द्वादशाधिकं शतम् , षष्ठे भागे हास्यषट्कक्षये षडधिकं शतम् , सप्तमे भागे पुंवेदक्षये पञ्चाधिकं शतम् , अष्टमे भागे संज्वलनक्रोधक्षये चतुरधिकं शतम् , नवमे भागे संज्वलनमानक्षये त्र्यधिकं शतम् , संज्वलनमायाक्षये तु द्व्यधिकं शतं सत्तायां भवति । तत्र सूक्ष्मसम्पराये ॥२९॥ तथा चाह–

सुहुमि दुसय लोहंतो, खीणदुचरिमेगसय दुनिद्दखओ ।
नवनवइ चरमसमए चउदंसणनाणविग्घंतो ॥३०॥

"सुहुमि" त्ति सूक्ष्मसम्पराये 'द्विशतं' द्वाभ्यामधिकं शतं सत्तायां भवति । तत्र च 'लोभान्तः' संज्वलनलोभस्य क्षयः । ततः "खीणदुचरिमेगसउ" त्ति क्षीणमोहद्विचरमसमये

१ °जातिः–द्वी° क० घ० ॥ २ °णा 'सा° क० घ० ॥

'एकशतम्' एकाधिकं शतं सत्तायाम् । तत्र च "दुनिद्दखउ" त्ति निद्राप्रचलयोर्द्वयोः क्षयो भवति, ततो नवनवतिश्चरमसमये क्षीणमोहगुणस्थानस्येति शेषः । तत्र चत्वारि च तानि दर्शनानि च चतुर्दर्शनानि–चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणाख्यानि, ज्ञानानि ज्ञानावरणानि–मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानावरणलक्षणानि पञ्च, विघ्नानि–दानलाभभोगोपभोगवीर्य-विघ्नरूपाणि पञ्च, तेषामन्तो भवति ॥३०॥ ततः—

पणसीइ सजोगि अजोगि दुचरिमे देवखगइगंधदुगं ।
फासट्ठ वन्नरसतणुबंधणसंघायपण निमिणं ॥३१॥

पञ्चाशीतिः सयोगिकेवलिनि सत्तायां भवति । ततः "अजोगि दुचरिमे" त्ति अयोगि-केवलिनि द्विचरमसमये इत्येतासां द्विसप्ततिप्रकृतीनां क्षयो भवति । ता एवाह—"देवखगइ-गंधदुगं" ति । द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् देवद्विकं–देवगतिदेवानुपूर्वीरूपम्, खगतिद्विकं–शुभविहायोगत्यशुभविहायोगतिरूपम्, गन्धद्विकं–सुरभिगन्धाऽसुरभिगन्धाख्यम्, "फासट्ठ" त्ति स्पर्शाष्टकं–गुरुलघुमृदुखरशीतोष्णस्निग्धरूक्षाख्यम्, "वन्नरसतणुबंधणसंघायपण" त्ति पञ्च-कशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् वर्णपञ्चकं-कृष्णनीललोहितहारिद्रशुक्लाख्यम्, रसपञ्चकं-तिक्तकटु-कषायाम्लमधुररूपम्, तनुपञ्चकम्–औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणतनुलक्षणम्, एवं तनु-नाम्ना बन्धनपञ्चकं सङ्घातनपञ्चकं च वाच्यम्, "निमिण" त्ति निर्माणमिति ॥३१॥

संघयणअथिरसंठाणछक्क अगुरुलहुचउ अपज्जत्तं ।
सायं व असायं वा, परित्तुवंगतिग सुसर नियं ॥३२॥

षट्कशब्दस्य प्रत्येकं योगात् संहननषट्कं-वज्रऋषभनाराचऋषभनाराचनाराचाऽर्धनाराच-कीलिकासेवार्तसंहननाख्यम्, अस्थिरषट्कम्–अस्थिराऽशुभदुर्भगदुःस्वराऽनादेयाऽयशःकीर्ति-रूपम्, संस्थानषट्कं-समचतुरस्रन्यग्रोधपरिमण्डलसादिवामनकुब्जहुण्डसंस्थानाख्यम्, अगुरुलघु-चतुष्कम्–अगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासाख्यम्, अपर्याप्तम्, सातं वाऽसातं वा एकतरवेदनीयं, यदनुदयावस्थम्, "परित्तुवंगतिग" त्ति त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् प्रत्येकत्रिकं–प्रत्येक-स्थिरशुभाख्यम्, उपाङ्गत्रिकम्–औदारिकवैक्रियाऽऽहारकाङ्गोपाङ्गरूपम्, सुस्वरम्, "नियं" ति नीचैर्गोत्रमिति ॥ ३२ ॥

बिसयरिखओ य चरिमे, तेरस मणुयतसतिग जसाइज्जं ।
सुभगजिणुच्च पणिंदिय सायासाएगयरछेओ ॥३३॥

इत्येतासां द्विसप्ततिप्रकृतीनामयोगिकेवलिद्विचरमसमये सत्तामाश्रित्य क्षयो भवति । ततः पूर्वोक्तपञ्चाशीतेरिमा द्विसप्ततिप्रकृतयोऽपनीयन्ते शेषास्त्रयोदश प्रकृतयोऽयोगिचरमसमये

क्षीयन्ते । तथा चाह—"बिसयरिखओ" त्ति स्पष्टम् । 'चः' पुनरर्थे व्यवहितसम्बन्धश्च । चरमसमये पुनः अयोगिकेवलिनस्त्रयोदशप्रकृतीनां क्षयो भवति । "मणुयतसतिग" त्ति त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् मनुजत्रिकं मनुजगतिमनुजानुपूर्वीमनुजायुर्लक्षणम्, त्रसत्रिकं त्रस-बादरपर्याप्ताख्यम्, "जसाइज्जं" ति यशःकीर्तिनाम आदेयनाम सुभगम् "जिणुच" त्ति जिननाम उच्चैर्गोत्रम् । "पणिंदिय" त्ति पञ्चेन्द्रियजातिः सातासातयोरेकतरं तस्य च्छेदः—सत्तामाश्रित्य क्षय इति ।। ३३ ।। अत्रैव मतान्तरमाह—

नरअणुपुव्वि विणा वा, बारस चरिमसमयम्मि जो खविउं ।
पत्तो सिद्धिं देविंदवंदियं नमह तं वीरं ।।३४।।

'नरानुपूर्वीं विना' मनुष्यानुपूर्वीमन्तरेण वाशब्दो मतान्तरसूचको द्वादश प्रकृतीरयोगि-केवलिचरमसमये यः क्षपयित्वा सिद्धिं प्राप्तस्तं वीरं नमतेति सण्टङ्कः । अयमत्राभिप्रायः—मनुजानुपूर्व्या अयोगिद्विचरमसमये सत्ताव्यवच्छेदः, उदयाभावात्, उदयवतीनां हि द्वाद-शानां स्तिबुकसङ्क्रमाभावात् स्वानुभावेन दलिकं चरमसमयेऽपि दृश्यत इति युक्तस्तासां चरमसमये क्षयः, आनुपूर्वीनाम्नां तु चतुर्णामपि क्षेत्रविपाकित्वाद् भवान्तरालगतावेवोदयस्तेन भवस्थस्य नास्ति तदुदयः, तदुदयाभावाच्चायोगिद्विचरमसमये मनुजानुपूर्व्या अपि सत्ताव्यवच्छेदः, तन्मतेऽयोगिकेवलिनो द्विचरमसमये त्रिसप्ततिप्रकृतीनां चरमसमये [च] द्वादशानां क्षय इति । ततो यो भगवान् मातापित्रोर्दिवङ्गतयोः सम्पूर्णनिजप्रतिज्ञो भक्तिसम्भारभ्राजिष्णुरोचिष्णुलो-कान्तिकत्रिदशसद्मजन्मभिः पुष्पमाणवकैरिव "[1]सव्वजगज्जीवहियं भयवं तित्थं पवत्तेहि"(आव० नि० गा० २१५) इत्यादिवचोभिर्निवेदिते निष्क्रमणसमये संवत्सरं यावत् निरन्तरं स्थूरचा-मीकरधारासारैः प्रावृषेण्यधाराधर इवासुद्रदारिद्र्यसन्तापप्रसरमवनीमण्डलस्योपशमय्य परस्पर-महमहमिकया समायातसुरासुरनरोरगनायकनिकरैः "जय जीव नन्द क्षत्रियवरवृषभ !" इत्या-दिवचनरचनया स्तूयमानः सम्प्राप्य ज्ञातखण्डवनं प्रतिपन्ननिरवद्यचारित्रभारः साधिकां द्वादश-संवत्सरीं यावत् परीषहोपसर्गवर्गसंसर्गमुग्रमधिसह्य परमसितध्यानाऽकुण्ठकुठारधारया सकल-घनघातिवनखण्डखण्डनमखण्डमाधाय निर्मलाऽविकलकेवलबलावलोकितनिखिललोकालोकः श्री-गौतमप्रभृतिमुनिपुङ्गवानां तत्त्वमुपदिश्य संसारसरितः सुखं सुखेन समुत्तरणाय भव्यजनानां धर्मतीर्थमुपदर्श्याऽयोगिकेवलिचरमसमये त्रयोदश प्रकृतीर्द्वादश प्रकृतीर्वा क्षपयित्वा 'सिद्धिं' परमानन्दरूपां प्राप्तः, तं 'नमत' प्रणमत 'वीरं श्रीवर्धमानस्वामिनम्, किंविशिष्टम् ? 'देवे-न्द्रवन्दितं' देवानां भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानामिन्द्राः—स्वामिनो देवेन्द्रास्तैर्वन्दितः

१ सर्वजगज्जीवहितं भगवन् तीर्थं प्रवर्तय ।।

शशधरकरनिकरविमलतरगुणगणोत्कीर्तनेन स्तुतः शिरसा च प्रणतः "वदुङ् स्तुत्यभिवादनयोः" इति वचनात्, यद्वा पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद्, देवेन्द्रेण-देवेन्द्रसूरिणा आचार्येण श्रीमज्जगच्चन्द्रसूरिचरणसरसीरुहचञ्चरीकेण वन्दितः/सकलकर्मक्षयलक्षणाऽसाधारणगुणसङ्कीर्तनेन स्तुतः कायेन च प्रणत इति। 'नमत' इति प्रेरणायां पञ्चम्यन्तं क्रियापदम्, तत्र श्रोतॄणां कथञ्चिदनाभोगवशतः प्रमादसम्भवेऽप्याचार्येण नोद्विजितव्यम्, किन्तु मृदुमधुरवचोभिः शिक्षानिबन्धनैः श्रोतॄणां मनांसि प्रह्लाद्य यथार्हं सन्मार्गप्रवृत्तिरुपदेष्टव्या इति ज्ञापनार्थम्। यदाह प्रवचनोपनिषद्वेदी भगवान् हरिभद्रसूरिः-

[1]अणुवत्तणाइ सेहा, पायं पावंति जुग्गयं परमं।
रयणं पि गुणुक्करिसं, उवेइ सोहम्मणगुणेणं ॥ (पञ्चव० गा० १७)
इत्थ य पमायखलिया, पुव्वब्भासेण कस्स व न हुंति।
जो तेऽवणेइ सम्मं, गुरुत्तणं तस्स सफलं ति ॥ (पञ्चव० गा० १८)
को नाम सारहीणं, स हुज्ज जो भद्दवाइणो दमए।
दुट्ठे वि य जो आसे, दमेइ तं सारहिं बिंति ॥ (पञ्चव० गा० १९) इति ॥३४॥

॥ इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितायां स्वोपज्ञकर्मस्तवटीकायां सत्ताधिकारः समाप्तः ॥

॥ तत्समाप्तौ च समाप्ता लघुकर्मस्तवटीका ॥

सत्ताधिकारमेनं, विवृण्वता यन्मयाऽर्जितं सुकृतम्।
निःशेषकर्मसत्तारहितस्तेनास्तु लोकोऽयम् ॥

---

१ अनुवर्तनया शिक्षकाः प्रायः प्राप्नुवन्ति योग्यतां परमाम्। रत्नमपि गुणोत्कर्षमुपैति शोधकगुणेन ॥ अत्र च प्रमादस्खलितानि पूर्वाभ्यासेन कस्य वा न भवन्ति? यस्तानि अपनयति सम्यग् गुरुत्वं तस्य सफलमिति को नाम सारथीनां स भवेद् यो भद्रवाजिनो दमयेत्?। दुष्टानपि च योऽश्वान् दमयति तं सारथिं ब्रुवते ॥

॥ अथ प्रशस्तिः ॥

विष्णोरिव यस्य विभोः, पदत्रयी व्यानशे जगन्निखिलम् ।
कर्ममलपटलमुक्तः, स श्रीवीरो जिनो जयतु ॥ १ ॥
कुन्दोज्ज्वलकीर्तिभरैः, सुरभीकृतसकलविष्टपाभोगः ।
शतमखशतविनतपदः, श्रीगौतमगणधरः पातु ॥ २ ॥
तदनु सुधर्मस्वामी जम्बूप्रभवादयो मुनिवरिष्ठाः ।
श्रुतजलनिधिपारीणाः, भूयांसः श्रेयसे सन्तु ॥ ३ ॥
क्रमात् प्राप्ततपाचार्येत्यभिख्या भिक्षुनायकाः ।
समभूवन् कुले चान्द्रे, श्रीजगच्चन्द्रसूरयः ॥ ४ ॥
जगज्जनितबोधानां, तेषां शुद्धचरित्रिणाम् ।
विनेयाः समजायन्त, श्रीमद्देवेन्द्रसूरयः ॥ ५ ॥
स्वान्ययोरुपकाराय, श्रीमद्देवेन्द्रसूरिणा ।
कर्मस्तवस्य टीकेयं, सुखबोधा विनिर्ममे ॥ ६ ॥
विबुधवरधर्मकीर्तिश्रीविद्यानन्दसूरिमुख्यबुधैः ।
स्वपरसमयैककुशलैस्तदैव संशोधिता चेयम् ॥ ७ ॥
यद्गदितमल्पमतिना, सिद्धान्तविरुद्धमिह किमपि शास्त्रे ।
विद्वद्भिस्तत्त्वज्ञैः, प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥ ८ ॥
कर्मस्तवसूत्रमिदं, विवृण्वता यन्मयाऽर्जितं सुकृतम् ।
सर्वेऽपि कर्मबन्धास्तेन त्रुट्यन्तु जगतोऽपि ॥ ९ ॥

इति स्वोपज्ञटीकोपेतः कर्मस्तवः ।

॥ अर्हम् ॥

तपागच्छीयपूज्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितः

बन्धस्वामित्वनामा तृतीयः कर्मग्रन्थः ।

सावचूरिकः

सम्यग् बन्धस्वामित्वदेशकं वर्धमानमानम्य ।

बन्धस्वामित्वस्य, व्याख्येयं लिख्यते किञ्चित् ॥

इह स्वपरोपकाराय यथार्थाभिधानं बन्धस्वामित्वप्रकरणमारिप्सुराचार्यो मङ्गलादिप्रतिपादिकां गाथामाह—

'बंधविहाणविमुक्कं, वंदिय सिरिवद्धमाणजिणचंदं ।

गइयाईसु वुच्छं, समासओ बंधसामित्तं ॥ १ ॥

व्याख्या–इह प्रथमार्धेन मङ्गलं द्वितीयार्धेनाऽभिधेयं साक्षादुक्तम् । प्रयोजनसम्बन्धौ तु सामर्थ्यगम्यौ । तत्र बन्धः–कर्मपरमाणूनां जीवप्रदेशैः सह सम्बन्धस्तस्य विधानं–मिथ्यात्वादिभिर्बन्धहेतुभिर्निर्वर्तनं बन्धविधानं तेन विमुक्तः स तथा तं बन्धविधानविमुक्तं वन्दित्वा श्रीवर्धमानजिनचन्द्रम् 'वक्ष्ये' अभिधास्ये 'समासतः' संक्षेपतो न विस्तरेण, किम् ? इत्याह— 'बन्धस्वामित्वं' बन्धः–कर्माणूनां जीवप्रदेशैः सह सम्बन्धस्तस्य स्वामित्वम्–आधिपत्यं जीवानामिति गम्यते । केषु ? "गइयाईसु" ति गतिरादिर्येषां तानि गत्यादीनि, आदिशब्दाद् इन्द्रियादिपरिग्रहः, तेषु गत्यादिषु मार्गणास्थानेषु ।

अत्र चेयं मार्गणास्थानप्रतिपादिका बृहद्बन्धस्वामित्वगाथा—

गइ १ इंदिए य २ काए ३, जोए ४ वेए ५ कसाय ६ नाणे य ७ ।

संजम ८ दंसण ९ लेसा १०, भव ११ सम्मे १२ सन्नि १३ आहारे १४ ॥ (गा० २)

– तत्र गतिश्चतुर्धा–नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिरिति १ । इन्द्रियं स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रभेदात् पञ्चधा, इन्द्रियग्रहणेन च तदुपलक्षिता एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रिया गृह्यन्ते २ । कायः षोढा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायभेदात् ३ । योगः पञ्चदशधा-सत्यमनोयोगः १ असत्यमनोयोगः २ सत्यासत्यमनोयोगः ३ असत्यामृषामनोयोगः ४सत्यवाग्योगः ५असत्यवाग्योगः ६ सत्यासत्यवाग्योगः ७ असत्यामृषावाग्योगः ८ वैक्रियकाययोगः ९ आहारककाययोगः १० औदारिककाययोगः ११ वैक्रियमिश्रकाययोगः १२ आहारक-

---

१ ०न विमुक्तं वन्दि० क० ग० प० ॥

मिश्रकाययोगः १३ औदारिकमिश्रकाययोगः १४ कार्मणकाययोगः १५ इति ४ । वेदस्त्रिधा—स्त्रीवेदः पुरुषवेदो नपुंसकवेदश्च ५ । कषायाः क्रोधमानमायालोभाः ६ । ज्ञानं पञ्चधा—मतिज्ञानं श्रुतज्ञानम् अवधिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं केवलज्ञानं च, ज्ञानग्रहणेन चाऽज्ञानमपि तत्प्रतिपक्षभूतमुपलक्ष्यते, तच्च त्रिविधम्—मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानं चेति ज्ञानमार्गणास्थानमष्टधा ७ । 'संयमः' चारित्रं तच्च पञ्चधा -सामायिकं छेदोपस्थापनं परिहारविशुद्धिकं सूक्ष्मसम्परायं यथाख्यातं च, संयमग्रहणेन च तत्प्रतिपक्षभूतो देशसंयमोऽसंयमश्च सूच्यत इति संयमः सप्तधा ८ । दर्शनं चतुर्विधम्—चक्षुर्दर्शनम् अचक्षुर्दर्शनम् अवधिदर्शनं केवलदर्शनं च ९ । लेश्या षोढा—कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या च १० । भव्यः—तथारूपानादिपारिणामिकभावात् सिद्धिगमनयोग्यः, भव्यग्रहणेन च तत्प्रतिपक्षभूतोऽभव्योऽपि गृह्यते ११ । सम्यक्त्वं त्रिधा—क्षायोपशमिकम् औपशमिकं क्षायिकं च, सम्यक्त्वग्रहणेन च तत्प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वं सासादनं मिश्रं च परिगृह्यते १२ । संज्ञी—विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानसहितेन्द्रियपञ्चकसमन्वितः, तत्प्रतिपक्षभूतः सर्वोऽप्येकेन्द्रियादिरसंज्ञी सोऽपि संज्ञिग्रहणेन सूचितो द्रष्टव्यः १३ । आहारयति ओजोलोमप्रक्षेपाहाराणामन्यतममाहारमित्याहारकः, तत्प्रतिपक्षभूतोऽनाहारकः १४ । ननु ज्ञानादिषु किमर्थमज्ञानादिप्रतिपक्षग्रहणं कृतम् ?, उच्यते—चतुर्दशस्वपि मार्गणास्थानेषु प्रत्येकं सर्वसांसारिकसत्त्वसङ्ग्रहार्थमिति ।

उक्तरूपेषु गत्यादिषु बन्धस्वामित्वं वक्ष्ये । तत्र बन्धं च प्रतीत्य विंशत्युत्तरं प्रकृतिशतमधिक्रियते । तथाहि—ज्ञानावरणे उत्तरप्रकृतयः पञ्च, दर्शनावरणे नव, वेदनीये द्वे, मोहे सम्यक्त्वमिश्रवर्जा षड्विंशतिः, आयुषि चतस्रः, नाम्नि भेदान्तरसम्भवेऽपि सप्तषष्टिः, गोत्रे द्वे, अन्तराये पञ्च, सर्वमीलने विंशत्युत्तरं शतमिति एतच्च प्राक् सविस्तरं **कर्मविपाके** भावितमेव ॥ १ ॥ सम्प्रति विंशत्युत्तरशतमध्यगतानामेव वक्ष्यमाणार्थोपयोगित्वेन प्रथमं कियतीनामपि प्रकृतीनां सङ्ग्रहं पृथक्करोति—

जिण सुरविउवाहारदु, देवाउ य नरयसुहुमविगलतिगं ।
एगिंदि थावराऽऽयव, नपु मिच्छं हुंड छेवट्ठं ॥ २ ॥

अण मज्झागिइ संघयण, कुखग निय इत्थि दुहगथीणतिगं ।
उज्जोय तिरिदुगं तिरिनराउ नरउरलदुग रिसहं ॥३॥

व्याख्या—जिननाम १ सुरद्विकं—सुरगतिसुरानुपूर्वीरूपं ३ वैक्रियद्विकं—वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणम् ५ आहारकद्विकम्—आहारकशरीरं तदङ्गोपाङ्गं च ७ देवायुष्कं च ८ नरकत्रिकं—नरकगतिनरकानुपूर्वीनरकायुष्करूपं ११ सूक्ष्मत्रिकं—सूक्ष्माऽपर्याप्तसाधारणलक्षणं

१४ विकलत्रिकं–द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातयः १७ एकेन्द्रियजातिः १८ स्थावरनाम १९ आतपनाम २० नपुंसकवेदः २१ मिथ्यात्वं २२ हुण्डसंस्थानं २४ सेवार्तसंहननम् २४ ॥ २ ॥

"अण" त्ति अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाः २८ 'मध्याकृतयः' मध्यमसंस्थानानि-न्यग्रोधपरिमण्डलं सादि वामनं कुब्जं चेति ३२ मध्यमसंहननानि–ऋषभनाराचं नाराचम् अर्धनाराचं कीलिका चेति ३६ "कुखग" त्ति अशुभविहायोगतिः ३७ नीचैर्गोत्रं ३८ स्त्रीवेदः ३९ दुर्भगत्रिकं–दुर्भगदुःस्वराऽनादेयरूपं ४२ स्त्यानर्द्धित्रिकं–निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिलक्षणम् ४५ उद्योतनाम ४६ तिर्यग्द्विकं–तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूपम् ४८ तिर्यगायुः ४९ नरायुः ५० नरद्विकं–नरगतिनरानुपूर्वीलक्षणम् ५२ औदारिकद्विकम्–औदारिकशरीरमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम च ५४ वज्रऋषभनाराचसंहननम् ५५ इति पञ्चपञ्चाशत्प्रकृतिसङ्ग्रहः ॥३॥

अथैतस्य प्रकृति सङ्ग्रहस्य यथास्थानमुपयोगं दर्शयन् मार्गणास्थानानां प्रथमं गतिमार्गणास्थानमाश्रित्य बन्धः प्रतिपाद्यते—

सुरइगुणवीसवज्जं, इगसउ ओहेण बंधहिं निरया ।
तित्थ विणा मिच्छि सयं, सासणि नपुचउ विणा छनुई ॥४॥

व्याख्या–"जिण सुरविउवाहार" (गा० २) इत्यादिगाथोक्ताः क्रमेण सुरद्विकाद्येकोनविंशतिप्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषमेकोत्तरशतमोघेन नारका बध्नन्ति । अयमत्राभिप्रायः—एता एकोनविंशतिकर्मप्रकृतीर्बन्धाधिकृतकर्मप्रकृतिविंशत्युत्तरशतमध्याद् मुक्त्वा शेषस्यैकोत्तरशतस्य नरकगतौ नानाजीवापेक्षया सामान्यतो बन्धः, सुरद्विकाद्येकोनविंशतिप्रकृतीनां तु भवप्रत्ययादेव नारकाणामबन्धकत्वात् । सामान्येन नरकगतौ बन्धमभिधाय सम्प्रति तस्यामेव मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानचतुष्टयविशिष्टं तं दर्शयति–"तित्थ विणा" इत्यादि । प्रागुक्तमेकोत्तरशतं तीर्थकरनाम विना मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके शतं भवति । एतच्च शतं नपुंसकवेदमिथ्यात्वहुण्डसंस्थानसेवार्तसंहननप्रकृतिचतुष्कं विना सासादनगुणस्थानके षण्णवतिर्नारकाणां बन्धे ॥४॥

विणु अणछवीस मीसे, बिसयरि सम्मम्मि जिणनराउजुया ।
इय रयणाइसु भंगो, पंकाइसु तित्थयरहीणो ॥५॥

व्याख्या–प्रागुक्ता षण्णवतिरनन्तानुबन्ध्यादिषड्विंशतिप्रकृतीर्विना मिश्रगुणस्थाने सप्ततिः । सैव जिननामनरायुष्कयुता सम्यग्दृष्टिगुणस्थानके द्विसप्ततिः । 'इति' एवं बन्धमाश्रित्य भङ्गः 'रत्नादिषु' रत्नप्रभाशर्कराप्रभावालुकाप्रभाभिधानप्रथमनरकपृथिवीत्रये द्रष्टव्यः । पङ्कप्रभादिषु पुनरेष एव भङ्गस्तीर्थकरनामहीनो विज्ञेयः । अयमर्थः—पङ्कप्रभाधूमप्रभातमःप्रभासु सम्यक्त्वसद्भावेऽपि क्षेत्रमाहात्म्येन तथाविधाध्यवसायाभावात् तीर्थकरनामबन्धो नारकाणां नास्तीतिः

ततस्तत्र सामान्येन शतम्, मिथ्यादृशां च शतम्, सासादनानां षण्णवतिः, मिश्राणां सप्ततिः, अविरतसम्यग्दृष्टीनामेकसप्ततिः। इह सामान्यपदेऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने च रत्नप्रभादि-भङ्गस्तीर्थंकरनाम्ना हीन उक्तः। मिथ्यादृष्ट्यादिषु त्रिषु गुणस्थानेषु पुनस्तस्य प्रागेवाऽपनीतत्वात् तदवस्थ एव ॥५॥

अजिणमणुआउ ओहे, सत्तमिए नरदुगुच्च विणु मिच्छे।
इगनवई सासाणे, तिरिआउ नपुंसचउवज्जं ॥६॥

व्याख्या—रत्नप्रभादिनरकत्रयसामान्यबन्धाधिकृतैकोत्तरशतमध्याज्जिननाममनुजायुषी मुक्त्वा शेषा नवनवतिरोघबन्धे सप्तमपृथिव्यां नारकाणां भवति। सैव नवनवतिर्नरगतिनरानुपूर्वीरूप-नरद्विकोच्चैर्गोत्रैं विना षण्णवतिर्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने भवति। सैव षण्णवतिस्तिर्यगायुर्नपुंसकवेद-मिथ्यात्वहुण्डसंस्थानसेवार्तसंहननवर्जिता एकनवतिः सासादने सप्तम्यां नारकाणाम् ॥६॥

अणचउवीसविरहिया, सनरदुगुच्चा य सयरि मीसदुगे।
सतरसउ ओहि मिच्छे, पज्जतिरिया विणु जिणाहारं ॥७॥

व्याख्या—प्रागुक्ता एकनवतिरनन्तानुबन्ध्यादिचतुर्विंशतिप्रकृतिभिर्विरहिता, नरद्विकोच्चैर्गोत्राभ्यां च सहिता सप्ततिर्भवति, सा च "मीसदुगे" त्ति मिश्राऽविरतगुणस्थानद्वये द्रष्टव्या। इह सप्तम्यां नरायुस्तावद् न बध्यत एव, तद्बन्धाभावेऽपि च मिश्रगुणस्थानकेऽविरतगुणस्थानके च नरद्विकं बध्यते। अयमर्थः—नरद्विकस्य नरायुषा सह नावश्यं प्रतिबन्धो यदुत यत्रैवायुर्बध्यते तत्रैव गत्यानुपूर्वीद्वयमपि तस्याऽन्यदाऽपि बन्धात्; मिथ्यात्वसासादनयोस्तु कलुषाध्यवसायत्वेन नरद्विकं न बध्यते।

एवं नरकगतौ बन्धस्वामित्वं प्रतिपाद्य अथ तिर्यग्गतौ तदाह—"सतरसउ" इत्यादि। विंशत्युत्तरशतं जिननामाऽऽहारकद्विकं च विना शेषं सप्तदशोत्तरशतमोघे मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने च पर्याप्तास्तिर्यञ्चो बध्नन्ति। अत्रौघे तिरश्चां सत्यपि सम्यक्त्वे भवप्रत्ययादेव तथाविधाध्यवसायाभावात् तीर्थंकरनाम्नः सम्पूर्णसंयमाभावाद् आहारकद्विकस्य च बन्धो नास्तीति हृदयम् ॥७॥

विणु नरयसोल सासणि, सुराउ अण एगतीस विणु मीसे।
ससुराउ सयरि सम्मे, बीयकसाए विणा देसे ॥८॥

व्याख्या—प्रागुक्तं सप्तदशोत्तरशतं नरकत्रिकादिषोडशप्रकृतीर्विना एकोत्तरशतं सासादने पर्याप्ततिरश्चाम्। एतदेवैकोत्तरशतं सुरायुरनन्तानुबन्ध्याद्येकत्रिंशत्प्रकृतीश्च विना एकोनसप्ततिः सा मिश्रगुणस्थाने बध्यते। अयं भावार्थः—"[1]सम्मामिच्छद्दिट्ठी आऊबंधं पि न

१ सम्यग्मिथ्यादृष्टिरायुर्बन्धमपि न करोति॥

करेइ ।'' इति वचनाद् अत्र सुरनरायुषोरबन्धः, अनन्तानुबन्ध्यादयश्च पञ्चविंशतिप्रकृतयः सासादन एव व्यवच्छिन्नबन्धाः, तथा मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च मिश्रगुणस्थानकस्था अविरतसम्यग्दृष्टिवद् देवार्हमेव बध्नन्ति, तेन नरद्विकौदारिकद्विकवज्रऋषभनाराचानामपि बन्धाभावः । एवंच एकोनसप्ततिः सुरायुषा सहिता सप्ततिः 'सम्यक्त्वे' अविरतगुणस्थानके भवति । सप्ततिः 'द्वितीयकषायैः' अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभैर्विना पट्षष्टिर्देशविरतगुणस्थाने बध्यते ॥८॥

अथ तिर्यग्गतिबन्धाधिकार एव ग्रन्थलाघवार्थं मनुष्यगतावपि बन्धं दर्शयति–

इय चउगुणेसु वि नरा, परमजया सजिण ओहु देसाई ।
जिणइक्कारसहीणं, नवसउ अपजत्ततिरियनरा ॥ ९ ॥

व्याख्या–यथा पर्याप्ततिरश्चां मिथ्यादृष्ट्यादिषु चतुर्षु गुणस्थानेषु सप्तदशोत्तरशतादिको बन्ध उक्तः 'इति' एवं पर्याप्तनरा अपि चतुर्षु मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्राविरतिगुणस्थानेषु सप्तदशोत्तरशतादिबन्धस्वामिनो मन्तव्याः । 'परम्' अयताः अविरतसम्यग्दृष्टयः पर्याप्तनराः ''सजिण''त्ति अविरतसम्यग्दृष्टिपर्याप्ततिर्यग्बन्धयोग्यसप्ततिर्जिननामसहिता एकसप्ततिस्तां बध्नन्ति, जिननामकर्मणोऽपि बन्धकत्वात् तेषाम् । ''ओहु देसाइ'' त्ति देशविरतादिगुणस्थानकेषु गुणस्थानकाऽनाश्रयणे च पर्याप्तनराणां पुनः 'ओघः' सामान्यो बन्धोऽवसेयः । स च कर्मस्तवोक्त एव । यतः कर्मस्तवग्रन्थे सामान्यतो गुणस्थानकेषु बन्धः प्रतिपादितो न पुनः किञ्चन गत्यादिमार्गणास्थानमाश्रित्य, स चात्र बहुषु स्थानेषूपयोगीति मूलतोऽपि दर्श्यते–

अभिनवकम्मग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थ वीस सयं ।
तित्थयराहारगदुगवज्जं मिच्छम्मि सतरसयं ॥
नरयतिग जाइथावरचउ हुंडाऽऽयवछिवट्ठनपुमिच्छं ।
सोलंतो इगहियसउ, सासणि तिरिथीणदुहगतिगं ॥

अणमज्झागिइसंघयणचउ निउज्जोय कुखगइत्थि त्ति ।
पणवीसंतो मीसे, चउसयरि दुआउय अबंधा ॥
सम्मे सगसयरि जिणाउबंधि वइर नरतिग बियकसाया ।
उरलदुगंतो देसे, सत्तट्ठी तियकसायंतो ॥

तेवट्ठि पमत्ते सोग अरइ अथिर दुग अजस अस्सायं ।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व, नेइ सुराउं जया निट्ठं ॥
गुणसट्ठि अप्पमत्ते, सुराउबंधं तु जइ इहागच्छे ।
अन्नह अट्ठावन्ना, जं आहारगदुगं बंधे ॥

अडवन्न अपुव्वाइमि, निद्दुगंतो छपन्न पणभागे ।
सुरदुग पणिंदि सुखगइ, तसनव उरल विणु तणुवंगा ॥
समचउर निमिण जिण वन्नअगुरुलहुचउ छलंसि तीसंतो ।
चरिमे छवीसबंधो, हासरईकुच्छभयभेओ ॥
अनियट्टिभागपणगे, इगेगहीणो दुवीसविहबंधो ।
पुमसंजलणचउण्हं, कमेण छेओ सतर सुहुमे ॥
चउदंसणुच्चजसनाणविग्घदसगं ति सोलसुच्छेओ ।
तिसु सायबंध छेओ, सजोगि बंधंतुणंतो य ॥ (गाथा ३-१२) इति ।

एतासां दशानामपि गाथानां व्याख्यानं **कर्मस्तवटीकातो** बोद्धव्यम् । इत्योघबन्धः । इह **कर्मस्तवोक्त**गुणस्थानकबन्धाद् नरतिरश्चां मिश्राऽविरतगुणस्थानकयोरयं विशेषः– **कर्मस्तवे** मिश्रगुणस्थानके चतुःसप्ततिः अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके सप्तसप्ततिः तिरश्चां पुनर्मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रऋषभनाराचसंहननरूपप्रकृतिपञ्चकस्य बन्धाभावाद् मिश्रगुणस्थानके एकोनसप्ततिः, अविरतसम्यग्दृष्टौ सुरायुःक्षेपे सप्ततिः, नराणां तु मिश्रे एकोनसप्ततिः, अविरतसम्यग्दृष्टौ तीर्थकरनामसुरायुःक्षेपे एकसप्ततिः । अस्यां च एकसप्ततौ यदि मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रऋषभनाराचसंहननप्रकृतिपञ्चकं नरायुष्कं च क्षिप्यते तदा (**कर्मस्तवोक्ता** सप्तसप्ततिर्भवत्यविरतगुणस्थानके । तथा **कर्मस्तवे** देशविरतगुणस्थानके या सप्तषष्टिरुक्ता सा तिरश्चां जिननामरहिता षट्षष्टिर्देशविरतगुणस्थाने भवति । प्रमत्तादीनि गुणस्थानानि तिरश्चां न सम्भवन्ति । नराणां तु सर्वगुणस्थानकसम्भवेन देशविरतादिगुणस्थानकेषु)**कर्मस्तवोक्त** एव सर्वोऽप्यन्यूनाधिक ओघबन्धो वाच्यः । ततश्च पर्याप्तनराणां सामान्येन बन्धे विंशत्युत्तरशतं प्रकृतीनां प्राप्यते, तेषामेव मिथ्यादृशां सप्तदशोत्तरशतम् , सासादनानामेकोत्तरशतम् , मिश्राणामेकोनसप्ततिः, अविरतसम्यग्दृष्टीनामेकसप्ततिः, देशविरतानां सप्तषष्टिः, प्रमत्तानां त्रिषष्टिः, अप्रमत्तानामेकोनषष्टिरष्टपञ्चाशद्वा, निवृत्तिबादराणां प्रथमे भागेऽष्टपञ्चाशत् , भागपञ्चके षट्पञ्चाशत् , सप्तमभागे षड्विंशतिः, अनिवृत्तिबादराणामाद्ये भागे द्वाविंशतिः, द्वितीये एकविंशतिः, तृतीये विंशतिः, चतुर्थे एकोनविंशतिः, पञ्चमेऽष्टादश च, सूक्ष्मसम्परायाणां सप्तदश, उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिनामेका सातलक्षणा प्रकृतिर्बन्धे प्राप्यते, अयोगिनां तु बन्धाभावः । एवमन्यत्राप्योघबन्धः **कर्मस्तवा**नुसारेण भावनीयः । उक्तस्तिर्यग्नराणां पर्याप्तानां बन्धः, अथ तेषामेवापर्याप्तानां तमाह–"जिणइक्कारसहीणं" इत्यादि । यदेव नराणामोघबन्धे विंशत्युत्तरशतं तदेव जिननामाद्येकादशप्रकृतिहीनं शेषं नवोत्तरशतमपर्याप्ततिर्यग्नरा ओघतो मिथ्यात्वे च बध्नन्ति । यद्यपि करणापर्याप्तो देवो मनुष्यो वा जिननामकर्म सम्यक्त्व-

प्रत्ययेन बध्नाति तथापीह नराणां लब्ध्याऽपर्याप्तत्वेन विवक्षणाद् न जिननामबन्धः ॥९॥

तिर्यग्गतौ मनुष्यगतौ च बन्धस्वामित्वमुक्तम् । साम्प्रतं देवगतिमधिकृत्य तदुच्यते—

निरय व्व सुरा नवरं, ओहे मिच्छे इगिंदितिगसहिया ।
कप्पदुगे वि य एवं, जिणहीणो जोइभवणवणे ॥ १० ॥

व्याख्या—सुरा अपि नारकवद् ओघतो विशेषतश्च तद्बन्धस्वामिनोऽवगन्तव्याः । नवरमयं विशेषः—ओघे मिथ्यात्वगुणस्थानके च बन्धमाश्रित्य सुरा एकेन्द्रियादित्रिकसहिता द्रष्टव्याः । ततोऽयमर्थः—यो 'नारकाणामेकोत्तरशतरूप ओघबन्धः स एवैकेन्द्रियजातिस्थावरनामाऽऽतपनामप्रकृतित्रयसहितः सुराणां सामान्यतो बन्धश्चतुरग्रशतम्, तदेव मिथ्यात्वे जिननामरहितं त्र्युत्तरशतम्, एतदेवैकेन्द्रियजातिस्थावराऽऽतपनपुंसकवेदमिथ्यात्वहुण्डसेवार्तलक्षणप्रकृतिसप्तकहीनं सासादने षण्णवतिः, षण्णवतिरेवानन्तानुबन्ध्यादिषड्विंशतिप्रकृतिरहिता मिश्रे सप्ततिः, सैव जिननामनरायुष्कयुता द्विसप्ततिस्तामविरतसम्यग्दृष्टयो देवा बध्नन्तीति सामान्यदेवगतिबन्धः । साम्प्रतं देवविशेषनामोच्चारणपूर्वकं तमाह—"कप्पदुगे" इत्यादि । 'कल्पद्विकेऽपि' सौधर्मेशानाख्यदेवलोकद्वयेऽपि 'एवं' सामान्यदेवबन्धवद् बन्धो द्रष्टव्यः । तथाहि—सामान्येन चतुरग्रशतम्, मिथ्यादृशां त्र्यग्रशतम्, सासादनानां षण्णवतिः, मिश्राणां सप्ततिः, अविरतानां द्विसप्ततिः । देवौघो जिननामकर्महीनो ज्योतिष्कभवनपतिव्यन्तरदेवेषु तद्देवीषु च विज्ञेयः, जिनकर्मसत्ताकस्य तेषूत्पादाभावेन तत्र तद्बन्धासम्भवात्, ततः सामान्यतस्त्र्यधिकशतम्, मिथ्यात्वेऽपि त्र्यधिकशतम्, सासादने षण्णवतिः, मिश्रे सप्ततिः, अविरते एकसप्ततिः ॥ १० ॥

रयणु व्व सणंकुमाराइ आणयाई उज्जोयचउरहिया ।
अपज्जतिरिय व्व नवसयमिगिंदिपुढविजलतरुविगले ॥ ११ ॥

व्याख्या—सनत्कुमाराद्याः सहस्रारान्ता देवा रत्नप्रभादिप्रथमपृथिवीत्रयनारकवद् बन्धमाश्रित्य द्रष्टव्याः । तद्यथा—सामान्येनैकाग्रशतम्, मिथ्यादृशां शतम्, सासादनानां षण्णवतिः, मिश्राणां सप्ततिः, अविरतानां द्विसप्ततिः । आनताद्या ग्रैवेयकनवकान्ता देवा अपि उद्योतनामतिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीतिर्यगायुःप्रकृतिचतुष्टयरहिता रत्नप्रभादिनारकवदेव द्रष्टव्याः, ततः सामान्यतः सप्तनवतिं ते बध्नन्ति, मिथ्यादृशः षण्णवतिम्, सासादना द्विनवतिम्, मिश्रेऽविरते चोद्योतादिचतुष्कस्य प्रागेवापनीतत्वात् सम्पूर्ण एव रत्नप्रभादिभङ्गः, ततो मिश्राः सप्ततिं अविरता द्विसप्ततिं बध्नन्ति । मिथ्यात्वादिगुणस्थानत्रयाभावात् पञ्चानुत्तरविमानदेवा एतामेवाविरतगुणस्थानकसत्कां द्विसप्ततिं बध्नन्तीत्यनुक्तमपि ज्ञेयमिति । उक्तं देवगतौ बन्धस्वामित्वम्,

तद्भणनाच्च गतिबन्धमार्गणा समाप्ता। साम्प्रतमिन्द्रियेषु कायेषु च तदारभ्यते—"अपज" इत्यादि। अपर्याप्ततिर्यग्वद् नवोत्तरशतमेकेन्द्रियपृथ्वीजलतरुविकलेषु द्रष्टव्यम्। अयमर्थः—विंशत्युत्तरशतमध्याद् जिननामाद्येकादशप्रकृतीर्मुक्त्वा शेषं नवोत्तरशतमेकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाः पृथ्वीजलवनस्पतिकायाश्च सामान्यपदिनो मिथ्यादृशश्च बध्नन्ति ॥ ११ ॥

अथैतेषामेव सासादनगुणस्थाने बन्धमाह—

छनवइ सासणि विणु सुहुमतेर केइ पुण बिंति चउनवइं।
तिरियनराऊहिं विणा, तणुपज्जत्तिं न ते जंति ॥ १२ ॥

व्याख्या—प्रागुक्तं नवोत्तरशतं सूक्ष्मत्रिकादिप्रकृतित्रयोदशकं मिथ्यात्व एव व्यवच्छिन्नबन्धमिति कृत्वा तद् विना षण्णवतिः सासादने एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपृथ्वीजलवनस्पतिकायानां भवति। केचित् पुनराचार्या ब्रुवते चतुर्नवतिं तिर्यग्नरायुष्काभ्यां विना, यतस्त एकेन्द्रियविकलेन्द्रियादयः सासादनाः सन्तस्तनुपर्याप्तिं न यान्ति अतस्ते तिर्यग्नरायुरबन्धकाः। अयं भावार्थः—तिर्यग्नरायुषोस्तनुपर्याप्त्या पर्याप्तैरेव बध्यमानत्वात् पूर्वमतेन शरीरपर्याप्त्युत्तरकालमपि सासादनभावस्येष्टत्वाद् आयुर्बन्धोऽभिप्रेतः, इह तु प्रथममेव तन्निवृत्तेर्नेष्ट इति षण्णवतिः। तिर्यग्नरायुर्भ्यां विना मतान्तरेण चतुर्नवतिः ॥ १२ ॥

उक्त एकेन्द्रियादीनां बन्धः, अथ पञ्चेन्द्रियाणां त्रसकायिकानां च तमाह—

ओहु पणिंदि तसे गइतसे जिणिक्कार नरतिगुच्च विणा।
मणवयजोगे ओहो, उरले नरभंगु तम्मिस्से ॥ १३ ॥

व्याख्या—'ओघः' विंशत्युत्तरशतादिलक्षणः **कर्मस्तवोक्तः** पञ्चेन्द्रियेषु त्रसकायिकेषु चावगन्तव्यः। तद्यथा—सामान्यतो विंशत्युत्तरशतम्, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम्, सासादने एकोत्तरशतम्, मिश्रे चतुःसप्ततिः, अविरते सप्तसप्ततिः, देशे सप्तषष्टिः, प्रमत्ते त्रिषष्टिः, अप्रमत्ते एकोनषष्टिरष्टपञ्चाशद्वा, निवृत्तिबादरे प्रथमभागेऽष्टपञ्चाशत्, भागपञ्चके षट्पञ्चाशत्, सप्तमभागे षड्विंशतिः, अनिवृत्तिबादरे आद्ये भागे द्वाविंशतिः, द्वितीये एकविंशतिः, तृतीये विंशतिः, चतुर्थे एकोनविंशतिः, पञ्चमेऽष्टादश, सूक्ष्मे सप्तदश, शेषगुणस्थानत्रये सातस्यैकस्य बन्धः, अयोगिनि बन्धाभावः। गतित्रसाः—तेजोवायुकायास्तेषु जिननामाद्येकादशप्रकृतीर्नरत्रिकमुच्चैर्गोत्रं च विना विंशत्युत्तरं शतं शेषं पञ्चोत्तरं शतं बन्धे लभ्यते, सासादनादिभावस्तु नैषां सम्भवति। यत उक्तम्—

[1]न हु किंचि लभिज्ज सुहुमतसा ॥

---

१ न हि किंचिल्लभन्ते सूक्ष्मत्रसाः।

सूक्ष्मत्रसास्तेजोवायुकायजीवा इति । एवमुक्त इन्द्रियेषु कायेषु च बन्धः, सम्प्रति योगेषु तं प्रतिपादयन्नाह–"मणवयजोगे" इत्यादि । सूचकत्वात् सूत्रस्य सत्यादिमनोयोगचतुष्के तत्पूर्वके सत्यादिवाग्योगचतुष्के च ओघबन्धो विंशत्युत्तरशतादिलक्षणः कर्मस्तवोक्तो ज्ञेयः । तत्र सत्यादिस्वरूपं त्विदम्–सत्यं यथा अस्ति जीवः सदसद्रूपो देहमात्रव्यापीत्यादिरूपतया यथावस्थितवस्तुतत्त्वचिन्तनपरम् । सत्यविपरीतं त्वसत्यम् । मिश्रस्वभावं सत्यासत्यम्, यथा–धवखदिरपलाशादिमिश्रेषु बहुष्वशोकवृक्षेष्वशोकवनमेवेदमिति विकल्पनापरम् । तथा यद् न सत्यं नापि मृषा तदसत्यामृषा, इह विप्रतिपत्तौ सत्यां यद् वस्तुप्रतिष्ठाशया सर्वज्ञमतानुसारेण विकल्प्यते, यथा अस्ति जीवः सदसद्रूप इत्यादि तत् किल सत्यं परिभाषितम् । यत् पुनर्विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रतिष्ठाशया सर्वज्ञमतोत्तीर्णं विकल्प्यते, यथा नास्ति जीव एकान्तनित्यो वा इत्यादि तद् असत्यम् । यत् पुनर्वस्तुप्रतिष्ठाशामन्तरेण स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरम्, यथा हे देवदत्त ! घटमानय, गां देहि मह्यमित्यादिचिन्तनपरं तद् असत्यामृषा, इदं स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरत्वाद् न यथोक्तलक्षणं सत्यं भवति नापि मृषेति । इदमपि व्यवहारनयमतेन द्रष्टव्यम्, निश्चयनयमतेन तु विप्रतारणादिबुद्धिपूर्वकमसत्येऽन्तर्भवति, अन्यथा तु सत्ये । "उरले" त्ति मनोवाग्योगपूर्वके औदारिककाययोगे नरभङ्गः "इय चउगुणेसु वि नरा" (गा० ९) इत्यादिना प्रागुक्तस्वरूपः । यथा—ओघे विंशत्युत्तरशतम्, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम्, सासादने एकोत्तरशतम्, मिश्रे एकोनसप्ततिः, अविरते एकसप्ततिः इत्यादि । मनोरहितवाग्योगे विकलेन्द्रियभङ्गः । केवलकाययोगे त्वेकेन्द्रियभङ्गः । "तम्मिस्से" त्ति 'तन्मिश्रे' औदारिकमिश्रयोगे ॥१३॥

सम्प्रति बन्ध उच्यते—

आहारछग विणोहे, चउदससउ मिच्छि जिणपणगहीणं ।
सासणि चउनवइ विणा, नरतिरिआऊ सुहुमतेर ॥१४॥

व्याख्या–विंशत्युत्तरशतमाहारकादिप्रकृतिषट्कं विना शेषं चतुर्दशाधिकशतमोघबन्धे प्राप्यते । अयं भावार्थः–औदारिकमिश्रं कार्मणेन सह, तच्चापर्याप्तावस्थायां केवलिसमुद्घातावस्थायां वा; उत्पत्तिदेशे हि पूर्वभवादनन्तरमागतो जीवः प्रथमसमये कार्मणेनैव केवलेनाहारयति, ततः परमौदारिकस्याप्यारब्धत्वादौदारिकेण कार्मणमिश्रेण यावद् शरीरस्य निष्पत्तिः; केवलिसमुद्घातावस्थायां द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेषु कार्मणेन मिश्रमौदारिकमिति । अपर्याप्तावस्थायां च नाहारकादिषट्कं बध्यते इति तन्निषेधः । केवलिसमुद्घातावस्थायां पुनरेकस्य सातस्यैव बन्धोऽभिधास्यते । एतदेव चतुर्दशोत्तरशतमौदारिकमिश्रकाययोगी मिथ्यात्वे जिननामादिप्रकृतिपञ्चकहीनं शेषं नवोत्तरं शतं बध्नाति । स एव सासादने चतुर्नवतिं बध्नाति,

नवोत्तरशतमध्याद् मुक्त्वा नरतिर्यगायुषी सूक्ष्मत्रिकादित्रयोदशप्रकृतीश्च, नरतिर्यगायुषोरपर्याप्तत्वेन सासादने बन्धाभावात्, सूक्ष्मत्रिकादित्रयोदशकस्य तु मिथ्यात्व एव व्यवच्छिन्नबन्धतया च ॥१४॥

अणचउवीसाइ विणा, जिणपणजुय सम्मि जोगिणो सायं ।
विणु तिरिनराउ कम्मे, वि एवमाहारदुगि ओहो ॥१५॥

व्याख्या—प्रागुक्ता चतुर्नवतिरनन्तानुबन्ध्यादिचतुर्विंशतिप्रकृतीर्विना जिननामादिप्रकृतिपञ्चकयुता च पञ्चसप्ततिस्तामौदारिकमिश्रकाययोगी सम्यक्त्वे बध्नाति । तथा सयोगिन औदारिकमिश्रस्थाः केवलिसमुद्घाते द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेषु सातमेवैकं बध्नन्ति । एवं गुणस्थानकचतुष्क एवौदारिकमिश्रयोगो लभ्यते नान्यत्र । अथ कार्मणयोगादिषु बन्धः प्रतिपाद्यते "विणु तिरि" इत्यादि । यथौदारिकमिश्रे बन्धविधिरोघतो विशेषतश्चोक्तः एवं कार्मणयोगेऽपि तिर्यग्नरायुषी विना वाच्यः, कार्मणकाययोगे तिर्यग्नरायुषोर्बन्धाभावात् । कार्मणकाययोगो ह्यपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च जीवस्य मिथ्यात्वसासादनाऽविरतगुणस्थानकत्रयोपेतस्य लभ्यते । उक्तं च—

[1]मिच्छे सासाणे वा, अविर[2]यसम्मम्मि अहव गहियम्मि ।
जंति जिया परलोए, सेसिक्कारस गुणे मुत्तुं ॥ (प्रव० गा० १३०६)

तथा सयोगिनः केवलिसमुद्घाते तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु चेति गुणस्थानकचतुष्टय एव कार्मणकाययोगो नान्यत्र । ततो विंशत्युत्तरशतमध्याद् आहारकषट्कतिर्यग्नरायुःप्रकृतीर्मुक्त्वा शेषस्य द्वादशोत्तरशतस्य सामान्येन कार्मणकाययोगे बन्धः । तदेव द्वादशोत्तरशतं जिनादिपञ्चकं विना शेषं सप्तोत्तरशतं कार्मणकाययोगे मिथ्यादृशो बध्नन्ति । तदेव सप्तोत्तरशतं सूक्ष्मादित्रयोदश प्रकृतीर्मुक्त्वा शेषां चतुर्नवतिं कार्मणयोगे सासादना बध्नन्ति । चतुर्नवतिरेवाऽनन्तानुबन्ध्यादिचतुर्विंशतिप्रकृतीर्विना जिननामादिप्रकृतिपञ्चकसहिता च पञ्चसप्ततिस्तां कार्मणयोगेऽविरता बध्नन्ति । सयोगिनस्तु कार्मणकाययोगे सातमेवैकं बध्नन्ति । तथाऽऽहारककाययोगश्चतुर्दशपूर्वविदः, आहारकमिश्रकाययोगश्च तस्यैवाऽऽहारकशरीरस्य प्रारम्भसमये परित्यागसमये च औदारिकेण सह द्रष्टव्यः । ततः 'आहारकद्विके' आहारकशरीरतन्मिश्रलक्षणे योगद्वये ओघः कर्मस्तवोक्तः प्रमत्तगुणस्थानवर्ती त्रिषष्टिप्रकृतिबन्धरूपः । एतत् काययोगद्वयं हि लब्ध्युपजीवनात् प्रमत्तस्यैव न त्वप्रमत्तस्य ॥१५॥

---

१ मिथ्यात्वे सासादने वाऽविरतसम्यक्त्वेऽथवा गृहीते । यान्ति जीवाः परलोकं शेषैकादश गुणस्थानानि मुक्त्वा ॥ २ 'यसम्मम्मि अहिगए अहवा । प्रवचनसारोद्धारे त्वेवं पाठः ॥

सुरओहो वेउव्वे तिरियनराउरहिओ य तम्मिस्से ।
वेयतिगाइम बिय तिय, कसाय नव दु चउ पंच गुणा ॥१६॥

व्याख्या—'सुरौघः' सामान्यदेवबन्धो वैक्रियकाययोगे द्रष्टव्यः । तद्यथा—सामान्येन चतुरग्रशतम्, मिथ्यात्वे त्र्युत्तरशतम्, सासादने षण्णवतिः, मिश्रे सप्ततिः, अविरते द्विसप्ततिः । तथा 'तन्मिश्रे' वैक्रियमिश्रे स एव सुरौघस्तिर्यग्नरायुष्करहितो वाच्यः । इह देवनारका निजायुःषण्मासावशेषा एवायुर्बध्नन्ति, अतो वैक्रियमिश्रयोगे उत्पत्तिप्रथमसमयादनन्तरमपर्याप्तावस्थासम्भविनि आयुर्द्वयबन्धाभावः । तथा चाऽत्रौघे द्व्युत्तरशतम्, मिथ्यात्व एकोत्तरशतम्, सासादने चतुर्नवतिः, अविरत एकसप्ततिः । वैक्रियमिश्रयोगो मिश्रता चाऽस्यात्र कार्मणकायेनैव सह मन्तव्या । अयमपि च मिथ्यात्वसासादनाऽविरतगुणस्थानकत्रय एव लभ्यते नान्यत्र । यद्यपि देशविरतस्याऽम्बडादेः प्रमत्तस्य तु विष्णुकुमारादेर्वैक्रियं कुर्वतो वैक्रियमिश्रवैक्रियसम्भवः श्रूयते परं स्वभावस्थस्य वैक्रिययोगस्याऽत्र गृहीतत्वाद् अथवा स्वल्पत्वाद् अन्यतो वा कुतोऽपि हेतोः पूर्वाचार्यैः स नोक्तः । एवं योगेषु बन्धस्वामित्वमुक्तम् । अथ वेदादिषु तदभिधित्सुः प्रथमं गुणस्थानकानि तेष्वाह—"वेयतिग" इत्यादि । 'वेदत्रिके' स्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदरूपे 'नव' नवसङ्ख्याकानि "संजलण" इत्याद्यग्रेतनगाथा(१७)स्थ "पढम" इति पदस्यात्रापि सम्बन्धात् 'प्रथमानि' मिथ्यात्वादीनि अनिवृत्तिबादरान्तानि गुणस्थानकानि भवन्ति, ततः परं वेदानामभावात् । एतेषु यः **कर्मस्तवोक्तः** सामान्यबन्धः स द्रष्टव्यः । तद्यथा—सामान्यतो नानाजीवापेक्षया विंशत्युत्तरशतम्, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम्, सासादने एकोत्तरशतम्, मिश्रे चतुःसप्ततिः, अविरते सप्तसप्ततिः, देशविरते सप्तषष्टिः, प्रमत्ते त्रिषष्टिः, अप्रमत्ते एकोनषष्टिरष्टपञ्चाशद्वा, निवृत्तिबादरे प्रथमभागेऽष्टपञ्चाशत्, भागपञ्चके षट्पञ्चाशत्, सप्तमभागे षड्विंशतिः, अनिवृत्तिबादरे आद्ये भागे द्वाविंशतिः, एवमन्यत्रापि गुणस्थानकेषु यथासम्भवं **कर्मस्तवोक्तो** बन्धो वाच्यः । कषायद्वारे—आद्येऽनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभरूपे कषायचतुष्के द्वे प्रथमे मिथ्यात्वसासादनाख्ये गुणस्थानके तत्र तीर्थकरबन्धस्य सम्यक्त्वप्रत्ययत्वाद् आहारकद्विकबन्धस्य च संयमहेतुत्वाद् अनन्तानुबन्धिषु तदभावात् सामान्येन सप्तदशोत्तरशतम्, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम्, सासादने एकोत्तरशतम् । द्वितीयेऽप्रत्याख्यानाख्ये कषायचतुष्के चत्वारि प्रथमानि मिथ्यात्वसासादनमिश्राऽविरतनामकानि गुणस्थानकानि, तत्राहारकद्विकबन्धाभावेन सामान्येन अष्टादशोत्तरशतम्, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम्, सासादने एकोत्तरशतम्, मिश्रे चतुःसप्ततिः, अविरते सप्तसप्ततिः । तृतीये प्रत्याख्यानावरणाख्ये कषायचतुष्के पञ्च आद्यानि मिथ्यात्वादीनि देशविरतान्तानि गुणस्थानकानि, देशविरते सप्तषष्टिः, शेषाणि तथैव ॥ १६ ॥

संजलणतिगे नव दस, लोभे चउ अजइ दु ति अनाणतिगे ।
बारस अचक्खुचक्खुसु, पढमा अहखाय चरमचउ ॥ १७ ॥

व्याख्या—'संज्वलनत्रिके' संज्वलनक्रोधमानमायारूपे नवाऽऽद्यानि गुणस्थानकानि । तत्र सामान्यबन्धाद् निवृत्तिबादरं यावद् वेदत्रिकन्यायेन विंशत्युत्तरशतादिको बन्धः, अनिवृत्तिबादरे तु प्रथमे भागे द्वाविंशतिः, द्वितीये पुंवेदरहिता एकविंशतिः, तृतीये संज्वलनक्रोधरहिता विंशतिः, चतुर्थे संज्वलनमानरहिता एकोनविंशतिः, पञ्चमे संज्वलनमायारहिता अष्टादश । संज्वलनलोभस्य तु सूक्ष्मसम्परायेऽपि भावात् तत्र दश प्रथमानि गुणस्थानानि, तत्र नव तथैव, दशमे तु सूक्ष्मसम्पराये सप्तदश प्रकृतयः । संयमद्वारे—'अयते' असंयते चत्वारि आद्यानि गुणस्थानानि, तत्र सामान्यतोऽविरतसम्यग्दृष्टेरपि सङ्गृहीतत्वाद् जिननामक्षेपात् सप्तदशोत्तरशतं जातमष्टादशोत्तरशतम्, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम्, सासादने एकोत्तरशतम्, मिश्रे चतुःसप्ततिः, अविरते सप्तसप्ततिः । ज्ञानद्वारे— 'अज्ञानत्रिके' मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गरूपे द्वे मिथ्यात्वसासादने, त्रीणि वा गुणस्थानकानि मिश्रेण सह । अयमाशयः—मिश्रे ज्ञानांशोऽज्ञानांशश्चास्ति, तत्र यदाऽज्ञानांशप्राधान्यविवक्षा तदाऽज्ञानत्रिके गुणस्थानकद्वयमेव, ज्ञानांशप्राधान्यविवक्षायां तु तृतीयं मिश्रमपि, तत्रौघे सप्तदशोत्तरशतम्, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम्, सासादने एकोत्तरशतम् मिश्रे चतुःसप्ततिः । दर्शनद्वारे—चक्षुरचक्षुर्दर्शनयोः प्रथमानि द्वादश गुणस्थानानि, परतस्तु चक्षुरचक्षुषोः सतोरप्यनुपयोगित्वेनाव्यापारात् । तत्रौघे विंशत्युत्तरशतम्, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम्, इत्यादि यावत् क्षीणमोहे सातबन्ध एकः । यथाख्याते चरमगुणस्थानकचतुष्कम्, तत्र सामान्यत एकः, उपशान्तमोहे एकः, क्षीणमोहे एकः, सयोगिनि एकः, अयोगिनि शून्यम् ॥१७॥

मणनाणि सग जयाई, समइय छेय चउ दुन्नि परिहारे ।
केवलिदुगि दो चरमाऽजयाइ नव मइसुओहिदुगे ॥ १८ ॥

व्याख्या—मनःपर्यायज्ञाने सप्त 'यतादीनि' प्रमत्तसंयतादीनि क्षीणमोहान्तानि । तत्र सामान्यत आहारकद्विकसहिता त्रिषष्टिर्जाता पञ्चषष्टिः, प्रमत्ते त्रिषष्टिः इत्यादि यावत् क्षीणमोहे एकः केवलसातबन्धः । सामायिके छेदोपस्थापने च चत्वारि यतादीनि गुणस्थानानि, तत्र सामान्यतः पञ्चषष्टिः, प्रमत्ते त्रिषष्टिरित्यादि प्राग्वत्, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकादौ तु सूक्ष्मसम्परायादिचारित्रभावात् । तथा 'द्वे गुणस्थानके' प्रमत्ताप्रमत्तरूपे परिहारविशुद्धिकचारित्रे नोत्तराणि, तस्मिंश्चारित्रे वर्तमानस्य श्रेण्यारोहणप्रतिषेधात्, तत्र सामान्यतः पञ्चषष्टिः, प्रमत्ते त्रिषष्टिः, अप्रमत्ते एकोनषष्टिरष्टपञ्चाशद्वा । 'केवलद्विके' केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे 'द्वे चरमे'

अन्तिमे सयोगिकेवल्ययोगिकेवल्याख्ये गुणस्थानके भवतः, अत्राद्ये एकस्य सातस्य बन्धः सयोगिनि च, अयोगिनि शून्यम् । तथा मतिश्रुतयोः 'अवधिद्विके' च 'अवधिज्ञानावधिदर्शनलक्षणे 'अयतादीनि' अविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणमोहपर्यवसानानि नव गुणस्थानकानि भवन्ति, सयोग्यादौ केवलोत्पत्त्या मत्याद्यभावात् , तत्रौघतोऽप्रमत्तादेर्मत्यादिमत आहारकद्विकस्यापि बन्धसम्भवाद् एकोनाशीतिः, विशेषचिन्तायामविरतादिगुणस्थानकेषु कर्मस्तवोक्तः सप्तसप्तत्यादिमितो बन्धो द्रष्टव्यः ॥१८॥

अड उवसमि चउ वेयगि, खइए इक्कार मिच्छतिगि देसे ।
सुहुमि सठाणं तेरस, आहारगि नियनियगुणोहो ॥ १९ ॥

व्याख्या—इह 'अयतादि' इति पदं सर्वत्र योज्यते । ततोऽयतादीनि उपशान्तमोहान्तान्यष्टौ गुणस्थानान्यौपशमिकसम्यक्त्वे भवन्ति, तत्र सामान्यत औपशमिकसम्यक्त्वे वर्तमानानां देवमनुजायुषोर्बन्धाभावात् पञ्चसप्ततिः, अविरतेऽपि पञ्चसप्ततिः, देशे सुरायुर्बन्धात् षट्षष्टिः, प्रमत्ते द्वाषष्टिः, अप्रमत्ते अष्टपञ्चाशद् इत्यादि यावदुपशान्ते एकः । 'वेदके' क्षायोपशमिकापरपर्यायेऽयतादीन्यप्रमत्तान्तानि चत्वारि गुणस्थानकानि, तत्राद्ये एकोनाशीतिः, अविरते सप्तसप्ततिः, देशे सप्तषष्टिः, प्रमत्ते त्रिषष्टिः, अप्रमत्ते एकोनषष्टिरष्टपञ्चाशद्वा । अतः परमुपशमश्रेणावौपशमिकं क्षपकश्रेणौ पुनः क्षायिकम् , क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं तूदीर्णमिथ्यात्वक्षयेऽनुदीर्णमिथ्यात्वोपशमे च भवतीति । उक्तं च—

[1]मिच्छत्तं जमुइण्णं, तं खीणं अणुइयं तु उवसंतं ।
मीसीभावपरिणयं, वेइज्जंतं खओवसमं ॥ (विशेषा० गा० ५३२)

तथा क्षायिकसम्यक्त्वे अयतादीनि अयोगिकेवलिपर्यवसानानि एकादश गुणस्थानकानि, तत्राद्ये एकोनाशीतिः, अविरते सप्ततिः, देशे सप्तषष्टिः इत्यादि यावदयोगिनि शून्यम् । क्षायिकसम्यक्त्वस्वरूपं त्विदम्—

[2]खीणे दंसणमोहे, तिविहम्मि वि भवनियाणभूयम्मि ।
निप्पच्चवायमउलं, सम्मत्तं खाइयं होइ ॥ (आव० प्र० गा० ४८)

तथा 'मिथ्यात्वत्रिके' मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्रलक्षणे 'देशे' देशविरते 'सूक्ष्मसम्पराये 'स्वस्थानं' निजस्थानम् । अयमर्थः-मिथ्यात्वमार्गणास्थाने मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् , सासादन-

१ मिथ्यात्वं यद् उदीर्णं तत् क्षीणमनुदितं तूपशान्तम् । मिश्रीभावपरिणतं वेद्यमानं क्षयोपशमम् ॥
२ क्षीणे दर्शनमोहे त्रिविधेऽपि भवनिदानभूते । निष्प्रत्यपायमतुलं सम्यक्त्वं क्षायिकं भवति ॥

मार्गणास्थाने सासादनगुणस्थानम् , मिश्रमार्गणास्थाने मिश्रगुणस्थानम् , देशसंयममार्गणास्थाने देशविरतगुणस्थानम् , सूक्ष्मसम्परायसंयमे सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् । अत्र च स्वस्वगुणस्थानीयो बन्धः, यथा — मिथ्यात्वे ओघतो विशेषतश्च सप्तदशोत्तरशतम् , एवं सासादने एकोत्तरशतम् , मिश्रे चतुःसप्ततिः, देशे सप्तषष्टिः । सूक्ष्मे सप्तदश । आहारकद्वारे—त्रयोदश गुणस्थानानि मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगिकेवल्यन्तानि आहारके जीवे लभ्यन्ते, अयोगी त्वनाहारकः । तत्रौघतः विंशत्युत्तरशतम् , मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम् , इत्यादि यावत् सयोगिनि सातरूपैका प्रकृतिर्बन्धे भवति । एवं वेदादिषु मार्गणास्थानेषु गुणस्थानकान्युपदर्श्य सम्प्रति तेषु बन्धातिदेशमाह—"नियनियगुणोहो" त्ति निजनिजगुणौघः, एतेषु वेदादिषु यानि स्वस्वगुणस्थानानि तेष्वोघः कर्मस्तवोक्तो बन्धो द्रष्टव्य इत्यर्थः । स च यथास्थानं भावित एव ॥ १९ ॥

यच्च प्रागुक्तम् "अष्टौपशमिकसम्यक्त्वे गुणस्थानानि" इति तत्र कश्चिद्विशेषमाह—

परमुवसमि वट्टंता, आउ न बंधंति तेण अजयगुणे ।
देवमणुआउहीणो, देसाइसु पुण सुराउ विणा ॥ २० ॥

व्याख्या—सर्वत्र वेदादिषु निजनिजगुणौघो वाच्य इत्युक्तं परमौपशमिकेऽयं विशेषः—औपशमिके वर्तमाना जीवा आयुर्न बध्नन्ति तेनाऽयतगुणस्थानके देवमनुजायुर्भ्यां हीन ओघो वाच्यः, नरकतिर्यगायुषोः प्रागेव मिथ्यात्वसासादनयोरपनीतत्वान्न तद्धीनता । तथा 'देशादिषु' देशविरतप्रमत्ताऽप्रमत्तेषु पुनरोघः सुरायुर्विना ज्ञेयः । औपशमिकसम्यक्त्वं तूपशमश्रेण्यां प्रथमसम्यक्त्वलाभे वा भवति जीवस्य । उक्तं च —

[1]उवसामगसेढिगयस्स होइ उवसामियं तु सम्मत्तं ।
जो वा अकयतिपुंजो, अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥

(विशेषा० गा० ५२९, २७३५)

ननु क्षायोपशमिकौपशमिकसम्यक्त्वयोः कः प्रतिविशेषः ?, उच्यते—क्षायोपशमिके मिथ्यात्वदलिकवेदनं विपाकतो नास्ति प्रदेशतः पुनर्विद्यते, औपशमिके तु प्रदेशतोऽपि नास्तीति विशेषः ।। २० ।। उक्तं वेदादिषु बन्धस्वामित्वम् । अथ लेश्याद्वारमुच्यते—

ओहे अट्ठारसयं, आहारदुगूण आइलेसतिगे ।
तं तित्थोणं मिच्छे, साणाइसु सव्वहिं ओहो ॥ २१ ॥

---

[1] उपशमकश्रेणिगतस्य भवति औपशमिकं तु सम्यक्त्वम् । यो वाऽकृतत्रिपुञ्जोऽक्षपितमिथ्यात्वो लभते सम्यक्त्वम् ।।

व्याख्या–'आद्यलेश्यात्रिके' कृष्णनीलकापोतलेश्यात्रये वर्तमाना जीवाः 'ओघे' सामान्येन विंशत्युत्तरशतमाहारकद्विकोनं जातमष्टादशाधिकशतं तद् बध्नन्ति, आहारकद्विकस्य शुभलेश्याभिर्बध्यमानत्वात्। 'तद्' अष्टादशाधिकशतं तीर्थकरनामोनं सप्तदशोत्तरशतं मिथ्यात्वगुणस्थानके बध्नन्ति। सासादनादिषु गुणस्थानकेषु पुनः सर्वत्र' लेश्याषट्केऽपि 'ओघः' सामान्यबन्धो द्रष्टव्यः। ततोऽत्र सासादनमिश्राऽविरतेष्वोघः **कर्मस्तवोक्तः** ॥ २१ ॥

तेऊ नरयनवूणा, उज्जोयचउ नरयबार विणु सुक्का।
विणु नरयबार पम्हा, अजिणाहारा इमा मिच्छे ॥ २२ ॥

व्याख्या–विंशत्युत्तरशतं नरकत्रिकादिप्रकृतिनवकोनं तेजोलेश्यायामोघत एकादशोत्तरं शतं बध्यते, कृष्णाद्यशुभलेश्याप्रत्ययत्वाद् नरकत्रिकादिप्रकृतिनवकबन्धस्य। इदमेवैकादशोत्तरशतं जिननामाहारकद्विकरहितं शेषमष्टोत्तरशतं मिथ्यात्वे बध्यते। सासादनादिषु षट्सु गुणस्थानकेषु ओघः विंशत्युत्तरशतमध्याद् उद्योतादिचतुष्कं नरकत्रिकादिद्वादशकं च मुक्त्वा शेषं चतुरुत्तरशतमोघतः शुक्ललेश्यायां बध्यते, उद्योतादिप्रकृतीनां तिर्यग्नरकप्रायोग्यत्वेन देवनरप्रायोग्यबन्धकैः शुक्ललेश्यावद्भिरबध्यमानत्वात्। एतदेव चतुरुत्तरं शतं जिननामाहारकद्विकरहितं शेषमेकोत्तरशतं मिथ्यात्वे बध्यते। सासादने तदेवैकोत्तरशतरूपौघबन्धाद् उद्योतादिप्रकृतिचतुष्टयापसारेण शेषाः सप्तनवतिर्बध्यते। मिश्रादिषु एकादशगुणस्थानकेषु तदनन्तरः स्वस्वगुणस्थानीयो बन्धो द्रष्टव्यः। विंशत्युत्तरशतमध्याद् नरकत्रिकादिप्रकृतिद्वादशकं विना शेषमष्टोत्तरशतं पद्मलेश्यायामोघतो बध्यते, तल्लेश्यावतां सनत्कुमारादिदेवानां तिर्यक्प्रायोग्यं बध्नतामुद्योतादिप्रकृतिचतुष्कस्य बन्धसम्भवाद् नात्र तद्बन्धाभावः। एतदेवाष्टोत्तरशतं जिननामाहारकद्विकरहितं शेषं पञ्चोत्तरशतं मिथ्यात्वे बध्यते। सासादनादिषु षट्सु गुणस्थानकेषु यथाक्रमेण एकोत्तरशतादिरूपः स्वस्वौघबन्धो द्रष्टव्यः। "अजिणाहारा इमा मिच्छे" त्ति प्रथमलेश्यात्रिकस्य "ओहे अट्ठारसयं" (गा० २१) इत्यादिना निर्धारितत्वेनेमास्तेजःपद्मशुक्ललेश्या मिथ्यात्वगुणस्थानके जिननामाहारकद्विकरहिता विज्ञेयाः, तेजोलेश्यादिषु नरकनवकाद्यूनो यः सामान्यबन्धः प्रतिपादितः स मिथ्यात्वगुणस्थानके जिनादिप्रकृतित्रयरहितो विधेय इत्यर्थः। तथा च दर्शितमेव ॥ २२ ॥ सम्प्रति भव्यादिद्वाराण्यभिधीयन्ते––

सव्वगुणभव्वसन्निसु, ओहु अभव्वा असन्नि मिच्छसमा।
सासणि असन्नि सन्नि व्व कम्मभंगो अणाहारे ॥ २३ ॥

व्याख्या–सर्वगुणस्थानकोपेते भव्ये संज्ञिनि च मार्गणास्थाने सर्वगुणस्थानकौघः **कर्मस्तवोक्तः**। *अभव्या असंज्ञिनश्च चिन्त्यमाना मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकसमाः। अयमर्थः–यथा*

मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतबन्धः **कर्मस्तव** उक्तस्तथाऽभव्योऽसंज्ञी च सामान्यतो मिथ्यात्वे च सप्तदशोत्तरशतं बध्नाति । सासादने पुनरसंज्ञी संज्ञिवत् , एकोत्तरशतबन्धक इत्यर्थः । अनाहारके तु मार्गणास्थाने कार्मणकाययोगभङ्गः "विणु तिरिनराउ कम्मे वि" (गा० १५) इत्यादिना योगमार्गणास्थाने प्रतिपादितोऽवगन्तव्यः, कार्मणकाययोगस्थस्यैव संसारिणोऽनाहारकत्वात् । कार्मणभङ्गश्चायं / विंशत्युत्तरशतमध्यादाहारकद्विकदेवायुर्नरकत्रिकतिर्यग्नरायुःप्रकृत्यष्टकं मुक्त्वा शेषस्य द्वादशोत्तरशतस्याऽनाहारके सामान्येन बन्धः । तथा जिननाम सुरद्विकं वैक्रियद्विकं च द्वादशोत्तरशतमध्याद् मुक्त्वा शेषस्य सप्तोत्तरशतस्यानाहारके मिथ्यादृष्टौ बन्धः। तथा सूक्ष्मादित्रयोदश प्रकृतीर्मुक्त्वा शेषायाश्चतुर्नवतेः सासादनस्थेऽनाहारके बन्धः । तथाऽनन्तानुबन्ध्यादिचतुर्विंशतिप्रकृतीश्चतुर्नवतेर्मध्याद् मुक्त्वा शेषायाः सप्ततेर्जिननामसुरद्विकवैक्रियद्विकयुक्तायाः पञ्चसप्ततेरविरतेऽनाहारके बन्धः । तथा सयोगिनि केवलिसमुद्घाते तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेष्वनाहारक एकस्याः सातप्रकृतेर्बन्धः ॥ २३ ॥

अथ प्राग् यदुक्तं लेश्याद्वारे—"साणाइसु सव्वहिं ओहो" त्ति (गा०२१)"सासादनादिषु गुणस्थानेषु सर्वत्र लेश्याषट्के ओघो द्रष्टव्यः" इति, तत्र न ज्ञायत आदिशब्दात् कस्यां लेश्यायां कियन्ति गुणस्थानानि गृह्यन्ते ? इत्यतो लेश्यासु गुणस्थानकान्युपदर्शयन् प्रकरणसमर्थनां प्रकरणज्ञानोपायं चाह—

तिसु दुसु सुक्काइ गुणा, चउ सग तेर त्ति बंधसामित्तं ।
देविंदसूरिलिहियं, नेयं कम्मत्थयं सोउं ॥ २४ ॥

व्याख्या—'तिसृषु' आद्यासु कृष्णनीलकापोतलेश्यासु "चउ" इत्यादिना यथाक्रमं सम्बन्धात् 'चत्वारि' मिथ्यात्वसासादनमिश्राविरतरूपाण्याद्यानि गुणस्थानानि प्राप्यन्ते, एतद्गुणस्थानचतुष्के परिणामविशेषतः षण्णामपि लेश्यानां भावात् । 'द्वयोः' तेजःपद्मलेश्ययोर्मिथ्यात्वादीनि सप्त गुणस्थानानि, तयोरप्रमत्तगुणस्थानकान्तमपि यावद्भावात् । शुक्ललेश्यायां त्रयोदश मिथ्यात्वादीनि गुणस्थानानि, तस्या मिथ्यादृष्टिगुणस्थानात् प्रभृति यावत् सयोगिकेवलिगुणस्थानकं तावदपि भावात् । अयोगी त्वलेश्यः । इह च लेश्यानां प्रत्येकमसङ्ख्येयानि लोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि, ततो मन्दाध्यवसायस्थानापेक्षया शुक्ललेश्यादीनामपि मिथ्यादृष्ट्यादौ सम्भवो न विरुध्यते । तथा कृष्णादिलेश्यात्रयं यदिहाविरतगुणस्थानकान्तमुक्तं तद् बृहद्बन्धस्वामित्वानुसारेण, **षडशीतिके** तु तस्य प्रमत्तगुणस्थानकान्तं यावदभिहितत्वात् । तथाहि—

'लेसा तिन्नि पमत्तं, तेऊपम्हा उ अप्पमत्तंता ।
सुक्का जाव सजोगी, निरुद्धलेसो अजोगि त्ति ॥

(जिनवल्लभीयषडशीति गा० ७३)

तत्त्वं तु श्रुतधरा विदन्ति इति । प्रतिपादितं गत्यादिषु बन्धस्वामित्वम् , तत्प्रतिपादनाच्च समर्थितं **बन्धस्वामित्वप्रकरणम्** । इतिशब्दः परिसमाप्तौ । **बन्धस्वामित्वमेतत्** 'ज्ञेयं' बोद्धव्यं, कर्मस्तवं श्रुत्वा, अत्र बहुषु स्थानेषु तदुक्तबन्धातिदेशद्वारेण भणनात् ॥ २४ ॥

एतद्ग्रन्थस्य टीकाभूत् , परं क्वापि न साऽऽप्यते ।
स्थानस्याऽशून्यताहेतोरतोऽलेख्यवचूर्णिका ॥

॥ इति **बन्धस्वामित्वावचूरिः समाप्ता** ॥

ग्रन्थाग्रम् ४२६ अक्षराणि २८

---

१ लेश्यास्तिस्रः प्रमत्तं [यावत्] तेजःपद्मे तु अप्रमत्तान्तम् । शुक्ला यावत् सयोगिनं निरुद्धलेश्योऽयोगीति ॥

॥ अर्हम् ॥

पूज्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितस्वोपज्ञटीकोपेतः

षडशीतिनामा चतुर्थः कर्मग्रन्थः ।

॥ ॐ नमः प्रवचनाय ॥

यद्धापितार्थलवमाप्य दुरापमाशु, श्रीगौतमप्रभृतयः शमिनामधीशाः ।
सूक्ष्मार्थसार्थपरमार्थविदो बभूवुः, श्रीवर्धमानविभुरस्तु स वः शिवाय ॥ १ ॥
निजधर्माचार्येभ्यो नत्वा निष्कारणैकबन्धुभ्यः ।
श्रीषडशीतिकशास्त्रं, विवृणोमि यथागमं किञ्चित् ॥ २ ॥

तत्राऽऽदावेवाऽभीष्टदेवतास्तुत्यादिप्रतिपादिकामिमां गाथामाह—

नमिय जिणं जियमग्गणगुणठाणुवओगजोगलेसाओ ।
बंधऽप्पबहूभावे, संखिज्जाई किमवि वुच्छं ॥ १ ॥

जिनं नत्वा जीवस्थानादि वक्ष्य इति सम्बन्धः । तत्र 'नत्वा' नमस्कृत्य, नमस्कारो हि चतुर्धा—द्रव्यतो नामैको न भावतो यथा पालकादीनाम् १, भावतो नामैको न द्रव्यतो यथाऽनुत्तरोपपातिसुरादीनाम् २, एको द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि यथा शम्बकुमारप्रभृतीनाम् ३, एको न द्रव्यतो नापि भावतो यथा कपिलादीनाम् ४ । ततो द्रव्यभावरूपेण भावनमस्कारेण नमस्कृत्य । कम् ? इत्याह—'जिनं' रागद्वेषमोहादिदुर्वारवैरिवारजेतारं वीतरागम्, परमार्हन्त्यमहिमालङ्कृतं तीर्थकरमित्यर्थः । अनेन परमाभीष्टदेवतानमस्कारेण ऐकान्तिकमात्यन्तिकभावमङ्गलमाह, तेन च शास्त्रस्याऽऽपरिसमाप्तेर्निष्प्रत्यूहता भवतीति । क्त्वाप्रत्ययस्य चोत्तरक्रियासापेक्षत्वाद् उत्तरक्रियामाह—जीवमार्गणागुणस्थानादि वक्ष्ये । इह स्थानशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् जीवस्थानानि, मार्गणास्थानानि, गुणस्थानानि । तत्र जीवन्ति-यथायोग्यं प्राणान् धारयन्तीति जीवाः प्राणिनः शरीरभृत इति पर्यायाः, तेषां जीवानां स्थानानि—सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियत्वादयोऽवान्तरविशेषाः, तिष्ठन्ति जीवा एषु इति कृत्वा जीवस्थानानि १ । मार्गणं—जीवादीनां पदार्थानामन्वेषणं मार्गणा, तस्याः स्थानानि—आश्रया मार्गणास्थानानि वक्ष्यमाणानि गत्यादीनि २ । गुणाः—ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषाः, स्थानं—पुनरेतेषां शुद्ध्यशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतः स्वरूपभेदः, तिष्ठन्ति गुणा अस्मिन्निति कृत्वा, गुणानां स्थानानि गुणस्थानानि—परमपदप्रासादशिखरारोहणसोपानकल्पानि **स्वोपज्ञकर्मस्तवटीकायां** सविस्तर-

मभिहितानि इहैव वा किञ्चिद्वक्ष्यमाणानि मिथ्यादृष्टिप्रभृतीनि चतुर्दश ३। "उवओग" त्ति उपयोजनमुपयोगः–बोधरूपो जीवव्यापारः, भावे घञ्, यद्वा उपयुज्यते–वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यत इत्युपयोगः, कर्मणि घञ्, यदि वा उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति जीवोऽनेनेत्युपयोगः, "पुंनाम्नि घः" (सि० ५–३–१३०) इति करणे घप्रत्ययः, सर्वत्र जीवस्वतत्त्वभूतोऽवबोध एवोपयोगो मन्तव्यः ४। "योग" त्ति योजनं योगः– जीवस्य वीर्यं परिस्पन्द इति यावत्, यदि वा युज्यते–धावनवल्गनादिक्रियासु व्यापार्यत इति योगः, कर्मणि घञ्, यद्वा युज्यते– सम्बध्यते धावनवल्गनादिक्रियासु जीवोऽनेनेति "पुंनाम्नि०" (सि० ५-३-१३०) इति करणे घप्रत्ययः, स च मनोवाक्कायलक्षणसहकारिकारणभेदात् त्रिविधो वक्ष्यमाणस्वरूपः ५। "लेसाउ" त्ति लिश्यते–श्लिष्यते कर्मणा सहात्माऽनयेति लेश्या, कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यादात्मनः शुभाशुभपरिणामविशेषः। यदुक्तम्—

कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः।
स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रवर्तते ॥ इति।

सा च षोढा–कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या। आसां च स्वरूपं जम्बूफलखादकषट्पुरुषीदृष्टान्तेन ग्रामघातनप्रचलितचौरषट्कदृष्टान्तेन वा एवमवसेयम् –

[1]जह जंबुपायवेगो, सुपक्कफलभरियनमियसाहग्गो।
दिट्ठो छहिँ पुरिसेहिं, ते बिंति जंबू भक्खेमो ॥
किह पुण ते ? बिंतेगो, आरुहणे हुज्ज जीयसंदेहो।
तो छिंदिऊण मूलाउ पाडिउं ताई भक्खेमो ॥
बीयाऽऽह इद्दहेणं, किं छिन्नेण तरुणा उ अम्हं ? ति।
साहा महल्ल छिंदह, तइओ बेई पसाहा उ ॥
गुच्छे चउत्थओ पुण, पंचमओ बेइ गिण्हह फलाइं।
छट्ठो उ बेइ पडिया, एए चिय खायहा घित्तुं ॥
दिट्ठंतस्सोवणओ, जो बेइ तरुं तु छिंद मूलाओ।
सो वट्टइ किण्हाए, साह महल्लाउ नीलाए ॥

---

१ यथा जम्बूपादप एकः सुपक्वफलभरितनतशाखाग्रः। दृष्टः षड्भिः पुरुषैस्ते ब्रुवते जम्बूः भक्षयामः ॥ कथं पुनस्ताः [भक्षयामः] ? ब्रवीत्येकः आरोहणे भवेद् जीवसन्देहः। ततश्छित्त्वा मूलतः पातयित्वा ताः भक्षयामः ॥ द्वितीय आह एतावता किं छिन्नेन तरुणा तु अस्माकम् ? इति। शाखा महतीश्छिन्त तृतीयो ब्रवीति प्रशाखास्तु ॥ गुच्छांश्चतुर्थकः पुनः पञ्चमो ब्रवीति गृह्णीत फलानि। षष्ठस्तु ब्रवीति पतिताः एताः एव खादत गृहीत्वा ॥ दृष्टान्तस्योपनयो यो ब्रवीति तरुं तु छिन्त मूलतः। स वर्तते कृष्णायां शाखा महतीर्नीलायाम् ॥

[1]हवइ पसाहा काऊ, गुच्छा तेऊ फलाइँ पम्हाए ।
पडियाइँ सुक्कलेसा, अहवा अन्नं इमाऽऽहरणं ॥
चोरा गामवहत्थं, विणिग्गया एगु बेइ घाएह ।
जं पिच्छह तं सव्वं, दुपयं च चउप्पयं वा वि ॥
बीओ माणुस पुरिसे, य तईओ साउहे चउत्थो उ ।
पंचमओ जुज्झंते, छट्ठो पुण तत्थिमं भणइ ॥
इक्कं ता हरह धणं, बीयं मारेह मा कुणह एयं ।
केवल हरह धणं ती, उवसंहारो इमो तेसिं ॥
सव्वे मारेह त्ती, वट्टइ सो किण्हलेसपरिणामे ।
एवं कमेण सेसा, जा चरमो सुक्कलेसाए ॥

अस्यैव दृष्टान्तद्वयस्य सङ्ग्रहगाथाः—

[2]मूलं साह पसाहा, गुच्छ फले छिंद पडियभक्खणया ।
सव्वं माणुस पुरिसा, साउह जुज्झंत धणहरणा ॥

आसु च लेश्यासु यो जीवो यस्यां लेश्यायां वर्तते स प्रदर्श्यते—

[3]वेरेण निरणुकंपो, अइचंडो दुम्मुहो खरो फरुसो ।
किण्हाइ अणज्झप्पो, वहकरणरओ य तक्कालं ॥
मायाडंभे कुसलो, उक्कोडालुद्ध चवलचलचित्तो ।
मेहुणतिव्वाभिरओ, अलियपलावी य नीलाए ॥
मूढो आरंभपिओ, पावं न गणेइ सव्वकज्जेसु ।
न गणेइ हाणिवुड्ढी, कोहजुओ काउलेसाए ॥

---

१ भवति प्रशाखाः कापोती गुच्छांस्तैजसी फलानि पद्मायां । पतितानि शुक्ललेश्या अथवाऽन्यदिदमाहरणम् ॥ चौरा ग्रामवधार्थं विनिर्गता एको ब्रवीति घातयत । यं प्रेक्षध्वं तं सर्वं द्विपदं च चतुष्पदं वाऽपि ॥ द्वितीयो मनुष्यान् पुरुषांश्च तृतीयः सायुधांश्चतुर्थस्तु । पञ्चमको युध्यमानान् षष्ठः पुनस्तत्रेदं भणति ॥ एकं तावद् हरथ धनं द्वितीयं मारयथ मा कुरुतैवम् । केवलं हरत धनं उपसंहारोऽयं तेषाम् ॥ सर्वान् मारयतेति वर्तते स कृष्णलेश्यापरिणामे । एवं क्रमेण शेषा यावत् चरमः शुक्ललेश्यायाम् ॥

२ मूलं शाखाः प्रशाखा गुच्छान् फलानि छिन्त पतितभक्षणता । सर्वं मनुष्यान् पुरुषान् सायुधान् युध्यमानान् [हन्त] धनहरणम् ॥ ३ वैरेण निरनुकम्पः अतिचण्डः दुर्मुखः खरः परुषः । कृष्णायामनध्यात्मः वधकरणरतश्च तत्कालम् ॥ मायादम्भे कुशल उत्कोचालुब्धश्चपलचलचित्तः । मैथुनतीव्राभिरतः अलीकप्रलापी च नीलायाम् ॥ मूढ आरम्भप्रियः पापं न गणयति सर्वकार्येषु । न गणयति हानिवृद्धी क्रोधयुतः कापोतलेश्यायाम् ॥

[1]दक्खो संवरसीलो, रिजुभावो दाणसीलगुणजुत्तो ।
धम्मम्मि होइ बुद्धी, अरूसणो तेउलेसाए ।।
सत्तणुकंपो य थिरो, दाणं खलु देइ सव्वजीवाणं ।
अइकुसलबुद्धीमंतो, धिइमंतो पम्हलेसाए ।।
धम्मम्मि होइ बुद्धि, पावं वज्जेइ सव्वकज्जेसु ।।
आरंभेसु न रज्जइ, अपक्खवाई य सुक्काए ।। ।। ६ ।।

ततो जीवस्थानानि च मार्गणास्थानानि च गुणस्थानानि च उपयोगाश्च योगाश्च लेश्याश्चेति द्वन्द्वे द्वितीया शस् । "बंध" त्ति मिथ्यात्वादिभिर्बन्धहेतुभिरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवद् निरन्तरं पुद्गलनिचिते लोके कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मनः क्षीरनीरवद् वह्न्ययःपिण्डवद्वा अन्योन्यानुगमाभेदात्मकः सम्बन्धो बन्धः १ । उपलक्षणत्वाद् उदयोदीरणासत्तानां परिग्रहः । तत्र तेषामेव कर्मपुद्गलानां यथास्वस्थितिबद्धानामपवर्तनादिकरणकृते स्वाभाविके वा स्थित्यपचये सत्युदयसमयप्राप्तानां विपाकवेदनमुदयः २ । तेषामेव कर्मपुद्गलानामकालप्राप्तानां जीवसामर्थ्यविशेषाद् उदयावलिकायां प्रवेशनमुदीरणा ३ । तेषामेव कर्मपुद्गलानां बन्धसङ्क्रमाभ्यां लब्धात्मलाभानां निर्जरणसङ्क्रमकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावे सति सद्भावः सत्ता ४ । यद्वा बन्ध इति पदैकदेशेऽपि 'भामा'--सत्यभामा' इति न्यायेन पदप्रयोगदर्शनाद् बन्धहेतवो मिथ्यात्वाऽविरतिकषाययोगरूपा वक्ष्यमाणा गृह्यन्ते ७ । "अप्पबहू" त्ति भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य अल्पबहुत्वं गत्यादिरूपमार्गणास्थानादीनां परस्परं स्तोकभूयस्त्वम् ८ । "भाव" त्ति जीवाजीवानां तेन तेन रूपेण भवनानि-परिणमनानि भावा औपशमिकादयः ९ । ततो बन्धश्च अल्पबहुत्वं च भावाश्चेति द्वन्द्वे द्वितीयाबहुवचनं शस् । सूत्रे च "अप्पबहू" इत्यत्र दीर्घत्वं "दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ" (सि० ८-१-४) इति प्राकृतसूत्रेण । "संखिज्जाइ" त्ति सङ्ख्यायते-चतुष्पल्यादिप्ररूपणया परिमीयत इति सङ्ख्येयम्, आदिशब्दादसङ्ख्येयानन्तकपरिग्रहः १० । तत एवं जीवस्थानादिकमनन्तकपर्यवसानं द्वारकलापमत्र वक्ष्य इत्यनेनाभिधेयमाह । कथं वक्ष्ये ? इत्याह— "किमवि" त्ति किमपि किञ्चित्-स्वल्पं न विस्तरवत्, दुःषमानुभावेनापचीयमानमेधायुर्बलादिगुणानामैदंयुगीनजनानां विस्तराभिधाने सत्युपकारासम्भवात्, तदुपकारार्थं चैष शास्त्रारम्भप्रयासः । एतेन मङ्क्षिस्वरुचिसत्त्वानाश्रित्य प्रयोजनमाचष्टे । सम्बन्धस्त्वर्थापत्तिगम्यः, स चोपायोपेयलक्षणः साध्यसाधनलक्षणो गुरुपर्वक्रमलक्षणो वा स्वयमभ्यूह्यः ।

---

१ दक्षः संवरशील ऋजुभावो दानशीलगुणयुक्तः । धर्मे भवति बुद्धिः अरोषणः तेजोलेश्यायाम् ।। सत्त्वानुकम्पकश्च स्थिरः दानं खलु ददाति सर्वजीवेभ्यः । अतिकुशलबुद्धिमान् धृतिमान् पद्मलेश्यायाम् ।। धर्मे भवति बुद्धिः पापं वर्जयति सर्वकार्येषु । आरम्भेषु न रजति अपक्षपाती च शुक्लायाम् ।।

इह च मार्गणास्थानगुणस्थानादयः सर्वे पदार्था न जीवपदार्थमन्तरेण विचारयितुं शक्यन्त इति प्रथमं जीवस्थानग्रहणम् १। जीवाश्च प्रपञ्चतो निरूप्यमाणा गत्यादिमार्गणास्थानैरेव निरूपयितुं शक्यन्त इति तदनन्तरं मार्गणास्थानग्रहणम् २। तेषु च मार्गणास्थानेषु वर्तमाना जीवा न कदाचिदपि मिथ्यादृष्ट्याद्यन्यतमगुणस्थानकविकला भवन्तीति ज्ञापनाय मार्गणास्थानकानन्तरं गुणस्थानकग्रहणम् ३। अमूनि च गुणस्थानकानि परिणामशुद्ध्यशुद्धिप्रकर्षापकर्षरूपाण्युपयोगवतामेवोपपद्यन्ते नान्येषामाकाशादीनाम्, तेषां ज्ञानादिरूपपरिणामरहितत्वादिति प्रतिपत्त्यर्थं गुणस्थानकग्रहणानन्तरमुपयोगग्रहणम् ४। उपयोगवन्तश्च मनोवाक्कायचेष्टासु वर्तमाना नियमतः कर्मसम्बन्धभाजो भवन्ति। तथा चागमः—

[1]जाव णं एस जीवे एयइ वेयइ चलइ फंदइ घट्टइ खुब्भइ तं तं भावं परिणमइ ताव णं अट्ठविहबंधए वा सत्तविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा नो णं अबंधए।

इति ज्ञापनार्थमुपयोगग्रहणानन्तरं योगग्रहणम् ५। योगवशाच्चोपात्तस्यापि कर्मणो यावद् न कृष्णाद्यन्यतमलेश्यापरिणामो जायते तावद् न तस्य स्थितिपाकविशेषो भवति, "स्थितिपाकविशेषस्तस्य भवति लेश्याविशेषेण" इति वचनप्रामाण्यात्, ततो योगवशादुपात्तस्य कर्मणो लेश्याविशेषतः स्थितिपाकविशेषो भवतीति प्रतिपत्तये योगानन्तरं लेश्याग्रहणम् ६। लेश्यावन्तश्च यथायोग्यैर्बन्धहेतुभिः कर्मबन्धोदयोदीरणासत्ताः प्रकुर्वन्तीति ज्ञापनाय लेश्यानन्तरं बन्धग्रहणम् ७। बन्धोदयादियुक्ताश्च जीवा मार्गणास्थानाद्याश्रित्य नियमतः परस्परमल्पे वा भवेयुर्बहवो वेति निवेदनार्थं बन्धानन्तरमल्पबहुत्वग्रहणम् ८। ते च जीवा मार्गणास्थानादिष्वल्पे वा बहवो वा भवन्तोऽवश्यं षण्णामौपशमिकादिभावानां केषुचिद् भावेषु वर्तन्त इति प्रकटनार्थमल्पबहुत्वानन्तरं भावग्रहणम् ९। औपशमिकादिभाववतां च जीवानामल्पबहुत्वं नियमतः सङ्ख्येयकेन असङ्ख्येयकेन अनन्तकेन वा निरूपणीयमिति भावग्रहणानन्तरं सङ्ख्येयकादिग्रहणम् १० इति।

यद्यपि चेह सामान्येनोक्तं "जीवस्थानादि वक्ष्ये" तथाप्येवं विशेषतो द्रष्टव्यम्—जीवस्थानकेषु गुणस्थानकयोगोपयोगलेश्याकर्मबन्धोदयोदीरणासत्ता वक्ष्ये, मार्गणास्थानकेषु पुनर्जीवस्थानकगुणस्थानकयोगोपयोगलेश्याऽल्पबहुत्वानि, गुणस्थानकेषु च जीवस्थानकयोगोपयोगलेश्याबन्धहेतुबन्धोदयोदीरणासत्ताऽल्पबहुत्वानि। तत्र गाथाः—

---

१ यावत् खलु एष जीव एजते व्येजते चलति स्पन्दते घट्टते क्षुभ्यति तं तं भावं परिणमते तावदष्टविधबन्धको वा सप्तविधबन्धको वा षड्विधबन्धको वा न खल्वबन्धकः॥

'चउदसजियठाणेसु', चउदस गुणठाणगाणि १ जोगा य २ ।
उवयोग ३ लेस ४ बंधु ५ दउ ६ दीरणा ७ संत ८ अट्ठ पए ॥
चउदसमग्गणठाणेसु, मूलपएसु त्रिसट्ठि इयरेसु ।
जीय १ गुण २ जोगु ३ वओगा४ लेस ५ ऽप्पबहु ६ च छट्ठाणा ॥
चउदसगुणठाणेसु, जीय १ जोगु २ वओग ३ लेस ४, बंधा ५ य ।
बंधु ६ दयु ७ दीरणाओ ८, संत ९ ऽप्पबहु १० च दस ठाणा ॥ इति ॥ १ ॥

तत्र यथोद्देशं निर्देश इति न्यायात् प्रथमं तावद् जीवस्थानानि निरूपयन्नाह—

इह सुहुमबायरेगिंदिबितिचउअसन्निसन्निपंचिंदी ।
अपज्जत्ता पज्जत्ता, कमेण चउदस जियट्ठाणा ॥ २ ॥

'इह' अस्मिन् जगति अनेन क्रमेण चतुर्दश जीवस्थानानि प्राग्निरूपितशब्दार्थानि भवन्ति । केन क्रमेण ? इति चेद्, इत्याह-सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः, एते च सर्वेऽपि प्रत्येकं पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्चेति । तत्र एकं स्पर्शनलक्षणमिन्द्रियं येषां त एकेन्द्रियाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः, ते च प्रत्येकं द्विधा—सूक्ष्मा बादराश्च । सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्माः सकललोकव्यापिनः, बादरनामकर्मोदयाद् बादराः ते च लोकप्रतिनियतदेशवर्तिनः । द्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया इति, इन्द्रियशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्वीन्द्रियाः त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रिया असंज्ञिसंज्ञिभेदभिन्नाश्च पञ्चेन्द्रियाः । तत्र द्वे स्पर्शनरसनलक्षणे इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रियाः कृमिपूतरकचन्दनकशङ्खकपर्दजलौकाप्रभृतयः । त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणरूपाणि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः कुन्थुमत्कुणयूकागर्दभेन्द्रगोपकमत्कोटकादयः । चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्लक्षणानि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः भ्रमरमक्षिकामशकवृश्चिकादयः । पञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणानि इन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः मत्स्यमकरेभकलभसारसहंसनरसुरनारकादयः, ते च द्विविधाः—संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च । तत्र संज्ञानं संज्ञा—भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनम्, "उपसर्गादातः" (सि० ५-३-११०) इत्यङ् प्रत्ययः. सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः—विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानभाज इति यावत्, तद्विपरीता असंज्ञिनः—विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानविकला इत्यर्थः । एते च सूक्ष्मैकेन्द्रियादयः प्रत्येकं द्विधा—पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्च । पर्याप्तिर्नाम—पुद्गलोपचयजः पुद्गलग्रहणपरि-

१ चतुर्दशजीवस्थानेषु चतुर्दश गुणस्थानकानि योगाश्च । उपयोगलेश्याबन्धोदयोदीरणासत्ता अष्ट पदानि ॥ चतुर्दशमार्गणास्थानेषु मूलपदेषु द्विषष्टिरितरेषु । जीवगुणयोगोपयोगा लेश्याऽल्पबहुत्वं च षट् स्थानानि ॥ चतुर्दशगुणस्थानेषु जीवयोगोपयोगलेश्याबन्धाश्च । बन्धोदयोदीरणाः सत्ताऽल्पबहुत्वं च दश स्थानानि ॥

णमनहेतुः शक्तिविशेषः, सा च विषयभेदात् षोढा—आहारपर्याप्तिः १ शरीरपर्याप्तिः २ इन्द्रियपर्याप्तिः ३ उच्छ्वासपर्याप्तिः ४ भाषापर्याप्तिः ५ मनःपर्याप्तिः ६ चेति । तत्र यया बाह्यमाहारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति सा आहारपर्याप्तिः १ । यया रसीभूतमाहारं रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रलक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्तिः २ । यया धातुरूपतया परिणमितमाहारमिन्द्रियरूपतया परिणमयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः ३ । यया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणादलिकमादाय उच्छ्वासरूपतया परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्याप्तिः ४ । यया तु भाषाप्रायोग्यवर्गणाद्रव्यं गृहीत्वा भाषात्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा भाषापर्याप्तिः ५ । यया पुनर्मनोयोग्यवर्गणादलिकं गृहीत्वा मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा मनःपर्याप्तिः ६ । एताश्च यथाक्रममेकेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियादीनां संज्ञिनां च चतुःपञ्चषट्सङ्ख्या भवन्ति । यदभाणि—

[१]आहारसरीरिंदिय, पज्जत्ती आणपाणभासमणे ।
चत्तारि पंच छ प्पि य, एगिंदियविगलसन्नीणं ॥

पर्याप्तयो विद्यन्ते येषां ते पर्याप्ताः, "अभ्रादिभ्यः" (सि० ७-२-४६) इति मत्वर्थीयः अप्रत्ययः, स्वार्थिककप्रत्ययोपादानात् पर्याप्तकाः । ये पुनः स्वयोग्यपर्याप्तिपरिसमाप्तिविकलास्तेऽपर्याप्तकाः, ते च द्विधा लब्ध्या करणैश्च । तत्र येऽपर्याप्तका एव सन्तो म्रियन्ते न पुनः स्वयोग्यपर्याप्तीः सर्वा अपि समर्थयन्ते ते लब्ध्यपर्याप्तकाः, ये पुनः करणानि-शरीरेन्द्रियादीनि न तावद् निर्वर्तयन्ति अथ चावश्यं पुरस्ताद् निर्वर्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्तकाः ।

इह चैवमागमः—

लब्ध्यपर्याप्तका अपि नियमादाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तावेव म्रियन्ते नार्वाग्, यस्मादागामिभवायुर्बद्ध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिनः, तच्चाऽऽहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपर्याप्तानामेव बध्यते ।　　इति ॥ २ ॥

तदेवं निरूपितानि जीवस्थानानि । अथैतेष्वेव जीवस्थानेषु गुणस्थानानि प्रचिकटयिषुराह-

बायरअसन्निविगले, अपज्जि पढमबिय सन्निअपज्जत्ते ।
अजयजुय सन्निपज्जे, सव्वगुणा मिच्छ सेसेसु ॥ ३ ॥

इह चतुर्दश गुणस्थानानि भवन्ति । तद्यथा—मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं १ सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं २ सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् ३ अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं ४ देशविरतिगुणस्थानं ५ प्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ६ अप्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ७ अपूर्वकरणगुणस्थानम् ८

---

१ आहारशरीरेन्द्रियाणि पर्याप्तय आनप्राणभाषामनांसि । चतस्रः पञ्च षडपि च एकेन्द्रियविकलसंज्ञिनाम् ॥

अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानं ९ सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् १० उपशान्तकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थानं ११ क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थानं १२ सयोगिकेवलिगुणस्थानम् १३ अयोगिकेवलिगुणस्थानम् १४ । एतेषामर्थलेशोऽयम् —

[1]जीवाइपयत्थेसु, जिणोवइट्ठेसु जा असद्दहणा ।
सद्दहणा वि य मिच्छा, विवरीयपरूवणा जा य ॥
संसयकरणं जं पि य, जं तेसु अणायरो पयत्थेसु ।
तं पंचविहं मिच्छं, तद्दिट्ठी मिच्छदिट्ठी य ॥
उवसमअद्धाएँ ठिओ, मिच्छमपत्तो तमेव गंतुमणो ।
सम्मं आसायंतो, सासायण सो मुणेयव्वो ॥
अह गुडदहीणि विसमाइभावसहियाणि हुंति मीसाणि ।
भुंजंतस्स तहोभयदिट्ठीए मीसदिट्ठीओ ॥
तिविहे वि हु सम्मत्ते, थोवा वि न विरइ जस्स कम्मवसा ।
सो अविरउ त्ति भन्नइ, देसे पुण देसविरईओ ॥
विगहाकसायनिद्दासद्दाइरओ भवे पमत्तु त्ति ।
पंचसमिओ तिगुत्तो, अपमत्तजई मुणेयव्वो ॥
अप्पुव्वं अप्पुव्वं, जहुत्तरं जो करेइ ठिइकंडं ।
रसकंडं तग्घायं, सो होइ अपुव्वकरणु त्ति ॥
विणिवट्टंति विसुद्धिं, समगपइट्ठा वि जम्मि अन्नुन्नं ।
तत्तो नियट्टिठाणं, विवरीयमओ वि अनियट्टी ॥
थूलाण लोहखंडाण वेयगो बायरो मुणेयव्वो ।
सुहुमाण होइ सुहुमो, उवसंतेहिं तु उवसंतो ॥

---

१ जीवादिपदार्थेषु जिनोपदिष्टेषु याऽश्रद्धा । श्रद्धाऽपि च मिथ्या विपरीतप्ररूपणा या च ॥ संशयकरणं यदपि च यस्तेष्वनादरः पदार्थेषु । तत्पञ्चविधं मिथ्यात्वं तद्दृष्टिः मिथ्यादृष्टिश्च ॥ उपशमाध्वनि स्थितो मिथ्यात्वमप्राप्तस्तमेव गन्तुमनाः । सम्यक्त्वं आस्वादयन् सास्वादनो स ज्ञातव्यः ॥ यथा गुडदधिनी विषमादिभावसहिते भवतो मिश्रे । भुञ्जानस्य तथोभयदृष्टया मिश्रदृष्टिकः ॥ त्रिविधेऽपि हि सम्यक्त्वे स्तोकाऽपि न विरतिः यस्य कर्मवशात् । सोऽविरत इति भण्यते देशः पुनर्देशविरतेः ॥ विकथाकषायनिद्राशब्दादिरतो भवेत् प्रमत्त इति । पञ्चसमितस्त्रिगुप्तोऽप्रमत्तयतिर्ज्ञातव्यः ॥ अपूर्वमपूर्वं यथोत्तरं यः करोति स्थितिखण्डं । रसखण्डम् तद्घातं स भवत्यपूर्वकरणो इति ॥ विनिवर्तन्ते विशुद्धिं समकप्रविष्टा अपि यस्मिन्नन्योन्यम् । ततो निवृत्तिस्थानं विपरीतमतोऽप्यनिवृत्ति ॥ स्थूलानां लोभखण्डानां वेदको बादरो ज्ञातव्यः । सूक्ष्माणां भवति सूक्ष्म उपशान्तैः तु उपशान्तः ॥

[1]खीणम्मि मोहणिज्जे, खीणकसाओ सजोग जोगि त्ति (ग त्ति) ।
होइ पउत्ता य तओ, अपउत्ता होइ हु अजोगी ॥
अविरयसासणमिच्छा, परभविया न उण सेसगुणठाणा ।
मिच्छस्स तिन्नि भंगा, छावलियं होइ सासाणं ॥
तित्तीसयर चउत्थं, पुव्वाणं कोडि ऊण तेरसमं ।
लहुपंचक्खर चरिमं, अंतमुहू सेसगुणठाणा ॥

ततो बादराश्च—बादरैकेन्द्रियाः पृथिव्यम्बुवनस्पतिलक्षणाः असंज्ञी च—विशिष्टस्मरणादि-रूपमनोविज्ञानविकलः विकलाश्च—विकलेन्द्रिया द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः बादरासंज्ञि-विकलं तस्मिन् बादरासंज्ञिविकले । किंविशिष्टे ? 'अपज्जि'' त्ति अपर्याप्ते, कोऽर्थः ? अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियेषु पृथिव्यम्बुवनस्पतिषु, तथा अपर्याप्तेऽसंज्ञिनि, तथा विकलेषु द्वीन्द्रि-यत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेष्वपर्याप्तेषु । किम् ? इत्याह—''पढमबिय'' त्ति इह ''सव्वगुणा'' इति पदाद् गुणशब्दस्याकर्षणम् , ततः प्रथमं—मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं द्वितीयं—सासादनगुणस्थानं भवति । अथ तेजोवायुवर्जनं किमर्थम् ? इति चेद् , उच्यते—तेजोवायूनां मध्ये सम्य-क्त्वलेशवतामपि उत्पादाभावात् सम्यक्त्वं चासादयतां सासादनभावाभ्युपगमात् ।

नन्वेकेन्द्रियाणामागमे सासादनभावो नेष्यते, '' [2]उभयाभावो पुढवाइएसु सम्मत्तलद्धीए'' इति परममुनिप्रणीतवचनप्रामाण्यात् , अत एवागमे एकेन्द्रिया अज्ञानिन एवोक्ताः, द्वीन्द्रि-यादयश्च केचिदपर्याप्तावस्थायां सासादनभावाभ्युपगमाद् ज्ञानिन उक्ताः केचिच्च तदभावाद् अज्ञानिनः, यदि पुनरेकेन्द्रियाणामपि सासादनभावः स्यात् तर्हि तेऽपि द्वीन्द्रियादिवद् उभ-यथाऽप्युच्येरन् , न चोच्यन्ते, यदुक्तम्—

[3]एगेंदिया णं भंते ! किं नाणी अन्नाणी ? गोयमा ! नो नाणी नियमा अन्नाणी । तथा—बेइंदिया णं भंते ! किं नाणी अन्नाणी ? गोयमा ! नाणी वि अन्नाणी वि । इत्यादि ।

तत् कथमिहापर्याप्तबादरैकेन्द्रियेषु पृथिव्यम्बुवनस्पतिलक्षणेषु सासादनगुणस्थानकभाव उक्तः ?, सत्यमेतत् , किन्तु मा त्वरिष्ठाः, सर्वमेतदग्रे प्रतिविधास्याम इति ।

---

१ क्षीणे मोहनीये क्षीणकषायः सयोगः योगीति । भवति प्रयोक्ता च सकः अप्रयोक्ता भवत्येवा-योगी ॥ अविरतसास्वादनमिथ्यात्वानि परभविकानि न पुनः शेषगुणस्थानानि । मिथ्यात्वस्य त्रयो भङ्गाः षडावलिकं भवति सास्वादनम् ॥ त्रयस्त्रिंशदतराणि चतुर्थं पूर्वाणां कोटिरूना त्रयोदशम् । लघुपञ्चाक्षरं चरम-मन्तर्मुहूर्त्तं शेषगुणस्थानानि ॥ २ उभयाभावः पृथिव्यादिकेषु सम्यक्त्वलब्धेः ॥ ३ एकेन्द्रियाः भदन्त ! किं ज्ञानिनोऽज्ञानिनः ? गौतम ! न ज्ञानिनो नियमादज्ञानिनः ॥ द्वीन्द्रियाः भदन्त ! किं ज्ञानिनो-ऽज्ञानिनः ? गौतम ! ज्ञानिनोऽप्यज्ञानिनोऽपि ॥

"सन्निअपज्जत्ते अजयजुय" त्ति । संज्ञिन्यपर्याप्ते तदेव पूर्वोक्तं मिथ्यादृष्टिसासादनलक्षणं गुणस्थानकद्वयमयतयुतं भवति । यमनं यतं– विरतिरित्यर्थः, न विद्यते यतं यस्य सोऽयतोऽविरतसम्यग्दृष्टिरित्यर्थः, तेन युतं–संयुक्तमयतयुतम् । इदमुक्तं भवति—संज्ञिन्यपर्याप्ते त्रीणि मिथ्यादृष्टिसासादनाऽविरतसम्यग्दृष्टिलक्षणानि गुणस्थानानि भवन्ति, न शेषाणि सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादीनि, तेषां पर्याप्तावस्थायामेव भावात् । "सन्निपज्जे सव्वगुण" त्ति संज्ञिनि पर्याप्ते सर्वाण्यपि मिथ्यादृष्ट्यादीनि अयोगिपर्यन्तानि गुणस्थानकानि भवन्ति, संज्ञिनः सर्वपरिणामसम्भवात् ।

अथ कथं संज्ञिनः सयोग्ययोगिरूपगुणस्थानकद्वयसम्भवः तद्भावे तस्याऽमनस्कतया संज्ञित्वायोगात् ?, न, तदानीमपि हि तस्य द्रव्यमनःसम्बन्धोऽस्ति, समनस्काश्चाऽविशेषेण संज्ञिनो व्यवह्रियन्ते, ततो न तस्य भगवतः संज्ञिताव्याघातः । यदुक्तं सप्ततिकाचूर्णौ––

[1]मणकरणं केवलिणो वि अत्थि तेण सन्निणो भन्नंति, मनोविन्नाणं पडुच्च ते सन्निणो न भवंति त्ति ।

"मिच्छ सेसेसु" त्ति मिथ्यात्वं 'शेषेषु' भणितावशिष्टेषु पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मपर्याप्तबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणेषु सप्तसु जीवस्थानकेषु मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमेव भवति न सासादनमपि, यतः परभवादागच्छतामेव घण्टालालान्यायेन सम्यक्त्वलेशमास्वादयतामुत्पत्तिकाल एवापर्याप्तावस्थायां जन्तूनां लभ्यते न पर्याप्तावस्थायाम् । अतः पर्याप्तसूक्ष्म१बादर२द्वि३त्रि४चतु५रसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां६ तदभावः, अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियेऽपि न सासादनसम्भवः, सासादनस्य मनाक् शुभपरिणामरूपत्वात्, महासंक्लिष्टपरिणामस्य च सूक्ष्मैकेन्द्रियमध्ये उत्पादाभिधानादिति ॥ ३ ॥

तदेवं निरूपितानि जीवस्थानकेषु गुणस्थानकानि । साम्प्रतं योगा वक्तुमवसरप्राप्तास्ते च पञ्चदश, तद्यथा––सत्यवाग्योगः १ असत्यवाग्योगः २ सत्यमृषावाग्योगः ३ असत्यामृषावाग्योगः ४ । तत्स्वरूपं चेदम्––

[2]सच्चा हिया सतामिह, संतो मुणयो गुणा पयत्था वा ।
तव्विवरीया मोसा, मीसा जा तदुभयसहावा ॥
अणहिगया जा तीसु वि, सद्दु च्चिय केवलो असच्चमुसा ।

---

१ मनःकरणं केवलिनोऽप्यस्ति तेन संज्ञिनो भण्यन्ते । मनोविज्ञानं प्रतीत्य ते न संज्ञिनः स्युः ॥
२ सत्या हिता सतामिह सन्तो मुनयो गुणाः पदार्था वा । तद्विपरीता मृषा मिश्रा या तदुभयस्वभावा ॥ अनधिकृता या तिसृष्वपि शब्द एव केवलः असत्यमृषा ॥

एवं मनोयोगोऽपि चतुर्धा द्रष्टव्यः ४ । काययोगः सप्तधा—औदारिकम् १ औदारिकमिश्रं २ वैक्रियं ३ वैक्रियमिश्रम् ४ आहारकम् ५ आहारकमिश्रं ६ कार्मणं च ७ । तत्रौदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्ययोः । तयोरेवापर्याप्तयोरौदारिकमिश्रकाययोगः । वैक्रियकाययोगो देवनारकयोस्तिर्यङ्मनुष्ययोर्वा वैक्रियलब्धिमतोः । वैक्रियमिश्रकाययोगोऽपर्याप्तयोर्देवनारकयोस्तिर्यङ्मनुष्ययोर्वा वैक्रियस्यारम्भकाले परित्यागकाले च । आहारकं चतुर्दशपूर्वविदः । आहारकमिश्रकाययोग आहारकस्य प्रारम्भसमये परित्यागकाले च । कार्मणकाययोगोऽष्टप्रकारकर्मविकाररूपशरीरचेष्टास्वरूपोऽन्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये केवलिसमुद्घातावस्थायां च । तानेतान् योगान् जीवस्थानकेषु व्याचिख्यासुराह—

अपजत्तछक्कि कम्मुरलमीस जोगा अपज्जसन्निसु ते ।
सविउव्वमीस एसु, तणुपज्जेसु उरलमन्ने ॥ ४ ॥

अपर्याप्तानां—सूक्ष्मबादरद्वित्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां षट्कं अपर्याप्तषट्कं तस्मिन् अपर्याप्तषट्के संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तवर्जितेषु षट्सु अपर्याप्तेषु योगौ भवतः । द्विवचनस्य बहुवचनं प्राकृतत्वात्, यथा—"हत्था पाया" इत्यादौ । कौ योगौ ? इत्याह—कार्मणौदारिकमिश्रौ । तत्र कार्मणकाययोगोऽपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च, शेषकालं त्वौदारिकमिश्रकाययोगः । "अपज्जसन्निसु ते सविउव्वमीस" त्ति 'अपर्याप्तसंज्ञिषु' संज्ञ्यपर्याप्तजीवेषु 'तौ' पूर्वोक्तौ कार्मणौदारिकमिश्रकाययोगौ भवतः, किं केवलौ ? न इत्याह—सह वैक्रियमिश्रेण वर्तेते इति सवैक्रियमिश्रौ । तथा चापर्याप्तसंज्ञिनि त्रयो योगा भवन्ति कार्मणकाययोग औदारिकमिश्रकाययोगो वैक्रियमिश्रकाययोगश्च । तत्र कार्मणकाययोगोऽपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च, शेषकालं तु तिर्यङ्मनुष्ययोरौदारिकमिश्रकाययोगः । संज्ञिनोऽपर्याप्तस्य देवनारकेषु पुनरुत्पद्यमानस्य वैक्रियमिश्रकाययोगो द्रष्टव्यो न शेषस्य, असम्भवात्, मिश्रता चात्र कार्मणेन सह द्रष्टव्या । अत्रैव मतान्तरमुपदर्शयन्नाह—'एषु' पूर्वनिर्दिष्टेषु शेषपर्याप्त्यपेक्षयाऽपर्याप्तेषु तनुपर्याप्त्या पर्याप्तेषु शरीरपर्याप्तेष्वित्यर्थः 'औदारिकम्' औदारिककाययोगम् 'अन्ये' केचिदाचार्याः **शीलाङ्कादयः** प्रतिपादयन्तीति शेषः, शरीरपर्याप्त्या हि परिसमाप्तिवत्या किल तेषां शरीरं परिपूर्णं निष्पन्नमिति कृत्वा । तथा च तद्ग्रन्थः—

औदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्ययोः शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वम्, तदारतस्तु मिश्रः ।
(आ. प्र. श्रु. द्वि. अ० पत्र ९४) इति ।

नन्वनया युक्त्या संज्ञिनोऽपर्याप्तस्य देवनारकेषूत्पद्यमानस्य तनुपर्याप्त्या पर्याप्तस्य वैक्रियमपि शरीरमुपपद्यत एव किमिह तद् नोक्तम् ? इति, उच्यते—उपलक्षणत्वाद् एतदपि द्रष्ट-

व्यमित्यदोषः; यद्वा इहापर्याप्ता लब्ध्यपर्याप्तका एवान्तर्मुहूर्तायुषो द्रष्टव्याः, ते च तिर्यङ्मनुष्या एव घटन्ते, तेषामेवान्तर्मुहूर्तायुष्कत्वसम्भवात्, न देवनारकाः, तेषां जघन्यतोऽपि दशवर्षसहस्रायुष्कत्वात्। लब्ध्यपर्याप्तका अपि च जघन्यतोऽपि इन्द्रियपर्याप्तौ परिसमाप्तायामेव म्रियन्ते नार्वाग् इत्युक्तमागमाभिप्रायेण। ततस्तेषां लब्ध्यपर्याप्तकानां शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानामौदारिकमेव शरीरमुपपद्यते न वैक्रियमित्यदोषः।

किश्चान्यमतकथनेनाऽयमभिप्रायः सूच्यते–यद्यपि तेषां शरीरपर्याप्तिः समजनिष्ट तथापि इन्द्रियोच्छ्वासादीनामद्याप्यनिष्पन्नत्वेन शरीरस्यासम्पूर्णत्वाद् अत एव कार्मणस्याप्यद्यापि व्याप्रियमाणत्वाद् औदारिकमिश्रमेव तेषां युक्त्या घटमानकमिति ॥४॥

सव्वे सन्निपजत्ते, उरलं सुहुमे सभासु(स) तं चउसु।
बायरि सविउव्विदुगं, पजसन्निसु बार उवओगा ॥५॥

'सर्वे' पञ्चदशापि योगा भवन्ति। तथाहि–चतुर्धा मनोयोगः चतुर्धा वाग्योगः सप्तधा काययोगः। क्व? इत्याह–'संज्ञिपर्याप्ते' संज्ञी चासौ पर्याप्तश्च संज्ञिपर्याप्तः तस्मिन् संज्ञिपर्याप्ते।

नन्वौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रकार्मणकाययोगाः कथं संज्ञिपर्याप्तस्य घटन्ते तेषामपर्याप्तावस्थाभावित्वात्?, उच्यते–वैक्रियमिश्रं संयतादेर्वैक्रियं प्रारभमाणस्य प्राप्यते, औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगौ तु केवलिनः समुद्घातावस्थायाम्। यदाह भगवानुमास्वातिवाचकवरः–

औदारिकप्रयोक्ता, प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः।
मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥
कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च।

(प्रश, का. २७६–७७) इति।

'पर्याप्ते' सूक्ष्मे सूक्ष्मैकेन्द्रिये औदारिककाययोगो भवति। पर्याप्तशब्दश्च "सव्वे सन्निपज्जत्ते" इति पदाद् डमरुकमणिन्यायेन सर्वत्र योज्यः। "चउसु" त्ति चतुर्षु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु तदेवौदारिकं भवति। किं केवलम्? न इत्याह–'सभाषं' सह भाषया असत्यामृषास्वरूपया "[१]विगलेसु असच्चमोसा" इति वचनाद् वर्तत इति सभाषम्। कोऽर्थः? विकलत्रिकासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु औदारिककाययोगाऽसत्यामृषाभाषालक्षणौ द्वौ योगावित्यर्थः। यद् इत्यनुवर्तते, तद् औदारिकं सह वैक्रियद्विकेन–वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणेन वर्तत इति सवैक्रियद्विकं बादरैकेन्द्रियपर्याप्ते भवति। अयमर्थः–बादरैकेन्द्रिये पर्याप्ते

१ विकलेषु असत्यामृषा इति ॥

औदारिककाययोगवैक्रियकाययोगवैक्रियमिश्रकाययोगलक्षणास्त्रयो योगा भवन्ति । तत्र औदारिककाययोगः पृथिव्यम्बुतेजो(वायु)वनस्पतीनाम् , वैक्रियद्विकं तु वायुकायस्येति ॥

प्ररूपिता जीवस्थानेषु योगाः । साम्प्रतमुपयोगाः प्ररूपणावसरप्राप्ताः, ते च द्वादश । तद्यथा–मतिज्ञान १ श्रुतज्ञान २ अवधिज्ञान ३ मनःपर्यवज्ञान ४ केवलज्ञान ५ लक्षणानि पञ्च ज्ञानानि, मत्यज्ञान १ श्रुताज्ञान २ विभङ्ग ३ रूपाणि त्रीण्यज्ञानानि, चक्षुर्दर्शना१ऽचक्षुर्दर्शना२ऽवधिदर्शन३केवलदर्शन४रूपाणि चत्वारि दर्शनानि इत्येतानुपयोगान् जीवस्थानकेषु दिदर्शयिषुराह–"पज्जसन्निसु बार उवओग" त्ति पज्जशब्देन पर्याप्त उच्यते, ततः पर्याप्ताश्च ते संज्ञिनश्च पर्याप्तसंज्ञिनः, तेषु पर्याप्तसंज्ञिषु 'द्वादश' द्वादशसङ्ख्या उपयोगा भवन्ति । ते च क्रमेणैव न तु युगपत् , उपयोगानां तथाजीवस्वभावतो यौगपद्यासम्भवात् । उक्तं च– "[1]समए दो णुवओगा" इति । श्रीभद्रबाहुस्वामिपादा अप्याहुः—

[2]नाणम्मि दंसणम्मि य, एत्तो एगयरयम्मि उवउत्ता ।
सव्वस्स केवलिस्स, जुगवं दो नत्थि उवओगा ॥

(आ. नि. गा. ९७९) इति ॥ ५ ॥

पजचउरिंदिअसन्निसु दुदंस दुअनाण दससु चक्खु विणा ।
सन्निअपज्जे मणनाणचक्खुकेवलदुगविहूणा ॥६॥

चतुरिन्द्रियाश्च असंज्ञिनश्च चतुरिन्द्रियासंज्ञिनः, पर्याप्ताश्च ते चतुरिन्द्रियासंज्ञिनश्च तेषु पर्याप्तचतुरिन्द्रियासंज्ञिषु चत्वार उपयोगा भवन्ति । के ? इत्याह—"दुदंस दुअनाण" त्ति दर्शः-दर्शनम् , द्वयोर्दर्शयोः समाहारो द्विदर्श–चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनलक्षणम् , द्वयोरज्ञानयोः समाहारो द्व्यज्ञानं–मत्यज्ञानश्रुताज्ञानरूपम् । अयमर्थः—पर्याप्तचतुरिन्द्रियेषु पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु च मत्यज्ञानश्रुताज्ञानचक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनलक्षणाश्चत्वार उपयोगा भवन्ति । दशसु जीवस्थानकेषु पर्याप्ताऽपर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रिय४द्वीन्द्रिय६त्रीन्द्रिया८ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिया९ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय१० लक्षणेषु पूर्वोक्ताश्चत्वार उपयोगाश्चक्षुर्दर्शनं विना भवन्ति । अयमर्थः–पूर्वोक्तदशजीवस्थानकेषु चक्षुर्दर्शनवर्जा[x] अचक्षुर्दर्शनमत्यज्ञानश्रुताज्ञानलक्षणास्त्रय उपयोगा भवन्ति ।

ननु स्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमसम्भवाद् भवतु मतिरेकेन्द्रियाणाम्, यत्तु श्रुतं तत् कथं जाघटीति ? भाषालब्धिश्रोत्रेन्द्रियलब्धिमतो हि तद् उपपद्यते नान्यस्य । तदुक्तम्—

---

१ समये द्वौ नोपयोगौ २ ज्ञाने दर्शने चानयोरेकतरस्मिन्नुपयुक्ताः । सर्वस्य केवलिनो युगपद् द्वौ न स्त उपयोगौ ॥

[1]भावसुयं भासासोयलद्धिणो जुज्जए न इयरस्स ।
भासाभिमुहस्स सुयं, सोऊण व जं हविज्जाहि ॥
(विशेषा० गा० १०२) इति ।

उच्यते—इह तावदेकेन्द्रियाणामाहारादिसंज्ञा विद्यन्ते तथा सूत्रेऽभिधानात् , संज्ञा चाभिलाष उच्यते । यदवादि परोपकारभूरिभिः श्रीहरिभद्रसूरिभिरावश्यकटीकायाम्–

आहारसंज्ञा आहाराभिलाषः क्षुद्वेदनीयोदयप्रभवः खल्वात्मपरिणामविशेषः (पत्र५८०)इति ।

अभिलाषश्च ममैवंरूपं वस्तु पुष्टिकारि तद् यदीदमवाप्यते ततः समीचीनं भवतीत्येवं शब्दार्थोल्लेखानुविद्धः स्वपुष्टिनिमित्तभूतप्रतिनियतवस्तुप्राप्त्यध्यवसायरूपः; स च श्रुतमेव, शब्दार्थालोचनानुसारित्वात् , श्रुतस्यैवैतल्लक्षणत्वात् ।

यदवादिषुर्दलितप्रवादिकुवादाः श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपादाः––

[2]इंदियमणोनिमित्तं, जं विन्नाणं सुयाणुसारेणं ।
निययत्थुत्तिसमत्थं, तं भावसुयं मई सेसं ॥ (विशेषा० गा० १००)

'सुयाणुसारेणं'' ति शब्दार्थालोचनानुसारेण । केवलमेकेन्द्रियाणामव्यक्त एव कश्चनाप्यनिर्वचनीयः शब्दार्थोल्लेखो द्रष्टव्यः, अन्यथाऽऽहारादिसंज्ञाऽनुपपत्तेः । यदप्युक्तम्–भाषालब्धि-श्रोत्रेन्द्रियलब्धिविकलत्वाद् एकेन्द्रियाणां श्रुतमनुपपन्नमिति, तदप्यसमीक्षिताभिधानम् , तथाहि–बकुलादेः स्पर्शनेन्द्रियातिरिक्तद्रव्येन्द्रियलब्धिविकलत्वेऽपि किमपि सूक्ष्मं भावेन्द्रियपञ्चकविज्ञानमभ्युपगम्यते '' [3]पंचिंदिओ व्व बउलो नरु व्व सव्वविसओवलंभाओ'' इत्यादिवचनप्रामाण्यात् । तथा भाषाश्रोत्रेन्द्रियलब्धिविकलत्वेऽपि तेषां किमपि सूक्ष्मं श्रुतमपि भविष्यति, अन्यथाऽऽहारादिसंज्ञाऽनुपपत्तेः ।

यदाह प्रशस्यभाष्यसस्यकाश्यपीकल्पः श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः––

[4]जह सुहुमं भाविंदियनाणं दव्विंदि[5]या ण विरहे वि ।
दव्वसुयाभावम्मि वि, भावसुयं पत्थिवाईणं ॥ (विशेषा० गा० १०३) इति ।

संज्ञी चासौ अपर्याप्तश्च संज्ञ्यपर्याप्तः तस्मिन् संज्ञ्यपर्याप्ते मनःपर्यवज्ञानचक्षुर्दर्शनकेवलज्ञान-

---

१ भावश्रुतं भाषाश्रोत्रलब्धिकस्य युज्यते नेतरस्य । भाषाभिमुखस्य श्रुतं श्रुत्वा वा यद् भवेत् । २ इन्द्रियमनोनिमित्तं यद् विज्ञानं श्रुतानुसारेण । निजकार्थोक्तिसमर्थं तद् भावश्रुतं मतिः शेषम् ॥ ३ पञ्चेन्द्रिय इव बकुलो नर इव सर्वविषयोपलम्भात् ॥ ४ यथा सूक्ष्मं भावेन्द्रियज्ञानं द्रव्येन्द्रियाणां विरहेऽपि । द्रव्यश्रुताभावेऽपि भावश्रुतं पृथिव्यादीनाम् ॥ ५ ०याविरहे वि । तह दव्वसुयाभावे भा० इति विशेषावश्यकभाष्ये ॥

केवलदर्शनलक्षणकेवलद्विकविहीनाः शेषा मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनरूपा अष्टावुपयोगा भवन्ति ॥६॥

उक्ता जीवस्थानेषु उपयोगाः। साम्प्रतं जीवस्थानेष्वेव लेश्याः प्रतिपिपादयिषुराह–

सन्निदुगि छ लेस अपज्जबायरे पढम चउ ति सेसेसु।
सत्तट्ठबंधुदीरण, संतुदया अट्ठ तेरससु ॥७॥

संज्ञिनो द्विकम्–अपर्याप्तपर्याप्तलक्षणं संज्ञिद्विकं तस्मिन्, संज्ञिन्यपर्याप्ते संज्ञिनि पर्याप्ते चेत्यर्थः, षड् लेश्याः–कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्ललक्षणा भवन्ति। अपर्याप्तबादरे प्रथमाश्चतस्रः–कृष्णनीलकापोततेजोरूपा भवन्ति।

तेजोलेश्या कथमस्मिन्नवाप्यते ? इति चेद् उच्यते–यदा

[1]पुढवीआउवणस्सइगब्भेपज्जत्तसंखजीवीसु।
सग्गचुआणं वासो, सेसा पडिसेहिया ठाणा ॥ (बृ० सं० गा० १८०)

इति वचनात् कश्चनापि देवः स्वर्गलोकात् च्युतः सन् बादरैकेन्द्रियतया भूदकतरुषु मध्ये समुत्पद्यते तदा तस्य घण्टालालान्यायेन सा प्राप्यत इत्यदोषः।

"ति सेसेसु" त्ति प्रथमा इत्यनुवर्तते, प्रथमास्तिस्रः–कृष्णनीलकापोतलक्षणाः 'शेषेषु' प्रागुक्तापर्याप्तपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तबादरैकेन्द्रियवर्जितेषु अपर्याप्तपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय२द्वीन्द्रिय२त्रीन्द्रिय२चतुरिन्द्रिया२ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय२पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय१लक्षणेष्वेकादशसु जीवस्थानेषु भवन्ति ता नान्याः, तेषां सदैवाऽशुभपरिणामत्वात्, शुभपरिणामरूपाश्च तेजोलेश्यादयः ॥

तदेवं जीवस्थानकेषु लेश्या अभिधाय साम्प्रतमेतेष्वेव बन्धोदयोदीरणासत्ताख्यस्थानचतुष्टयमभिधित्सुराह–"सत्तट्ठ बंधु" इत्यादि। सप्त वा अष्टौ वा सप्ताष्टाः, "सुज्वार्थे सङ्ख्या सङ्ख्येये सङ्ख्यया बहुव्रीहिः" (सि० ३–१–१९) इति सूत्रेण बहुव्रीहिसमासः, यथा द्वित्रा इत्यादौ। बन्धश्च उदीरणा च बन्धोदीरणे सप्ताष्टानां बन्धोदीरणे सप्ताष्टबन्धोदीरणे त्रयोदशसु जीवस्थानेषु संज्ञिपर्याप्तवर्जितेषु शेषेषु भवतः। एतदुक्तं भवति–अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय१पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया२ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय३ पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया४ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय५पर्याप्तद्वीन्द्रिया६ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिय ७ पर्याप्तत्रीन्द्रिया८ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिय ९ पर्याप्तचतुरिन्द्रिया१०ऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय११पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रिया१२ऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय१३रूपेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु सप्तानामष्टानां वा बन्धः, सप्तानामष्टानां वा उदीरणा। तथाहि–यदाऽनुभूयमानभवायुषस्त्रिभागनवभागादिरूपे शेषे सति परभवायुर्बध्यते तदाऽष्टानामपि कर्मणां बन्धः, शेषकालं त्वायुषो बन्धा-

1 पृथ्व्यब्वनस्पतिगर्भेपर्याप्तसङ्ख्यातवर्षजीविषु। स्वर्गच्युतानां वासः शेषाणि प्रतिषिद्धानि स्थानानि॥

भावात् सप्तानामेव बन्धः । तथा यदाऽनुभूयमानभवायुरुदयावलिकावशेषं भवति तदा सप्तानामुदीरणा, अनुभूयमानभवायुषोऽनुदीरणात्, आवलिकाशेषस्योदीरणाऽनर्हत्वात्। उदीरणा हि उदयावलिकाबहिर्वर्तिनीभ्यः स्थितिभ्यः सकाशात् कषायसहितेन कषायासहितेन वा योगकरणेन दलिकमाकृष्य उदयसमयप्राप्तदलिकेन सहाऽनुभवनम्।

तथा चोक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

'उदयावलियाबाहिरिल्लठिईहिंतो कसायसहियासहिएणं जोगकरणेणं दलियमाकड्ढिय उदयपत्तदलिएण समं अणुभवणमुदीरणा।

ततः कथमावलिकागतस्योदीरणा भवति ?, न च परभवायुषस्तदोदीरणासम्भवः, तस्योदयाभावात्, अनुदितस्य च उदीरणाऽनर्हत्वात्। शेषकालं त्वष्टानामुदीरणा। सत्त्व उदयश्च प्राकृतत्वात् सन्तोदया, अष्टानामेव कर्मणां त्रयोदशसु जीवस्थानकेषु पूर्वेषु भवतः। तथाहि—एतेषु त्रयोदशसु जीवस्थानकेषु सर्वकालमष्टानामपि सत्ता, यतोऽष्टानामपि कर्मणां सत्ता उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावदनुवर्तते। एते च जीवा उत्कर्षतो यथासम्भवमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकवर्तिन एवेति। एवमुदयोऽप्येतेषु जीवस्थानेष्वष्टानामेव कर्मणां द्रष्टव्यः। तथाहि—सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावदष्टानामपि कर्मणामुदयोऽवाप्यते, एतेषु च जीवस्थानकेषूत्कर्षतोऽपि यथासम्भवमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकसम्भव इति ॥ ७ ॥

सत्तट्ठछेगबंधा, संतुदया सत्त अट्ठ चत्तारि।
सत्त ट्ठ छ पंच दुगं, उदीरणा सन्निपज्जत्ते ॥ ८ ॥

— संज्ञी चासौ पर्याप्तश्च संज्ञिपर्याप्तः तस्मिन् संज्ञिपर्याप्ते चत्वारो बन्धा भवन्ति। तद्यथा—सप्तानां प्रकृतीनां बन्ध एकः, अष्टानां प्रकृतीनां बन्धो द्वितीयः, षण्णां प्रकृतीनां बन्धस्तृतीयः, एकस्याः प्रकृतेर्बन्धश्चतुर्थो बन्धः। तत्राऽऽयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मप्रकृतीनां बन्धो जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्तं यावद् उत्कर्षेण च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि षण्मासोनानि अन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि। तथाऽऽयुर्बन्धकाले तासामष्टानां बन्धोऽजघन्योत्कर्षेणाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः, आयुषि बध्यमानेऽष्टानां प्रकृतीनां बन्धः प्राप्यते, आयुषश्च बन्धोऽन्तर्मुहूर्तमेव कालं भवति, न ततोऽप्यधिकम्। तथा एता एवाष्टावायुर्मोहनीयवर्जाः षट्, एतासां च जघन्येन एकं समयं बन्धः। तथाहि—ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयनामगोत्रान्तरायरूपाणां षण्णां प्रकृतीनां बन्धः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने, तत्र चोपशमश्रेण्यां कश्चिदेकं समयं स्थित्वा द्वितीयसमये भवक्षयेण

१ उदयावलिकाबाह्यस्थितिभ्यः कषायसहितासहितेन योगकरणेन दलिकमाकृष्य उदयप्राप्तदलिकेन समं अनुभवनमुदीरणा॥

दिवं गतः सन् अविरतो भवति, अविरतत्वे चावश्यं सप्तप्रकृतीनां बन्धक इति षण्णां बन्धो जघन्येनैकं समयं यावद् , उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तम् ,। सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानस्याऽऽन्तर्मौहूर्तिकत्वात् । तथा सप्तानां प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदे सत्येकस्याः सातवेदनीयरूपायाः प्रकृतेर्बन्धः, स च जघन्येनैकं समयम् , एकसमयता चोपशमश्रेण्यामुपशान्तमोहगुणस्थाने प्राग्वद्भावनीया, उत्कर्षेण पुनर्देशोनां पूर्वकोटिं यावत् । स चोत्कर्षतः कस्य वेदितव्यः ? इति चेद् उच्यते–यो गर्भवासे माससप्तकमुषित्वाऽनन्तरं शीघ्रमेव योनिनिष्क्रमणजन्मना जातो वर्षाष्टकाच्चोर्ध्वं संयमं प्रतिपन्नः, प्रतिपत्त्यनन्तरं च क्षपकश्रेणिमारुह्य उत्पादितकेवलज्ञानदर्शनः, तस्य सयोगिकेवलिनो वेदितव्यः । अयं चात्र तात्पर्यार्थः–मिथ्यादृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तेषु सप्तानामष्टानां वा बन्धः, आयुर्बन्धाभावाद् अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरयोश्च सप्तानां बन्धः, सूक्ष्मसम्पराये षण्णां बन्धः, उपशान्तमोहादिष्वेकस्याः प्रकृतेर्बन्धः । तथा सच उदयश्च प्राकृतत्वात् सन्तोदया, ततः संज्ञिपर्याप्ते सत्तामाश्रित्य त्रीणि स्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्ट चत्वारि । एवमुदयमप्याश्रित्य त्रीणि स्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्ट चत्वारि । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदयोऽष्टौ, एतासां चाष्टानां सत्ताऽभव्यानधिकृत्याऽनाद्यपर्यवसाना, भव्यानधिकृत्याऽनादिसपर्यवसाना । तथा मोहे क्षीणे सप्तानां सत्ता, सा चाजघन्योत्कर्षेणाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, सा हि क्षीणमोहगुणस्थाने, तस्य च कालमानमन्तर्मुहूर्तमिति । घातिकर्मचतुष्टयक्षये च चतसृणां सत्ता, सा च जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, उत्कर्षेण पुनर्देशोनपूर्वकोटिमाना । तथा सर्वप्रकृतिसमुदयोऽष्टौ, तासां च उदयोऽभव्यानाश्रित्याऽनाद्यपर्यवसानः, भव्यानाश्रित्याऽनादिसपर्यवसानः । उपशान्तमोहगुणस्थानकात् प्रतिपतितानाश्रित्य पुनः सादिसपर्यवसानः । स च जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः, उपशमश्रेणीतः पतितस्य पुनरप्यन्तर्मुहूर्तेन कस्याप्युपशमश्रेणिप्रतिपत्तेः, उत्कर्षेण तु देशोनाऽपार्धपुद्गलपरावर्तः । तथा ता एवाष्टौ मोहनीयवर्जाः सप्त, तासामुदयो जघन्येन एकं समयम् । तथाहि—मोहवर्जसप्तानां प्रकृतीनामुदय उपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा प्राप्यते, तत्र कश्चिद् उपशान्तगुणस्थानके एकं समयं स्थित्वा द्वितीये समये भवक्षयेण दिवं गच्छन् अविरतो भवति, अविरतत्वे चावश्यमष्टानां प्रकृतीनामुदयः, ततः सप्तानामुदयो जघन्येनैकसमयं/यावदवाप्यते, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तम् , उपशान्तमोहक्षीणमोहगुणस्थानयोरान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । तथा घातिकर्मवर्जाश्चतस्रः प्रकृतयः, तासां च जघन्यत उदय आन्तर्मौहूर्तिकः, उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिप्रमाण इति । पिण्डार्थश्चायम्—मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकमारभ्य यावद् उपशान्तमोहगुणस्थानकं तावद् अष्टानामपि सत्ता, क्षीणमोहगुणस्थाने सप्तानां सत्ता, सयोग्ययोगिगुणस्थानकयोश्चतसृणां सत्ता । तथा मिथ्यादृष्टेः प्रभृति सूक्ष्मसम्परायं यावद् अष्टानामुदयः, उपशान्तमोहगुणस्थाने क्षीणमोहगुणस्थाने च सप्तानां प्रकृतीनामुदयः,)सयोग्ययोगिगुणस्थानयोश्चत-

सूणामुदय इति तथा संज्ञिपर्याप्ते उदीरणास्थानानि पञ्च, तद्यथा--सप्त अष्ट षट् पञ्च द्वे इति। तत्र यदाऽनुभूयमानभवायुरावलिकावशेषं भवति तदा तथास्वभावत्वेन तस्यानुदीर्यमाणत्वात् सप्तानामुदीरणा, यदा त्वनुभूयमानभवायुरावलिकावशेषं न भवति तदाऽष्टानां प्रकृतीनामुदीरणा। तत्र मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकात् प्रभृति यावत् प्रमत्तसंयतगुणस्थानकं तावत् सप्तानामष्टानां वा उदीरणा, सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके तु सदैवाऽष्टानामेव उदीरणा, आयुष आवलिकाशेषे मिश्रगुणस्थानस्यैवाऽभावात्। तथाऽप्रमत्तगुणस्थानकात् प्रभृति यावत् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्यावलिकाशेषो न भवति तावद् वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णां प्रकृतीनामुदीरणा, तदानीमतिविशुद्धत्वेन वेदनीयायुरुदीरणायोग्याध्यवसायस्थानाभावात्; आवलिकावशेषे तु मोहनीयस्याऽप्यावलिकाप्रविष्टत्वेनोदीरणाया असम्भवात् ज्ञानावरणदर्शनावरणनामगोत्रान्तरायाणामेवोदीरणा। एतेषामेव चोपशान्तमोहगुणस्थानकेऽप्युदीरणा। क्षीणमोहगुणस्थानकेऽप्येतेषामेव यावद् आवलिकामात्रमवशेषो न भवति, आवलिकावशेषे तु ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामप्यावलिकाप्रविष्टत्वाद् नोदीरणेति द्वयोरेव नामगोत्रयोरुदीरणा, एवं सयोगिकेवलिगुणस्थानकेऽपि। अयोगिकेवलिगुणस्थानके तु वर्तमानो जीवः सर्वथाऽनुदीरक एव। ननु तदानीमप्येष सयोगिकेवलिगुणस्थानक इव भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयोदयवान् वर्तते ततः कथं तदाऽपि तयोर्नामगोत्रयोरुदीरको न भवति? नैष दोषः, उदये सत्यपि योगसव्यपेक्षत्वाद् उदीरणायाः, तदानीं च तस्य योगासम्भवादिति ॥ ८ ॥

तदेवं जीवस्थानकेषु गुणस्थानकाद्यभिधाय साम्प्रतं मार्गणास्थानेषु जीवस्थानकादि विवक्षुस्तान्येव तावद् निर्दिशन्नाह—

गइइंदिए य काए, जोए वेए कसायनाणेसु ।
संजमदंसणलेसा, भवसम्मे सन्निआहारे ॥ ९ ॥

गम्यते-तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यत इति गतिः-नारकत्वादिपर्यायपरिणतिः १। इन्दनादिन्द्रः-आत्मा ज्ञानैश्वर्ययोगात् तस्येदमिन्द्रियम्, "इन्द्रियम्" (सि० ७-१-१७४) इति सूत्रेणाऽभीष्टरूपनिष्पत्तिः, ततो गतिश्च इन्द्रियं च गतीन्द्रियं तस्मिन् गतीन्द्रिये, एवमन्यत्रापि द्वन्द्वः कार्यः, 'चः' समुच्चये २। चीयते-यथायोग्यमौदारिकादिवर्गणागणैरुपचयं नीयत इति कायः "चितिदेहावासोपसमाधाने कश्चादेः" (सि० ५-३-७९) इति घञ्प्रत्ययश्चकारस्य ककारः (च) ३। युज्यते धावनवल्गनादिचेष्टास्वात्माऽनेनेति "पुन्नाम्नि०" (सि० ५-३-१३०) इति घै योगः ४। वेद्यते-अनुभूयत इन्द्रियोद्भूतं सुखमनेनेति वेदः ५। "कष शिष जष झष" इत्यादिदण्डकधातुः, कष्यन्ते-हिंस्यन्ते परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः—

संसारः, कषमयन्ते-गच्छन्ति एभिर्जन्तव इति कषायाः यद्वा कषस्यायः-लाभो येभ्यस्ते कषायाः ६। ज्ञातिर्ज्ञानम् , यद्वा ज्ञायते—परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति ज्ञानम् , सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोध इत्यर्थः ७। संयमनं-सम्यगुपरमणं सावद्ययोगादिति संयमः, यद्वा संयम्यते-नियम्यत आत्मा पापव्यापारसम्भारादनेनेति संयमः "संनिव्युपाद्यमः" (सि० ५-३-२५) इति सूत्रेणाल्प्रत्ययः, यदि वा सम्—शोभना यमाः-प्राणातिपातानृतभाषणादत्तादानाब्रह्मपरिग्रहविरमणलक्षणा अस्मिन्निति संयमश्चारित्रम् ८ । दृश्यते-विलोक्यते वस्त्वनेनेति दर्शनम् , यदि वा दृष्टिर्दर्शनम् , सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यात्मको बोध इत्यर्थः ९। लिश्यते-श्लिष्यते कर्मणा सहाऽऽत्माऽनयेति लेश्या १० । भवति-परमपदयोग्यतामासादयतीति भव्यः-सिद्धिगमनयोग्यः "भव्यगेयजन्यरम्यापात्याप्लाव्यं न वा" (सि० ५-१-७) इति कर्तरि यप्रत्ययः, सूत्रे च यकारलोपः प्राकृतत्वात् ११। "सम्म" त्ति सम्यक्शब्दः प्रशंसार्थोऽविरुद्धार्थो वा, सम्यग् जीवः, तद्भावः सम्यक्त्वम् , प्रशस्तो मोक्षाविरोधी वा प्रशमसंवेगादिलक्षण आत्मधर्म इति यावत् । यदाहुः श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः—

से य[1] सम्मत्ते पसत्थसम्मत्तमोहणीयकम्माणुवेयणोवसमखयसमुत्थे पसमसंवेगाइलिंगे सुहे आयपरिणामे ॥ (आव० नि० पत्र ८११-१) इत्यादि १२।

संज्ञानं संज्ञा-भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनं सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः, "ब्रह्मादिभ्यस्तौ" (सि० ७-२-५) इति इन्[2]प्रत्ययः, विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानसहितेन्द्रियपञ्चकसमन्विता इत्यर्थः १३ । ओजआहारलोमाहारकवलाहाराणामन्यतममाहारमाहारयति-गृह्णातीत्याहारः, "अच्" (सि० ५-१-४९) इत्यच् [प्रत्ययः] आहारक इत्यर्थः १४ । ओजआहारादीनां लक्षणमिदम्—

[3]सरिरेणोयाहारो, तयाइ फासेण लोमआहारो ।
पक्खेवाहारो पुण, कावलिओ होइ नायव्वो ॥ (प्रव० गा० ११८०) ॥ ९ ॥

उक्तानि मूलभूतानि चतुर्दश मार्गणास्थानानि । इदानीमेतेषामेवोत्तरभेदानाह—

सुरनरतिरिनिरयगई, इगबियतियचउपणिंदि छक्काया ।
भूजलजलणाऽनिलवणतसा य मणवयणतणुजोगा ॥ १० ॥

---

१ तच्च सम्यक्त्वं प्रशस्तसम्यक्त्वमोहनीयकर्माणुवेदनोपशमक्षयसमुत्थः प्रशमसंवेगादिलिङ्गः शुभ आत्मपरिणामः ॥ २ अतिप्रवद्धोऽयं लेखकदोषो यन्नोपलभ्यतेऽदः किन्तु व्रीह्यादिभ्य इति । तत्त्वतस्तु शिखादिभ्य इन्नित्यनेनैवेन् (सि० ७-२-४) ॥ ३ शरीरेणौजआहारस्त्वचा स्पर्शेन लोमाहारः । प्रक्षेपाहारः पुनः कावलिको भवति ज्ञातव्यः ॥

इह गतिशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, ततः सुरगतिः नरगतिः तिर्यग्गतिः नरकगतिः । तत्र सुष्टु राजन्त इति सुराः; यदि वा सुष्टु रान्ति–ददति प्रणतानामभीप्सितमर्थं लवणाधिप-सुस्थित इव लवणजलधौ मार्गं जनार्दनस्येति सुराः; यद्वा 'सुरत् ऐश्वर्यदीप्त्योः' सुरन्ति–विशिष्टमैश्वर्यमनुभवन्ति दिव्याभरणसम्भारसमृद्धया सहजनिजशरीरकान्त्या च दीप्यन्त इति सुराः, सुरेषु विषये गतिः सुरगतिः । नृणन्ति–विवेकमासाद्य नयधर्मपरा भवन्तीति नराः–मनुष्यास्तेषु विषये गतिर्नरगतिः । "तिरि" त्ति प्राकृतत्वात् तिरोऽञ्चन्ति–गच्छन्तीति तिर्यञ्चः, व्युत्पत्तिनिमित्तं चैतत् प्रवृत्तिनिमित्तं तिर्यग्गतिनाम, एते चैकेन्द्रियादयः, ततस्तिर्यक्षु विषये गतिस्तिर्यग्गतिः । नरान् उपलक्षणत्वात् तिरश्चोऽपि प्रभूतपापकारिणः कायन्तीव आह्वयन्तीवेति नरकाः–नरकावासास्तत्रोत्पन्ना जन्तवोऽपि नरकाः, नरको वा विद्यते येषां ते "अभ्रादिभ्यः" (सि० ७–२–४६) इत्यप्रत्यये नरकास्तेषु विषये गतिर्नरकगतिः १ । इहापि इन्द्रियशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रिया इति २ । षट् कायाः–भूः–पृथ्वी जलम्–आपः ज्वलनं–तेजः अनिलः–वायुः "वण" त्ति वनस्पतिः त्रसाः–द्वीन्द्रियादयः, ततः प्रत्येकं कायशब्दस्य योगात् पृथिव्येव कायः शरीरं यस्य स पृथिवीकायः, एवमप्कायः तेजस्कायः वायुकायः वनस्पतिकायः त्रसकाय इति ३ । 'चः' समुच्चये । योगशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् त्रयो योगाः, तथाहि—मनोयोगः वचनयोगः तनुयोगः । तत्र तनुयोगेन मनःप्रायोग्यवर्गणाभ्यो गृहीत्वा मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमितानि वस्तुचिन्ताप्रवर्तकानि द्रव्याणि मन इत्युच्यन्ते, तेन मनसा सहकारिकारणभूतेन योगो मनोयोगः, मनोविषयो वा योगो मनोयोगः । उच्यत इति वचनं भाषापरिणामापन्नः पुद्गलद्रव्यसमूह इत्यर्थः, तेन वचनेन सहकारिकारणभूतेन योगो वचनयोगः, वचनविषयो वा योगो वचनयोगः । तनोति–विस्तारयत्यात्मप्रदेशानस्यामिति तनुरौदारिकादिशरीरं तया सहकारिकारणभूतया योगस्तनुयोगः, तनुविषयो वा योगस्तनुयोगः ४ ॥१०॥

वेय नरित्थिनपुंसा, कसाय कोहमयमायलोभ त्ति ।
मइसुयऽवहिमणकेवलविभंगमइसुअनाणसागारा ॥ ११ ॥

वेदशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् त्रयो वेदाः–नरवेदः स्त्रीवेदः नपुंसकवेदः । तत्र नरस्य–पुरुषस्य स्त्रियं प्रति अभिलाषो नरवेदः, स्त्रियः–योषितः पुरुषं प्रत्यभिलाषः स्त्रीवेदः, नपुंसकस्य–पण्ढस्य–स्त्रीपुरुषौ प्रत्यभिलाषो नपुंसकवेदः ५ । कषायाश्चत्वारः–क्रोधकषायः "मद" त्ति मदो मानोऽहङ्कारो गर्व इत्यर्थः मानकषायः मायाकषायः लोभकषायः । इतिशब्दः कषायाणामनन्तानुबन्ध्यादिबहुभेदसूचनार्थः, सूत्रे च "मायलोभ" त्ति ह्रस्वत्वं प्राकृतत्वात् ६ । "मइसुयऽवहि" इत्यादि । इहाऽवधीत्यत्राऽकारलोपाद् ज्ञानशब्दस्य च प्रत्येकं सम्बन्धाद् एवं

प्रयोगः—मतिज्ञानं श्रुतज्ञानम् अवधिज्ञानं मनःपर्यवज्ञानं केवलज्ञानम्, तथा विभङ्गमत्यज्ञान-श्रुताज्ञानानि । एतानि पञ्च ज्ञानानि त्रीण्यज्ञानानि साकाराणि वर्तन्त इति वाक्यार्थः । भावार्थस्त्वयम्—"बुधि मनिच् ज्ञाने" मननं मतिः, यद्वा मन्यते—इन्द्रियमनोद्वारेण नियतं वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मतिः—योग्यदेशावस्थितवस्तुविषय इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेषः, (मतिश्च सा ज्ञानं च मतिज्ञानम् । श्रवणं श्रुतम्—अभिलापप्लावितार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिविशेषः,) एवमाकारं वस्तु घटशब्दाभिलाप्यं जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थमित्यादिरूपतया प्रधानीकृतत्रिकाल-साधारणसमानपरिणामः शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष इत्यर्थः, श्रुतं च तद् ज्ञानं च श्रुतज्ञानम् ।/अवधानमवधिः—इन्द्रियाद्यनपेक्षमात्मनः साक्षादर्थग्रहणम्, अथवा अवशब्दोऽधःशब्दार्थः अव—अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते—परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः; यद्वा अवधिः—मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः, अवधिश्च तद् ज्ञानं च अवधिज्ञानम् । परिः—सर्वतोभावे, अवनमवः, "तुदादिभ्योऽनकौ" इत्यधिकारे "अकितौ च" इत्यनेनौणादिकोऽकारप्रत्ययः, अवनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवो मनःपर्यवः सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः, मनःपर्यवश्च तद् ज्ञानं च मनःपर्यवज्ञानम् । यद्वा मनःपर्यायज्ञानम्, तत्र संज्ञिभिर्जीवैः काययोगेन गृहीतानि मनःप्रायोग्यवर्गणाद्रव्याणि चिन्तनीयवस्तुचिन्तनव्यापृतेन मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽ-लम्ब्यमानानि मनांसीत्युच्यन्ते, तेषां मनसां पर्यायाः—चिन्तनानुगताः परिणामा मनःपर्यायाः, तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम् । यद्वा आत्मभिर्वस्तुचिन्तने व्यापारितानि मनांसि पर्येति—अवगच्छतीति मनःपर्यायम् "कर्मणोऽण्" (सि. ५-३-१४) इत्यणप्रत्ययः, मनः-पर्यायं च तद् ज्ञानं च मनःपर्यायज्ञानम् । केवलम्—एकं मत्यादिरहितत्वात् "[1]नट्ठम्मि उ छाउ-मत्थिए नाणे" (आ० नि० गा० ५३९) इति परममुनिप्रणीतवचनप्रामाण्यात्, शुद्धं वा केवलं तदावरणमलकलङ्कपङ्कापगमात्, सकलं वा केवलं तत्प्रथमतयैव निःशेषतदावरणविगमतः सम्पूर्णोत्पत्तेः, असाधारणं वा केवलम् अनन्यसदृशत्वात्, अनन्तं वा केवलं ज्ञेयानन्तत्वाद् अपर्यवसितानन्तकालावस्थायित्वाद्वा, निर्व्याघातं वा केवलं लोकेऽलोके वा क्वापि व्याघाताभावात्, केवलं च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानं-यथावस्थितसमस्तभूतभवद्भाविभावावभासि ज्ञानमिति भावना । तथा मतिश्रुतावधिज्ञानान्येव मिथ्यात्वपङ्ककलुषिततया यथाक्रमं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञान-व्यपदेशभाञ्जि भवन्ति । उक्तं च—

आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तम् ॥ (प्रश० का० २२७) इति ।

---

१ नष्टे तु छाद्मस्थिके ज्ञाने ॥

"विभंग" त्ति विपरीतो भङ्गः–परिच्छित्तिप्रकारो यस्मिंस्तद् विभङ्गम्, विपर्यस्तमवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानमुच्यते इत्यर्थः। सह आकारेण–जातिवस्तुप्रतिनियतग्रहणपरिणामरूपेण "[१]आगारो उ विसेसो" इति वचनाद् विशेषेण वर्तन्त इति साकाराणि। अयमर्थः–वक्ष्यमाणानि चत्वारि दर्शनान्यनाकाराणि, अमूनि च पञ्च ज्ञानानि साकाराणि। तथाहि–सामान्यविशेषात्मकं हि सकलं ज्ञेयं वस्तु, कथम्? इति चेद् उच्यते–दूरादेव हि शालतमालतालबकुलाशोकचम्पककदम्बजम्बुनिम्बादिविशिष्टव्यक्तिरूपतयाऽनवधारितं तरुनिकरमवलोकयतः सामान्येन वृक्षमात्रप्रतीतिजनकं यदपरिस्फुटं किमपि रूपं चकास्ति तत् सामान्यरूपमनाकारं दर्शनमुच्यते, "निर्विशेषं विशेषाणामग्रहो दर्शनमुच्यते" इति वचनप्रामाण्यात्। यत् पुनस्तस्यैव निकटीभूतस्य तालतमालशालादिव्यक्तिरूपतयाऽवधारितं तमेव महीरुहसमूहमुत्पश्यतो विशिष्टव्यक्तिप्रतीतिजनकं परिस्फुटं रूपमाभाति तद् विशेषरूपं साकारं ज्ञानम् अप्रमेयप्रभावपरमेश्वरप्रवचनप्रवीणचेतसः प्रतिपादयन्ति, सह विशिष्टाकारेण वर्तत इति कृत्वा। तदेवं प्रतिप्राणिप्रसिद्धप्रमाणाबाधितप्रतीतिवशात् सर्वमपि वस्तुजातं सामान्यविशेषरूपद्वयात्मकं भावनीयमिति ॥११॥

सामइय छेय परिहार सुहुम अहखाय देस जय अजया।
चक्खु अचक्खू ओही, केवलदंसण अणागारा ॥१२॥

समानां–ज्ञानदर्शनचारित्राणामायः–लाभः समायः समाय एव सामायिकं विनयादेगकृतिगणत्वाद् इकण्प्रत्ययः, यद्वा समः–रागद्वेषविप्रमुक्तो यः सर्वभूतान्यात्मवत् पश्यति, आयो लाभः प्राप्तिरिति पर्यायाः, समस्य आयः समायः, समो हि प्रतिक्षणमपूर्वैर्ज्ञानदर्शनचरणपर्यायैर्भवाटवीभ्रमणसंक्लेशविच्छेदकैर्निरुपमसुखहेतुभिरधःकृतचिन्तामणिकामधेनुकल्पद्रुमोपमैर्युज्यते समाय एव सामायिकं मूलगुणानामाधारभूतं सर्वसावद्यविरतिरूपं चारित्रम्। यदाह वाचकमुख्यः–

सामायिकं गुणानामाधारः खमिव सर्वभावानाम्।
न हि सामायिकहीनाश्चरणादिगुणान्विता येन ॥
तस्माज्जगाद भगवान्, सामायिकमेव निरुपमोपायम्।
शारीरमानसानेकदुःखनाशस्य मोक्षस्य ॥

यद्यपि च सर्वमपि चारित्रमविशेषतः सामायिकं तथापि च्छेदादिविशेषैर्विशेष्यमाणमर्थतः शब्दान्तरतश्च नानात्वं भजते। प्रथमं पुनरविशेषणात् सामान्यशब्द एवावतिष्ठते सामायिकमिति। तच्च द्विधा–इत्वरं यावत्कथिकं च। तत्रेत्वरं भाविव्यपदेशान्तरत्वात् स्वल्पकालम्, तच्च प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थे भरतैरवतेषु यावद् अद्यापि शैक्षकस्य महाव्रतानि नारोप्यन्ते तावद् विज्ञेयम्।

१ आकारस्तु विशेषः ॥

आत्मनः कथा यावद् यदास्ते तद् यावत्कथं यावज्जीवमित्यर्थः, यावत्कथमेव यावत्कथिकम् , एतच्च भरतैरवतेषु प्रथम[1]चरमवर्जमध्यमद्वाविंशतितीर्थकरतीर्थान्तर्गतसाधूनां महाविदेहतीर्थकरमुनीनां चावसेयम् , तेषा[2]मुपस्थापनाया अभावात् । "छेय" त्ति छेदोपस्थापना, तत्र पूर्वपर्यायस्य [3]छेदेनो-पस्थापना-महा[4]व्रतेष्वारोपणं यत्र चारित्रे तत् छेदोपस्थापनम् , भरतैरवतप्रथमचरमतीर्थकरतीर्थ एव नान्यत्र । तच्च द्विधा—सातिचारं निरतिचारं च । तत्राऽनतिचारमित्वरसामायिकस्य शैक्षकस्य यद् आरोप्यते, तीर्थान्तरं वा सङ्क्रामतः साधोः, यथा श्रीपार्श्वनाथतीर्थाद् वर्धमानस्वामितीर्थं सङ्क्रामतः पञ्चयामधर्मप्रतिपत्तौ । सातिचारं पुनर्यद् मूलगुणघातिनः पुनर्व्रतोच्चारणम् । "परिहारे" त्ति 'परिहारविशुद्धिकं' परिहरणं परिहारस्तपोविशेषस्तेन विशुद्धिर्यस्मिंश्चारित्रे तत् परिहारविशुद्धिकम् , तच्च द्विधा—निर्विशमानकं निर्विष्टकायिकं च । तत्र निर्विशमानका विवक्षितचारित्रसेवकाः, निर्विष्टकायिका आसेवितविवक्षितचारित्रकायिकाः, तदव्यतिरेकात् चारित्रमप्येवमुच्यते ।

इह नवको गणः, तत्रैको वाचनाचार्यश्चत्वारो निर्विशमानकाश्चत्वारश्चाऽनुचारिणः । निर्विशमानकानां चायं तपोविशेषः—

[5]परिहारियाण उ तवो, जहन्न मज्झो तहेव उक्कोसो ।
सीउण्हवासकाले, भणिओ धीरेहिँ पत्तेयं ॥
तत्थ जहन्नो गिम्हे, चउत्थ छट्ठं तु होइ मज्झिमओ ।
अट्ठममिह उक्कोसो, इत्तो सिसिरे पवक्खामि ॥
सिसिरे उ जहन्नाई, छट्ठाई दसमचरिमगो होइ ।
वासासु अट्ठमाई, बारसपज्जंतगो नेओ ॥
पारणगे आयामं, पंचसु गहो दोस(सु)ऽभिग्गहो भिक्खे ।
कप्पट्ठिया वि पइदिण, करेंति एमेव आयामं ॥
एवं छम्मास तवं, चरिउं परिहारिया अणुचरंति ।
अणुचरगे परिहारिय[6]पयट्ठिए जाव छम्मासा ॥

---

१ ०मपश्चिमव० क० ख० ग० घ० ङ० ॥ २ ०मुत्थापनाया अ० क० ख० ग० ङ० ॥ ३ छेदेनोत्था० ख० ङ० । छेदोत्थाप० ग० ॥ ४ ०व्रतेषु यत्र क० ख० ग० घ० ङ० ॥ ५ परिहारिकाणां तु तपः जघन्यं मध्यमं तथैवोत्कृष्टम् । शीतोष्णवर्षाकाले भणितं धीरैः प्रत्येकम् ॥ तत्र जघन्यं ग्रीष्मे चतुर्थं षष्टं तु भवति मध्यमम् । अष्टममिह उत्कृष्टमितः शिशिरे प्रवक्ष्यामि ॥ शिशिरे तु जघन्यादि षष्ठादि दशमचरमकं भवति । वर्षासु अष्टमादि द्वादशपर्यन्तकं ज्ञेयम् ॥ पारणके आचाम्लं पञ्चसु ग्रहः द्वयोरभिग्रहो भिक्षायाम् । कल्पस्थिता अपि प्रतिदिनं कुर्वन्ति एवमेवाचामाम्लम् ॥ एवं षण्मासान् तपश्चरित्वा परिहारिका अनुचरन्ति । अनुचरकाः परिहारिकपदस्थिता यावत् षण्मासान् ॥ ६ प्रवचनसारोद्धारे तु-०परिट्ठिए-०परिस्थिताः इति ।

[1]कप्पट्ठिओ वि एवं, छम्मासतवं करेइ सेसा उ ।
अणुपरिहारिगभावं, वयंति कप्पट्ठियत्तं च ॥
[2]एवेसो अट्ठारसमासपमाणो उ वण्णिओ कप्पो ।
संखेवओ विसेसो, विसेससुत्ताउ नायव्वो ॥
[3]कप्पसमत्तीइ तयं, जिणकप्पं वा उविंति गच्छं वा ।
पडिवज्जमाणगा पुण, जिणस्सगासे पवज्जंति ॥ (प्रवच० गा० ६०२-६०६)
[4]तित्थयरसमीवासेवगस्स पासे व न उण अन्नस्स ।
एएसिं जं चरणं, परिहारविसुद्धिगं तं तु ॥ (प्रवच० गा० ६१०)

अथैते परिहारविशुद्धिकाः कस्मिन् क्षेत्रे काले वा भवन्ति ?, उच्यते—इह क्षेत्रादिनिरूपणार्थं विंशतिद्वाराणि । तद्यथा—क्षेत्रद्वारं १ कालद्वारं २ चारित्रद्वारं ३ तीर्थद्वारं ४ पर्यायद्वारम् ५ आगमद्वारं ६ वेदद्वारं ७ कल्पद्वारं ८ लिङ्गद्वारं ९ लेश्याद्वारं १० ध्यानद्वारं ११ गणद्वारम् १२ अभिग्रहद्वारं १३ प्रव्रज्याद्वारं १४ मुण्डापनद्वारं १५ प्रायश्चित्तविधिद्वारं १६ कारणद्वारं १७ निःप्रतिकर्मद्वारं १८ भिक्षाद्वारं १९ बन्धद्वारम् २० । तत्र क्षेत्रे द्विधा मार्गणा—जन्मतः सद्भावतश्च । यत्र क्षेत्रे जातस्तत्र जन्मतो मार्गणा, यत्र च कल्पे स्थितो वर्तते तत्र सद्भावतः । उक्तं च—

[5]खित्ते दुहेह मग्गण, जम्मणओ चेव संतिभावे य ।
जम्मणओ जहिँ जाओ, संतीभावो य जहिँ [6]कप्पो ॥ (पञ्चव० १४८९)

तत्र जन्मतः सद्भावतश्च पञ्चसु भरतेषु पञ्चस्वैरवतेषु न तु महाविदेहेषु । न चैतेषां संहरणमस्ति येन जिनकल्पिका इव संहरणतः सर्वासु कर्मभूमिष्वकर्मभूमिषु वा प्राप्येरन् । उक्तं च—

[7]खेत्ते भरहेरवएसु हुंति संहरणवज्जिया नियमा । (पञ्चव० गा० १५२९)

कालद्वारे—अवसर्पिण्यां तृतीये चतुर्थे वाऽरके जन्म, सद्भावः पञ्चमेऽपि, उत्सर्पिण्यां द्वितीये तृतीये चतुर्थे वा जन्म, सद्भावः पुनस्तृतीये चतुर्थे वा । उक्तं च—

---

१ कल्पस्थितोऽप्येवं षण्मासांस्तपः करोति शेषास्तु । अनुपरिहारिकभावं व्रजन्ति कल्पस्थितत्वं च ॥ एवं एषोऽष्टादशमासप्रमाणस्तु वर्णितः कल्पः । संक्षेपतो विशेषो विशेषसूत्राद् ज्ञातव्यः ॥ २ एवं सो अ० क० ग० ॥ ३ कल्पसमाप्तौ तकं (परिहारिककल्पं) जिनकल्पं वोपयन्ति गच्छं । वा प्रतिपद्यमानकाः पुनर्जिनसकाशे प्रपद्यन्ते ॥ ४ तीर्थकरसमीपासेवकस्य पार्श्वे वा न पुनरन्यस्य । एतेषां यत् चरणं परिहारविशुद्धिकं तत्तु ॥ ५ क्षेत्रे द्विधेह मार्गणा जन्मतश्चैव सद्भावतश्च । जन्मतो यत्र जातः सद्भावतश्च यत्र कल्पः ॥ ६ कप्पे क० ख० ग० घ० ङ० ॥ ७ क्षेत्रे भरतैरवतयोः भवन्ति संहरणवर्जिता नियमाद् ॥

[1]ओसप्पिणीएँ दोसु, जम्मणओ [2]तीसु संतिभावेणं ।
उस्सप्पिणि विवरीओ, जम्मणओ संतिभावेणं ॥ (पञ्चव० गा० १४८७)

नोउत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपे चतुर्थारकप्रतिभागे काले न सम्भवन्ति, महाविदेहक्षेत्रे तेषामसम्भवात् । चारित्रद्वारे—संयमद्वारेण मार्गणा । तत्र सामायिकस्य च्छेदोपस्थापनस्य च चारित्रस्य यानि जघन्यानि संयमस्थानानि तानि परस्परं तुल्यानि, समानपरिणामत्वात् , ततोऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि संयमस्थानान्यतिक्रम्योर्ध्वं यानि संयमस्थानानि तानि परिहारविशुद्धियोग्यानि, तान्यपि च केवलिप्रज्ञया परिभाव्यमानान्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, तानि प्रथमद्वितीयचारित्राविरोधीनि तेष्वपि सम्भवात् । तत ऊर्ध्वं यानि सङ्ख्यातीतानि संयमस्थानानि तानि सूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रयोग्यानि । उक्तं च—

[3]तुल्ला जहन्नठाणा, संजमठा[4]णाण पढमबिइयाणं ।
तत्तो असंखलोए, गंतुं परिहारियट्ठाणा ॥ (पञ्चव० गा० १५३०)

[5]ते [6]वि असंखा लोगा, अविरुद्धा चेव पढमबीयाणं ।
उवरिं पि तो असंखा, संजमठाणाउ दुण्हं पि ॥(पञ्चव० गा० १५३१) ।

तत्र परिहारविशुद्धिककल्पप्रतिपत्तिः स्वकीयेष्वेव संयमस्थानेषु वर्तमानस्य भवति न शेषेषु । यदा त्वतीतनयमधिकृत्य पूर्वप्रतिपन्नो विवक्ष्यते तदा शेषेष्वपि संयमस्थानेषु भवति, परिहारविशुद्धिककल्पसमाप्त्यनन्तरमन्येष्वपि च चारित्रेषु सम्भवात् , तेष्वपि च वर्तमानस्याऽतीतनयमपेक्ष्य पूर्वप्रतिपन्नत्वात् । उक्तं च—

[6]सट्ठाणे पडिवत्ती, अन्नेसु वि हुज्ज पुव्वपडिवन्नो ।
तेसु वि वट्टंतो सो, तीयनयं पप्प वुच्चइ उ ॥ (पञ्चव० गा० १५३२)

तीर्थद्वारे—परिहारविशुद्धिको नियमतः तीर्थे प्रवर्तमान एव सति भवति, न तूच्छेदेऽनुत्पत्त्यां वा तदभावे जातिस्मरणादिना । उक्तं च—

---

१ अवसर्पिण्यां द्वयोर्जन्मतस्तिसृषु सद्भावेन । उत्सर्पिण्यां विपरीतं जन्मतः सद्भावतः ॥ २ तिसु अ सं० पञ्चवस्तुके ॥ ३ तुल्यानि जघन्यस्थानानि संयमस्थानयोः प्रथमद्वितीययोः । ततोऽसङ्ख्यानलोकान् गत्वा परिहारिकस्थानानि ॥ ४ ०णाइं प० क० ख० ग० घ० ङ० ॥ ४ तान्यपि असङ्ख्यानि लोकानि अविरुद्धान्येव प्रथमद्वितीययोः । उपर्यपि ततोऽसङ्ख्यातानि संयमस्थानानि द्वयोरपि ॥ ५ ताण वि असंखलो० पञ्चवस्तुके ॥ ६ स्वस्थाने प्रतिपत्तिरन्येष्वपि भवेत् पूर्वप्रतिपन्नः । तेष्वपि वर्तमानः सोऽतीतनयं प्राप्य उच्यते तु ॥

[1]तित्थि त्ति नियमओ च्चिय, होइ स तित्थम्मि न उण तदभावे ।
विगएऽणुप्पन्ने वा, जाईसरणाइएहिं तु ॥ (पञ्चव० गा० १४९२)

पर्यायद्वारे-पर्यायो द्विधा-गृहस्थपर्यायो यतिपर्यायश्च । एकैकोऽपि द्विधा-जघन्य उत्कृष्टश्च । तत्र गृहस्थपर्यायो जघन्य एकोनत्रिंशद्वर्षाणि, यतिपर्यायो विंशतिः, द्वावपि चोत्कृष्टतो देशोनपूर्वकोटीप्रमाणौ । उक्तं च-

[2]एयस्स एस नेओ, गिहिपरियाओ जहन्निगुणतीसा ।
जइपरियाओ वीसा, दोसु वि उक्कोस देसूणा (पञ्चव० गा० १४९४)

आगमद्वारे-अपूर्वागमं स नाधीते, यस्मात् तं कल्पमधिकृत्य प्रगृहीतोचितयोगाराधनत एव स कृतकृत्यतां भजते, पूर्वाधीतं तु विश्रोतसिकाक्षयनिमित्तं नित्यमेवैकाग्रमनाः सम्यक् प्रायोऽनुस्मरति । उक्तं च—

[3]अप्पुव्वं नाहिज्जइ, आगममेसो पडुच्च तं [4]कप्पं ।
जमुचिय[5]पगहियजोगाराहणओ चेव कयकिच्चो ॥
[6]पुव्वाहीयं तु तयं, पायं अणुसरइ निच्चमेवेसो ।
एगग्गमणो सम्मं, विस्सोयसिगाइखयहेऊ ॥ (पञ्चव० गा० १४९५-९६)

वेदद्वारे-प्रवृत्तिकाले वेदः पुरुषवेदो वा नपुंसकवेदो वा भवेत्, न स्त्रीवेदः, स्त्रियाः परिहारविशुद्धिककल्पप्रतिपत्त्यसम्भवात् । अतीतनयमधिकृत्य पुनः पूर्वप्रतिपन्नश्चिन्त्यमानः सवेदो वा भवेद् अवेदो वा, तत्र सवेदः श्रेणिप्रतिपत्त्यभावे उपशमश्रेणिप्रतिपत्तौ वा, क्षपकश्रेणिप्रतिपत्तौ त्ववेद इति । उक्तं च-

[7]वेदो पवित्तिकाले, इत्थीवज्जो उ होइ एगयरो ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, होज्ज सवेओ अवेओ वा ॥ (पञ्चव० गा० १४९७)

कल्पद्वारे-स्थितकल्प एवायं नास्थितकल्पे, " [8]ठियकप्पम्मि वि नियमा" (पञ्चव० गा० १५३३) इति वचनात् । तत्राऽऽचेलक्यादिषु दशस्वपि स्थानेषु ये स्थिताः साधवस्तत्कल्पः

---

१ तीर्थे इति नियमत एव भवति स तीर्थे न पुनस्तदभावे । विगतेऽनुत्पन्ने वा जातिस्मरणादिकैस्तु ॥ २ एतस्यैष ज्ञेयो गृहिपर्यायो जघन्यत एकोनत्रिंशत् (वर्षाणि)। यतिपर्यायो विंशतिर्द्वयोरपि उत्कृष्टो देशोना (पूर्वकोटी) ॥ ३ अपूर्वं नाधीते आगममेष प्रतीत्य तं कल्पम् । यदुचितप्रगृहीतयोगाराधनत एव कृतकृत्यः ॥ ४ जम्मं पञ्चवस्तुके ॥ ५ ०पग्गिहजो० पञ्चवस्तुके ॥ ६ पूर्वाधीत तु तत् (श्रुतम्) प्रायोऽनुस्मरति नित्यमेवैषः । एकाग्रमनाः सम्यग् विश्रोतसिकादिक्षयहेतुम् ॥ ७ वेदः प्रवृत्तिकाले स्त्रीवर्जस्तु भवति एकतरः । पूर्वप्रतिपन्नकः पुनर्भवेत् सवेदोऽवेदो वा ॥ ८ स्थितकल्प एव नियमात् ।

स्थितकल्प उच्यते, ये पुनश्चतुर्षु शय्यातरपिण्डादिष्ववस्थितेषु कल्पेषु स्थिताः शेषेषु चाऽऽचेलक्यादिषु षट्स्ववस्थितास्तत्कल्पोऽस्थितकल्पः । उक्तं च—

[1]ठिय अट्ठिओ य कप्पो, आचेलकाइएसु ठाणेसु ।
सव्वेसु ठिया पढमो, चउ ठिय छसु अट्ठिया बीओ ॥ (पञ्चव० गा० १४९९)

आचेलक्यादीनि च दश स्थानान्यमूनि—

[2]आचेलक्कुद्देसियसिज्जायररायपिंडकिइकम्मे ।
वयजिट्ठपडिक्कमणे, मासंपज्जोसवणकप्पे ॥ (पञ्चव० गा० १५००)

चत्वारश्चावस्थिताः कल्पा इमे—

[3]सिज्जायरपिंडम्मी, चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य ।
किइकम्मस्स य करणे, [4]चत्तारि अवट्ठिया कप्पा ॥ (पञ्चाश० १७ गा० १०)

लिङ्गद्वारे—नियमतो द्विविधेऽपि लिङ्गे भवति । तद्यथा—द्रव्यलिङ्गे भावलिङ्गे च । एकेनापि विना विवक्षितकल्पोचितसामाचार्ययोगात् । लेश्याद्वारे—तैजःप्रभृतिकासूत्तरासु तिसृषु विशुद्धासु लेश्यासु परिहारविशुद्धिकं कल्पं प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नः पुनः सर्वास्वपि कथञ्चिद् भवति, तत्राऽपीतरास्वविशुद्धलेश्यासु नात्यन्तसंक्लिष्टासु वर्तते, तथाभूतासु वर्तमानो न प्रभूतं कालमवतिष्ठते, किन्तु स्तोकम्, यतः स्ववीर्यवशात् झटित्येव ताभ्यो व्यावर्तते । अथ प्रथमत एव कस्मात् प्रवर्तते ? उच्यते—कर्मवशात् । उक्तं च—

[5]लेसासु विसुद्धासु, पडिवज्जइ तीसु न उण सेसासु ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, हुज्जा सव्वासु वि कहंचि ॥
नच्चंतसंकिलिट्ठासु थोवकालं हंदि [6]इयरेसु ।
चित्ता कम्माण गई, तहा वि विरियं फलं देइ ॥ (पञ्चव० गा० १५०३–४)

ध्यानद्वारे—धर्मध्यानेन प्रवर्तमानेन परिहारविशुद्धिकं कल्पं प्रतिपद्यते । पूर्वप्रतिपन्नः पुनरार्तरौद्रयोरपि भवति केवलं प्रायेण निरनुबन्धः । उक्तं च—

---

१ स्थितोऽस्थितश्च कल्पः आचेलक्यादिकेषु स्थानेषु । सर्वेषु स्थिताः प्रथमः चतुर्षु स्थिताः षट्स्वस्थिता द्वितीयः ॥ २ आचेलक्यौद्देशिकशय्यातरराजपिण्डकृतिकर्माणि । व्रतज्येष्ठप्रतिक्रमणानि मासपर्युषणाकल्पौ ॥ ३ शय्यातरपिण्डे चतुर्यामे च पुरुषज्येष्ठे च । कृतिकर्मणश्च करणे चत्वारोऽवस्थिताः कल्पाः ॥ ४ पञ्चाशके प्रवचनसारोद्धारे च–'ठिइकप्पो मज्झिमाणं तु' इत्येवं पाठः ॥ ५ लेश्यासु विशुद्धासु प्रतिपद्यते तिसृषु न पुनः शेषासु । पूर्वप्रतिपन्नकः पुनर्भवेत् सर्वास्वपि कथञ्चित् ॥ नात्यन्तसंक्लिष्टासु स्तोककालं च हन्दि इतरासु । चित्रा कर्मणां गतिः तथापि वीर्यं फलं ददाति ॥ ६ इयरासु प० पञ्चवस्तुके च ॥

[1]झाणम्मि वि धम्मेणं, पडिवज्जइ सो पवड्ढमाणेणं ।
इयरेसु वि झाणेसु, पुव्वपवन्नो न पडिसिद्धो ॥
[2]एवं च कुसलजोगे, उद्दामे तिव्वकम्मपरिणामा ।
रुद्दट्टेसु वि भावो, इमस्स पायं निरणुबंधो ॥ (पञ्चव० गा० १५०५–६)

गणद्वारे–जघन्यतस्त्रयो गणाः प्रतिपद्यन्ते, उत्कर्षतः शतसङ्ख्याः । पूर्वप्रतिपन्ना जघन्यत उत्कर्षतो वा शतशः । पुरुषगणनया जघन्यतः प्रतिपद्यमानाः सप्तविंशतिः, उत्कर्षतः सहस्रम् । पूर्वप्रतिपन्नाः पुनर्जघन्यतः शतशः, उत्कर्षतः सहस्रशः । आह च—

[3]गणओ तिन्नेव गणा, जहन्न पडिवत्ति सयस उक्कोसा ।
उक्कोसजहन्नेणं, सयसु च्चिय पुव्वपडिवन्ना ॥
सत्तावीस जहन्ना, सहस्समुक्कोसओ य पडिवत्ती ।
सयसो सहस्ससो वा, पडिवन्न जहन्न उक्कोसा ॥ (पञ्चव० गा० १५३४-३५)

अन्यच्च यदा पूर्वप्रतिपन्नः कल्पमध्याद् एको निर्गच्छति अन्यः प्रविशति तदोनप्रक्षेपे प्रतिपत्तौ कदाचिद् एकोऽपि भवति पृथक्त्वं वा । उक्तं च—

[4]पडिवज्जमाण भइया, इक्को वि य हुज्ज ऊणपक्खेवे ।
पुव्वपडिवन्नया वि य, भइया एक्को पुहत्तं वा ॥ (पञ्चव० गा० १५३६)

अभिग्रहद्वारे–अभिग्रहाश्चतुर्विधाः । तद्यथा–द्रव्याभिग्रहाः क्षेत्राभिग्रहाः कालाभिग्रहा भावाभिग्रहाश्च विचित्रा भवन्ति । तत्र परिहारविशुद्धिकस्य इमेऽभिग्रहा न भवन्ति, यस्माद् एतस्य कल्प एव यथोदितरूपोऽभिग्रहो वर्तते । उक्तं च—

[5]द[6]व्वाईय अभिग्गह, विचित्तरूवा न हुंति[7]पुण केई ।
एयस्स[8] जावकप्पो, कप्पु च्चियऽभिग्गहो जेण ॥

१ ध्यानेऽपि धर्मेण (ध्यानेन) प्रतिपद्यतेऽसौ प्रवर्धमानेन । इतरेष्वपि ध्यानेषु पूर्वप्रपन्नो न प्रतिषिद्धः ॥ एवं च कुशलयोगे उद्दामे तीव्रकर्मपरिणामात् । रौद्रार्त्तयोरपि भावोऽस्य प्रायो निरनुबन्धः ॥ २ एवं अकु० क० ख० ग० घ० ङ० ॥ ३ गणतस्त्रय एव गणा जघन्या प्रतिपत्तिः शतश उत्कृष्टा । उत्कृष्टजघन्याभ्यां शतश एव पूर्वप्रतिपन्नाः॥ सप्तविंशतिर्जघन्या सहस्राण्युत्कृष्टतश्च प्रतिपत्तिः । शतशः सहस्रशो वा प्रतिपन्ना जघन्या उत्कृष्टा ॥ ४ प्रतिपद्यमाना भक्ता एकोऽपि च भवेद् ऊनप्रक्षेपे । पूर्वप्रतिपन्नका अपि च भक्ता एकः पृथक्त्वं वा ॥ ५ द्रव्यादिका अभिग्रहा विचित्ररूपा न भवन्ति पुनः केऽपि । एतस्य यावत्कल्पं कल्प एवाभिग्रहो येन ॥ ६ ०व्वाईआऽभि० इति पञ्चवस्तुके ॥ ७ ०ति इत्तिरिआ । इति पञ्चवस्तुके ॥ ८ ०स्स आवकहिओ कप्पो च्चि० इति पञ्चवस्तुके ॥

[1]एयम्मि गोयराई, नियया नियमेण निरववाया य।
तप्पालणं चिय परं, एयस्स विसुद्धिठाणं तु ॥ (पञ्चव० गा० १५०९-१०)

प्रव्रज्याद्वारे—नासावन्यं प्रव्राजयति कल्पस्थितिरेषेति कृत्वा। उक्तं च—

[2]पव्वाएइ न एसो, अन्नं कप्पट्ठिइ त्ति काऊणं। (पञ्चव० गा० १५११)

उपदेशं पुनर्यथाशक्ति प्रयच्छति। मुण्डापनद्वारेऽपि नासावन्यं मुण्डापयति। अथ प्रव्रज्यानन्तरं नियमतो मुण्डनमिति प्रव्रज्याग्रहणेनैव तद् गृहीतमिति किमर्थं पृथग् द्वारम्? तदयुक्तम्, प्रव्रज्यानन्तरं नियमतो मुण्डनस्याऽसम्भवात्, अयोग्यस्य कथञ्चिद्दत्तायामपि प्रव्रज्यायां पुनरयोग्यतापरिज्ञाने मुण्डनायोगाद्, अतः पृथगिदं द्वारमिति। प्रायश्चित्तविधिद्वारे—मनसाऽपि सूक्ष्ममप्यतिचारमापन्नस्य नियमतश्चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तमस्य, यत एष कल्प एकाग्रताप्रधानस्ततस्तद्भङ्गे गुरुतरो दोष इति। कारणद्वारे—कारणं नामाऽऽलम्बनम्, तत्पुनः सुपरिशुद्धं ज्ञानादिकम्, तच्चास्य न विद्यते येन तदाश्रित्याऽपवादपदसेविता स्यात्, एष हि सर्वत्र निरपेक्षः क्लिष्टकर्मक्षयनिमित्तं प्रारब्धमेव स्वं कल्पं यथोक्तविधिना समापयन् महात्मा वर्तते। उक्तं च—

[3]कारणमालंबणमो, तं पुण नाणाइयं सुपरिसुद्धं।
एयस्स तं न विज्जइ, उचियं तव[4]साहणोपायं॥
[5]सव्वत्थ निर[6]वयक्खो, आढ[7]वियं सं दढं समाणंतो।
वट्टइ एस महप्पा, किलिट्ठकम्मक्खयनिमित्तं ॥ (पञ्चव० गा० १५१७-१८)

निष्प्रतिकर्मताद्वारे—एष महात्मा निष्प्रतिकर्मशरीरोऽक्षिमलादिकमपि कदाचिद् नापनयति, न च प्राणान्तिकेऽपि व्यसने समापतिते द्वितीयपदं सेवते। उक्तं च—

[8]निप्पडिकम्मसरीरो, अच्छिमलाई वि नावणेइ सया।
पाणंतिए वि य [9]महावसणम्मि न वट्टए बीए॥
[10]अप्पबहुत्तालोयणविसयाईओ उ होइ एस त्ति।
अहवा सुहभावाओ, बहुगं पेयं चिय इमस्स॥ (पञ्चव० गा० १५१९-२०)

---

१ एतस्मिन् गोचरादयो नियता नियमेन निरपवादाश्च। तत्पालनमेव परमेतस्य विशुद्धिस्थानं तु॥ २ प्रव्राजयति नैषोऽन्यं कल्पस्थितिरिति कृत्वा॥ ३ कारणमालम्बनं तत् पुनः ज्ञानादिकं सुपरिशुद्धम्। एतस्य तन्न विद्यते उचितं तपःसाधनोपायः॥ ४ पञ्चवस्तुके तु—०साहणा पाय—० साधनात्प्रायः॥ ५ सर्वत्र निरपेक्ष आदृतं स्वं दृढं समापयन्। वर्त्तते एष महात्मा क्लिष्टकर्मक्षयनिमित्तम्॥ ६ ०रवयक्खो क० घ० ङ०॥ ७ ०ढवियं चेव सं स० ख०। पञ्चवस्तुके तु-आढत्तं चिय द०॥ ८ निष्प्रतिकर्मशरीरोऽक्षिमलाद्यपि नापनयति सदा। प्राणान्तिकेऽपि च महाव्यसने न वर्त्तते द्वितीये॥ ९ पञ्चवस्तुके तु—तहा व०॥ १० अल्पबहुत्वालोचनविषयातीतस्तु भवत्येष इति। अथवा शुभभावाद् बहुकमप्येतदेवास्य॥

भिक्षाद्वारे—भिक्षा विहारक्रमश्चाऽस्य तृतीयस्यां पौरुष्यां भवति, शेषासु च पौरुषीषु कायोत्सर्गः, निद्राऽपि चाऽस्याऽल्पा द्रष्टव्या। यदि पुनः कथमपि जङ्घाबलमस्य परिक्षीणं भवति तथाऽप्येकोऽविहरन्नपि महाभागो न द्वितीयपदमापद्यते, किन्तु तत्रैव यथाकल्पमात्मीययोगान् विदधाति। उक्तं च—

[1]तइयाए पोरिसीएँ, भिक्खाकालो विहारकालो उ।
सेसासु य उस्सग्गो, पायं अप्पा य निद्दा[2] वि॥ (पञ्चव० गा० १५२१)
[3]जंघाबलम्मि खीणे, अविहरमाणो वि नवरि नावज्जे।
तत्थेव अहाकप्पं, कुणइ उ जोगं महाभागो॥ (पञ्चव० गा० १५२२)

एते च परिहारविशुद्धिका द्विविधाः, तद्यथा—इत्वरा यावत्कथिकाश्च। तत्र ये कल्पसमाप्त्यनन्तरमेव कल्पं गच्छं वा समुपयास्यन्ति त इत्वराः, ये पुनः कल्पसमाप्त्यनन्तरमव्यवधानेन जिनकल्पं प्रतिपत्स्यन्ते ते यावत्कथिकाः। उक्तं च—

[4]इत्तरिय थेरकप्पे, जिणकप्पे आवकहिय त्ति॥ (पञ्चव० गा० १५२४)

अत्र स्थविरकल्पग्रहणमुपलक्षणं स्वकल्पे वेति द्रष्टव्यम्। तत्रेत्वराणां कल्पप्रभावाद् देवमनुष्यतिर्यग्योनिककृता उपसर्गाः सद्योघातिन आतङ्का अतीवासिह्याश्च वेदना न प्रादुःषन्ति, यावत्कथिकानां सम्भवेयुरपि। ते हि जिनकल्पं प्रतिपत्स्यमाना जिनकल्पभावमनुविदधति, जिनकल्पिकानां चोपसर्गादयः सम्भवन्तीति। उक्तं च—

[5]इत्तरियाणुवसग्गा आयंका वेयणा य न हवन्ति।
आवकहियाण भइया, (पञ्चव० गा० १५२६) इति।

तथा "सुहुम" त्ति 'सूक्ष्मसम्परायं' सम्परैति—पर्यटति संसारमनेनेति सम्परायः—क्रोधादिकषायः, सूक्ष्मो लोभांशमात्रावशेषतया सम्परायो यत्र तत् सूक्ष्मसम्परायम्। इदमपि संक्लिश्यमानकविशुद्ध्यमानकभेदं द्विधा। तत्र श्रेणिप्रच्यवमानस्य संक्लिश्यमानकम्, श्रेणिमारोहतो विशुद्ध्यमानकमिति। "अहखाय" त्ति अथशब्दोऽत्र याथातथ्ये, आङ् अभिविधौ, आ—समन्ताद् याथातथ्येन ख्यातमथाख्यातम्, कषायोदयाभावतो निरतिचारत्वात् पारमार्थिकरूपेण ख्यातमथाख्यातम्। यद्वा यथा सर्वस्मिन् जीवलोके ख्यातं—प्रसिद्धम् अकषायं भवति चारित्र-

१ तृतीयस्यां पौरुष्यां भिक्षाकालो विहारकालस्तु। शेषासु च उत्सर्गः प्रायोऽल्पा च निद्राऽपि॥ २ निद्द त्ति॥इति पञ्चवस्तुके॥ ३ जङ्घाबले क्षीणेऽविहरन्नपि नवरं नापद्यते। तत्रैव यथाकल्पं करोति तु योगं महाभागः॥ ४ इत्वराः स्थविरकल्पे, जिनकल्पे यावत्कथिका इति॥ ५ इत्वरिकाणामुपसर्गा आतङ्का वेदनाश्च न भवन्ति। यावत्कथिकानां भक्ताः॥

मिति यत्तद् यथाख्यातम् । "देसजय" त्ति देशे—सङ्कल्पनिरपराधत्रसवधविषये यतं—यमनं संयमो यस्य स देशयतः—सम्यग्दर्शनयुत एकाणुव्रतादिधारी, अनुमतिमात्रश्रावक इत्यर्थः ।

यदाह श्रीशिवशर्मसूरिवरः **कर्मप्रकृतौ**---

[1]एगव्वयाइ चरमो, अणुमइमित्त त्ति देसजई ।। (गा० ३४०)

"अजय" त्ति न विद्यते यतं—विरतं विरतिर्यस्य सोऽयतः सर्वथा विरतिहीनः । तथा दर्शनशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनरूपाणि चत्वारि दर्शनानि। तत्र चक्षुषा दर्शनं—वस्तुसामान्यांशात्मकं ग्रहणं चक्षुर्दर्शनम् १, अचक्षुषा-चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा च यद् दर्शनं—सामान्यांशात्मकं ग्रहणं तद् अचक्षुर्दर्शनम् २, अवधिना—रूपिद्रव्यमर्यादया दर्शनं- सामान्यांशग्रहणमवधिदर्शनम् ३, केवलेन--संपूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेषरूपेण यद् दर्शनं--सामान्यांशग्रहणं तत् केवलदर्शनम् ४ इति । किंरूपाण्येतानि दर्शनानि ? अत आह--'अनाकाराणि' सामान्याकारयुक्तत्वे सत्यपि न विद्यते विशि[2]ष्टव्यक्त आकारो येषु तान्यनाकाराणि । भावार्थः प्रागेवोक्त इति ।। १२ ।।

किण्हा नीला काऊ, तेऊ पम्हा य सुक्क भव्वियरा ।
वेयग खइगुवसम मिच्छ मीस सासाण सन्नियरे ।। १३ ।।

इह षोढा लेश्या—कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या 'चः' समुच्चये व्यवहितसम्बन्धश्च, स च शुक्ललेश्या च इत्यत्र योज्यः । 'भव्यः' मुक्तिगमनार्हः 'इतरः' अभव्यः कदाचनापि सिद्धिगमनानर्हः । "वेयग" त्ति 'वेदकं' सम्यक्त्वपुद्गलवेदनात् क्षायोपशमिकमित्यर्थः । तत्रोदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षयेण अनुदीर्णस्य चोपशमेन विष्कम्भितोदयस्वरूपेण यद् निर्वृत्तं तत् क्षायोपशमिकम् । उक्तं च—

[3]मिच्छत्तं जमुइन्नं, तं खीणं अणुदियं च उवसंतं ।
मीसीभावपरिणयं, वेइज्जंतं खओवसमं ।। (विशेषा० गा० ५३२)

तथा "खइग" त्ति क्षयेण—अत्यन्तोच्छेदेन त्रिविधस्याऽपि दर्शनमोहनीयस्य निर्वृत्तं क्षायिकम् । तच्च क्षपकश्रेण्यामेवं भवति—

[4]पढमकसाए समयं, खवेइ अंतोमुहुत्तमित्तेणं ।
तत्तु च्चिय मिच्छत्तं, तओ य मीसं तओ सम्मं ।।

---

१ एकव्रतादिचरमः अनुमतिमात्र इति देशयतिः २ ०ष्टो व्यक्त आ० ब०।। ३ मिथ्यात्वं यदुदीर्णं तत् क्षीणमनुदितं चोपशान्तम् । मिश्रभावपरिणतं वेद्यमानं क्षायोपशमिकम् ।। ४ प्रथमकषायान् समकं क्षपयति अन्तर्मुहूर्तमात्रेण । तत एव मिथ्यात्वं ततश्च मिश्रं ततः सम्यक्त्वम् ।।

[1]बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमकसायक्खए जइ मरिज्जा ।
तो मिच्छत्तोदयओ, चिणिज्ज भुज्जो न खीणम्मि ॥
तम्मि मओ जाइ दिवं, तप्परिणामो य सत्तए खीणे ।
उवरयपरिणामो पुण, पच्छा नाणामइगईओ ॥
खीणम्मि दंसणतिए, किं होइ तओ तिदंसणाईओ ? ।
भन्नइ सम्मदिट्ठी, सम्मत्तखए कओ सम्मं ? ॥
निव्वलियमयणकुद्दवरूवं मिच्छत्तमेव सम्मत्तं ।
खीणं न उ जो भावो, सद्दहणालक्खणो तस्स ॥
सो तस्स विसुद्धयरो, जायइ सम्मत्तपुग्गलक्खयओ ।
दिट्ठि व्व सण्हसुद्धब्भपडलविगमे मणूसस्स ॥
जह सुद्धजलाणुगयं, [2]वत्थं सुद्धं जलक्खए सुतरं ।
सम्मत्तसुद्धपुग्गलपरिक्खए दंसणं पेवं ॥ (विशेषा० गा० १३१५-२१)
[3]तम्मि य तइय चउत्थे, भवम्मि सिज्झंति खइयसम्मत्ते
सुरनरयजुगलिसु गई, इमं तु जिणकालियनराणं ॥
पडिवत्तीए अविरयदेसपमत्तापमत्तविरयाणं ।
अन्नयरो पडिवज्जइ, सुक्कज्झाणोवगयचित्तो ॥ (विशेषा० गा० १३१४)

तथा उदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षये सति अनुदीर्णस्य उपशमः—विपाकप्रदेशवेदनरूपस्य द्विविधस्याप्युदयस्य विष्कम्भणं तेन निर्वृत्तमौपशमिकम् , तच्च द्विधा—ग्रन्थिभेदसम्भवमुपशमश्रेणिसम्भवं च । तत्र ग्रन्थिभेदसम्भवमेवम्——इह गम्भीरापारसंसारसागरमध्यमध्यासीनो जन्तुर्मिथ्यात्वप्रत्ययमनन्तान् पुद्गलपरावर्तान् अनन्तदुःखलक्षाण्यनुभूय कथमपि तथाभव्यत्वपरिपाकवशतो गिरिसरिदुपलघोलनाकल्पेनाऽनाभोगनिर्वर्तितयथाप्रवृत्तिकरणेन "करणं परिणामोऽत्र" इति वच-

---

१ बद्धायुः प्रतिपन्नः प्रथमकषायक्षये यदि म्रियेत । ततो मिथ्यात्वोदयतश्चिनुयाद् भूयो न क्षीणे ॥ तस्मिन् मृतो याति दिवं तत्परिणामश्च सप्तके क्षीणे । उपरतपरिणामः पुनः पश्चान्नानामतिगतिकः ॥ क्षीणे दर्शनत्रिके किं भवति सकस्त्रिदर्शनातीतः ? । भण्यते सम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वक्षये कुतः सम्यक्त्वम् ? ॥ निर्वेलितमदनकोद्रवरूपं मिथ्यात्वमेव सम्यक्त्वम् । क्षीणं न तु यो भावः श्रद्धानलक्षणस्तस्य ॥ स तस्य विशुद्धतरो जायते सम्यक्त्वपुद्गलक्षयतः । दृष्टिरिव श्लक्ष्णशुद्धाभ्रपटलविगमे मनुष्यस्य ॥ यथा शुद्धजलानुगतं वस्त्रं शुद्धं जलक्षये सुतराम् । सम्यक्त्वशुद्धपुद्गलपरिक्षये दर्शनमप्येवम् ॥ २दुद्ध क० ग० घ० ङ० ॥ ३ तस्मिंश्च तृतीये चतुर्थे भवे सिद्ध्यन्ति क्षायिकसम्यक्त्वे । सुरनारकयुगलिकेषु गतिरेतत्तु जिनकालिकनराणाम् ॥ प्रतिपत्तौ अविरतदेशप्रमत्ताप्रमत्तविरतानाम् । अन्यतरः प्रतिपद्यते शुक्लध्यानोपगतचित्तः ॥

नादध्यवसायविशेषरूपेणाऽऽयुर्वर्जानि ज्ञानावरणीयादिकर्माणि सर्वाण्यपि पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनैकसागरोपमकोटाकोटीस्थितिकानि करोति, अत्र चाऽन्तरे जीवस्य कर्मजनितो घनरागद्वेषपरिणामरूपः कर्कशनिबिडचिरप्ररूढगुपिलवक्रग्रन्थिवद् दुर्भेदोऽभिन्नपूर्वो ग्रन्थिर्भवति । तदुक्तम्—

[1]तीए वि थोवमित्ते, खविए इत्थंतरम्मि जीवस्स ।
हवइ हु अभिन्नपुव्वो, गंठी एवं जीणा बिंति ॥ (धर्मसं० गा० ७५२)
गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढगूढगंठि व्व ।
जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागद्दोसपरिणामो ॥ (विशेषा० गा० ११९५) इति ।

इमं च ग्रन्थिं यावद् अभव्या अपि यथाप्रवृत्तिकरणेन कर्म क्षपयित्वाऽनन्तशः समागच्छन्ति । उक्तं चावश्यकटीकायाम्—

अभव्यस्यापि कस्यचिद् यथाप्रवृत्तिकरणतो ग्रन्थिमासाद्य अर्हदादिविभूतिदर्शनतः प्रयोजनान्तरतो वा प्रवर्तमानस्य श्रुतसामायिकलाभो भवति न शेषलाभ इति ॥ (पत्र ७६)

एतदनन्तरं कश्चिदेव महात्मा समासन्नपरमनिर्वृतिसुखः समुल्लसितप्रचुरदुर्निवारवीर्यप्रसरो निशितकुठारधारयेव परमविशुद्ध्या यथोक्तस्वरूपस्य ग्रन्थेर्भेदं विधाय मिथ्यात्वस्थितेरन्तर्मुहूर्तमुदयक्षणादुपर्यतिक्रम्याऽपूर्वकरणानिवृत्तिकरणलक्षणविशुद्धिजनितसामर्थ्योऽन्तर्मुहूर्तकालप्रमाणं तत्प्रदेशवेद्यदलिकाभावरूपमन्तरकरणं करोति । अत्र यथाप्रवृत्तिकरणापूर्वकरणानिवृत्तिकरणानामयं क्रमः—

[2]जा गंठी ता पढमं, गंठिं समइच्छओ भवे बीयं ।
अनियट्टीकरणं पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ॥ (विशेषा० गा० १२०३)

"गंठिं समइच्छओ" त्ति ग्रन्थिं समतिक्रामतः-भिन्दानस्येति, "सम्मत्तपुरक्खडे" त्ति सम्यक्त्वं पुरस्कृतं येन तस्मिन्, आसन्नसम्यक्त्वे जीवेऽनिवृत्तिकरणं भवतीत्यर्थः । एतस्मिंश्चान्तरकरणे कृते सति तस्य मिथ्यात्वकर्मणः स्थितिद्वयं भवति । अन्तरकरणादधस्तनी प्रथमा स्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, तस्मादेवान्तरकरणादुपरितनी शेषा द्वितीया स्थितिः । स्थापना 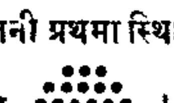 । तत्र प्रथमस्थितौ मिथ्यात्वदलिकवेदनादसौ मिथ्यादृष्टिरेव । अन्तर्मुहूर्तेन पुनस्तस्यामपगतायामन्तरकरणप्रथमसमय एव औपशमिकसम्यक्त्वमवाप्नोति, मिथ्यात्वदलिकवेदनाभावात् । यथा हि वनदावानलः

---

१ तस्या अपि स्तोकमात्रे क्षपितेऽत्रान्तरे जीवस्य । भवति हि अभिन्नपूर्वो ग्रन्थिरेवं जिना ब्रुवते ॥ ग्रन्थिरिति सुदुर्भेदः कर्कशघनरूढगूढग्रन्थिरिव । जीवस्य कर्मजनितो घनरागद्वेषपरिणामः ॥ २ यावद् ग्रन्थिस्तावत् प्रथमं ग्रन्थिं समतिक्रामतो भवेद् द्वितीयम् । अनिवृत्तिकरणं पुनः पुरस्कृतसम्यक्त्वे जीवे ॥

पूर्वदग्धेन्धनमूषरं वा देशमवाप्य विध्यायति तथा मिथ्यात्ववेदनवनदावोऽप्यन्तरकरणमवाप्य विध्यायति, तथा च सति तस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभः । यदाहुः श्रीपूज्यपादाः–

[1]ऊसरदेसं दड्ढिल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प ।
इय मिच्छस्स अणुदए, उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥ (विशेषा. गा. २७३४) इति ।

व्यावर्णितं ग्रन्थिभेदसम्भवमौपशमिकसम्यक्त्वम् । अथोपशमश्रेणिसम्भवमौपशमिकसम्यक्त्वं त्रिभुवनजनप्रथितप्रवचनोपनिषद्वेदिश्री**जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण**प्रणीतगाथाभिरेव भाव्यते—

[2]उवसामगसेढीए, पट्ठवओ अप्पमत्तविरओ त्ति ।
पज्जवसाणे सो वा, होइ पमत्तो अविरओ वा ॥
अन्ने भणंति अविरय-देस-पमत्ता-ऽपमत्तविरयाणं ।
अन्नयरो पडिवज्जइ, दंसण[3]समयम्मि उ नियट्टी ॥

(विशेषा० गा० १२८५-१२८६)

संजलणाईण समो, जुत्तो संजोयणादओ जे उ ।
ते पुव्विं चिय समिया, नणु सम्मत्ताइलाभम्मि ॥ (विशेषा० गा० १२९०)

आचार्याः–

[4]आसि खओवसमो सिं, समोऽहुणा भणइ को विसेसो सिं ।
नणु खीणम्मि उइन्ने, सेसोवसमे खओवसमो ॥
सो चेव नणूवसमो, उइए खीणम्मि सेसए समिए ।
सुहुमोदयया मीसे, न तूवसमिए विसेसोऽयं ॥
वेएइ संतकम्मं, खओवसमिएसु नाणुभागं सो ।
उवसंतकसाओ पुण, वेएइ न संतकम्मं पि ॥ (विशेषा० गा० १२९१-९३)

---

१ ऊषरदेशं दग्धं च विध्यायति वनदवः प्राप्य । इति मिथ्यात्वस्यानुदये औपशमिकसम्यक्त्वं लभते जीवः ॥ २ उपशमकश्रेण्याः प्रस्थापकोऽप्रमत्तविरत इति । पर्यवसाने स वा भवति प्रमत्तोऽविरतो वा ॥ अन्ये भणन्त्यविरतदेशप्रमत्ताप्रमत्तविरतानाम् । अन्यतरः प्रतिपद्यते दर्शनसमये तु निवृत्तिः ॥ संज्वलनादीनां शमो युक्तः संयोजनादयो ये तु । ते पूर्वमेव शमिताः ननु सम्यक्त्वादिलाभे ॥ ३ भाष्ये ०समणम्मि–०शमने ॥ ४ आसीत् क्षयोपशम एषां शमोऽधुना भण्यते को विशेषोऽनयोः ? । ननु क्षीणे उदीर्णे शेषोपशमे क्षयोपशमः ॥ स एव ननूपशमः उदिते क्षीणे शेषके शमिते । सूक्ष्मोदयता मिश्रे न त्वौपशमिके विशेषोऽयम् ॥ वेदयति सत्कर्म क्षायोपशमिकेषु नानुभागं सः । उपशान्तकषायः पुनर्वेदयति न सत्कर्मापि ॥

[1]संजोयणाइयाणं, नणूदओ संजयस्स पडिसिद्धो ।
सच्चमिह सोऽणुभागं, पडुच्च न पएसकम्मं तु ॥
भणियं च सुए जीवो, वेएइ न वाऽणुभागकम्मं तु ।
जं पुण पएसकम्मं, नियमा वेएइ तं सव्वं ॥
नाणुदियं निज्जरए, नासंतमुदेइ जं तओऽवस्सं ।
सव्वं पएसकम्मं, वेएउं मुच्चए सव्वो ॥
किह दंसणाइघाओ, न होइ संजोयणाइवेयणओ ।
मंदाणुभावयाए, जहाऽणुभावम्मि वि कहिंचि ॥
निच्चमुइन्नं पि जहा, सयलचउन्नाणिणो तदावरणं ।
न वि घाइ मंदयाए, पएसकम्मं तहा नेयं ॥ (विशेषा०गा० १२८४–८८)

"मिच्छ" त्ति मिथ्यात्वम्—अदेवदेवबुद्ध्यगुरुगुरुबुद्ध्यतत्त्वतत्त्वबुद्धिलक्षणम् । "मीस" त्ति इहानन्तराभिहितविधिना लब्धेनौपशमिकसम्यक्त्वेन ग्रन्थिसम्भवेन औषधविशेषकल्पेन मदनकोद्रवस्थानीयं मिथ्यात्वमोहनीयं कर्म विशोधयित्वा त्रिधा करोति । तथाहि—शुद्धमर्धविशुद्धमविशुद्धं चेति । स्थापना ○◉● । तत्र त्रयाणां पुञ्जानां मध्ये योऽसावर्धविशुद्धः पुञ्जः स मिश्र उच्यते, सम्यग्मिथ्यात्वमित्यर्थः । एतदुदयात् किल प्राणी जिनप्रणीतं तत्त्वं न सम्यक् श्रद्धाति नापि निन्दति । उक्तं च बृहच्छतकबृहच्चूर्णौ—

[2]जहा नालिकेरदीववासिस्स अइछुहियस्स वि पुरिसस्स इत्थ ओयणाइए अणेगहा वि ढोइए तस्स आहारस्स उवरिं न रुई न य निंदा, जेण कारणेणं सो ओयणाइओ आहारो न कयाइ दिट्ठो नावि सुओ, एवं सम्मामिच्छदिट्ठिस्स वि जीवाइपयत्थाण उवरिं न रुई न य निंदा इत्यादि ।

तथा "सासाण" त्ति सासादनं तत्र आयम्—औपशमिकसम्यक्त्वलक्षणं सादयति—अपनयति आसादनम्—अनन्तानुबन्धिकषायवेदनम् , अत्र पृषोदरादित्वाद् यशब्दलोपः, "रम्यादिभ्यः"

---

१ संयोजनादिकानां ननूदयः संयतस्य प्रतिषिद्धः । सत्यमिह सोऽनुभागं प्रतीत्य न प्रदेशकर्म तु ॥ भणितं च श्रुते जीवो वेदयति न वा अनुभागकर्म तु । यत् पुनः प्रदेशकर्म नियमाद् वेदयति तत् सर्वम् ॥ नानुदितं निर्जीर्यते नासदुदेति यत्ततोऽवश्यम् । सर्वं प्रदेशकर्म वेदयित्वा मुच्यते सर्वः ॥ कथं दर्शनादिघातो न भवति संयोजनादिवेदनतः । मन्दानुभावतया यथा अनुभावेऽपि कस्मिंश्चिद् ॥ नित्यमुदीर्णमपि यथा सकलचतुर्ज्ञानिनस्तदावरणम् । नापि घातयति मन्दत्वात् प्रदेशकर्म तथा ज्ञेयम् ॥ २ यथा नालिकेरद्वीपवासिनः अतिक्षुधितस्यापि पुरुषस्यात्रौदनादिके अनेकधाऽपि ढौकिते तस्याहारस्योपरि न रुचिर्न च निन्दा, येन कारणेन स ओदनादिक आहारो न कदाचिद् दृष्टो नापि श्रुतः, एवं सम्यग्मिथ्यादृशोऽपि जीवादिपदार्थानामुपरि न रुचिर्न च निन्दा ॥

(५-३-१२६) कर्तर्यनट्प्रत्ययः, सति ह्यस्मिन् परमानन्दरूपानन्तसुखदो निःश्रेयसतरुबीजभूतो ग्रन्थिभेदसम्भवौपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यतः समयमात्रेण उत्कर्षतः षड्भिरावलिकाभिरपगच्छतीति, ततः सह आसादनेन वर्तत इति सासादनम् । यद्वा सास्वादनं तत्र सम्यक्त्वलक्षणरसास्वादनेन वर्तत इति सास्वादनम्, यथा हि भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीकचित्तपुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमास्वादयति तथाऽत्रापि गुणस्थाने मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तस्य पुरुषस्य सम्यक्त्वमुद्वमतस्तद्रसास्वादो भवतीति इदं सास्वादनमुच्यत इति । तथा "सन्नि" त्ति विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानभाक् संज्ञी, इतरोऽसंज्ञी सर्वोऽप्येकेन्द्रियादिः ॥१३॥

आहारेयर भेया, सुरनरयविभंगमइसुओहिदुगे ।
सम्मत्ततिगे पम्हासुक्कासन्नीसु सन्निदुगं ॥१४॥

ओजोलोमप्रक्षेपाहाराणामन्यतममाहारमाहारयतीत्याहारकः । 'इतरः' अनाहारको विग्रहगत्यादिगतः। "भेय" त्ति चतुर्दशमौलमार्गणास्थानानामिमेऽवान्तराश्चतुरादिसङ्ख्या भेदा भवन्तीति शेषः, सर्वेऽपि द्विषष्टिभेदाः । तथाहि-गतिश्चतुर्धा, इन्द्रियं पञ्चधा, कायः षोढा, योगस्त्रिधा, वेदस्त्रिधा, कषायश्चतुर्धा, ज्ञानपञ्चकम् अज्ञानत्रिकमिति ज्ञानमार्गणास्थानमष्टधा, संयमपञ्चकं देशसंयमासंयमसहितं सप्तधा, दर्शनं चतुर्धा, लेश्या षोढा, भव्योऽभव्यश्चेति भव्यमार्गणास्थानं द्विधा, सम्यक्त्वत्रयमिथ्यात्वमिश्रसासादनभेदात् सम्यक्त्वमार्गणास्थानं षोढा, संज्ञिमार्गणास्थानं सप्रतिपक्षं द्वेधा, आहारकमार्गणास्थानं सप्रतिपक्षं द्वेधा । सर्वेऽप्येत एकत्र मील्यन्ते तत उत्तरभेदा द्वाषष्टिरिति । अत्र गाथा—

[1]चउ पण छतिय तिय चउ, अड सग चउ छच्च दु छग दो दुन्नि ।
गइयाइमग्गणाणं, इय उत्तरभेय बासट्ठी ॥

इत्येवमुक्ता गत्यादिमार्गणास्थानानामवान्तरभेदाः । साम्प्रतमेतेष्वेव जीवस्थानानि चिन्तयन्नाह-"सुरनरयविभंग" इत्यादि । सुरगतौ नरकगतौ च 'संज्ञिद्विकं' पर्याप्तापर्याप्तलक्षणं भवति । अपर्याप्तश्चेह करणापर्याप्तो गृह्यते, न लब्ध्यपर्याप्तः, तस्य देवनरकगत्योरुत्पादाभावात् । तथा 'विभङ्गे' विभङ्गज्ञाने 'मतौ' मतिज्ञाने 'श्रुते' श्रुतज्ञाने "ओहिदुगि" त्ति अवधिद्विके-अवधिज्ञानावधिदर्शनलक्षणे 'सम्यक्त्वत्रिके' क्षायोपशमिकक्षायिकौपशमिकलक्षणे पद्मलेश्यायां शुक्ललेश्यायां संज्ञिनि च संज्ञिद्विकमपर्याप्तपर्याप्तलक्षणं भवति, न शेषाणि जीवस्थानानि, तेषु मिथ्यात्वादिकारणतो मतिज्ञानादीनामसम्भवात् । अत एव च हेतोरिहापर्याप्तकः करणापर्याप्तको

---

१ चत्वारः पञ्च षट् त्रयस्त्रयश्चत्वारोऽष्ट सप्त चत्वारः षट् च द्वौ षड् द्वौ द्वौ । गत्यादिमार्गणानामित्युत्तरभेदा द्वाषष्टिः ॥

गृह्यते, न लब्ध्यपर्याप्तः, तस्य मिथ्यादृष्टित्वाद् अशुभलेश्याकत्वाद् असंज्ञिकत्वाच्चेति । आह-क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकेषु कथं संज्ञी अपर्याप्तको लभ्यते ? उच्यते-इह यः कश्चित् पूर्वबद्धायुष्कः क्षपकश्रेणिमारभ्यानन्तानुबन्ध्यादिसप्तकक्षयं कृत्वा क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पाद्य यदा गतिचतुष्टयस्यान्यतरस्यां गतावुत्पद्यते तदा सोऽपर्याप्तः क्षायिकसम्यक्त्वे प्राप्यते, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वयुक्तश्च देवादिभवेभ्योऽनन्तरमिहोत्पद्यमानस्तीर्थकरादिरपर्याप्तकः सुप्रतीत एव । औपशमिकं सम्यक्त्वं पुनरपर्याप्तावस्थायामनुत्तरसुरस्य द्रष्टव्यम् ।

इहौपशमिकसम्यक्त्वमपर्याप्तस्य केचिद् नेच्छन्ति, तथा च ते प्राहुः-न तावदस्यामेवापर्याप्तावस्थायामिदं सम्यक्त्वमुपजायते, तदानीं तस्य तथाविधविशुद्ध्यभावात्; अथैतत्तदानीं मोत्पादि, यत्तु पारभविकं तद् भवतु, केन विनिवार्यत इति मन्येथास्तदपि न युक्तियुक्तमुत्पश्यामः, यतो यो मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रथमतया सम्यक्त्वमौपशमिकमवाप्नोति स तावत्तद्भावमापन्नः सन् कालं न करोत्येव । यदुक्तमागमे—

[1]अणबंधोदयमाउगबंधं कालं च सासणो कुणई ।
उवसमसम्मद्दिट्ठी, चउण्हमिक्कं पि नो कुणई ॥

उपशमश्रेणेर्मृत्वाऽनुत्तरसुरेषूत्पन्नस्याऽपर्याप्तकस्यैतल्लभ्यते इति चेद् नन्वेतदपि न बहु मन्यामहे, तस्य प्रथमसमय एव सम्यक्त्वपुद्गलोदयात् क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं भवति न त्वौपशमिकम् । उक्तं च शतकबृहच्चूर्णौ-

[2]जो उवसमसम्मद्दिट्ठी उवसमसेढीए कालं करेइ सो पढमसमए चेव सम्मत्तपुंजं उदयावलियाए छोढूण सम्मत्तपुग्गले वेएइ, तेण न उवसमसम्मद्दिट्ठी अपज्जत्तगो लब्भइ इत्यादि ।

तस्मात् पर्याप्तसंज्ञिलक्षणमेकमेव जीवस्थानकमत्र प्राप्यत इति स्थितम् ।

अपरे पुनराहुः-भवत्येवापर्याप्तावस्थायामप्यौपशमिकं सम्यक्त्वम् , सप्ततिचूर्ण्यादिषु तथाभिधानात् । सप्ततिचूर्णौ हि गुणस्थानकेषु नामकर्मणो बन्धोदयादिमार्गणावसरेऽविरतसम्यग्दृष्टेरुदयस्थानचिन्तायां पञ्चविंशत्युदयः सप्तविंशत्युदयश्च देवनारकानधिकृत्योक्तः, तत्र नारकाः क्षायिकवेदकसम्यग्दृष्टयः, देवास्तु त्रिविधसम्यग्दृष्टयोऽपि । तथा च तद्ग्रन्थः-

[3]पणवीससत्तावीसोदया देवनेरइए पडुच्च, नेरइगो [4]खयगवेयगसम्मदिट्ठी

---

१ अनन्तानुबन्धिबन्धोदयं आयुर्बन्धं कालं च सासादनः करोति । औपशमिकसम्यग्दृष्टिश्चतुर्णामेकमपि न करोति ॥ २ य उपशमसम्यग्दृष्टिरुपशमश्रेणौ कालं करोति स प्रथमसमय एव सम्यक्त्वपुञ्ज उदयावलिकायां क्षिप्त्वा सम्यक्त्वपुद्गलान् वेदयति तेन नोपशमसम्यग्दृष्टिरपर्याप्तको लभ्यते ॥ ३ पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदयौ देवनैरयिकान् प्रतीत्य, नैरयिकः क्षायिकवेदकसम्यग्दृष्टिर्देवस्त्रिविधसम्यग्दृष्टिरपि ॥-४ खइग क० ख० ग० घ० ङ० ॥

देवो तिविहसम्मदिट्ठी वि ॥

पञ्चविंशत्युदयश्च शरीरपर्याप्तिं निर्वर्तयतः । तथाहि–निर्माणस्थिरास्थिरागुरुलघुशुभाशुभ-तैजसकार्मणवर्णगन्धरसस्पर्शचतुष्कदेवगतिदेवानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तकं सुभगदुर्भगयोरेकतरम् आदेयानादेययोरेकतरं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरमित्येकविंशतिः, ततः शरीर-पर्याप्त्या पर्याप्तस्य[1] वैक्रियद्विकोपघातप्रत्येकसमचतुरस्रलक्षणप्रकृतिपञ्चकक्षेपे देवानुपूर्व्यपनयने च पञ्चविंशतिर्भवति । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य शेषपर्याप्तिभिः पुनरपर्याप्तस्य पराघातप्रशस्त-विहायोगतिक्षेपे सप्तविंशतिर्भवति । ततोऽपर्याप्तावस्थायामपीह देवस्यौपशमिकं सम्यक्त्वमुक्तम् । तथा **पञ्चसङ्ग्रहे**ऽपि मार्गणास्थानकेषु जीवस्थानकचिन्तायामौपशमिकसम्यक्त्वे "[2]उवसमसम्मम्मि दो सन्नी" इत्यनेन ग्रन्थेन संज्ञिद्विकमुक्तम् । ततः **सप्ततिचूर्ण्य**भिप्रायेण **पञ्चसङ्ग्रहा**भिप्रायेण चास्माभिरपि औपशमिकसम्यक्त्वे संज्ञिद्विकमुक्तम्, तत्त्वं तु केवलिनो विशिष्टबहुश्रुता वा विदन्तीति ॥१४॥

तमसन्निअपज्जजुयं, नरे सबायरअपज्ज तेऊए ।
थावर इगिंदि पढमा, चउ बार असन्नि दु दु विगले ॥ १५ ॥

'तत्' पूर्वोक्तं संज्ञिद्विकमपर्याप्तासंज्ञियुतं 'नरे' नरेषु लभ्यते, जातावेकवचनम् । अयमर्थः-इह द्वये मनुष्याः, गर्भव्युत्क्रान्तिकाः सम्मूर्च्छिमाश्च । तत्र ये गर्भव्युत्क्रान्तिकास्तेषु यथोक्तं संज्ञिद्विकं लभ्यते । ये तु वान्तपित्तादिषु सम्मूर्च्छन्ति तेऽन्तर्मुहूर्तायुषोऽसंज्ञिनो लब्ध्यपर्याप्तकाश्च द्रष्टव्याः । यदाहुः श्रीमद**ार्यश्यामपादाः प्रज्ञापनायाम्**–

[3]कहि णं भंते ! सम्मुच्छिममणुस्सा सम्मुच्छंति ? गोयमा ! अंतो मणुस्सखेत्तस्स पणयालीसाए जोयणसयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पन्नाए अंतरदीवेसु गब्भवक्कंतियमणुस्साणं चेव उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा सिंघाणेसु वा वंतेसु वा पित्तेसु वा पूएसु वा सोणिएसु वा सुक्केसु वा सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा विगय-

---

१ इत ऊर्ध्वं–"शेषपर्याप्तिभिरपर्याप्तस्य" इत्येष पाठो जैनधर्मप्रसारकसंसत्प्रकाशिते पुस्तकेऽधिको दृश्यते, परमस्मत्पार्श्ववर्त्तिषु पञ्चस्वपि पुस्तकादर्शेषु नास्ति अतो मूले नादृत इति ॥ २ उपशमसम्यक्त्वे द्वौ संज्ञिनौ ॥ ३ क्व भदन्त ! सम्मूर्च्छिममनुष्याः सम्मूर्च्छन्ति ? गौतम ! अन्तर्मनुष्यक्षेत्रस्य पञ्चचत्वारिंशति योजनशतसहस्रेषु अर्धतृतीययोर्द्वीपसमुद्रयोः पञ्चदशसु कर्मभूमिषु त्रिंशत्यकर्मभूमिषु षट्पञ्चाशत्यन्तर्द्वीपेषु गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणामेव उच्चारेषु वा प्रस्रवणेषु वा श्लेष्मसु वा सिंघानेषु वा वान्तेषु वा पित्तेषु वा पूतेषु वा शोणितेषु वा शुक्रेषु वा शुक्रपुद्गलपरिशाटेषु वा विगतजीवकलेवरेषु वा स्त्रीपुरुषसंयोगेषु वा नगरनिर्गमनेषु वा सर्वेष्वेवाशुचिस्थानेषु अत्र सम्मूर्च्छिममनुष्याः सम्मूर्च्छन्ति अङ्गुलस्यासङ्ख्येयभागमात्रयाऽवगाहनया । असंज्ञिनो मिथ्यादृष्टयोऽज्ञानिनः सर्वाभिः पर्याप्तिभिरपर्याप्तकाः अन्तर्मुहूर्तायुष्का एव कालं कुर्वन्ति ॥

जीवकलेवरेसु वा थीपुरिससंजोगेसु वा नगरनिद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइट्ठाणेसु इत्थ णं सम्मुच्छिममणुस्सा सम्मुच्छंति अंगुलस्स असंखेज्जभागमित्ताए ओगाहणाए । असन्नी मिच्छादिट्ठी अन्नाणी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्ता अंतमुहुत्ताउया चेव कालं करंति त्ति । (पत्र ५०-१)

तान् सम्मूर्च्छिममनुष्यानाश्रित्य तृतीयमप्यसंज्ञ्यपर्याप्तलक्षणं जीवस्थानं प्राप्यत इति । "सबायरअपज्ज तेऊए" त्ति तदेवेत्यनुवर्तते, तदेव पूर्वोक्तं संज्ञिद्विकं सह बादरापर्याप्तेन वर्तत इति सबादरापर्याप्तं तेजोलेश्यायां लभ्यते । एतदुक्तं भवति–तेजोलेश्यायां त्रीणि जीवस्थानानि भवन्ति संज्ञ्यपर्याप्तः संज्ञिपर्याप्तः बादरैकेन्द्रियापर्याप्तश्च । बादरोऽपर्याप्तः कथमवाप्यते ? इति चेद् उच्यते—इह भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवाः पृथिवीजलवनस्पतिषु मध्ये उत्पद्यन्ते । यदाह दुःषमान्धकारनिमग्नजिनप्रवचनप्रदीपो भगवान् **जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः**-

[1]पुढवीआउवणस्सइ, गब्भे पज्जत्तसंखजीवीसु ।
सग्गचुयाणं वासो, सेसा पडिसेहिया ठाणा ॥ (बृ० सं० पत्र ७७-१)

ते च तेजोलेश्यावन्तः, यदभाणि—

[2]किण्हा नीला काऊ, तेऊलेसा य भवणवंतरिया ।
जोइससोहम्मीसाणि तेउलेसा मुणेयव्वा ॥ (बृ० सं० पत्र ८१-१)

यल्लेश्यश्च म्रियते तल्लेश्य एव अग्रेऽपि समुत्पद्यते, "[3]जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ" इति वचनात् । अतो बादरापर्याप्तावस्थायां कियत्कालं तेजोलेश्याऽवाप्यत इति सिद्धं जीवस्थानकत्रयं तेजोलेश्यायामिति । कायद्वारे–स्थावरेषु पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिलक्षणेषु, इन्द्रियद्वारे एकेन्द्रिये च प्रथमानि चत्वारि जीवस्थानानि सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तबादरैकेन्द्रियापर्याप्तबादरैकेन्द्रियपर्याप्तलक्षणानि भवन्ति । 'असंज्ञिनि' संज्ञिव्यतिरिक्ते कोलिक[4]नलिकन्यायेन प्रथमशब्दस्य सम्बन्धात् 'प्रथमानि' आदिमानि द्वादश जीवस्थानानि पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि भवन्ति, सर्वेषामपि विशिष्टमनोविकलतया संज्ञिप्रतिपक्षत्वाविशेषात्, संज्ञिप्रतिपक्षस्य चाऽसंज्ञित्वेन व्यवहारात् । "दु दु विगल" त्ति 'विकलेषु' द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु द्वे द्वे जीवस्थानके भवतः । तत्र द्वीन्द्रियेषु द्वीन्द्रियोऽपर्याप्तः पर्याप्त इति द्वे, त्रीन्द्रियेषु त्रीन्द्रियोऽपर्याप्तः पर्याप्त इति द्वे, चतुरिन्द्रियेषु चतुरिन्द्रियोऽपर्याप्तः पर्याप्त इति द्वे ॥१५॥

---

१ पृथिव्यब्वनस्पतिषु गर्भजेषु पर्याप्तसङ्ख्यातजीविषु । स्वर्गच्युतानां वासः शेषाणि प्रतिषिद्धानि स्थानानि ॥ २ कृष्णनीलकापोततेजोलेश्याश्च भवनव्यन्तराः । ज्योतिष्कसौधर्मेशानेषु तेजोलेश्या ज्ञातव्या ॥ ३ यल्लेश्यो म्रियते तल्लेश्य उत्पद्यते ॥ ४ ०नलक० क० ख० ग० ङ० ॥

दस चरम तसे अजयाहारग तिरि तणु कसाय दु अनाणे ।
पढमतिलेसा भवियर, अचक्खु नपु मिच्छि सव्वे वि ॥ १६ ॥

'त्रसे' त्रसकाये 'चरमाणि' अन्तिमानि पर्याप्तापर्याप्तद्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि दश जीवस्थानानि भवन्ति, द्वीन्द्रियादीनामेव त्रसत्वात् । 'अयते' अविरते सर्वाण्यपि जीवस्थानानि भवन्ति । तथा आहारके "तिरि" त्ति तिर्यग्गतौ 'तनुयोगे' काययोगे कषायचतुष्टये 'द्वयोरज्ञानयोः' मत्यज्ञानश्रुताज्ञानरूपयोः 'प्रथमत्रिलेश्यासु' कृष्णलेश्यानीललेश्याकापोतलेश्यालक्षणासु भव्ये 'इतरस्मिन्' अभव्ये "अचक्खु" त्ति अचक्षुर्दर्शने "नपु" त्ति नपुंसकवेद "मिच्छि" त्ति मिथ्यात्वे 'सर्वाण्यपि' चतुर्दशापि जीवस्थानकानि भवन्ति, सर्वजीवस्थानकव्यापकत्वाद् अयतादीनामिति ॥ १६ ॥

पजसन्नी केवलदुगे, संजय मणनाण देस मण मीसे ।
पण चरम पज्ज वयणे, तिय छ व पज्जियर चक्खुम्मि ॥ १७ ॥

"पजसन्नि" त्ति पर्याप्तसंज्ञिलक्षणमेकमेव जीवस्थानं भवति । क्व? इत्याह—'केवलद्विके' केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणे 'संयतेषु' सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्परायययथाख्यातरूपपञ्चप्रकारसंयमवत्सु "मणनाण" त्ति मनःपर्यायज्ञाने "देस" त्ति देशयते—देशविरते श्रावक इत्यर्थः, "मण" त्ति मनोयोगे "मीस" त्ति मिश्रे—सम्यग्मिथ्यादृष्टौ । तत्र केवलद्विके संयतेषु मनःपर्यायज्ञाने देशविरते च संज्ञिपर्याप्तलक्षणं जीवस्थानकं विना नान्यद् जीवस्थानकं सम्भवति, तत्र सर्वविरतिदेशविरत्योरभावात् । मनोयोगेऽ[1]प्येतदन्तरेणाऽन्यद् जीवस्थानकं न घटते, तत्र मनःसद्भावायोगात् । मिश्रे पुनः पर्याप्तसंज्ञिव्यतिरेकेण शेषं जीवस्थानकं तथाविधपरिणामाभावादेव न सम्भवतीति । तथा पञ्च जीवस्थानानि 'चरमाणि' अन्तिमानि 'पर्याप्तानि' पर्याप्तद्वीन्द्रियपर्याप्तत्रीन्द्रियपर्याप्तचतुरिन्द्रियपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि "वयण" त्ति वचनयोगे—वाग्योगे भवन्ति न शेषाणि, तेषु वाग्योगासम्भवात् । "तिय छ व पज्जियर चक्खुम्मि" त्ति चक्षुर्दर्शने त्रीणि जीवस्थानानि पर्याप्तचतुरिन्द्रियपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपाणि नान्यानि, तेषु चक्षुष एवाभावात् । अत्रैव मतान्तरेण विकल्पमाह—षड् वा जीवस्थानानि चक्षुर्दर्शने भवन्ति । कथम्? इत्याह—"पज्जियर" त्ति पूर्वप्रदर्शितपर्याप्तत्रिकं सेतरमपर्याप्तत्रिकसहितं षड् भवन्ति । इदमुक्तं भवति—अपर्याप्तपर्याप्तचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपाणि षड् जीवस्थानानि चक्षुर्दर्शने भवन्ति, चतुरिन्द्रियादीनामिन्द्रियपर्याप्त्या पर्याप्तानां शेषपर्याप्त्यपेक्षया अपर्याप्तानामपि आचार्यान्तरैश्चक्षुर्दर्शनाभ्युपगमात् ।

---

१ ०प्येतदन्तरे० क० घ० ङ० ॥

यदुक्तं **पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकायाम्**—

करणापर्याप्तेषु चतुरिन्द्रियादिषु इन्द्रियपर्याप्तौ सत्यां चक्षुर्दर्शनं भवति । (पत्र-५-१) इति ॥ १७ ॥

थीनरपणिंदि चरमा, चउ अणहारे दु सन्नि छ अपज्जा ।
ते सुहुमअपज्ज विणा, सासणि इत्तो गुणे वुच्छं ॥ १८ ॥

स्त्रीवेदे नरवेदे पञ्चेन्द्रिये च 'चरमाणि' अन्तिमानि पर्याप्तापर्याप्तासंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि चत्वारि जीवस्थानानि भवन्ति । यद्यपि च सिद्धान्ते असंज्ञी पर्याप्तोऽपर्याप्तो वा सर्वथा नपुंसक एवोक्तः । तथा चोक्तं **श्रीभगवत्याम्**—

[१]ते णं भंते ! असन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिया किं इत्थिवेयगा पुरिसवेयगा नपुंसगवेयगा ? गोयमा ! नो इत्थिवेयगा नो पुरिसवेयगा नपुंसगवेयगा (श० २४ उ० १ पत्र ८०६) इति । तथापीह स्त्रीपुंसलिङ्गाकारमात्रमङ्गीकृत्य स्त्रीवेदे नरवेदे चासंज्ञी निर्दिष्ट इत्यदोषः ।

उक्तं च **पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकायाम्**—

यद्यपि चासंज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ नपुंसकौ तथापि स्त्रीपुंसलिङ्गाकारमात्रमङ्गीकृत्य स्त्रीपुंसावुक्तौ (पत्र १०) इति ।

अपर्याप्तकश्चेह करणापर्याप्तको गृह्यते न लब्ध्यपर्याप्तकः, लब्ध्यपर्याप्तकस्य सर्वस्य नपुंसकत्वात् । अनाहारके "दु सन्नि छ अपज्ज" त्ति द्विविधः संज्ञी पर्याप्तापर्याप्तलक्षणः षड् अपर्याप्ताश्चेत्यष्टौ जीवस्थानानि भवन्ति । अयमर्थः—अपर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि सप्त जीवस्थानानि अनाहारके विग्रहगतावेकं द्वौ त्रीन् वा समयान् यावद् आहारासम्भवात् सम्भवन्ति,

[२]विग्गहगइमावन्ना, केवलिणो समुहया अजोगी य ।
सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारगा जीवा ॥ (श्रावकप्र० गा० ६८)

इति वचनात् ; संज्ञिपर्याप्तलक्षणं जीवस्थानम् अनाहारके केवलिसमुद्घातावस्थायां तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु लभ्यते । उक्तं च—

कार्मणशरीरयोगी, तृतीयके पञ्चमे चतुर्थे च ।
समयत्रये च तस्मिन् , भवत्यनाहारको नियमात् ॥ (प्रश० का० २७७)

---

१ तं भदन्त ! असंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः किं स्त्रीवेदकाः पुरुषवेदकाः नपुंसकवेदकाः ? गौतम ! न स्त्रीवेदका न पुरुषवेदका नपुंसकवेदका इति ॥ २ विग्रहगतिमापन्नाः केवलिनः समुद्धता अयोगिनश्च । सिद्धाश्चानाहाराः शेषा आहारका जीवाः ॥

"ते सुहुमअपज्ज विणा सासणि" त्ति सास्वादने सम्यक्त्वे तान्येव पूर्वोक्तानि षड् अपर्याप्त-पर्याप्तसंज्ञिद्विकलक्षणान्यष्टौ जीवस्थानानि सूक्ष्मापर्याप्तं विना सप्त भवन्ति। एतदुक्तं भवति—अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-लक्षणानि सप्त जीवस्थानकानि सास्वादनसम्यक्त्वे भवन्तीति, यत्तु सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तलक्षणं जीव-स्थानं तत् सास्वादनसम्यक्त्वे न घटामियर्ति, सास्वादनसम्यक्त्वस्य मनाक् शुभपरिणामरूपत्वात्, महासंक्लिष्टपरिणामस्य च सूक्ष्मैकेन्द्रियमध्ये उत्पादाभिधानात्। सूत्रे च सर्वत्र लिङ्गव्यत्ययः प्राकृत-त्वात्, प्राकृते हि लिङ्गं व्यभिचार्यपि। यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे "लिङ्गं व्यभिचार्यपि" इति। उक्तानि मार्गणास्थानकेषु जीवस्थानकानि। इत ऊर्ध्वमेतेष्वेव मार्गणास्थानकेषु "गुणि" त्ति गुणस्थानकानि 'वक्ष्ये' प्रतिपादयिष्य इति ॥ १८॥ अथ यथाप्रतिज्ञातमेव निर्वाहयन्नाह—

पण तिरि चउ सुरनरए, नर सन्नि पणिंदि भव्व तसि सव्वे।
इग विगल भू दग वणे, दु दु एगं गइतस अभव्वे ॥ १९ ॥

पञ्च गुणस्थानकानि मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतिलक्षणानि "तिरि" त्ति तिर्यग्गतौ भवन्ति। चतुःशब्दस्य प्रत्येकं योगात् 'सुरे' 'सुरगतौ चत्वारि प्रथमगुणस्थानकानि 'नरके' नरकगतौ च प्रथमानि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्ति न देशविरतादीनि, तेषु भव-स्वभावतो देशतोऽपि विरतेरभावादिति। 'नरे' नरगतौ 'संज्ञिनि' विशिष्टमनोविज्ञानभाजि पञ्चेन्द्रिये भव्ये 'त्रसे' त्रसकाये च 'सर्वाण्यपि' चतुर्दशापि गुणस्थानकानि भवन्ति, एतेषु मिथ्या-दृष्ट्यादीनामयोगिकेवल्यवसानानां सर्वभावानामपि सम्भवात्। "इग" त्ति एकेन्द्रियेषु सामान्यतः "विगल" त्ति 'विकलेन्द्रियेषु' द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु 'भुवि' पृथ्वीकाये 'उदके' अप्काये 'वने' वनस्पतिकाये "दु दु" त्ति 'द्वे द्वे' आद्ये मिथ्यात्वसासादनलक्षणे भवतः। तत्र मिथ्यात्व-मविशेषेण सर्वेषु द्रष्टव्यम्; सासादनं तु तेजोवायुवर्जबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियपृथिव्यम्बु-वनस्पतिषु लब्ध्या पर्याप्तकेषु करणेन त्वपर्याप्तकेषु, न सर्वेष्विति। तथा एकं मिथ्यात्वलक्षणं गुणस्थानकं भवति, केषु? इत्याह— गत्या गमनेन त्रसाः न तु त्रसनामकर्मोदयाद् गतित्रसाः तेजोवायवस्तेषु, सासादनभावोपगतस्य तेषु मध्य उत्पादाभावाद् अभव्येषु चेति ॥ १९ ॥

वेय तिकसाय नव दस, लोभे चउ अजइ दु ति अनाणतिगे।
बारस अचक्खुचक्खुसु, पढमा अहखाइ चरम चउ ॥ २० ॥

'वेदे' वेदत्रये वेदत्रयाणां कषायाणां समाहारस्त्रिकषायं-क्रोधमानमायालक्षणं तस्मिन् त्रिकषाये "पढम" त्ति प्रथमानीति पदं डमरुकमणिन्यायेन सर्वत्र योज्यम्। ततो वेदे—स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणे कषायत्रये च प्रथमानि मिथ्यादृष्ट्यादीनि अनिवृत्तिबादरपर्यन्तानि नव गुणस्थानकानि भवन्ति

न शेषाणि, अनिवृत्तिबादरगुणस्थान एव वेदत्रिकस्य कषायत्रिकस्य चोपशान्तत्वेन क्षीणत्वेन वा शेषेषु गुणस्थानेषु तदसम्भवात् । 'लोभे' लोभकषाये दश गुणस्थानानि, तत्र नव पूर्वोक्तानि दशमं तु सूक्ष्मसम्परायलक्षणम्, तत्र किट्टीकृतसूक्ष्मलोभकषायदलिकस्य वेद्यमानत्वात् । चत्वारि प्रथमानि 'अयते' विरतिहीन इत्यर्थः, कोऽर्थः ? विरतिहीने मिथ्यात्वसास्वादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिलक्षणानि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्तीति । "दु ति अन्नाणतिगे" त्ति 'अज्ञानत्रिके' मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानलक्षणे प्रथमे द्वे गुणस्थानके मिथ्यादृष्टिसास्वादनरूपे भवतः, न मिश्रमपि । यतो यद्यपि मिश्रगुणस्थानके यथास्थितवस्तुतत्त्वनिर्णयो नास्ति तथापि न तान्यज्ञानान्येव सम्यग्ज्ञानलेशव्यामिश्रत्वाद् अत एव न मिश्रगुणस्थानकमभिधीयते । उक्तं च–

मिथ्यात्वाधिकस्य मिश्रदृष्टेरज्ञानबाहुल्यं सम्यक्त्वाधिकस्य पुनः सम्यग्ज्ञानबाहुल्यम् (जिनवल्लभीयषडशीतिटीका पत्र १६०–२) इति ।

ज्ञानलेशसद्भावतो न मिश्रगुणस्थानकमज्ञानत्रिके लभ्यते इत्येके प्रतिपादयन्ति तन्मतमधिकृत्यास्माभिरपि 'द्वे' इत्युक्तम् ।

अन्ये पुनराहुः–अज्ञानत्रिके त्रीणि गुणस्थानानि, तद्यथा––मिथ्यात्वं सास्वादनं मिश्रदृष्टिश्च । यद्यपि "[1]मिस्सम्मी वामिस्सा" (पञ्चसं०गा०२०) इति वचनाद् ज्ञानव्यामिश्राण्यज्ञानानि प्राप्यन्ते न शुद्धाज्ञानानि तथापि तान्यज्ञानान्येव, शुद्धसम्यक्त्वमूलत्वेनात्र ज्ञानस्य प्रसिद्धत्वात्, अन्यथा हि यद्यशुद्धसम्यक्त्वस्यापि ज्ञानमभ्युपगम्यते तदा सास्वादनस्यापि ज्ञानाभ्युपगमः स्यात्, न चैतदस्ति, तस्याज्ञानित्वेनानन्तरमेवेह प्रतिपादितत्वात् तस्माद् अज्ञानत्रिके प्रथमं गुणस्थानकत्रयमत्राप्यत इति ।

तन्मतमाश्रित्यास्माभिरपि 'त्रिकम्' इत्युक्तम् । तत्त्वं तु केवलिनो विशिष्टश्रुतविदो वा विदन्तीति । द्वादश प्रथमानि गुणस्थानकानि अचक्षुर्दर्शने चक्षुर्दर्शने च भवन्ति, यतो मिथ्यादृष्टिप्रभृतिक्षीणमोहपर्यन्तेषु गुणस्थानकेष्वचक्षुर्दर्शनचक्षुर्दर्शनसम्भवात् । यथाख्याते चारित्रे 'चरमाणि' अन्तिमानि उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणानि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्ति, एषु कषायाभावादिति ॥ २० ॥

मणनाणि सग जयाई, समइय छेय चउ दुन्नि परिहारे ।
केवलदुगि दो चरमाऽजयाइ नव मइ सुओहिदुगे ॥ २१ ॥

'मनोज्ञाने' मनःपर्यवज्ञाने "सग" त्ति सप्त गुणस्थानानि भवन्ति । कानि ? इत्याह– 'यतादीनि' तत्र "यम् उपरमे" यमनं यतं सम्यक् सावद्याद् उपरमणमित्यर्थः, यतं विद्यते यस्य

१ मिश्रे व्यामिश्राणि ॥

स यतः-प्रमत्तयतिः, यत आदौ येषां तानि यतादीनि-प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहलक्षणानीति । सामायिके छेदोपस्थापने च चत्वारि यतादीनि गुणस्थानानि, प्रमत्ताप्रमत्तनिवृत्तिबादरानिवृत्तिबादराणीत्यर्थः द्वे गुणस्थानके प्रमत्ताप्रमत्तरूपे परिहारविशुद्धिकचारित्र इत्यर्थः, नोत्तराणि, तस्मिन् चारित्रे वर्तमानस्य श्रेण्यारोहणप्रतिषेधात् । 'केवलद्विके' केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे द्वे गुणस्थाने भवतः, के ? इत्याह–'चरमे' अन्तिमे सयोगि-के[1]वलिगुणस्थानकायोगिकेवलिगुणस्थानके इति । "अजयाइ नव मइसुओहिदुगे" त्ति अयतः-अविरतः स आदौ येषां तान्ययतादीनि–अविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणमोहपर्यवसानानि नव गुणस्थानानि भवन्ति 'मतौ' मतिज्ञाने 'श्रुते' श्रुतज्ञाने 'अवधिद्विके' अवधिज्ञानावधिदर्शनलक्षणे, न शेषाणि । तथाहि–न मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानानि मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रेषु भवन्ति, तद्भावे ज्ञानत्वस्यैवायोगात् । यत्त तु अवधिदर्शनं तत् कुतश्चिदभिप्रायाद् विशिष्टश्रुतविदो मिथ्यादृष्ट्यादीनां नेच्छन्ति, तन्मतमाश्रित्यास्माभिरपि तत् तेषां न भणितम् । अथ च सूत्रे मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्यवधिदर्शनं प्रतिपाद्यते । यदाह रभसवशविनम्रसुरासुरनरकिन्नरविद्याधरपरिवृढमाणिक्यमुकुटकोटीविटङ्कनिघृष्टचरणारविन्दयुगलः श्रीसुधर्मस्वामी पञ्चमाङ्गे–

[2]ओहिदंसणअणागारोवउत्ता णं भंते ! किं नाणी अन्नाणी ? गोयमा ! नाणी वि अन्नाणी वि । [3]जइ नाणी तो अत्थेगइया तिनाणी अत्थेगइया चउनाणी । जे तिनाणी ते आभिणिबोहियनाणी सुअनाणी ओहिनाणी । जे चउनाणी ते आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी ओहिनाणी मणपज्जवनाणी । जे अन्नाणी ते निय[4]मा मइअन्नाणी सुयअन्नाणी विभंगनाणी । (श० ८ उ० २ पत्र ३५५–१ इति ।

अत्र हि येऽज्ञानिनस्ते मिथ्यादृष्टय एवेति मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्यवधिदर्शनं साक्षादत्र सूत्रे प्रतिपादितम् । स एव विभङ्गज्ञानी यदा सासादनभावे मिश्रभावे वा वर्तते तत्रापि तदानीमवधिदर्शनं प्राप्यत इति । यत् पुनः सयोग्ययोगिकेवलिगुणस्थानकद्विकं तत्र मतिज्ञानादि न सम्भवत्येव, तद्व्यवच्छेदेनैव केवलज्ञानस्य प्रादुर्भावात् " [5]नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" (आव० नि० गा० ५३९) इति वचनप्रामाण्यादिति ॥ २१ ॥

---

१ ०वल्ययोगिके० ख० ग० घ० ॥ २ अवधिदर्शनानाकारोपयुक्ता भदन्त ! किं ज्ञानिनोऽज्ञानिनः ? गौतम ! ज्ञानिनोऽप्यज्ञानिनोऽपि । यदि ज्ञानिनः ततोऽस्त्येकका: त्रिज्ञानिनोऽस्त्येककाश्चतुर्ज्ञानिनः । ये त्रिज्ञानिनस्ते आभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनः । ये चतुर्ज्ञानिनस्ते आभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनो मनःपर्यायज्ञानिनः । ये अज्ञानिनस्ते नियमाद् मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनो विभङ्गज्ञानिनः ॥ ३ जे नाणी ते अ० भगवत्याम् ॥ ४ ०मा तिअन्नाणी, तं जहा–मइ० भगवत्याम् ॥ ५ नष्टे तु छाद्मस्थिके ज्ञाने ॥

अड उवसमि चउ वेयगि, खइगे इक्कार मिच्छतिगि देसे।
सुहुमे य सठाणं तेर जोग आहार सुक्काए ॥ २२ ॥

काकाक्षिगोलकन्यायाद् इह "अय[1]तादीनि" [इति] पदं सर्वत्र योज्यते। ततोऽयतादीन्युपशान्तमोहान्तान्यष्टौ गुणस्थानान्यौपशमिकसम्यक्त्वे भवन्ति । अयतादीन्यप्रमत्तान्तानि चत्वारि 'वेदके' क्षायोपशमिकापरपर्याये गुणस्थानकानि भवन्ति। क्षायिकसम्यक्त्वे अयतादीन्ययोगिकेवलिपर्यवसानान्येकादश गुणस्थानकानि भवन्ति । तथा 'मिथ्यात्वत्रिके' मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रलक्षणे 'देशे' देशविरते 'सूक्ष्मे' सूक्ष्मसम्पराये 'चः' समुच्चये 'स्वस्थानं' निजस्थानम् । इदमुक्तं भवति-मिथ्यात्वमार्गणास्थाने मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्, सासादनमार्गणास्थाने सासादनं गुणस्थानम्, मिश्रे मार्गणास्थाने मिश्रं गुणस्थानम्, देशसंयममार्गणास्थाने देशविरतंगुणस्थानम्, सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणास्थाने सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम्। तथा 'योगे' मनोवाक्कायलक्षणे अयोगिकेवलिवर्जितानि शेषाणि त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति, सर्वेष्वप्येतेषु यथायोगं योगत्रयस्यापि सम्भवात् । तथा आहारकेषु आद्यानि त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति, सर्वेष्वप्येतेषु ओजोलोमप्रक्षेपाहाराणामन्यतमस्याहारस्य यथायोगं सम्भवात्। तथा "सुक्काए" त्ति शुक्ललेश्यायां प्रथमानि त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति, न त्वयोगिकेवलिगुणस्थानम्, तस्य लेश्यातीतत्वादिति ॥२२॥

अस्सन्निसु पढमदुगं, पढमतिलेसासु छच्च दुसु सत्त ।
पढमंतिमदुगअजया, अणहारे मग्गणासु गुणा ॥ २३ ॥

'असंज्ञिषु' संज्ञिव्यतिरिक्तेषु प्रथमं मिथ्यादृष्टिसासादनलक्षणं गुणस्थानकद्वयं भवति । तत्र (ग्रन्थाग्रम् -१०००) मिथ्यात्वमविशेषेण सर्वत्र द्रष्टव्यम्, सासादनं तु लब्धिपर्याप्तकानां करणापर्याप्तावस्थायामिति। प्रथमासु तिसृषु लेश्यासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि प्रमत्तान्तानि षड् गुणस्थानानि भवन्ति । 'चः' समुच्चये । कृष्णनीलकापोतलेश्यानां हि प्रत्येकमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि, ततो मन्दसंक्लेशेषु तदध्यवसायस्थानेषु तथाविधसम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीनामपि सद्भावो न विरुध्यते। उक्तं च-

सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीनां प्रतिपत्तिकाले शुभलेश्यात्रयमेव भवति। उत्तरकालं तु सर्वा अपि लेश्याः परावर्तन्तेऽपि इति।

श्रीमदाराध्यपादा अप्याहुः-

[2]सम्मत्तसुयं सव्वासु लहइ सुद्धासु तीसु य चरित्तं ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, अन्नयरीए उ लेसाए ॥ (आव० नि० गा० ८२२)

---

१ ०तादीति प० क०॥ २ सम्यक्त्वश्रुतं सर्वासु लभते शुद्धासु तिसृषु च चारित्रम् । पूर्वप्रतिपन्नः पुनरन्यतरस्यां तु लेश्यायाम् ॥

श्रीभगवत्यामप्युक्तम्—

'सामाइयसंजए णं भंते ! कइलेसासु हुज्जा ? गोयमा ! छसु लेसासु होज्जा, एवं छेओवट्ठावणियसंजए वि (श० २५ उ० ७ पत्र ९१३-१) इत्यादि ।

तथा 'द्वयोः' तेजोलेश्यापद्मलेश्ययोः सप्त गुणस्थानानि भवन्ति, तत्र षट् पूर्वोक्तान्येव सप्तमं त्वप्रमत्तगुणस्थानकम् , अप्रमत्तसंयताध्यवसायस्थानापेक्षया मिथ्यादृष्ट्यादीनां प्रमत्तान्तानां तेजोलेश्यापद्मलेश्ये तारतम्येन जघन्यात्यन्ताविशुद्धिके द्रष्टव्ये । तथा अनाहारके पञ्च गुणस्थानानि भवन्ति । कानि ? इत्याह—'प्रथमान्तिमद्विकाऽयतानि' इति द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योगात् प्रथमद्विकं—मिथ्यादृष्टिसासादनलक्षणम् अन्तिमद्विकं—सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणम् 'अयतः' इति अविरतसम्यग्दृष्टिश्चेति । तत्र मिथ्यात्वसास्वादनाविरतसम्यग्दृष्टिलक्षणं गुणस्थानकत्रयमनाहारके विग्रहगतौ प्राप्यते, सयोगिकेवलिगुणस्थानकं त्वनाहारके समुद्घातावस्थायां तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु द्रष्टव्यम् । यदवादि—"चतुर्थतृतीयपञ्चमेष्वनाहारकः" इति । अयोगिकेवल्यवस्थायां तु योगरहितत्वेनौदारिकादिशरीरपोषकपुद्गलग्रहणाभावाद् अनाहारकत्वम् , "औदारिकवैक्रियाहारकशरीरपोषकपुद्गलोपादानमाहारः" इति प्रवचनोपनिषद्वेदिनः । एवं मार्गणास्थानेषु गत्यादिषु "गुण" त्ति गुणस्थानकान्यभिहितानि ॥ २३ ॥

अधुना मार्गणास्थानेष्वेव योगानभिधित्सुः प्रथमं तावद्योगानेव स्वरूपत आह—

सच्चेयर मीस असच्चमोस मणवइ विउव्वियाहारा ।
उरलं मीसा कम्मण, इय जोगा कम्ममणहारे ॥ २४ ॥

इह योगशब्देन कारणे कार्योपचारात् तत्तत्सहकारिभूतं मनःप्रभृत्येव विवक्षितमिति तैः सह योगस्य सामानाधिकरण्यम् । तत्र मनोयोगश्चतुर्धा, तद्यथा—सत्यमनोयोगः १ असत्यमनोयोगः २ सत्यासत्यमनोयोगः ३ असत्यामृषमनोयोगः ४ । तत्र सन्तो मुनयः पदार्था वा, तेषु यथासङ्ख्यं मुक्तिप्रापकत्वेन यथावस्थिततत्त्वचिन्तनेन च हितः सत्यः, यथाऽस्ति जीवः सदसद्रूपः कायप्रमाण इत्यादिरूपतया यथावस्थितवस्तुविकल्पनपर इत्यर्थः, सत्यश्चासौ मनोयोगश्च सत्यमनोयोगः १ । तथा सत्यविपरीतोऽसत्यः, यथा नास्ति जीव एकान्तसद्रूपो विश्वव्यापीत्यादिकुविकल्पचिन्तनपरः, असत्यश्चासौ मनोयोगश्च असत्यमनोयोगः २ । तथा मिश्रः—सत्यासत्यमनोयोगः, यथा इह धवखदिरपलाशादिमिश्रेषु बहुष्वशोकवृक्षेषु अशोकवनमेवेदमिति यदा विकल्पयति तदा तत्राऽशोकवृक्षाणां सद्भावात् सत्यः, अन्येषामपि धवखदिरपलाशादीनां तत्र

१ सामायिकसंयतो भदन्त ! कतिषु लेश्यासु भवेत् ? गौतम ! षट्सु लेश्यासु भवेत् , एवं छेदोपस्थापनीयसंयतोऽपि ॥

सद्भावाद् असत्य इति सत्यासत्यमनोयोग इति, व्यवहारनयमतापेक्षया चैवमुच्यते, परमार्थतः पुनरयमसत्य एव यथाविकल्पितार्थायोगात् ३। न विद्यते सत्यं यत्र सोऽसत्यः, न विद्यते मृषा यत्र सोऽमृषः, असत्यश्चासावमृषश्च "क्तं नञादिभिन्नैः" (सि० ३-१-१०५) इति कर्मधारयः, असत्यामृषश्चासौ मनोयोगश्च असत्यामृषमनोयोगः ४। इह विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रतिष्ठाशया सर्वज्ञमतानुसारेण यद् विकल्प्यते, यथाऽस्ति जीवः सदसद्रूप इत्यादि, तत् किल सत्यं परिभाषितम् आराधकत्वात्। यत्तु विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रतिष्ठाशया सर्वज्ञमतोत्तीर्णं किञ्चिद् विकल्प्यते, यथा नास्ति जीव एकान्तनित्यो वेत्यादि, तद् असत्यमिति परिभाषितं विराधकत्वात्। यत् पुनर्वस्तुप्रतिष्ठाशामन्तरेण स्वरूपमात्रप्रतिपादनपरं व्यवहारपतितं किञ्चिद् विकल्प्यते' यथा हे देवदत्त! घटमानय गां देहि मह्यमित्यादि, तद् एतत् स्वरूपमात्रप्रतिपादनं व्यावहारिकं विकल्पज्ञानम्। न यथोक्तलक्षणं सत्यं नापि मृषेत्यसत्यामृषमनोयोग इति व्याख्यातश्चतुर्धा मनोयोगः। "वइ" त्ति वाग्योगोऽपि चतुर्धा द्रष्टव्यः, तथाहि—सत्यवाग्योगः १ असत्यवाग्योगः २ सत्यासत्यवाग्योगः ३ असत्यामृषवाग्योगः ४। तत्र सतां हिता सत्या, सत्या चासौ वाक् च सत्यवाक्, तया सहकारिकारणभूतया योगो [सत्य]वाग्योगः, अथवा वचनगतं सत्यत्वं तत्कार्यत्वाद् योगेऽप्युपचर्यते, ततश्च सत्यश्चासौ वाग्योगश्च सत्यवाग्योगः, भावार्थः सत्यमनोयोगवद् वाच्यः १। असत्या—सत्याद् विपरीता सा चासौ वाक् चाऽसत्यवाक् तया योगोऽसत्यवाग्योगः २। तथा सत्या चासावसत्या चेत्यादि पूर्ववत् कर्मधारयो बहुव्रीहिर्वा, सा चासौ वाक् च सत्यासत्यवाक्, तत्प्रत्ययो योगः सत्यासत्यवाग्योगः ३। न विद्यते सत्यं यत्र सोऽसत्यः, न विद्यते मृषा यत्र सोऽमृषः, असत्यश्चासावमृषश्चासत्यामृषः, स चासौ वाग्योगश्च असत्यामृषवाग्योगः, शेषं मनोयोगवत् सर्वं वाच्यम् ४। अत्र तृतीयचतुर्थौ मनोयोगौ वाग्योगौ च परिस्थूरव्यवहारनयमतेन द्रष्टव्यौ। निश्चयनयमतेन तु मनोज्ञानं वचनं वा सर्वमदुष्टविवक्षापूर्वकं सत्यम्, अज्ञानादिदूषिताशयपूर्वकं त्वसत्यम्, उभयानुभयरूपं तु नास्त्येव सत्यासत्यराशिद्वयेऽन्तर्भावादिति भावनीयम्। तथा काययोगः सप्तधा—वैक्रियकाययोग आहारककाययोगः "उरल" त्ति औदारिककाययोगः "मीस" त्ति मिश्रशब्दस्य पूर्वदर्शितशरीरत्रिकेण सह सम्बन्धाद् वैक्रियमिश्रकाययोग आहारकमिश्रकाययोग औदारिकमिश्रकाययोगः "कम्मण" त्ति कार्मणकाययोग इत्यक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयम्—विविधा विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया, तस्यां भवं वैक्रियम्। तथाहि—तदेकं भूत्वाऽनेकं भवति, अनेकं भूत्वैकम् अणु भूत्वा महद् भवति, महद् भूत्वाऽणु, तथा खचरं भूत्वा भूमिचरं भवति, भूमिचरं भूत्वा खचरम्, अदृश्यं भूत्वा दृश्यं भवति, दृश्यं भूत्वाऽदृश्यमित्यादि। यद्वा विशिष्टं कुर्वन्ति तदिति वैकुर्विकम्, पृषोदरादित्वाद् अभीष्टरूपसिद्धिः। तच्च द्विधा—औपपातिकं लब्धिप्रत्ययं च। तत्रौपपातिकमुपपातजन्मनिमित्तम्, तच्च देवनारकाणाम्,

लब्धिप्रत्ययं तिर्यङ्मनुष्याणाम् । उक्तं च श्रीमदनुयोगद्वारलघुवृत्तौ—

[1]विविहा विसिट्ठगा वा, [2]किरिया तीए अ जं भवं तमिह ।
नियमा विउव्वियं पुण, नारगदेवाण पयईए ॥ (पत्र. ८७)

तदेव काययोगस्तन्मयो वा योगो वैक्रिययोगो वैकुर्विककाययोगो वा १ । वैक्रियं मिश्रं यत्र कार्मणेन औदारिकेण वा स वैक्रियमिश्रः, तत्र कार्मणेन मिश्रं देवनारकाणामपर्याप्तावस्थायां प्रथमसमयादनन्तरम्, बादरपर्याप्तकवायोः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां च वैक्रियलब्धिमतां वैक्रियारम्भकाले वैक्रियपरित्यागकाले वा औदारिकेण मिश्रम्, ततो वैक्रियमिश्रश्चासौ कायश्च वैक्रियमिश्रकायस्तेन योगो वैक्रियमिश्रकाययोगः २ । चतुर्दशपूर्वविदा तथाविधकार्योत्पत्तौ विशिष्टलब्धिवशाद् आह्रियते निर्वर्त्यत इत्याहारकम्, अथवाऽऽह्रियन्ते गृह्यन्ते तीर्थकरादिसमीपे सूक्ष्मा जीवादयः पदार्था अनेनेत्याहारकम् । "कृद्बहुलं" (बहुलम् सि० ५-१-२) इति कर्मणि करणे वा णकः । यदवादि—

[3]कज्जम्मि समुप्पन्ने, सुयकेवलिणा विसिट्ठलद्धीए ।
जं इत्थ आहरिज्जइ, भणंति आहारगं तं तु ॥ (अनु. हा. टी. पत्र ८७)
पाणिदयरिद्धिसंदरिसणत्थमत्थोवगहणहेउं वा ।
संसयवुच्छेयत्थं, गमणं जिणपायमूलम्मि ॥
(अनु. चू. पत्र ६१, अनु. हा. टी. पत्र ८७)

तदेव कायस्तेन योग आहारककाययोगः ३ । आहारकं मिश्रं यत्र औदारिकेणेति गम्यते स आहारकमिश्रः, सिद्धप्रयोजनस्य चतुर्दशपूर्वविद आहारकं परित्यजत औदारिकमुपाददानस्य आहारकं प्रारभमाणस्य वा प्राप्यते, स एव कायस्तेन योग आहारकमिश्रकाययोगः ४ । तथा औदारिककाययोगः, इह प्रसिद्धसिद्धान्तसन्दोहविवरणप्रकरणप्रमाणग्रन्थग्रथनावाप्तसुधांशुधामधवलयशःप्रसरधवलितसकलवसुन्धरावलयप्रभुश्रीहरिभद्रसूरिदर्शिता व्युत्पत्तिर्लिख्यते—

[4]तत्थ ताव उदारं उरालं [5]उरलं ओरालं वा । तित्थगरगणधरसरीराइं पडुच्च उदारं वुच्चइ, न तओ उदारतरमन्नमत्थि त्ति [6]काउं, उदारं नाम प्रधानम् । उरालं नाम वित्थरालं विशालमिति

---

१ विविधा विशिष्टा वा क्रिया तस्यां च यद् भवं तदिह । नियमाद् वैकुर्विकं पुनः नारकदेवानां प्रकृत्या ॥ २ ०या विकिरिय तीए जं तमिह । अनुयोगद्वारलघुवृत्तौ ॥ ३ कार्ये समुत्पन्ने श्रुतकेवलिना विशिष्टलब्ध्या । यदत्राह्रियते भणन्ति आहारकं तत् तु ॥ प्राणिदयर्द्धिसन्दर्शनार्थमर्थावग्रहणहेतुर्वा । संशयव्युच्छेदार्थं गमनं जिनपादमूले ॥ ४ तत्र तावदुदारमुरालमुरलमोरालं वा । तीर्थंकरगणधरशरीराणि प्रतीत्योदारमुच्यते, न तत उदारतरमन्यदस्तीति कृत्वा ॥ ५ ओरालं ओरालियं अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥ ६ काउं उदारं । उदा० अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥

वा, [1]जं भणियं होइ, कहं ? साइरेगजोयणसहस्समवट्ठियप्पमाणमोरालियं, अन्नमिद्दहमित्तं नत्थि, वेउव्वियं हुज्ज लक्खमहियं, अवट्ठियं पंचधणु[2]सयाइं अहे सत्तमाए, इत्थं पुण अवट्ठियपमाणं अइरेगं जोयणसहस्सं वनस्पत्यादीनामिति । उरलं नाम स्वल्पप्रदेशोपचितत्वाद् बृहत्त्वाच्च भिण्डवत् । [3]ओरालं नाम मांसास्थिस्नाय्वाद्यवयवबद्धत्वात् । ([4]अनु. हा. टी. पत्र ८७)

श्रीपूज्या अप्याहुः—

[5]तत्थोदारमु[6]रालं, ओरालमहव महल्लगत्तेण ।
ओरालियं ति पढमं, पडुच्च तित्थेसरसरीरं ॥
भण्णइ य तहोरालं, वित्थरवंतं वणस्सतिं पप्प ।
पयईइ नत्थि अन्नं, इद्दहमित्तं विसालं ति ॥
उरलं थेवपएसोवचियं पि महल्लगं जहा भिंडं ।
मंसट्ठिण्हारुबद्धं, ओरालं समयपरिभासा ॥ (अनु. हा. टी. पत्र ८७)

सर्वत्र स्वार्थिक इकप्रत्ययः, उदारमेव उरालमेव उरलमेव ओरालमेव औदारिकम् , पृषोदरादित्वाद् इष्टरूपनिष्पत्तिः, औदारिकमेव चीयमानत्वात् कायः, तेन सहकारिकारणभूतेन तद्विषयो वा योग औदारिककाययोगः ५ । तथा औदारिकं मिश्रं यत्र कार्मणेनेति गम्यते स औदारिकमिश्रः, उत्पत्तिदेशे हि पूर्वभवादनन्तरमागतो जीवः प्रथमसमये कार्मणेनैव केवलेनाऽऽहारयति, ततः परमौदारिकस्याऽप्यारब्धत्वाद् औदारिकेण कार्मणमिश्रेण यावत् शरीरनिष्पत्तिः । यदाह सकलश्रुताम्भोनिधिपारदृश्वा विश्वानुग्रहकाम्यया निर्मितानेकशास्त्रसन्दर्भः **श्रीभद्रबाहुस्वामी**—

[7]जोएण कम्मएणं, आहारेई अणंतरं जीवो ।
तेण परं मीसेणं, जाव सरीरस्स निप्फत्ती ॥

केवलिसमुद्घातावस्थायां तु द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेषु कार्मणेन मिश्रमौदारिकं प्रतीतमेव, "मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥" (प्रश० का० २७६) इति वचनात् , औदारिक-

---

१ यद् भणितं भवति, कथं सातिरेकयोजनसहस्रमवस्थितप्रमाणमौदारिकम् , अन्यदेतावन्मात्रं नास्ति, वैक्रियं भवेद् लक्षाधिकम् , अवस्थितं पञ्च धनुःशतानि अधः सप्तम्याम्, अत्र पुनः अवस्थितप्रमाणं सातिरेकं योजनसहस्रम् ॥ २ ०सतं, इमं पु० **अनुयोगद्वारचूर्णिलघुवृत्त्योः** ॥ ३ ओरलियं **अनुयोगद्वारचूर्णौ** ॥ ४ समग्रोऽप्येष पाठः अनुयोगद्वारचूर्णावपि पत्र ६०-६१ तमेऽस्ति ॥ ५ तत्रोदारमुरालं ओरालमथवा महत्तया । औदारिकमिति प्रथमं प्रतीत्य तीर्थेश्वरशरीरम् ॥ भण्यते च तथोरालं विस्तारवद् वनस्पतिं प्राप्य । प्रकृत्या नास्त्यन्यद् एतावन्मात्रं विशालमिति ॥ उरलं स्तोकप्रदेशोपचितमपि महद्यथा भिण्डम् । मांसास्थिस्नायुबद्धमोरालं समयपरिभाषा ॥ ६ ०रालं उरलं ओरालमहव विण्णेयं । इति **अनुयोगद्वारलघुवृत्तौ** पाठः ॥ ७ योगेन कार्मणेनाहारयत्यनन्तरं जीवः । ततः परं मिश्रेण यावच्छरीरस्य निष्पत्तिः ॥

मिश्रश्चासौ कायश्च तेन योग औदारिकमिश्रकाययोगः ६ । तथा कर्मणो विकारः कार्मणम्, "विकारे" (सि० ६-२-३०) अण्प्रत्ययः, यद्वा कर्मैव कार्मणम्, "प्रज्ञादिभ्योऽण्" (सि० ७-२-१६५) [इत्यण]प्रत्ययः, कर्मपरमाणव एवात्मप्रदेशैः सह क्षीरनीरवद् अन्योन्यानुगताः सन्तः कार्मणं शरीरम् । उक्तं च--

[1]कम्मविगारो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्नं ।
सव्वेसिं सरीराणं, कारणभूयं मुणेयव्वं (अनु. हा. टी. पत्र ८७)

अत्र "सव्वेसिं" इति सर्वेषामौदारिकादीनां शरीराणां कारणभूतं-बीजभूतं कार्मणशरीरम्, न खल्वामूलमुच्छिन्ने भवप्रपञ्चप्ररोहबीजभूते कार्मणे वपुषि शेषशरीरप्रादुर्भावसम्भवः ।

इदं च कार्मणशरीरं जन्तोर्गत्यन्तरसङ्क्रान्तौ साधकतमं करणम् । तथाहि-कार्मणेनैव वपुषा परिकरितो जन्तुर्मरणदेशमपहायोत्पत्तिदेशमुपसर्पति ।

ननु यदि कार्मणवपुःपरिकरितो गत्यन्तरं सङ्क्रामति तर्हि गच्छन् कस्मात् नोपलक्ष्यते ? [उच्यते-] कर्मपुद्गलानामतिसूक्ष्मतया चक्षुरादीन्द्रियागोचरत्वात् । आह च **प्रज्ञाकरगुप्तो**ऽपि-

अन्तरा भवदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वान्नोपलक्ष्यते ।
निष्क्रामन् प्रविशन् वाऽपि, नाभावोऽनीक्षणादपि ॥

कार्मणमेव कायस्तेन योगः कार्मणकाययोगः ७ । "इय जोग" त्ति 'इतिः' परिसमाप्तौ । ततोऽयमर्थः-एत एव योगा नान्य इति ।

ननु तैजसमपि शरीरं विद्यते, यद् भुक्ताहारपरिणमनहेतुर्यद्वशाद् विशिष्टतपोविशेषसमुत्थलब्धिविशेषस्य पुरुषस्य तेजोलेश्याविनिर्गमः, तत् कथमुच्यते एत एव योगा नान्ये ? इति, नैष दोषः, सदा कार्मणेन सहाऽव्यभिचारितया तैजसस्य तद्ग्रहणेनैव गृहीतत्वादिति ।

निरूपिताः स्वरूपतो योगाः । साम्प्रतमेतानेव मार्गणास्थानेषु निरूपयन्नाह-"कम्ममणहारि" त्ति व्यवच्छेदफलं हि वाक्यम्, अतोऽवश्यमवधारयितव्यम् । तच्चावधारणमिहैवम्-कार्मणमेवैकमनाहारके न शेषयोगाः, असम्भवादिति । न पुनरेवम्-कार्मणमनाहारकेष्वेवेति, आहारकेष्वपि उत्पत्तिप्रथमसमये कार्मणयोगसम्भवात्, " [2]जोएण कम्मएणं, आहारेई अणंतरं जीवो ।" इति परममुनिवचनप्रामाण्यात् । नापि 'कार्मणमनाहारकेषु भवत्येव' इत्यवधारणमाश्रेयम्, अयोगिकेवल्यवस्थायामनाहारकस्यापि कार्मणकाययोगाभावात्, " [3]गयजोगो उ अजोगी" इति वचनात् । एवमन्यत्रापि यथासम्भवमवधारणविधिरनुसरणीय इति ॥ २४ ॥

---

१ कर्मविकारः कार्मणमष्टविधविचित्रकर्मनिष्पन्नम् । सर्वेषां शरीराणां कारणभूतं ज्ञातव्यम् ॥ २ योगेन कार्मणेनाहारयत्यनन्तरं जीवः ॥ ३ गतयोगस्त्वयोगी ॥

नरगइ पणिंदि तस तणु, अचक्खु नर नपु कसाय सम्मदुगे ।
सन्नि छलेसाहारग, भव्व मइ सुओहिदुगि सव्वे ॥ २५ ॥

'नरगतौ' मनुष्यगतौ पञ्चेन्द्रिये 'त्रसे' त्रसकाये तनुयोगे अचक्षुर्दर्शने 'नरे' नरवेदे पुंवेद इत्यर्थः "नपु"त्ति नपुंसकवेदे 'कषायेषु' क्रोधमानमायालोभेषु 'सम्यक्त्वद्विके' क्षायोपशमिक-क्षायिकलक्षणे 'संज्ञिनि' मनोविज्ञानभाजि षट्स्वपि लेश्यासु आहारके भव्ये 'मतौ' मतिज्ञाने 'श्रुते' श्रुतज्ञाने 'अवधिद्विके' अवधिज्ञानाऽवधिदर्शनरूपे 'सर्वे' पञ्चदशापि योगा भवन्ति, एतेषु सर्वेष्वपि मार्गणास्थानेषु यथासम्भवं सर्वयोगप्राप्तेः। यत्तु क्वापि "[1]जोगा अकम्मगाहारगेसु" इति पदं दृश्यते तद् न सम्यगवगम्यते, यत ऋजुगतौ विग्रहगतौ चोत्पत्तिप्रथमसमये

[2]जोएण कम्मएणं, आहारेई अणंतरं जीवो ।
तेण परं मीसेणं, जाव सरीरस्स निप्फत्ती ॥

इति सकलश्रुतधरप्रवरपरममुनिवचनप्रामाण्याद् आहारकस्यापि सतः कार्मणकाययोगोऽस्त्येव । अथ उच्येत गृह्यमाणं गृहीतमिति निश्चयनयवशात् प्रथमसमयेऽप्यौदारिकपुद्गला गृह्यमाणा गृहीता एव ततो द्वितीयादिसमयेष्विव तदानीमप्यौदारिकमिश्रकाययोग इति, तदेतद् अयुक्तम्, सम्यग्वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, यतो यद्यपि तदानीमौदारिकादिषु पुद्गला गृह्यमाणा गृहीता एव तथापि न तेषां गृह्यमाणानां स्वग्रहणक्रियां प्रति करणरूपता येन तन्निबन्धनो योगः परिकल्प्येत, किन्तु कर्मरूपतैव, निष्पन्नरूपस्य सत उत्तरकालं करणभावदर्शनात्। नहि घटः स्वनिष्पादनक्रियां प्रति कर्मरूपतां करणरूपतां च प्रतिपद्यमानो दृश्यते, द्वितीयादिसमयेषु पुनस्तेषामपि प्रथमसमयगृहीतानामन्यपुद्गलोपादानं प्रति करणभावो न विरुध्यते, निष्पन्नत्वात्; अतस्तदानीमौदारिकमिश्रकाययोग उपपद्यत एव। अत एवोक्तम्—"तेण परं मीसेणं" इति। तस्माद् अस्त्याहारकस्याप्युत्पत्तिप्रथमसमये कार्मणकाययोग इति। अतः "जोगा अकम्मगाहारगेसु" इति पदं चिन्त्यमस्तीति ॥ २५ ॥

तिरि इत्थि अजय सासण, अनाण उवसम अभव्व मिच्छेसु ।
तेराहारदुगूणा, ते उरलदुगूण सुरनरए ॥ २६ ॥

"तिरि" त्ति तिर्यग्गतौ 'स्त्रियां' स्त्रीवेदे 'अयते' विरतिहीने सास्वादनसम्यक्त्वे "अनाण" त्ति अज्ञानत्रिके—मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गलक्षणे 'उपशमे' औपशमिकसम्यक्त्वे 'अभव्येषु' सिद्धिगमनानुचितेषु 'मिथ्यात्वे' मिथ्यादृष्टिषु त्रयोदश योगा भवन्ति। के? इत्याह—आहारकद्विकेन-आहारकाहारकमिश्रलक्षणेन ऊनाः—हीना आहारकद्विकोनाः। अयमत्राशयः—मनोयोगचतु-

१ योगाः अकार्मणा आहारकेषु ॥ २ प्राग्वत् ॥

ष्टयवाग्योगचतुष्टयौदारिकौदारिकमिश्रवैक्रियवैक्रियमिश्रकार्मणलक्षणा योगा भवन्ति। तत्र कार्मणमपान्तरालगतौ उत्पत्तिप्रथमसमय एव, औदारिकमिश्रमपर्याप्तावस्थायाम्, पर्याप्तावस्थायामौदारिकं मनोवाग्योगचतुष्टयं च। तथा तिरश्चामपि केषाञ्चिद् वैक्रियलब्धियोगतो वैक्रियमिश्रं वैक्रियं च घटत एव। यत्तु आहारकद्विकम्—आहारकाहारकमिश्रलक्षणं तद् न सम्भवत्येव, तिरश्चां तत्र सर्वविरत्यसम्भवात्; सर्वविरतस्य हि चतुर्दशपूर्ववेदिन आहारकद्विकं सम्भवति, "[1]आहारं चउदसपुव्विणो" इत्यादिवचनप्रामाण्यादिति। तथा इह स्त्रीवेदो द्रव्यरूपो द्रष्टव्यः, न तु तथारूपाध्यवसायलक्षणो भावरूपः, तथाविवक्षणात्। एवमुपयोगमार्गणायामपि द्रष्टव्यम्। प्राक् च गुणस्थानकमार्गणायां सर्वोऽपि वेदो भावस्वरूपो गृहीतः, तथाविवक्षणादेव, अन्यथा तेषु प्रोक्तगुणस्थानकसङ्ख्याऽयोगात्; सयोगिकेवल्यादावपि द्रव्यवेदस्य भावात्, द्रव्यवेदश्च बाह्यमाकारमात्रम्। ततः स्त्रीषु त्रयोदश योगा आहारकद्विकोना भवन्ति, न पुनराहारकद्विकमपि, यत आहारकद्विकं चतुर्दशपूर्वविद एव भवति, "[2]आहारकदुगं जायइ चउदसपुव्विणो" इति वचनात्। न च स्त्रीणां चतुर्दशपूर्वाधिगमोऽस्ति, स्त्रीणामागमे दृष्टिवादाध्ययनप्रतिषेधात्।

यदाह **भाष्यसुधासुधांशुः**

[3]तुच्छा गारवबहुला, चलिंदिया दुब्बला धिईए य।
इय अइसेसज्झयणा, भूयावादो य नो थीणं॥ (विशेषा० गा० ५५२) इति।

'भूतवादः' दृष्टिवादः। तथा अयते सास्वादने अज्ञानत्रिके च त्रयोदश योगा आहारकद्विकोना भवन्ति। आहारकद्विकं पुनरेतेष्वज्ञानत्वादेव दूरापास्तम्। तथा औपशमिकसम्यक्त्वे आहारकद्विकोनास्त्रयोदश योगाः, आहारकं त्वत्रापि न घटामियर्ति, यत औपशमिकसम्यक्त्वं प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले उपशमश्रेण्यारोहे वा भवति। न च प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले चतुर्दशपूर्वाधिगमसम्भवः, तदभावाच्च कथमाहारकद्विकभावः प्रादुर्भावपदवीमियर्ति?। उपशमश्रेण्यारूढस्त्वाहारकं नारभत एव, तस्याऽप्रमत्तत्वात्, आहारकारम्भकस्य तु लब्ध्युपजीवनेन औत्सुक्यभावतः प्रमादबहुलत्वात्। उक्तं च—

[4]आहारगं तु पमत्तो उप्पाएइ न अप्पमत्तो इति।

आहारकस्थितश्चोपशमश्रेणिं नारभत एव, तथास्वभावत्वादिति। तथा अभव्ये मिथ्यात्वे च चतुर्दशपूर्वाधिगमाभावादेव आहारकद्विकवर्जास्त्रयोदश योगाः। त एव पूर्वोक्तास्त्रयोदश योगा

---

१ आहारकं चतुर्दशपूर्विणः॥ २ आहारकद्विकं जायते चतुर्दशपूर्विणः॥ ३ तुच्छा गौरवबहुलाश्चलेन्द्रिया दुर्बला धृत्या च। इति अतिशायीन्यध्ययनानि भूतवादश्च न स्त्रीणाम्॥ ४ आहारकं तु प्रमत्त उत्पादयति नाप्रमत्तः॥

औदारिकद्विकेन—औदारिकौदारिकमिश्रलक्षणेन ऊनाः—हीना एकादश योगाः 'सुरे' सुरगतौ 'नरके' नरकगतौ भवन्ति। तथाहि—मनोवाग्योगचतुष्टयवैक्रियवैक्रियमिश्रकार्मणलक्षणा एकादश योगाः सुरेषु नारकेषु च घटन्ते। तत्र कार्मणमपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमय एव, वैक्रियमिश्रमपर्याप्तावस्थायाम्, पर्याप्तावस्थायां तु वैक्रियं मनोवाग्योगचतुष्टयं च। यत् पुनरौदारिकद्विकं तद् भवप्रत्ययादेव देवनारकाणां न सम्भवति। आहारकद्विकं तु सुरनारकाणां भवस्वभावतया विरत्यभावेन सर्वविरतिप्रत्ययचतुर्दशपूर्वाधिगमासम्भवादेव दूरापास्तमिति ॥ २६ ॥

कम्मुरलदुगं थावरि, ते सविउव्विदुग पंच इगि पवणे ।
छ असन्नि चरमवइजुय, ते विउविदुगूण चउ विगले ॥ २७ ॥

कार्मणम् 'औदारिकद्विकम्' औदारिकौदारिकमिश्रलक्षणमिति त्रयो योगाः। क्व? इत्याह—"थावरि" त्ति स्थावरकाये--पृथिव्यप्तेजोवनस्पतिकायरूपे, वायुकायिकस्य पृथग् भणिष्यमाणत्वात्। अयमत्र भावः----स्थावरचतुष्के कार्मणौदारिकद्विकरूपास्त्रयो योगा भवन्ति। तत्र कार्मणमपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये वा, औदारिकमिश्रं तु अपर्याप्तावस्थायाम्, पर्याप्तावस्थायां पुनरौदारिकमिति। 'ते' पूर्वोक्तास्त्रयो योगाः सवैक्रियद्विकाः' सह वैक्रियद्विकेन-वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणेन वर्तन्त इति सवैक्रियद्विकाः सन्तः पञ्च भवन्ति। क्व? इत्याह----"इगि" त्ति सामान्यत एकेन्द्रिये 'पवने' वायुकाये च। तत्र कार्मणौदारिकद्विकलक्षणयोगत्रयभावना प्राग्वत्। वैक्रियद्विकभावना त्वेवम्---इह किल चतुर्विधा वायवो वान्ति। तद्यथा—सूक्ष्मा अपर्याप्ताः १ सूक्ष्माः पर्याप्ताः २ बादरा अपर्याप्ताः ३ बादराः पर्याप्ताश्च ४। तत्र बादरपर्याप्तानां केषाञ्चिद् वैक्रियलब्धिसम्भवोऽस्ति तानधिकृत्य वैक्रियमिश्रं वैक्रियं च लभ्यते।

ननु कथमुच्यते केषाञ्चिद् वैक्रियलब्धिसम्भवोऽस्ति? यावता सर्वेऽपि बादरपर्याप्तवायवः सवैक्रिया एव, अवैक्रियाणां चेष्टाया एवाप्रवृत्तेः। उक्तं च—

[1]केइ भणंति—सव्वे वेउव्विया वाया वायंति, अवेउव्वि[2]याणं चिट्ठा चेव न पवत्तइ।
(अनु० चू० पत्र ९७, अनु० हा० टी० पत्र ६२) इति।

तद् अयुक्तम्, सम्यक् सिद्धान्तापरिज्ञानात्, अवैक्रियाणामपि तेषां स्वभावत एव चेष्टोपपत्तेः। यदाह भगवान् श्री**हरिभद्रसूरिरनुयोगद्वारटीकायाम्**—

[3]वाउकाइया चउव्विहा—सुहुमा पज्जत्ता अपज्जत्ता, बादरा वि य पज्जत्ता अपज्जत्ता। तत्थ तिन्नि रासी पत्तेयं असंखेज्जलोगप्पमाणप्पएसरासिपमाणमित्ता, जे पुण बादरा पज्जत्ता ते पय-

---

१ केचिद् भणन्ति—सर्वे वैकुर्विका वाता वान्ति, अवैक्रियाणां चेष्टैव न प्रवर्त्तते ॥ २ ०याणं वाणं चे० अनुयोगद्वारचूर्णिलघुटीकयोः। ३ वायुकायिकाश्चतुर्विधाः—सूक्ष्माः पर्याप्ताः। १ अपर्याप्ताः २, बादरा

रासंखेज्जइभागमित्ता । तत्थ ताव तिण्हं रासीणं वेउव्वियलद्धी चेव नत्थि । बायरपज्जत्ताणं पि असंखिज्जइभागमित्ताणं लद्धी अत्थि । जेसिं पि लद्धी अत्थि ते वि पलिओवमासंखिज्जभाग-समयमित्ता संपयं पुच्छासमए वेउव्वियवत्तिणो । तथा जेण सव्वेसु चेव[1] उड्ढलोगाइसु चला वायवो विज्जंति तम्हा अवेउव्विया वि वाया वायंति त्ति घित्तव्वं । सभावो तेसिं वाइयव्वं । (पत्र ९२, अनु० चू० पत्र ६७) इति ।

वानाद्वायुरिति कृत्वा "तिण्हं रासीणं" ति त्रयाणां राशीनां पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मापर्याप्तबादर-वायुकायिकानाम् । तथा त एव पूर्वोक्ताः पञ्च कार्मणौदारिकद्विकवैक्रियद्विकलक्षणयोगाः चरमा-चतुर्थी असत्यामृषरूपा वाग् वचनयोगश्चरमवाक् तया युक्ताः षड् योगा भवन्ति । क्व ? इत्याह-'असंज्ञिनि' संज्ञिव्यतिरिक्ते जीवे । तत्र कार्मणमपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च, औदारिक-मिश्रमपर्याप्तावस्थायाम्, पर्याप्तावस्थायामौदारिकम् । बादरपर्याप्तवायुकायिकानां वैक्रियद्विकम्, चरमभाषा शङ्खादिद्वीन्द्रियादीनामिति । त एव पूर्वोक्ताः षड् योगा वैक्रियद्विकेन-वैक्रियवैक्रिय-मिश्रलक्षणेन ऊनाः-हीनाश्चत्वारो भवन्ति । क्व ? इत्याह-'विकलेषु' द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रि-येषु । कोऽर्थः ? तत्र कार्मणौदारिकद्विकभावना प्राग्वत् । चरमभाषा च असत्यामृषरूपा शङ्खा-दीनां भवति, शेषास्तु भाषा न भवन्त्येव "[2]विगलेसु असच्चमोसे वा" इति वचनादिति ॥२७॥

कम्मुरलमीस विणु मण, वइ समइय छेय चक्खु मणनाणे ।
उरलदुग कम्म पढमंतिम मणवइ केवलदुगम्मि ॥ २८ ॥

कार्मणमौदारिकमिश्रं विना शेषास्त्रयोदश योगा भवन्ति । क ? इत्याह–मनोयोगे वाग्योगे सामायिकसंयमे छेदोपस्थापनसंयमे चक्षुर्दर्शने मनःपर्यायज्ञाने । भावना सुकरैव । यौ तु कार्म-णौदारिकमिश्रौ तौ तेषु सर्वथा न सम्भवत एव, तयोरपर्याप्तावस्थायां भावात्, मनोयोगवाग्योग-सामायिकच्छेदोपस्थापनचक्षुर्दर्शनमनःपर्यायज्ञानानां च तस्यामवस्थायामसम्भवात् ।[3]तथा "उरल-दुग" त्ति औदारिकद्विकमौ[4]दारिकौदारिकमिश्रकार्मणकाययोगौ [मिश्रकाययोगौ] सयोग्य-वस्थायामेव समुद्घातगतस्य वेदितव्यौ ["कम्म" त्ति कार्मणकाययोगः]

अपि च पर्याप्ताः १ अपर्याप्ताः ४ । तत्र त्रयो राशयः प्रत्येक असङ्ख्येयलोकप्रमाणप्रदेशराशिप्रमाणमात्राः, ये पुनर्बादराः पर्याप्तास्ते प्रतरासङ्ख्यातभागमात्राः । तत्र तावत् त्रयाणां राशीनां वैक्रियलब्धिरेव नास्ति । बादरपर्याप्तानामपि असङ्ख्यातभागमात्राणां लब्धिरस्ति । येषामपि लब्धिरस्ति तेऽपि पल्योपमासङ्ख्येय-भागसमयमात्राः साम्प्रतं पृच्छासमये वैकुर्विकवर्त्तिनः । तथा येन सर्वेष्वेव ऊर्ध्वलोकादिषु चला वायवो विद्यन्ते तस्मादवैकुर्विका अपि वाता वान्तीति ग्रहीतव्यम् । स्वभावस्तेषां वातव्यम् । १ ०व लोगा० ख० अनुयोगद्वारलघुटीकायाम् । व लोगागासाइ० अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥ २ विकलेषु असत्यामृषा वा ॥ ३ अत ऊर्ध्वम्–'केवलद्विके' केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे सप्त योगाः । के ते ? इत्याह–, इत्येवंरूपः पाठो यदि स्यात्तदा सङ्गतिमेति । ४ ०दारिकमिश्रकार्म० क० ख० ग० घ० ङ० ॥

मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥ (प्रश० का० २७६)

कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च। (प्रश० का० २७७) इति ।

प्रथमान्तिममनोयोगौ तु अविकलसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शनबलावलोकितनिखिललोकालोकस्य भगवतो मनःपर्यायज्ञानिभिरनुत्तरसुरादिभिर्वा मनसा पृष्टस्य सतो मनसैव देशनात्। ते हि भगवत्प्रयुक्तानि मनोद्रव्याणि मनःपर्यायज्ञानेनाऽवधिज्ञानेन वा पश्यन्ति, दृष्ट्वा च ते विवक्षितवस्त्वालोचनाकारान्यथानुपपत्त्या लोकस्वरूपादिकं बाह्यमर्थं पृष्टमवगच्छन्ति । प्रथमान्तिमवाग्योगौ तु देशनादिषु व्यापृतस्य तस्यैव भगवतो द्रष्टव्याविति ॥ २८ ॥

मणवइउरला परिहारि सुहुमि नव ते उ मीसि सविउव्वा ।

देसे सविउव्विदुगा, सकम्मुरलमिस्स अहखाए ॥ २९ ॥

परिहारविशुद्धिके सूक्ष्मसम्पराये च नव योगाः। के ते? इत्याह-मनोयोगश्चतुर्धा वाग्योगश्चतुर्धा औदारिकं चेति । यस्त्वाहारकद्विकं वैक्रियद्विकं कार्मणमौदारिकमिश्रं च तद् न सम्भवत्येव। तथाहि—आहारकद्विकं चतुर्दशपूर्ववेदिन एव भवति, "[1]आहारं चउदसपुव्विणो" इति वचनात्; परिहारविशुद्धिकसंयमप्रतिपत्तिः पुनरुत्कर्षतोऽप्यधीतकिञ्चिन्न्यूनदशपूर्वस्यैव, तथैव सिद्धान्तेऽभ्यनुज्ञानात्; तत् कथं परिहारविशुद्धिकस्याऽऽहारकद्विकसम्भवः? । नापि तस्य वैक्रियद्विकसम्भवः, तस्यामवस्थायां तत्करणाननुज्ञानात्, जिनकल्पिकस्येव तस्याऽप्यत्यन्तविशुद्धाप्रमादमूलसंयमयोगानुष्ठानपरायणत्वात्, वैक्रियारम्भे च लब्ध्युपजीवनेन औत्सुक्यभावात् प्रमादसम्भवात्। अत एव सूक्ष्मसम्परायसंयमेऽप्याहारकद्विकवैक्रियद्विकलक्षणानां चतुर्णां योगानामसम्भवः, सूक्ष्मसम्परायसंयमोपेतस्याऽप्यत्यन्तविशुद्धतया निस्तरङ्गमहोदधिकल्पत्वेन वैक्रियादिप्रारम्भासम्भवात्। कार्मणमौदारिकमिश्रं चापर्याप्तावस्थायामेवेति संयमद्वयेऽपि तस्याऽभावः। ते पुनः पूर्वोक्ता नव योगाः 'सवैक्रियाः' सह वैक्रियेण वर्तन्त इति सवैक्रिया वैक्रियसहिताः सन्तो दश योगाः 'मिश्रे' सम्यग्मिथ्यादृष्टौ भवन्ति । तत्र वैक्रियं देवनारकापेक्षया, यत्तु वैक्रियमिश्रं तद् नैवावाप्यते, तस्याऽपर्याप्तावस्थाभावित्वात्, मिश्रभावस्य च "[2]न सम्ममिच्छो कुणइ कालं" इति वचनप्रामाण्याद् अपर्याप्तावस्थायामसम्भवात्।

स्यादेतद्—वैक्रियलब्धिमतां मनुष्यतिरश्चां सम्यग्मिथ्यादृशां सतां वैक्रियारम्भसम्भवेन कथं वैक्रियमिश्रं नावाप्यते? इति, उच्यते—तेषां वैक्रियारम्भासम्भवात्, अन्यतो वा कुतश्चित् कारणात् पूर्वाचार्यैस्तद् नाभ्युपगम्यत इति न सम्यगवगच्छामः, तथाविधसम्प्रदायाभावात्, अतोऽस्माभिरपि तद् नेष्टमिति। 'देशे' देशविरते त एव नव पूर्वोक्ताः 'सवैक्रियद्विकाः' वैक्रिय-

१ आहारकं चतुर्दश-पूर्विणः ॥ २ न सम्यग्मिथ्यादृष्टिः करोति कालं ॥

सन्मिश्रसहिताः सन्त एकादश योगा भवन्ति, देशविरतानामम्बडादीनां वैक्रियलब्धिमतां वैक्रियद्विकसम्भवात् । तथा त एव नव पूर्वोक्ताः 'सकार्मणौदारिकमिश्राः' सह कार्मणौदारिकमिश्राभ्यां वर्तन्त इति सकार्मणौदारिकमिश्राः सन्त एकादश योगा यथाख्यातसंयमे भवन्ति । अयमर्थः—मनोयोगचतुष्टयवाग्योगचतुष्टयकार्मणौदारिकद्विकलक्षणा एकादश योगा यथाख्याते भवन्ति । तत्र मनोवाक्चतुष्कौदारिकयोगाः सुज्ञाना एव । कार्मणमौदारिकमिश्रं तु यथाख्यातसंयमश्रीकुलगृहस्य भगवतः केवलिनः सम्भवति, तस्य हि समुद्घातगतस्य तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु कार्मणम्, "कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ।" (प्रश० का० २७७) इति वचनात्, द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेष्वौदारिकमिश्रम्, "मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥" (प्रश० का० २७६) इति वचनाद् अवाप्यत इति यथाख्यातसंयमे द्वयोरपि सम्भवात् ।

अथ विनेयजनानुग्रहाय केवलिसमुद्घातस्वरूपमभिधीयते—तत्र सम्यग् अपुनर्भावेन उत्—प्राबल्येन कर्मणो हननं—घातः प्रलयो यस्मिन् प्रयत्नविशेषे स समुद्घातः । अयं च केवलिसमुद्घातोऽष्टसामयिकः, तं च प्रारभमाणः प्रथममेवाऽऽयोजिकाकरणमान्तर्मौहूर्तिकमुदीरणावलिकायां कर्मप्रक्षेपव्यापाररूपमभ्येति । अथाऽऽयोजिकाकरणमिति कः शब्दार्थः ? उच्यते—"आङ् मर्यादायाम्" आ—मर्यादया केवलिदृष्टया योजनं—शुभानां योगानां व्यापारणमायोजिका, "भावे" (सि० ५-३-१२२) णकः, तस्याः करणमायोजिकाकरणम् । आह च—

[1]कइसमइए णं भंते ! आओजीकरणे पन्नत्ते ? गोयमा ! असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए आओजीकरणे पन्नत्ते ॥ (प्रज्ञापनापत्र ६०१—१)

अयं कृतकृत्योऽपि केवली किमर्थं समुद्घातं करोति ? इति चेद्, उच्यते—वेदनीयनामगोत्राणामायुषा सह समीकरणार्थम् । यदाह भगवान् श्रीभद्रबाहुस्वामी—

[2]नाऊण वेयणिज्जं, अइबहुयं आउयं च थोवागं ।
गंतूण समुग्घायं, खवेइ कम्मं निरवसेसं ॥ (आ. नि. गा. ९५४)

प्रज्ञापनायामप्युक्तम्—

[3]कम्हा णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छइ ? गोयमा ! केवलिस्स चत्तारि कम्मंसा अक्खीणा अवेइया अणिज्जिन्ना भवन्ति । तं जहा-वेयणिज्जे आउए नामे गोए । सव्वबहुए से वेयणिज्जे

---

१ कतिसामयिकं भदन्त ? आयोजिकाकरणं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ? असङ्ख्येयसामयिकमान्तर्मौहूर्त्तिकम् आयोजिकाकरणं प्रज्ञप्तम् ॥ २ ज्ञात्वा वेदनीयं अतिबहुकं आयुष्कं च स्तोकम् । गत्वा समुद्घातं क्षपयति कर्म निरवशेषम् ॥ ३ कस्माद् भदन्त ? केवली समुद्घातं गच्छति ? गौतम ? केवलिनश्चत्वारः कर्मांशा अक्षीणा अवेदिता अनिर्जीर्णा भवन्ति । तद्यथा—वेदनीयं आयुष्कं नाम गोत्रम् । सर्वबहुकं तस्य वेदनीयं कर्म भवति, सर्वस्तोकं तस्यायुःकर्म भवति, विषमं समं करोति, बन्धनैः स्थितिभिश्च, विषमस्य समकरणाय बन्धनैः स्थितिभिश्च एवं खलु केवली समुद्घातं गच्छति ॥

कम्मे हवइ, सव्वथोवे से आउए कम्मे हवइ, विसमं समं करेइ बंधणेहिं ठिईहि य, विसमसमीकरणयाए बंधणेहिं ठिईहि य एवं खलु केवली समुग्घायं गच्छइ ॥ (पत्र ६०१-१)

"बंधणेहिं" ति बध्यन्त आत्मप्रदेशैः सह लोलीभावेन संश्लिष्टाः क्रियन्ते योगवशाद् ये ते बन्धनाः, "भुजिपत्यादिभ्यः कर्मापादाने" (सि० ५-३-१२८) इति कर्मण्यनट्, कर्मपरमाणवः, स्थितयः--वेदनाकालाः, शेषं सुगमम् । उक्तं च--

आयुषि समाप्यमाने, शेषाणां कर्मणां यदि समाप्तिः ।
न स्यात् स्थितिवैषम्याद्, गच्छति स ततः समुद्घातम् ॥
स्थित्या च बन्धनेन च, समीक्रियार्थं हि कर्मणां तेषाम् ।
अन्तर्मुहूर्त्तशेषे, तदायुषि समुज्जिघांसति सः ॥

अथ सर्वेऽपि केवलिनः समुद्घातं गच्छन्ति न वा ? इति चेद्, उच्यते--यस्य केवलिन आयुषा सह वेदनीयनामगोत्राणि समस्थितिकानि भवन्ति स हि न केवलिसमुद्घातं करोति, शेषस्तु करोति । उक्तं च श्रीमदार्यश्यामपादैः--

[1]सव्वे वि णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छंति ? गोयमा ! नो इ[2]णट्ठे समट्ठे ।
जस्साउएण तुल्लाइं, बंधणेहिं ठिईहि य । भवोवग्गाहिकम्माइं, समुग्घायं से न गच्छइ ॥
अगंतूणं समुग्घायं, अणंता केवली जिणा । जरमरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगइं गया ॥
(पत्र० ६०१-१)

समुद्घातं च कुर्वन् केवली प्रथमसमये बाहुल्यतः स्वशरीरप्रमाणमूर्ध्वमधश्च लोकान्तपर्यन्तमात्मप्रदेशानां सङ्घातदण्डं दण्डस्थानीयं ज्ञानाभोगतः करोति, द्वितीयसमये तु तमेव दण्डं पूर्वापरदिग्द्वयप्रसारणात् पार्श्वतो लोकान्तगामिकपाटमिव कपाटं करोति, तृतीयसमये तमेव कपाटं दक्षिणोत्तरदिग्द्वयप्रसारणाद् मन्थसदृशं मन्थानं करोति लोकान्तप्रापिणमेव । एवं च लोकस्य प्रायो बहु पूरितं मन्थान्तराण्यपूरितानि भवन्ति, अनुश्रेणि गमनात्, चतुर्थे तु समये तान्यपि मन्थान्तराणि सह लोकनिष्कुटैः पूरयति, ततश्च सकलो लोकः पूरितो भवतीति । तदनन्तरमेव पञ्चमे समये यथोक्तक्रमात् प्रतिलोमं मन्थान्तराणि संहरति जीवप्रदेशान् सकर्मकान् सङ्कोचयति, षष्ठे समये मन्थानमुपसंहरति घनतरसङ्कोचनात्, सप्तमे समये कपाटमुपसंहरति

---

१ सर्वेऽपि भदन्त ! केवलिनः समुद्घातं गच्छन्ति ? गौतम ! नायमर्थः समर्थः । यस्याऽऽयुषा तुल्यानि बन्धनैः स्थितिभिश्च । भवोपग्राहिकर्माणि समुद्घातं स न गच्छति ॥ अगत्वा समुद्घातमनन्ताः केवलिनो जिनाः । जरामरणविप्रमुक्ताः सिद्धिं वरगतिं गताः ॥ २ ०णमट्ठे क० ख० घ० ङ० ॥

दण्डात्मनि सङ्कोचनात् , अष्टमे समये दण्डं समुपहृत्य शरीरस्थ एव भवति । न चैतत् स्वमनीषिकाविजृम्भितम् । यदाहुर्वृद्धाः–

[1]उड्ढाहायय लोगंतगामिणं सो सदेहविक्खंभं ।
पढमसमयम्मि दंडं, करेइ बिइयम्मि उ कवाडं ॥
तइयसमयम्मि मंथं, चउत्थए लोगपूरणं कुणइ ।
पडिलोमं संहरणं, काउं तो होइ देहत्थो ॥ (विशेषा० गा० ३०५२-३०५३)

वाचकवरोऽप्याह–

दण्डं प्रथमे समये, कपाटमथ चोत्तरे तथा समये ।
मन्थानमथ तृतीये, लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥
संहरति पञ्चमे त्वन्तराणि मन्थानमथ पुनः षष्ठे ।
सप्तमके तु कपाटं, संहरति ततोऽष्टमे दण्डम् ॥ (प्रश० का० २७४-२७५)

तस्येदानीं समुद्घातस्य योगव्यापारश्चिन्त्यते–योगाश्च मनोवाक्कायाः, अत्रैषां कः कदा व्याप्रियते ? । तत्रेह मनोवाग्योगयोरव्यापार एव, प्रयोजनाभावात् ।

यदाह **धर्मसारमूलटीकायां** भगवान् श्रीहरिभद्रसूरिः–

मनोवचसी तदा न व्यापारयति, प्रयोजनाभावात् ।

काययोगस्य तु औदारिककाययोगस्यौदारिकमिश्रकाययोगस्य वा कार्मणकाययोगस्य वा व्यापारो न शेषस्य, लब्ध्युपजीवनाभावेन शेषस्य काययोगस्याऽसम्भवात् । तत्र प्रथमाष्टमसमययोरौदारिककायप्राधान्याद् औदारिककाययोग एव, द्वितीयषष्ठसप्तमकेषु पुनः कार्मणशरीरस्यापि व्याप्रियमाणत्वाद् औदारिकमिश्र एव, तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु तु केवलमेव कार्मणं शरीरं व्यापारभागिति कार्मणकाययोगः ।

यदाहुः श्रीमदार्यश्यामपादाः **श्रीप्रज्ञापनायां षट्त्रिंशत्तमे समुद्घातपदे—**

[2]पढमट्ठमेसु समएसु ओरालियसरीरकायजोगं जुंजइ, बिइयछट्ठसत्तमेसु समएसु ओरालियमीसगसरीरकायजोगं जुंजइ, तइयचउत्थपंचमेसु समएसु कम्मगसरीरकायजोगं जुंजइ ॥ (पत्र ६०१-२)

---

१ ऊर्ध्वाधआयतं लोकान्तगामिनं स स्वदेहविष्कम्भम् । प्रथमसमये दण्डं करोति द्वितीये तु कपाटम् ॥ तृतीयसमये मन्थानं चतुर्थके लोकपूरणं करोति । प्रतिलोमं संहरणं कृत्वा ततो भवति देहस्थः ।
२ प्रथमाष्टमयोः समययोरौदारिकशरीरकाययोगं युनक्ति, द्वितीयषष्ठसप्तमेषु समयेषु औदारिकमिश्रशरीरकाययोगं युनक्ति, तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु समयेषु कार्मणशरीरकाययोगं युनक्ति ॥

भाष्यकारोऽप्याह—

[1]न किर समुग्घायगओ, मणवइजोगप्पओयणं कुणइ ।
ओरालियजोगं पुण, जुंजइ पढमऽट्ठमे समए ॥
उभयव्वावाराओ, तम्मीसं बीयछट्ठसत्तमए ।
तिचउत्थपंचमे कम्मगं तु तम्मत्तचिट्ठाओ ॥ (विशे०गा० ३०५४—३०५५)

ततः समुद्घातात् प्रतिनिवृत्तो मनोवाक्काययोगत्रयमपि व्यापारयति । यतः स भगवान् भवधारणीयकर्मसु नामगोत्रवेदनीयेष्वचिन्त्यमाहात्म्यसमुद्घातवशतः प्रभूतमायुषा सह समीकृतेष्वप्यन्तर्मुहूर्तभाविपरमपदो यदाऽनुत्तरौपपातिकादिना देवेन मनसा पृच्छ्यते तर्हि व्याकरणाय मनःपुद्गलान् गृहीत्वा मनोयोगं युनक्ति, तमपि सत्यमसत्यामृषारूपं वा, मनुष्यादिना पृष्टः सन् अपृष्टो वा कार्यवशाद् गृहीत्वा भाषापुद्गलान् वाग्योगम्, तमपि सत्यमसत्यामृषारूपं वा, न शेषान् वाङ्मनोयोगान्, क्षीणरागद्वेषत्वात्; काययोगं तु गमनादिचेष्टासु, तदेवमन्तर्मुहूर्तं कालं यथायोगं योगत्रयव्यापारभाक् केवली भूत्वा तदनन्तरम् अत्यन्ताप्रकम्पं लेश्यातीतं परमनिर्जराकारणं ध्यानं प्रतिपित्सुरवश्यं योगनिरोधाय उपक्रमते, योगे सति यथोक्तरूपस्य ध्यानस्याऽसम्भवात् । यदाह **भाष्यसुधाम्भोधिः—**

[2]विणियत्तसमुग्घाओ, तिन्नि वि जोगे जिणो पउंजिज्जा ।
सच्चमसच्चामोसं च सो मणं तह वईजोगं ॥
ओरालकायजोगं, गमणाई पाडिहारियाणं च ।
पच्चप्पणं करिज्जा, जोगनिरोहं तओ कुणई ॥
किं न सजोगो सिज्झइ, स बंधहेउ त्ति जं खलु सजोगो ।
न समेइ परमसुक्कं, स निज्जराकारणं परमं ॥ (विशेषा० गा० ३०५६-३०५८)

अन्यत्राप्युक्तम्—

स ततो योगनिरोधं, करोति लेश्यानिरोधमभिकाङ्क्षन् ।
समयस्थितिं च बन्धं, योगनिमित्तं स निरुरुत्सुः ॥

---

१ न किल समुद्घातगतो मनोवाग्योगप्रयोजनं करोति । औदारिकयोगं पुनर्युनक्ति प्रथमाष्टमयोः समययोः॥ उभयव्यापारात् तन्मिश्रं द्वितीयषष्ठसप्तमेषु । तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु कार्मणं तु तन्मात्रचेष्टायाः ॥
२ विनिवृत्तसमुद्घातस्त्रीनपि योगान् जिनः प्रयुञ्जीत । सत्यमसत्यामृषं च स मनस्तथा वाग्योगम् ॥ औदारिककाययोगं गमनादि प्रातिहारिकाणां च । प्रत्यर्पणं कुर्यात् योगनिरोधं ततः करोति ॥ किं न सयोगः सिध्यति स बन्धहेतुरिति यत् खलु सयोगः । न समेति परमशुक्लं स निर्जराकारणं परम् ॥

समये समये कर्मादाने सति सन्ततेर्न मोक्षः स्यात् ।
यद्यपि हि विमुच्यन्ते, स्थितिक्षयात् पूर्वकर्माणि ॥
नाकर्मणो हि वीर्यं, योगद्रव्येण भवति जीवस्य ।
तस्याऽवस्थानेन तु, सिद्धः समयस्थितिर्बन्धः ॥

योगनिरोधं च कुर्वाणः प्रथमं मनोयोगं निरुणद्धि, तत्र पर्याप्तमात्रसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य प्रथमसमये यावन्ति मनोद्रव्याणि यावन्मानश्च तद्व्यापारस्तस्माद् असङ्ख्येयगुणहीनं मनोयोगं प्रतिसमयं निरुन्धानोऽसङ्ख्येयैः समयैः साकल्येन निरुणद्धि । यदाह भगवान् श्रीमदार्यश्यामः—

[1]से णं पुव्वामेव सन्निस्स पंचिंदियस्स पज्जत्तयस्स जहन्नजोगिस्स हिट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं पढमं मणजोगं निरुंभइ ॥ (प्रज्ञा० समु० पद ३६ पत्र ६०७-२)

भाष्यकारोऽप्याह—

[2]पज्जत्तमित्तसन्निस्स जत्तियाइं जहन्नजोगिस्स । हुंति मणोदव्वाइं, तव्वावारो य जम्मत्तो ॥
तदसंखगुणविहीणं, समए समए निरुंभमाणो सो ।
मणसो सव्वनिरोहं, कुणइ असंखिज्जसमएहिं ॥
(विशेषा० गा० ३०५९-३०६०)

[3]तओ अणंतरं च णं बेइंदियस्स पज्जत्तगस्स जहन्नजोगिस्स हिट्ठा असंखिज्जगुणहीणं दुच्चं वइजोगं निरुंभइ ॥ (प्रज्ञा० समु० पद ३६ पत्र ६०७-२)

भाष्यकृदप्याह—

[4]पज्जत्तमित्तबिंदियजहन्नवइजोगपज्जवा जे उ । तदसंखगुणविहीणं,समए समए निरुंभंतो ॥
सव्ववइजोगरोहं, संखाईएहिँ कुणइ समएहिं । (विशेषा० गा० ३०६१-३०६२)

[5]तओ अणंतरं च णं सुहुमस्स पणगजीवस्स अपज्जत्तगस्स जहन्नजोगिस्स हिट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं तच्चं कायजोगं निरुंभइ ॥ (प्रज्ञा० समु० पद ३६ पत्र ६०७-२)

---

१ स पूर्वमेव संज्ञिनः पञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्ययोगिनोऽधस्तादसङ्ख्येयगुणपरिहीणं प्रथमं मनोयोगं निरुणद्धि ॥ २ पर्याप्तमात्रसंज्ञिनो यावन्ति जघन्ययोगिनः भवन्ति मनोद्रव्याणि तद्व्यापारश्च यन्मात्रः ॥ तदसङ्ख्यगुणविहीनं समये समये निरुन्धन् सः । मनसः सर्वनिरोधं करोत्यसङ्ख्येयसमयैः । ३ ततोऽनन्तरं च द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्ययोगिनोऽधस्तादसङ्ख्येयगुणहीनं द्वितीयं वचोयोगं निरुणद्धि ॥ ४ पर्याप्तमात्रद्वीन्द्रियजघन्यवचोयोगपर्यायाः ये तु । तदसङ्ख्यगुणविहीनं समये समये निरुन्धन् ॥ सर्ववचोयोगरोधं सङ्ख्यातीतैः करोति समयैः ॥ ५ ततोऽनन्तरं च सूक्ष्मस्य पनकजीवस्य अपर्याप्तकस्य जघन्ययोगिनोऽधस्तादसङ्ख्येयगुणपरिहीणं तृतीयं काययोगं निरुणद्धि ॥

तं च काययोगं निरुन्धानः सूक्ष्मक्रियमप्रतिपातिध्यानमधिरोहति । तत्सामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन सङ्कुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति । यदाह **भाष्यसुधाम्भोधौ**:—

[1]तत्तो य सुहुमपणगस्स पढमसमओववन्नस्स ॥ (विशेषा. गा० ३०६२)
जो किर जहन्नजोगो, तदसंखेज्जगुणहीणमिक्किक्के ।
समए निरुंभमाणो, देहतिभागं च मुंचंतो ॥
रुंभइ स कायजोगं, संखाईएहिँ चेव समएहिं ।
तो कयजोगनिरोहो, सेलेसीभावयामेई ॥ (विशेषा. गा. ३०६३–३०६४)
सीलं च समाहाणं, निच्छयओ सव्वसंवरो सो य ।
तस्सेसो सेलेसो, सेलेसी होइ तदवत्था ॥
हस्सक्खराइ मज्झेण जेण कालेण पंच भण्णंति ।
अच्छइ सेलेसिगओ, तत्तियमित्तं तओ कालं ॥
तणुरोहारंभाओ, झायइ सुहुमकिरियानियट्टिं सो ।
वुच्छिन्नकिरियमप्पडिवाई सेलेसिकालम्मि ॥ (विशेषा०गा०३०६७–३०६९)

प्रज्ञापनायामप्युक्तम्—

[2]जोगनिरोहं करित्ता अजोगयं पाउणइ, अजोगयं पाउणित्ता ईसिं हस्सपंचक्खरुच्चारणद्धाए असंखेज्जसमइयं अंतमुहुत्तियं सेलेसिं पडिवज्जइ, पुव्वरइयगुणसेढीयं च णं कम्मं तीसे सेलेसद्धाए असंखेज्जाहिं गुणसेढीहिं असंखेज्जे कम्मखंधे खवयंते वेदणिज्जाउयनामगोए इच्चेए चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवित्ता ओरालियतेयाकम्मगाइं सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेढीए अफुसमाणगईए एगसमएणं अविग्गहेणं उड्ढं गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ ॥ (सम्रु०प०३६ पत्र ६०७–२)

---

१ ततश्च सूक्ष्मपनकस्य प्रथमसमयोपपन्नस्य ॥ यः किल जघन्ययोगः तदसङ्ख्येयगुणहीनमेकैकस्मिन् । समये निरुन्धन् देहत्रिभागं च मुञ्चन् ॥ रुणद्धि स काययोगं सङ्ख्यातीतैरेव समयैः । ततः कृतयोगनिरोधः शैलेशीभावतामेति ॥ शीलं च समाधानं निश्चयतः सर्वसंवरः स च । तस्येशः शैलेशः शैलेशी भवति तदवस्था ॥ ह्रस्वाक्षराणि मध्येन येन कालेन पञ्च भण्यन्ते । आस्ते शैलेशीगतस्तावन्मात्रं ततः कालम् ॥ तनुरोधारम्भाद् ध्यायति सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति सः । व्युच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपातिनं शैलेशीकाले ॥ २ योगनिरोधं कृत्वाऽयोगतां प्राप्नोति, अयोगतां प्राप्य ईषत् पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारणाद्धया असङ्ख्येयसामयिकीमान्तर्मौहूर्तिकीं शैलेशीं प्रतिपद्यते, पूर्वरचितगुणश्रेणिकं च कर्म तस्यां शैलेश्यद्धायामसङ्ख्येयाभिर्गुणश्रेणिभिरसङ्ख्येयान् कर्मस्कन्धान् क्षपयन् वेदनीयायुर्नामगोत्राणि इत्येतांश्चतुरः कर्मांशान् युगपत् क्षपयित्वौदारिकतैजसकार्मणानि सर्वैर्विप्रहाणैर्विप्रजह्य ऋजुश्रेण्याऽस्पृशद्गत्या एकसमयेनाविग्रहेणोर्ध्वं गत्वा साकारोपयुक्तः सिध्यति ॥

भाष्यकारोऽप्याह—

[1]तदसंखेज्जगुणाए, गुणसेढीइ रइयं पुरा कम्मं ।
समए समए [2]खविउं, कमेण सव्वं तहिं कम्मं (विशेषा. गा. ३०८२)
[3]रिउसेढीपडिवन्नो, समयपएसंतरं अफुसमाणो ।
एगसमएण सिज्झइ, अह सागारोवउत्तो सो ॥ (विशेषा० गा० ३०८८)

अयं च समुद्घातविधिः सर्वोऽप्यावश्यकाभिप्रायेणोक्तः । तत्रेयं गाथा—

[4]दंड कवाडे मंथंतरे य संहरणया सरीरत्थे ।
भासाजोगनिरोहे, सेलेसी सिज्झणा चेव ॥ (आ० नि० गा० ९५५) इति ॥२९॥

अभिहिता मार्गणास्थानेषु योगाः । साम्प्रतमेतेष्वेव उपयोगस्वरूपनिरूपणपूर्वकमुपयोगानभिधित्सुराह—

तिअनाण नाण पण चउ दंसण बार जिय लक्खणुवओगा ।
विणु मणनाण दुकेवल, नव सुरतिरिनिरयअजएसु ॥३०॥

'त्रीण्यज्ञानानि' मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गरूपाणि 'ज्ञानानि' मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमनःपर्यवज्ञानकेवलज्ञानलक्षणानि पञ्च **स्वोपज्ञकर्मविपाकटीकायां** विस्तरेणाभिहितस्वरूपाणि 'चत्वारि दर्शनानि' चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनरूपाणि इत्येवं द्वादशोपयोगाः प्राग्निरूपितशब्दार्था भवन्ति । किंविशिष्टाः ? इत्याह--"जिय लक्खण"त्ति प्राकृतत्वाद् विभक्तिलोपः, 'जीवस्य' आत्मनः 'लक्षणं' लक्ष्यते-ज्ञायते तदन्यव्यवच्छेदेनेति लक्षणम्-असाधारणं स्वरूपम् । अत एवोक्तमन्यत्र—"उपयोगलक्षणो जीवः" इति । ते च द्विधा--साकारा अनाकाराश्च । तत्र पञ्च ज्ञानानि त्रीण्यज्ञानानि इत्यष्टावुपयोगाः साकाराः, चत्वारि दर्शनानि अनाकारा उपयोगाः । यदाह प्रवचनार्थसार्थसरससरसीरुहसमूहप्रकाशनसहस्रभानुर्भगवान् श्रीमदार्य-**श्यामः प्रज्ञापनायामु[5]पयोगपदेऽष्टमे—**

---

१ तदसङ्ख्येयगुणाया गुणश्रेण्या रचितं पुरा कर्म । समये समये क्षपयित्वा क्रमेण सर्वं तत्र कर्म ॥ २ खवियं कमसो सेलेसिकालेणं । इति **विशेषावश्यकभाष्ये** ॥ ३ ऋजुश्रेणिप्रतिपन्नः समयप्रदेशान्तरमस्पृशन् । एकसमयेन सिध्यति अथ साकारोपयुक्तः सः ॥ ४ दण्डं कपाटं मन्था अन्तराणि संहरणता शरीरस्थः । भाषायोगनिरोधः शैलेशी सिद्धिश्चैव ॥ ५ अस्मत्पार्श्ववर्तिषु सर्वेष्वपि पुस्तकादर्शेषु **जैनधर्मप्रचारकसभया** मुद्रिते चादर्शे "उपयोगपदेऽष्टमे" इत्येवमेवोपलभ्यते परं **प्रज्ञापनाया अष्टमपदं** तु संज्ञापदमेव, उपयोगपदं तु एकोनत्रिंशत्तममेवेति ॥

[1]कतिविहे णं भंते ! उवओगे पन्नत्ते ? गोयमा ! दुविहे उवओगे पन्नत्ते, तं जहा—सागारोवओगे य अणागारोवओगे य । सागारोवओगे णं भंते ! कतिविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! अट्ठविहे पन्नत्ते, तं जहा—आभिणिबोहियनाणसागारोवओगे सुयनाणसागारोवओगे ओहिनाणसागारोवओगे मणपज्जवनाणसागारोवओगे केवलनाणसागारोवओगे मइअन्नाणसागारोवओगे सुयअन्नाणसागारोवओगे विभंगनाणसागारोवओगे । अणागारोवओगे णं भंते ! कइविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा—चक्खुदंसणअणागारोवओगे अचक्खुदंसणअणागारोवओगे ओहिदंसणअणागारोवओगे केवलदंसणअणागारोवओगे य ॥ (उपयो० पद २९ पत्र ५२५-१)

भावार्थः प्रागेव मार्गणास्थाने भेदाभिधानावसरे सप्रपञ्चमभिहित इति । "विणु मणनाण" इत्यादि, विना मनःपर्यायज्ञानं केवलद्विकं च—केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणं शेषा नवोपयोगा भवन्ति 'सुरे' सुरगतौ "तिरि" त्ति तिर्यग्गतौ 'नरके' नरकगतौ 'अयते' विरतिहीने, एतेषु सर्वेष्वपि हि सर्वविरत्यसम्भवेन मनःपर्यायज्ञानकेवलद्विकासम्भवादिति ॥ ३० ॥

तस जोय वेय सुक्काहार नर पणिंदि सन्नि भवि सव्वे ।
नयणेयर पण लेसा, कसाइ दस केवलदुगूणा ॥ ३१ ॥

त्रसेषु 'योगेषु' मनोवाकायरूपेषु 'वेदेषु' द्रव्यवेदरूपस्त्रीपुंनपुंसकलक्षणेषु शुक्ललेश्यायाम् आहारकेषु नरगतौ पञ्चेन्द्रियेषु संज्ञिषु "भवि" त्ति भव्येषु च सर्वे द्वादशाप्युपयोगाः सम्भवन्ति, एतेषु सर्वेष्वपि सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरत्यादीनां सम्भवात् । "नयणं" ति चक्षुर्दर्शने "इयर" त्ति अचक्षुर्दर्शने 'पञ्चसु लेश्यासु' कृष्णनीलकापोततेजःपद्मलेश्यासु 'कषायेषु' क्रोधमानमायालोभेषु दश उपयोगा भवन्ति । के ? इत्याह—केवलद्विकेन ऊनाः--हीना ज्ञानचतुष्टयाऽज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपाः, न तु केवलद्विकम् , चक्षुर्दर्शनादिसद्भावेऽनुत्पादात् तस्य ॥ ३१ ॥

---

१ कतिविधो भदन्त ! उपयोगः प्रज्ञप्तः ? गौतम ! द्विविध उपयोगः प्रज्ञप्तः ? तद्यथा-साकारोपयोगश्चानाकारोपयोगश्च । साकारोपयोगो भदन्त ! कतिविधः प्रज्ञप्तः? गौतम ! द्विविध उपयोगः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-साकारोपयोगश्चानाकारोपयोगश्च । साकारोपयोगो भदन्त ? कतिविधः प्रज्ञप्तः ? गौतम ! अष्टविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-आभिनिबोधिकज्ञानसाकारोपयोगः १ श्रुतज्ञानसाकारोपयोगः २ अवधिज्ञानसाकारोपयोगः ३ मनःपर्यवज्ञानसाकारोपयोगः ४ केवलज्ञानसाकारोपयोगः ५ मत्यज्ञानसाकारोपयोगः ६ श्रुताज्ञानसाकारोपयोगः ७ विभङ्गज्ञानसाकारोपयोगः ८। अनाकारोपयोगो भदन्त ? कतिविधः प्रज्ञप्तः ? गौतम ! चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—चक्षुर्दर्शनानाकारोपयोगः १ अचक्षुर्दर्शनानाकारोपयोगः २ अवधिदर्शनानाकारोपयोगः ३ केवलदर्शनानाकारोपयोगः ४ ॥

चउरिंदि सन्नि दुअनाणदंस इग बि ति थावरि अचक्खू ।
तिअनाण दंसणदुगं, अनाणतिग अभव मिच्छदुगे ॥ ३२ ॥

चतुरिन्द्रिये असंज्ञिनि च चत्वार उपयोगा भवन्ति । के ते ? इत्याह–'द्व्यज्ञानदर्शने' द्वे अज्ञाने–मत्यज्ञानश्रुताज्ञानरूपे, द्वे दर्शने–चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनलक्षणे इत्यर्थः । तथा त एव पूर्वोक्ताश्चत्वार उपयोगाः "अचक्खु" त्ति अचक्षुषः–चक्षुर्दर्शनरहिताः सन्तस्त्रयो भवन्ति । केषु ? इत्याह–"इग" त्ति सामान्यत एकेन्द्रियेषु द्वीन्द्रियेषु त्रीन्द्रियेषु 'स्थावरेषु' पृथिव्यम्बुतेजोवायुवनस्पतिषु । कोऽर्थः ? एकद्वित्रीन्द्रियस्थावरेषु मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनरूपास्त्रय उपयोगा भवन्तीत्यर्थः, न शेषाः, यतः सम्यक्त्वाभावाद् मतिश्रुतज्ञानासम्भवः, सर्वविरत्यभावाच्च मनःपर्यायज्ञानकेवलज्ञानकेवलदर्शनाभावः, यत् पुनरवधिद्विकं विभङ्गज्ञानं च तद् भवप्रत्ययं गुणप्रत्ययं वा, न चाऽनयोरन्यतरोऽपि प्रत्ययः सम्भवति, चक्षुर्दर्शनोपयोगाभावस्तु चक्षुरिन्द्रियाभावादेव सिद्धः । तथा त्रयाणामज्ञानानां समाहारः त्र्यज्ञानम्, अज्ञानत्रयम्-मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गरूपं 'दर्शनद्विकं' चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनलक्षणमित्येते पञ्चोपयोगा भवन्ति । क्व ? इत्याह–'अज्ञानत्रिके' मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गरूपे । यत्त्वज्ञानत्रिकेऽवधिदर्शनं पूर्वाचार्यैः कुतश्चित् कारणाद् नेष्यते तद् न सम्यगवगच्छामः, तथाविधसम्प्रदायाभावात्; अथ च सिद्धान्ते प्रतिपाद्यते, तथा च प्रज्ञप्तिसूत्रं पूर्वदर्शितमेव, तदभिप्रायादस्माभिरपि नोक्तमिति । 'अभवे' अभव्ये 'मिथ्यात्वद्विके' मिथ्यात्वे सास्वादने [च] पञ्चोपयोगाः-अज्ञानत्रिकदर्शनद्विकरूपा न शेषाः, अवदातसम्यक्त्वविरत्यभावादिति ॥ ३२ ॥

केवलदुगे नियदुगं, नव तिअनाण विणु खइय अहखाए ।
दंसणनाणतिगं देसि मीसि अन्नाणमीसं तं ॥ ३३ ॥

'केवलद्विके' केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणे 'निजद्विकं' केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपमुपयोगद्विकं भवति, न शेषा दश, ज्ञानदर्शनव्यवच्छेदेनैव केवलयुगलस्य सद्भावात्, "नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे ।" (आ० नि० गा० ५३९) इति वचनात् । तथा क्षायिके सम्यक्त्वे यथाख्याते च संयमे नवोपयोगा भवन्ति । के ते ? इत्याह–'अज्ञानत्रिकं' मतिश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानलक्षणं विना, यतः क्षायिकयथाख्यातयोरज्ञानत्रिकं न भवत्येव, तस्य मिथ्यात्वनिबन्धनत्वात्, निर्मूलतो मिथ्यात्वक्षयेणोपशमेन च क्षायिकसम्यक्त्वयथाख्यातोत्पादात्, अत एतयोर्नवैवोपयोगा भवन्तीति । तथा 'देशे' देशविरते षडुपयोगा भवन्ति । कथम् ? इत्याह–'दर्शनज्ञानत्रिकं' त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धः, दर्शनत्रिकं–चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनरूपम्, ज्ञानत्रिकं–मतिश्रुतावधिज्ञानरूपमिति, न शेषाः, मिथ्यात्वसर्वविरत्यभावात् । मिश्रे तदेव दर्शनज्ञानत्रिक-

मज्ञानमिश्रं द्रष्टव्यम् , मतिज्ञानं मत्यज्ञानमिश्रं १ श्रुतज्ञानं श्रुताज्ञानमिश्रं २ अवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानमिश्रं ३ दर्शनत्रिकं ३ चेति मिश्रेऽपि षडुपयोगाः सिद्धा भवन्ति । इह चावधिदर्शनमागमाभिप्रायेण उच्यते, अन्यथा एतेष्वेव मार्गणास्थानकेषु गुणस्थं नव मार्गणायां 'अजयाइ नव मइसुओहिदुगे'' (गा० २१) इत्युक्तमिति ॥ ३३ ॥

मणनाणचक्खुवज्जा, अणहारे तिन्नि दंस चउ नाणा ।
चउनाणसंजमोवसम वेयगे ओहिदंसे य ॥ ३४ ॥

मनःपर्यायज्ञानचक्षुर्दर्शनवर्जाः शेषा दशोपयोगा अनाहारके भवन्ति । यत्तु मनःपर्यवज्ञानं चक्षुर्दर्शनं तच्चानाहारके न सम्भवति, यतोऽनाहारको विग्रहगतौ केवलिसमुद्घातावस्थायां च, न च तदानीं मनःपर्यायज्ञानचक्षुर्दर्शनसम्भव इति । तथा 'त्रीणि दर्शनानि' चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनरूपाणि 'चत्वारि ज्ञानानि' मतिश्रुतावधिमनःपर्यायलक्षणानीत्येवं सप्तोपयोगा भवन्ति; क्व ? इत्याह—चतुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् चतुर्षु ज्ञानेषु—मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमनःपर्यायज्ञानेषु, तथा चतुर्षु संयमेषु—सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्परायेषु, औपशमिके सम्यक्त्वे 'वेदके' क्षायोपशमिकापरपर्याये[1], अवधिदर्शने 'चः' समुच्चये, न शेषाः, तत्सद्भावे मत्यज्ञानादीनामसम्भवात् । इहाप्यवधिदर्शने मत्यज्ञानाद्युपयोगप्रतिषेधो बहुश्रुताचार्याभिप्रायापेक्षया द्रष्टव्यः, अन्यथा हि मत्यज्ञानादिमतामपि सूत्रे साक्षाद् अवधिदर्शनं प्रतिपादितमेव, **प्रज्ञप्तिसूत्रं** च प्रागेवोक्तमिति ॥ ३४ ॥

उक्ता मार्गणास्थानेषु उपयोगाः । अथ योगेषु जीवगुणस्थानकयोगोपयोगान् अधिकृत्य मतान्तरमाह—

दो तेर तेर बारस, मणे कमा अट्ठ दु चउ चउ वयणे ।
चउ दु पण तिन्नि काए, जियगुणजोगोवओगऽन्ने ॥ ३५ ॥

— अन्ये त्वाचार्याः ''मणि'' त्ति मनोयोगे द्वे जीवस्थानके, त्रयोदश गुणस्थानकानि, त्रयोदश योगाः, द्वादशोपयोगा इतीच्छन्ति 'क्रमात्' क्रमेण यथासङ्ख्यमित्यर्थः । अत्रायमभिप्रायः—प्राग् योगान्तरसहितोऽसहितो वा स्वरूपमात्रेणैव काययोगादिर्विवक्षितस्तेन तत्र यथोक्तगुणस्थानकादिवक्तव्यता सर्वाऽप्युपपद्यते, इह तु काययोगादिर्योगान्तरविरहित एव विवक्ष्यते । यथा—मनोयोगवाग्योगविरहितः काययोगः, मनोयोगविरहितो वाग्योगः । ततो मनोयोगे द्वे अन्तिमे जीवस्थानके, अयोगिकेवलिवर्जितानि त्रयोदश गुणस्थानानि, कार्मणौदारिकमिश्रवर्जितास्त्रयोदश योगाः, कार्मणौदारिकमिश्रौ हि काययोगौ अपर्याप्तावस्थायां केवलिसमुद्घातावस्थायां वा । न

---

१ 'ये, अवधिद्विके-अवधिज्ञानावधिदर्शनरूपे चः क० ख० ग० घ० ङ० मुद्रितपुस्तकादर्शे च ॥

च तदानीं मनोयोगः, अपर्याप्तावस्थायां मनस एवाभावात् , केवलिसमुद्घातावस्थायां तु प्रयोजनाभावात् । उक्तं च—

मनोवचसी तु तदा सर्वथा न व्यापारयति, प्रयोजनाभावात् । (धर्मसारमूलटीकायाम्)

तथा 'वचने' मनोयोगविरहिते वाग्योगे क्रमाद् अष्टौ जीवस्थानानि-पर्याप्तापर्याप्तद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपाणि, द्वे गुणस्थाने-मिथ्यात्वसासादनलक्षणे, चत्वारो योगाः-कार्मणौदारिकमिश्रौदारिकासत्यामृषावाग्योगरूपाः, चत्वार उपयोगाः-मत्यज्ञानश्रुताज्ञानचक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनलक्षणाः । वाग्योगो हि मनोयोगविरहितस्वभावो द्वीन्द्रियादिष्वेवाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तेषु सम्भवति नान्येषु । ततो यथोक्तान्येव जीवस्थानकादीनि तत्र सम्भवन्ति नोनाधिकानि । तथा केवलकाययोगे चत्वारि पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियलक्षणानि जीवस्थानकानि द्वे आद्ये गुणस्थानके--मिथ्यादृष्टिसासादनलक्षणे, पञ्च योगाः--वैक्रियद्विकौदारिकद्विककार्मणरूपाः, त्रय उपयोगाः-मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनस्वरूपाः । केवलकाययोगो हि एकेन्द्रियेष्वेवावाप्यते, तत्र जीवस्थानकादीनि यथोक्तान्येव घटन्त इति ॥ ३५ ॥

अभिहितं योगेष्वेकीयमतम् । साम्प्रतं मार्गणास्थानेषु लेश्या अभिधित्सुराह—

छसु लेसासु सठाणं, एगिंदि असन्नि भूदगवणेसु ।
पढमा चउरो तिन्नि उ, नारय विगलग्गि पवणेसु ॥ ३६ ॥

षड्लेश्यासु स्वस्थानं स्वा स्वा लेश्या भवति, यथा कृष्णलेश्यायां कृष्णलेश्या इत्यादि । सामान्यत एकेन्द्रियेषु 'असंज्ञि(नि'मनोविज्ञानरहिते) 'भूदकवनेषु' पृथिव्यम्बुवनस्पतिषु प्रथमाः–कृष्णनीलकापोततेजोलेश्याश्चतस्रो भवन्ति, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवा हि स्वस्वभवच्युता एतेषु मध्ये समुत्पद्यन्ते ते च तेजोलेश्यावन्तः, जीवश्च यल्लेश्य एव म्रियते अग्रेऽपि तल्लेश्य एवोपपद्यते, "जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ" इति वचनात् । तत एतेषामपर्याप्तावस्थायां कियत्कालं तेजोलेश्या भवति । नारकेषु 'विकलेषु' द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु 'अग्निषु' तेजस्कायेषु 'पवनेषु' वायुकायिकेषु प्रथमास्तिस्रः–कृष्णनीलकापोतलेश्या भवन्ति नाऽन्याः, प्रायोऽमीषामप्रशस्ताध्यवसायस्थानोपेतत्वात् ॥ ३६॥

अहक्खाय सुहुम केवलदुगि सुक्का छावि सेसठाणेसु ।
नरनिरयदेवतिरिया, थोवा दु असंखऽणंतगुणा ॥ ३७ ॥

यथाख्यातसंयमे सूक्ष्मसम्परायसंयमे च 'केवलद्विके' केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे शुक्ललेश्यैव न शेषलेश्याः, यथाख्यातसंयमादौ एकान्तविशुद्धपरिणामभावात् तस्य च शुक्ललेश्याऽविनाभू-

तत्वात् । 'शेषस्थानेषु' सुरगतौ तिर्यग्गतौ मनुष्यगतौ पञ्चेन्द्रियत्रसकाययोगत्रयवेदत्रयकषाय-चतुष्टयमतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमनःपर्यायज्ञानमत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानसामायिकच्छेदो-पस्थापनपरिहारविशुद्धिकदेशविरताविरतचक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनभव्याभव्यक्षायिकक्षायोपश-मिकौपशमिकसास्वादनमिश्रमिथ्यात्वसंज्ञ्याहारकानाहारकलक्षणैकचत्वारिंशत्सु शेषमार्गणास्थान-केषु षडपि लेश्याः ।

उक्ता मार्गणास्थानेषु लेश्याः। इदानीं मार्गणास्थानेषु स्वस्थानापेक्षयाऽल्पबहुत्वं निरूरूपयिषु-राह—'नरनिरय' इत्यादि । इह यथासङ्ख्येन योजना कर्तव्या । सा चैवम्—नरा निरयदेव-तिर्यग्योनिकेभ्यः सकाशात् स्तोकाः । यत इह द्विविधा नराः-वान्तपित्तादिजन्मानः सम्मूर्छजाः, स्त्रीगर्भोत्पन्नाः गर्भजाश्च । तत्राद्याः कदाचिद् न भवन्त्येव, जघन्यतः समयस्य उत्कृष्टतस्तु चतुर्विंशतिमुहूर्तानां तदन्तरकालस्य प्रतिपादितत्वात् ।

यदाह सन्देहसन्दोहशैलशृङ्गभङ्गदम्भोलिर्भगवान् **जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः**—

[२]बारस मुहुत्त गब्भे, उक्कोस समुच्छिमेसु चउवीसं ।
उक्कोस विरहकालो, दोसु वि य जहन्नओ समओ ॥ (बृ० सं० पत्र १३०-१)

उत्पन्नानां तु जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तस्थितिकत्वेन परतः सर्वेषां निर्लेपत्वसम्भवाद् यदा तु भवन्ति तदा जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा, उत्कृष्टतस्त्वसङ्ख्याताः । इतरे तु सर्वदैव सङ्ख्येया भवन्ति नासङ्ख्येयाः, तत्र सङ्ख्येयकस्य सङ्ख्यातभेदत्वान्न ज्ञायते कियदपि सङ्ख्येयकम् अतो विशेषत इदं प्ररूप्यते–इह षष्ठवर्गः पञ्चमवर्गेण यदा गुणितो भवति तदा गर्भजमनुष्य-सङ्ख्या भवति । अथ कोऽयं षष्ठः (ग्रन्थाग्रम्–१५००) वर्गः ? कश्च पञ्चमः ? इत्येतदुच्यते–विवक्षितः कश्चिद् राशिस्तेनैव राशिना यत्र गुण्यते स तावद् वर्गः । तत्रैकस्य वर्ग एव न भवति, अतो वृद्धिरहितत्वादेष वर्ग एव न गण्यते । द्वयोस्तु वर्गश्चत्वारो भवन्ति, एष प्रथमो वर्गः ४ । चतुर्णां वर्गः षोडशेति द्वितीयो वर्गः १६ । षोडशानां वर्गो द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके तृतीयो वर्गः २५६ । अस्य राशेर्वर्गः पञ्चषष्टिः सहस्राणि पञ्च शतानि षट्त्रिंशदधिकानि चतुर्थो वर्गः ६५५३६ । अस्य राशेर्वर्गः सार्धगाथया प्रोच्यते—

[३]चत्तारि य कोडिसया, अउणत्तीसं च हुंति कोडीओ ।
अउणावन्नं लक्खा, सत्तट्ठिं चेव य सहस्सा ॥

---

१ सा चैक्ये द्वन्द्वमेययोरिति 'एकचत्वारिंशति' इति भाव्यम्, भविष्यत्यपि, तथापि लेखकेन पण्डितंमन्येन वा केनाप्येतद् अङ्कितं लक्ष्यते ॥ २ द्वादश मुहूर्त्ता गर्भजेषु सम्मूर्च्छिमेषु चतुर्विंशतिः । उत्कर्षतो विरह-कालः द्वयोरपि च जघन्यतः समयः ॥ ३ चत्वारि च कोटिशतानि एकोनत्रिंशच्च भवन्ति कोटयः । एकोनपञ्चाशद् लक्षाः सप्तषष्टिरेव च सहस्राणि ॥ द्वे च शते षण्णवतिः पञ्चमवर्गोऽयं विनिर्दिष्टः ॥

दो य सया छन्नउया, पंचम[1]वग्गो इमो विणिद्दिट्ठो । (अनु० चू० पत्र ७०)
अङ्कस्थापना----४२९४९६७२९६ । अस्यापि राशेर्वर्गो गाथात्रयेण प्रतिपाद्यते--

[2]लक्खं कोडाकोडी, चउरासीइं भवे सहस्साइं ।
चत्तारि य सत्तट्ठा, हुंति सया कोडिकोडीणं ॥
चोयालं लक्खाइं, कोडीणं सत्त चेव य सहस्सा ।
तिन्नि य सया य [3]सयरी, कोडीणं हुंति नायव्वा ॥
पंचाणउई लक्खा, एगावन्नं भवे सहस्साइं ।
छ स्सोलसुत्तर सया, एसो छट्ठो हवइ वग्गो ॥(अनु० चू० पत्र ७०)

[अङ्कतोऽपि दर्श्यते--] १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ । तदयं षष्ठो वर्गः पूर्वोक्तेन पञ्चमवर्गेण गुण्यते, तथा च सति या सङ्ख्या भवति तस्यां जघन्यपदिनो गर्भजमनुष्या वर्तन्ते । सा चेयम् ----७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ । अयं च राशिः कोटीकोट्यादिप्रकारेण केनाऽप्यभिधातुं न शक्यतेऽतः पर्यन्तादारभ्याङ्कमात्रसङ्ग्रहार्थं गाथाद्वयम्---

[4]छग तिन्नि तिन्नि सुन्नं, पंचेव य नव य तिन्नि चत्तारि ।
पंचेव तिन्नि नव पंच, सत्त तिन्नेव तिन्नेव ॥
चउ छ दो चउ इक्को, पण दो छक्किक्कगो य अट्ठेव ।
दो दो नव सत्तेव [5]य, अंकट्ठाणा पराहुत्ता ॥ (अनु० चू० पत्र० ७०)

तदेवमेतेष्वेकोनत्रिंशदङ्कस्थानेषु जघन्यपदिनो गर्भजमनुष्या वर्तन्ते ।

उक्तं चानुयगोद्वारेषु---

[6]जहन्नपए[संखेज्जा] संखिज्जाओ कोडाकोडाकोडीओ । (पत्र २०५--२)

तदेवं जघन्यपदिनो मनुष्याः, उत्कृष्टपदिनस्त्वसङ्ख्याताः । उक्तं चानुयोगद्वारसूत्रे--

---

१-गोसमासतो होति । अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥ २ लक्षं कोटाकोटी चतुरशीतिर्भवन्ति सहस्राणि । चत्वारि च सप्तषष्टिर्भवन्ति शतानि कोटिकोटीनाम् ॥ चतुश्चत्वारिंशद् लक्षाः कोटीनां सप्त एव च सहस्राणि । त्रीणि च शतानि च सप्ततिः कोटीनां भवन्ति ज्ञातव्यानि ॥ पञ्चनवतिर्लक्षा एकपञ्चाशद् भवन्ति सहस्राणि षट् षोडशोत्तराणि शतानि एष षष्ठो भवति वर्गः ॥ ३ सत्तरि अनुयोगद्वारचूर्णिलघुवृत्त्योः ॥ ४ षट् त्रीणि त्रीणि शून्यं पञ्चैव च नव च त्रीणि चत्वारि । पञ्चैव त्रीणि नव पञ्च सप्त त्रीण्येव त्रीण्येव ॥ चत्वारि षट् द्वे चत्वारि एकः पञ्च द्वे षट् एककश्च अष्टैव । द्वे द्वे नव सप्तैव च अङ्कस्थानानि पराङ्मुखानि ॥ ५ य ठाणाइं उवरिहुत्ताइं ॥ अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥ ६ जघन्यपदे सङ्ख्याताः सङ्ख्येयाः कोटिकोटिकोट्यः ॥

उक्कोसपए असंखिज्जा असंखिज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खित्तओ उक्कोसपए रूवपक्खित्तेहिं मणूसेहिं सेढी अवहीरइ, असंखेज्जाहिं अवसप्पिणीहिं उस्सप्पिणीहिं कालओ, खित्तओ अंगुलपढमवग्गमूलं तइयवग्गमूलपडुप्पन्नं ।। (पत्र २०५--२)

अस्येयमक्षरगमनिका----उत्कृष्टपदे मनुष्या असङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयराशितुल्याः । क्षेत्रतस्त्वेकस्मिन् मनुष्यरूपे प्रक्षिप्ते मनुष्यरूपैरेका नभःप्रदेशश्रेणिरपह्रियते । कियता कालेन ? इत्याह----असङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिः । कियता क्षेत्रखण्डापहारेण ? इत्याह--"अंगुलपढमवग्गमूलं तइयवग्गमूलपडुप्पन्नं" ति श्रेरङ्गुलप्रमाणे क्षेत्रे यः प्रदेशराशिस्तस्य यत् प्रथमं वर्गमूलं तत् तृतीयवर्गमूलप्रदेशराशिना गुण्यते, गुणिते च यः प्रदेशराशिर्भवति तत्प्रमाणं क्षेत्रखण्डमेकैकं रूपमपहरति । अयमर्थः--इह किलाङ्गुलप्रमाणक्षेत्रे नभःप्रदेशराशिः सद्भावतोऽसङ्ख्येयप्रदेशपरिमाणोऽप्यसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयपरिमाणः कल्प्यते २५६; अत्र प्रथमं वर्गमूलं षोडश १६, द्वितीयं वर्गमूलं चत्वारि ४, तृतीयं वर्गमूलं द्वे २; तत्र प्रथमवर्गमूलं षोडशलक्षणं तृतीयवर्गमूलेन गुणितं जाता द्वात्रिंशत् ३२, एवमेते नभःप्रदेशाः सद्भावतोऽसङ्ख्येया अप्यसत्कल्पनया द्वात्रिंशत्सङ्ख्याः परिग्राह्याः । ततः श्रेणेर्मध्याद् यथोक्तप्रमाणं द्वात्रिंशत्प्रदेशप्रमाणमित्यर्थः क्षेत्रखण्डं यद्येकैकं मनुष्यरूपं क्रमेण प्रतिसमयमपहरति तदाऽसङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिः सर्वाऽपि श्रेणिरपह्रियते यद्येकं मनुष्यरूपं स्यात् , तच्च नास्ति, सर्वोत्कृष्टानामपि समुदितगर्भजसम्मूर्छजमनुष्याणामेतावतामेव भावात् । इदमुक्तं भवति----उत्कृष्टपदवर्तिभिरपि सर्वतः सप्तरज्जुप्रमाणस्य घनीकृतस्य लोकस्यैकैकप्रदेशपङ्क्तिरूपं श्रेणिमात्रमपि अङ्गुलमात्रप्रदेशराशिसम्बन्धितृतीयवर्गमूलगुणितप्रथमवर्गमूलप्रदेशप्रमाणैरसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणाङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिसम्बन्धिद्विकलक्षणतृतीयवर्गमूलगुणितषोडशकलक्षणप्रथमवर्गमूललब्धद्वात्रिंशत्प्रदेशप्रमाणैराकाशखण्डैर्मनुष्यरूपस्थानीयैरपह्रियमाणमपि नापह्रियते, एकरूपहीनत्वात् ; यदि पुनरेकं रूपमन्यत् स्यात् ततः सकलाऽपि श्रेणिरपह्रियेत । कालतश्च प्रतिसमयमेतावत्प्रमाणैरप्याकाशखण्डैरपह्रियमाणा श्रेणिरसङ्ख्याताभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिर्निःशेषतोऽपह्रियते, कालतः सकाशात् क्षेत्रस्यात्यन्तसूक्ष्मत्वात् । उक्तं च---

[1]उक्कोसपए जे मणुस्सा हवंति तेसु इक्कम्मि मणूसरूवे पक्खित्ते समाणे तेहिं मणुस्सेहिं सेढी

---

[1] उत्कृष्टपदे ये मनुष्या भवन्ति तेष्वेकस्मिन् मनुष्यरूपे प्रक्षिप्ते सति तैर्मनुष्यैः श्रेणिरपह्रियते । तस्याश्च श्रेणेः कालक्षेत्राभ्यां अपहारो मृग्यते-कालतस्तावदसङ्ख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिः, क्षेत्रतोऽङ्गुलप्रथमवर्गमूलं तृतीयवर्गमूलगुणितम् । किं भणितं भवति ?-तस्याः श्रेणेरङ्गुलायते खण्डे यः प्रदेशराशिः तस्य यत् प्रथमवर्गमूलप्रदेशराशिमानं तत् तृतीयवर्गमूलप्रदेशराशिगुणिते सति यः प्रदेशराशिर्भवति एतावद्भिः खण्डैरपह्रियमाणाऽपह्रियमाणा यावन्निर्लिप्यति तावद् मनुष्या अपि अपह्रियमाणा अपह्रियमाणा निर्लिप्यन्ति ।

अवहीरइ। तीसे य सेढीए कालखित्तेहिं अवहारो मग्गिज्जइ–कालओ [1]ताव असंखिज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं, खित्तओ अंगुलपढमवग्गमूलं [2]तइयवग्गमूलपडुप्पन्नं। किं भणियं होइ?–तीसे सेढीए अंगुलायए खंडे जो पएसरासी तस्स जं प[3]ढमवग्गमूलपएसरासिमाणं तं तइयवग्गमूलपएसरासिपडुप्पाइए समाणे जो पएसरासी हवइ एवइएहिं खंडेहिं अवहीरमाणी अवहीरमाणी जाव निट्ठाइ ताव मणुस्सा वि अवहीरमाणा अवहीरमाणा निट्ठंति। आह कहमेगा सेढी एद्दहमित्तेहिं खण्डेहिं अवहीरमाणी अवहीरमाणी असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणिओसप्पिणीहिं अवहीरइ? आयरिओ आह––खेत्तस्स सुहुमत्तणओ। सुत्ते वि जं भणियं--

[4]सुहुमो य होइ कालो, तत्तो सुहुमयरयं हवइ खित्तं।
अंगुलसेढीमित्ते, ओसप्पिणीओ असंखिज्जा (अनु० चू० पत्र ७२) इति।

अतो निरयादिभ्यः सकाशात् स्तोका नराः, तेभ्यो नारका असङ्ख्येयगुणाः। यत एवमनुयोगद्वारेषु नारकपरिमाणमुपदर्श्यते—

नेरइयाणं भंते! केवइया वेउव्वियसरीरा पन्नत्ता? गोयमा! दुविहा पन्नत्ता, तं जहा--बद्धिल्लया मुक्किल्लया य। तत्थ णं जे ते बद्धिल्लया ते णं असंखेज्जा असंखिज्जाहिं उस्सप्पिणिअवसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ असंखेज्जाओ सेढीओ पयरस्स असंखेज्जइभागो। तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलपढमवग्गमूलं बीयवग्गमूलपडुप्पन्नं, अहव णं अंगुलबिइयवग्गमूलघणपमाणमित्ताओ सेढीओ॥ (पत्र १९९--२)

अस्येयमक्षरगमनिका-नारकाणां बद्धानि वैक्रियशरीराण्यसङ्ख्येयानि, प्रतिनारकमेकैकवैक्रियसद्भावाद् नारकाणां चासङ्ख्येयत्वात्, तानि च कालतोऽसङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयराशितुल्यानि। क्षेत्रतस्तु प्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्यसङ्ख्येयश्रेणीनां ये प्रदेशास्तत्सङ्ख्यानि भवन्ति। ननु प्रतरासङ्ख्येयभागेऽसङ्ख्येययोजनकोटयोऽपि भवन्ति तत् किमेतावत्यपि क्षेत्रे या नभःश्रेणयो भवन्ति ता इह गृह्यन्ते? न, इत्याह--"तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई" इत्यादि। तासां श्रेणीनां विष्कम्भसूचिर्विस्तरश्रेणिर्ग्राह्येति शेषः। कियती? इत्याह--"अंगुल" इत्यादि। अङ्गुलप्रमाणे प्रतरक्षेत्रे यः श्रेणिराशिः तत्र किलासङ्ख्येयानि वर्गमूलान्युत्तिष्ठन्ति अतः प्रथमवर्गमूलं द्वितीय-

आह कथमेका श्रेणिरेतावन्मात्रैः खण्डैरपह्रियमाणा अपह्रियमाणा असंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियते? आचार्य आह–क्षेत्रस्य सूक्ष्मत्वात्। सूत्रेऽपि यद्भणितं–सूक्ष्मश्च भवति कालस्ततः सूक्ष्मतरकं भवति क्षेत्रम्। अङ्गुलश्रेणिमात्रेऽवसर्पिण्योऽसंख्येयाः॥ 1 जाव अनुयोगद्वारचूर्णौ॥ 2 ०डुप्पाडितं अनुयोगद्वारचूर्णौ॥ 3 ०ढमं वग्गमूलं तं तइयवग्गमूलपएसरासिणा पडुप्पाडिज्जइ, पडुप्पाडिते समाणे जो रासी हवइ एवइएहिं खण्डेहिं सा सेढी अव० अनुयोगद्वारचूर्णौ॥ 4 गाथेयमावश्यकनिर्युक्तौ सप्तत्रिंशत्तमी॥

वर्गमूलेन/प्रत्युत्पन्नं-गुणितम् , तथा च यावन्त्योऽत्र श्रेणयो लब्धा एतावत्प्रमाणश्रेणीनां विष्कम्भसूचिर्भवति , एतावत्यः श्रेणयोऽत्र गृह्यन्त इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति--अङ्गुलप्रमाणे प्रतरक्षेत्रे किलाऽसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिके द्वे शते श्रेणीनां भवतः, तद्यथा--२५६, अत्र प्रथमवर्गमूलं १६, द्वितीयं ४, चतुर्भिश्च षोडश गुणिता जाता चतुःषष्टिः ६४, एषा चतुःषष्टिरपि सद्भावतोऽसङ्ख्येयाः श्रेणयो मन्तव्याः, एतावत्सङ्ख्यश्रेणीनां विस्तरसूचिरिह ग्राह्या । अथवा 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, अयं द्वितीयः प्रकारः प्रस्तुतार्थविषये । तथाहि--"अङ्गुलबिइयवग्गमूलघण" इत्यादि । अङ्गुलप्रमाणप्रतरक्षेत्रवर्तिश्रेणिराशेर्यद् द्वितीयवर्गमूलमनन्तरं चतुष्टयरूपं दर्शितं तस्य यो घनश्चतुःषष्टिलक्षणस्तत्प्रमाणाः श्रेणयोऽत्र गृह्यन्त इति प्ररूपणैव भिद्यतेऽर्थतस्तु स एव । इदमत्र तात्पर्यम्--सप्तरज्जुप्रमाणस्य घनीकृतस्य लोकस्य या ऊर्ध्वाधआयता एकप्रादेशिक्यः श्रेणयोऽङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिगतद्वितीयवर्गमूलघनप्रदेशराशिप्रमाणास्तासां यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणा नारकाः, अतस्ते नरेभ्योऽसङ्ख्यातगुणा एव ॥

एतेभ्योऽपि देवा असङ्ख्यातगुणाः । कथम् ? इति चेद् उच्यते---देवा हि भवनपत्यादिभेदेन चतुर्धा, भवनपतयोऽसुरादिभेदेन दशविधाः । तत्राऽसुरकुमारा अपि तावद् घनीकृतस्य लोकस्य या ऊर्ध्वाधआयता एकप्रादेशिक्यः श्रेणयोऽङ्गुलमात्रक्षेत्रगतप्रदेशराशिसम्बन्धिप्रथमवर्गमूलासङ्ख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणास्तासां सम्बन्धी यावान् प्रदेशराशिस्तावत्सङ्ख्याकाः, एवं नागकुमारादयोऽपि द्रष्टव्याः । तथा सङ्ख्येययोजनप्रमाणाकाशप्रदेशसूचिरूपैः खण्डैर्यावद्भिर्घनीकृतस्य लोकस्य मण्डकाकारः प्रतरोऽपह्रियते तावत्प्रमाणा व्यन्तराः । उक्तं च--

[1]संखेज्जजोयणाणं,　सूइपएसेहि　भाइओ　पयरो　।
वंतरसुरेहिं हीरइ, एवं एक्केकभेएणं ॥ (पञ्चसं० गा० ४८)

अस्या अक्षरगमनिका--सङ्ख्येययोजनप्रमाणा 'सूचिः' एकप्रादेशिकी पङ्क्तिस्तत्प्रदेशैः-सङ्ख्येययोजनप्रमाणैकप्रादेशिकपङ्क्तिप्रदेशैरिति यावत् भक्तं प्रतरं व्यन्तरसुरैरपह्रियते तावद्भागलब्धराशिप्रमाणा व्यन्तरसुरा इत्यर्थः । इयमत्र भावना--सङ्ख्येययोजनप्रमाणसूचिप्रदेशाः किलाऽसत्कल्पनया दश, प्रतरप्रदेशाश्च लक्षम् , ततो दशभिर्भागे हृते लब्धाः सहस्रा दश एतावन्त इत्यर्थः । 'एवम् ' उक्तेन प्रकारेण प्रतिनिकायं व्यन्तराणां भावना कार्या । न चैवं सर्वसमुदायपरिमाणनियमव्याघातप्रसङ्गः, सूचिप्रमाणहेतुयोजनसङ्ख्येयत्वस्य वैचित्र्यादिति ॥

तथा षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणैराकाशप्रदेशसूचिरूपैः खण्डैर्यावद्भिर्यथोक्तस्वरूपं प्रतरमपह्रियते तावत्प्रमाणा ज्योतिष्का देवाः । उक्तं च---

---

१ संख्येययोजनानां सूचिप्रदेशैः भक्तः प्रतरः । व्यंतरसुरैः ह्रियते एवमेकैकभेदेन ॥

[1]छप्पन्नदोसयंगुलसूइपएसेहिं भाइयं पयरं ।
जोइसिएहिं हीरइ, (पञ्चसं० गा० ४६) इति ।

अत एवोक्तम्—“ [2]वाणमंतरेहिंतो संखेज्जगुणा जोइसिय” त्ति । तथा वैमानिकदेवा घनीकृतस्य लोकस्य या उर्ध्वाधआयता एकप्रादेशिक्यः श्रेणयोऽङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिसम्बन्धितृतीयवर्गमूलघनप्रमाणास्तासां यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणाः, अतः सकलभवनपत्यादिसमुदायापेक्षया चिन्त्यमाना देवा नारकेभ्योऽसङ्ख्यातगुणा एव । तेभ्योऽपि च देवेभ्यस्तिर्यञ्चोऽनन्तगुणाः, तत्रानन्तसङ्ख्योपेतस्य वनस्पतिकायस्य सद्भावात् । उक्तं च—

[3]एएसिं णं भंते ! नेरइयाणं तिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं देवाणं सिद्धाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वथोवा मणुस्सा, नेरइया असंखेज्जगुणा, देवा असंखेज्जगुणा, सिद्धा अणंतगुणा, तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ॥
(प्रज्ञाप० पत्र ११६-२)

तथा—

[4]थोवा नरा नरेहि य, असंखगुणिया हवंति नेरइया ।
तत्तो सुरा सुरेहि य, सिद्धाऽणंता तओ तिरिया ॥
(जीवस० गा० २७१) इति ॥ ३७ ॥

उक्तं गतिष्वल्पबहुत्वम् । साम्प्रतमिन्द्रियद्वारे कायद्वारे तदभिधित्सुराह—

पण चउ ति दु एगिंदी, थोवा तिन्नि अहिया अणंतगुणा ।
तस थोव असंखऽग्गी, भूजलनिल अहिय वणऽणंता ॥ ३८ ॥

पञ्चेन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियादिभ्यः स्तोकाः, तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया ‘अधिकाः’ विशेषाधिकाः, तेभ्यस्त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेभ्यो द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः । तत्र च यद्यपि घनीकृतस्य लोकस्य ऊर्ध्वाधआयता एकप्रादेशिक्यः श्रेणयोऽसङ्ख्यातयोजनकोटीकोटीप्रमाणाकाशप्रदेशसूचिगतप्रदेशराशिप्रमाणास्तासां यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियतिर्यग्योनिपञ्चेन्द्रिया अविशेषेण सूत्रे निर्दिष्टाः, तथा चोक्तं तत्र यथोक्तरूपद्वीन्द्रियपरिमाणाभिधानानन्तरम्—

---

१ षट्पञ्चाशदधिकद्विशताङ्गुलप्रदेशैर्भक्तः प्रतरः । ज्योतिष्कैः ह्रियते ॥ २ व्यन्तरेभ्यः सङ्ख्येयगुणा ज्योतिष्काः ॥ ३ एतेषां भदन्त ! नैरयिकाणां तिर्यग्योनिकानां मनुष्याणां देवानां सिद्धानां च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोका मनुष्याः, नैरयिका असङ्ख्येयगुणाः, देवा असङ्ख्येयगुणाः, सिद्धा अनन्तगुणाः, तिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः ॥ ४ स्तोका नरा नरेभ्यश्चासङ्ख्य गुणिता भवन्ति नैरयिकाः । ततः सुराः सुरेभ्यश्च सिद्धा अनन्तास्ततस्तिर्यञ्चः ॥

[1]जह बेइंदियाणं तहा तेइंदियाणं चउरिंदियाण वि भाणियव्वं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण वि । (अनुयो० पत्र २०४–१) इति ।

तथापि सूचिपरिमाणहेतुयोजनगतासङ्ख्यातरूपसङ्ख्याया बहुभेदत्वान्न यथोक्तविशेषाधिकत्वाभिधानव्याघातः । अत एव च हेतोस्तिर्यग्योनिपञ्चेन्द्रियेषु द्वीन्द्रियादितुल्यतया सूत्रेऽभिहितेष्वपि तत्रापि नरनिरयदेवप्रक्षेपेऽपि पञ्चेन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियादिभ्यः स्तोका एव द्रष्टव्याः । यदभ्यधायि–

[2]पंचिंदिया य थोवा, विवज्जएण वियला विसेसहिया । (जीवस० गा० २७५)

द्वीन्द्रियेभ्योऽपि चैकेन्द्रिया अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायजीवराशेरनन्तानन्तत्वात् ।

यदुक्तमार्षे---

[3]एएसि णं भंते ! एगिंदियबेंदियतेइंदियचउरिंदियपंचिंदियाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुआ वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया, चउरिंदिया विसेसाहिया, तेंदिया विसेसाहिया, बेइंदिया विसेसाहिया, एगिंदिया अणंतगुणा ।

(प्रज्ञापनापद ३ पत्र १२०–२)

"तस थोव" इत्यादि । 'त्रसाः' द्वीन्द्रियादयः पूर्वनिर्दिष्टसङ्ख्यास्तेजस्कायिकादिभ्यः स्तोकाः । तेभ्यस्त्रसेभ्योऽसङ्ख्यातगुणाः "अग्गि" त्ति अग्निकायिकाः, तेषां सूक्ष्मबादरभेदभिन्नानामसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः "भू" त्ति पृथिवीकायिका विशेषाधिकाः । तेभ्यः "जल" त्ति अप्कायिका विशेषाधिकाः । तेभ्यः "अनिल" त्ति वायुकायिका विशेषाधिकाः । यद्यपि च एतेषामपि पृथिवीकायिकादीनामसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणतया सूत्रे अविशेषेण निर्देशः कृतः, तथा चोक्तम्--

[4]जहा पुढविकाइयाणं एवं आउकाइयाणं पि । (अनु० पत्र २०२--१) इत्यादि ।

तथापि लोकानामसङ्ख्याततस्याऽनेकभेदभिन्नत्वादिहैवं विशेषाधिकत्वाभिधानेऽपि न कश्चिद्दोषः । उक्तं च **श्रीप्रज्ञापनायाम्**----

" [5]एएसि णं भंते ! तसकाइयाणं पुढविकाइयाणं आउकाइयाणं तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं

---

१ यथा द्वीन्द्रियाणां तथा त्रीन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणामपि भणितव्यं पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानामपि ॥ २ पञ्चेन्द्रियाश्च स्तोका विपर्ययेण विकला विशेषाधिकाः ॥ ३ एतेषां भदन्त ? एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रियाः, चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, एकेन्द्रिया अनन्तगुणाः ॥ ४ यथा पृथ्वीकायिकानामेवमप्कायिकानामपि ॥ ५ एतेषां भदन्त ? त्रसकायिकानां पृथ्वीकायिकानामप्कायिकानां तेजस्कायिकानां वायुकायिकानां वनस्पतिकायिकानामकायिकानां च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ? सर्वस्तोकास्त्रसकायिकाः, तेजस्कायिका असङ्ख्येयगुणाः, पृथ्वीकायिका विशेषाधिका, अप्कायिका विशेषाधिकाः, वायुकायिका विशेषाधिकाः, अकायिकाअनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः ॥

वणस्सइकाइयाणं अकाइयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाइया, तेउकाइया असंखिज्जगुणा, पुढविकाइया विसेसाहिया, आउकाइया विसेसाहिया, वाउकाइया विसेसाहिया, अकाइया अणंतगुणा, वणस्सइकाइया अणंतगुणा। (प्रज्ञा० पद ३ पत्र १२२--२)

अन्यत्राप्युक्तम्---

[1]थोवा य तसा तत्तो, तेउ असंखा तओ विसेसहिया।
कमसो भूदगवाऊ, अकायहरिया अणंतगुणा॥ (जीवस० गा० २७६)

"अकाय" त्ति सिद्धाः। तेभ्यो वायुकायिकेभ्यः "वणऽणंत" त्ति वनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वाद् वनस्पतिकायिकानामिति ।। ३८ ॥

सम्प्रति योगेषु वेदेषु अल्पबहुत्वं प्रचिकटयिषुराह----

मणवयणकायजोगी, थोवा अस्संखगुण अणंतगुणा।
पुरिसा थोवा इत्थी, संखगुणाऽणंतगुण कीवा॥ ३९ ॥

मनोयोगिनः स्तोकाः, संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेव मनोयोगित्वात्। तेभ्यो वाग्योगिनोऽसङ्ख्यातगुणाः द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां वाग्योगिनां मनोयोगिभ्योऽसङ्ख्यातगुणानां तत्र प्रक्षेपात्। वाग्योगिभ्योऽपि काययोगिनोऽनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानामप्यनन्तानां तत्र प्रक्षेपादिति। आह च--

[2]एएसि णं भंते ! जीवाणं सजोगीणं मणजोगीणं वइजोगीणं कायजोगीणं अजोगीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वथोवा मणजोगी, वइजोगी असंखेज्जगुणा, अजोगी अणंतगुणा, कायजोगी अणंतगुणा, सजोगी विसेसाहिया।

(प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३४--१)

तथा स्त्र्यादिभ्यः पुरुषाः स्तोकाः। तेभ्यः स्त्रियः सङ्ख्यातगुणाः। उक्तं च--

---

१ स्तोकाश्च त्रसास्ततस्तेजस्कायिका असङ्ख्येयगुणास्ततः विशेषाधिकाः। क्रमशो भूदकवायवोऽकायवनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः॥ २ एतेषां भदन्त ? जीवानां सयोगिनां मनोयोगिनां वाग्योगिनां काययोगिनामयोगिनां च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोका मनोयोगिनः, वाग्योगिनोऽसङ्ख्येयगुणाः, अयोगिनोऽनन्तगुणाः, काययोगिनोऽनन्तगुणाः, सयोगिनो विशेषाधिकाः॥

[1]तिगुणा तिरूवअहिया, तिरियाणं इत्थिया मुणेयव्वा।
सत्तावीसगुणा पुण, मणुयाणं तदहिया चेव ॥
बत्तीसगुणा बत्तीसरूवअहिया उ तह य देवाणं।
देवीओ पन्नत्ता, जिणेहिं जियरागदोसेहिं ॥ (प्रवच० गा० ८८३-८८४)

स्त्रीभ्यश्च 'क्लीबाः' नपुंसका अनन्तगुणाः' अनन्तगुणता च वनस्पत्यपेक्षया द्रष्टव्या। उक्तं च-

[2]एएसि णं भंते! जीवाणं सवेयगाणं इत्थीवेयगाणं पुरिसवेयगाणं नपुंसकवेयगाणं अवेयगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा? गोयमा! सव्वत्थोवा जीवा पुरिसवेयगा, इत्थीवेयगा संखेज्जगुणा, अवेयगा अणंतगुणा, नपुंसगवेयगा अणंतगुणा, सवेयगा विसेसाहिया ॥ (प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३४-२) ॥ ३९ ॥

माणी कोही माई, लोही अहिय मणनाणिणो थोवा।
ओहि असंखा मइसुय, अहिय सम असंख विब्भंगा ॥ ४० ॥

कषायद्वारे--सर्वस्तोका मानिनः, मानपरिणामकालस्य क्रोधादिपरिणामकालापेक्षया सर्वस्तोकत्वात्। तेभ्यः क्रोधिनो विशेषाधिकाः क्रोधपरिणामकालस्य मानपरिणामकालापेक्षया विशेषाधिकत्वात्। तेभ्योऽपि मायिनो विशेषाधिकाः, यद् भूयस्त्वेन जन्तूनां प्रभूतकालं च मायाबहुलत्वात्। ततोऽपि लोभिनो विशेषाधिकाः, सर्वेषामपि प्रायः संसारिजीवानां सदा परिग्रहाद्याकाङ्क्षासद्भावात्। उक्तं च—

[3]एएसि णं भंते! जीवाणं सकसाईणं कोहकसाईणं माणकसाईणं मायाकसाईणं लोभकसाईणं अकसाईण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा? गोयमा! सव्वत्थोवा जीवा अकसाई, माणकसाई अणंतगुणा, कोहकसाई विसेसाहिया, मायाकसाई विसेसाहिया, लोभकसाई विसेसाहिया, सकसाई विसेसाहिया। (प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३५--१)

---

१ त्रिगुणास्त्रिरूपाधिकास्तिरश्चां स्त्रियो ज्ञातव्याः। सप्तविंशतिगुणाः पुनर्मनुजानां तदधिका एव 'सप्तविंशत्यधिका एवेत्यर्थः' ॥ द्वात्रिंशद्गुणा द्वात्रिंशद्रूपाधिकास्तु तथा च देवेभ्यः। देव्यः प्रज्ञप्ता जिनैर्जितरागदोषैः ॥ २ एतेषां भदन्त! जीवानां सवेदकानां स्त्रीवेदकानां पुरुषवेदकानां नपुंसकवेदकानामवेदकानां च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा? गौतम! सर्वस्तोका जीवाः पुरुषवेदकाः, स्त्रीवेदकाः सङ्ख्येयगुणाः, अवेदका अनन्तगुणाः, नपुंसकवेदका अनन्तगुणाः, सवेदका विशेषाधिकाः ॥ ३ एतेषां भदन्त? जीवानां सकषायिणां क्रोधकषायिणां मानकषायिणां मायाकषायिणां लोभकषायिणां अकषायिणां च कतरे कतरेभ्यः अल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा? गौतम! सर्वस्तोका जीवा अकषायिणः, मानकषायिणोऽनन्तगुणाः, क्रोधकषायिणो विशेषाधिकाः, मायाकषायिणो विशेषाधिकाः, लोभकषायिणो विशेषाधिकाः, सकषायिणो विशेषाधिकाः ॥

ज्ञानद्वारे–'मनोज्ञानिनः' मनःपर्यायज्ञानिनः शेषज्ञान्यपेक्षया स्तोकाः, तद्धि गर्भजमनुष्याणां तत्रापि संयतानामप्रमत्तानां विविधामर्पौषध्यादिलब्धियुक्तानामुपजायते। उक्तं च---

[1]तं संजयस्स सव्वप्पमायरहियस्स विविहरिद्धिमओ।

(विशेषा० गा० ८१२) इत्यादि।

ते च स्तोका एव, सङ्ख्यातत्वात्। तेभ्योऽसङ्ख्येयगुणा अवधिज्ञानिनः, सम्यग्दृष्टिदेवादीनामप्यवधिज्ञानभाजां तेभ्योऽसङ्ख्यातगुणत्वात्। ततोऽवधिज्ञानिभ्यो मतिज्ञानिश्रुतज्ञानिनो विशेषाधिकाः, अवधिज्ञानरहितसम्यग्दृष्टिनरतिर्यक्प्रक्षेपात्। एतौ च मतिज्ञानिश्रुतज्ञानिनौ स्वस्थाने चिन्त्यमानौ द्वावपि 'समौ' तुल्यौ, मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोः पर[2]स्परमनान्तरीयकत्वात्।

यदाह भगवान् **देवर्धिवाचकः**--

[3]जत्थ मइनाणंतत्थ सुयनाणं, जत्थ सुयनाणं तत्थ मइनाणं, दो वि एयाइं अन्नुन्नमणुगयाइं।

(नन्दी पत्र १४०-१) इति।

तेभ्यश्च मतिज्ञानिश्रुतज्ञानिभ्यो विभङ्गज्ञानिनोऽसङ्ख्यातगुणाः/मिथ्यादृष्टिसुरादीनां विभङ्गज्ञानवतां तेभ्योऽसङ्ख्यातगुणत्वादिति ॥ ४० ॥

केवलिणो णंतगुणा, मइसुयअन्नाणि णंतगुण तुल्ला।
सुहुमा थोवा परिहार संख अहखाय संखगुणा ॥ ४१ ॥

तेभ्यश्च विभङ्गज्ञानिभ्यः केवलिनोऽनन्तगुणाः, सिद्धानां तेभ्योऽनन्तगुणत्वात्, तेषां च केवलज्ञानयुक्तत्वात्। तेभ्योऽपि च केवलज्ञानिभ्यो मत्यज्ञानिश्रुताज्ञानिनोऽनन्तगुणाः, सिद्धेभ्योऽपि वनस्पतिकायिकानामनन्तगुणत्वात्, तेषां च मिथ्यादृष्टितया मत्यज्ञानश्रुताज्ञानयुक्तत्वात्। एते चोभयेऽपि मत्यज्ञानिश्रुताज्ञानिनः स्वस्थाने चिन्त्यमानास्तुल्याः, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानयोः परस्परमविनाभावित्वात्। उक्तं च--

[4]एएसि णं भंते! जीवाणं आभिणिबोहियनाणीणं सुयनाणीणं ओहिनाणीणं मणपज्जवनाणीणं केवलनाणीणं मइअन्नाणीणं सुयअन्नाणीणं विभंगनाणीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया

१ तत्संयतस्य सर्वप्रमादरहितस्य त्रिविधर्द्धिमतः ॥ २-स्परं नान्तरी० क० ख० ग० घ० ङ०॥
३ यत्र मतिज्ञानं तत्र श्रुतज्ञानम्, यत्र श्रुतज्ञानं तत्र मतिज्ञानम्, द्वे अपि एते अन्योन्यमनुगते॥
४ एतेषां भदन्त! जीवानां आभिनिबोधिकज्ञानिनां श्रुतज्ञानिनामवधिज्ञानिनां मनःपर्यवज्ञानिनां केवलज्ञानिनां मत्यज्ञानिनां श्रुताज्ञानिनां विभङ्गज्ञानिनां च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा? गौतम! सर्वस्तोका जीवा मनःपर्यवज्ञानिनः, अवधिज्ञानिनोऽसङ्ख्येयगुणाः, आभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनो द्वयेऽपि तुल्या विशेषाधिकाः, विभङ्गज्ञानिनोऽसङ्ख्येयगुणाः, केवलज्ञानिनोऽनन्तगुणाः, मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनश्च द्वयेऽपि तुल्या अनन्तगुणाः॥

वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा? गोयमा! सव्वत्थोवा जीवा मणपज्जवनाणी, ओहिनाणी असंखेज्जगुणा, आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी दो वि तुल्ला विसेसाहिया, विभंगनाणी असंखिज्जगुणा, केवलनाणी अणंतगुणा, मइअन्नाणी सुयअन्नाणी य दो वि तुल्ला अणंतगुणा।

(प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३७-१)

संयमद्वारे— सर्वस्तोकाः सूक्ष्मसम्परायसंयमिनः, शतपृथक्त्वमात्रसम्भवात्। तेभ्यः परिहारविशुद्धिकाः सङ्ख्यातगुणाः, सहस्रपृथक्त्वसम्भवात्। तेभ्योऽपि यथाख्यातचारित्रिणः सङ्ख्यातगुणाः, कोटिपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वादिति ॥ ४१ ॥

छेय समईय संखा, देस असंखगुण णंतगुण अजया।
थोव असंख दु णंता, ओहि नयण केवल अचक्खू ॥ ४२ ॥

तेभ्यो यथाख्यातचारित्रिभ्यश्छेदोपस्थापनचारित्रिणः सङ्ख्येयगुणाः, कोटीशतपृथक्त्वेन लभ्यमानत्वात्। तेभ्योऽपि सामायिकसंयमिनः सङ्ख्येयगुणाः, कोटीसहस्रपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात्। तेभ्योऽपि देशविरता असङ्ख्यातगुणाः, असङ्ख्यातानां तिरश्चां देशविरतिसम्भवात्। तेभ्योऽनन्तगुणाः 'अयताः' संयमहीना आद्यगुणस्थानकचतुष्टयवर्तिन इत्यर्थः, मिथ्यादृशामनन्तानन्तत्वात्। दर्शनद्वारे यथाक्रममेवं पदघटना—स्तोका अवधिदर्शनिनः, सुरनारकाणां नरतिरश्चां च केषाञ्चिदवधिदर्शनसम्भवात्। तेभ्यश्चक्षुर्दर्शनिनोऽसङ्ख्यातगुणाः चतुरिन्द्रियादीनामपि चक्षुर्दर्शनिनां तत्र प्रक्षेपात्। तेभ्योऽनन्तगुणाः केवलदर्शनिनः, सिद्धानां तेभ्योऽनन्तगुणत्वात्, तेषां च केवलदर्शनयुक्तत्वात्। तेभ्योऽप्यनन्तगुणा अचक्षुर्दर्शनिनः, सर्वसंसारिजीवानां सिद्धेभ्योऽनन्तगुणत्वात्, तेषां च नियमादचक्षुर्दर्शनोपेतत्वात्। यदाहुः परममुनयः—

[1]एएसि णं भंते! जीवाणं चक्खुदंसणीणं अचक्खुदंसणीणं ओहिदंसणीणं केवलदंसणीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा? गोयमा! सव्वत्थोवा जीवा ओहिदंसणी, चक्खुदंसणी असंखिज्जगुणा, केवलदंसणी अणन्तगुणा, अचक्खुदंसणी अणंतगुणा। (प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३७-२) इति।

पच्छाणुपुव्वि लेसा, थोवा दो संख णंत दो अहिया।
अभवियर थोव णंता, सासण थोवोवसम संखा ॥४३॥

---

१ एतेषां भदन्त! जीवानां चक्षुर्दर्शनिनामचक्षुर्दर्शनिनामवधिदर्शनिनां केवलदर्शनिनां च कतरे कतरेभ्यः अल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा? गौतम! सर्वस्तोका जीवा अवधिदर्शनिनः, चक्षुर्दर्शनिनोऽसङ्ख्येयगुणाः, केवलदर्शनिनोऽनन्तगुणाः, अचक्षुर्दर्शनिनोऽनन्तगुणाः॥

लेश्याद्वारे पश्चानुपूर्व्या लेश्या वाच्याः । तद्यथा-शुक्ललेश्या पद्मलेश्या तेजोलेश्या कापोतलेश्या नीललेश्या कृष्णलेश्या । तत्र स्तोकाः शुक्ललेश्यावन्तः, वैमानिकेष्वेव देवेषु लान्तकादिष्वनुत्तरसुरपर्यवसानेषु केषुचिदेव कर्मभूमिजेषु मनुष्यस्त्रीपुंसेषु तिर्यक्स्त्रीपुंसेषु च केषुचित् सङ्ख्यातवर्षायुष्केषु शुक्ललेश्यासम्भवात् । ततः सङ्ख्यातगुणाः पद्मलेश्यावन्तः, सनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकदेवेषूक्तरूपेषु च मनुष्यतिर्यक्षु पद्मलेश्याभावात् , सनत्कुमारादिदेवानां च लान्तकादिदेवेभ्यः सङ्ख्येयगुणत्वात् । तेभ्योऽपि तेजोलेश्यावन्तः सङ्ख्येयगुणाः, सौधर्मेशानादिदेवेषु केषुचिच्च तिर्यङ्मनुष्येषु तेजोलेश्यासद्भावात् , तेषां च सकलपद्मलेश्यासहिततिर्यगादिप्राणिगणापेक्षया सङ्ख्येयगुणत्वात् । ततः कापोतलेश्यावन्तोऽनन्तगुणाः, अनन्तकायिकेष्वपि कापोतलेश्यासद्भावात् । ततोऽपि विशेषाधिका नीललेश्यावन्तः, नारकादीनां तल्लेश्यावतां तत्र प्रक्षेपात् । ततः कृष्णलेश्यावन्तो विशेषाधिकाः, भूयसां तल्लेश्यासद्भावात् । यदभ्यधायि परमगुरुणा—

[1]एएसि णं भंते ! जीवाणं सलेस्साणं किण्हलेस्साणं नीललेस्साणं काउलेस्साणं तेउलेस्साणं पम्हलेस्साणं सुक्कलेस्साणं अलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा संखिज्जगुणा, तेउलेस्सा संखिज्जगुणा, अलेस्सा अणंतगुणा, काउलेस्सा अणंतगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, किण्हलेस्सा विसेसाहिया, सलेस्सा विसेसाहिया । (प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३५-१)

भव्यद्वारे—अभव्याः स्तोकाः, तेषां वक्ष्यमाणस्वरूपजघन्ययुक्तानन्तकतुल्यत्वात् । तेभ्यो भव्याः-सिद्धिगमनार्हा अनन्तगुणाः । आह च भगवानार्यश्यामः—

[2]एएसि णं भंते ! जीवाणं भवसिद्धियाणं अभवसिद्धियाणं नोभवसिद्धि[3]याणं नोअभवसिद्धियाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा अभवसिद्धिया, नोभवसिद्धिया नोअभवसिद्धिया अणंतगुणा, भवसिद्धिया अणंतगुणा ।

(प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३६-१)

---

१ एतेषां भदन्त ! जीवानां सलेश्यानां कृष्णलेश्यानां नीललेश्यानां कापोतलेश्यानां तेजोलेश्यानां पद्मलेश्यानां शुक्ललेश्यानां अलेश्यानां च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोका जीवाः शुक्ललेश्याः, पद्मलेश्याः सङ्ख्येयगुणाः, तेजोलेश्याः सङ्ख्येयगुणाः, अलेश्या अनन्तगुणाः, कापोतलेश्या अनन्तगुणाः, नीललेश्या विशेषाधिकाः, कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः, सलेश्या विशेषाधिकाः २ एतेषां भदन्त ! जीवानां भवसिद्धिकानामभवसिद्धिकानां नोभवसिद्धिकानां नोअभवसिद्धिकानां च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोका अभवसिद्धिकाः, नोभवसिद्धिका नोअभवसिद्धिका अनन्तगुणाः, भवसिद्धिका अनन्तगुणाः ॥ ३ ०याणो अ० प्रज्ञापनायाम् ॥

सम्यक्त्वद्वारे—सास्वादनसम्यग्दृष्टयः स्तोकाः, औपशमिकसम्यक्त्वात् केषाञ्चिदेव प्रच्यवमानानां सास्वादनत्वात् । तेभ्यः "उवसम" त्ति औपशमिकसम्यग्दृष्टयः सङ्ख्यातगुणाः ॥४३॥

मीसा संखा वेयग, असंखगुण खइय मिच्छ दु अणंता ।
सन्नियर थोव णंताऽणहार थोवेयर असंखा ॥ ४४ ॥

तेभ्यश्चौपशमिकसम्यग्दृष्टिभ्यो मिश्राः असङ्ख्यातगुणाः । तेभ्यः "वेयग" त्ति क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टयोऽसङ्ख्यातगुणाः । तेभ्यः क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणाः, क्षायिकसम्यक्त्ववतां सिद्धानामानन्त्यात् । तेभ्योऽपि मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः, सिद्धेभ्योऽपि वनस्पतिजीवानामनन्तगुणत्वात्, तेषां च मिथ्यादृष्टित्वादिति । संज्ञिद्वारे—संज्ञिनो जीवाः स्तोकाः, देवनारकसमनस्कपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्नराणामेव संज्ञित्वात् । तेभ्यः 'इतरे' असंज्ञिनोऽनन्तगुणाः, वनस्पतिजीवानामनन्तत्वात् । यदागमे न्यगादि—

[1]एएसि णं भंते ! जीवाणं सन्नीणं असन्नीणं नोस[2]न्नीणं नोअसन्नीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सन्नी, नोसन्नीनोअसन्नी अणंतगुणा, असन्नी अणंतगुणा । (प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३९–१)

तथाऽऽहारकद्वारे-अनाहारकाः स्तोकाः, विग्रहगत्यापन्नसमुद्घातकेवलिभवस्थायोगिकेवलिसिद्धानामेवानाहारकत्वात् । यदाह **भाष्यसुधाम्भोधिः**—

विग्ग[3]हगइमावन्ना, केवलिणो समुहया अजोगी य ।
सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारगा जीवा[4] ॥

तेभ्यः 'इतरे' आहारका जीवा असङ्ख्यातगुणाः । यदवाचि वाचंयमप्रवरैः **श्रीमदार्यश्यामपादैः**—

[5]एएसि णं भंते ! जीवाणं आहारगाणं अणाहारगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अणाहारगा, आहारगा असंखिज्जगुणा । (प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३८-१)

---

१ एतेषां भदन्त ? जीवानां संज्ञिनामसंज्ञिनां नोसंज्ञिनां नोअसंज्ञिनां च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोका जीवाः संज्ञिनः, नोसंज्ञिनोअसंज्ञिनोऽनन्तगुणाः, असंज्ञिनोऽनन्तगुणाः ॥ २ ०न्नीनोअसन्नीणं **प्रज्ञापनायाम्** ॥ ३ विग्रहगतिमापन्नाः केवलिनः समुद्धता अयोगिनश्च । सिद्धाश्चानाहाराः शेषा आहारका जीवाः ॥ ४ गाथेयं **श्रावकप्रज्ञप्ति-प्रवचनसारोद्धार-श्रीचन्द्रीयसङ्ग्रहणीषु** वर्तते परं **भाष्यकारग्रन्थस्था** नोपलब्धा ॥ ५ एतेषां भदन्त ! जीवानां आहारकाणामनाहारकाणां च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोका जीवा अनाहारकाः, आहारका असङ्ख्येयगुणाः ॥

ननु च सिद्धेभ्योऽनन्तगुणाः संसारिजीवाः ते च प्राय आहारकाः तत् कथमसङ्ख्यातगुणा अनाहारकेभ्य आहारकाः ? इति, नैष दोषः, यतः प्रतिसमयमेकैकस्य निगोदस्याऽसङ्ख्येयभाग-प्रमाणा विग्रहगत्यापन्ना जीवा लभ्यन्ते, ते चानाहारकाः, तत आहारकजीवानामनाहारकजीवापेक्षयाऽसङ्ख्यातगुणत्वमेवेति ॥ ४४ ॥ चिन्तितं गत्यादिमार्गणास्थानेषु स्वस्थानापेक्षयाऽल्पबहुत्वम् । इदानीं गुणस्थानकेषु जीवस्थानानि चिन्तयन्नाह—

सव्वजियठाण मिच्छे, सग सासणि पण अपज्ज सन्निदुगं ।
सम्मे सन्नी दुविहो, सेसेसुं सन्निपज्जत्तो ॥ ४५ ॥

सर्वाणि जीवस्थानानि—चतुर्दशापि मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके भवन्ति, मिथ्यात्वस्य सर्वेषु जीवस्थानकेषु सम्भवात् । तथा "सग" त्ति सप्त जीवस्थानानि सासादने भवन्ति । तद्यथा—'पञ्चापर्याप्ताः 'बादरैकेन्द्रियोऽपर्याप्तः १ द्वीन्द्रियोऽपर्याप्तः २ त्रीन्द्रियोऽपर्याप्तः ३ चतुरिन्द्रियोऽपर्याप्तः ४ असंज्ञिपञ्चेन्द्रियोऽपर्याप्तः ५ 'संज्ञिद्विकम्' संज्ञी अपर्याप्तः ६ पर्याप्तः ७ । अपर्याप्तकाश्चेह करणापर्याप्तका द्रष्टव्याः, न तु लब्ध्यपर्याप्तकाः, तेषु मध्ये सास्वादनसम्यक्त्वसहितस्योत्पादाभावात् । "सम्मे सन्नी दुविहो" त्ति अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके संज्ञी 'द्विविधः' अपर्याप्त-पर्याप्तरूपो द्रष्टव्यः । इहापर्याप्तकः करणापेक्षया ज्ञेयो न तु लब्ध्यपेक्षया, लब्ध्यपर्याप्तमध्येऽविरतसम्यग्दृष्टेरभावात् । 'शेषेषु' मिश्रदेशविरत्यादिगुणस्थानकेषु संज्ञी पर्याप्त इत्येकमेव जीवस्थानकम् , न शेषाणि, तेषां मिश्रभावदेशविरत्यादिप्रतिपत्त्यभावात् । न च पूर्वप्रतिपन्नमिश्रभावोऽन्येषु जीवस्थानकेषु सङ्क्रामन् लभ्यते, "[1]न सम्ममिच्छो कुणइ कालं" इति वचनात् ॥४५॥

तदेवं गुणस्थानकेषु व्याख्यातानि जीवस्थानकानि । सम्प्रति गुणस्थानकेष्वेव योगान् व्याख्यानयन्नाह—

मिच्छदुग अजइ जोगाहारदुगूणा अपुव्वपणगे उ ।
मणवइउरलं सविउव्व मीसि सविउव्वदुग देसे ॥ ४६ ॥

मिथ्यादृष्टिद्विकं—मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणं तत्र 'अयते' अविरतसम्यग्दृष्टौ चेत्येवं गुणस्थानकत्रये संज्ञी पञ्चेन्द्रियोऽपि लभ्यते, तस्य च यथोक्ता आहारकद्विकेन—आहारककाययोगाहारकमिश्रकाययोगलक्षणेन ऊनाः—रहितास्त्रयोदश योगाः सम्भवन्ति । यत् पुनराहारकद्विकं तत् चतुर्दशपूर्विण एव । यदभ्यधायि—

[2]आहारदुगं जायइ चउदसपुव्विस्स (पञ्चसं० गा० १२) इति ।

---

१ न सम्यग्मिथ्यादृष्टिः कालं करोति ॥ २ आहारकद्विकं जायते चतुर्दशपूर्विणः ॥

न च मिथ्यादृष्टिसासादनायतानां चतुर्दशपूर्वाधिगमसम्भव इति । तथा 'अपूर्वपञ्चके' अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहलक्षणे नव योगा भवन्ति । तद्यथा--चतुर्विधो मनोयोगः ४ चतुर्विधो वाग्योगः ४ औदारिककाययोगः १ इति, न शेषाः, अत्यन्तविशुद्धतया तेषां वैक्रियाहारकद्विकारम्भासम्भवात्, तत्र स्थितानां च स्वभावत एव श्रेण्यारोहाभावात्। औदारिकमिश्रमपर्याप्तावस्थायाम्, कार्मणं त्वपान्तरालगतौ। यद्वा उभे अपि केवलिसमुद्घातावस्थायाम्, ततस्ते अप्यत्र गुणस्थानकपञ्चके न सम्भवत इति। तथा त एव पूर्वोक्ता नव योगाः सवैक्रियाः सन्तो दश योगाः 'मिश्रे' सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके भवन्ति। तथाहि--चतुर्विधमनोयोगचतुर्विधवाग्योगौदारिकवैक्रियलक्षणा दश योगा मिश्रे भवन्ति, न शेषाः। तद्यथा--आहारकद्विकस्याऽसम्भवः पूर्वाधिगमासम्भवादेव, कार्मणशरीरं त्वपान्तरालगतौ सम्भवति, अस्य च मरणासम्भवेनाऽपान्तरालगत्यसम्भवस्ततस्तस्याप्यसम्भवः। अत एवौदारिकवैक्रियमिश्रे अपि न सम्भवतः, तयोरपर्याप्तावस्थाभावित्वात्।

ननु मा भूद् देवनारकसम्बन्धि वैक्रियमिश्रम्, यत् पुनर्मनुष्यतिरश्चां सम्यग्मिथ्यादृशां वैक्रियलब्धिमतां वैक्रियकरणसम्भवेन तदारम्भकाले वैक्रियमिश्रं भवति तत् कस्माद् नाभ्युपगम्यते? उच्यते--तेषां वैक्रियकरणासम्भवादन्यतो वा यतः कुतश्चित् कारणात् पूर्वाचार्यैर्नाभ्युपगम्यते तन्न सम्यगवगच्छामः, तथाविधसम्प्रदायाभावात्, एतच्च प्रागेवोक्तमिति। तथा त एव पूर्वोक्ता नव योगाः 'सवैक्रियद्विकाः' वैक्रियवैक्रियमिश्रसहिताः सन्त एकादश 'देशे' देशविरते भवन्ति, अम्बडस्येव वैक्रियलब्धिमतो देशविरतस्य वैक्रियारम्भसम्भवादिति ॥ ४६ ॥

साहारदुग पमत्ते, ते विउवाहारमीस विणु इयरे ।
कम्मुरलदुगंताइममणवयण सजोगि न अजोगी ॥ ४७ ॥

पूर्वोक्ता एवैकादश योगाश्चतुर्विधमनोयोगचतुर्विधवाग्योगौदारिकवैक्रियद्विकलक्षणाः 'साहारकद्विकाः' आहारकाहारकमिश्रसहिताः सन्तस्त्रयोदश योगाः प्रमत्ते भवन्ति। औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगाभावस्तु पूर्वोक्तयुक्तेरेवावसेय इति। त एव पूर्वोक्तास्त्रयोदश योगा वैक्रियमिश्राहारकमिश्रं विना एकादश 'इतरस्मिन्' अप्रमत्तगुणस्थानके भवन्ति। तथाहि--चतुर्विधमनोयोगचतुर्विधवाग्योगौदारिकवैक्रियाहारकलक्षणा एकादश योगा अप्रमत्ते। यत्तु वैक्रियमिश्रमाहारकमिश्रं च तन्न सम्भवति, तद् वैक्रियस्याहारकस्य च प्रारम्भकाले भवति, तदानीं च लब्ध्युपजीवनादिनौत्सुक्यभावतः प्रमादभावः सम्भवतीति। तथौदारिकमिश्रमपर्याप्तावस्थायाम्, कार्मणं त्वपान्तरालगतौ। यद्वा उभे अपि केवलिसमुद्घातावस्थायाम्, ततस्ते अप्यत्र गुणस्थानके न सम्भवत इति। तथा

---

१ ०कमिश्रवै० क० ग० घ० ॥ २ ० मादिका० क० ग० घ० ङ० ॥

कार्मणम् 'औदारिकद्विकम्' औदारिकौदारिकमिश्रलक्षणम् अन्त्यादिममनसी–सत्यासत्यमृषरूपौ मनोयोगौ अन्त्यादिमवचने–सत्यासत्यामृषलक्षणौ वाग्योगौ चेति सप्त योगाः सयोगिकेवलिनो भवन्ति, कार्मणौदारिकमिश्रे तु समुद्घातावस्थायामिति। 'न' नैव पञ्चदशयोगमध्यादेकेनापि योगेन युक्तः 'अयोगी' अयोगिकेवली भवति, योगाभावनिबन्धनत्वादयोगित्वावस्थाया इति ॥४७॥

उक्ता गुणस्थानकेषु योगाः। अधुनैतेष्वेवोपयोगानभिधातुकाम आह–

तिअनाण दुदंसाइमदुगे अजइ देसि नाणदंसतिगं।
ते मीसि मीस समणा, जयाइ केवलिदुगंतदुगे ॥ ४८ ॥

'आदिमद्विके' मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणप्रथमद्वितीयगुणस्थानकद्वय इत्यर्थः। "तिअनाण दुदंस" त्ति त्रयाणामज्ञानानां समाहारस्त्र्यज्ञानं–मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानरूपं, दर्शनं दर्शो द्वयोर्दर्शयोः समाहारो द्विदर्शं–चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनरूपमित्येते पञ्चोपयोगा मिथ्यादृष्टिसासादनयोर्भवन्ति, न शेषाः, सम्यक्त्वविरत्यभावात्। तथा 'अयते' अविरतसम्यग्दृष्टौ 'देशे' देशविरते षडुपयोगा भवन्ति। तथाहि–"नाणदंसतिगं" ति त्रिकशब्दस्य प्रत्येयमभिसम्बन्धाद् ज्ञानत्रिकं–मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानरूपं दर्शत्रिकं–चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनलक्षणमिति, न शेषाः, सर्वविरत्यभावात्। 'ते' पूर्वोक्ता ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपाः षडुपयोगाः 'मिश्रे' सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके 'मिश्राः' अज्ञानसहिता द्रष्टव्याः तस्योभयदृष्टिपातित्वात्, केवलं कदाचि[1]त् सम्यक्त्वबाहुल्यतो ज्ञानबाहुल्यम्, कदाचिच्च मिथ्यात्वबाहुल्यतोऽज्ञानबाहुल्यम्, समकक्षतायां तूभयांशसमतेति। अस्मिंश्च गुणस्थानके यद् अवधिदर्शनमुक्तं तत् सैद्धान्तिकमतापेक्षया द्रष्टव्यमित्युक्तं प्राक्। "समणा जयाइ" त्ति "यमूं उपरमे" यमनं यतं–सर्वसावद्यविरतं तद् विद्यते यस्य स यतः–"अभ्रादिभ्यः" (सि० ७–२–४६) इत्यप्रत्ययः प्रमत्तगुणस्थानकवर्ती साधुः, यत आदिर्येषां गुणस्थानकानां तानि यतादीनि–प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहलक्षणानि सप्त गुणस्थानकानि तेषु पूर्वोक्ता ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकाख्याः षडुपयोगाः "समण" त्ति मनःपर्यायज्ञानसहिताः सप्त भवन्तीति, न शेषाः, मिथ्यात्वघातिकर्मक्षयाभावात्। 'केवलद्विकं' केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणोपयोगद्वयरूपम् 'अन्तद्विके' सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणचरमगुणस्थानकद्वये भवति, न शेषा दश ज्ञानदर्शनलक्षणाः, तदुच्छेदेनैव केवलज्ञानकेवलदर्शनोत्पत्तेः, "[2]नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" (आ० नि० गा० ५३९) इति वचनात् ॥ ४८ ॥ तदेवमभिहिता गुणस्थानकेषूपयोगाः। साम्प्रतं यदिह प्रकरणे सूत्राभिमतमपि कार्मग्रन्थिकाभिप्रायानुसरणतो नाधिकृतं तद्दर्शयन्नाह––

---

१ ०त् कस्याचित् सम्य० क० ग० घ० ॥ २ नष्टे तु छाद्मस्थिके ज्ञाने ॥

सासणभावे नाणं, विउव्वगाहारगे उरलमिस्सं।
नेगिंदिसु सासाणो, नेहाहिगयं सुयमयं पि॥ ४९॥

'सासादनभावे'सास्वादनसम्यग्दृष्टित्वे सति ज्ञानं भवति नाज्ञानमिति 'श्रुतमतमपि' सिद्धान्तसम्मतमपि, तथाहि–

[1]बेइंदिया णं भंते! किं नाणी अन्नाणी? गोयमा! नाणी वि अन्नाणी वि। जे नाणी ते नियमा दुनाणी, आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी। जे अन्नाणी ते वि नियमा दुअन्नाणी, तं जहा--मइअन्नाणी सुयअन्नाणी। (भ० श० ८ उ० पत्र ३४३–२)

इत्यादिसूत्रे द्वीन्द्रियादीनां ज्ञानित्वमभिहितं तच्च सास्वादनापेक्षयैव, न शेषसम्यक्त्वापेक्षया, असम्भवात्। उक्तं च **प्रज्ञापनाटीकायाम्**---

[2]बेइंदियस्स दो नाणा कहं लब्भंति? भण्णइ--सासायणं पडुच्च तस्सापज्जत्तयस्स दो नाणा लब्भंति इति।

ततः सासादनभावेऽपि ज्ञानं सूत्रसम्मतमेव। तच्चेत्थं सूत्रसम्मतमपि नेह प्रकरणेऽधिकृतम्, किन्त्वज्ञानमेव, **कर्मग्रन्था**भिप्रायस्यानुसरणात्। तदभिप्रायश्चायम्-सास्वादनस्य मिथ्यात्वाभिमुखतया तत्सम्यक्त्वस्य मलीमसत्वेन तन्निबन्धनस्य ज्ञानस्यापि मलीमसत्वादज्ञानरूपतेति।

तथा सूत्रे वैक्रिये आहारके चारभ्यमाणे तेन प्रारभ्यमाणेन सहौदारिकस्यापि मिश्रीभवनाद् औदारिकमिश्रमुक्तमिति। तथा चाह **प्रज्ञापनाटीकाकारः**—

यदा पुनरौदारिकशरीरी वैक्रियलब्धिसम्पन्नो मनुष्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिको वा पर्याप्तबादरवायुकायिको वा वैक्रियं करोति तदौदारिकशरीरयोग एव वर्तमानः प्रदेशान् विक्षिप्य वैक्रियशरीरयोग्यान् पुद्गलानादाय यावद् वैक्रियशरीरपर्याप्त्या पर्याप्तिं न गच्छति तावद् वैक्रियेण मिश्रता, व्यपदेशश्च औदारिकस्य प्रधानत्वात् (पद १६ पत्र ३१९–१)।

एवमाहारकेणापि सह मिश्रता द्रष्टव्या, आहारयति चैतेनैवेति तस्यैव व्यपदेश इति। परित्यागकाले वैक्रियस्याहारकस्य च यथाक्रमं वैक्रियमिश्रमाहारकमिश्रं च। उक्तं च **श्रीप्रज्ञापनाटीकायाम्**–

[यदा] आहारकशरीरी भूत्वा कृतकार्यः ? पुनरप्यौदारिकं गृह्णाति तदाऽऽहारकस्य प्रधानत्वा-

१ द्वीन्द्रिया भदन्त ? किं ज्ञानिनोऽज्ञानिनः ? गौतम ! ज्ञानिनोऽप्यज्ञानिनोऽपि। ये ज्ञानिनस्ते नियमाद्द्विज्ञानिनः, आभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनः। येऽज्ञानिनस्तेऽपि नियमाद् द्व्यज्ञानिनः, तद्यथा--मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनः॥ २ द्वीन्द्रियस्य द्वे ज्ञाने कथं लभ्येते ? भण्यते-सास्वादनं प्रतीत्य तस्यापर्याप्तकस्य द्वे ज्ञाने लभ्येते॥

दौदारिकप्रदेशं प्रति व्यापाराभावान्न परित्यजति यावत् सर्वथैवाहारकं तावदौदारिकेण मिश्रतेति आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोग इति।

तच्चैवं वैक्रियाहारकारम्भकाले औदारिकमिश्रं सूत्रेऽभिहितमपि नेह प्रकरणेऽधिकृतं **कार्मग्रन्थिकैः**, गुणविशेषप्रत्ययसमुत्थलब्धिविशेषकारणतया प्रारम्भकाले परित्यागकाले च वैक्रियस्याहारकस्य च प्राधान्यविवक्षणेन वैक्रियमिश्रस्याऽऽहारकमिश्रस्य चैवाभिधानात्, तदभिप्रायस्य चेहानुसरणात्। तथा नैकेन्द्रियेषु "सासाणो" त्ति भावप्रधानोऽयं निर्देशः, सासादनभावः सूत्रे मतः, अन्यथा द्वीन्द्रियादीनामिवैकेन्द्रियाणामपि ज्ञानित्वमुच्येत, न चोच्यते, किं तु विशेषतः प्रतिषिध्यते। तथाहि—

[1]एगिंदिया णं भंते! किं नाणी अन्नाणी? गोयमा! नो नाणी नियमा अन्नाणी (भ० श० ८ उ० २ पत्र ३४५-२) इति।

स चेत्थं सासादनभावप्रतिषेधः सूत्रे मतोऽपि केनचित् कारणेन **कार्मग्रन्थिकैर्नाभ्युपगम्यत** इतीहापि प्रकरणे नाधिक्रियते, तदभिप्रायस्यैवेह प्रायोऽनुसरणादिति। "नेहाहिगयं सुयमयं पि" इत्येतद् विभक्तिपरिणामेन प्रतिपदं सम्बन्धनीयम्, तथैव सम्बन्धितमिति॥ ४९॥

अधुना गुणस्थानकेष्वेव लेश्या अभिधित्सुराह—

छसु सव्वा तेउतिगं, इगि छसु सुक्का अजोगि अल्लेसा।
बंधस्स मिच्छअविरइकसायजोग त्ति चउ हेऊ॥ ५०॥

'षट्सु' मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्राविरतदेशविरतप्रमत्तलक्षणेषु गुणस्थानकेषु 'सर्वाः' षडपि कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्ललेश्या भवन्ति। "तेउतिगं इगि" त्ति 'एकस्मिन्' अप्रमत्तगुणस्थानके 'तेजस्त्रिकं' तेजःपद्मशुक्ललेश्यात्रयं भवति, न पुनराद्यं लेश्यात्रयमित्यर्थाल्लब्धम्। 'षट्सु' अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणेषु गुणस्थानकेषु शुक्ललेश्या भवति न शेषाः पञ्च। 'अयोगिनः' अयोगिकेवलिनः 'अलेश्याः' अपगतलेश्याः। इह लेश्यानां प्रत्येकमसङ्ख्येयानि लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि, ततो मन्दाध्यवसायस्थानापेक्षया शुक्ललेश्यादीनामपि मिथ्यादृष्ट्यादौ कृष्णलेश्यादीनामपि प्रमत्तगुणस्थानकेऽपि सम्भवो न विरुध्यत इति॥

तदेवमुक्ता गुणस्थानकेषु लेश्याः। सम्प्रति बन्धहेतवो वक्तुमवसरप्राप्ताः, ते च मूलभेदतश्चत्वार उत्तरभेदतश्च सप्तपञ्चाशत्, तानुभयथाऽपि प्रचिकटयिषुराह—"बंधस्स मिच्छ" इत्यादि,

---

१ एकेन्द्रिया भदन्त! किं ज्ञानिनोऽज्ञानिनः? गौतम! नो ज्ञानिनो नियमादज्ञानिनः॥

'बन्धस्य' ज्ञानावरणादिकर्मबन्धस्य मूलहेतवश्चत्वारः 'इति' अमुना प्रकारेण भवन्ति। केन प्रकारेण? इत्याह–'मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः' तत्र मिथ्यात्वं–विपरीतावबोधस्वभावम्, अविरतिः–सावद्ययोगेभ्यो निवृत्त्यभावः, कषाययोगाः–प्राग्निरूपितशब्दार्थाः।

नन्वन्यत्र प्रमादोऽपि बन्धहेतुरभिधीयते, यदवादि–

मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः। (तत्त्वा० अ० ८ सू० १)

इति स कथमिह नोक्तः? उच्यते–मद्यविषयरूपस्य तस्याविरतावेवान्तर्भावो विवक्षितः। कषायाश्च पृथगेवोक्ताः, चैक्रियारम्भादिसम्भवी तु योगग्रहणेनैव गृहीत इत्यदोष इति ॥ ५० ॥

उक्ताश्चत्वारो मूलहेतवः। इदानीमुत्तरभेदान् प्रचिकटयिषुः प्रथमं मिथ्यात्वस्याविरतेश्चोत्तरभेदानाह–

अभिगहियमणभिगहियाऽऽभिनिवेसिय संसइयमणाभोगं।
पण मिच्छ बार अविरइ, मणकरणानियमु छजियवहो॥ ५१॥

अभिग्रहेण–इदमेव दर्शनं शोभनं नान्यद् इत्येवंरूपेण कुदर्शनविषयेण निर्वृत्तमाभिग्रहिकम् यद्वशाद् बोटिकादिकुदर्शनानामन्यतमं गृह्णाति। तद्विपरीतमनाभिग्रहिकम्, यद्वशात् सर्वाण्यपि दर्शनानि शोभनानीत्येवमीषन्माध्यस्थ्यमुपजायते। 'आभिनिवेशिकं' यद् अभिनिवेशेन निर्वृत्तम्, यथा गोष्ठामाहिलादीनाम्। 'सांशयिकं' यत् संशयेन निर्वृत्तम्, यद्वशाद् भगवदर्हदुपदिष्टेष्वपि जीवाजीवादितत्त्वेषु संशय उपजायते, यथा–न जाने किमिदं भगवदुक्तं धर्मास्तिकायादि सत्यम्? उतान्यथा? इति। 'अनाभोगं' यद् अनाभोगेन निर्वृत्तम्, तच्चैकेन्द्रियादीनामिति। "पण मिच्छ" त्ति पञ्चप्रकारं मिथ्यात्वं भवतीति। द्वादशप्रकाराऽविरतिः, कथम्? इत्याह–मनः–स्वान्तं, करणानि–इन्द्रियाणि पञ्च तेषां स्वस्वविषये प्रवर्तमानानामनियमः–अनियन्त्रणम्, तथा षण्णां–पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसरूपाणां जीवानां वधः–हिंसेति ॥ ५१ ॥

अभिहिता मिथ्यात्वाविरत्युत्तरबन्धहेतवः। सम्प्रति कषाययोगोत्तरबन्धहेतूनाह–

नव सोल कसाया पनर जोग इय उत्तरा उ सगवन्ना।
इगचउपणतिगुणेसु, चउतिदुइगपच्चओ बंधो ॥ ५२॥

स्त्रीवेदपुरुषवेदनपुंसकवेदहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सारूपा नव नोकषायाः, ते च कषायसहचरितत्वाद् उपचारेणेह कषाया इत्युक्ताः। 'षोडश कषायाः, अनन्तानुबन्धिक्रोधादयः। नोकषायकषायस्वरूपं च सविस्तरं स्वोपज्ञकर्मविपाकटीकायां निरूपितमिति तत एवावधारणीयम्। 'पञ्चदश योगाः' अत्रैव व्याख्यातस्वरूपाः। 'इति' अमुना प्रदर्शितप्रकारेण पञ्चद्वादशपञ्चविंशतिपञ्चदशलक्षणेन सप्तपञ्चाशत् पुनरुत्तरभेदा बन्धस्य भवन्तीति।

प्रदर्शिता बन्धस्य मूलहेतवश्चत्वार उत्तरे सप्तपञ्चाशत्सङ्ख्याः। अधुना बन्धस्य मूलहेतून् गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह-"इगचउपणतिगुणेसु" इत्यादि। इहेवं पदघटना-'एकस्मिन्' मिथ्यादृष्टिलक्षणे गुणस्थानके चत्वारः-मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्ययाः-हेतवो यस्य स चतुःप्रत्ययो बन्धो भवति। अयमर्थः-मिथ्यात्वादिभिश्चतुर्भिः प्रत्ययैर्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकवर्ती जन्तुर्ज्ञानावरणादिकर्म बध्नाति। तथा 'चतुर्षु' गुणस्थानकेषु सास्वादनमिश्राविरतदेशविरतलक्षणेषु त्रयः--मिथ्यात्वविवर्जिता अविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्यया यस्य स त्रिप्रत्ययो बन्धो भवतीति। अयमर्थः-सास्वादनादयश्चत्वारो मिथ्यात्वोदयाभावात् तद्वर्जैस्त्रिभिः प्रत्ययैः कर्म बध्नन्ति। देशविरतगुणस्थानके यद्यपि देशतः स्थूलप्राणातिपातविषया विरतिरस्ति तथापि साऽल्पत्वाद् नेह विवक्षिता, विरतिशब्देन इह सर्वविरतेरेव विवक्षितत्वादिति। तथा 'पञ्चसु' गुणस्थानकेषु प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायलक्षणेषु द्वौ प्रत्ययौ- कषाययोगाभिख्यौ यस्य स द्विप्रत्ययो बन्धो भवति। इदमुक्तं भवति-मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययद्वयस्य एतेष्वभावात् शेषेण कषाययोगप्रत्ययद्वयेनाऽमी प्रमत्तादयः कर्म बध्नन्तीति। तथा 'त्रिषु' उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणेषु गुणस्थानकेषु एक एव मिथ्यात्वाविरतिकषायाभावाद् योगलक्षणः प्रत्ययो यस्य स एकप्रत्ययो भवति। अयोगिकेवली भगवान् सर्वथाऽप्यबन्धक इति॥५२॥ भाविता मूलबन्धहेतवो गुणस्थानकेषु। सम्प्रत्येतानेव मूलबन्धहेतून् विनेयवर्गानुग्रहार्थमुत्तरप्रकृतीराश्रित्य चिन्तयन्नाह—

चउमिच्छमिच्छअविरइपच्चइया सायसोलपणतीसा।
जोग विणु तिपच्चइयाऽऽहारगजिणवज्ज सेसाओ॥५३॥

प्रत्ययशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् चतुःप्रत्ययिका सातलक्षणा प्रकृतिः। मिथ्यात्वप्रत्ययिकाः षोडश प्रकृतयः। मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययिकाः पञ्चत्रिंशत् प्रकृतयः। योगं विना 'त्रिप्रत्ययिकाः' मिथ्यात्वाविरतिकषायप्रत्ययिका आहारकद्विकजिनवर्जाः शेषाः प्रकृतय इति गाथाक्षरार्थः। भावार्थः पुनरयम्--सातलक्षणा प्रकृतिश्चत्वारः प्रत्यया मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा यस्याः सा चतुःप्रत्ययिका, "अतोऽनेकस्वराद्" (सि० ७-२-६) इतीकप्रत्ययः, मिथ्यात्वादिभिश्चतुर्भिरपि प्रत्ययैः सातं बध्यत इत्यर्थः। तथाहि—सातं मिथ्यादृष्टौ बध्यत इति मिथ्यात्वप्रत्ययम्, शेषा अप्यविरत्यादयस्त्रयः प्रत्ययाः सन्ति, केवलं मिथ्यात्वस्य एवेह प्राधान्येन विवक्षितत्वात् ते तदन्तर्गतत्वेनैव विवक्षिताः, एवमुत्तरत्रापि। तदेव मिथ्यात्वाभावेऽप्यविरतिमत्सु सास्वादनादिषु बध्यत इत्यविरतिप्रत्ययम्। तदेव कषाययोगवत्सु प्रमत्तादिषु सूक्ष्मसम्परायावसानेषु बध्यत इति कषायप्रत्ययम्, योगप्रत्ययस्तु पूर्ववत् तदन्तर्गतो विवक्ष्यते। तदेवोपशान्तादिषु

केवलयोगवत्सु मिथ्यात्वाविरतिकषायाभावेऽपि बध्यत इति योगप्रत्ययमिति । एवं सातलक्षणा प्रकृतिश्चतुःप्रत्ययिका । तथा मिथ्यात्वप्रत्ययिकाः षोडश प्रकृतयः । इह यासां **कर्मस्तवे**– "नरयतिग ३ जाइ ४ थावरचउ ४हुंडा१ऽऽयव १ छिवट्ठ १ नपु १ मिच्छं १। सोलंतो" (गा० ४) इति गाथावयवेन नरकत्रिकादिषोडशप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टावन्त उक्तस्ता मिथ्यात्वप्रत्ययाः भवन्तीत्यर्थः । तद्भावे बध्यन्ते तदभावे तूत्तरत्र सास्वादनादिषु न बध्यन्त इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां मिथ्यात्वमेवासां प्रधानं कारणम् , शेषप्रत्ययत्रयं तु गौणमिति। तथा मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययिकाः पञ्चत्रिंशत् प्रकृतयः, तथाहि–"सासणि तिरि ३ थीण ३ दुहग ३ तिगं ॥ अण ४ मज्झागिइ ४ संघयणचउ ४ नि १ उज्जोय १ कुखगइ १ त्थि १ त्ति । " (कर्मस्तव गा० ४–५) इति सूत्रावयवेन तिर्यक्त्रिकप्रभृतिपञ्चविंशतिप्रकृतीनां सास्वादने बन्धव्यवच्छेद उक्तः, तथा–'वइर १ नरतिय ३ बियकसाया ४ । उरलदुगंतो २" (कर्मस्त० गा० ६) इति सूत्रावयवेन वज्रर्षभनाराचादीनां दशानां प्रकृतीनां देशविरते बन्धव्यवच्छेद उक्तः, एवं च पञ्चविंशतेर्दशानां च मीलने पञ्चत्रिंशत् प्रकृतयो मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययिका एताः,शेषप्रत्ययद्वयं तु गौणम् , तद्भावेऽप्युत्तरत्र तद्बन्धाभावादिति भावः । भणितशेषा आहारकद्विकतीर्थकरनामवर्जाः सर्वा अपि प्रकृतयो योगवर्जत्रिप्रत्ययिका भवन्ति, मिथ्यादृष्ट्यविरतेषु सकषायेषु च सर्वेषु सूक्ष्मसम्परायावसानेषु यथासम्भवं बध्यन्त इति मिथ्यात्वाविरतिकषायलक्षणप्रत्ययत्रयनिबन्धना भवन्तीत्यर्थः । उपशान्तमोहादिषु केवलयोगवत्सु योगसद्भावेऽप्येतासां बन्धो नास्तीति योगप्रत्ययवर्जनम् , अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यत्वात् कार्यकारणभावस्येति हृदयम् । आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणाहारकद्विकतीर्थकरनाम्नोस्तु प्रत्ययः "[1]सम्मत्तगुणनिमित्तं, तित्थयरं संजमेण आहारं ।" (बृहच्छत० गा० ४५) इति वचनात् संयमः सम्यक्त्वं चाभिहित इतीह तद्वर्जनमिति ॥५३॥

उक्तं प्रासङ्गिकम् । इदानीमुत्तरबन्धभेदान् गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह–––

पणपन्न पन्न तियछहिय चत्त गुणचत्त छचउदुगवीसा ।
सोलस दस नव नव सत्त हेउणो न उ अजोगिम्मि ॥ ५४ ॥

मिथ्यादृष्टौ पञ्चपञ्चाशद् बन्धहेतवः १ । सासादने पञ्चाशद् बन्धहेतवः २ । चत्तशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् त्र्यधिकचत्वारिंशदित्यर्थः, बन्धहेतवो मिश्रगुणस्थानके ३ । षडधिकचत्वारिंशद् बन्धहेतवोऽविरतिगुणस्थानके ४ । एकोनचत्वारिंशद् बन्धहेतवो देशविरतगुणस्थानके ५ । विंशतिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् षड्विंशतिर्बन्धहेतवः प्रमत्तगुणस्थाने ६ । चतुर्विंशतिर्बन्धहेतवोऽप्रमत्तगुणस्थानके ७ । द्वाविंशतिर्बन्धहेतवोऽपूर्वकरणे ८ । षोडश बन्धहेतवोऽनिवृत्तिबादरे

---

१ सम्यक्त्वगुणनिमित्तं तीर्थकरं संयमेनाहारकम् ॥

९ । दश बन्धहेतवः सूक्ष्मसम्पराये १० । नव बन्धहेतव उपशान्तमोहे ११ । नव बन्धहेतवः क्षीणमोहे १२ । सप्त बन्धहेतवः सयोगिकेवलिगुणस्थाने १३ । 'न तु' नैवायोगिन्येकोऽपि बन्धहेतुरस्ति, बन्धाभावादेवेति ॥५४ ॥ अथामूनेव बन्धहेतून् भावयन्नाह--

पणपन्न मिच्छि हारगदुगूण सासाणि पन्न मिच्छ विणा ।
मिस्सदुगकम्मअण विणु तिचत्त मीसे अह छचत्ता ॥ ५५ ॥

मिथ्यादृष्टौ आहारकाहारकमिश्रलक्षणद्विकोनाः पञ्चपञ्चाशद् बन्धहेतवो भवन्ति, आहारकद्विकवर्जनं तु "संयमवतां तदुदयो नान्यस्य" इति वचनात् । सास्वादने मिथ्यात्वपञ्चकेन विना पञ्चाशद् बन्धहेतवो भवन्ति, पूर्वोक्तायाः पञ्चपञ्चाशतो मिथ्यात्वपञ्चकेऽपनीते पञ्चाशद् बन्धहेतवः सासादने द्रष्टव्याः । मिश्रे त्रिचत्वारिंशद् बन्धहेतवो भवन्ति, कथम् ? इत्याह-'मिश्रद्विकम्' औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षणं "कम्म" त्ति कार्मणशरीरं "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनस्तैर्विना । इयमत्र भावना-"न सम्ममिच्छो कुणइ कालं" इति वचनात् सम्यग्मिथ्यादृष्टेः परलोकगमनाभावाद् औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रद्विकं कार्मणं च न सम्भवति, अनन्तानुबन्ध्युदयस्य चास्य निषिद्धत्वाद् अनन्तानुबन्धिचतुष्टयं च नास्ति, अत एतेषु सप्तसु पूर्वोक्तायाः पञ्चाशतोऽपनीतेषु शेषास्त्रिचत्वारिंशद् बन्धहेतवो मिश्रे भवन्ति । 'अथ' अनन्तरं षट्चत्वारिंशद् बन्धहेतवो भवन्ति ॥ ५५ ॥

सदुमिस्सकम्म अजए, अविरइकम्मुरलमीसबिकसाए ।
मुत्तु गुणचत्त देसे, छवीस साहारदु पमत्ते ॥ ५६ ॥

क्व ? इत्याह-'अयते' अविरते, कथम् ? इत्याह-"सदुमिस्सकम्म" त्ति द्वयोर्मिश्रयोः समाहारो द्विमिश्रम्, द्विमिश्रं च कार्मणं च द्विमिश्रकार्मणम्, सह द्विमिश्रकार्मणेन वर्तते या त्रिचत्वारिंशत् । इयमत्र भावना-अविरतसम्यग्दृष्टेः परलोकगमनसम्भवात् पूर्वापनीतमौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षणं द्विकं कार्मणं च पूर्वोक्तायां त्रिचत्वारिंशति पुनः प्रक्षिप्यते ततोऽविरते षट्चत्वारिंशद् बन्धहेतवो भवन्ति । तथा 'देशे' देशविरते एकोनचत्वारिंशद् बन्धहेतवो भवन्ति, कथम् ? इत्याह-अविरतिः--त्रसासंयमरूपा कार्मणम् औदारिकमिश्रं द्वितीयकषायान्--अप्रत्याख्यानावरणान् मुक्त्वा शेषा एकोनचत्वारिंशदिति । अत्रायमाशयः--विग्रहगतावपर्याप्तकावस्थायां च देशविरतेरभावात् कार्मणौदारिकमिश्रद्वयं न सम्भवति, त्रसासंयमाद् विरतत्वात् त्रसाविरतिर्न जाघटीति ।

ननु त्रसासंयमात् सङ्कल्पजाद् एवासौ विरतो न त्वारम्भजादपि तत् कथमसौ त्रसाविरतिः सर्वाऽप्यपनीयते ?, सत्यम्, किन्तु गृहिणामशक्यपरिहारत्वेन सत्यप्यारम्भजा त्रसाविरतिर्न विव-

क्षितेत्यदोषः। एतच्च बृहच्छतकबृहच्चूर्णिमनुसृत्य लिखितमिति न स्वमनीषिका परिभावनीया। तथाऽप्रत्याख्यानावरणोदयस्याऽस्य निषिद्धत्वाद् इत्यप्रत्याख्यानावरणचतुष्टयं न षष्ठं प्राश्नुति। तत एते सप्त पूर्वोक्तायाः षट्चत्वारिंशतोऽपनीयन्ते तत एकोनचत्वारिंशद् बन्धहेतवः शेषा देशविरते भवन्ति। तथा षड्विंशतिर्बन्धहेतवः प्रमत्ते भवन्ति। "साहारदु" त्ति सह आहारद्विकेन—आहारकाहारकमिश्रलक्षणेन वर्तत इति साहारकद्विका॥ ५६॥

अविरइ इगार तिकसायवज्ज अपमत्ति मीसदुगरहिया।
चउवीस अपुव्वे पुण, दुवीस अविउव्वियाहारा॥५७॥

त्रसाविरतेर्देशविरतेऽपनयनात् शेषा एकादशाविरतय इह गृह्यन्ते, तृतीयाः कषायास्त्रिकषायाः-प्रत्याख्यानावरणास्तद्वर्जाः-तद्विरहिता साहारकद्विका च सैव एकोनचत्वारिंशत् षड्विंशतिर्भवति। इदमत्र हृदयम्—प्रमत्तगुणस्थान एकादशधा अविरतिः प्रत्याख्यानावरणचतुष्टयं च न सम्भवति, आहारकद्विकं च सम्भवति, ततः पूर्वोक्ताया एकोनचत्वारिंशतः पञ्चदशकेऽपनीते द्विके च तत्र प्रक्षिप्ते षड्विंशतिर्बन्धहेतवः प्रमत्ते भवन्तीति। तथा अप्रमत्तस्य लब्ध्यनुपजीवनेनाऽऽहारकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षणमिश्रद्विकरहिता सैव षड्विंशतिश्चतुर्विंशतिर्बन्धहेतवोऽप्रमत्ते भवन्ति। 'अपूर्वे' अपूर्वकरणे पुनः सैव चतुर्विंशतिर्वैक्रियाहारकरहिता द्वाविंशतिर्बन्धहेतवो भवन्तीति॥ ५७॥

अछहास सोल बायरि, सुहुमे दस वेयसंजलणति विणा।
खीणुवसंति अलोभा, सजोगि पुव्वुत्त सग जोगा॥ ५८॥

एते च पूर्वोक्ता द्वाविंशतिर्बन्धहेतवः 'अछहासाः' हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणहास्यषट्करहिताः षोडश बन्धहेतवः "बायरि" त्ति अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके भवन्ति, हास्यादिषट्कस्यापूर्वकरणगुणस्थानक एव व्यवच्छिन्नत्वादिति भावः। तथा त एव षोडश त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् वेदत्रिकं-स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणं सञ्ज्वलनत्रिकं-सञ्ज्वलनक्रोधमानमायारूपं तेन विना दश बन्धहेतवः सूक्ष्मसम्पराये भवन्ति, वेदत्रयस्य सञ्ज्वलनक्रोधमानमायात्रिकस्य चानिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानक एव व्यवच्छिन्नत्वात्। त एव दश 'अलोभाः' लोभरहिताः सन्तो नव बन्धहेतवः क्षीणमोहे उपशान्तमोहे च भवन्ति, मनोयोगचतुष्कवाग्योगचतुष्कौदारिककाययोगलक्षणा नव बन्धहेतव उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च प्राप्यन्ते, न तु लोभः, तस्य सूक्ष्मसम्पराय एव व्यवच्छिन्नत्वात्। सयोगिकेवलिनि पूर्वोक्ताः सप्त योगाः, तथाहि—औदारिकमौदारिकमिश्रं कार्मणं प्रथमान्तिमौ मनोयोगौ प्रथमान्तिमौ वाग्योगौ चेति। तत्रौदारिकं

सयोग्यवस्थायाम् औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगौ [1]समुद्घातावस्थायामेव वेदितव्यौ ।

मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ।। (प्रशम० का० २७६)

कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च । (प्रशम० का० २७७) इति

प्रथमान्तिममनोयोगौ भगवतोऽनुत्तरसुरादिभिर्मनसा पृष्टस्य मनसैव देशनात् , प्रथमान्तिमवाग्योगौ तु देशनादिकाले । अयोगिकेवलिनि न कश्चिद् बन्धहेतुः, योगस्यापि व्यवच्छिन्नत्वात् ।। ५८ ॥ उक्ता गुणस्थानकेषु बन्धहेतवः । सम्प्रति गुणस्थानकेष्वेव बन्धं निरूपयन्नाह–

अपमत्तंता सत्तट्ठ मीसअप्पुव्वबायरा सत्त ।
बंधइ छ स्सुहुमो एगमुवरिमाऽबंधगाऽजोगी ।। ५९ ॥

मिथ्यादृष्टिप्रभृतयोऽप्रमत्तान्ताः सप्ताष्टौ वा कर्माणि बध्नन्ति, आयुर्बन्धकालेऽष्टौ शेषकालं तु सप्त । "मीसअप्पुव्वबायरा" इति मिश्रापूर्वकरणानिवृत्तिबादराः सप्तैव बध्नन्ति, तेषामायुर्बन्धाभावात् । तत्र मिश्रस्य तथास्वाभाव्याद् , इतरयोः पुनरतिविशुद्धत्वाद् , आयुर्बन्धस्य च घोलनापरिणामनिबन्धनत्वात् । "छ स्सुहुम" त्ति सूक्ष्मसम्परायो मोहनीयायुर्वर्जानि षट् कर्माणि बध्नाति, मोहनीयबन्धस्य बादरकषायोदयनिमित्तत्वात् , तस्य च तदभावात् , आयुर्बन्धाभावस्त्वतिविशुद्धत्वादवसेयः । "एगमुवरिम" त्ति 'एकं' सातवेदनीयं कर्म 'उपरितनाः' सूक्ष्मसम्परायाद् उपरिष्टाद्वर्तिन उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिनो बध्नन्ति, न शेषकर्माणि, तद्बन्धहेतुत्वाभावात् । 'अबन्धकः' सर्वकर्मप्रपञ्चबन्धरहितः 'अयोगी' चरमगुणस्थानकवर्ती' सर्वबन्धहेतुत्वाभावादिति ।। ५९ ।। उक्ता गुणस्थानकेषु बन्धस्थानयोजना साम्प्रतं गुणस्थानकेष्वेवोदयसत्तास्थानयोजनां निरूपयन्नाह—

आसुहुमं संतुदए, अट्ठ वि मोह विणु सत्त खीणम्मि ।
चउ चरिमदुगे अट्ठ उ, संते उवसंति सत्तुदए ।। ६० ।।

सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकमभिव्याप्य सत्तायामुदये चाष्टावपि कर्मप्रकृतयो भवन्ति । अयमर्थः—मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकमारभ्य सूक्ष्मसम्परायं यावत् सत्तायामुदये चाष्टावपि कर्माणि प्राप्यन्ते । 'मोहं विना' मोहनीयं वर्जयित्वा सप्त कर्मप्रकृतयो भवन्ति 'क्षीणे' क्षीणमोहगुणस्थानके, सत्तायामुदये च मोहनीयस्य क्षीणत्वात् । "चउ चरिमदुगे" त्ति 'चरमद्विके' सयोग्ययोगिकेवलिगुणस्थानद्वये सत्तायामुदये च चतस्रोऽघातिकर्मप्रकृतयो भवन्ति, तत्र घातिकर्मचतुष्टयस्य क्षीणत्वात् । "अट्ठ उ संते उवसंति सत्तुदए" त्ति तुशब्दस्य व्यवहितसम्बन्धाद्

१ सयोग्यवस्था० क० ख० ग० घ० ङ० ।।

उपशान्तमोहगुणस्थानके पुनरष्टावपि कर्मप्रकृतयः सत्तायां प्राप्यन्ते, सप्तोदये मोहनीयोदयाभावादिति भावः ॥६०॥

उक्ता सत्तोदयस्थानयोजना । साम्प्रतमुदीरणास्थानानि गुणस्थानकेषु निरूपयिषुराह—

उइरंति पमत्तंता, सगट्ठ मीसट्ठ वेयआउ विणा ।
छग अपमत्ताइ तओ, छ पंच सुहुमो पणुवसंतो ॥ ६१ ॥

मिथ्यादृष्टिप्रभृतयः प्रमत्तान्ता यावद् अद्याप्यनुभूयमानभवायुरावलिकाशेषं न भवति तावत् सर्वेऽप्यमी निरन्तरमष्टावपि कर्माण्युदीरयन्ति । आवलिकावशेषे पुनरनुभूयमाने भवायुषि सप्तैव, आवलिकावशेषस्य कर्मण उदीरणाया अभावात्, तथास्वाभाव्यात् । "मीसट्ठ" त्ति सम्यग्मिथ्यादृष्टिः पुनरष्टावेव कर्माण्युदीरयति, न तु कदाचनापि सप्त, सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके वर्तमानस्य सत आयुष आवलिकावशेषत्वाभावात् । स ह्यन्तर्मुहूर्तावशेषायुष्क एव तद्भावं परित्यज्य सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं वा नियमात् प्रतिपद्यत इति । 'अप्रमत्तादयस्त्रयः' अप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरलक्षणा 'वेद्यायुर्विना' वेदनीयायुषी अन्तरेण षट् कर्माणि उदीरयन्ति, तेषामतिविशुद्धतया वेदनीयायुषोरुदीरणायोग्याध्यवसायस्थानाभावात् । "छ पंच सुहुमो" त्ति ['सूक्ष्मः' सूक्ष्मसम्परायः षट् पञ्च वा कर्माण्युदीरयति ।] तत्र षड् अनन्तरोक्तानि, तानि च तावद् उदीरयति यावद् मोहनीयमावलिकावशेषं न भवति । आवलिकावशेषे च मोहनीये तस्याप्युदीरणाया अभावात् शेषाणि पञ्च कर्माण्युदीरयति । "पणुवसंतु" त्ति उपशान्तमोहः पञ्च कर्माण्युदीरयति न वेदनीयायुर्मोहनीयकर्माणि, तत्र वेदनीयायुषोः कारणं प्रागेवोक्तम्, मोहनीयं तूदयाभावाद् नोदीर्यते, "वेद्यमानमेवोदीर्यते" इति वचनादिति ॥ ६१ ॥

पण दो खीण दु जोगी णुदीरगु अजोगि थेव उवसंता ।
संखगुण खीण सुहुमा, नियट्टिअपुव्व सम अहिया ॥ ६२ ॥

क्षीणमोहोऽनन्तरोक्तानि पञ्च कर्माण्युदीरयति । तानि च तावद् उदीरयति यावद् ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाण्यावलिकाप्रविष्टानि न भवन्ति, आवलिकाप्रविष्टेषु तु तेषु तेषामप्युदीरणाया अभावात् । द्वे एव नामगोत्रलक्षणे कर्मणी उदीरयति । "दु जोगि" त्ति 'द्वे' कर्मणी नामगोत्राख्ये योगा नाम—मनोवाक्कायरूपा विद्यन्ते यस्य स योगी—सयोगिकेवली उदीरयति, न शेषाणि । घातिकर्मचतुष्टयं तु मूलत एव क्षीणमिति न तस्योदीरणासम्भवः, वेदनीयायुषोस्तूदीरणा पूर्वोक्तकारणादेव न भवति । "णुदीरगु अजोगि" त्ति अयोगिकेवली, न कस्यापि कर्मण उदीरकः, योगसव्यपेक्षत्वाद् उदीरणायाः, तस्य च योगाभावादिति ॥

उक्ता गुणस्थानकेषूदीरणास्थानयोजना। सम्प्रति गुणस्थानकेष्वेव वर्तमानानां जन्तूनामल्पत्व-बहुत्वमाह—"थेव उवसंत" त्ति स्तोकाः 'उपशान्ताः' उपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनो जीवाः, यतस्ते प्रतिपद्यमानका उत्कर्षतोऽपि चतुःपञ्चाशत्प्रमाणा एव प्राप्यन्त इति। तेभ्यः सकाशात् क्षीणमोहाः सङ्ख्येयगुणाः, यतस्ते प्रतिपद्यमानका एकस्मिन् समयेऽष्टोत्तरशतप्रमाणा अपि लभ्यन्ते। एतच्चोत्कृष्टपदापेक्षयोक्तम् अन्यथा कदाचिद् विपर्ययोऽपि द्रष्टव्यः—स्तोकाः क्षीणमोहाः, बहवस्तु तेभ्य उपशान्तमोहाः। तथा तेभ्यः क्षीणमोहेभ्यः सकाशात् सूक्ष्मसम्परायानिवृत्ति-बादरापूर्वकरणा विशेषाधिकाः। स्वस्थाने पुनरेते चिन्त्यमानास्त्रयोऽपि 'समाः' तुल्या इति ॥६२॥

जोगि अपमत्त इयरे, संखगुणा देससासणामीसा।
अविरय अजोगिमिच्छा, असंख चउरो दुवे णंता॥ ६३॥

तेभ्यः सूक्ष्मादिभ्यः सयोगिकेवलिनः सङ्ख्यातगुणाः, तेषां कोटीपृथक्त्वेन लभ्यमानत्वात्। तेभ्योऽप्रमत्ताः सङ्ख्येयगुणाः, कोटीसहस्रपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात्। तेभ्यः "इयरे" त्ति अ-प्रमत्तप्रतियोगिनः प्रमत्ताः सङ्ख्येयगुणाः। प्रमादभावो हि बहूनां बहुकालं च लभ्यते विपर्ययेण त्वप्रमाद इति न यथोक्तसङ्ख्याव्याघातः। "देस" इत्यादि देशविरतसास्वादनमिश्राविरतलक्षणा-श्चत्वारो यथोत्तरमसङ्ख्येयगुणाः। अयोगिमिथ्यादृष्टिलक्षणौ च द्वौ यथोत्तरमनन्तगुणौ। तत्र प्रमत्तेभ्यो देशविरता असङ्ख्येयगुणाः, तिरश्चामप्यसङ्ख्यातानां देशविरतिभावात्। सास्वादनास्तु कदाचित् सर्वथैव न भवन्ति, यदा भवन्ति तदा जघन्येनैको द्वौ वा, उत्कर्षतस्तु देशविरते-भ्योऽप्यसङ्ख्येयगुणाः। तेभ्योऽपि मिश्रा असङ्ख्येयगुणाः, सास्वादनाद्धाया उत्कर्षतोऽपि षडा-वलिकामात्रतया स्तोकत्वात्, मिश्राद्धायाः पुनरन्तर्मुहूर्तप्रमाणतया प्रभूतत्वात्। तेभ्योऽप्यसङ्ख्येय-गुणा अविरतसम्यग्दृष्टयः, तेषां गतिचतुष्टयेऽपि प्रभूततया सर्वकालसम्भवात्। तेभ्योऽप्य-योगिकेवलिनो भवस्थाभवस्थभेदभिन्ना अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात्। तेभ्योऽप्यनन्तगुणा मिथ्यादृष्टयः, साधारणवनस्पतीनां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् तेषां च मिथ्यादृष्टित्वादिति ॥६३॥

तदेवमभिहितं गुणस्थानवर्तिनां जीवानामल्पबहुत्वम्। इदानीं "नमिय जिणं जियमग्गण" (गा० १) इत्यादि द्वारगाथासूचितं भावद्वारं व्याचिख्यासुराह—

उवसमखयमीसोदयपरिणामा दु नव ठार इगवीसा।
तियभेय सन्निवाइय सम्मं चरणं पढम भावे॥ ६४॥

इह किल षड् भावा भवन्ति। विशिष्टहेतुभिः स्वतो वा जीवानां तत्तद्रूपतया भवनानि भवन्त्येभिरुपशमादिभिः पर्यायैरिति वा भावाः। किंनामानः पुनस्ते? इत्याह—"उवसमखय-मीसोदय" इत्यादि। अत्र सूचकत्वात् सूत्रस्यैवं प्रयोगः, "उवसम" त्ति औपशमिको भावः,

"खय" त्ति क्षायिको भावः, "मीस" त्ति क्षायोपशमिको भावः, "उदय" त्ति औदयिको भावः, "परिणाम" त्ति पारिणामिको भावः । तत्रोपशमनमुपशमः–विपाकप्रदेशरूपतया द्वि-विधस्याप्युदयस्य विष्कम्भणं स एव तेन वा निर्वृत्त औपशमिकः । क्षयः–कर्मणोऽत्यन्तोच्छेदः स एव तेन वा निर्वृत्तः क्षायिकः । क्षयश्च–समुदीर्णस्याभावः उपशमश्च–अनुदीर्णस्य विष्कम्भितोदयत्वं ताभ्यां निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः । उदयः–शुभाशुभप्रकृतीनां विपाकतोऽनुभवनं स एव तेन वा निर्वृत्त औदयिकः । परि–समन्ताद् नमनं–जीवानामजीवानां च जीवत्वादिस्व-रूपानुभवनं प्रति प्रह्वीभवनं परिणामः स एव तेन वा निर्वृत्तः पारिणामिकः । एतेषामेव यथा-सङ्ख्यं भेदानाह—"दु नव ठार इगवीसा तिय भेय" त्ति द्वौ भेदावौपशमिकस्य १ नव भेदाः क्षायिकस्य २ अष्टादश भेदाः क्षायोपशमिकस्य ३ एकविंशतिर्भेदा औदयिकस्य ४ त्रयो भेदाः पारिणामिकस्य ५ । "संनिवाइय" त्ति सम्–इति संहतरूपतया नि–इति नियतं पतनं–गमन-मेकत्र वर्तनं सन्निपातः, कोऽर्थः ? एषामेव द्व्यादिसंयोगप्रकारस्तेन निर्वृत्तः सान्निपातिकः, अयं च षष्ठो भावः ६ । अथ "यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायात् औपशमिकादिभावानां द्व्यादीन् भेदान् प्रचिकटयिषुराह—"सम्मं चरणं पढम भावे" त्ति इह यथासङ्ख्यं दर्शनमोहनीयचारित्र-मोहनीयकर्मोपशमभूतं सम्यक्त्वं चरणं च 'प्रथमे' आद्ये 'भावे' औपशमिकलक्षणे भवतीति शेषः । इति निरूपितौ द्वौ भेदावौपशमिकभावस्य ॥ ६४ ॥

बीए केवलजुयलं, सम्मं दाणाइलद्धि पण चरणं ।
तइए सेसुवओगा, पण लद्धी सम्म विरइदुगं ॥ ६५ ॥

'द्वितीये' क्षायिके भावे नव भेदा भवन्ति । तथाहि–'केवलयुगलं केवलज्ञानं केवलदर्शनम् । तत्र केवलज्ञानावरणक्षयभूतत्वेन क्षायिकं केवलज्ञानं १ केवलदर्शनावरणक्षयसम्भूतं क्षायिकं केवलदर्शनं २ दर्शनमोहनीयक्षयसमुत्थं क्षायिकं सम्यक्त्वं ३ 'दानादिलब्धयः पञ्च' दानलाभभोगोपभोगवीर्यलक्षणा दानादिरूपपञ्चप्रकारान्तरायक्षयोद्भूताः क्षायिक्यः ८ चारित्र-मोहनीयक्षयसम्भूतं च क्षायिकं चरणं यथाख्यातसंज्ञितमित्यर्थः ९ । तथा 'तृतीये' क्षायोपशमिक-भावेऽष्टादश भेदा भवन्ति । तद्यथा–'शेषोपयोगाः' केवलज्ञानकेवलदर्शनव्यतिरिक्ता मतिज्ञान-श्रुतज्ञानावधिज्ञानमनःपर्यवज्ञानरूपज्ञानचतुष्टयमत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानरूपाज्ञानत्रिकचक्षु-र्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनलक्षणदर्शनत्रिकस्वरूपा दशोपयोगाः १० "पण लद्धि" त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् दानलाभभोगोपभोगवीर्यलक्षणा लब्धयः पञ्च ५ "सम्म" त्ति सम्यक्त्वं १ 'विरतिद्विकं' देशविरतिसर्वविरतिलक्षणम् २ इत्येतेऽष्टादश भेदाः क्षायोपशमिके भवन्ति । तत्र चत्वारि ज्ञानानि त्रीण्यज्ञानानि ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमसम्भूतत्वेन, त्रीणि दर्शनानि

दर्शनावरणक्षयोपशमोद्भूतत्वेन, दानादिपञ्चलब्धयः पञ्चविधान्तरायकर्मक्षयोपशमजन्यत्वेन क्षायोपशमिकभावान्तर्वर्तिन्य इति।

ननु दानादिलब्धयः पूर्वं क्षायिकभाववर्तिन्य उक्ताः, इह तु क्षायोपशमिक्य इति कथं न विरोधः ? नैतदेवम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्। इह दानादिलब्धयो द्विविधा भवन्ति—अन्तरायकर्मणः क्षयसम्भविन्यः क्षयोपशमसम्भविन्यश्च। तत्र च याः क्षायिक्यः पूर्वमुक्तास्ताः क्षयसम्भूतत्वेन केवलिन एव, याः पुनरिह क्षायोपशमिकान्तर्गता उच्यन्ते ताः क्षयोपशमसम्भूताश्छद्मस्थानामेव। सम्यक्त्वसर्वविरती अपि क्षायोपशमिके अत्र ग्राह्ये, ते च यथासङ्ख्यं दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीयक्षयोपशमोद्भवत्वेन प्रस्तुतभाव एव वर्तेते इति भावः। देशविरतिरप्यप्रत्याख्यानावरणक्षयोपशमजत्वेन क्षायोपशमिकभावे वर्तत एवेति ॥ ६५ ॥

अन्नाणमसिद्धत्तासंजमलेसाकसायगइवेया।
मिच्छं तुरिए भव्वाभव्वत्तजियत्तपरिणामे ॥ ६६ ॥

अज्ञानम् १ असिद्धत्वम् २ असंयमः ३ लेश्याः-कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्ललेश्याभेदात् षट् ९ कषायाः-क्रोधमानमायालोभाख्याश्चत्वारः १३ गतिः—नरकतिर्यङ्मनुष्यसुरगतिभेदाच्चतुर्धा १७ वेदाः-स्त्रीपुंनपुंसकाख्यास्त्रयः २० मिथ्यात्वम् २१ इत्येते एकविंशतिभेदाः 'तुर्ये' चतुर्थे औदयिके भावे भवन्तीत्यक्षरार्थः। भावार्थः पुनरयम्—इहासदध्यवसायात्मकं सज्ज्ञानमप्यज्ञानं तच्च मिथ्यात्वोदयजमेव। यदभ्यधायि—

[1]जह दुव्वयणमवयणं, कुच्छिय सीलं असीलमसईए।
भन्नइ तह नाणं पि हु, मिच्छद्दिट्ठिस्स अन्नाणं ॥ (विशेषा० गा० ५२०)

असिद्धत्वमपि सिद्धत्वाभावरूपमष्टप्रकारकर्मोदयजमेव। असंयमः-अविरतत्वं तदप्यप्रत्याख्यानावरणोदयाद् जायते। लेश्यास्तु येषां मते कषायनिष्यन्दो लेश्याः तन्मतेन कषायमोहनीयोदयजत्वाद् औदयिक्यः, यन्मतेन तु योगपरिणामो लेश्याः तदभिप्रायेण योगत्रयजनककर्मोदयप्रभवाः, येषां त्वष्टकर्मपरिणामो लेश्यास्तन्मतेन संसारित्वासिद्धत्ववद् अष्टप्रकारकर्मोदयजा इति। कषायाः-क्रोधमानमायालोभरूपा मोहनीयकर्मोदयादेव भवन्ति। इह गतयः—गतिनामकर्मोदयादेव नारकत्वतिर्यक्त्वमनुजत्वदेवत्वलक्षणपर्याया जायन्त इति। वेदाः स्त्रीपुंनपुंसकाख्या नोकषायमोहनीयोदयादेव जायमानाः स्पष्टमौदयिका एवेति। मिथ्यात्वमपि अतत्त्वश्रद्धानरूपं मिथ्यात्वमोहनीयोदयजमेव इत्यौदयिकं प्रतीतमिति।

---

१ यथा दुर्वचनमवचनं कुत्सितं शीलमशीलमसत्याः। भण्यते तथा ज्ञानमपि खलु मिथ्यादृष्टेरज्ञानम् ॥

ननु निद्रापञ्चकसातादिवेदनीयहास्यरत्यरतिप्रभृतयः प्रभूततरभावा अन्येऽपि कर्मोदयजन्याः सन्ति तत् किमित्येतावन्त एवैते निर्दिष्टाः ?, सत्यम् , उपलक्षणत्वादन्येऽपि द्रष्टव्याः, केवलं पूर्वशास्त्रेषु प्राय एतावन्त एव निर्दिष्टा दृश्यन्त इत्यत्राप्येतावन्त एवास्माभिः प्रदर्शिताः । तथा भव्यत्वम् १ अभव्यत्वं २ जीवत्वम् ३ इत्येते त्रयो भेदाः पारिणामिके भावे भवन्ति । तदेवं द्विभेद औपशमिको भावः २ नवभेदः क्षायिकः ९ अष्टादशभेदः क्षायोपशमिकः १८ एकविंशतिभेद औदयिकः २१ त्रिभेदः पारिणामिकः । ३ सर्वेऽपि भावपञ्चकभेदास्त्रिपञ्चाशदिति ॥६६॥

प्ररूपितं सप्रभेदं भावपञ्चकम् । अधुना सान्निपातिकाख्यषष्ठभावभेदप्ररूपणायोपक्रम्यते—तत्र च यद्यप्यौपशमिकादिभावानां पञ्चानामपि द्विकादिसंयोगभङ्गाः षड्विंशतिर्भवन्ति, तद्यथा—औपशमिक १ क्षायिक २ क्षायोपशमिक ३ औदयिक ४ पारिणामिक ५ इति भावपञ्चकं पट्टकादावालिख्यते ततो दश द्विकसंयोगा अक्षसंचारणया लभ्यन्ते, दशैव त्रिकसंयोगाः, पञ्च चतुष्कसंयोगाः, एकः पञ्चकसंयोग इति । तथापि षडेव संयोगा जीवेष्वविरुद्धाः सम्भवन्ति । शेषास्तु विंशतिः संयोगभङ्गाः प्ररूपणामात्रभावित्वेनाऽसम्भविन एव, अतः सम्भविषड्भेदद्वारेण गत्याद्याश्रिता यावन्तः सान्निपातिकभावभेदाः सम्भवन्ति यावन्तश्च न सम्भवन्ति तदेतत् प्रकटयन्नाह—

चउ चउगईसु मीसगपरिणामुदएहिँ चउ सखइएहिं ।
उवसमजुएहिँ वा चउ, केवलि परिणामुदयखइए ॥ ६७ ॥

चत्वारो भङ्गाश्चतसृषु गतिषु चिन्त्यमानासु भवन्ति । कैः कृत्वा ? इत्याह—मिश्रकपारिणामिकौदयिकैर्भावैर्व्यावर्णितस्वभावैः । इयमत्र भावना—गतिचतुष्टयद्वारेण चिन्त्यमानः क्षायोपशमिकपारिणामिकौदयिकलक्षण एकोऽप्ययं त्रिकसंयोगरूपः सान्निपातिको भावश्चतुर्धा भवति । तथाहि—क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, पारिणामिकं जीवत्वादि, औदयिकी नरकगतिः इत्येको नरकगत्याश्रितस्त्रिकसंयोगः । एवं तिर्यङ्मनुष्यदेवगत्यभिलापेन त्रयो भङ्गका अन्येऽपि वाच्या इति । एवं चतुर्विधां गतिं प्रतीत्य त्रिकसंयोगेन चत्वारो भेदा निरूपिताः । सम्प्रति चतुःसंयोगेन चतुरो भेदानाह—"चउ सखइएहिं" ति चत्वारो भेदा भवन्ति । कैः ? इत्याह—सह क्षायिकेण वर्तन्ते ये क्षायोपशमिकपारिणामिकौदयिकलक्षणा भावास्ते सक्षायिकास्तैः सक्षायिकैः । अयमर्थः—गतिचतुष्टयद्वारेण चिन्त्यमानः क्षायोपशमिकपारिणामिकौदयिकक्षायिकलक्षण एकोऽप्ययं चतुष्कसंयोगरूपः सान्निपातिको भावश्चतुर्धा भवति । तद्यथा—क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, पारिणामिकं जीवत्वादि, औदयिकी नरकगतिः, क्षायिकं सम्यक्त्वमित्येको नरकगत्याश्रितश्चतुष्कसंयोगः । एवं तिर्यङ्मनुष्यदेवगत्यभिलापेन त्रयो भङ्गका अन्येऽपि वाच्या इति । एवं चतु-

विधां गतिं प्रतीत्यैकप्रकारेण चतुष्कसंयोगेन चत्वारो भेदा निरूपिताः । अधुना प्रकारान्तरेण चतुष्कसंयोग एव चतुरो भेदानाह—"उवसमजुएहिं वा चउ" त्ति वाशब्दोऽथवाशब्दार्थः, अथवा क्षायिकभावाभावे औपशमिकेन प्रदर्शितस्वरूपेण भावेन युतैः-कलितैः पूर्वोक्तैः क्षायोपशमिकपारिणामिकौदयिकैरेव निष्पन्नस्य सान्निपातिकभावस्य गतिचतुष्कं प्रतीत्य 'चत्वारः' चतुःसङ्ख्या भेदा भवन्तीति शेषः । तद्यथा—क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, पारिणामिकं जीवत्वम्, औदयिकी नरकगतिः, औपशमिकं सम्यक्त्वमित्येको नरकगत्याश्रितश्चतुष्कसंयोगः । एवं तिर्यङ्मनुष्यदेवगत्यभिलापेन त्रयो भङ्गा अन्येऽपि वाच्याः । तदेवमभिहिता गतिचतुष्टयमाश्रित्यैकेन त्रिकसंयोगेन द्वाभ्यां चतुष्कसंयोगाभ्यां द्वादश विकल्पाः । सम्प्रति शुद्धसंयोगत्रयस्वरूपं शेषभेदत्रयं निरूपयितुमाह—"केवलि परिणामुदयखइए" त्ति 'केवली' केवलज्ञानी पारिणामिकौदयिकक्षायिके सान्निपातिकभेदे त्रिकसंयोगरूपे वर्तते, यतस्तस्य पारिणामिकं जीवत्वादि औदयिकी मनुजगतिः क्षायिकाणि ज्ञानदर्शनचारित्रादीनि । तदेवमेकस्त्रिकसंयोगः केवलिषु सम्भवतीति ॥६७॥

खयपरिणामे सिद्धा, नराण पणजोगुवसमसेढीए ।
इय पनर सन्निवाइयभेया वीसं असंभविणो ॥६८॥

'सिद्धाः' निर्दग्धसकलकर्मेन्धनाः क्षायिकपारिणामिके सान्निपातिकभेदे द्विकसंयोगरूपे वर्तन्ते । तथाहि—सिद्धानां क्षायिकं ज्ञानदर्शनादि, पारिणामिकं जीवत्वमिति द्विकसंयोगो भवति । 'नराणां' मनुष्याणां पञ्चकसंयोगः सान्निपातिकभेद उपशमश्रेण्यामेव प्राप्यते, यतो यः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्मनुष्य उपशमश्रेणीं प्रतिपद्यते तस्यौपशमिकं चारित्रं क्षायिकं सम्यक्त्वं क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि औदयिकी मनुजगतिः पारिणामिकं जीवत्वं भव्यत्वं चेति । 'इति' अमुना पूर्वदर्शितप्रकारेण गत्यादिषु संयोगषट्कचिन्तनलक्षणेन परस्परविरोधाभावेन सम्भविनः पञ्चदश सान्निपातिकभेदाः षष्ठभावविकल्पाः प्ररूपिता इति शेषः । "वीसं असंभविणो" त्ति विंशतिसङ्ख्याः संयोगा असम्भविनः, प्ररूपणामात्रभावित्वेन न जीवेषु तेषां सम्भवोऽस्तीति ।

ननु षड्विंशतिभेदाः प्राक् प्रदर्शिताः, इह तु पञ्चदशानां विंशतेश्च मीलने पञ्चत्रिंशत्सङ्ख्या भेदाः प्राप्नुवन्तीति कथं न विरोधः?, अत्रोच्यते—ननु विस्मरणशीलो देवानांप्रियः, यतोऽनन्तरमेवोदितं गत्यादिद्वारेणैव ते चिन्त्यमानाः पञ्चदश भवन्ति, मौला द्व्यादिसंयोगास्तु षडेव । तथाहि—एको द्विकसंयोगः, द्वौ द्वौ त्रिकचतुष्कसंयोगौ, एकः पञ्चकसंयोग इति षण्णां विंशत्या मीलने षड्विंशतिसङ्ख्यैवोपजायत इति नात्र कश्चन विरोध इति ॥ ६८ ॥

अभिहिताः सप्रभेदा जीवानामौपशमिकादयो भावाः । साम्प्रतमेतानेव कर्मविषये चिन्तयन्नाह-

मोहेव समो मीसो, चउघाइसु अट्ठकम्मसु य सेसा ।
धम्माइ पारिणामियभावे खंधा उदइए वि ॥ ६९ ॥

'मोहे एव' षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदाद् , यथा वृक्षे शाखा वृक्षस्य शाखा, मोहनीयस्यैव कर्मणः 'शमः' उपशमोऽनुदयावस्था भस्मच्छन्नाग्नेरिव न तु समस्तानां कर्मणाम् । "मीसो चउघाइसु" त्ति 'मिश्रः' क्षयोपशमः, तत्र क्षयः-उदयावस्थस्यात्यन्ताभावस्तेन सहोपशमः-अनुदयावस्था दरविध्यातवह्निवत् क्षयोपशमः, 'चतुर्पु' चतुःसङ्ख्येषु 'घातिषु' ज्ञानादिगुणघातकेषु कर्मस्वित्युत्तरोक्तमत्रापि सम्बन्धनीयम् , ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायलक्षणानां घातिकर्मणामेव क्षयोपशमो भवति न त्वघातिकर्मणामिति । 'अष्टकर्मसु' ज्ञानावरणाद्यन्तरायावसानेषु 'चः' पुनरर्थे अष्टकर्मसु पुनः 'शेषाः' औदयिकक्षायिकपारिणामिकभावा भवन्ति । तत्रोदयः-विपाकानुभवनम् , क्षयः-अत्यन्ताभावः, परिणामः-तेन तेन रूपेण परिणमनमित्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्-मोहनीयकर्मणः पञ्चापि भावाः प्राप्यन्ते । मोहनीयवर्जितज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायलक्षणानां तु त्रयाणां घातिकर्मणामुदयक्षयक्षयोपशमपरिणामस्वभावाश्चत्वार एव भावा भवन्ति न पुनरुपशमः । शेषाणां वेदनीयायुर्नामगोत्रस्वरूपाणां चतुर्णामप्यघातिकर्मणामुदयक्षयपरिणामलक्षणास्त्रय एव भावा भवन्ति, न तु क्षयोपशमोपशमाविति ।

प्रतिपादिता जीवेषु तदाश्रितकर्मसु च पञ्चापि भावाः । अधुना तान् अजीवेषु विभणिषुराह—"धम्माइ" इत्यादि । इह पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् धर्मास्तिकायः १ अधर्मास्तिकायः २ आकाशास्तिकायः ३ पुद्गलास्तिकायः ४ कालद्रव्यं ५ चेति परिग्रहः । तत्र धारयति-गतिपरिणतजीवपुद्गलान् तत्स्वभावतायामवस्थापयतीति धर्मः, अस्तयश्चेह प्रदेशास्तेषां चीयत इति कायः-सङ्घातोऽस्तिकायः, ततो धर्मश्चासावस्तिकायश्च धर्मास्तिकायः । तथा न धारयति-गतिपरिणतानपि जीवपुद्गलान् तत्स्वभावतायां नावस्थापयति स्थित्युपष्टम्भकत्वात् तस्येत्यधर्मः शेषं प्राग्वत् । आ-समन्तात् काशते-अवगाहदानतया प्रतिभासत इत्याकाशः, शेषं प्राग्वत् । पूरणगलनधर्माणः पुद्गलाः, पृषोदरादित्वाद् इष्टरूपसिद्धिः शेषं पूर्ववत् । तथा "कलण् सङ्ख्याने" कलनं कालः, कल्यते वा-परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति कालः, कलानां वा-समयादिरूपाणां समूहः कालः । आह सामूहिके प्रत्यये नपुंसकलिङ्गेन भवितव्यम् , यथा कापोतं मायूरं चेति, [तत्र,] यदाहुः श्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः-उच्यते रूढिवशाद् लिङ्गस्य न नियमः । यदाह पाणिनिः-लिङ्गमशिष्यम् , लोकाश्रयत्वात् तस्येति ।

ततः काल एव तत्तद्रूपद्रवणाद् द्रव्यं कालद्रव्यम् , तत्र च कालस्य वस्तुतः समयरूपस्य निर्विभागत्वाद् न देशप्रदेशसम्भवः, अत एवात्रास्तिकायत्वाभावो वेदितव्यः ।

नन्वतीतानागतवर्तमानभेदेन कालस्यापि त्रैविध्यमस्तीति किमिति नोक्तम्?, सत्यम्, अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनाऽविद्यमानत्वाद् वार्तमानिक एव समयरूपः सद्रूपः।

यद्येवं तर्हि पूर्वसमयनिरोधेनैवोत्तरसमयसद्भावेऽसङ्ख्यातानां समयानां समुदयसमित्याद्यसम्भवादावलिकादयः शास्त्रान्तरप्रतिपादिताः कालविशेषाः कथं सङ्गच्छन्ते?, सत्यम्, तत्त्वतो न सङ्गच्छन्त एव, केवलं व्यवहारार्थमेव कल्पिता इति।

अथ केऽमी आवलिकादयः कालविशेषाः? इति विनेयजनपृच्छायां तदनुग्रहाय समयादारभ्य कालविशेषाः प्रतिपाद्यन्ते। तत्र समयस्वरूपमेव **अनुयोगद्वारे** प्रतिपाद्यते, तद्यथा—

[1]'से किं तं समए? समयस्स णं परूवणं करिस्सामि—से जहानामए तुन्नागदारए सिया तरुणे बलवं जुगवं जुवाणे अप्पायंके थिरग्गहत्थे दढपाणिपायपासपिट्ठंतरोरुपरिणए तलजमलजुगलपरिघनिभबाहू चम्मिट्ठगदुहणमुट्ठियसमाहयनिचियगायकाए लंघणपवणजवणवायामसमत्थे उरस्सबलसमन्नागए छेए दक्खे पत्तट्ठे कुसले मेहावी निउणे निउणसिप्पोवगए एगं महइं पडसाडियं वा पट्टसाडियं वा गहाय सयराहं हत्थमित्तं ओसारिज्जा, तत्थ चोयए पन्नवगं एवं वयासी-जेणं कालेणं तेणं तुन्नागदारएणं तीसे पडसाडियाए वा पट्टसाडियाए वा सयराहं हत्थमित्ते

---

१ अथ कोऽसौ समयः? समयस्य प्ररूपणां करिष्यामि—असौ यथानामकः तुन्नागदारकः स्यात् तरुणः बलवान् युगवान् युवा अल्पातङ्कः स्थिरहस्ताग्रो दृढपाणिपादपार्श्वपृष्ठान्त्रोरुपरिणतः तलयमलयुगलपरिघनिभबाहुः चर्मेष्टकाद्रुघणमुष्टिकसमाहतनिचितगात्रकायो लङ्घनप्लवनजवनव्यायामसमर्थ उरस्कबलसमन्वागतः छेको दक्षः प्राप्तार्थः कुशलो मेधावी निपुणो निपुणशिल्पोपगत एकां महतीं पटशाटिकां वा पट्टशाटिकां वा गृहीत्वा शीघ्रं हस्तमात्रमपसारयेत्, तत्र चोदकः प्रज्ञापकमेवमवादीत्—येन कालेन तेन तुन्नागदारकेण तस्याः पटशाटिकाया वा पट्टशाटिकाया वा शीघ्रं हस्तमात्रं अपसारितं स समयो भवति? नायमर्थः समर्थः, कस्मात्? यस्मात् सङ्ख्येयानां तन्तूनां समुदयसमितिसमागमेन पटशाटिका निष्पद्यते, उपरितने तन्तावच्छिन्ने आधस्त्यस्तन्तुर्न छिद्यते, अन्यस्मिन् काले उपरितनस्तन्तुः छिद्यते अन्यस्मिन् काले आधस्त्यः तन्तुश्छिद्यते, तस्मादसौ समयो न भवति। एवं वदन्तं प्रज्ञापकं चोदक एवमवादीत्—येन कालेन तेन तुन्नागदारकेण तस्याः पटशाटिकाया वा पट्टशाटिकाया वा उपरितनस्तन्तुश्छिन्नः स समयः? न भवति, कस्मात्? यस्मात् सङ्ख्येयानां पक्ष्मणां समुदयसमितिसमागमेनैकस्तन्तुर्निष्पद्यते, उपरितने पक्ष्मण्यच्छिन्ने आधस्त्यं पक्ष्म न च्छिद्यते, अन्यस्मिन् काले उपरितनं पक्ष्म छिद्यतेऽन्यस्मिन् काले आधस्त्यं पक्ष्म छिद्यते, तस्मात् स समयो न भवति। एवं वदन्तं प्रज्ञापकं चोदक एवमवादीत्—येन कालेन तेन तुन्नागदारकेण तस्य तन्तोरुपरितनं पक्ष्म छिन्नं स समयः? न भवति, कस्मात्? यस्मादनन्तानां सङ्घातानां समुदयसमितिसमागमेन एकं पक्ष्म निष्पद्यते, उपरितने सङ्घातेऽविसङ्घातिते आधस्त्यः सङ्घातो न विसङ्घात्यते, अन्यस्मिन् काल उपरितनः सङ्घातो विसङ्घात्यतेऽन्यस्मिन् काले आधस्त्यः सङ्घातो विसङ्घात्यते, तस्मात स समयो न भवति। अतोऽपि सूक्ष्मतरः समयः प्रज्ञप्तः श्रमणायुष्मन्!॥ असङ्ख्येयानां समयानां समुदयसमितिसमागमेन सैकाऽऽवलिकेति प्रोच्यते॥

ओसारिए से समए भवइ ? नो इणट्ठे समट्ठे, कम्हा ? जम्हा संखिज्जाणं तंतूणं समुदयसमिति-समागमेणं[1] पडसाडिया निप्फज्जइ, उवरिल्लियम्मि तंतुम्मि अच्छिन्ने हिट्ठिल्ले तंतू न छिज्जइ, अन्नम्मि काले उवरिल्ले तंतू छिज्जइ अन्नम्मि काले हिट्ठिल्ले तंतू छिज्जइ, तम्हा से समए न भवइ। एवं वयंतं पन्नवगं चोयए एवं वयासी–जेणं कालेणं तेणं तुन्नागदारएणं तीसे पडसाडियाए वा पट्टसाडियाए वा उवरिल्ले तंतू छिन्ने से समए[2] ? न भवइ, कम्हा ? जम्हा संखिज्जाणं पम्हाणं समुदयसमिइसमागमेणं एगे तंतू निप्फज्जइ, उवरिल्ले पम्हम्मि अच्छिन्ने हिट्ठिल्ले पम्हे न छिज्जइ, अन्नम्मि काले उवरिल्ले पम्हे छिज्जइ अन्नम्मि काले हिट्ठिल्ले पम्हे छिज्जइ, तम्हा से समए न भवइ। एवं वयंतं पन्नवगं चोयए एवं वयासी—जेणं कालेणं तेणं तुन्नागदारएणं तस्स तंतुस्स उवरिल्ले पम्हे छिन्ने से समए[3] ? न भवइ, कम्हा ? जम्हा अणंताणं संघायाणं समुदयसमिइसमागमेणं एगे पम्हे निप्फज्जइ, उवरिल्ले संघाए अविसंघाइए हिट्ठिल्ले संघाए न विसंघाइज्जइ, अन्नम्मि काले उवरिल्ले संघाए विसंघाइज्जइ अन्नम्मि काले हिट्ठिल्ले संघाए विसंघाइज्जइ, तम्हा से समए न भवइ। इत्तो वि णं सुहुमतराए समए पन्नत्ते समणाउसो ! १ (पत्र १७५–२)॥ असंखिज्जाणं समयाणं समुदयसमिइसमागमेणं सा एगा आवलिय त्ति पवुच्चइ २ (पत्र १७८–२) ॥

सङ्ख्येया आवलिका आनः, एक उच्छ्वास इत्यर्थः ३। ता एव सङ्ख्येया निःश्वासः ४। द्वयोरपि कालः प्राणुः ५। सप्तभिः प्राणुभिः स्तोकः ६। सप्तभिः स्तोकैर्लवः ७। सप्तसप्तत्या लवानां मुहूर्तः ८। त्रिंशता मुहूर्तैरहोरात्रः ९। तैः पञ्चदशभिः पक्षः १०। ताभ्यां द्वाभ्यां मासः ११। मासद्वयेन ऋतुः १२। ऋतुत्रयमानमयनम् १३। अयनद्वयेन संवत्सरः १४। पञ्चभिस्तैर्युगम् १५। विंशत्या युगैर्वर्षशतम् १६। तैर्दशभिर्वर्षसहस्रम् १७। तेषां शतेन वर्षलक्षम् १८। चतुरशीत्या च वर्षलक्षैः पूर्वाङ्गं भवति १९। पूर्वाङ्गं चतुरशीतिवर्षलक्षैर्गुणितं पूर्वं भवति २०, तच्च सप्ततिः कोटिलक्षाणि षट्पञ्चाशच्च कोटिसहस्राणि वर्षाणाम्। उक्तं च—

[4]पुव्वस्स य परिमाणं, सयरिं खलु होंति कोडिलक्खाओ।
छप्पन्नं च सहस्सा, बोधव्वा वासकोडीणं ॥ (जीवस० गा० ११३)

स्थापना–७०५६०००००००००००। इदमपि चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितं त्रुटिताङ्गं भवति २१। एतदपि चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितं त्रुटितम् २२। एतदपि चतुरशीतिलक्षैर्गुणितमटटाङ्गम् २३। एतदपि चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितमटटम् २४। एवं सर्वत्र पूर्वः पूर्वो राशिश्चतुरशीतिलक्षस्वरू-

---

१ ०णं एगा प० अनुयोगद्वारे॥ २-३ ०ए भवइ ? न भ० अनुयोगद्वारे॥ ४ पूर्वस्य च परिमाणं सप्ततिः खलु भवति कोटिलक्षाणाम्। षट्पञ्चाशच्च सहस्रा ज्ञातव्या वर्षकोटीनाम्॥

पेण गुणकारेण गुणित उत्तरोत्तरराशिरूपतां प्रतिपद्यत इति प्रतिपत्तव्यम् । ततश्च अववाङ्गं २५ अववं २६ हुहूकाङ्गं २७ हुहूकं २८ उत्पलाङ्गं २९ उत्पलं ३० पद्माङ्गं ३१ पद्मं ३२ नलिनाङ्गं ३३ नलिनं ३४ अर्थनिपूराङ्गं ३५ अर्थनिपूरं ३६ अयुताङ्गं ३७ अयुतं ३८ नयुताङ्गं ३९ नयुतं ४० प्रयुताङ्गं ४१ प्रयुतं ४२ चूलिकाङ्गं ४३ चूलिका ४४ शीर्षप्रहेलिकाङ्गं ४५, एवमेते राशयश्चतुरशीतिलक्षस्वरूपेण गुणकारेण यथोत्तरं वृद्धा द्रष्टव्यास्तावद् यावदिदमेव शीर्षप्रहेलिकाङ्गं चतुरशीतिलक्षैर्गुणितं शीर्षप्रहेलिका भवति ४६ । अस्याः स्वरूपमङ्कतोऽपि दर्श्यते—७५८२६३२५३०७३०१०२४११५७९७३५६९९७५६९६४०६२१८९६६८४८०८०१८३२९६ अग्रे चत्वारिंशं शून्यशतम् । तदेवं शीर्षप्रहेलिकायां सर्वाण्यमूनि चतुर्नवत्यधिकशतसङ्ख्यान्यङ्कस्थानानि भवन्ति । एतस्माच्च परतोऽपि सङ्ख्येयः कालोऽस्ति, स त्वनतिशयिनामसंव्यवहार्यत्वात् सर्षपोपमयाऽत्रैव वक्ष्यते । पल्योपमसागरोपमपुद्गलपरावर्तादिकालस्वरूपं पुनः स्वोपज्ञशतकटीकायां सविस्तरमभिहितं तत एवावधारणीयम् ।

ततो धर्मास्तिकाय १ अधर्मास्तिकाय २ आकाशास्तिकाय ३ पुद्गलास्तिकाय ४ काल ५-द्रव्याणि 'पारिणामिके' तेन तेन रूपेण परिणमनस्वभावे पर्यायविशेषे वर्तन्त इति शेषः । तथाहि—धर्माधर्माकाशास्तिकायानामनादिकालादारभ्य जीवानां पुद्गलानां च गतिस्थित्युपष्टम्भावकाशदानपरिणामेन परिणतत्वादनादिपारिणामिकभाववर्तित्वम् । कालरूपसमयस्याप्यपरापरसमयोत्पत्तितयाऽऽवलिकादिपरिणामपरिणतत्वादनादिपारिणामिकभाववर्तित्वमेव । द्व्यणुकादिस्कन्धानां सादिकालात् तेन तेन स्वभावेन परिणामात् सादिपारिणामिकत्वं मेर्वादिस्कन्धानां त्वनादिकालात् तेन तेन रूपेण परिणामादनादिपारिणामिकभाववर्तित्वं चेति । आह किं सर्वेऽप्यजीवाः पारिणामिक एव भावे वर्तन्ते ? आहोश्वित् केचिदन्यस्मिन्नपि ? इत्याह—"खंधा उदए वि" त्ति 'स्कन्धाः' अनन्तपरमाण्वात्मका न तु केवलाणवः, तेषां जीवेनाऽग्रहणात्, 'औदयिकेऽपि' औदयिकभावेऽपि, न केवलं पारिणामिक इत्यपिशब्दार्थः । तथाहि—शरीरादिनामोदयजनित औदारिकादिशरीरतया औदारिकादीनां स्कन्धानामेवोदय इति भावः । उदय एवौदयिक इति व्युत्पत्तिपक्षे तु कर्मस्कन्धलक्षणेष्वजीवेष्वौदयिकभावो भवतीति भावः । तथाहि—क्रोधाद्युदये जीवस्य कर्मस्कन्धानामुदयस्तेषामेवौदयिकत्वमिति ।

नन्वेवं कर्मस्कन्धाश्रिता औपशमिकादयोऽपि भावा अजीवानां सम्भवन्त्यतस्तेषामपि भणनं प्राप्नोति, सत्यम्, तेषामविवक्षितत्वात्, अत एव कैश्चिदजीवानां पारिणामिक एव भावोऽभ्युपगम्यत इति ॥ ६९ ॥ व्याख्याता अजीवाश्रिता अपि भावाः । सम्प्रति जीवगुणभूतेषु गुणस्थानकेषु भावान् निरूपयिषुराह—

सम्माइचउसु तिग चउ, भावा चउ पणुवसामगुवसंते ।
चउ खीणापुव्वि तिन्नि, सेसगुणट्ठाणगेगजिए ॥ ७० ॥

"सम्माइ" त्ति सम्यग्दृष्ट्यादिषु–अविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृतिषु चतुर्षु-चतुःसङ्ख्येष्वविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तलक्षणेषु गुणस्थानकेष्विति वक्ष्यमाणपदस्यात्रापि सम्बन्धः कार्यः, "तिग चउ भाव" त्ति त्रयश्चत्वारो वा भावाः प्राप्यन्त इति भावः । तत्र क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टेश्चतुर्ष्वपि गुणस्थानकेष्विमे त्रयोऽपि भावा लभ्यन्ते । तद्यथा–यथासम्भवमौदयिकी गतिः, क्षायोपशमिकमिन्द्रियसम्यक्त्वादि, पारिणामिकं जीवत्वमिति । क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेश्च चत्वारो भावा लभ्यन्ते, त्रयस्तावत् पूर्वोक्ता एव; चतुर्थस्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टेः, क्षायिकसम्यक्त्वलक्षणः, औपशमिकसम्यग्दृष्टेः पुनरौपशमिकसम्यक्त्वस्वभाव इति । "चउ पणुवसामगुवसंते" त्ति चत्वारः पञ्च वा भावा द्वयोरप्युपशमकोपशान्तयोर्भवन्ति । किमुक्तं भवति ?–अनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायलक्षणगुणस्थानकद्वयवर्ती जन्तुरुपशमक उच्यते, तस्य चत्वारः पञ्च वा भावा भवन्ति । कथम् ? इति चेद् , उच्यते–त्रयस्तावत् पूर्ववदेव, चतुर्थस्तु क्षीणदर्शनत्रिकस्य श्रेणिमारोहतः क्षायिकसम्यक्त्वलक्षणोऽन्यस्य पुनरौपशमिकस्वभाव इति । अमीषामेव चतुर्णां मध्येऽनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकद्वयवर्तिनोऽप्यौपशमिकचारित्रस्य शास्त्रान्तरेषु प्रतिपादनाद् औपशमिकचारित्रप्रक्षेपे पञ्चम इति । 'उपशान्तः' उपशान्तमोहगुणस्थानकवर्ती तस्यापि चत्वारः पञ्च वा भावाः प्राप्यन्ते, ते चानन्तरोपशमकपदप्रदर्शिता एव । "चउ खीणापुव्वि" त्ति चत्वारो भावाः 'क्षीणापूर्वयोः' क्षीणमोहगुणस्थानकेऽपूर्वकरणगुणस्थानके चेत्यर्थः । तत्र क्षीणमोहे त्रयः पूर्ववत् , चतुर्थः क्षायिकसम्यक्त्वचारित्रलक्षणः, अपूर्वकरणे तु त्रयः पूर्ववत् , चतुर्थः पुनः क्षायिकसम्यक्त्वस्वभाव औपशमिकसम्यक्त्वस्वभावो वेति । "तिन्नि सेसगुणट्ठाणग" त्ति 'त्रयः' त्रिसङ्ख्या भावा भवन्ति, केषु ? इत्याह–विभक्तिलोपात् 'शेषगुणस्थानकेषु' मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्टिसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणेषु । तत्र मिथ्यादृष्ट्यादीनां त्रयाणामौदयिकी गतिः, क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, पारिणामिकं जीवत्वम् इत्येते त्रयो भावाः प्रतीता एव । सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनोः पुनरौदयिकी मनुजगतिः, क्षायिकं केवलज्ञानादि, पारिणामिकं जीवत्वम् इत्येवंरूपास्त्रय इति । आह किममी त्रिप्रभृतयो भावा गुणस्थानकेषु चिन्त्यमानाः सर्वजीवाधारतया चिन्त्यन्ते ? आहोश्विदेकजीवाधारतया ? इत्याह–"एगजिए" त्ति एकजीवाधारतयेत्थं भावविभागो मन्तव्यः, नानाजीवापेक्षया तु सम्भविनः सर्वेऽपि भावा भवन्तीति ।

अधुनैतेषु गुणस्थानकेषु प्रत्येकं यस्य भावस्य सम्बन्धिनो यावन्त उत्तरभेदा यस्मिन् गुणस्थानके प्राप्यन्त इत्येतत् सोपयोगित्वादस्माभिरभिधीयते । तद्यथा-क्षायोपशमिकभावभेदा मिथ्या-

दृष्टिसास्वादनयोरन्तरायकर्मक्षयोपशमजदानादिलब्धिपञ्चक ५ अज्ञानत्रय ३ चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शन-२ लक्षणा दश भवन्ति, सम्यग्मिथ्यादृष्टौ दानादिलब्धिपञ्चक ५ ज्ञानत्रय ३ दर्शनत्रय ३ मिश्र-रूपसम्यक्त्व १ लक्षणा द्वादश भेदा भवन्ति, अविरतसम्यग्दृष्टौ मिश्रत्यागेन सम्यक्त्वप्रक्षेपे त एव द्वादश, विरतौ च द्वादशसु मध्ये देशविरतिप्रक्षेपे त्रयोदश, प्रमत्ताप्रमत्तयोश्च देशविरति-विरहितेषु पूर्वप्रदर्शितेषु द्वादशस्वेव सर्वविरतिमनःपर्यायज्ञानप्रक्षेपे चतुर्दश, अपूर्वकरणानिवृत्ति-बादरसूक्ष्मसम्परायेषु चतुर्दशभ्यः सम्यक्त्वापसारणे प्रत्येकं त्रयोदश, उपशान्तमोहक्षीण-मोहयोस्त्रयोदशभ्यश्चारित्रापसारणे द्वादश क्षायोपशमिकभावभेदाः प्राप्यन्ते ।

अधुनौदयिकभावभेदा भाव्यन्ते—मिथ्यादृष्टावज्ञानासिद्धत्वादय एकविंशतिरपि भेदा भवन्ति, सास्वादन एकविंशतेर्मिथ्यात्वापसारणे विंशतिः, मिश्राविरतयोर्विंशतेरज्ञानापगमे एकोनविंशतिः, देशविरते च देवनारकगत्यभावे सप्तदश, प्रमत्ते च तिर्यग्गत्यसंयमाभावे पञ्चदश, अप्रमत्ते च पञ्चदशभ्य आद्यलेश्यात्रिकाभावे द्वादश, अपूर्वकरणेऽनिवृत्तिबादरे च द्वादशभ्यस्तेजःपद्मलेश्य-योरभावे दश, सूक्ष्मसम्पराये सञ्ज्वलनलोभमनुजगतिशुक्ललेश्याऽसिद्धत्वलक्षणाश्चत्वार औदयिका भावाः, उपशान्तक्षीणमोहसयोगिकेवलिषु चतुर्भ्यः सञ्ज्वलनलोभाभावे त्रयः, अयोगिकेवलिनस्तु मनुजगत्यसिद्धत्वरूपमौदयिकभावभेदद्वयं प्राप्यते ।

औपशमिकभावभेदा उच्यन्ते—अविरतादारभ्योपशान्तं यावदौपशमिकसम्यक्त्वरूप औप-शमिकभावभेदः प्राप्यते, औपशमिकचारित्रलक्षणस्त्वनिवृत्तेरारभ्योपशान्तं यावत् प्राप्यते ।

क्षायिकभावभेदश्च क्षायिकसम्यक्त्वरूपोऽविरतादारभ्योपशान्तं यावत् प्राप्यते, क्षीणमोहे च क्षायिकं सम्यक्त्वं चारित्रं च प्राप्यते, सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनोस्तु नवापि क्षायिक-भावाः प्राप्यन्ते ।

पारिणामिकभावभेदा मिथ्यादृष्टौ त्रयोऽपि, सास्वादनादारभ्य च क्षीणमोहं यावदभव्यत्ववर्जौ द्वौ भवतः, सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनोस्तु जीवत्वमेवेति, भव्यत्वस्य च प्रत्यासन्नसिद्धावस्थाया-मभावादधुनाऽपि तदपगतप्रायत्वादिना केनचित् कारणेन शास्त्रान्तरेषु नोक्तमिति नास्माभि-रप्यत्रोच्यते ।

यस्य भावस्य भेदा यस्मिन् गुणस्थानके यावन्त उक्तास्तेषां सम्भविभावभेदानामेकत्र मीलने सति तावद्भेदनिष्पन्नः षष्ठः सान्निपातिकभावभेदस्तस्मिन् गुणस्थानके भवति । यथा—मिथ्या-दृष्टावौदयिकभावभेदा एकविंशतिः, क्षायोपशमिकभावभेदा दश, पारिणामिकभावभेदास्त्रयः, सर्वे भेदाश्चतुस्त्रिंशत् । एवं सास्वादनादिष्वपि सम्भविभावभेदमीलने तावद्भेदनिष्पन्नः षष्ठः सान्निपातिकभावभेदो वाच्यः । एतदर्थसङ्ग्राहिण्यश्चैता गाथा यथा—

"[1]पण अंतराय अन्नाण तिन्नि अचक्खुचक्खु दस एए ।
मिच्छे साणे य हवंति मीसए अंतराय पण ॥
नाणतिग दंसणतिगं, मीसगसम्मं च बारस हवंति ।
एवं च अविरयम्मि वि, नवरि तहिं दंसणं सुद्धं ॥
देसे य देसविरई, तेरसमा तह पमत्तअपमत्ते ।
मणपज्जवपक्खेवा, चउदस अप्पुव्वकरणे उ ॥
वेयगसम्मेण विणा, तेरस जा सुहुमसंपराउ त्ति ।
ते च्चिय उवसमखीणे, चरित्तविरहेण बारस उ ॥
खाओवसमिगभावाण कित्तणा गुणपए पडुच्च कया ।
उदइयभावे इण्हिं, ते चेव पडुच्च दंसेमि ॥
चउगइयाई इगवीस मिच्छि साणे य हुंति वीसं च ।
मिच्छेण विणा मीसे, इगुणीसमनाणविरहेण ॥
एमेव अविरयम्मी, सुरनारयगइविओगओ देसे ।
सत्तरस हुंति ते च्चिय, तिरिगइअस्संजमाभावा ॥
पन्नरस पमत्तम्मी, अपमत्ते आइलेसतिगविरहे ।
ते च्चिय बारस सुक्केगलेसओ दस अपुव्वम्मि ॥
एवं अनियट्टिम्मि वि, सुहुमे संजलणलोभमणुयगई ।
अंतिमलेसअसिद्धत्तभावओ जाण चउ भावा ॥
संजलणलोभविरहा, उवसंतक्खीणकेवलीण तिगं ।
लेसाभावा जाणसु, अजोगिणो भावदुगमेव ॥

१ पञ्चान्तरायाः अज्ञानानि त्रीणि अचक्षुश्चक्षुः दश एते । मिथ्यात्वे सासादने च भवन्ति मिश्रके अन्तरायाः पञ्च ॥ ज्ञानत्रिकं दर्शनत्रिकं मिश्रसम्यक्त्वं च द्वादश भवन्ति । एवं चाविरतेऽपि नवरं तत्र दर्शनं शुद्धम् ॥ देशे च देशविरतिस्त्रयोदशी तथा प्रमत्ताप्रमत्तयोः । मनःपर्यवप्रक्षेपात् चतुर्दश अपूर्वकरणे तु ॥ वेदकसम्यक्त्वेन विना त्रयोदश यावत् सूक्ष्मसम्पराय इति । त एव उपशान्तक्षीणयोः चारित्रविरहेण द्वादश तु ॥ क्षायोपशमिकभावानां कीर्त्तना गुणपदानि प्रतीत्य कृता । औदयिकभावे इदानीं तान्येव प्रतीत्य दर्शयामि ॥ चतुर्गत्यादिका एकविंशतिर्मिथ्यात्वे सासादने च भवन्ति विंशतिश्च । मिथ्यात्वेन विना मिश्रे एकोनविंशतिरज्ञानविरहेण ॥ एवमेवाविरते सुरनारकगतिवियोगतो देशे । सप्तदश भवन्ति त एव तिर्यग्गत्यसंयमाभावात् ॥ पञ्चदश प्रमत्तेऽप्रमत्ते आदिलेश्यात्रिकविरहे । त एव द्वादश शुक्लैकलेश्यातो दश अपूर्वे ॥ एवमनिवृत्तेऽपि सूक्ष्मे सञ्ज्वलनलोभमनुजगत्योः । अन्तिमलेश्यासिद्धत्वयोर्भावाद् जानीहि चत्वारो भावाः । सञ्ज्वलनलोभविरहादुपशान्तक्षीणकेवलिनां त्रिकम् । लेश्याभावाज्जानीहि अयोगिनो भावद्विकमेव ॥

[1]अविरयसम्मा उवसंतु जाव उवसमगखाइगा सम्मा ।
अनियट्टीओ उवसंतु जाव उवसामियं चरणं ॥
खीणम्मि खइयसम्मं, चरणं च दुगं पि जाण समकालं ।
नव नव खाइयभावा, जाण सजोगे अजोगे य ॥
जीवत्तमभव्वत्तं, भव्वत्तं पि हु मुणेसु मिच्छम्मि ।
साणाई खीणंते, दोन्नि अभव्वत्तवज्जा उ ॥
सज्जोगि अजोगिम्मि य, जीवत्तं चेव मिच्छमाईणं ।
ससभावमीलणाओ, भावं मुण सन्निवायं तु ॥

व्याख्यातप्राया एवैताः, नवरमेकादश्यां गाथायाम् "उवसमगखाइगा सम्म" त्ति अनेनौपशमिकक्षायिकसम्यक्त्वरूपमौपशमिकक्षायिकभावभेदद्वयं युगपल्लाघवार्थं निरूपितम् । ततश्चाविरतादारभ्योपशान्तमोहं यावत् कस्यचिदौपशमिकसम्यक्त्वरूप औपशमिकभावभेदः प्राप्यते कस्यचित् पुनः क्षायिकसम्यक्त्वरूपः क्षायिकभावभेदश्चेति ॥ ७० ॥

व्याख्यातं मूलद्वारगाथायां भावद्वारम् । सम्प्रति सङ्ख्येयकादिद्वारं प्रचिकटयिषुराह—

संखिज्जेगमसंखं, परित्तजुत्तनियपयजुयं तिविहं ।
एवमणंतं पि तिहा, जहन्नमज्झुक्कसा सव्वे ॥७१॥

एतावन्त एत इति सङ्ख्यानं सङ्ख्येयम्, "य एचातः" (सि० ५-१-२८) इति यप्रत्ययः तच्च 'एकम्' एकमेव भवति, नापरे अङ्ख्येयादेरिव परीत्तादयो मूलभेदस्वरूपा भेदा अस्य विद्यन्त इति भावः । न सङ्ख्यामर्हतीत्यसङ्ख्यम्, "[2]दण्डादिभ्यो यः" (सि० ६-४-१६८) इति यप्रत्ययः, असङ्ख्येयकं तत् पुनः परीत्तं च युक्तं च निजपदं- स्वकीयपदमसङ्ख्येयकलक्षणं तच्च परीत्तयुक्तनिजपदानि तैर्युक्तं—समन्वितं सत्, किम्? इत्याह—'त्रिविधं' त्रिप्रकारं भवति । यथा परीत्तासङ्ख्येयकं १ युक्तासङ्ख्येयकम् २ असङ्ख्यातासङ्ख्येयकम् ३ इति उक्तं त्रिधाऽसङ्ख्येयकम् । अधुना त्रिविधमनन्तकमाह—"एवमणंतं पि तिह" त्ति 'एवम्' अनेनानन्तरप्रदर्शितप्रकारेण परीत्तयुक्तनिजपदयुक्तलक्षणेन 'अनन्तमपि' अनन्तकमपि न केवलमसङ्ख्येयकमित्यपिशब्दार्थः

---

१ अविरतसम्यक्त्वादुपशान्तं यावदुपशमकक्षायिके सम्यक्त्वे । अनिवृत्तितः उपशान्तं यावदौपशमिकं चरणम् ॥ क्षीणे क्षायिकसम्यक्त्वं चरणं च द्विकमपि जानीहि समकालम् । नव नव क्षायिकभावान् जानीहि सयोगेऽयोगे च ॥ जीवत्वमभव्यत्वं भव्यत्वमपि खलु जानीहि मिथ्यात्वे । सासादनादिषु क्षीणान्तेषु द्वावभव्यत्ववर्जौ तु ॥ सयोगिन्ययोगिनि च जीवत्वमेव मिथ्यात्वादीनाम् । स्वस्वभावमीलनाद् भावं जानीहि सान्निपातिकं तु । २ सिद्धहेमशब्दानुशासने "दण्डादेर्यः" इति पाणिनीयसूत्रे तु "दण्डादिभ्यो यत्" इत्येवंरूपं सूत्रम् ॥

'त्रिधा' त्रिप्रकारं वेदितव्यम्, तद्यथा—परीत्तानन्तकं १ युक्तानन्तकम् २ अनन्तानन्तकम् ३ इति। एवमेतानि समुदितानि सप्तापि पदानि पुनरेकैकशस्त्रिरूपाणि भवन्तीति दर्शयितुमाह—"जहन्नमज्झुक्कसा सव्वे" त्ति प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययाद् 'जघन्यमध्यमोत्कृष्टानि' जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नानि 'सर्वाणि' समस्तानि एकैकशः सप्तापि पदानि वेदितव्यानीत्यर्थः। तथाहि—जघन्यसङ्ख्येयकं मध्यमसङ्ख्येयकम् उत्कृष्टसङ्ख्येयकम्। तथा जघन्यपरीत्तासङ्ख्येयकं मध्यमपरीत्तासङ्ख्येयकम् उत्कृष्टपरीत्तासङ्ख्येयकम्। जघन्ययुक्तासङ्ख्येयकं मध्यमयुक्तासङ्ख्येयकम् उत्कृष्टयुक्तासङ्ख्येयकम्। जघन्यासङ्ख्यातासङ्ख्येयकं मध्यमासङ्ख्यातासङ्ख्येयकम् उत्कृष्टासङ्ख्यातासङ्ख्येयकम्। तथा जघन्यपरीत्तानन्तकं मध्यमपरीत्तानन्तकम् उत्कृष्टपरीत्तानन्तकम्। जघन्ययुक्तानन्तकं मध्यमयुक्तानन्तकम् उत्कृष्टयुक्तानन्तकम्। जघन्यानन्तानन्तकं मध्यमानन्तानन्तकम् उत्कृष्टानन्तानन्तकम्। तदेवं सङ्ख्यातकं त्रिधा असङ्ख्यातमनन्तकं च नवधा भवतीति ॥ ७१ ॥

तदेवं सङ्ख्येयकादिभेदप्ररूपणामात्रं कृत्वा विस्तरतस्तत्स्वरूपं निरूपयितुं सङ्ख्यातकं त्रिधेति यदुद्दिष्टं तद् विवृण्वन्नाह—

लहु संखिज्जं दु चिय, अओ परं मज्झिमं तु जा गुरुयं।
जंबूदीवपमाणयचउपल्लपरूवणाइ इमं ॥ ७२ ॥

इहैकको गणनसङ्ख्यां न लभते, यत एकस्मिन् घटादौ दृष्टे घटादि वस्त्विदं तिष्ठतीत्येवमेव प्रायः प्रतीतिरुत्पद्यते, नैकसङ्ख्याविषयत्वेन। अथवा आदानसमर्पणादिव्यवहारकाले एकं वस्तु प्रायो न कश्चिद् गणयति, अतोऽसंव्यवहार्यत्वादल्पत्वाद्वा नैको गणनसङ्ख्यां लभते, तस्माद् द्विप्रभृतिरेव गणनसङ्ख्या। अत एवाह—'सङ्ख्येयं' सङ्ख्यातकं 'लघु' जघन्यं—ह्रस्वं, चियशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, यदाहुः श्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः **प्राकृतलक्षणे**—"णइ चेअ चिय च अवधारणे" (सि० ८-२-१८४) द्वावेव, नैकः, पूर्वोदितयुक्तेः। 'अतः परम्' एतस्माद् द्विकभूतजघन्यसङ्ख्यातकादूर्ध्वं मध्यमं तु सङ्ख्यातकं पुनस्त्रिचतुरादिकमनेकप्रकारं भवति। कियद्दूरं यावद् मध्यमं भवति? इत्याह—"जा गुरुयं" ति 'यावद्' इत्यवधौ 'गुरुकम्' उत्कृष्टं—सर्वोपरिवर्त्ति सङ्ख्यातकं प्राप्नोतीति शेषः। अथेदमेव गुरुकं सङ्ख्यातकं कथं विज्ञेयम्? इत्याह—'इदम्' अधुनैव वक्ष्यमाणस्वरूपं गुरुकं सङ्ख्यातकं ज्ञेयमिति शेषः। कया? 'जम्बूद्वीपप्रमाणचतुष्पल्यप्ररूपणया' जम्बूनाम्ना वृक्षेणोपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपस्तेन जम्बूद्वीपेन प्रमाणम्—इयत्तावधारणं येषां ते जम्बूद्वीपप्रमाणकास्ते च ते चत्वारः—चतुःसङ्ख्याः पल्याश्च—धान्यपल्या इव जम्बूद्वीपप्रमाणकचतुःपल्यास्तेषां प्रकृष्टरूपा प्ररूपणा—व्यावर्णना तया। एतदुक्तं भवति—यथा जम्बूद्वीपो लक्षयोजनप्रमाण एवमेतेऽप्यायामविष्कम्भाभ्यां प्रत्येकं लक्षयोजनप्रमाणा वृत्ताकारत्वाच्च परिधिना,

[1]परिही तिलक्ख सोलस, सहस्स दो य सय सत्तवीसहिया ।
कोसतिय अट्ठवीसं, धणुसय तेरंगुलद्धहियं ।। (बृह० क्षे० गा० ६)

इतिगाथाभिहितप्रमाणोपेताः । उक्तं च श्रीमदनुयोगद्वारसूत्रे–

[2]जहन्नयं संखिज्जयं [3]किन्तिल्लियं होइ ? दो रूवाइं । तेण परं अजहन्नमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयसंखिज्जयं न पावइ । उक्कोसयं संखिज्जयं [4]किन्तियं होइ ? उक्कोसयस्स संखिज्जयस्स परूवणं करिस्सामि–से जहानामए पल्ले सिया एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसयसहस्साइं सोलस सहस्साइं दोन्नि य सत्तावीसे जोयणसए तिन्नि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस अंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचि विसेसाहियं परिक्खेवेणं (पत्र २३५–१)

ततो जम्बूद्वीपप्रमाणचतुःपल्यप्ररूपणयेदमुत्कृष्टं सङ्ख्यातकं प्ररूपयिष्यत इति भावः ॥७२॥

अथैते चत्वारोऽपि पल्याः किंनामानः ? इत्येतदाह—

पल्लाऽणवट्ठियसलागपडिसलागमहासलागक्खा ।
जोयणसहसोगाढा, सवेइयंता ससिहभरिया ॥ ७३ ॥

धान्यपल्य इव पल्याः कल्प्यन्ते, ते च जम्बूद्वीपप्रमाणाः । किंनामानः ? इत्याह–"अणवट्ठिय" इत्यादि । यथोत्तरं वर्धमानस्वभावतयाऽवस्थितरूपाभावादू अनवस्थित एवोच्यते । तथेह शलाकाः–एकैकसर्षपप्रक्षेपलक्षणास्ताभिः शलाकाभिर्भ्रियमाणत्वात् पल्योऽपि शलाका । तथा प्रतिशलाकाभिर्निष्पन्नत्वात् प्रतिशलाका । महाशलाकाभिर्निवृत्तत्वात् महाशलाका । तत एषां द्वन्द्वेऽनवस्थितशलाकाप्रतिशलाकामहाशलाकास्ता इत्थम्भूता आख्याः-संज्ञा येषां तेऽनवस्थितशलाकाप्रतिशलाकामहाशलाकाख्याः । त एव विशिष्यन्ते–योजनसहस्रं तु अवगाढाः । इदमुक्तं भवति–रत्नप्रभायाः पृथिव्याः प्रथमं योजनसहस्रप्रमाणं रत्नकाण्डं भित्त्वा द्वितीये वज्रकाण्डे प्रतिष्ठिता इति । पुनस्त एव विशिष्यन्ते–"सवेइयंत" त्ति वज्रमय्या अष्टयोजनोच्छ्रायायाश्चत्वार्यष्टौ द्वादश योजनान्युपरिमध्याधोविस्तृताया जम्बूद्वीपनगरप्राकारकल्पाया जगत्या द्विगव्यूतोच्छ्रितेन पञ्चधनुःशतविस्तृतेन नानारत्नमयेन जालकटकेन परिक्षिप्ता या उपरि वेदिकेति पद्मवरवेदिकेत्यर्थः, द्विगव्यूतोच्छ्रिता पञ्चधनुःशतविस्तीर्णा गवाक्षहेमकिङ्किणीजालघण्टायुक्ता

---

१ परिधिस्त्रयो लक्षाः षोडश सहस्राणि द्वे च शते सप्तविंशत्यधिके । क्रोशत्रिकं अष्टाविंशं धनुःशतं त्रयोदशाङ्गुलान्यर्द्धाधिकानि ॥ २ जघन्यं सङ्ख्यातकं कियद् भवति ? द्वे रूपे । ततः परमजघन्योत्कृष्टानि स्थानानि यावद् उत्कृष्टसङ्ख्यातकं न प्राप्नोति । उत्कृष्टं सङ्ख्यातकं कियद् भवति ? उत्कृष्टस्य सङ्ख्यातकस्य प्ररूपणां करिष्ये–असौ यथानामकः पल्यः स्यात् एकं योजनशतसहस्रम् आयामविष्कम्भाभ्याम्, त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडश सहस्राणि द्वे च सप्तविंशे योजनशते त्रयश्च क्रोशा अष्टाविंशं च धनुःशतं त्रयोदशाङ्गुलानि अर्धाङ्गुलं च किञ्चिद् विशेषाधिकं परिक्षेपेण ॥ ३–४ केवइयं अनुयोगद्वारसूत्रे ॥

देवानामासनशयनमोहनविविधक्रीडास्थानमुभयतो वनखण्डवती तस्या अन्तः–पर्यवसानमग्रभाग इति यावद् वेदिकान्तः, ततश्च सह वेदिकान्तेन वर्तन्त इति सवेदिकान्ताः । ते च कथं सर्षपैर्भृताः ? इत्याह–''ससिहभरिय'' त्ति सह शिखया–उच्छ्रयलक्षणया वर्तन्त इति सशिखाः, ततः सशिखं यथा भवति तथा सर्षपैर्भृताः–पूरिताः सशिखभृताः कर्तव्या इति शेषः । अयमत्राशयः–एतेषां व्यावर्णितस्वरूपाणां चतुर्णामपि पल्यानां मध्याद् यो यथावसरं सर्षपैः पूर्यते तं योजनसहस्रावगाहादूर्ध्वं समधिकाष्टयोजनोच्छ्रितवेदिकान्तं पूरयित्वा तदुपरि तावत् शिखा वर्धनीया यावद् एकोऽपि सर्षपो नावतिष्ठत इति । अत्र सर्वे सवेदिकान्ताः सशिखभृताश्च कर्तव्या इति सामान्योक्तावपि प्रथममनवस्थितपल्य एव भृतः करणीयः । शेषास्तु यथावसरमेवेति मन्तव्यमिति ॥७३॥

अधुना तस्यानवस्थितपल्यस्य जम्बूद्वीपप्रमाणस्य सर्षपैर्भृतस्य यद् विधेयं तदाह–

तो दीवुदहिसु इक्किक सरिसवं खिविय निट्ठिए पढमे ।
पढमं व तदंतं चिय, पुण भरिए तम्मि तह खीणे ॥ ७४ ॥

'ततः' सर्षपभरणादनन्तरमसत्कल्पनया केनचिद् देवेन दानवेन वा वामकरतले धृत्वा 'द्वीपोदधिषु' द्वीपसमुद्रेषु एकैकं 'सर्षपं' सिद्धार्थं क्षिप्त्वा 'निष्ठिते' अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् निष्ठापिते–रिक्तीकृते 'प्रथमे' अनवस्थितपल्ये, कोऽर्थः ? एकं सर्षपं द्वीपे प्रक्षिपति, एकमुदधौ, पुनरप्येकं द्वीपे, एकमुदधौ, एवं प्रतिद्वीपं प्रत्युदधि चैकैकं सर्षपं प्रतिक्षिपन्नसौ देवो वा दानवो वा तावद् गतो यावदनवस्थितपल्यो निष्ठितो भवति । ततः किं विधेयम् ? इत्याह–''पढमं व'' इत्यादि । द्वीपे समुद्रे वा यत्रासावनवस्थितपल्यो निष्ठितो भवति ''तदंतं चिय'' त्ति स एवानवस्थितपल्यस्य निष्ठाकारी द्वीपः समुद्रो वाऽन्तः पर्यवसानं प्रमाणतया यस्य द्वितीयानवस्थितपल्यस्य स तदन्तस्तम् , द्वितीयानवस्थितपल्यप्रमाणाभिधायकं विशेषणमिदम् , ततस्तदन्तमेव चियशब्दस्यावधारणार्थत्वाद् विस्तीर्णतया तावत्प्रमाणमेवेत्यर्थः । 'प्रथममिव' आद्यपल्यमिवेत्युपमानेन द्वितीयमनवस्थितपल्यमपि सहस्रयोजनावगाढमष्टयोजनोच्छ्रितजगत्युपरिवेदिकोपशोभितं सशिखं सर्षपैर्भृतं कुर्यादिति सूचयति । ततः प्रथमानवस्थितपल्यमिव तदन्तमेव 'पुनः' भूयः 'भृते' सर्षपैः पूरिते 'तस्मिन्' द्वितीयानवस्थितपल्ये 'तथा' तेन प्रकारेण निक्षिप्तचरमसर्षपद्वीपादेरग्रत एकः सर्षपो द्वीपे, एकः समुद्रे इत्यादिना 'क्षीणे' निष्ठिते सति द्वितीयानवस्थितपल्ये ॥७४॥

ततः किं विधेयम् ? इत्याह–

खिप्पइ सलागपल्लेगु सरिसवो इय सलागख(खि)वणेणं ।
पुन्नो बीओ य तओ, पुव्वं पिव तम्मि उद्धरिए ॥७५॥

'क्षिप्यते' निधीयते शलाकापल्ये द्वितीये शलाकासंज्ञक एकसङ्ख्य एव सर्षपः, स च नानवस्थितपल्यसत्कः किन्त्वन्य एवेत्यवसीयते, "पुण भरिए तम्मि तह खीणे" (गा० ७४) इति सूत्रावयवस्य सामस्त्यरिक्तीकरणप्रतिपादनपरत्वात् । अन्ये त्वनवस्थितपल्यसत्क एव क्षिप्यते इत्याचक्षते, तत्त्वं तु केवलिनो विदन्तीति । आह किमिति द्वितीयपल्य एव निष्ठिते सत्येकस्य सर्षपस्य शलाकापल्ये प्रक्षेपणमभिहितं यावता प्रथमपल्येऽपि निष्ठिते तत्रैकस्य सर्षपस्य प्रक्षेपो युज्यते ? इति, तदयुक्तम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, यतोऽनवस्थितपल्यशलाकाभिरेवासौ पूरणीयः, प्रथमश्च लक्षयोजनविस्तृतत्वेनावस्थितपरिमाणतयाऽनवस्थित एव न भवतीत्यतो द्वितीयाद्यनवस्थितपल्यशलाका एव तत्र प्रक्षेपमर्हन्तीति । न चैतत् स्वमनीषिकाविजृम्भितम्, यदुक्तमनुयोगद्वारेषु---

[1]से णं पल्ले सिद्धत्थयाणं भरिए, तओ णं तेहिं सिद्धत्थएहिं दीवसमुद्दाणं उद्धारे घिप्पइ, एगे दीवे एगे समुद्दे एगे दीवे एगे समुद्दे एवं खिप्पमाणेहिं खिप्पमाणेहिं जावइया णं दीवसमुद्दा तेहिं सिद्धत्थएहिं अप्फुन्ना एस णं एवइए खित्ते पल्ले आइट्ठे । से णं पल्ले सिद्धत्थयाणं भरिए, तओ णं तेहिं सिद्धत्थएहिं दीवसमुद्दाणं उद्धारे घिप्पइ, एगे दीवे एगे समुद्दे एगे दीवे एगे समुद्दे एवं खिप्पमाणेहिं खिप्पमाणेहिं जावइया णं दीवसमुद्दा तेहिं सिद्धत्थएहिं अप्फुन्ना एस णं एवइए खित्ते पल्ले पढमा सलागा (पत्र २३५-२) इति ।

यश्च "पल्लाणवट्ठिय" (गा० ७३) इत्यादिगाथायां प्रथमस्यानवस्थितव्यपदेशोऽसौ योग्यतामात्रेण राज्यार्हकुमारस्य राजव्यपदेशवद् द्रष्टव्यः । "इय सलागखवणेण पुन्नो बीओ य" त्ति 'इति' अमुना पूर्वप्रदर्शितशलाकाक्षेपणप्रकारेण 'द्वितीयश्च' शलाकापल्यः पूर्णो भृतो भवति सशिख इति यावत् । इयमत्र भावना--ततो यस्मिन् द्वीपे समुद्रे वा स एव द्वितीयपल्यो निष्ठां गतस्तदन्ता मूलतः सर्वेऽपि ये द्वीपसमुद्रास्तावत्प्रमाणः पुनरन्यः पल्यः परिकल्प्यते पूर्ववत् सर्षपैः पूर्यते, ततस्तं तावत्प्रमाणं पल्यमुत्पाट्य ततो निष्ठितस्थानात् परतो द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेत्, यावदसौ निष्ठितो भवति, ततो द्वितीया शलाका सर्षपरूपा शलाकापल्ये प्रक्षिप्यते । ततोऽपि यस्मिन् द्वीपे समुद्रे वा स एष तृतीयोऽनवस्थितपल्यो निष्ठितस्तदन्ता मूलतः सर्वेऽपि ये द्वीपसमुद्रस्तावत्प्रमाणः पुनरन्यः पल्यः परिकल्प्यते पूर्ववत् सर्षपैरापूर्यते, ततस्तं तावत्प्रमाणं

---

१ स पल्यः सिद्धार्थकैर्भृतः, ततस्तैः सिद्धार्थकैर्द्वीपसमुद्राणां उद्धारो गृह्यते, एको द्वीपे एकः समुद्रे एको द्वीपे एकः समुद्रे एवं क्षिप्यमाणैः क्षिप्यमाणैः यावन्तो द्वीपसमुद्रास्तैः सिद्धार्थकैः स्पृष्टा एष एतावान् क्षेत्रे पल्य आदिष्टः । स पल्यः सिद्धार्थकैर्भृतः, ततस्तैः सिद्धार्थकैर्द्वीपसमुद्राणामुद्धारो गृह्यते, एको द्वीपे एकः समुद्रे एको द्वीपे एकः समुद्रे एवं क्षिप्यमाणैः क्षिप्यमाणैः यावन्तो द्वीपसमुद्रास्तैः सिद्धार्थकैः स्पृष्टा एषा एतावति क्षेत्रे पल्ये प्रथमा शलाका ॥

पल्यमुत्पाट्य ततो निष्ठितस्थानात् परतो द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेद् यावदसौ निष्ठितो भवति, ततस्तृतीया सर्षपरूपा शलाका शलाकापल्ये प्रक्षिप्यते । एवमनेन क्रमेण पुनः पुनरनवस्थितपल्यस्य सर्षपभरणरिक्तीकरणलब्धैकैकसर्षपरूपाभिः शलाकाभिः शलाकापल्यो यथोक्तप्रमाणः सशिखाकस्तावत् पूरयितव्यो यावत् तत्रैकोऽप्यन्यः सर्षपो न मातीति । "बीओ य" त्ति इत्यत्र चशब्दात् पूर्वपरिपाट्यागतोऽनवस्थितपल्यः सर्षपैरापूरणीयः, ततः किं विधेयम् ? इत्याह— "तओ पुव्वं पिव तम्मि उद्धरिए" त्ति 'ततः' शलाकापल्यपूर्वपरिपाट्यागतानवस्थितपल्यापूरणानन्तरं पूर्ववत् 'तस्मिन्' शलाकापल्ये उद्धृते सति ॥७५॥

खीणे सलाग तइए, एवं पढमेहिं बीययं भरसु ।
तेहि य तइयं तेहि य, तुरियं जा किर फुडा चउरो ॥७६॥

'क्षीणे च' निर्लेपे सति सर्षपरूपा शलाका 'तृतीये' प्रतिशलाकापल्ये प्रक्षिप्यते इतीयमक्षरगमनिका । भावार्थस्त्वयम्—ततः शलाकापल्यापूरणानन्तरं तं शलाकापल्यं वामकरतले कृत्वा पूर्वानवस्थितपल्यचरमसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात् समुद्राद्वा परतः प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं चैकैकं सर्षपं प्रक्षिपेद् यावदसौ निष्ठितो भवति, ततः प्रतिशलाकापल्ये सर्षपरूपा प्रथमा प्रतिशलाका प्रक्षिप्यते । ततोऽनन्तरोक्तोऽनवस्थितपल्य उत्पाट्यते, ततः शलाकापल्यसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात् समुद्राद्वा परतः पूर्वक्रमेण द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेद् यावदसौ निःशेषतो रिक्तो भवति । ततः शलाकापल्ये पुनरपि सर्षपरूपा एका शलाका प्रक्षिप्यते । ततोऽनन्तरोक्तानवस्थितपल्यचरमसर्षपाक्रान्तो द्वीपः समुद्रो वा यस्तदन्तमनवस्थितपल्यं सर्षपैर्भृत्वा ततः परतः पुनरप्येकैकं सर्षपं प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं च प्रक्षिपेद् यावदसौ निष्ठितो भवति, ततो द्वितीया शलाका शलाकापल्ये प्रक्षिप्यते । एवमपरापरानवस्थितपल्यापूरणरिक्तीकरणलब्धैकैकसर्षपैर्यदा शलाकापल्य आपूरितो भवति पूर्वपरिपाट्या चानवस्थितपल्यस्तदा शलाकापल्यमुत्पाट्य प्राक्तनानवस्थितपल्यचरमसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात् समुद्राद्वा परतः प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं चैकैकं सर्षपं प्रक्षिपेद् यावदसौ निर्लेपो भवति, ततः प्रतिशलाकापल्ये द्वितीया शलाका प्रक्षिप्यते । ततोऽनवस्थितपल्यमुत्पाट्यानन्तररिक्तीकृतशलाकापल्यचरमसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात् समुद्राद्वा परतः पूर्वक्रमेण द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेद् यावदसौ निष्ठितो भवति, ततः पुनरपि शलाकापल्ये सर्षपरूपा शलाका प्रक्षिप्यते । यत्र चासौ द्वीपे समुद्रे वा निष्ठितस्तावत्प्रमाणविस्तरात्मकमनवस्थितपल्यं सर्षपैरापूर्य ततः परतः पूर्वक्रमेण द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेद् यावदसौ निष्ठितो भवति, ततः शलाकापल्ये द्वितीया शलाका सर्षपरूपा प्रक्षिप्यते । एवमनेन क्रमेण तावद् वक्तव्यं यावत् त्रयोऽपि प्रतिशलाकापल्यशलाकापल्यानवस्थितपल्याः परिपूर्णमापूरिता भवन्ति । ततः प्रति-

शलाकापल्यमुत्पाट्य निष्ठितस्थानात् परतः प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रमेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेद् यावदसौ निष्ठितो भवति, ततो महाशलाकापल्ये एका सर्षपरूपा शलाका प्रक्षिप्यते। ततः शलाकापल्यमुत्पाट्य प्रतिशलाकापल्यगतचरमसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात् समुद्राद्वा परतः प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रमेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेद् यावदसौ निष्ठितो भवति, ततः प्रतिशलाकापल्ये प्रतिशलाका प्रक्षिप्यते। ततोऽनवस्थितपल्यमुत्पाटयेत्, उत्पाट्य च शलाकापल्यगतचरमसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात् समुद्राद्वा परतो द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपंस्तावद् गच्छेद् यावदसौ निःशेषतो रिक्तो भवति, ततः शलाकापल्ये प्रथमा शलाका प्रक्षिप्यते, ततोऽनन्तरोक्तानवस्थितपल्यगतचरमसर्षपाक्रान्तो द्वीपः समुद्रो वा यस्तत्पर्यन्तविस्तरात्मकोऽनवस्थितपल्यः कल्पयित्वा सर्षपैरापूर्यते, ततस्तमुत्पाट्य ततो निष्ठितस्थानात् परतो द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेद् यावदसौ निर्लेपो भवति, ततो द्वितीया शलाका शलाकापल्ये प्रक्षिप्यते, एवं शलाकापल्य आपूरणीयः, एवमापूरणोत्पाटनप्रक्षेपपरम्परया तावद्वक्तव्यं यावन्महाशलाकापल्यप्रतिशलाकापल्यशलाकापल्यानवस्थितपल्याः सर्वेऽपि परिपूर्णशिखायुक्ताः समापूरिता भवन्ति। एतदेव निगमयन्नाह—"एवं पढमेहिं" इत्यादि, 'एवम्' अनेन प्रदर्शितक्रमेण 'प्रथमैः' अनवस्थितपल्यैर्द्वितीयमेव द्वितीयकं—शलाकापल्यं 'भरस्व' पूरय, 'तैश्च' द्वितीयस्थानवर्तिभिः शलाकापल्यैः 'तृतीयं' प्रतिशलाकापल्यं 'भरस्व' 'तैश्च' प्रतिशलाकापल्यैः 'तुर्यं' चतुर्थं महाशलाकापल्यं तावद् भरस्व यावत् 'किल' इत्याप्तागमवादसंसूचकः 'स्फुटाः' व्याप्ताः सशिखा भृता इति यावत् 'चत्वारः' चतुःसङ्ख्या अनवस्थितशलाकाप्रतिशलाकामहाशलाकाख्याः पल्या भवन्तीति ॥७६॥ ततश्चतुर्णां पल्यानां पूर्णत्वे यत् सम्पद्यते तदाह—

पढमतिपल्लुद्धरिया, दीवुदही पल्लचउसरिसवा य।
सव्वो वि एस रासी, रूवूणो परमसंखिज्जं ॥७७॥

प्रथमम्—आद्यं यत् त्रिपल्यं—पल्यत्रयमनवस्थितशलाकाप्रतिशलाकाख्यं तेनोद्धृताः—एकैकसर्षपप्रक्षेपेण व्याप्ताः प्रथमत्रिपल्योद्धृताः, क एते? इत्याह—द्वीपोदधयो न केवलं द्वीपोदधयः पल्यचतुष्कसर्षपाश्च, किं भवति? इत्याह—'सर्वोऽपि' समस्तोऽपि 'एषः' अनन्तरोक्तः सर्षपव्याप्तद्वीपसमुद्रपल्यचतुष्कगतसर्षपलक्षणः 'राशिः' सङ्घातः 'रूपोनः' एकेन सर्षपरूपेण रहितः सन् 'परमसङ्ख्येयम्' उत्कृष्टसङ्ख्यातकं भवतीति। तदेवं तावदिदमुत्कृष्टं सङ्ख्येयकम्। जघन्यं तु द्वौ, जघन्योत्कृष्टयोश्चान्तराले यानि सङ्ख्यास्थानानि तानि सर्वाणि मध्यमं सङ्ख्येयकमिति सामर्थ्यादुक्तं भवति। सिद्धान्ते च यत्र क्वचित् सङ्ख्यातग्रहणं करोति तत्र सर्वत्रापि मध्यमं सङ्ख्येयकं द्रष्टव्यम्। यदुक्तमनुयोगद्वारचूर्णौ—

[1]सिद्धंते य जत्थ जत्थ संखिज्जगगहणं कतं तत्थ तत्थ सव्वं अजहन्नमणुक्कोसयं दट्ठव्वं (पत्र ८१) इति ।

इदं चोत्कृष्टं सङ्ख्येयकमित्थमेव प्ररूपयितुं शक्यते, द्विकादिदशशतसहस्रलक्षकोट्यादिशीर्षप्रहेलिकान्तराशिभ्योऽतिबहुना समतिक्रान्तत्वेन प्रकारान्तरेणाख्यातुमशक्यत्वात् । यदाहुः-प्रसिद्धसिद्धान्तसन्दोहविवरणप्रकरणकरणप्रमाण(ग्रन्थ)ग्रथनावाप्तसुधांशुधामधवलयशःप्रसरधवलितसकलवसुन्धरावलयाः **श्रीहरिभद्रसूरिपादा अनुयोगद्वारटीकायाम्**--

[2]जंबूद्दीवप्पमाणमेत्ता चत्तारि पल्ला—पढमो अणवट्ठियपल्लो, बिइओ सलागापल्लो, तईओ पडिसलागापल्लो, चउत्थओ महासलागापल्लो । एए चउरो वि रयणप्पहपुढवीए पढमं रयणकंडं जोयणसहस्सावगाहं भित्तूण बिइए वयरकंडे पइट्ठिया । इमा ठवणा-○○○○ । एए ठविया । एगो गणणं न उवेइ, दुप्पभिई संख त्ति काउं । तत्थ पढमे अणवट्ठियपल्ले दो सरिसवा पक्खित्ता एयं जहन्नगं संखिज्जगं । ततो एगुत्तरवुड्ढीए तिन्नि चउरो पंच जाव सो पुन्नो अन्नं सरिसवं न पडिच्छइ त्ति ताहे असब्भावट्ठवणं पडुच्च वुच्चति—तं को वि देवो दाणवो वा उक्खित्तुं वामकरयले काउं ते सरिसवे जंबूदीवाइए एगं दीवे एगं समुद्दे पक्खिविज्जा जाव निट्ठिया, ताहे सलागापल्ले एगो सरिसवो छूढो । जत्थ निट्ठिओ तेण सह आरिल्लएहिं दीवसमुद्देहिं पुणो अन्नो पल्लो आइज्जइ, सो वि सरिसवाणं भरिओ, तओ परओ एक्केक्कं दीवसमुद्देसु पक्खिवंतेणं निट्ठाविओ, तओ सलागापल्ले बिइया सलागा पक्खित्ता । एवं एएणं अणवट्ठियपल्लकरणक्कमेण सलायग्गहणं करेंतेण सलागापल्लो सलागाणं भरिओ, कमागतो अणवट्ठियओ वि । तओ सलागापल्लो सलागं न पडिच्छइ त्ति काउं सो चेव उक्खित्तो निट्ठियट्ठाणाओ परओ पुव्वक्कमेण पक्खित्तो निट्ठिओ य,

---

१ सिद्धान्ते च यत्र यत्र सङ्ख्यातकग्रहणं कृतं तत्र तत्र सर्वमजघन्यमनुत्कृष्टं द्रष्टव्यम् ॥ २ जम्बूद्वीपप्रमाणमात्राश्चत्वारः पल्याः-प्रथमोऽनवस्थितपल्यः, द्वितीयः शलाकापल्यः, तृतीयः प्रतिशलाकापल्यः, चतुर्थको महाशलाकापल्यः । एते चत्वारोऽपि रत्नप्रभापृथ्व्याः प्रथमं रत्नकाण्डं योजनसहस्रावगाहं भित्त्वा द्वितीयस्मिन् वज्रकाण्डे प्रतिष्ठिताः । एषा स्थापना ○ ○ ○ ○ । एते स्थापिताः । एको गणनां नोपैति, द्विप्रभृति सङ्ख्येति कृत्वा । तत्र प्रथमेऽनवस्थितपल्ये द्वौ सर्षपौ प्रक्षिप्तौ एतज्जघन्यकं सङ्ख्यातकम् । तत एकोत्तरवृद्ध्या त्रयश्चत्वारः पञ्च यावत् स पूर्णोऽन्यं सर्षपं न प्रतीच्छति इति तदा असद्भावस्थापनां प्रतीत्योच्यते-तं कोऽपि देवो दानवो वोत्क्षिप्य वामकरतले कृत्वा तान् सर्षपान् जम्बूद्वीपादिके एकं द्वीपे एकं समुद्रे प्रक्षिपेद् यावन्निष्ठिताः, तदा शलाकापल्ये एकः सर्षपो क्षिप्तः । यत्र निष्ठितस्तेन सह आरातीयैर्द्वीपसमुद्रैः पुनरन्यः पल्यः आदीयते, सोऽपि सर्षपैर्भृतः, ततः परत एकैकं द्वीपसमुद्रेषु प्रक्षिपता निष्ठापितः, ततः शलाकापल्ये द्वितीया शलाका प्रक्षिप्ता । एवमेतेनानवस्थितपल्यकरणक्रमेण शलाकाग्रहणं कुर्वता शलाकापल्यः शलाकाभिर्भृतः, क्रमागतोऽनवस्थितोऽपि । ततः शलाकापल्यः शलाकां न प्रतीच्छति इति कृत्वा स एवोत्क्षिप्तो निष्ठितस्थानात् परतः पूर्वक्रमेण प्रक्षिप्तो निष्ठितश्च,

[1]तओ पडिसलागापल्ले पढमा सलागा छूढा। तओ अणवट्ठिओ उक्खित्तो निट्ठियट्ठाणाओ परओ पुव्वक्कमेण पक्खित्तो निट्ठिओ य, तओ सलागापल्ले सलागा पक्खित्ता । एवं अण्णेणं अण्णेणं अणवट्ठिएण आरिक्कनिक्किरंतेणं जाहे पुणो सलागापल्लो भरिओ अणवट्ठिओ य, ताहे पुणो सलागापल्लो उक्खित्तो पक्खित्तो निट्ठिओ य पुव्वक्कमेण, ताहे पडिसलागापल्ले बिइया पडिसलागा छूढा। एवं आइरणनिक्किरणेण जाहे तिन्नि वि पडिसलागसलागअणवट्ठियपल्ला य भरिता ताहे पडिसलागापल्लो उक्खित्तो पक्खिप्पमाणो निट्ठिओ य ताहे महासलागापल्ले पढमा महासलागा छूढा, ताहे सलागापल्लो उक्खित्तो पक्खिप्पमाणो निट्ठिओ य ताहे पडिसलागापल्ले सलागा पक्खित्ता। ताहे अणवट्ठिओ उक्खित्तो पक्खित्तो य ताहे सलागापल्ले सलागा पक्खित्ता । एवं आइरणनिक्किरणकमेण ताव कायव्वं जाव परंपरेणं महासलाग पडिसलाग सलाग अणवट्ठियपल्लो य चउरो वि भरिया, ताहे उक्कोसमइच्छियं। इत्थ जावइया अणवट्ठियपल्लसलागापल्लपडिसलागापल्लेण य दीवसमुद्दा उद्धरिया, जे य चउपल्लट्ठिया सरिसवा एस सव्वो वि एतप्पमाणो रासी एगरूवूणो उक्कोसयं संखिज्जयं हवइ। जहण्णुक्कोसट्ठाणमज्झे जे ठाणा ते सव्वे पत्तेयं अजहण्णमणुक्कोसया संखिज्जया भणियव्वा। सिद्धंते य जत्थ जत्थ संखिज्जयगहणं कयं तत्थ तत्थ सव्वं अजहन्नमणुक्कोसयं दट्ठव्वं। एवं संखेज्जगे परूविए सीसो पुच्छइ–भगवं! किमेएणं अणवट्ठियपल्लसलागपडिसलागाईहि य दीवसमुद्दुद्धारगहणेण य उक्कोससंखिज्जपरूवणा किज्जइ? गुरू भणइ–नत्थि अन्नो संखिज्जगस्स फुडयरो परूवणोवाओ त्ति ([1]पत्र १११) ॥७७॥

---

१ ततः प्रतिशलाकापल्ये प्रथमा शलाका क्षिप्ता ततोऽनवस्थित उत्क्षिप्तो निष्ठितस्थानात् परतः पूर्वक्रमेण प्रक्षिप्तो निष्ठितश्च, ततः शलाकापल्ये शलाका प्रक्षिप्ता। एवमन्येनान्येन अनवस्थितेन आकिरणनिष्किरणेन यदा पुनः शलाकापल्यः भृतोऽनवस्थितश्च, तदा पुनः शलाकापल्य उत्क्षिप्तः प्रक्षिप्तो निष्ठितश्च पूर्वक्रमेण, तदा प्रतिशलाकापल्ये द्वितीया प्रतिशलाका क्षिप्ता । एवं आकिरणनिष्किरणेन यदा त्रयोऽपि प्रतिशलाकाशलाकानवस्थितपल्याश्च भृताः तदा प्रतिशलाकापल्य उत्क्षिप्तः प्रक्षिप्यमाणो निष्ठितश्च तदा महाशलाकापल्ये प्रथमा महाशलाका क्षिप्ता, तदा शलाकापल्य उत्क्षिप्तः प्रक्षिप्यमाणो निष्ठितश्च तदा प्रतिशलाकापल्ये शलाका प्रक्षिप्ता । तदाऽनवस्थित उत्क्षिप्तः प्रक्षिप्तश्च तदा शलाकापल्ये शलाका प्रक्षिप्ता। एवं आकिरणनिष्किरणक्रमेण तावत् कर्त्तव्यं यावत् परम्परया महाशलाका प्रतिशलाका शलाकाऽनवस्थितपल्यश्च चत्वारोऽपि भृताः तदोत्कृष्टं अतिक्रान्तम्। अत्र यावन्तोऽनवस्थितपल्यशलाकापल्यप्रतिशलाकापल्यैश्च द्वीपसमुद्रा उद्धृताः, ये च चतुष्पल्यस्थिताः सर्षपा एष सर्वोऽपि एतत्प्रमाणो राशिरेकरूपोन उत्कृष्टकं सङ्ख्यातकं भवति। जघन्योत्कृष्टस्थानमध्ये यानि स्थानानि तानि सर्वाणि प्रत्येकं अजघन्यानुत्कृष्टानि सङ्ख्यातकानि भणितव्यानि। सिद्धान्ते च यत्र यत्र सङ्ख्येयग्रहणं कृतं तत्र तत्र सर्वं अजघन्यमनुत्कृष्टं द्रष्टव्यम्। एवं सङ्ख्यातके प्ररूपिते शिष्यः पृच्छति–भगवन्! किमेतेनानवस्थितपल्यशलाकाप्रतिशलाकादिभिश्च द्वीपसमुद्रोद्धारग्रहणेन चोत्कृष्टसङ्ख्यातकप्ररूपणा क्रियते? गुरुर्भणति–नास्त्यन्यः सङ्ख्येयकस्य स्फुटतरः प्ररूपणोपाय इति ॥ १ एष समग्रोऽपि पाठः अनुयोगद्वारचूर्णौ ७६ तमे पत्रेऽप्यस्ति ॥

इत्युक्तं त्रिविधमपि सङ्ख्येयकम्। इदानीं नवविधमसङ्ख्येयकं नवविधमेव चानन्तकं निरूपयिषुर्गाथायुगमाह—

रूवजुयं तु परित्तासंखं लहु अस्स रासि अब्भासे।
जुत्तासंखिज्जं लहु, आवलियासमयपरिमाणं ॥ ७८ ॥

पूर्वोक्तमेवोत्कृष्टं सङ्ख्येयकं 'रूपयुतं तु' रूपेण-एकेन सर्षपेण पुनर्युक्तं सत् 'लघु' जघन्यं 'परीत्तासङ्ख्य' परीत्तासङ्ख्येयकं भवति। इदमत्र हृदयम्—इह येनैकेन सर्षपरूपेण रहितोऽनन्तरोद्दिष्टो राशिरुत्कृष्टसङ्ख्यातकमुक्तं तत्र राशौ तस्यैव रूपस्य निक्षेपो यदा क्रियते तदा तदेवोत्कृष्टं सङ्ख्यातकं जघन्यं परीत्तासङ्ख्यातकं भवतीति। इह च जघन्यपरीत्तासङ्ख्येयकेऽभिहिते यद्यपि तस्यैव मध्यमोत्कृष्टभेदप्ररूपणावसरस्तथापि परीत्तयुक्तनिजपदभेदतस्त्रिभेदानामप्यसङ्ख्येयकानां मध्यमोत्कृष्टभेदौ पश्चादल्पवक्तव्यत्वात् प्ररूपयिष्येते, अतोऽधुना जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकं तावदाह—"अस्स रासि अब्भासे" इत्यादि अस्य राशेः-जघन्यपरीत्तासङ्ख्येयकगतराशेः 'अभ्यासे' परस्परगुणने सति 'लघु' जघन्यं युक्तासङ्ख्येयकं भवति। तच्च 'आवलिकासमयपरिमाणम्' आवलिका—"[1]असंखिज्जाणं समयाणं समुदयसमिइसमागमेणं" (अनुयो० पत्र १७८-२) इत्यादिसिद्धान्तप्रसिद्धा तस्याः समयाः निर्विभागाः कालविभागास्तत्परिमाणमावलिकासमयपरिमाणम्, जघन्ययुक्तासङ्ख्येयकतुल्यसमयराशिप्रमाणा आवलिका इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति-जघन्यपरीत्तासङ्ख्येयकसम्बन्धीनि यावन्ति सर्षपलक्षणानि रूपाणि तान्येकैकशः पृथक् पृथक् संस्थाप्य तत एकैकस्मिन् रूपे जघन्यपरीत्तासङ्ख्यातकप्रमाणो राशिर्व्यवस्थाप्यते, तेषां च राशीनां परस्परमभ्यासो विधीयते। इदं भावना—असत्कल्पनया किल जघन्यपरीत्तासङ्ख्येयकराशिस्थाने पञ्च रूपाणि कल्प्यन्ते, तानि विरिच्यन्ते-जाताः पञ्चैककाः ११११, एककानामधः प्रत्येकं पञ्चैव वाराः पञ्च पञ्च व्यवस्थाप्यन्ते। तद्यथा-$\frac{1\,1\,1\,1\,1}{5\,5\,5\,5\,5}$। अत्र पञ्चभिः पञ्च गुणिता जाता पञ्चविंशतिः, साऽपि पञ्चभिराहता जातं पञ्चत्रिंशं शतम् इत्यादिक्रमेणामीषां राशीनां परस्पराभ्यासे जातानि पञ्चविंशत्यधिकान्येकत्रिंशच्छतानि ३१२५। एष कल्पनया तावदेतावन्मात्रो राशिर्भवति, सद्भावतस्त्वसङ्ख्येयरूपो जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकतया मन्तव्य इति ॥ ७८ ॥

निरूपितं जघन्ययुक्तासङ्ख्येयकम्। सम्प्रति शेषजघन्यासङ्ख्यातासङ्ख्यातकभेदस्य जघन्यपरित्तानन्तकादिस्वरूपाणां त्रयाणां जघन्यानन्तकभेदानां च स्वरूपमतिदेशतः प्रतिपिपादयिषुराह—

बिनिचउपंचमगुणणे, कमा सगासंख पढमचउसत्त।
णंता ते रूवजुया, मज्झा रूवूण गुरु पच्छा ॥ ७९ ॥

---

१ असङ्ख्येयानां समयानां समुदयसमितिसमागमेन ॥

इह "संखिज्जेगमसंखं" (गा० ७१) इत्यादिगाथोपन्यस्तोत्कृष्टासङ्ख्यातकादि[1] मौलसप्तपदापेक्षया सङ्ख्यातकाद्यभेदविकलानि यानि परीत्तासङ्ख्यातकादीनि षट् पदानि तानि परीत्तासङ्ख्यातकानन्तानन्तकभेदद्वयविकलानि द्वित्रिचतुःपञ्चसङ्ख्यान्वेन प्रोक्तानि । ततः 'द्वित्रिचतुःपञ्चमगुणने' द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमपदवाच्यराशेरन्योऽन्याभ्यासे सति 'क्रमात्' क्रमेण "सगासंख" त्ति प्राकृतत्वात् 'सप्तमासङ्ख्यातम्' स्थापनापेक्षया

जघन्यसंख्यातकम् १	मध्यमसंख्यातकम् २	उत्कृष्टसंख्यातकम् ३
परीत्तासं० जघ० १	परीत्तासं० मध्य० २	परीत्तासं० उत्कृ० ३
युक्तासं० जघन्यम् ४	युक्तासं० मध्य० ५	युक्तासं० उत्कृ० ६
असं० असं० जघ० ७	असं० असं० मध्य० ८	असं० असं० उत्कृ० ९
परीत्तानन्तं जघ० १	परीत्तानन्तं मध्य० २	परीत्तानन्तं उत्कृ० ३
युक्तानन्तं जघ० ४	युक्तानन्त मध्य० ५	युक्तानन्तं उत्कृ० ६
अनन्तानन्तं जघ० ७	अनन्तानन्तं मध्य० ८	अनन्तानन्तं उत्कृ० ९

जघन्यासङ्ख्यातासङ्ख्यातकम् । "पढमचउसत्त णंत" त्ति प्राकृतत्वात् प्रथमचतुर्थसप्तमान्यनन्तकानि । तत्र प्रथमानन्तकं–जघन्यपरीत्तानन्तकम् चतुर्थानन्तकम्–जघन्ययुक्तानन्तकम् सप्तमानन्तकं–जघन्यानन्तानन्तकं भवतीति । इह जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदतोऽसङ्ख्येयकानन्तकयोः प्रत्येकं नवविधत्वात् प्रदर्शितभेदानां सप्तमप्रथमादिसङ्ख्यानं सङ्गच्छत एव । इदमत्रैदम्पर्यम्–द्वितीये युक्तासङ्ख्यातकपदवाच्ये जघन्ययुक्तासङ्ख्यातलक्षणे राशौ विवृते सति यावन्ति रूपाणि तावत्सु प्रत्येकं जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकमाना राशयोऽभ्यसनीयाः, ततस्तेषां राशीनां परस्परताडने यो राशिर्भवति तत् सप्तमासङ्ख्येयकं मन्तव्यम् । तृतीये त्वसङ्ख्येयकासङ्ख्येयकपदवाच्ये जघन्यासङ्ख्येयकासङ्ख्येयकरूपे राशौ यावन्ति रूपाणि तावतामेव जघन्यासङ्ख्येयकासङ्ख्येयकराशीनामन्योऽन्यगुणने सति यो राशिः सम्पद्यते तत् प्रथमानन्तकं जघन्यपरीत्तानन्तकमवसेयम् । चतुर्थे तु परीत्तानन्तकपदवाच्ये जघन्यपरीत्तानन्तकरूपे राशौ यावन्ति रूपाणि तावत्सङ्ख्यानां जघन्यपरीत्तानन्तकराशीनां परस्परमभ्यासे यावान् राशिर्भवति तत् चतुर्थमनन्तकं जघन्ययुक्तानन्तकं भवति । पञ्चमे तु युक्तानन्तकपदवाच्ये जघन्ययुक्तानन्तकरूपे राशौ यावन्ति रूपाणि तत्प्रमाणानामेव जघन्ययुक्तानन्तकराशीनां परस्परगुणने यावान् राशिः सम्पद्यते तत् सप्तमानन्तकं

१ मौलसप्तपदानि त्वेतानि–उत्कृष्टसङ्ख्यातकम् १ परीत्तासङ्ख्यातकम् २ युक्तासङ्ख्यातकम् ३ असङ्ख्यातासङ्ख्यातकम् ४ परीत्तानन्तकम् ५ युक्तानन्तकम् ६ अनन्तानन्तकम् ७ ॥

जघन्यानन्तानन्तकं भवति । आह परीत्तासङ्ख्यातकयुक्तासङ्ख्यातकासङ्ख्यातासङ्ख्यातकपरीत्तानन्तकयुक्तानन्तकानन्तानन्तकलक्षणाः षडपि राशयो जघन्यास्तावन्निर्दिष्टाः, मध्यमा उत्कृष्टाश्चैते कथं मन्तव्याः ? इत्याह–"ते रूवजुया" इत्यादि 'ते' अनन्तरोद्दिष्टा जघन्याः षडपि राशयो रूपेण–एककलक्षणेन युताः–समन्विता रूपयुताः सन्तः किं भवन्ति ? इत्याह–'मध्याः' मध्यमा अजघन्योत्कृष्टा इति यावत् । तत्र यः प्राग्निर्दिष्टो जघन्यपरीत्तासङ्ख्यातकराशिः स एकस्मिन् रूपे प्रक्षिप्ते मध्यमो भवति, उपलक्षणं चैतत् , नैकरूपप्रक्षेप एव मध्यमभणनं किन्त्वेकैकरूपनिक्षेपेऽयं तावद् मध्यमो मन्तव्यो यावद् उत्कृष्टपरीत्तासङ्ख्येयकराशिर्न भवतीति । एवमनया दिशा जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकादयोऽपि राशय एकैकस्मिन् रूपे निक्षिप्ते मध्यमाः सम्पद्यन्ते, तदनु चैकैकरूपवृद्ध्या तावद् मध्यमा अवसेया यावत् स्वं स्वमुत्कृष्टपदं नासादयन्तीति । तर्ह्येते षडपि किंस्वरूपाः सन्त उत्कृष्टा भवन्ति ? इत्याह–"रूवूण गुरु पच्छ" त्ति रूपेण–एककलक्षणेन ऊनाः–न्यूना रूपोनाः सन्तस्त एव प्रागभिहिता जघन्या राशयः, तेशब्द आवृत्त्येहापि सम्बन्धनीयः, किं भवन्ति ? इत्याह–'गुरवः' उत्कृष्टाः 'पाश्चात्याः' पश्चिमराशय इत्यर्थः । इयमत्र भावना–जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकराशिरेकेन रूपेण न्यूनः स एव पाश्चात्य उत्कृष्टपरीत्तासङ्ख्येयकस्वरूपो भवति, जघन्यासङ्ख्यातासङ्ख्यातकराशिस्त्वेकेन रूपेण न्यूनः सन् पाश्चात्य उत्कृष्टयुक्तासङ्ख्यातकस्वरूपो भवति, जघन्यपरीत्तानन्तकराशिः पुनरेकेन रूपेण न्यूनः पाश्चात्य उत्कृष्टासङ्ख्यातासङ्ख्यातकस्वरूपो भवति, जघन्ययुक्तानन्तकराशिस्त्वेकरूपोनः पाश्चात्य उत्कृष्टपरीत्तानन्तकस्वरूपो भवति, जघन्यानन्तानन्तकराशिरेकरूपरहितः पाश्चात्य उत्कृष्टयुक्तानन्तकस्वरूपो भवतीति । इदं चासङ्ख्येयकानन्तकभेदानामित्थं प्ररूपणमागमाभिप्रायत उक्तं, कैश्चिदन्यथाऽपि चोच्यते ॥७९॥ अत्र एवाह–

इय सुत्तुत्तं अन्ने, वग्गियमिक्कसि चउत्थयमसंखं ।
होइ असंखासंखं, लहु रूवजुयं तु तं मज्झं ॥८०॥

'इति' पूर्वोक्तप्रकारेण यद् असङ्ख्यातकानन्तकस्वरूपं प्रतिपादितं तत् सूत्रे–अनुयोगद्वारलक्षणे सिद्धान्ते उक्तं–निगदितम् । तथा चोक्तं श्रीअनुयोगद्वारेषु—

[1]उक्कोसए संखिज्जए रूवं पक्खित्तं जहन्नयं परित्तासंखिज्जयं होइ । तेण परं अजहन्नमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं परित्तासंखिज्जयं न पावेइ । उक्कोसयं परित्तासंखिज्जयं कित्तियं होइ ? जहन्नयं परित्तासंखिज्जयं जहन्नयपरित्तासंखिज्जयमित्ताणं रासीणं अन्नमन्नब्भासो रूवूणो

१ उत्कृष्टके सङ्ख्येयके रूपं प्रक्षिप्तं जघन्यकं परीत्तासङ्ख्येयकं भवति । ततः परमजघन्योत्कृष्टकानि स्थानानि यावदुत्कृष्टं परीत्तासङ्ख्येयकं न प्राप्नोति । उत्कृष्टकं परीत्तासङ्ख्येयकं कियद् भवति ? जघन्यकं परीत्तासङ्ख्येयकं जघन्यपरीत्तासङ्ख्येयकमात्राणां राशीनामन्योन्याभ्यासो रूपोन

[1]उक्कोसयं परित्तासंखिज्जयं हवइ, अहवा जहन्नयं जुत्तासंखिज्जयं रूवूणं उक्कोसयं परित्तासंखिज्जयं होइ। जहन्नयं जुत्तासंखिज्जयं कित्तियं होइ ? जहन्नयपरित्तासंखिज्जयमित्ताणं रासीणं अन्नमन्नब्भासो पडिपुन्नो जहन्नयं जुत्तासंखिज्जयं होइ, अहवा उक्कोसए परित्तासंखिज्जए रूवं पक्खित्तं जहन्नयं जुत्तासंखिज्जयं होइ, आवलिया वि तित्तिलया चेव। तेण परं अजहन्नमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं जुत्तासंखिज्जयं न पावइ। उक्कोसयं जुत्तासंखिज्जयं कित्तिलयं होइ ?, जहन्नएणं जुत्तासंखिज्जएणं आवलिया गुणिया अन्नमन्नब्भासो रूवूणो उक्कोसयं जुत्तासंखिज्जयं होइ, अहवा जहन्नयं असंखिज्जासंखिज्जयं रूवूणं उक्कोसयं जुत्तासंखिज्जयं होइ। जहन्नयं असंखिज्जासंखिज्जयं कित्तियं होइ ? जहन्नएणं जुत्तासंखिज्जएणं आवलिया गुणिया अन्नमन्नब्भासो पडिपुन्नो जहन्नयं असंखिज्जासंखिज्जयं होइ, अहवा उक्कोसए जुत्तासंखिज्जए रूवं पक्खित्तं जहन्नयं असंखिज्जासंखिज्जयं होइ। तेण परं अजहन्नमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं असंखिज्जासंखिज्जयं न पावेइ। उक्कोसयं असंखिज्जासंखिज्जयं कित्तियं होइ? जहन्नयं असंखिज्जासंखिज्जयं जहन्नयअसंखिज्जासंखिज्जयमित्ताणं रासीणं अन्नमन्नब्भासो रूवूणो उक्कोसयं असंखिज्जासंखिज्जयं होइ, अहवा जहन्नयं परित्ताणंतयं रूवूणं उक्कोसयं असंखिज्जासंखिज्जयं होइ। जहन्नयं परित्ताणंतयं कित्तियं होइ ? जहन्नयं असंखिज्जासंखिज्जयं जहन्नयअसंखिज्जासंखिज्जयमित्ताणं रासीणं अन्नमन्नब्भासो पडिपुन्नो जहन्नयं परित्ताणंतयं होइ, अहवा उक्कोसए असंखिज्जासंखिज्जए रूवं पक्खित्तं जहन्नयं परित्ताणंतयं होइ। तेण परं अजहन्नमणुक्कोसयाइं

---

१ उत्कृष्टकं परीत्तासङ्ख्येयकं भवति, अथवा जघन्यकं युक्तासङ्ख्येयकं रूपोनं उत्कृष्टकं परीत्तासङ्ख्येयकं भवति। जघन्यकं युक्तासङ्ख्येयकं कियद् भवति ? जघन्यकपरीत्तासङ्ख्येयकमात्राणां राशीनामन्योन्याभ्यासः प्रतिपूर्णो जघन्यकं युक्तासङ्ख्येयकं भवति, अथवोत्कृष्टके परीत्तासङ्ख्येयके रूपं प्रक्षिप्तं जघन्यकं युक्तासङ्ख्येयकं भवति, आवलिकाऽपि तावत्येव। ततः परमजघन्योत्कृष्टकानि स्थानानि यावदुत्कृष्टकं युक्तासङ्ख्येयकं न प्राप्नोति। उत्कृष्टकं युक्तासङ्ख्येयकं कियद् भवति ? जघन्यकेन युक्तासङ्ख्येयकेनावलिका गुणिता अन्योन्याभ्यासो रूपोन उत्कृष्टकं युक्तासङ्ख्येयकं भवति, अथवा जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं रूपोनं उत्कृष्टकं युक्तासङ्ख्येयकं भवति। जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं कियद् भवति ? जघन्यकेन युक्तासङ्ख्येयकेनावलिका गुणिता अन्योन्याभ्यासः प्रतिपूर्णो जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं भवति, अथवोत्कृष्टके युक्तासङ्ख्येयके रूपं प्रक्षिप्तं जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं भवति। ततः परमजघन्योत्कृष्टकानि स्थानानि यावदुत्कृष्टकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं न प्राप्नोति। उत्कृष्टकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं कियद् भवति ? जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं जघन्यकासङ्ख्येयासङ्ख्येयकमात्राणां राशीनामन्योन्याभ्यासो रूपोन उत्कृष्टकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं भवति, अथवा जघन्यकं परीत्तानन्तकं रूपोनं उत्कृष्टकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं भवति। जघन्यकं परीत्तानन्तकं कियद् भवति ? जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयं जघन्यकासङ्ख्येयासङ्ख्येयकमात्राणां राशीनामन्योन्याभ्यासः प्रतिपूर्णो जघन्यकं परीत्तानन्तकं भवति, अथवोत्कृष्टकेऽसङ्ख्येयासङ्ख्येयके रूपं प्रक्षिप्तं जघन्यकं परीत्तानन्तकं भवति। ततः परमजघन्योत्कृष्टकानि

'ठाणाइं जाव उक्कोसयं परित्ताणंतयं न पावइ। उक्कोसयं परित्ताणंतयं कित्तियं होइ? जहन्नयं परित्ताणंतयं जहन्नयपरित्ताणंतयमित्ताणं रासीणं अन्नमन्नब्भासो रूवूणो उक्कोसयं परित्ताणंतयं होइ, अहवा जहन्नयं जुत्ताणंतयं रूवूणं उक्कोसयं परित्ताणंतयं होइ। जहन्नयं जुत्ताणंतयं कित्तियं होइ? जहन्नयं परित्ताणंतयं जहन्नयपरित्ताणंतयमित्ताणं रासीणं अन्नमन्नब्भासो पडिपुन्नो जहन्नयं जुत्ताणंतयं होइ, अहवा उक्कोसए परित्ताणंतए रूवं पक्खित्तं जहन्नयं जुत्ताणंतयं होइ, अभवसिद्धिया वि तत्तिया चेव। तेण परं अजहन्नमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं जुत्ताणंतयं न पावइ। उक्कोसयं जुत्ताणंतयं कित्तियं होइ? जहन्नएणं जुत्ताणंतएणं अभवसिद्धिया गुणिया अन्नमन्नब्भासो रूवूणो उक्कोसयं जुत्ताणंतयं होइ, अहवा जहन्नयं अणंताणंतयं रूवूणं उक्कोसयं जुत्ताणंतयं होइ। जहन्नयं अणंताणंतयं कित्तियं होइ? जहन्नएणं जुत्ताणंतएणं अभवसिद्धिया गुणिया अन्नमन्नब्भासो पडिपुन्नो जहन्नयं अणंताणंतयं होइ, अहवा उक्कोसए जुत्ताणंतए रूवं पक्खित्तं जहन्नयं अणंताणंतयं होइ। तेण परं अजहन्नमणुक्कोसयाइं ठाणाइं। ◁ एवं उक्कोसयं अणंताणंतयं नत्थि ▷ (२३८-१) इति।

उक्तः सूत्राभिप्रायः। साम्प्रतं मतान्तरगतमसङ्ख्यातानन्तकस्वरूपमाह—"अन्ने वग्गिय" इत्यादि। अन्ये आचार्याः—एके सूरय एवमाहुः, यथा—'चतुर्थकमसङ्ख्य' जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकरूपं 'वर्गितं' तावतैव राशिना गुणितं सत् "एक्कसि" त्ति एकवारं 'भवति' जायते—सम्पद्यते असङ्ख्यासङ्ख्य' 'लघु' जघन्यम्, जघन्यासङ्ख्यातासङ्ख्यातकं भवतीत्यर्थः। अत्रापि मते असङ्ख्यातकमुद्दिश्य मध्यमोत्कृष्टभेदप्ररूपणा पूर्वोक्तैवेति दर्शयन्नाह—"रूवजुयं तु तं मज्झं" ति रूपेण—सर्षपलक्षणेन युतं रूपयुतं 'तुः' अवधारणे व्यवहितसम्बन्धश्च 'तद्' इति तदेवानन्तराभिहितं जघन्यासङ्ख्येयासङ्ख्येयादिकम् किं भवति? इत्याह-'मध्यं' मध्यमासङ्ख्येयासङ्ख्येयादिकं भवति॥८०॥

---

१ स्थानानि यावदुत्कृष्टकं परीत्तानन्तकं न प्राप्नोति। उत्कृष्टकं परीत्तानन्तकं कियद् भवति? जघन्यकं परीत्तानन्तकं जघन्यकपरीत्तानन्तकमात्राणां राशीनामन्योन्याभ्यासो रूपोन उत्कृष्टकं परीत्तानन्तकं भवति, अथवा जघन्यकं युक्तानन्तकं रूपोनमुत्कृष्टकं परीत्तानन्तकं भवति। जघन्यकं युक्तानन्तकं कियद् भवति? जघन्यकं परीत्तानन्तकं जघन्यकपरीत्तानन्तकमात्राणां राशीनामन्योन्याभ्यासः प्रतिपूर्णो जघन्यकं युक्तानन्तकं भवति, अथवोत्कृष्टके परीत्तानन्तके रूपं प्रक्षिप्तं जघन्यकं युक्तानन्तकं भवति, अभवसिद्धिका अपि तावन्त एव। ततः परमजघन्योत्कृष्टकानि स्थानानि यावदुत्कृष्टकं युक्तानन्तकं न प्राप्नोति। उत्कृष्टकं युक्तानन्तकं कियद् भवति? जघन्यकेन युक्तानन्तकेनाभवसिद्धिका गुणिता अन्योन्याभ्यासो रूपोनः उत्कृष्टकं युक्तानन्तकं भवति, अथवा जघन्यकमनन्तानन्तकं रूपोनमुत्कृष्टकं युक्तानन्तकं भवति। जघन्यकमनन्तानन्तकं कियद् भवति? जघन्यकेन युक्तानन्तकेनाभवसिद्धिका गुणिता अन्योन्याभ्यासः प्रतिपूर्णो जघन्यकमनन्तानन्तकं भवति, अथवोत्कृष्टके युक्तानन्तके रूपं प्रक्षिप्तं जघन्यकमनन्तानन्तकं भवति। ततः परमजघन्योत्कृष्टकानि स्थानानि। एवमुत्कृष्टकमनन्तानन्तकं नास्ति॥ ▷ ◁ एतच्चिह्नान्तर्गतपाठो मुद्रितानुयोगद्वारेषु नास्ति॥

रूवूणमाइमं गुरु, ति वग्गिउं तं इमं दस क्खेवे ।
लोगागासपएसा, धम्माधम्मेगजियदेसा ॥ ८१ ॥

तदेव जघन्यासङ्ख्येयासङ्ख्येयादिकं 'रूपोनम्' एकेन रूपेण रहितं सद् 'आदिमं' तदपेक्षया आद्यस्य राशेः सम्बन्धि 'गुरु' उत्कृष्टं भवतीति । अयमत्राशयः—जघन्यासङ्ख्येयासङ्ख्येयकं रूपोनं सद् युक्तासङ्ख्यातकमुत्कृष्टकं भवति, जघन्यपरीत्तानन्तं रूपोनमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकमुत्कृष्टं भवति, जघन्ययुक्तानन्तं तु रूपोनमुत्कृष्टं परीत्तानन्तं भवति, जघन्यानन्तानन्तकं तु रूपोनमुत्कृष्टं युक्तानन्तकं भवतीति । अधुना जघन्यपरीत्तानन्तकं मतान्तरेण प्ररूपयन्नाह—"ति वग्गिउं तं" इत्यादि । 'तद्' इति प्रागभिहितं जघन्यासङ्ख्येयासङ्ख्येयकं 'त्रिर्वर्गयित्वा' सदृशद्विराशी परस्परं त्रीन् वारानभ्यस्येत्यर्थः । अयमत्राशयः—जघन्यासङ्ख्येयासङ्ख्येयकराशेः सदृशद्विराशिगुणनलक्षणो वर्गो विधीयते, तस्यापि वर्गराशेः पुनर्वर्गः क्रियते, तस्यापि वर्गराशेः पुनरपि वर्गो निष्पाद्यत इति । ततः किम् ? इत्याह—'इमान्' वक्ष्यमाणस्वरूपान् 'दश' इति दशसङ्ख्यान् क्षिप्यन्त इति कर्मणि घञि क्षेपाः—प्रक्षेपणीयराशयस्तान् 'क्षिपस्व' निधेहीत्युत्तरगाथायां सम्बन्धः । तथाहि—लोकाकाशस्य प्रदेशाः १ धर्मश्च अधर्मश्च एकजीवश्च धर्माधर्मैकजीवास्तेषां देशाः—प्रदेशाः । अयमत्रार्थः—धर्मास्तिकायप्रदेशाः २ अधर्मास्तिकायप्रदेशाः ३ एकजीवप्रदेशाः ४ ॥ ८१ ॥ तथा—

ठिइबंधज्झवसाया, अणुभागा जोगछेयपलिभागा ।
दुण्ह य समाण समया, पत्तेयनिगोयए खिवसु ॥ ८२ ॥

स्थितिबन्धस्य कारणभूतान्यध्यवसायस्थानानि कषायोदयरूपाण्यध्यवसायशब्देनोच्यन्ते, तान्यसङ्ख्येयान्येव । तथाहि—ज्ञानावरणस्य जघन्योऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः स्थितिबन्धः, उत्कृष्टतस्तु त्रिंशत्सागरोपमकोटाकोटीप्रमाणः, मध्यमपदे त्वेकद्वित्रिचतुरादिसमयाधिकान्तर्मुहूर्तादिकोऽसङ्ख्येयभेदः, एषां च स्थितिबन्धानां निर्वर्तकान्यध्यवसायस्थानानि प्रत्येकमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भिन्नान्येव, एवं च सत्येकस्मिन्नपि ज्ञानावरणेऽसङ्ख्येयानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि लभ्यन्ते, एवं दर्शनावरणादिष्वपि वाच्यम् । "अणुभाग" त्ति 'अनुभागाः' ज्ञानावरणादिकर्मणां जघन्यमध्यमादिभेदभिन्ना रसविशेषाः, एतेषां चानुभागविशेषाणां निर्वर्तकान्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्त्यतोऽनुभागविशेषा अप्येतावन्त एव द्रष्टव्याः, कारणभेदाश्रितत्वात् कार्यभेदानाम् । "जोगछेयपलिभाग" त्ति योगः—मनोवाकायविषयं वीर्यं तस्य केवलिप्रज्ञाच्छेदेन प्रतिविशिष्टा निर्विभागा भागा योगच्छेदप्रतिभागाः, ते च निगोदादीनां संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तानां जीवानामाश्रिता जघन्यादिभेदभिन्ना असङ्ख्येया मन्तव्याः ।

"दुण्ह य समाण समय" त्ति 'द्वयोश्च समयोः' उत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालस्वरूपयोः समया असङ्ख्येयस्वरूपाः । "पत्तेयनिगोयए" त्ति अनन्तकायिकान् वर्जयित्वा शेषाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसाः प्रत्येकशरीरिणः सर्वेऽपि जीवा इत्यर्थः, ते चासङ्ख्येया भवन्ति । निगोदाः सूक्ष्माणां बादराणां चानन्तकायिकवनस्पतिजीवानां शरीराणीत्यर्थः, ते चासङ्ख्याताः । एवमेते प्रत्येकमसङ्ख्येयस्वरूपा दश क्षेपास्तान् क्षिपस्व ॥ ८२ ॥

अथ राशिदशकप्रक्षेपानन्तरं तस्यैव राशेर्यस्मिन् विहिते यद् भवति तदाह—

पुण तम्मि ति वग्गियए, परित्तणंत लहु तस्स रासीण ।
अब्भासे लहु जुत्ताणंतं अब्भव्वजियमाणं ॥ ८३ ॥

पुनरपि "तम्मि" त्ति 'तस्मिन्' अनन्तरोदिते प्रक्षिप्तक्षेपदशके 'त्रिर्वर्गिते' त्रीन् वारान् वर्गिते सति परीत्तानन्तं 'लघु' जघन्यं भवति । इदमुक्तं भवति—जघन्यासङ्ख्येयासङ्ख्येयकस्वरूपे वारत्रयं वर्गिते राशौ दशैते क्षेपाः क्षिप्यन्ते, तत इत्थं पिण्डितो यो राशिः सम्पद्यते स पुनरपि वारत्रयं वर्ग्यते ततो जघन्यं परीत्तानन्तकं भवतीति । इदानीं जघन्ययुक्तानन्तकनिरूपणायाह— "तस्स रासीण" इत्यादि, 'तस्य' जघन्यपरीत्तानन्तकस्य सम्बन्धिनां राशीनामन्योन्यमभ्यासे सति 'लघु' जघन्यं युक्तानन्तकमभव्यजीवमानं भवति । इयमत्र भावना—जघन्यपरीत्तानन्तके ये राशयः सर्षपरूपास्ते पृथक् पृथग् व्यवस्थाप्यन्ते, तेषां तथा व्यवस्थापितानां जघन्यपरीत्तानन्तकमानानां राशीनामन्योन्याभ्यासे सति युक्तानन्तं जघन्यं भवति, तथा जघन्ययुक्तानन्तके यावन्ति रूपाणि वर्तन्त अभवसिद्धिका अपि जीवाः केवलिना तावन्त एव दृष्टा इति ॥ ८३ ॥

जघन्यानन्तानन्तकप्ररूपणायाह—

तव्वग्गे पुण जायइ, णंताणंत लहु तं च तिक्खुत्तो ।
वग्गसु तह वि न तं होइ णंतखेवे खिवसु छ इमे ॥ ८४ ॥

तस्य—जघन्ययुक्तानन्तकराशेर्वर्गे—सकृदभ्यासे तद्वर्गे कृते सति 'पुनः' भूयोऽपि 'जायते' सम्पद्यते अनन्तानन्तं 'लघु' जघन्यम्, जघन्यानन्तानन्तकं भवतीत्यर्थः । उत्कृष्टानन्तानन्तकप्ररूपणायाह— "तं च तिक्खुत्तो" इत्यादि । 'तच्च' तत् पुनर्जघन्यमनन्तानन्तं 'त्रिकृत्वः' त्रीन्

वारान् 'वर्गयस्व' तावतैव राशिना गुणय । अयमत्रार्थः—जघन्यानन्तानन्तकराशेस्तावतैव राशिना गुणनस्वरूपो वर्गः क्रियते, ततस्तस्य वर्गितराशेः पुनर्वर्गः, तस्यापि वर्गितराशेर्भूयोऽपि वर्ग इति । 'तथापि' एवमपि वारत्रयं वर्गे कृतेऽपि 'तद्' उत्कृष्टमनन्तानन्तकं 'न भवति' न जायते । ततः किं कार्यम् ? इत्याह—अनन्तक्षेपान् 'इमान्' वक्ष्यमाणस्वरूपान् 'षड्' षट्सङ्ख्यान् 'क्षिपस्व' निधेहीति ॥ ८४ ॥ तानेव षडनन्तक्षेपानाह—

सिद्धा निगोयजीवा, वणस्सई काल पुग्गला चेव ।
सव्वमलोगनहं पुण, ति वग्गिउं केवलदुगम्मि ॥ ८५ ॥

सर्वे एव 'सिद्धाः' निष्ठितनिःशेषकर्माणः १ 'निगोदजीवाः' समस्ता अपि सूक्ष्मबादरभेदभिन्ना अनन्तकायिकसत्त्वाः २ 'वनस्पतयः' प्रत्येकानन्ताः सर्वेऽपि वनस्पतिजीवाः ३ 'कालः' इति सर्वोऽप्यतीतानागतवर्तमानकालसमयराशिः ४ 'पुद्गलाः' समस्तपुद्गलराशेः परमाणवः ५ 'सर्वं' समस्तम् 'अलोकनभः' अलोकाकाशमिति उपलक्षणत्वात् सर्वोऽपि लोकालोकप्रदेशराशिः ६ इत्येतद्राशिषट्कप्रक्षेपानन्तरं यस्मिन् कृते यद् भवति तदाह—'पुनः' पुनरपि 'त्रिर्वर्गयित्वा' त्रीन् वारांस्तावतैव राशिना गुणयित्वा 'केवलद्विके' केवलज्ञानकेवलदर्शनयुगले क्षिप्ते सति ॥८५॥

किम् ? इत्याह—

खित्ते णंताणंतं, हवेइ जिट्ठं तु ववहरइ मज्झं ।
इय सुहुमत्थवियारो, लिहिओ देविंदसूरीहिं ॥८६॥

'क्षिप्ते' न्यस्ते सत्यनन्तानन्तकं 'भवति' जायते 'ज्येष्ठम्' उत्कृष्टम् 'तुः' पुनरर्थे व्यवहितसम्बन्धश्च । 'व्यवहरति' व्यवहारकारि 'मध्य तु' मध्यमं पुनः । इयमत्र भावना—इह केवलज्ञानकेवलदर्शनशब्देन तत्पर्याया उच्यन्ते, ततः केवलज्ञानकेवलदर्शनयोः पर्यायेष्वनन्तेषु क्षिप्तेषु सत्स्विति द्रष्टव्यम्, नवरं ज्ञेयपर्यायाणामानन्त्याद् ज्ञानपर्यायाणामप्यानन्त्यं वेदितव्यम्, एवमनन्तानन्तं ज्येष्ठं भवति, सर्वस्यैव वस्तुजातस्यात्र संगृहीतत्वात्, अतः परं वस्तुसत्त्वस्यैव सङ्ख्याविषयस्याभावादित्यभिप्रायः । सूत्राभिप्रायतस्त्वित्थमप्यनन्तकमुत्कृष्टं न प्राप्यते, अनन्तकस्याष्टविधस्यैव तत्र प्रतिपादितत्वात् । तथा चोक्तमनुयोगद्वारेषु—

∞ [1]एवमुक्कोसयं अणंताणंतयं नत्थि ∞ ।

तदत्र तत्त्वं केवलिनो विदन्ति । सूत्रे तु यत्र क्वचिदनन्तानन्तकं गृह्यते तत्र सर्वत्राजघन्योत्कृष्टशब्दवाच्यमनन्तानन्तकं द्रष्टव्यम् । तदेवं व्याख्यातं सप्रपञ्चं सङ्ख्यातकासङ्ख्यातकानन्तकादिस्वरूपम् , तन्निरूपणे च व्याख्याता "नमिय जिणं जियमग्गण" (गा० १) इत्यादि मौलद्वारगाथा । सम्प्रति षडशीतिसङ्ख्यगाथाप्रमाणत्वेन यथार्थं **षडशीतिकशास्त्रं** समर्थयन्नाह-"इय सुहुमत्थवियारो" इत्यादि । 'इति' पूर्वोक्तप्रकारेण सूक्ष्मः-मन्दमत्यगम्यो योऽर्थः—शब्दाभिधेयं तस्य विचारः विचारणं 'लिखितः'-अक्षरविन्यासीकृतः **पञ्चसङ्ग्रहादिशास्त्रेभ्य** इति शेषः । कैः ? इत्याह-'**देवेन्द्रसूरिभिः**' करालकलिकालपातालतलावमज्जद्विशुद्धधर्मधुरोद्धरणधुरीणश्रीमज्जगच्चन्द्रसूरिक्रमकमलचञ्चरीकैरिति ॥८६॥

॥ इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिता स्वोपज्ञषडशीतिकटीका समाप्ता ॥

१ एवमुत्कृष्टमनन्तानन्तकं नास्ति । ∞-∞ एतच्चिह्नान्तर्गतपाठो मुद्रितानुयोगद्वारेषु नोपलब्धः ॥

अथ ग्रन्थकारप्रशस्तिः ।

विष्णोरिव यस्य विभोः, पदत्रयी व्यानशे जगन्निखिलम् ।
सूक्ष्मार्थसार्थदेशी, स श्रीवीरो जिनो जयतु ॥१॥
कुन्दोज्ज्वलकीर्तिभरैः, सुरभीकृतसकलविष्टपाभोगः ।
शतमखशतविनतपदः, श्रीगौतमगणधरः पातु ॥२॥
तदनु सुधर्मस्वामी, जम्बूप्रभवादयो मुनिवरिष्ठाः ।
श्रुतजलनिधिपारीणा, भूयांसः श्रेयसे सन्तु ॥३॥
ततः प्राप्ततपाचार्येत्यभिख्या भिक्षुनायकाः ।
समभूवन् कुले चान्द्रे, श्रीजगच्चन्द्रसूरयः ॥४॥
जगज्जनितबोधानां, तेषां शुद्धचरित्रिणाम् ।
विनेयाः समजायन्त, श्रीमद्देवेन्द्रसूरयः ॥५॥
स्वान्ययोरुपकाराय, श्रीमद्देवेन्द्रसूरिणा ।
षडशीतिकटीकेयं, सुखबोधा विनिर्ममे ॥६॥
विबुधवरधर्मकीर्त्तिश्रीविद्यानन्दसूरिमुख्यबुधैः ।
स्वपरसमयैककुशलैस्तदैव संशोधिता चेयम् ॥७॥
यद्गदितमल्पमतिना, सिद्धान्तविरुद्धमिह किमपि शास्त्रे ।
विद्वद्भिस्तत्त्वज्ञैः, प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥८॥
षडशीतिकशास्त्रमिदं, विवृण्वता यन्मयाऽर्जितं सुकृतम् ।
तेनास्तु भव्यलोकः, सूक्ष्मार्थविचारणाचतुरः ॥९॥
ग्रन्थाग्रम् २८०० । सर्वग्रन्थाग्रम् ५६३८ अ. २८ ॥

इति कर्मग्रन्थचतुष्टयात्मकः प्रथमो विभागः ।

॥ अर्हम् ॥

नमः कर्मतत्त्वरहस्यवेदिभ्यः ।

पूज्यश्रीमद्देवेन्द्रसूरिविरचितः स्वोपज्ञटीकोपेतः

शतकनामा पञ्चमः कर्मग्रन्थः ।

॥ ॐ नमः प्रवचनाय ॥

यो विश्वविश्वभविनां भवबीजभूतं, कर्मप्रपञ्चमवलोक्य कृपापरीतः ।
तस्य क्षयाय निजगाद सुदर्शनादिरत्नत्रयं स जयतु प्रभुवर्धमानः ॥ १ ॥

अग्रायणीयपूर्वादुद्धृत्य परोपकारसारधिया ।
येनाभ्यधायि शतकः, स जयतु शिवशर्मसूरिवरः ॥ २ ॥

अनुयोगधरान् सर्वान् , धर्माचार्यान् मुनींस्तथा नत्वा ।
स्वोपज्ञशतकसूत्रं विवृणोमि यथाश्रुतं किञ्चित् ॥ ३ ॥

तत्रादावेवाभीष्टदेवतास्तुत्यादिप्रतिपादिकामिमां गाथामाह—

नमिय जिणं धुवबंधो १ दय २ सत्ता ३ घाइ ४ पुन्न ५ परियत्ता ६ ।
सेयर १२ चउहविवागा १६, वुच्छं बंधविह २० सामी २४ य ॥ १ ॥

जिनं नत्वा ध्रुवबन्धिन्यादि वक्ष्य इति सम्बन्धः । तत्र 'नत्वा' नमस्कृत्य, कम् ? इत्याह—'जिनं' राग-द्वेष-मोहादिदुर्वारवैरिवारजेतारं वीतरागम् , परमार्हन्त्यमहिमालङ्कृतं तीर्थकरमित्यर्थः । अनेन परमाभीष्टदेवतानमस्कारेण ऐकान्तिकमात्यन्तिकं भावमङ्गलमाह, अनेन चाऽऽशास्त्रपरिसमाप्तेर्निष्प्रत्यूहता भवतीति। क्त्वाप्रत्ययस्य चोत्तरक्रियासापेक्षत्वाद् उत्तरक्रियामाह—ध्रुवबन्धोदयादि वक्ष्ये । तत्र मिथ्यात्वादिभिर्बन्धहेतुभिरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवद् निरन्तरं पुद्गलनिचिते लोके कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मनः क्षीर-नीरवद् वह्नि-अयःपिण्डवद्वाऽन्योऽन्यानुगमाभेदात्मकः सम्बन्धो बन्धः १ । तेषामेव कर्मपुद्गलानामपवर्तनादिकरणकृते स्वाभाविके वा स्थित्यपचये सति उदयसमयप्राप्तानां विपाकवेदनमुदयः २ । तेषामेव कर्मपुद्गलानां बन्ध-सङ्क्रमाभ्यां लब्धात्मलाभानां निर्जरण-सङ्क्रमकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावे सति सद्भावः सत्ता ३ । बन्धश्च उदयश्च सच्च बन्धोदयसन्ति, ततो ध्रुवशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् ध्रुवाणि बन्धोदयसन्ति यासां ता ध्रुवबन्धोदयसत्यः । "घाइ" त्ति [1]"घातिन्यः, देशघातिन्यः सर्वघातिन्यश्चेत्यर्थः ४ । "पुन्न" त्ति पुण्यप्रकृतयः ५ ।

---

१ सं० २ ०त्ति सर्वघातिन्यो देशघातिन्यश्चेत्यर्थः । छा० ०त्ति घातिन्यो देश-सर्वघातिन्यः, सर्वघातिन्यो देशघातिन्यश्चेत्यर्थः ॥

"परियत्त" त्ति 'परिवृत्ताः' परावर्तमानाः ६। "सेयर" त्ति 'सेतराः' सप्रतिपक्षाः-विपक्षयुक्ता इत्यक्षरार्थः । भावार्थोऽयम्–ध्रुवबन्धिन्यः १ अध्रुवबन्धिन्यः २ ध्रुवोदयाः ३ अध्रुवोदयाः ४ ध्रुवसत्ताकाः ५ अध्रुवसत्ताकाः ६ सर्व देशघातिन्यः ७ अघातिन्यः ८ पुण्यप्रकृतयः ९ पापप्रकृतयः १० परावर्तमानाः ११ अपरावर्तमानाः १२ चेति द्वादश द्वाराणि वक्ष्ये ।

तत्र निजहेतुसद्भावे यासां प्रकृतीनां ध्रुवः–अवश्यम्भावी बन्धो भवति ता ध्रुवबन्धिन्यः १ । यासां च निजहेतुसद्भावेऽपि नावश्यम्भावी बन्धस्ता अध्रुवबन्धिन्यः २। यदवादि—

[1]नियहेउसंभवे वि हु, भयणिज्जो जाण होइ पयडीणं ।
बंधो ता अधुवाओ, धुवा अभयणिज्जबंधाओ ॥ (पञ्चसं० गा० १५३)

निजहेतवश्चेह मिथ्यात्वादयो मन्तव्याः । यासामव्यवच्छिन्नोऽनुसन्ततः स्वोदयव्यवच्छेदकालं यावदुदयस्ता ध्रुवोदयाः ३ । यासां तु व्यवच्छिन्नोऽप्युदयो भूयोऽपि प्रादुर्भवति तथाविधद्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावस्वरूपं पञ्चविधं हेतुसम्बन्धं प्राप्य ता अध्रुवोदयाः ४ । यदभाणि—

[2]अव्वुच्छिन्नो उदओ, जाणं पयडीण ता धुवोदइया ।
वुच्छिन्नो वि हु संभवइ, जाण अधुवोदया ताओ ॥ (पञ्चसं० गा० १५५)

याः सर्वसंसारिणामप्राप्तसम्यक्त्वाद्युत्तरगुणानां सातत्येन भवन्ति ता ध्रुवसत्ताकाः ५ । यास्तु कादाचित्कभाविन्यस्ता अध्रुवसत्ताकाः ६ । सर्वेतरघातित्वं च प्रकृतीनां स्वविषयघातनभेदतो भवति । तत्र सर्वस्वविषयघातिन्यः सर्वघातिन्यः, स्वविषयदेशघातिन्यश्च देशघातिन्यः । स्वविषयं चासामुत्तरत्र व्याख्यास्यामः। ततः सर्व–समस्तं देशं च–कञ्चन स्वावार्यं गुणं घ्नन्तीत्येवंशीलाः सर्व-देशघातिन्यः ७ । ज्ञान दर्शनादिगुणानां मध्ये न कञ्चिद् गुणं घ्नन्तीत्येवंशीला अघातिन्यः । केवलं यथा स्वयमतस्करस्वभावोऽपि तस्करैः सह वर्तमानस्तस्कर इव दृश्यते, एवमेता अपि घातिनीभिः सह वेद्यमानास्तद्दोषा इव भवन्ति । यदाहुः श्रीशिवशर्मसूरिप्रवराः—

[3]अवसेसा पयडीओ, अघाइया घाइयाहिं पलिभागो । (बृ० शत० गा० ८०)

"पलिभागु" त्ति सादृश्यम् । घातित्वं च प्रकृतीनां रसविशेषाद् विज्ञेयम् ८ । पुण्यप्रकृतयो जीवाह्लादजनिकाः शुभा उच्यन्ते ९ । पापप्रकृतयः कटुकरसा अशुभा उच्यन्ते १० । याः प्रकृतयोऽन्यस्याः प्रकृतेर्बन्धमुदयमुभयं वा विनिवार्य स्वकीयं बन्धमुदयमुभयं वा दर्शयन्ति ताः

---

१ निजहेतुसम्भवेऽपि हि भजनीयो यासां भवति प्रकृतीनाम् । बन्धस्ता अध्रुवा ध्रुवाः अभजनीयबन्धाः ॥
२ अव्युच्छिन्न उदयो यासां प्रकृतीनां ता ध्रुवोदयाः,। व्युच्छिन्नोऽपि हि सम्भवति यासां अध्रुवोदयास्ताः ॥
३ अवशेषाः प्रकृतयोऽघातिन्यो घातिनीभिः परिभागः ॥

परावर्तमानाः ११ । यास्त्वन्यस्याः प्रकृतेर्बन्धमुदयमुभयं वाऽनिवार्य स्वकीयं बन्धमुदयमुभयं वा दर्शयन्ति ता न परावर्तन्त इति कृत्वाऽपरावर्तमाना उच्यन्ते १२ । यत् प्रत्यपादि—

[1]विणिवारिय जा गच्छइ, बंधं उदयं व अन्नपगईए ।
सा हु परियत्तमाणी, अणिवारंती अपरियत्ता ॥ (पञ्चसं० गा० १६१)

"चउहविवाग" त्ति चतुर्धा--क्षेत्र-जीव-भव-पुद्गलाश्रितत्वेन चतुःप्रकारो विपाकः-विपचनं स्वशक्तिप्रदर्शनं यासां ताश्चतुर्धाविपाकाः—क्षेत्रविपाकाः १ जीवविपाकाः २ भवविपाकाः ३ पुद्गलविपाकाः ४ प्रकृतीर्वक्ष्ये । तथा "बंधविह" त्ति विधानानि विधाः—भेदाः, बन्धस्य विधा बन्धविधाः—प्रकृतिबन्ध १ स्थितिबन्ध २ रसबन्ध ३ प्रदेशबन्ध ४ लक्षणा[2]स्तान् वक्ष्ये । अत्र च मोदकदृष्टान्तं पूर्वसूरयो व्यावर्णयन्ति; यथा—वातापहारिद्रव्यनिचयनिष्पन्नो मोदकः प्रकृत्या वातमपहरति, पित्तापहद्रव्यनिर्वृत्तः पित्तम्, श्लेष्मापहद्रव्यसञ्जनितः श्लेष्माणम् इत्यादि; स्थित्या तु स एव कश्चिद् दिनमेकमवतिष्ठते, अपरस्तु दिनद्वयम्, अन्यस्तु दिवसत्रयम्, यावद् मासादिकमपि कालं कश्चिदवतिष्ठते, ततः परं विनश्यति २; स एवानुभावेन—रसपर्यायेण स्निग्ध-मधुरत्वादिलक्षणेन कश्चिदेकगुणानुभावः, अपरस्तु द्विगुणानुभावः, अन्यस्तु त्रिगुणानुभावः ३ इत्यादि; प्रदेशाः कणिक्कादिद्रव्यप्रमाणरूपास्तैः प्रदेशैः स एव कश्चिदेकप्रसृतिप्रमाणः, अपरस्तु प्रसृतिद्वयमानः, अन्यः पुनः प्रसृतित्रयप्रमाणः४ इत्यादि । एवं कर्मापि ज्ञानावरणादिपुद्गलैर्निर्वृत्तं प्रकृत्या किञ्चिद् ज्ञानमावृणोति, किञ्चिद्दर्शनं, किञ्चित्तु सुख-दुःखे जनयति १ इत्यादि; स्थित्या तु तदेव त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिकालावस्थायि भवति २; अनुभावतस्तु तदेव एकस्थानिक-द्विस्थानिक-तीव्र-मन्दादिकरसयुक्तम् ३; प्रदेशतस्तु तदेवाल्प बहुप्रदेशनिष्पन्नं स्याद् ४ इति । एष च प्रकृत्यादिस्वभावश्चतुर्विधोऽपि कर्मण उपादानकाल एव बध्यत इति बन्धश्चतुर्विधः सिद्धो भवति । तथा डमरुकमणिन्यायेन बन्धशब्द इहापि योज्यते, बन्धस्वामिनो वक्ष्ये, कः कस्याः प्रकृतेः स्थितेर्वा कः कस्य रसस्य तीव्र-मन्दादिरूपस्य कश्च कस्य प्रदेशाग्रस्य जघन्यत्वादिलक्षणस्य बन्धकः ? इत्यादि स्वामित्वेन वक्ष्ये । चशब्दाद् उपशमश्रेणि-क्षपकश्रेण्यादिकं [च] वक्ष्य इत्यनेनाभिधेयमाह । सम्बन्ध-प्रयोजने तु सामर्थ्यगम्ये । तत्र सम्बन्धः साध्य-साधनलक्षण उपाय-उपेयलक्षणो गुरुपर्वक्रमलक्षणो वा वेदितव्यः । प्रयोजनं तु प्रकरणकर्तृ-श्रोत्रोरनन्तर-परम्परभेदेन द्वेधा । तत्र प्रकरणकर्तुरनन्तरं सत्त्वानुग्रहः प्रयोजनम्, श्रोतुश्चानन्तरं प्रयोजनं प्रकरणार्थपरिज्ञानम् । परम्परप्रयोजनं तु द्वयोरपि परमपदप्राप्तिरिति । तथा चोक्तम्—

---

१ विनिवार्य या गच्छन्ति बन्धमुदयं वा अन्यप्रकृतेः । सा हि परावर्त्तमाना अनिवारयन्ती अपरिवृत्ता ॥
२ सं० २ ०स्ता व० ॥

सम्यक्शास्त्रपरिज्ञानाद्विरक्ता भवतो जनाः ।
लब्ध्वा दर्शनसंशुद्धिं, ते यान्ति परमां गतिम् ॥

तदेतेन मङ्गलाद्यभिधानेन सकलशास्त्रकृतां प्रवृत्तिरनुसृता भवति । तथा च तैः प्रणिजगदे–

प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थमभिधेय-प्रयोजने ।
मङ्गलं चैव शास्त्रादौ, वाच्यमिष्टार्थसिद्धये ॥ इति । ॥ १ ॥

अथ "यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायात् तत्प्रथमतो ध्रुवबन्धिनीः प्रकृतीर्व्याचिख्यासुराह–

वन्नचउतेयकम्माऽगुरुलहुनिमिणोवघायभयकुच्छा ।
मिच्छकसायावरणा, विग्घं धुवबंधि सगचत्ता ॥ २ ॥

प्राकृतत्वाद् लिङ्ग-वचनव्यत्ययेन ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः "सगचत्त" त्ति सप्तचत्वारिंशत्सङ्ख्या भवन्ति । तथाहि– वर्णेनोपलक्षितं चतुष्कं वर्णचतुष्कं-वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शनलक्षणम् , ततो वर्णचतुष्कं च तैजसं च कार्मणं चागुरुलघु चेत्यादिद्वन्द्वे वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघात-भय-कुत्साः । कुत्सा-जुगुप्सा । तथा मिथ्यात्वं च कषायाश्चावरणानि च मिथ्यात्व-कषाया-ऽऽवरणानि । तत्र वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघातानि इत्येता नव नामप्रकृतयः, भयं कुत्सा मिथ्यात्वं कषायाः षोडश इत्येता एकोनविंशतिर्मोहनीयप्रकृतयः, आवरणानि ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवकस्वरूपाणि चतुर्दश, विघ्नम्–अन्तरायं दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायभेदात् पञ्चविधमिति । एवं सप्तचत्वारिंशदप्येता ध्रुवबन्धिन्यः, निजहेतुसद्भावेऽवश्यं बन्धसद्भावादिति ॥२॥

उक्ता ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः । साम्प्रतमध्रुवबन्धिनीः प्रकृतीरभिधित्सुराह—

तणुवंगाऽऽगिइसंघयणजाइगइखगइपुव्विजिणसासं ।
उज्जोयाऽऽयवपरघायतसवीसा गोय वेयणियं ॥३॥
हासाइजुयलदुगवेयआउ तेवुत्तरी अधुवबंधा ।
भंगा अणाइसाई, अणंतसंतुत्तरा चउरो ॥४॥

तनवः–शरीराणि औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकलक्षणास्तिस्रः, तैजस-कार्मणयोर्ध्रुवबन्धित्वेनाभिहितत्वात् , उपाङ्गानि-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गरूपाणि त्रीणि, आकृतयः-संस्थानानि समचतुरस्र-न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-कुब्ज-वामन-हुण्डाख्याः षट् , संहननानि–अस्थिनिचयात्मकानि वज्रऋषभनाराच-ऋषभनाराच-नाराचा-ऽर्धनाराच-कीलिका-सेवार्तलक्षणानि षट् , जातयः-एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियरूपाः पञ्च, गतयः–देव-मनुष्य-

तिर्यङ्-नारकगतिलक्षणाश्चतस्रः, खगतिः-विहायोगतिः-प्रशस्ता ऽप्रशस्तभेदाद् द्वेधा, "पुव्वि" त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् आनुपूर्व्यः-देवानुपूर्वी-मनुजानुपूर्वी-तिर्यगानुपूर्वी-नरकानुपूर्वी-रूपाश्चतस्रः, जिननाम—तीर्थकरनाम, श्वासनाम उच्छ्वासनामेत्यर्थः, उद्योतनाम आतपनाम पराघातनाम "तसवीस" त्ति त्रसेनोपलक्षिता विंशतिस्त्रसविंशतिः-त्रसदशकं स्थावरदशकमित्यर्थः, गोत्रम्-उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रभेदेन द्विधा, वेदनीयं—सातवेदनीयमसातवेदनीयमिति द्विधा, हास्यादियुगलद्विकं-हास्य-रति-अरति-शोकाभिधम्, वेदाः-स्त्री पुं-नपुंसकरूपास्त्रयः, आयूंषि-देवायुर्मनुजायुस्तिर्यगायुर्नरकायुरिति चत्वारि इति। एतास्त्रिसप्ततिप्रकृतयः 'अध्रुवबन्धाः' अध्रुवबन्धिन्यो भवन्तीति शेषः। एतासां निजहेतुसद्भावेऽप्यवश्यं बन्धाभावादध्रुवबन्धित्वम्[1]। तथाहि—पराघात-उच्छ्वासनाम्नोः पर्याप्तनाम्नैव सह बन्धो नापर्याप्तनाम्ना अतोऽध्रुवत्वम्। आतपं पुनरेकेन्द्रिय-प्रायोग्यप्रकृतिसहचरितमेव नान्यदा। उद्योतं तु तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धेनैव सह बध्यते। आहारकद्विकं जिननाम्नी अपि यथाक्रमं संयम-सम्यक्त्वप्रत्ययेनैव बध्येते नान्यथेत्यध्रुवबन्धित्वम्। शेषशरीरोपाङ्गत्रिकादीनां षट्षष्टिप्रकृतीनां सविपक्षत्वाद् निजहेतुसद्भावेऽपि नावश्यं बन्ध इत्यध्रुवबन्धित्वं सुप्रतीतमेव। उक्ता अध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः। साम्प्रतं ध्रुवबन्धिन्यध्रुवबन्धिनीनां भङ्गकान् ग्रन्थलाघवार्थं च वक्ष्यमाणध्रुवोदया-ऽध्रुवोदयप्रकृतीनां च भङ्गकान् बन्धमाश्रित्य उदयमाश्रित्य च चिन्तयन्नाह—"भंगा अणाइसाई" इत्यादि। 'भङ्गाः' भङ्गकाश्चत्वारो भवन्ति। कथम्? इत्याह—अनादि-सादयोऽनन्त-सान्तोत्तराः। इदमुक्तं भवति—अनादि-सादिशब्दौ आदी येषां ते अनादिसादयः, प्राकृतत्वाद् आदिशब्दस्य लोपः। अनन्त-सान्तशब्दावुत्तरे-उत्तरपदे येषां ते अनन्त-सान्तोत्तराः, "ते लुग्वा" (सिद्ध० ३-२-१०८) इति सूत्रेण पदशब्दस्य लोपः। यदि वा भङ्गा अनादि-सादयोऽनन्त-सान्तोत्तराः सन्तश्चत्वारो भवन्ति। तद्यथा—अनाद्यनन्तः १ अनादिसान्तः २ साद्यनन्तः ३ सादिसान्तः ४ चेति ॥ ३ ॥ ४ ॥

उक्ता भङ्गाः। अथ यत्रोदये बन्धे वा ये भङ्गका घटन्ते तानाह—

पढमबिआ धुवउदइसु, धुवबंधिसु तइयवज्ज भंगतिगं।
मिच्छम्मि तिन्नि भंगा, दुहा वि अधुवा तुरियभंगा ॥ ५ ॥

'प्रथमद्वितीयौ' अनाद्यनन्ता-ऽनादिसान्तलक्षणौ ध्रुवोदयासु प्रकृतिषु भङ्गकौ भवतः। तथाहि—न विद्यत आदिर्यस्याऽनादिकालात् सन्तानभावेन सततप्रवृत्तेः सोऽनादिः, अनादिश्चासौ अनन्तश्च कदाचिदप्यनुदयाभावादनाद्यनन्तः, अयं च भङ्गको निर्माण-स्थिरा-ऽस्थिरा-ऽगुरुलघु-शुभा-ऽशुभ-तैजस-कार्मण-वर्णचतुष्क-ज्ञानपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चक-दर्शनचतुष्कलक्षणानां षड्-

१ छा० ०वबन्धित्वम् ॥

विंशतिप्रकृतीनां ध्रुवोदयानामभव्यानाश्रित्य वेदितव्यः, यतोऽभव्यानां ध्रुवोदयप्रकृत्यनुदयो न कदाचिद् भविष्यतीति १। तथा अनादिश्चासौ सान्तश्चानादिसान्तः, तत्र ज्ञानपञ्चका-ऽन्तराय-पञ्चक-दर्शनचतुष्करूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनामनादिकालात् सन्तानभावेनाऽनादिः सन् यदा क्षीणमोहचरमसमये उदयो व्यवच्छिद्यते तदा अयमनादिसान्तभङ्गकः, निर्माण-स्थिरा-ऽस्थिरा-ऽगुरुलघु-शुभा-ऽशुभ-तैजस-कार्मण-वर्णचतुष्कलक्षणानां द्वादशानामपि नामध्रुवोदयप्रकृतीनां सततोदयेनाऽनादिरुदयो भूत्वा सयोगिकेवलिचरमसमये यदोदयव्यवच्छेदमनुभवति तदाऽनादिसान्त-भङ्गकः २ इति। ध्रुवबन्धिनीषु पूर्वोक्तस्वरूपासु सप्तचत्वारिंशत्सङ्ख्यासु तृतीयवर्जं भङ्गत्रिकं १-२-४ भवति। तथाहि—यो बन्धोऽनादिकालादारभ्य सन्तानभावेन सततं प्रवृत्तो न कदाचन व्यवच्छेदमापन्नो न चोत्तरकालं कदाचिद् व्यवच्छेद[1]माप्स्यति सोऽनाद्यनन्तोऽभव्यानामेव भवति १; यस्त्वनादिकालात् सततप्रवृत्तोऽपि पुनर्बन्धव्यवच्छेदं प्राप्स्यति असावनादि-सान्तः, अयं भव्यानाम् २; साद्यनन्तलक्षणस्तु तृतीयभङ्गकः शून्य एव, न हि यो बन्धः सादिर्भवति स कदाचिदनन्तः सम्भवतीति तृतीयभङ्गवर्जनम् ३; यः पुनः पूर्वं व्यवच्छिन्नः पुनर्बन्धनेन सादित्वमासाद्य कालान्तरे भूयोऽपि व्यवच्छेदं प्राप्स्यति सोऽयं सादिसान्तः ४ इत्येवंस्वरूपं साद्यनन्तलक्षणतृतीयशून्यभङ्गकवर्जितं भङ्गकत्रयं ध्रुवबन्धिनीषु भवति। सूत्रे च पुंस्त्वं प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि लिङ्गं व्यभिचार्यपि, यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे-"लिङ्गं व्यभिचार्यपि" इति। तत्र प्रथमभङ्गस्ता(स्त्वा)सां सर्वासामप्यभव्याश्रितः सुप्रतीत एव, ध्रुव-बन्धिनीः प्रति तद्बन्धस्यानाद्यनन्तत्वाद् १ इति। द्वितीयभङ्गकस्तु ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां चतुर्दशप्रकृतीनामनादिकालात् सन्तानभावेनानादिः सन् सूक्ष्मसम्परायचरमसमये यदा बन्धो व्यवच्छिद्यते तदा भवति २। आसामेव चतुर्दशप्रकृतीनामुपशान्तमोहे यदा अबन्धकत्वमासाद्य आयुःक्षयेणाऽद्धाक्षयेण वा प्रतिपतितः सन् पुनर्बन्धेन सादिबन्धं विधाय भूयोऽपि सूक्ष्मसम्परायचरमसमये बन्धविच्छेदं विधत्ते तदा सादि-सान्तलक्षणः [चतुर्थो भङ्गकः]। चतुर्दशानां च प्रकृतीनां तृतीयो भङ्गको न लभ्यते ३ इति। संज्वलनकषायचतुष्कस्य तु सदैवावाप्तानादिबन्धभावो यदा तत्प्रथमतयाऽनिवृत्तिबादरादिर्बन्ध-व्यवच्छेदं विधत्ते तदाऽनादिसान्तस्वभावस्तस्य द्वितीयभङ्गः। यदा तु ततः प्रतिपतितः पुनर्बन्धेन संज्वलनबन्धं सादिं कृत्वा पुनरपि कालान्तरेऽनिवृत्तिबादरादिभावं प्राप्तः सन् तान् न भन्त्स्यति तदा सादिसान्तस्वरूपः संज्वलनचतुष्कस्य चतुर्थ इति। निद्रा-प्रचला-तैजस-कार्मण-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-निर्माण-भय-जुगुप्सास्वरूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनामनादिकालादनादिबन्धं विधाय यदा अपूर्वकरणाद्धायां यथास्थानं बन्धोपरमं करोति तदा द्वितीयो भङ्गकः।

१ सं० १-२ ०माप्स्यते ॥

यदा तु ततः प्रतिपतितः पुनर्बन्धविधानेन सादित्वमासाद्य भूयोऽपि कालान्तरेऽपूर्वकरणमारूढस्य बन्धाभावस्तदा चतुर्थ इति । चतुर्णां प्रत्याख्यानावरणानां बन्धो देशविरतगुणस्थानकं यावद् अनादिः ततः प्रमत्तादौ बन्धोपरमात् सान्त इति द्वितीयभङ्गः । ततः प्रतिपतितो भूयोऽपि बन्धनेन सादित्वमासाद्य यदा पुनः प्रमत्तादावबन्धको भवति तदा चतुर्थो भङ्गकः । अप्रत्याख्यानावरणानां त्वविरतसम्यग्दृष्टिं यावद् अनादिबन्धं कृत्वा यदा देशविरतादावबन्धको भवति तदा द्वितीयः । ततः प्रतिपतितो भूयोऽपि तानेव बद्ध्वा पुनस्तेषां यदा देशविरतेष्वबन्धको भवति तदा चतुर्थ इति । मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिनां तु मिथ्यादृष्टिरनादिबन्धको यदा सम्यक्त्वावाप्तौ बन्धोपरमं करोति तदा द्वितीयः । पुनर्मिथ्यात्वगमनेन तान् बद्ध्वा यदा भूयोऽपि सम्यक्त्वलाभे सति बन्धं न विधत्ते तदा चतुर्थ इति । एवं ध्रुवबन्धिनीनां भङ्गकत्रयं निरूपितमिति । तथा मिथ्यात्वस्य ध्रुवोदयस्य भङ्गा अनाद्यनन्त १ अनादिसान्त २ सादिसान्त-३ स्वभावास्त्रयो भवन्ति । तत्रानाद्यनन्तोऽभव्यानाम्, यतस्तेषां न कदाचिद् मिथ्यात्वोदयविच्छेदः समपादि सम्पत्स्यते चेति १ । अनादिसान्तस्त्वनादिमिथ्यादृष्टेः, तत्प्रथमतया सम्यक्त्वलाभे मिथ्यात्वस्याभावात् २ । सादिसान्तः पुनः प्रतिपतितसम्यक्त्वस्य सादिके मिथ्यात्वोदये सम्पन्ने पुनरपि सम्यक्त्वलाभाद् मिथ्यात्वोदयाभावे सम्भवति ३ इति । "दुहा वि अधुवा तुरियभंग" त्ति 'द्विधापि' द्विभेदा अपि बन्धमाश्रित्योदयमाश्रित्य च 'अध्रुवाः' अध्रुवबन्धिन्योऽध्रुवोदयाश्चेत्यर्थः तुरीयः-चतुर्थो भङ्गः सादिसान्तलक्षणो यासां तास्तुरीयभङ्गा भवन्ति। तत्राध्रुवबन्धिनीनां पूर्वोक्तत्रिसप्ततिसङ्ख्यप्रकृतीनामध्रुवबन्धित्वादेव सादिसान्तलक्षण एक एव भङ्गको भवति । तथा अध्रुवोदयानामुदयः सह आदिना-उदयविच्छेदे सति तत्प्रथमतयोदयभवनस्वभावेन वर्तत इति सादिः, स चासौ सान्तश्च पुनरुदयव्यवच्छेदात् सपर्यवसानश्च सादिसान्तः । ततश्चाध्रुवोदयानामयमेवैको भङ्गको भवति नान्यः, अध्रुवत्वादेवेति भावः ॥५॥

उक्ताः सभावार्था ध्रुवबन्धिन्योऽध्रुवबन्धिन्यश्च प्रकृतयः । प्रसङ्गतो ध्रुवा-ऽध्रुवोदयानां प्रकृतीनां भङ्गकाश्च । सम्प्रति ध्रुवा-ऽध्रुवोदयप्रकृतिद्वारनिरूपणायाह—

निमिण थिरअथिर अगुरुय, सुहअसुहं तेय कम्म चउवन्ना ।
नाणंतराय दंसण, मिच्छं धुवउदय सगवीसा ॥ ६ ॥

"निमिण" त्ति प्राकृतत्वाद् निर्माणं स्थिरा-ऽस्थिरम् "अगुरुय" त्ति अगुरुलघु शुभा-ऽशुभं तैजसं कार्मणं 'चतुर्वर्णं' वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शलक्षणमित्येता द्वादश नाम्नो ध्रुवोदयाः ज्ञानावरणपञ्चकम् अन्तरायपञ्चकं दर्शनचतुष्कं मिथ्यात्वमिति सप्तविंशतिप्रकृतयः 'ध्रुवोदयाः' नित्योदयाः, सर्वासामपि स्वोदयव्यवच्छेदकालं यावदव्यवच्छिन्नोदयत्वादिति ॥६॥

अभिहिता ध्रुवोदयाः प्रकृतयः । इदानीमध्रुवोदयाः प्रकृतीराह—

थिरसुभियर विणु अद्धुवबंधी मिच्छ विणु मोहधुवबंधी ।
निद्दोवघाय मीसं, सम्मं पणनवइ अधुवुदया ॥ ७ ॥

इतरशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् 'स्थिरेतर शुभेतर-प्रकृतिचतुष्कं विना' स्थिरमस्थिरं शुभमशुभं विना शेषा एकोनसप्ततिसङ्ख्या अध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः । तथाहि—तैजस-कार्मणवर्जं शरीरत्रिकम् अङ्गोपाङ्गत्रयं संस्थानषट्कं संहननषट्कं जातिपञ्चकं गतिचतुष्कं विहायोगतिद्विकम् आनुपूर्वीचतुष्कं जिननाम उच्छ्वासनाम उद्योतम् आतपं पराघातं त्रस-बादर-पर्याप्तक-प्रत्येक-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्ति-स्थावर--सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-साधारण--दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्ति-उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं साता-ऽसातवेदनीयं हास्य-रती अरति-शोकौ स्त्री-पुं-नपुंसकरूपं वेदत्रयम् आयुश्चतुष्कमिति । तथा मिथ्यात्वं विना मोहध्रुवबन्धिन्योऽष्टादश । तद्यथा—षोडश कषाया भयं जुगुप्सा । निद्राः पञ्च उपघातनाम मिश्रं सम्यक्त्वमिति पञ्चनवतिरध्रुवोदयाः, व्यवच्छिन्नस्याप्युदयस्य पुनरुदयसद्भावादिति । यद्येवं मिथ्यात्वस्याप्यध्रुवोदयतैव युज्यते, सम्यक्त्वप्राप्तौ व्यवच्छिन्नस्यापि तदुदयस्य मिथ्यात्वगमने पुनः सद्भावात् ? इति, अत्रोच्यते—यासां प्रकृतीनां येषु गुणस्थानकेषु गुणप्रत्ययतोऽद्याप्युदयव्यवच्छेदो न विद्यते, अथ [च] द्रव्य-क्षेत्र-कालाद्यपेक्षया तेष्वेव गुणस्थानकेषु कदाचिदसौ भवति कदाचिद् नेति ता एवाध्रुवोदयाः, यथा निद्राया मिथ्यादृष्टेरारभ्य क्षीणमोहं यावदुदयोऽव्यवच्छिन्नो वर्तते, अथ च न सततमसौ भवतीति । मिथ्यात्वस्य तु नेदं लक्षणम्, यतस्तस्य यत्र प्रथमगुणस्थानके नाद्याप्युदयव्यवच्छेदस्तत्र सततोदय एव न कादाचित्क इति ध्रुवोदयतैव तस्येति । ७॥

उक्तमध्रुवोदयप्रकृतिद्वारम् । सम्प्रति ध्रुवसत्ताका-ऽध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारद्वयं निरूपयन्नाह—

तसवन्नवीस सगतेयकम्म धुवबंधि सेस वेयतिगं ।
आगिइतिग वेयणियं, दुजुयल सग उरल सास चऊ ॥८॥
खगईतिरिदुग नीयं, धुवसंता सम्म मीस मणुयदुगं ।
विउविक्कार जिणाऊ, हारसगुच्चा अधुवसंता ॥९॥

इह विंशतिशब्दस्य प्रत्येकं योगात् त्रसविंशतिर्वर्णविंशतिश्च । तत्र त्रसेनोपलक्षिता विंशतिस्त्रसविंशतिः । तथाहि—त्रस-बादर-पर्याप्तक-प्रत्येक-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्तिनामेति त्रसदशकम्, स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-साधारणा-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिनामेति स्थावरदशकम्, उभयमीलने त्रसविंशतिरियमुच्यते । वर्णविंशतिरियम्—कृष्ण-नील-लोहित-हरिद्र-सितवर्णभेदात् पञ्च वर्णाः, सुरभिगन्धा-ऽसुरभिगन्धभेदेन द्वौ गन्धौ, तिक्त-कटु-

कषाया-ऽम्ल मधुरभेदात् पञ्च रसाः, गुरु-लघु-मृदु-खर-शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्षस्पर्शभेदादष्टौ स्पर्शाः, सर्वमीलने च वर्णविंशतिरियमुच्यते, वर्णोपलक्षिता विंशतिर्वर्णविंशतिरिति कृत्वा । "सगतेय-कम्म" त्ति 'तैजस-कार्मणसप्तकं' तैजसशरीर १ कार्मणशरीर २ तैजसतैजसबन्धन ३ तैजसकार्मण-बन्धन ४ कार्मणकार्मणबन्धन ५ तैजससङ्घातन ६ कार्मणसङ्घातन ७ लक्षणम् । "धुवबंधि सेस" त्ति वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणस्योक्तत्वात् शेषा एकचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिन्यः । तथाहि—अगुरु-लघु-निर्माण उपघात-भय-जुगुप्सा-मिथ्यात्व-कषायषोडशक/ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवका-ऽन्तरायपञ्चकमिति । 'वेदत्रिकं' स्त्री-पुं-नपुंसकलक्षणम् । "आगिइतिग" त्ति "तणुवंगागिइसंघ-यणजाइगइखगइ" (गा० ३) इत्यादिसञ्ज्ञागाथोक्तमाकृतित्रिकं गृह्यते, तत आकृतयः—संस्थानानि षट्, संहननानि षड्, जातयः पञ्च इत्येवमाकृतित्रिकशब्देन सप्तदश भेदा गृह्यन्ते । 'वेदनीयं' साता-ऽसातभेदाद् द्विधा । द्वयोर्युगलयोः समाहारो द्वियुगलं हास्य रति अरति शोकरूपम् । "सग-उरल" त्ति औदारिकसप्तकम्—औदारिकशरीर १ औदारिकाङ्गोपाङ्ग २ औदारिकसङ्घातन ३ औदारिकौदारिकबन्धन ४ औदारिकतैजसबन्धन ५ औदारिककार्मणबन्धन ६ औदारिकतैजस-कार्मणबन्धन ७ रूपम् । "सासचउ" त्ति 'उच्छ्वासचतुष्कं' उच्छ्वास-उद्योता-ऽऽतप पराघाताख्यम् । "खगईतिरिदुग" त्ति द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् खगतिद्विकं—प्रशस्तविहायोगति-अप्रशस्त-विहायोगतिलक्षणम्, तिर्यग्द्विकं—तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीरूपम् । "नीयं" ति नीचैर्गोत्रमिति । एतास्त्रिंशदुत्तरशतसङ्ख्याः प्रकृतयो ध्रुवसत्ताका अभिधीयन्ते, ध्रुवसत्ताकत्वं चासां सम्यक्त्व-लाभादर्वाक् सर्वजीवेषु सदैव सद्भावात् । अथानन्तानुबन्धिनां कषायाणामुद्वलनसम्भवादध्रुवसत्ताक-तैव युज्यते अतः कथं ध्रुवसत्ताकप्रकृतीनां त्रिंशदधिकशतसङ्ख्या सङ्गच्छते ? मैवं वोचः, यतोऽवाप्तसम्यक्त्वाद्युत्तरगुणानामेव जीवानामेतद्विसंयोगो, न सर्वजीवानाम्, अध्रुवसत्ताकता चानवाप्तोत्तरगुणजीवापेक्षयैव चिन्त्यते अतोऽनन्तानुबन्धिनां ध्रुवसत्ताकतैव; यदि चोत्तरगुणप्राप्त्य-पेक्षया अध्रुवसत्ताकता कक्षीक्रियते तदा सर्वासामपि प्रकृतीनां स्यात्, नानन्तानुबन्धिनामेव, यतः सर्वा अपि प्रकृतयो यथास्थानमुत्तरगुणेषु सत्सु सत्ताव्यवच्छेदमनुभवन्त्येवेति । तथा "सम्म" त्ति सम्यक्त्वं मिश्रम्, 'मनुजद्विकं' मनुजगति-मनुजानुपूर्वीरूपम्, "विउविकार" त्ति 'वैक्रियैकादशकम्' देवगति १ देवानुपूर्वी २ नरकगति ३ नरकानुपूर्वी ४ वैक्रियशरीर ५ वैक्रियाङ्गोपाङ्ग ६ वैक्रियसङ्घातन ७ वैक्रियवैक्रियबन्धन ८ वैक्रियतैजसबन्धन ९ वैक्रियकार्मण-बन्धन १० वैक्रियतैजसकार्मणबन्धन ११ लक्षणम्, जिननाम, आयुश्चतुष्कम्, "हारसग" त्ति प्राकृतत्वाद् आकारलोपे 'आहारकसप्तकम्' आहारकशरीर १ आहारकाङ्गोपाङ्ग २ आहारकसङ्घा-तन ३ आहारकाहारकबन्धन ४ आहारकतैजसबन्धन ५ आहारककार्मणबन्धन ६ आहारकतैजस-कार्मणबन्धनाख्यम् ७, उच्चैर्गोत्रम् इत्येता अष्टाविंशतिसङ्ख्याः प्रकृतयोऽध्रुवसत्ताका उच्यन्ते ।

अयमिह भावार्थः—सम्यक्त्वं मिश्रं वाऽभव्यानां प्रभूतभव्यानां च सत्तायां नास्ति, केषाञ्चिद-स्तीति। तथा मनुष्यद्विकं वैक्रियैकादशकम् इत्येतास्त्रयोदश प्रकृतयस्तेजो-वायुकायिकजीव-मध्यगतस्योद्वर्तनाप्रयोगेण सत्तायां न लभ्यन्ते, इतरस्य तु भवन्ति। तथा वैक्रियैकादशकम-सम्प्राप्तत्रसत्वस्य बन्धाभावाद् विहितैतद्बन्धस्य स्थावरभावं गतस्य स्थितिक्षयेण वा सत्तायां न लभ्यते, तदन्यस्य सम्भवत्यपि। तथा सम्यक्त्वहेतौ सत्यपि जिननाम कस्यचिद् भवति कस्य-चिद् नेति। तथा देव-नारकायुषी स्थावराणाम, तिर्यगायुष्कं त्वहमिन्द्राणां देवानाम्, मनुजा-युष्कं पुनस्तेजो-वायु-सप्तमपृथिवीनारकाणां सर्वथैव तद्बन्धाभावात् सत्तायां न लभ्यते, अन्येषां तु सम्भवत्यपि। तथा संयमे सत्यपि आहारकसप्तकं कस्यचिद् बन्धसद्भावे सत्तायां स्यात् तदभावे कस्यचित् नेति। तथोच्चैर्गोत्रमसम्प्राप्तत्रसत्वस्य बन्धाभावाद् विहितैतद्बन्धस्य स्थावरभावं गतस्य स्थितिक्षयेण वा सत्तायां न लभ्यते, तेजो-वायुकायिकजीवमध्यगतस्य उद्वर्तनप्रयोगेण वा सत्तायां न लभ्यते, इतरस्य तु भवतीत्यासामध्रुवसत्ताकता॥ ८-९॥

उक्तं ध्रुवसत्ताका-ऽध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारद्वयम्। सम्प्रति गुणस्थानकेषु कासाञ्चित् प्रकृतीनां ध्रुवा-ऽध्रुवसत्तां गाथात्रयेण निरूपयन्नाह—

पढमतिगुणेसु मिच्छं, नियमा अजयाइअट्ठगे भज्जं।
सासाणे खलु सम्मं, संतं मिच्छाइदसगे वा॥ १०॥

प्रथमाः—आद्यास्त्रयः—त्रिसङ्ख्या गुणाः—गुणस्थानकानि प्रथमत्रिगुणाः तेषु प्रथमत्रिगुणेषु—मिथ्यादृष्टि-सास्वादन-सम्यग्मिथ्यादृष्टिलक्षणेषु 'मिथ्यात्वं' मिथ्यात्वलक्षणा प्रकृतिः 'नियमात्', निश्चयेन 'सद्' विद्यमानम्, सत्तायां प्राप्यत इत्यर्थः। 'अयताद्यष्टके' अविरतसम्यग्दृष्टि १ देशविरत-२ प्रम[1]त्तसंयत ३ अप्रमत्तसंयत४ अपूर्वकरण ५ अनिवृत्तिबादर ६ सूक्ष्मसम्पराय ७ उपशान्तमोह-८ लक्षणेष्वष्टसु गुणस्थानकेषु 'भाज्यं' विकल्पनीयम्, कदाचिद् मिथ्यात्वं सत्तायामस्ति कदाचि-न्नास्ति। तथाहि—अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिना क्षपिते नास्ति, उपशमिते त्वस्ति। सास्वादने 'खलु' नियमेन "सम्मं" 'सम्यक्त्वं' सम्यग्दर्शनमोहनीयलक्षणा प्रकृतिः 'सद्' विद्यमानम्, सर्वदैव लभ्यत इत्यर्थः, यत औपशमिकसम्यक्त्वाद्धायां जघन्यतः समयावशेषायामुत्कृष्टतः षडावलिकावशि-ष्टायां सास्वादनो लभ्यते, तत्र च नियमादष्टाविंशतिसत्कर्मैवासाविति भावः। 'मिथ्यात्वादि-दशके' मिथ्यादृष्ट्यादिषु सास्वादनवर्जितोपशान्तमोहपर्यवसानगुणस्थानकेषु दशसङ्ख्येषु 'वा' विकल्पेन-भजनया सम्यक्त्वं सत्तायां स्याद् लभ्यते स्यान्नेति। तथाहि—मिथ्यादृष्टौ जीवेऽनादि-

१ छा० ०त्ता-ऽप्रमत्तसंयता-ऽ० ॥

षड्विंशतिसत्कर्माणि उद्वलितसम्यक्त्वपुञ्जे वा, मिश्रेऽप्युद्वलितसम्यग्दर्शने, अविरतादौ चोपशान्तमोहान्ते क्षीणसप्तके सम्यग्दर्शनमोहनीयं सत्तायां न प्राप्यते अन्यत्र सर्वत्र लभ्यत इति ॥१०॥

सासणमीसेसु धुवं, मीसं मिच्छाइनवसु भयणाए ।
आइदुगे अण नियया, भइया मीसाइनवगम्मि ॥११॥

सास्वादनं च मिश्रं च सास्वादन-मिश्रे तयोः सास्वादन–मिश्रयोः, बहुत्वं च प्राकृतवशात्, यदाहुः प्रभुश्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः–"द्विवचनस्य बहुवचनम्" (सिद्ध० ८-३-१३०) यथा–'हत्था पाया' इत्यादौ, सास्वादनगुणस्थाने सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने चेत्यर्थः, 'ध्रुवम्' अवश्यम्भावेन 'मिश्रं' सम्यग्मिथ्यादर्शनमोहनीयं 'सद्' इति पूर्वोक्तगाथातो डमरुकमणिन्यायादिहापि सम्बध्यते । इदमत्र हृदयम्–सासादनो नियमादष्टाविंशतिसत्कर्मैव भवति, मिश्रश्चाष्टाविंशतिसत्कर्मा विसंयोजितसम्यक्त्वः सप्तविंशतिसत्कर्मा उद्वलितानन्तानुबन्धिचतुष्कश्चतुर्विंशतिसत्कर्मा वा, तत एतेषु सत्तास्थानकेषु मिश्रसत्ताऽवश्यं लभ्यते; षड्विंशतिसत्कर्मा तु मिश्रो न सम्भवत्येव, मिश्रपुञ्जस्य सत्तोदयाभ्यां व्यतिरेकेण मिश्रगुणस्थानकाप्राप्तेरिति । 'मिथ्यात्वादिनवसु' सास्वादन–सम्यग्मिथ्यात्वरहितेषु मिथ्यादृष्ट्याद्युपशान्तमोहपर्यवसाननवगुणस्थानकेष्वित्यर्थः 'भजनया' विकल्पेन मिश्रम् , स्यात् सत्तायामस्ति स्यान्नेति । किमुक्तं भवति ?–यो मिथ्यादृष्टिः षड्विंशतिसत्कर्मा, ये वाऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादय उपशान्तमोहान्ताः क्षायिकसम्यग्दृष्टयः तेषु मिश्रं सत्तायां नावाप्यते अन्यत्र प्राप्यत इति । तथा 'आद्यद्विके' प्रथमगुणस्थानकयुगले-मिथ्यादृष्टिसास्वादनगुणस्थानकद्वय इत्यर्थः "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनः प्रथमकषायाः क्रोध-मान-माया-लोभाख्याः 'नियताः' अवश्यम्भावेन सत्तायामवाप्यन्ते, यतो मिथ्यादृष्टि-सास्वादनसम्यग्दृष्टी नियमेनानन्तानुबन्धिनो बध्नीत इति भावः । तथा 'भाज्याः' भक्तव्याः–विकल्पनीयाः 'मिश्रादिनवके' सम्यग्मिथ्यादृष्टिप्रभृत्युपशान्तमोहपर्यवसाननवगुणस्थानकेष्वनन्तानुबन्धिनः, सत्तामाश्रित्य भक्तव्या इत्यर्थः । इयमत्र भावना–विसंयोजितानन्तानुबन्धिनश्चतुर्विंशतिसत्कर्मणः सम्यग्मिथ्यादृष्टेः क्षीणसप्तकस्यैकविंशतिसत्कर्मणोऽनन्तानुबन्धिरहितचतुर्विंशतिसत्कर्मणो वाऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादेरनन्तानुबन्धिनः सत्तायां न सन्ति तदितरस्य तु सन्तीति । एतच्च शेषकर्मग्रन्थाभिप्रायेणोक्तम् । **कर्मप्रकृतौ पुनः श्रीशिवशर्मसूरिपादा** एवमाहुः—

[1]बीयतइएसु मीसं, नियमा ठाणनवगम्मि भइयव्वं ।
संजोयणा उ नियमा, दुसु पंचसु हुंति भइयव्वा ॥ (गा० ४२३)

---

१ छा० ०त्वाविर० ॥ २ द्वितीयतृतीययोर्मिश्रं नियमात्स्थाननवके भक्तव्यम् । संयोजनास्तु नियमाद् द्वयोः पञ्चसु भवन्ति भक्तव्याः ॥

पूर्वार्धं सुगममेव । उत्तरार्धस्येयमक्षरगमनिका—संयोजयन्त्यात्मनोऽनन्तकालमिति "रम्यादिभ्यः कर्तरि" (सिद्ध० ५-३-१२६) इत्यनटि प्रत्यये संयोजनाः—अनन्तानुबन्धिकषायाः, 'तुः' पुनरर्थे, 'नियमात्' नियमेन 'द्वयोः' मिथ्यादृष्टि-सास्वादनयोः सत्तामाश्रित्य भवन्ति, यत एतावश्यमनन्तानुबन्धिनो बध्नीत इति । पञ्चसु पुनर्गुणस्थानकेषु सम्यग्मिथ्यादृष्टिप्रभृतिष्वप्रमत्तसंयतपर्यन्तेषु सत्तां प्रतीत्य भक्तव्याः, यद्युद्वलितास्ततो न सन्ति इतरथा तु सन्तीत्यर्थः ॥

तदुपरितनेषु पुनरपूर्वकरणादिषु सर्वथैव तत्सत्ता नास्ति, यतस्तदभिप्रायेण विसंयोजितानन्तानुबन्धिकषाय एवोपशमश्रेणिमपि प्रतिपद्यत इति ॥११॥

आहारसत्तगं वा, सव्वगुणे बितिगुणे विणा तित्थं ।

नोभयसंते मिच्छो, अंतमुहुत्तं भवे तित्थे ॥१२॥

'आहारकसप्तकं' आहारकशरीर १ तदङ्गोपाङ्ग २ आहारकसङ्घात ३ आहारकाहारकबन्धन ४ आहारकतैजसबन्धन ५ आहारककार्मणबन्धन ६ आहारकतैजसकार्मणबन्धन ७-लक्षणं 'वा' विकल्पेन—भजनया 'सर्वगुणे' सर्वगुणस्थानकेषु मिथ्यादृष्टिप्रभृत्ययोगिकेवलिपर्यवसानेषु, सूत्रे चैकवचनं प्राकृतत्वात् , ततश्च सर्वगुणस्थानकेषु विकल्पनया सत्तां प्रतीत्य आहारकसप्तकं प्राप्यते । इदमत्र हृदयम्—योऽप्रमत्तसंयतादिः संयमप्रत्ययादाहारकसप्तकबन्धं विधाय विशुद्धिवशादुपरितनगुणस्थानकेषु समारोहति, यश्च कश्चिदविशुद्धाध्यवसायवशादुपरितनगुणस्थानकेभ्योऽधस्तनगुणस्थानकेषु प्रतिपतति तस्याहारकसप्तकं सर्वगुणस्थानकेषु सत्तायां प्राप्यते, यः पुनराहारकसप्तकं न बध्नात्येव तद्बन्धं विनैवोपरितनगुणस्थानकेष्वध्यारोहति तस्य जन्तोस्तत् तेषु सत्तायां नावाप्यत इति। तथा "बितिगुणे विणा तित्थं" ति काकलिकनलिकन्यायेन 'सर्वगुणेषु वा' इत्यत्रापि सम्बन्धनीयम् । सर्वगुणस्थानकेषु द्वितीय-तृतीयगुणस्थानके विना, सास्वादन-मिश्रगुणस्थानकरहितेषु द्वादशस्वित्यर्थः, 'वा' विभाषया—भजनया तीर्थकरनाम सत्तायां प्राप्यत इति । इदमत्र तात्पर्यम्—यदा कश्चिदविरतसम्यग्दृष्ट्यादिरपूर्वकरणभागषट्कं यावत् सम्यक्त्वप्रत्ययात् तीर्थकरनामकर्म बद्ध्वा उपरितनगुणस्थानकान्यधिरोहति, कश्चिच्च बद्धतीर्थकरनामकर्मा अविशुद्धिवशात् मिथ्यात्वमपि गच्छति तदा सास्वादन-मिश्ररहितेषु द्वादशगुणस्थानकेषु तीर्थकरनामकर्म सत्तायामवाप्यते, तीर्थकरनामसत्ताको हि मिश्र-सास्वादनभावं न प्रतिपद्यते स्वभावादेवेति तद्वर्जनम् । यदुक्तं बृहत्कर्मस्तवभाष्ये—

[2]तित्थयरेण विहीणं, सीयालसयं तु संतए होइ ।

सासायणम्मि उ गुणे, सम्मामीसे य पयडीणं ॥ (गा० २५)

---

१ सं० १-२ ०कनलकन्या० ॥ २ तीर्थकरेण विहीनं सप्तचत्वारिंशं शतं तु सत्तायां भवति । सास्वादने तु गुणे सम्यग्मिश्रे च प्रकृतीनाम् ॥

यः पुनर्विशुद्धसम्यक्त्वेऽपि सति तद् न बध्नाति तस्य सर्वगुणस्थानकेषु तत्सत्ता न लभ्यते, यतोऽनयोः संयम-सम्यक्त्वलक्षणस्वप्रत्ययसद्भावेऽपि बन्धाभावाद् नावश्यं सत्तासम्भवः ।

यदुक्तं **कर्मप्रकृतिसङ्ग्रहण्याम्**–

आहारग तित्थगरा भज्ज त्ति ।

आहारकसप्तक-तीर्थकरनाम्नी सत्तां प्रति भाज्ये इति भावः । एवमाहारकसप्तके तीर्थकरनामनि च प्रत्येकं सत्तारूपेणाऽवतिष्ठमाने मिथ्यादृष्टिरपि जन्तुर्भवतीति निश्चितम् । उभयसत्तायामसौ भवति न वेति विनेयाऽऽशङ्कायामाह–"नोभयसंते मिच्छो" त्ति । 'न' नैव उभयस्य–आहारकसप्तक-तीर्थकरलक्षणद्विकस्य सत्त्वे–सत्तासद्भावे सति मिथ्यादृष्टिर्भवेत् । कोऽर्थः ? उभयसत्तायां मिथ्यात्वं न गच्छतीति भावः । तर्हि केवलतीर्थकरनामकर्मसत्तायां कियन्तं कालं मिथ्यादृष्टिर्भवति ? इत्याह–"अंतमुहुत्तं भवे तित्थे" त्ति 'अन्तर्मुहूर्तम्' अन्तर्मुहूर्तमात्रं कालं 'भवेत्' जायेत "मिच्छो" त्ति इत्यस्यात्रापि सम्बन्धाद् मिथ्यादृष्टिः । क सति ? इत्याह–"तित्थे" त्ति तीर्थकरनामकर्मणि सत्तायां वर्तमान इति गम्यते । इदमुक्तं भवति–यो नरके बद्धायुष्को वेदकसम्यग्दृष्टिर्बद्धतीर्थकरनामकर्मा सन् तत्रोत्पित्सुरवश्यं सम्यक्त्वं परित्यज्य तत्रोत्पद्यते, उत्पत्तिसमनन्तरमन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमवश्यं सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते, तस्यायमुक्तप्रमाणः कालो लभ्यत इति ॥१२॥

उक्तं सप्रतिपक्षं ध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारम् । अधुना सप्रतिपक्षं सर्व-देशघातिप्रकृतिद्वारं प्रतिपादयन्नाह–

केवलजुयलावरणा, पण निद्दा बारसाइमकसाया ।
मिच्छं ति सव्वघाई, चउनाणतिदंसणावरणा ॥१३॥
संजलण नोकसाया, विग्घं इय देसघाईओ अघाई ।
पत्तेयतणुट्ठाऽऽऊ, तसवीसा गोयदुगवन्ना ॥१४॥

केवलयुगलं–केवलज्ञान–केवलदर्शनरूपं तस्यावरणे–आच्छादके कर्मणी केवलयुगलावरणे, केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरणं चेत्यर्थः । 'पञ्च निद्राः' निद्रा १ निद्रानिद्रा २ प्रचला ३ प्रचलाप्रचला ४ स्त्यानर्द्धि ५ रूपाः । द्वादशेति सङ्ख्या 'आदिमकषायाः' सञ्ज्वलनापेक्षया प्रथमकषायाः-क्रोध-मान-माया-लोभानामेकैकशोऽनन्तानुबन्धि १ अप्रत्याख्यानावरण २ प्रत्याख्यानावरण ३ लक्षणनामत्रयेण द्वादशधात्वम् । मिथ्यात्वमिति । अनेन प्रदर्शितप्रकारेण सर्वमपि स्वावार्यं गुणं घातयन्तीत्येवंशीलाः सर्वघातिन्यो विंशतिसङ्ख्या भवन्तीत्यक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्–

१ स० १-२ ०रकतीर्थ० । २ छा० ०स्य सत्ता० ॥ ३ छा० म० इय ॥

इह केवलज्ञानावरणस्य स्वावार्यः केवलज्ञानलक्षणो गुणः, स च यद्यपि सर्वात्मनाऽऽव्रियते तथापि सर्वजीवानां केवलज्ञानस्यानन्तभागोऽनावृत एवावतिष्ठते, तदावरणे तस्य सामर्थ्याभावात्। यदाहुः श्रीदेवर्द्धिवाचकवराः—

[1]सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ चिट्ठइ। (नन्दीप० १९५) इति।

कथं तर्हि सर्वघातित्वम्? इति चेद् अभिधीयते—यथाऽतिबहले जलदपटले समुन्नते बहुतराया आवृतत्वात् सर्वाऽपि सूर्याचन्द्रमसोः प्रभाऽनेनावृतेति वचनरचना प्रवर्तते, अथ[2]चाऽद्यापि काचित् तत्प्रभा प्रसरति—"[3]सुट्ठु वि मेहसमुदए, होइ पहा चंदसूराणं।" (नन्दीपत्र १९५) इति वचनादनुभवसिद्धत्वाच्च, तथाऽत्रापि प्रबलकेवलज्ञानावरणावृतस्यापि केवलज्ञानस्यानन्तभागोऽनावृत एवास्ते। यदि पुनस्तमप्यावृणुयात् तदा जीवोऽजीवत्वमेव प्राप्नुयात्।

यदुक्तं नन्द्यध्ययने—

[4]जइ पुण सो वि आवरिज्जा ता णं जीवो अजीवत्तणं पाविज्जा। (पत्र १९५)

सोऽपि चावशिष्टोऽनन्तभागो जलधरानावृतदिनकरकरप्रसर इव कट-कुड्यादिभिर्मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्याय[5]ज्ञानावरणैराव्रियते तथापि काचिद् निगोदावस्थायामपि ज्ञानमात्राऽवतिष्ठते, अन्यथा अजीवत्वप्रसङ्गात्। मतिज्ञानादिविषयभूतांश्चार्थान् यन्न जानीते स केवलज्ञानावरणोदयो न भवति, किं तर्हि? मतिज्ञानावरणाद्युदय एवेति। केवलदर्शनावरणस्य समस्तवस्तुस्तोमसामान्यावबोध आवार्यः, तं सर्वं हन्तीति सर्वघाति अभिधीयते, तदनन्तभागं त्विदमपि सामर्थ्याभावाद् नावृणोति, सोऽपि चानावृतोऽनन्तभागश्चक्षुः-अचक्षुः-अवधिदर्शनावरणैराव्रियते, शेषो जलधरदृष्टान्तादिचर्चस्तथैव। यच्च चक्षुर्दर्शनादिविषयानर्थान् न पश्यति, स केवलदर्शनावरणोदयो न भवति, किं तर्हि? चक्षुर्दर्शनावरणाद्युदय एवेति। यद्येवं तर्हि केवलज्ञानावरण-केवलदर्शनावरणक्षये सत्यपि मतिज्ञानादिविषयाणामर्थानामवबोधो न प्राप्नोति भिन्नज्ञानविषयत्वाद्, इति चेद्[6] उच्यते—केवलालोकलाभे शेषबोधलाभान्तर्भावात्, ग्रामलाभे क्षेत्रलाभान्तर्भाववदिति। निद्रापञ्चकमपि सर्वं वस्त्ववबोधमावृणोतीति सर्वघाति, यत् पुनः स्वापावस्थायामपि किञ्चित्[7] चेतयति तत्र धाराधरनिदर्शनं वाच्यम्। तथाऽनन्तानुबन्धिनोऽप्रत्याख्यानावरणाः प्रत्याख्यानावरणाश्च प्रत्येकं चत्वारो यथाक्रमं सम्यक्त्वं देशविरतिचारित्रं सर्वविरतिचारित्रं च सर्वमेव घ्नन्तीति सर्वघातिनो द्वादशापि कषायाः, यत् पुनस्तेषां प्रबलोदयेऽप्ययोग्याहारादिविर-

---

१ सर्वजीवानामपि चाक्षरस्यानन्तभागो नित्योद्घाटितस्तिष्ठति॥ २ सं० १-२ ०थ चा०॥ ३ सुष्ठ्वपि मेघसमुदये भवति प्रभा चन्द्रसूर्ययोः॥ ४ यदि पुनः सोऽपि आवृणीयात्तदा जीवोऽजीवत्वं प्राप्नुयात्॥ ५ सं० १-२ छा० ०यावर०॥ ६ छा० ०द् तदयुक्तम्॥ ७ सं० १ छा० ०द् चिकेति॥

मणमुपलभ्यते तत्र वारिवाहदृष्टान्तो/वाच्यः । तथा मिथ्यात्वं तु जिनप्रणीततत्त्वश्रद्धानरूप-सम्यक्त्वं सर्वमपि हन्तीति सर्वघाति, यत्तु तस्य प्रबलोदयेऽपि मनुष्य-पश्वादिवस्तुश्रद्धानं तदपि जलधरोदाहरणादवसेयमिति ।

भाविताः सर्वघातिन्यः । सम्प्रति देशघातिन्यो भाव्यन्ते—"चउनाणतिदंसणावरण" त्ति आवरणशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् ज्ञानावरणचतुष्कम्—मतिज्ञानावरण १ श्रुतज्ञानावरण २-अवधिज्ञानावरण ३ मनःपर्यायज्ञानावरण ४ लक्षणम्, दर्शनावरणत्रिकं—चक्षुर्दर्शनावरण १-अचक्षुर्दर्शनावरण २ अवधिदर्शनावरण ३ रूपमिति । सञ्ज्वलनाश्चत्वारः—क्रोध मान-माया-लोभाः । 'नोकषायाः' हास्य १ रति २ अरति ३ शोक ४ भय ५ जुगुप्सा ६ स्त्रीवेद ७ पुंवेद-८ नपुंसकवेद ९ स्वरूपा नव । 'विघ्नम्' अन्तरायं—दान-लाभ-भोग-उपभोग वीर्यान्तरायलक्षणम् । 'इति' अमुना दर्शितप्रकारेण देशघातिन्यः पञ्चविंशतिसङ्ख्याः प्रकृतयो भवन्तीत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—मतिज्ञानावरणादिचतुष्कं केवलज्ञानावरणानावृतं ज्ञानदेशं हन्तीति देशघाती-दमुच्यते, मत्यादिज्ञानचतुष्टयविषयभूतानर्थान् यद् नावबुध्यते स हि मत्यावरणाद्युदय एव, तदविषयभूतांस्त्वनन्तगुणान् यन्न जानीते स केवलज्ञानावरणस्यैवोदय इति । चक्षुः-अचक्षुः-अवधिदर्शनावरणान्यपि केवलदर्शनावरणानावृतकेवलदर्शनैकदेशमावृण्वन्तीति देशघातीनि । तथाहि—चक्षुः-अचक्षुः-अवधिदर्शनविषयभूतानेवाऽर्थान् एतदुदयाद् न पश्यति, तदविषय-भूतांस्त्वनन्तगुणान् केवलदर्शनावरणोदयादेव न समीक्षते । तथा सञ्ज्वलना नव नोकषायाश्च लब्धस्य चारित्रस्य देशमेव घ्नन्तीति देशघातिनः, तेषां मूल उत्तरगुणानामतीचारजनकत्वात् । यदवादि **श्रीमदाराध्यपादैः**—

[1]सव्वे वि य अइयारा, संजलणाणं तु उदयओ हुंति ।
मूलच्छिज्जं पुण होइ, बारसण्हं कसायाणं ॥ (आव०नि०गा० ११२) इति ।

दानान्तरायादीनि पञ्च अन्तरायाण्यपि देशघातीन्येव । तथाहि—दान-लाभ-भोग-उपभोगानां तावद् ग्रहण-धारणायोग्यान्येव द्रव्याणि विषयः, तानि च समस्तपुद्गलास्तिकायस्यानन्त-भागरूपे देश एव वर्तन्ते, अतो यदुदयात् तानि पुद्गलास्तिकायदेशवर्तीनि द्रव्याणि यद् दातुं लब्धुं भोक्तुमुपभोक्तुं च न शक्नोति तानि दान-लाभ-भोग-उपभोगान्तरायाणि तावद् देशघातीन्येव । यत्तु सर्वलोकवर्तीनि द्रव्याणि न ददाति न लभते न भुङ्क्ते नाप्युपभुङ्क्ते तन्न दानान्तरायाद्युदयात्, किन्तु तेषामेव ग्रहण-धारणाविषयत्वेनाशक्यानुष्ठानत्वादिति मन्तव्यम् । वीर्यान्तराय-मपि देशघात्येव, सर्ववीर्यं न घातयतीति कृत्वा । तथाहि—सूक्ष्मनिगोदस्य वीर्यान्तरायकर्मणो-

---

१ सर्वेऽपि चातिचाराः सञ्ज्वलनानां तूदयतो भवन्ति । मूलच्छेद्यं पुनर्भवति द्वादशानां कषायाणाम् ॥

ऽभ्युदये वर्तमानस्याप्याहारपरिणमन-कर्मदलिकग्रहण-गत्यन्तरगमनादिविषय एतावान् वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमो विद्यते, तत्क्षयोपशमविशेषतश्च निगोदजीवानादौ कृत्वा यावत् क्षीणमोहस्तावद् वीर्यमल्पं बहु बहुतरं बहुतमं च तारतम्याद् भवतीति, केवलिनश्च तत्कर्मक्षयसम्भूतं सर्ववीर्यं भवतीति देशघातीदम् । यदि पुनः सर्वघाति स्यात् तदा यथैव मिथ्यात्वस्य कषायद्वादशकस्य च उदये तदावार्यं सम्यक्त्वगुणं देश-सर्वसंयमगुणं च जघन्यमपि न लभते, तथैव च तदुदयेऽपि तदावार्यं जघन्यमपि वीर्यगुणं न लभेत, न चैवमस्ति, तस्मादिदमपि देशघातीति स्थितमिति ।

उक्ताः सर्व-देशघातिन्यः । सम्प्रति तत्प्रतिपक्षभूता अघातिनीर्व्याचिख्यासुराह–"अघाई" इत्यादि । अघातिन्य एताः पञ्चसप्ततिसङ्ख्याः प्रकृतयोऽभिधीयन्ते । तद्यथा–"पत्तेय" त्ति प्रत्येकप्रकृतयः पराघात-उच्छ्वासा-ऽऽतप-उद्योता-ऽगुरुलघु-तीर्थकर-निर्माण-उपघातरूपा अष्टौ । "तणुट्ठ" त्ति तन्वा(नु)शब्देनोपलक्षितमष्टकं "तणुवंगागिइसंघयणजाइगइखगइपुव्वि" (गा० ३) इति लक्षणं तन्वष्टकम् , तत्र तनवः–औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणलक्षणाः पञ्च, उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतयः–संस्थानानि षट् , संहननानि षट् , जातयः पञ्च, गतयश्चतस्रः, खगती द्वे, पूर्व्यः-आनुपूर्व्यश्चतस्रः, एवं तन्वष्टके प्रकृतयः पञ्चत्रिंशत् । आयूंषि चत्वारि । त्रसविंशतिः–त्रसदशक-स्थावरदशकमीलनात् । "गोयदुग" त्ति गोत्रशब्देनोपलक्षितं द्विकम्-"गोयवेयणियं" (गा० ३) इतिगाथांशेन प्रतिपादितम् , गोत्रम्- उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रमिति, साता-ऽसातभेदाद् वेदनीयं द्विधा, तदेवं गोत्रद्विकशब्देन प्रकृतिचतुष्टयमभिधीयते । "वन्न" त्ति वर्ण गन्धरस-स्पर्शाख्याश्चतस्रः प्रकृतयो गृह्यन्ते इति । एताः प्रकृतयोऽघातिन्यः, न कञ्चन ज्ञानादिगुणं घातयन्तीति कृत्वा, केवलं सर्व-देशघातिनीभिः सह वेद्यमानास्तत्सदृश्योऽनुभूयन्ते । अयमर्थः–सर्वघातिनीभिः सह वेद्यमाना एता अघातिन्योऽपि सर्वघातिरसविपाकं दर्शयन्ति, देशघातिनीभिः सह पुनर्वेद्यमाना देशघातिरसम् , यथा स्वयमचौरोऽपि चौरैः सह वर्तमानश्चौर इवावभासते । यदभाणि—

जा[१]ण न विसओ घाइत्तणम्मि ताणं पि सव्वघाइरसो ।
जायइ घाइ[२]सगासेण चोरया वेहऽचोराणं ॥ (पञ्चसं० गा० १५९) ॥१४॥

उक्तं सप्रतिपक्षं सर्व-देशघातिद्वारम् । सम्प्रति पुण्य-पापप्रकृतीर्विवरीषुराह—

सुरनरतिगुच्च सायं, तसदस तणुवंग वइर चउरंसं ।
परघासग तिरिआउं, वन्नचउ पणिंदि सुभखगई ॥१५॥

१ यासां न विषयो तासामपि सर्वघातिरसः । जायते घातिसकाशेन चौरता इवेहाचौराणाम् ॥
२ पञ्चसङ्ग्रहस्वोपज्ञटीकागतगाथायां तु–०समासेण । बृहट्टीकागतगाथायां पुनः–०सगासेण ॥

त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सुरत्रिकम्-देवगति-देवानुपूर्वी-देवायुर्लक्षणम् , नरत्रिकम्-नरगति-नरानुपूर्वी-नरायुर्लक्षणम् , "उच्च" त्ति उच्चैर्गोत्रं सातं 'त्रसदशकं' त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय यशःकीर्तिलक्षणम् , तनवः-औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणरूपाः पञ्च, उपाङ्गानि-औदारिकाङ्गोपाङ्ग वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणानि त्रीणि, "वइर" त्ति वज्रऋषभनाराचसंहननम् 'चतुरस्र" समचतुरस्रं "परघासग" त्ति पराघातसप्तकम्-पराघात उच्छ्वासा-ऽऽतप-उद्योत ऽगुरुलघु-तीर्थकरनाम-निर्माणरूपम्, तिर्यगायुः 'वर्णचतुष्कं' वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाख्यम् , पञ्चेन्द्रियजातिः 'शुभखगतिः' प्रशस्तविहायोगतिरिति ॥१५॥

बायाल पुन्नपगई, अपढमसंठाणखगइसंघयणा ।

तिरिदुग असाय नीयोवघाय इग विगल निरयतिगं ॥१६॥

थावरदस वन्नचउक्क घाइपणयालसहिय बासीई ।

पावपयडि त्ति दोसु वि, वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥१७॥

सुरत्रिकप्रभृतयः शुभखगतिपर्यन्ता एता द्विचत्वारिंशत्सङ्ख्याः पुण्याः-शुभाः प्रकृतयः पुण्यप्रकृतय उच्यन्ते ।

उक्ताः पुण्यप्रकृतयः इदानीं पापप्रकृतीराह--"अपढमसंठाण" इत्यादि । संस्थानानि च खगतिश्च संहननानि च संस्थान-खगति-संहननानि, अप्रथमानि च-प्रथमवर्जानि तानि संस्थान-खगति संहननानि च अप्रथमसंस्थान खगति-संहननानि । तत्राप्रथमसंस्थानानि न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-कुब्ज-वामन हुण्डाख्यानि पञ्च, अप्रथमखगतिः-अप्रशस्तविहायोगतिः, अप्रथमसंहननानि-ऋषभनाराच-नाराच ऽर्धनाराच-कीलिका-च्छेदवृत्तरूपाणि पञ्च, 'तिर्यग्द्विकं' तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वीरूपम् असातं नीचैर्गोत्रम् उपघातम् "इग" त्ति एकेन्द्रियजातिः "विगल" त्ति द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातयः 'नरकत्रिकं' नरकगति-नरकानुपूर्वी-नरकायुर्लक्षणं 'स्थावरदशकं' स्थावर सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-साधारणा-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिरूपं, 'वर्णचतुष्कं' वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाख्यं "घाइपणयाल" त्ति सर्वघातिन्यो विंशतिः देशघातिन्यः पञ्चविंशतिः, उभया अपि मिलिताः सामान्येन घातिन्यः पञ्चचत्वारिंशद् भवन्ति, ताभिः सहिताः-युक्ताः पूर्वोक्ता अप्रथमसंस्थानादिका वर्णचतुष्कपर्यवसानाः सप्तत्रिंशत्सङ्ख्या द्व्यशीतयः पापप्रकृतयो भवन्ति । इतिशब्दः परिसमाप्तौ द्व्यशीतय एव पापप्रकृतयो न ऊनाधिका इत्यर्थः ।

ननु द्विचत्वारिंशत्पुण्यप्रकृतयो भवन्ति द्व्यशीतिश्च पापप्रकृतयो मिलिताश्चतुर्विंशत्युत्तरं प्रकृतिशतं जातं, बन्धे तु विंशत्युत्तरमेव शतमधिक्रियते "बंधे विसुत्तरसयं" (कर्मस्त० भा० गा० १)

इति वचनात्, तत् कथं न विरोधः ? इत्याह—"दोसु वि वन्नाइगह" त्ति 'द्वयोरपि' पुण्य-पापप्रकृतिराश्योः 'वर्णादिग्रहात्' वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शग्रहणान्न कश्चनापि विरोधः। अयमभिप्रायः—वर्णादयो हि पुण्यस्वभावाः पापस्वभावाश्च वर्तन्ते, ततः पुण्यवर्णचतुष्टयं पुण्यप्रकृतिषु मध्ये गृह्यते, पापवर्णचतुष्टयं पुनः पापप्रकृतिषु। ततः पुण्य-पापप्रकृतिराश्योर्वर्णादिचतुष्कं यत् तदेकमेव सत् प्रशस्ता-ऽप्रशस्तभेदेनोभयत्रापि विवक्ष्यत इत्यदोषः। तथा एता एव पुण्यप्रकृतयः शुभकारणजन्यत्वात् शुभा उच्यन्ते, पापप्रकृतयस्त्वशुभकारणजन्यत्वादशुभा अभिधीयन्त इति ॥१६-१७॥

उक्तं पुण्यप्रकृति-पापप्रकृतिद्वारद्वयम्। सम्प्रति परावर्तमाना-ऽपरावर्तमानप्रकृतिद्वारद्वयं व्याचिख्यासुर्द्वारगाथायां परावर्तमानप्रकृतीनां पूर्वं निर्देशेऽपि इह अल्पसङ्ख्याकत्वेन प्रथममपरावर्तमानाः प्रकृतीराह—

नामधुवबंधिनवगं, दंसण पण नाण विग्घ परघायं ।
भय कुच्छ मिछ सासं, जिण गुणतीसा अपरियत्ता ॥१८॥

— नाम्नो ध्रुवबन्धिनवकं नामध्रुवबन्धिनवकं-वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघातलक्षणम्, दर्शनचतुष्कं—चक्षुः-अचक्षुः-अवधि-केवलदर्शनरूपम्, 'पञ्च ज्ञानानि' मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्याय-केवलज्ञानाभिधानि, काकाक्षिगोलकन्यायादत्रापि पञ्चशब्दस्य सम्बन्धात् पञ्च 'विघ्नानि' अन्तरायाणि—दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायाख्यानि पराघातं भयं 'कुत्सा' जुगुप्सा मिथ्यात्वं "सासं" ति उच्छ्वासं जिननाम इत्येता एकोनत्रिंशत्प्रकृतयः 'अपरिवृत्ताः' अपरावर्तमाना भवन्ति। अयमत्र भावः—या नामध्रुवबन्धिनवकप्रभृतय एकोनत्रिंशत्प्रकृतयस्ताः स्वबन्धोदयभयकालेषु नान्यस्याः प्रकृतेर्बन्धमुदयमुभयं वा निरुध्य प्रवर्तन्तेऽतोऽपरावर्तमाना इति ॥१८॥

उक्ता अपरावर्तमानाः प्रकृतयः। साम्प्रतं परावर्तमानप्रकृतीराह—

तणुअट्ठ वेय दुजुयल, कसाय उज्जोयगोयदुग निद्दा ।
तसवीसाऽऽउ परित्ता, खित्तविवागाणुपुव्वीओ ॥१९॥

तनुशब्देनोपलक्षितमष्टकं "तणुवंगागिइसंघयणजाइगइखगइपुव्वि" (गा० ३) इति गाथावयवेन प्रतिपादितं तन्वष्टकम्। तत्र तनवस्तैजस-कार्मणयोरपरावर्तमानासु प्रतिपादितत्वात् शेषा औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकरूपास्तिस्रः, उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतयः षट्, संहननानि षट्, जातयः पञ्च, चतस्रो गतयः, खगतिद्वयम्, आनुपूर्वीचतुष्कमिति तन्वष्टकशब्देन त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतयो गृह्यन्ते। 'वेदाः' स्त्री-पुं-नपुंसकरूपास्त्रयः 'द्वियुगलं' हास्य-रति-अरति-शोकरूपं, कषायाः षोडश, "उज्जोयगोयदुगं" ति द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् उद्योतद्विकम्—"उज्जोयायव"

(गा०३) इति वचनाद् उद्योता-ऽऽतपाख्यम्, गोत्रद्विकम्-"गोयवेयणियं" (गा०३) इति वचनाद् गोत्र वेदनीयस्वरूपम् । तत्र गोत्रम् उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रभेदाद् द्विधा, साता-ऽसातभेदाद् वेदनीयमपि द्विधा इत्येताश्चतस्रः प्रकृतयो गोत्रद्विकशब्देन गृह्यन्ते, निद्रापञ्चकं त्रसविंशतिः–त्रसदशक-स्थावरदशकरूपा, आयूंषि चत्वारि इति । एता एकनवतिप्रकृतयः "परित्त" त्ति प्राकृतत्वात् 'परिवृत्ताः' परावर्तमाना भवन्तीति शेषः । तत्र षोडश कषाया निद्रापञ्चकं च यद्यप्येता एकविंशतिप्रकृतयो ध्रुवबन्धित्वाद् बन्धं प्रति परोपरोधं न कुर्वन्ति तथापि स्वोदये स्वजातीयप्रकृत्युदयनिरोधात् परावर्तमाना भवन्ति । स्थिर-शुभा-ऽस्थिरा-ऽशुभप्रकृतयश्चतस्रश्च यद्यप्युदयं प्रति न विरुद्धास्तथापि बन्धं प्रति परावर्तमानाः, शेषाश्च गतिचतुष्क-जातिपञ्चक-शरीरत्रिक- अङ्गोपाङ्गत्रिक-संस्थानषट्क-संहननषट्का–ऽऽनुपूर्वीचतुष्का–ऽऽतप-उद्योत–विहायोगतिद्विक-त्रसादिषोडशक-वेदत्रिक-हास्य-रति-अरति-शोकयुगलद्वय-साता-ऽसात-उच्च-नीचा-ऽऽयुश्चतुष्टयलक्षणाः षट्षष्टिः प्रकृतयो बन्धोदयाभ्यामपि परस्परं विरुद्धा अतः[1] परावर्तमाना इति । उक्ताः परावर्तमानप्रकृतयः, तद्भणनेन च समर्थितं परावर्तमाना-ऽपरावर्तमानप्रकृतिद्वारद्वयम् । तदेवं समर्थितं "धुवबंधोदय[2]सत्ताघाइपुन्नपरियत्ता सेयर" (गा० १) इति मूलद्वारगाथोपन्यस्तं द्वारद्वादशकम् । सम्प्रति यदुक्तं "चउह विवागा वुच्छं" (गा० १) इति तद् विभणिषुः प्रथमं क्षेत्रविपाकाः प्रकृतीराह —"खित्तविवागाणुपुव्वीओ" त्ति क्षेत्रम्–आकाशं तत्रैव विपाकः–उदयो यासां ताः क्षेत्रविपाकाः, आनुपूर्व्यश्चतस्रः नरक-तिर्यग्-नरा-ऽमरानुपूर्वीलक्षणाः, यतस्तासां चतसृणामपि विग्रहगतावेवोदयो भवतीति । उक्तं च बृहत्कर्मविपाके—

[3]निरयाउयस्स उदए, नरए वक्केण गच्छमाणस्स ।
निरयाणुपुव्वियाए, तहिं उदओ अन्नहिं नत्थि ॥
एवं तिरिमणुदेवे, तेसु वि वक्केण गच्छमाणस्स ।
तेसिमणुपुव्वियाणं, तहिं उदओ अन्नहिं नत्थि ॥ (गा० १२२–१२३)

ननु विग्रहगत्यभावेऽप्यानुपूर्वीणामुदयः सङ्क्रमकरणेन विद्यते, अतः कथं क्षेत्रविपाकिन्यस्ता न गतिवद् जीवविपाकिन्यः ? इति अत्रोच्यते–विद्यमानेऽपि सङ्क्रमे यथा तासां क्षेत्रप्राधान्येन स्वकीयो विपाकोदयो न तथाऽन्यासामतः क्षेत्रविपाकिन्य एवेति ॥ १९ ॥

उक्ताः क्षेत्रविपाकाः प्रकृतयः । साम्प्रतं जीवविपाका भवविपाकाश्च प्रकृतीराह----

---

१ छा० विना ०तः परावर्तमानप्रकृतयः, तद्भण° ॥ २ सं० १-२ छा० त० म० ०संता० ॥
३ निरयायुष उदये नरके वक्रेण गच्छतः । निरयानुपूर्व्यास्तत्रोदयोऽन्यत्र नास्ति ॥ एवं तिर्यङ्-मनुज-देवेषु तेष्वपि वक्रेण गच्छतः । तासामानुपूर्वीणां तत्रोदयोऽन्यत्र नास्ति ॥

घणघाइ दुगोय जिणा, तसियरतिग सुभगदुभगचउ सासं ।
जाइतिग जियविवागा, आऊ चउरो भवविवागा ॥२०॥

घनघातिन्यः प्रकृतयः सप्तचत्वारिंशत् , तद्यथा--ज्ञानावरणं पञ्चधा, दर्शनावरणं नवधा, मोहनीयमष्टाविंशतिधा, अन्तरायं पञ्चधेति । "दुगोय" त्ति "गोयवेयणियं" (गा० ३) इति वचनाद् 'गोत्रद्विकं' गोत्र-वेदनीयरूपम् । तत्र गोत्रम् उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रभेदाद् द्वेधा, वेदनीयं साता-ऽसातभेदेन द्विभेदमिति दुगोयशब्देन प्रकृतिचतुष्टयं गृह्यते । जिननाम, "तसियरतिग" त्ति त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् त्रसत्रिकं--त्रस-बादर पर्याप्तकरूपम् , इतरत्रिकं स्थावरत्रिकं स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तकलक्षणम् । "सुभगदुभगचउ" त्ति चतुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सुभग-चतुष्कं--सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्तिरूपम् 'दुर्भगचतुष्कं--दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशः--कीर्त्तिलक्षणम् । "सासं" त्ति उच्छ्वासं "जाइतिग" त्ति जातिशब्देनोपलक्षितं त्रिकं "जाइगइखगइ" (गा० ३) इति गाथावयवोक्तं जातित्रिकम् । तत्र जातयः--एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाख्याः पञ्च, गतयः सुर-नर-तिर्यग्-नरकरूपाश्चतस्रः, खगतिः-प्रशस्ता-ऽप्रशस्त-विहायोगतिभेदेन द्विधा, इत्येवं जातित्रिकशब्देन एकादश प्रकृतयो गृह्यन्त इति । एता अष्टा-सप्ततिप्रकृतयो जीव एव विपाकः--स्वशक्तिदर्शनलक्षणो विद्यते यासां ता जीवविपाका ज्ञातव्याः । तथाहि-पञ्चविधज्ञानावरणोदयाद् जीव एवाऽज्ञानी स्याद् न पुनः शरीर-पुद्गलादिषु तत्कृतः कश्चिदुपघातोऽनुग्रहो वाऽस्तीति, एवं नवविधदर्शनावरणोदयाद् जीव एव अदर्शनी भवति, साता-ऽसातोदयाद् जीव एव सुखी दुःखी वा सम्पद्यते, अष्टाविंशतिविधमोहनीयोदयाद् जीव एव अदर्शनी अचारित्री वा जायते, पञ्चविधान्तरायोदयाद् जीव एव न दानादि कर्तुं पारयति, उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्र-गतिचतुष्क-जातिपञ्चक-विहायोगतिद्विक-जिन-त्रस-बादर-पर्याप्तक-स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-सुभगचतुष्क-दुर्भगचतुष्क-उच्छ्वासनामोदयाद् जीव एव तं तं भावमनुभवति न शरीरपुद्गला इति । एताः सर्वा अपि जीवविपाकिन्य इति । या अपि क्षेत्रविपाका उक्ताः, याश्च भवविपाकाः पुद्गलविपाकाश्च वक्ष्यन्ते, ता अपि परमार्थतो जीवविपाका एव; यतो जीवस्यैव पारम्पर्येणानुग्रहमुपघातं च कुर्वन्ति, केवलं मुख्यतया क्षेत्र-भव-पुद्गलेषु तत्तद्विपाकस्य विवक्षितत्वात् तत्तद्विपाका उच्यन्त इति । 'आयूंषि चत्वारि' नारकायुष्कादीनि, पुंस्त्वं च प्राकृत-वशात् , प्राकृते हि लिङ्गमतन्त्रमेव, यदवादि प्रवादिसर्पदर्पसौपर्णेयैः श्रीहेमचन्द्रसूरिपादैः स्वप्राकृतलक्षणे--"लिङ्गमतन्त्रम्" (सिद्ध० ८--४--४४५) इति । भवन्ति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भवः--नारकादिपर्यायः, स च पूर्वायुर्विच्छेदे विग्रहगतेरप्यारभ्य वेदितव्यः, यदाह भगवान् श्रीसुधर्मस्वामी भगवत्याम्--

" [1]नेरइए नेरइएसु उववज्जइ" (शत० ४ उद्दे० ९) इति ।

तस्मिन् भवे—नारकतिर्यग्नरामररूप एव विपाकः-उदयो विद्यते येषां तानि भवविपाकीनि। तथाहि—यथासम्भवं पूर्वभवे बद्धानि आगामिनि भवे विपच्यन्त इति भावः। ननु यथाऽऽयुषां देवादिभवेऽवश्यं विपाको भवति एवं गतीनामपि, अतस्ता अपि भवविपाकिन्यः प्राप्नुवन्ति, अत्रोच्यते—आयुर्यद् यस्य भवस्य योग्यं निबद्धं तत् तस्मिन्नेव भवे वेद्यत इत्यायुषो भवविपाकदानाद् भवविपाकित्वम्, गतयस्तु विभिन्नभवयोग्या निबद्धा अप्येकस्मिन्नपि भवे सर्वाः सङ्क्रमेण संवेद्यन्ते। तथाहि—मोक्षगामिनोऽशेषा गतयो मनुष्यभवे क्षयं यान्ति, अतो भवं प्रति गतीनां नैयत्याभावान्न भवविपाकिन्यः, किन्तु जीवविपाकिन्य एवेति ॥२०॥

उक्ता जीवविपाका भवविपाकाश्च प्रकृतयः। इदानीं पुद्गलविपाकिनीः प्रकृतीः प्रचिकटयिषुराह—

नामधुवोदय चउतणुवघायसाहारणियर जोयतिगं ।
पुग्गलविवागि बंधो, पयइठिइरसपएस त्ति ॥२१॥

नाम्नः—नामकर्मणो ध्रुवोदयाः-नित्योदया नामध्रुवोदया द्वादश प्रकृतयः, तद्यथा—निर्माण-स्थिरा-ऽस्थिरा-ऽगुरुलघु-शुभा-ऽशुभ-तैजस-कार्मण-वर्णचतुष्कमिति। "चउतणु" त्ति तनुशब्देनोपलक्षितं चतुष्कं "तणुवंगागिइसंघयण" (गा०३) इति गाथावयवेन प्रतिपादितं तनुचतुष्कम्। तत्र तैजस-कार्मणयोर्ध्रुवोदयमध्ये पठितत्वादिह तनवः—औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकलक्षणास्तिस्रः परिगृह्यन्ते, उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतयः—संस्थानानि षट्, संहननानि षट्, तदेवं तनुचतुष्कशब्देन एता अष्टादश प्रकृतयो गृह्यन्ते। उपघातं साधारणम् 'इतरच्च' तत्प्रतिपक्षभूतं प्रत्येकं "जोयतिगं" ति "उज्जोयायवपरघा" (गा०३) इति वचनाद् उद्योता-ऽऽतप-पराघातलक्षणमिति। एताः षट्त्रिंशत् प्रकृतयः "पुग्गलविवागि" त्ति पुद्गलेषु—शरीरतया परिणतेषु परमाणुषु विपाकः—उदयो यासां ताः पुद्गलविपाकिन्यः, शरीरपुद्गलेष्वेवात्मीयां शक्तिं दर्शयन्तीत्यर्थः। तथाहि—निर्माण-स्थिराद्युदयात् शरीरतया परीणतानां पुद्गलानामङ्गप्रत्यङ्गादिनियमनं दन्तास्थ्यादीनां स्थिरत्वं जिह्वादीनामस्थिरत्वं शिरःप्रभृतीनां शुभत्वं पादादीनामशुभत्वमित्यादि, तनूदयात् शरीरतया पुद्गला एव परिणमन्ति, अङ्गोपाङ्गोदयाच्च तेषां शिरः-ग्रीवाद्यवयवविभागो जायते, आकृतिनामोदयात् तेष्वेवाऽऽकारविशेषः सम्पनीपद्यते, संहननोदयात् तेषामेव वज्रऋषभनाराचादितया विशिष्टा परिणतिर्भवति, उपघात-साधारण-प्रत्येक-उद्योता-ऽऽतपादीनामपि सर्वेषां शरीरपुद्गलेष्वेव स्वविपाकस्य दर्शनात् सुप्रतीतमेवासां पुद्गलविपाकित्वमिति।

---

१ नैरयिको नैरयिकेषु उत्पद्यते ॥

उक्ताश्चतुर्विधविपाकाः प्रकृतयः । सम्प्रति यदुक्तम् "वुच्छं बंधविह सामी य" (गा० १) इति तन्निर्वाहणार्थं बन्धविधा व्याचिख्यासुराह—"बंधो पयइठिइरसपएस" त्ति, बन्धशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धः रसबन्धः प्रदेशबन्धः, 'इति' अमुना प्रकारेण बन्धश्चतुर्धा भवति । तत्र स्थिति-अनुभाग-प्रदेशबन्धानां यः समुदायः स प्रकृतिबन्धः । अध्यवसायविशेषगृहीतस्य कर्मदलिकस्य यत् स्थितिकालनियमनं स स्थितिबन्धः । कर्मपुद्गलानामेव शुभोऽशुभो वा घात्यघाती वा यो रसः सोऽनुभागबन्धो रसबन्ध इत्यर्थः । कर्मपुद्गलानामेव यद् ग्रहणं स्थितिरसनिरपेक्षं दलिकसङ्ख्याप्राधान्येनैव करोति स प्रदेशबन्धः । उक्तं च—

[1]ठिइबंधु दलस्स ठिई, पएसबंधो पएसगहणं जं ।
ताण रसो अणुभागो, तस्समुदाओ पगइबंधो ॥ (पञ्चसं० गा० ४३२)

अन्यत्राप्युक्तम्—

प्रकृतिः समुदायः स्यात् , स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसः प्रोक्तः, प्रदेशो दलसञ्चयः ॥ ( ) इति ॥ २१॥

उक्ताः सामान्यतो बन्धभेदाः । अथ मूलप्रकृतिबन्धस्थानानि तेषु च भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थिता-ऽवक्तव्यलक्षणान् बन्धभेदविशेषान् निरूपयन्नाह—

मूलपयडीण अडसत्तछेगबंधेसु तिन्नि भूगारा ।
अप्पतरा तिय चउरो, अवट्ठिया न हु अवत्तव्वो ॥२२॥

'मूलप्रकृतीनां' ज्ञानावरण–दर्शनावरण–वेदनीय-मोहनीया–ऽऽयुः–नाम-गोत्र-ऽन्तरायलक्षणानाम् अष्ट-सप्त-षड्-एकबन्धेषु त्रयो भूयस्काराः त्रयोऽल्पतराः चत्वारोऽवस्थितबन्धा भवन्ति, 'न हु' नैव 'अवक्तव्यः' अवक्तव्यबन्धो भवतीत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—इह मूलप्रकृतीनां चत्वारि बन्धस्थानानि भवन्ति । तद्यथा—अष्टविधबन्धः सप्तविधबन्धः षड्विधबन्ध एकविधबन्धश्च । सर्वप्रकृतिसमुदायबन्धोऽष्टविधबन्धः । आयुर्वर्जसप्तप्रकृतिबन्धः सप्तविधबन्धः । आयुर्मोहनीयवर्जषट्प्रकृतिबन्धः षड्विधबन्धः । एकस्याः सातवेदनीयलक्षणायाः प्रकृतेर्बन्ध एकविधबन्धः । ततश्चाऽष्टविध-सप्तविध-षड्विध-एकविधबन्धेषु त्रयो भूयस्कारबन्धाः त्रयोऽल्पतरबन्धाः चत्वारोऽवस्थितबन्धाः, अवक्तव्यबन्धो नास्ति ।

तत्र भूयस्कारादीनां स्वरूपमिदम्—तत्रैकविधाद्यल्पतरबन्धको भूत्वा यत्र पुनरपि षड्विधादिबहुबन्धको भवति स प्रथमसमये भूयस्कारबन्धः १ । यत्र त्वष्टविधादिबहुबन्धको भूत्वा पुनरपि सप्तविधाद्यल्पतरबन्धको भवति स प्रथमसमय एवाल्पतरबन्धः २ । यत्र तु

---

१ स्थितिबन्धो दलस्य स्थितिः प्रदेशबन्धः प्रदेशग्रहणं यत् । तेषां रसोऽनुभागः तत्समुदायः प्रकृतिबन्धः ॥

प्रथमसमये एकविधादिबन्धको भूत्वा द्वितीयसमयादिष्वपि तावन्मात्रमेव बध्नाति सोऽवस्थितबन्धः ३ । यत्र तु सर्वथाऽबन्धको भूत्वा पुनः प्रतिपत्य बन्धको भवति स आद्यसमयेऽवक्तव्यबन्धः, अयं पुनरुत्तरप्रकृतीनामेव भवति न मूलप्रकृतीनाम्, तासां सर्वथाऽबन्धकस्यायोगिकेवलिनः सिद्धस्य वा प्रतिपाताभावेन पुनर्बन्धाभावात् ।

अथ कथं त्रयो भूयस्कारबन्धाः त्रयोऽल्पतरबन्धाः चत्वारोऽवस्थितबन्धा भवन्ति ? इति चेद् उच्यते—इहैकविधं बद्ध्वा उपशान्तमोहावस्थातः प्रतिपत्य सूक्ष्मसम्पराये पुनः षड्विधं बध्नत आद्यसमये प्रथमो भूयस्कारबन्धः १ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः, ततोऽप्यधस्तात् प्रतिपत्य सप्तविधं बध्नत आद्यसमये द्वितीयो भूयस्कारबन्धः २ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः, आयुर्बन्धकाले त्वष्टविधबन्धं गतस्य प्रथमसमय एव तृतीयो भूयस्कारबन्धः ३ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्ध इति त्रयो भूयस्काराः । तथाऽऽयुर्बन्धकालेऽष्टविधं बद्ध्वा पुनरप्यायुर्बन्धोपरमे सप्तविधं बध्नत आद्यसमये प्रथमोऽल्पतरबन्धः १ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः, सप्तविधादपि सूक्ष्मसम्परायावस्थायां षड्विधबन्धं गतस्य प्रथमसमये द्वितीयोऽल्पतरबन्धः २ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः, षड्विधबन्धादप्युपशान्तमोहाद्यवस्थायामेकविधबन्धं गतस्याद्यसमये तृतीयोऽल्पतरबन्धः ३ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्ध इति त्रयोऽल्पतरबन्धाः । तथा मूलप्रकृतिविषयाण्येकविधबन्धादीनि चत्वारि बन्धस्थानानि, तेषु चतुर्ष्वपि बन्धस्थानेष्ववस्थितबन्धोऽस्त्येवेति चत्वारोऽवस्थितबन्धाः । अवक्तव्यबन्धस्तु मूलप्रकृतिषु न सम्भवतीत्युक्तमेवेति ॥२२॥

अथैतदेव भूयस्कारादिस्वरूपं व्याचिख्यासुराह—

एगादहिगे भूओ, एगाईऊणगम्मि अप्पतरो ।
तम्मत्तोऽवट्ठियओ, पढमे समए अवत्तव्वो ॥२३॥

एकादिभिः—एकद्वित्र्यादिभिः प्रकृतिभिरधिके बन्धे "भूय" त्ति भूयस्कारनाम बन्धो भवति । यथा—एकां बद्ध्वा षड् बध्नाति, षड् बद्ध्वा सप्त बध्नाति, सप्त वा बद्ध्वाऽष्टौ बध्नातीति । तथा एकादिभिः—एक-द्वि-त्र्यादिभिः प्रकृतिभिरूने-हीने बन्धे 'अल्पतरः' अल्पतरनाम बन्धो भवति । यथा—अष्टौ बद्ध्वा सप्त बध्नाति, सप्त वा बद्ध्वा षड् बध्नाति, षड् वा बद्ध्वा एकां बध्नाति । तथा स एव भूयस्कारोऽल्पतरो वा द्वितीयादिसमयेषु 'तन्मात्रः' तावन्मात्रतया प्रवर्तमानोऽवस्थितबन्धो भवति । एते त्रयोऽपि प्रकारा मूलप्रकृतीनां सम्भवन्ति । तथा यः सर्वथाऽबन्धको भूत्वा भूयोऽपि बन्धकः सञ्जायते तदा तस्य प्रथमसमयेऽवक्तव्यः सम्भवतीति । एतदेवाह—"पढमे समए अवत्तव्वो" इति स्पष्टम् । न चायं मूलप्रकृतिषु सम्भवति, न हि मूलप्रकृतीनां सर्वासां बन्ध-

व्यवच्छेदे सति अयोगिकेवलिनः सिद्धस्य वा भूयोऽपि बन्धः सम्भवतीति एषोऽवक्तव्यबन्ध उत्तरप्रकृतिष्वेव भवति, तं चोत्तरप्रकृतिषु यथास्थानं दर्शयिष्यामः॥ २३॥

उक्ता मूलप्रकृतीरधिकृत्य भूयस्कारादिबन्धाः। अधुनोत्तरप्रकृतीः प्रतीत्य तान् प्रचिकटयिषुराह--

नव छ च्चउ दंसे दु दु, ति दु मोहे दु इगवीस सत्तरस।
तेरस नव पण चउ ति दु, इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि ॥२४॥

"दंसि" त्ति भामा सत्यभामेति न्यायात् पदैकदेशेऽपि पदसमुदायोपचार इति दर्शनावरणोत्तरप्रकृतीनां त्रीणि बन्धस्थानानि। कथम्? इत्याह-"नव छ चउ" त्ति नवविधं बन्धस्थानं षड्विधं बन्धस्थानं चतुर्विधं बन्धस्थानं चेति। तत्र निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला प्रचलाप्रचला स्त्यानर्द्धिलक्षणं निद्रापञ्चकम्, चक्षुर्दर्शनावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरणा-ऽवधिदर्शनावरण-केवलदर्शनावरणचतुष्टयं चेत्येतन्नवविधम्, एतच्च मिथ्यादृष्टि-सास्वादनगुणस्थानकं यावद् बध्यते। ततः परं स्त्यानर्द्धित्रिकं निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिरूपं व्यवच्छिद्यते, अतः सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादिषु षड्विधं बध्नतः प्रथमसमये प्रथमोऽल्पतरबन्धः, एतच्च षड्विधमपूर्वकरणप्रथमसप्तभागं यावद् बध्नाति। ततः परं निद्रा-प्रचलाबन्धव्यवच्छेदे सति शेषं चतुर्विधं बध्नत आद्यसमये द्वितीयोऽल्पतरबन्धः, एतच्चतुर्विधं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावद् बध्यते। ततः कस्यचित् पुनरपि प्रतिपत्य षड्विधं बध्नतः प्रथमसमये प्रथमो भूयस्कारबन्धः। ततोऽपि प्रतिपत्य नवविधं बध्नत आद्यसमये द्वितीयो भूयस्कारबन्धः। अत्र च नवविधादिषु त्रिष्वपि बन्धस्थानेषु द्वितीयादिषु समयेषु तदेव बध्नतोऽवस्थितबन्ध इति त्रयोऽवस्थितबन्धाः। यदा तूपशान्तमोहावस्थायां दर्शनावरणप्रकृतीनां सर्वथाऽबन्धको भूत्वा पुनरद्धाक्षयेणैव प्रतिपत्य चतुर्विधं बध्नाति तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धो भूयस्काराद्युचितलक्षणायोगाद् भूयस्कारादिभिर्विकल्पैर्वक्तुं न शक्यत इत्यवक्तव्यः, द्वितीयादिसमयेषु त्वत्राप्यवस्थितबन्धः। यदा पुनरुपशान्तमोहावस्थायामेवायुःक्षयेणानुत्तरसुरेषूत्पद्यते तदा तत्र प्रथमसमय एव षड्विधं बध्नतो द्वितीयोऽवक्तव्यबन्धः, द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः। तदेवमत्र द्वौ भूयस्कारबन्धौ द्वावल्पतरबन्धौ। अवस्थितबन्धास्तु गणनया षड् भवन्तोऽपि बन्धस्थानानि त्रीण्येवेति तद्भेदास्त्रय एव भवन्ति। अवक्तव्यबन्धौ द्वौ इति। एतदेवाह-"दु दु ति दु" त्ति द्वौ भूयस्कारबन्धौ द्वावल्पतरबन्धौ त्रयोऽवस्थितबन्धाः द्वाववक्तव्यबन्धाविति। भावार्थः पूर्वोक्त एवेति।

उक्ता दर्शनावरणोत्तरप्रकृतिषु भूयस्कारादिबन्धाः। इदानीमेतानेव मोहनीयोत्तरप्रकृतिषु विचिन्तयन्नाह-"मोहे दुइगवीस सत्तरस" इत्यादि। 'मोहे' मोहनीयकर्मणि दश बन्धस्था-

नानि भवन्ति । तद्यथा--"दुइगवीस" त्ति विंशतिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् द्वाविंशतिः एकविंशतिः सप्तदश त्रयोदश नव पञ्च चतस्रः तिस्रो द्वे एका च । उक्तं च सप्ततिकायाम्—

[1]बावीस इक्कवीसा, सत्तरसा तेरसेव नव पंच ।
चउ तिग दुगं च एगं, बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥ (गा० ११)

तत्र सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे[2] बन्धे न भवतः, "[3]न य बंधे सम्ममीसाइं" ([3]पञ्चसं० गा० १२८) इति वचनात् । न च त्रयाणां वेदानां युगपद् बन्धः किन्त्वेककालमेकस्यैव । हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगले अपि न युगपद् बन्धमायातः किन्त्वेकतरमेव युगलम् । ततो मोहनीयस्योत्कर्षतः प्रभूतप्रकृतिबन्धो द्वाविंशतिः-मिथ्यात्वं १ षोडश कषायाः १६ एको वेदः १ अन्यतरयुगलं २ भयं १ जुगुप्सा १ इति । सा च मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके प्राप्यते । ततः सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके मिथ्यात्वबन्धाभावादेकविंशतिः । यद्यप्यत्र नपुंसकवेदस्यापि बन्धो न भवति तथापि तत्स्थाने स्त्रीवेदः पुरुषवेदो वा प्रक्षिप्यत इत्येकविंशतेरेव बन्धः । ततो मिश्रा-ऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकयोरनन्तानुबन्धिनामपि बन्धाभावात् सप्तदश । ततोऽपि देशविरतिगुणस्थानकेऽप्रत्याख्यानावरणकषायाणां बन्धाभावात् त्रयोदश । ततोऽपि प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणगुणस्थानकेषु प्रत्याख्यानावरणकषायाणां बन्धाभावाद् नव । यद्यप्यरति-शोकरूपं युगलं प्रमत्तगुणस्थानक एव व्यवच्छिन्नं तथापि तत्स्थाने हास्य-रतियुगलं प्रक्षिप्यत इत्यप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणयोर्नवकबन्धो न विरुध्यते । ततो हास्य-रति-भय-जुगुप्सा अपूर्वकरणचरमसमये च बन्धमाश्रित्य व्यवच्छिद्यन्त इत्यनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके प्रथमभागे पञ्चानां बन्धः । द्वितीयभागे पुरुषवेदस्याऽभावात् चतसृणां बन्धः । तृतीयभागे सञ्ज्वलनक्रोधस्य बन्धाभावात् तिसृणां बन्धः । चतुर्थभागे संज्वलनमानस्य बन्धाभावाद् द्वयोर्बन्धः । पञ्चमभागे संज्वलनमायाया अपि बन्धाभावादेकस्याः संज्वलनलोभप्रकृतेर्बन्धः । ततः परं बादरसम्परायाभावात् तस्या अपि न बन्धः ।

उक्तानि मोहनीयस्य दश बन्धस्थानानि । अथैतेषु दशसु बन्धस्थानेषु भूयस्कारादीनाह—"नव अट्ठ दस दुन्नि" त्ति नव भूयस्कारबन्धाः, अष्टावल्पतरबन्धाः, दशावस्थितबन्धाः, द्वाववक्तव्यबन्धौ । इयमत्र भावना—एकविधबन्धात् प्रतिपत्य उक्तस्वरूपं द्विविधं बध्नत आद्यसमये प्रथमो भूयस्कारबन्धः । द्विविधात् त्रिविधबन्धं गतस्य द्वितीयो भूयस्कारबन्धः । त्रिविधात् चतुर्विधबन्धं गतस्य तृतीयो भूयस्कारबन्धः । चतुर्विधात् पञ्चविधबन्धं गतस्य

१ द्वाविंशतिः एकविंशतिः सप्तदश त्रयोदशैव नव पञ्च । चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं बन्धस्थानानि मोहस्य ॥
२ न च बन्धे सम्यक्त्व-मिश्रे ॥ ३ पञ्चसंग्रहे तु-"बंधे नो सम्ममीसाइं" इति पाठः ॥

चतुर्थो भूयस्कारबन्धः। पञ्चविधाद् नवविधबन्धं गतस्य पञ्चमो भूयस्कारबन्धः। नवविधात् त्रयोदशविधबन्धं गतस्य षष्ठो भूयस्कारबन्धः। त्रयोदशविधात् सप्तदशविधबन्धं गतस्य सप्तमो भूयस्कारबन्धः। सप्तदशविधाद् एकविंशतिविधबन्धं गतस्याष्टमो भूयस्कारबन्धः। एकविंशतिविधाद् द्वाविंशतिविधबन्धं गतस्य नवमो भूयस्कारबन्धः। अल्पतराः पुनरेवमष्टौ भवन्ति। तथाहि--द्वाविंशतिविधबन्धात् सप्तदशविधबन्धं गतस्य प्रथमोऽल्पतरबन्धः। सप्तदशविधात् त्रयोदशविधबन्धं गतस्य द्वितीयोऽल्पतरबन्धः। त्रयोदशविधबन्धाद् नवविधबन्धं गतस्य तृतीयोऽल्पतरबन्धः। नवविधबन्धात् पञ्चविधबन्धं गतस्य चतुर्थोऽल्पतरबन्धः। पञ्चविधबन्धाद् चतुर्विधबन्धं गतस्य पञ्चमोऽल्पतरबन्धः। चतुर्विधबन्धात् त्रिविधबन्धं गतस्य षष्ठोऽल्पतरबन्धः। त्रिविधबन्धाद् द्विविधबन्धं गतस्य सप्तमोऽल्पतरबन्धः। द्विविधबन्धाद् एकविधबन्धं गतस्याष्टमोऽल्पतरबन्धः। ननु द्वाविंशतिबन्धादेकविंशतिगमने नवमोऽल्पतरबन्धः कस्माद् नोक्तः ? इति चेत् नैवम्, असम्भवादेव, तथाहि--द्वाविंशतिं मिथ्यादृष्टिरेव बध्नाति, एकविंशतिं तु सास्वादनसम्यग्दृष्टिरेवेत्युक्तम्; न च मिथ्यादृष्टिरनन्तरभावेन सास्वादनत्वं व्रजति येन द्वाविंशतेरेकविंशतिगमनं स्यात्, किन्तु उपशमसम्यग्दृष्टिरेव सास्वादनभावं प्रतिपद्यते, तस्माद् द्वाविंशतेः सप्तदशबन्धगमनमेव भवतीत्यष्टावेवाल्पतरबन्धाः। तथा दशस्वपि मोहनीयबन्धस्थानेषु द्वितीयादिसमयेष्ववस्थितबन्धो लभ्यत इति अवस्थितबन्धा दश। अवक्तव्यबन्धौ द्वौ पुनरेवम्–यदा हि उपशान्ते मोहनीयस्याऽबन्धको भूत्वा उपशान्ताद्धाक्षयेण प्रतिपत्य पुनरेकं संज्वलनलोभं बध्नाति तदाऽऽद्यसमये प्रथमोऽवक्तव्यबन्धः। यदि चोपशान्तमोहावस्थायामेवायुःक्षयेण मृत्वाऽनुत्तरसुरेषु समुत्पद्यते तदा प्रथमसमय एव सप्तदशविधबन्धं बध्नतो द्वितीयोऽवक्तव्यबन्धः। तदेवं मोहनीये नव भूयस्कारबन्धा अष्टावल्पतरबन्धा दशावस्थितबन्धा द्वाववक्तव्यबन्धाविति भावितम्। उक्तं च—

[1]नव भूअगारबन्धा, अट्ठेव हवंति अप्पतरबंधा।
दो अव्वत्तगबन्धा, अवट्ठिया दस उ मोहम्मि॥

(बृहच्छतकबृहद्भाष्यगाथा २६१) इति ॥२४॥

सम्प्रति नामकर्मप्रकृतिषु भूयस्कारादिबन्धान् प्रतिपिपादयिषुराह—

तिपणछअट्ठनवहिया, वीसा तीसेगतीस इग नामे।
छस्सगअट्ठतिबंधा, सेसेसु य ठाणमिक्किक्कं ॥२५॥

---

१ नव भूयस्कारबन्धा अष्टावेव भवन्त्यल्पतरबन्धाः। द्वाववक्तव्यबन्धौ अवस्थिता दश तु मोहे॥

"नामे" त्ति नामकर्मणि बन्धस्थानान्यष्टौ भवन्ति । तद्यथा-विंशतिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशद् त्रिंशद् एकत्रिंशद् एका चेति । उक्तं च सप्ततिकायाम्--

तेवीस[1] पन्नवीसा, छव्वीसा अट्ठवीस गुणतीसा ।
तीसेगतीसमेगं, बंधट्ठाणाणि नामस्स ॥ (गा० २५)

तत्र वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघातम् इत्येता नव प्रकृतयो ध्रुवबन्धिन्यः, सर्वैरपि चतुर्गतिकजीवैस्तत्प्राप्तविशिष्टगुणैः प्रतिसमयमवश्यं बध्यमानत्वात्; तथा तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः औदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानं स्थावरं बादर-सूक्ष्मयोरन्यतरद् अपर्याप्तकं प्रत्येक-साधारणयोरन्यतरद् अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम अनादेयनाम अयशःकीर्तिनाम इत्येताश्चतुर्दश प्रकृतयो ध्रुवबन्धिनीभिर्नवभिः सह त्रयोविंशतिरिति एतासां त्रयोविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्, एवमुत्तरत्रापि भावनीयम् । एतां च त्रयोविंशतिमेकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय--त्रीन्द्रिय--चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाणामन्यतरो मिथ्यादृष्टिरपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यां बध्नाति । पञ्चविंशतिं पुनः पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यां तत्रोत्पादयोग्या नानाजीवा बध्नन्ति। तत्र च त्रयोविंशतिः पूर्वोक्तैव पराघात-उच्छ्वासाभ्यां सह पञ्चविंशतिर्भवति, नवरमपर्याप्तकस्थाने पर्याप्तकं, स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तीनां परावृत्तिर्वाच्या, एवमेषा पञ्चविंशतिरन्येषामपि विकलेन्द्रियादिजीवानां प्रायोग्या नानाभङ्गैः सम्भवति, केवलं ग्रन्थविस्तरभयाद् नेहोच्यते, सप्ततिकाटीकायां तद्विस्तरोऽन्वेषणीयः । एवमुत्तरेष्वपि बन्धस्थानेषु गमनिकामात्रमेवाभिधास्यत इति । एषैव पञ्चविंशतिरातप-उद्योतयोरेकतरप्रक्षेपे षड्विंशतिर्भवति, सा च पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यैव बध्यते नान्यप्रायोग्या, बन्धकाश्च तत्रोत्पादयोग्या जीवा द्रष्टव्याः । अष्टाविंशतिं तु देवगतिप्रायोग्यां तिर्यङ्-मनुष्यास्तत्प्रायोग्यविशुद्धा बध्नन्ति । तद्यथा-देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानम् उच्छ्वासनाम पराघातनाम प्रशस्तविहायोगतिनाम त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोः शुभा-ऽशुभयोर्यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योः पृथगेकैकमन्यतरद्वाच्यं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघातमित्यष्टाविंशतिर्भवति। एषा च मिथ्यादृष्टि-सास्वादन-मिश्रा-ऽविरतानां देवगतिप्रायोग्यं बध्नतामवसेया । एषैवाष्टाविंशतिस्तीर्थकरनामकर्मणो बन्धे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशद् भवति, तां च सम्यग्दर्शनिनो मनुष्या एव बद्धतीर्थकरनामानो देवगतिप्रायोग्यां बध्नन्ति । यदि वा पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्याऽपीयमेकोनत्रिंशद्

१ त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत्। त्रिंशदेकत्रिंशदेकं बन्धस्थानानि नाम्नः॥

बध्यते । तद्यथा—तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकशरीरम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे षण्णां संस्थानानामेकतमत् संस्थानं षण्णां संहनननामेकतमत् संहननं वर्णचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातम् पराघातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगत्योरेकतरा त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं सुभग-दुर्भगयोरेकतरं सुस्वर-दुःस्वरयोरेकतरम् आदेया-ऽनादेययोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति । त्रिंशत् पुनरियम्—देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् आहारकशरीरम् आहारकाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वर्णचतुष्कम् अगुरुलघु उपघातं पराघातम् उच्छ्वासं प्रशस्तविहायोगतिः त्रसं बादरं पर्याप्तकं प्रत्येकं स्थिरं शुभं सुभगं सुस्वरम् आदेयं यशःकीर्तिनाम निर्माणनामेति । इदं च देवगतिप्रायोग्यं बध्नतोऽप्रमत्तसंयतस्यापूर्वकरणस्य वा वेदितव्यम् । अथवा कश्चिद् बद्धतीर्थकरनामकर्मा दिवि समुत्पन्नः पुनरपि मनुष्येषु समुत्पत्स्यत इति मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां त्रिंशतं देवो बध्नाति । तद्यथा—मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकशरीरम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानं वज्रऋषभनाराचसंहननं पराघातम् उच्छ्वासं प्रशस्तविहायोगतिः त्रसं बादरं पर्याप्तं प्रत्येकं स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं सुभगं सुस्वरम् आदेयं तीर्थकरनाम वर्णचतुष्कं तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघातनामेति । एकत्रिंशत् पुनरियम्—देवगति-देवानुपूर्व्यौ पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् आहारकशरीरम् आहारकाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे च समचतुरस्रसंस्थानं वर्णचतुष्कम् अगुरुलघु उपघातं पराघातम् उच्छ्वासं प्रशस्तविहायोगतिः त्रसं बादरं पर्याप्तं प्रत्येकं स्थिरं शुभं सुभगं सुस्वरम् आदेयं यशःकीर्तिनाम निर्माणं तीर्थकरनामेति । तां चाऽप्रमत्तयतिः कियन्तमपि च भागं यावद् अपूर्वकरणश्च देवगतिप्रायोग्यामेव बध्नाति । एकविधबन्धं तु यशःकीर्तिस्वरूपम् अपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्परायाः स्वरूपेणैव बध्नन्ति, न तु कस्यचित् प्रायोग्यं, देवगतिप्रायोग्यस्यापि बन्धस्यापूर्वकरणमध्ये व्यवच्छिन्नत्वात् ।

तदेवं स्वरूपतोऽष्टावप्युक्तानि नामकर्मणो बन्धस्थानानि । साम्प्रतमेतेषु प्रकृता भूयस्कारादिबन्धा भाव्यन्ते—"छस्सगअट्ठतिबंध" त्ति बन्धशब्दो भूयस्कारादिषु योजनीयः, ततो भूयस्कारबन्धाः षट्, अल्पतरबन्धाः सप्त, अवस्थितबन्धा अष्टौ, अवक्तव्यबन्धास्त्रय इति । तत्र भूयस्कारबन्धाः षडेवम्—कस्यचिद् अपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यां त्रयोविंशतिं बद्ध्वा तत्प्रायोग्यविशुद्धिवशात् पञ्चविंशतिविधबन्धं गतस्याद्यसमये प्रथमो भूयस्कारबन्धः । ततोऽपि पञ्चविंशतिबन्धात् तत्प्रायोग्यविशुद्धिवशतः षड्विंशतिबन्धं गतस्य प्रथमसमये द्वितीयो भूयस्कारबन्धः । षड्विंशतिविधबन्धाद् अष्टाविंशतिबन्धं गतस्य प्रथमसमये तृतीयो भूयस्कार-

बन्धः। अष्टाविंशतिबन्धाद् एकोनत्रिंशद्बन्धं गतस्य प्रथमसमये चतुर्थो भूयस्कारबन्धः। एकोनत्रिंशतं बद्ध्वा त्रिंशतं बध्नत आद्यसमये पञ्चमो भूयस्कारबन्धः। आहारकद्विकसहितां त्रिंशतं बद्ध्वा एकत्रिंशद्बन्धं गतस्याद्यसमये षष्ठो भूयस्कारबन्धः, अथवा यशःकीर्तिलक्षणमेकविधं बद्ध्वा श्रेणेर्निपततः पुनरपूर्वकरणे एकत्रिंशदादि बध्नत आद्यसमये षष्ठ एव भूयस्कारबन्धः, न सप्तमः, एकत्रिंशल्लक्षणस्थानकस्योभयथाऽप्येकत्वादिति। अल्पतरबन्धाः सप्त पुनरेवम्—अपूर्वकरणे देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिमेकोनत्रिंशतं वा त्रिंशतं वा एकत्रिंशतं वा बद्ध्वा तद्बन्धव्यवच्छेदे एकविधबन्धं गतस्याद्यसमये प्रथमोऽल्पतरबन्धः। एकत्रिंशद्बन्धाच्च त्रिंशद्बन्धं गतस्याद्यसमये द्वितीयोऽल्पतरबन्धः। एतच्च कथं सम्भवति ? इत्युच्यते-इह कश्चिदाहारकद्विक-तीर्थकरनामसहितां पूर्वाभिहितामेकत्रिंशतं बद्ध्वा दिवि समुत्पन्नः, तस्य प्रथमसमय एव मनुष्यगतिप्रायोग्यां पूर्वोक्तामेव त्रिंशतं बध्नत एकत्रिंशतस्त्रिंशति गमनं सम्भवति। ततस्तस्यैव दिवश्च्युत्वा मनुष्येषु समुत्पन्नस्य पुनरपि देवप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां पूर्वाभिहितामेवैकोनत्रिंशतं बध्नतः प्रथमसमये तृतीयोऽल्पतरबन्धः। यदा तु तिर्यग्-मनुष्याणामन्यतरस्तिर्यक्प्रायोग्यां पूर्वोक्तामेकोनत्रिंशतं बद्ध्वा तथाविधशुद्धिवशाद् देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति तदा प्रथमसमये चतुर्थोऽल्पतरबन्धः। अष्टाविंशतेश्च तथाविधसंक्लेशवशादेकेन्द्रियप्रायोग्यषड्विंशतिबन्धं गतस्याद्यसमये पञ्चमोऽल्पतरबन्धः। षड्विंशतिबन्धात् पञ्चविंशतिबन्धं गतस्याद्यसमये षष्ठोऽल्पतरबन्धः। पञ्चविंशतिबन्धादपि त्रयोविंशतिबन्धं गतस्याद्यसमये सप्तमोऽल्पतरबन्धः। एतेष्वष्टस्वपि बन्धस्थानेषु द्वितीयादिसमयेषु सर्वत्रावस्थितबन्धो लभ्यत इत्यवस्थितबन्धा अष्टौ। अथावक्तव्यकबन्धास्त्रयः पुनरेवम्—उपशान्तमोहावस्थायां नामकर्मणः सर्वथा अबन्धको भूत्वा इहैवोपशान्ताद्धाक्षयेण प्रतिपत्य यदा पुनरप्येकविधं बध्नाति तदाद्यसमये प्रथमोऽवक्तव्यबन्धः। अथवोपशान्तमोहावस्थायामेवायुःक्षयेणानुत्तरसुरेषु समुत्पद्यते उपात्ततीर्थकरनामा च भवति तदा तस्य प्रथमसमय एव मनुष्यगतिप्रायोग्यां पूर्वोक्तरूपां तीर्थकरसहितां त्रिंशतं बध्नतो द्वितीयोऽवक्तव्यबन्ध। अथवाऽनुपात्ततीर्थकरनामा यदा भवति तदा तस्य तीर्थकरनामरहितां तत्रैव मनुष्यगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः प्रथमसमये तृतीयोऽवक्तव्यबन्धः। तदेवं भाविता नामकर्मणि षड् भूयस्कारबन्धाः सप्ताल्पतरबन्धा अष्टाववस्थितबन्धाः त्रयोऽवक्तव्यबन्धाः। उक्तं च—

[1]छ ब्भूयगारबंधा, सत्तेव हवंति अप्पतरबंधा।
तिण्णऽव्वत्तगबंधा, अवट्ठिया अट्ठ नामम्मि॥ (श० बृ० भा० गा० २९५)

---

१ षड् भूयस्कारबन्धाः सप्तैव भवन्त्यल्पतरबन्धाः। त्रयोऽवक्तव्यबन्धा अवस्थिता अष्टौ नाम्नि॥

उक्ता नामकर्माश्रित्य भूयस्कारादिबन्धाः । साम्प्रतं शेषकर्माण्याश्रित्य तानाह—"सेसेसु ठाणमिक्किक्कं" ति 'शेषेषु' भणितोद्धरितेषु-ज्ञानावरण वेदनीया ऽऽयुः-गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणेषु पञ्चसु कर्मसु 'स्थानं' बन्धस्थानमेकैकमेव भवति । तत्राद्यकर्मणि मतिज्ञानावरणाद्युत्तरप्रकृतिपञ्चकस्य समुदितमेकैकं बन्धस्थानं मिथ्यादृष्टेरारभ्य सूक्ष्मसम्परायं यावद् भवति, एवमन्तरायपञ्चकस्यापि वाच्यम् । वेदनीयस्याप्येकमेव बन्धस्थानं सातमसातं वा । आयुश्चतुर्णामायुषामन्यतरैकायुष्कलक्षणमेकमेव बन्धस्थानम् । गोत्रस्य तु नीचैर्गोत्रमुच्चैर्गोत्रं वा एकं बन्धस्थानम् । अत्र च सूचकत्वात् सूत्रस्यैतत् स्वयमेव द्रष्टव्यम्, यथा--अत्र कर्मपञ्चकेऽपि भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धौ न सम्भवतः, तल्लक्षणायोगात् । अवक्तव्यबन्धावस्थितबन्धौ तु वेदनीयवर्जकर्मचतुष्टये सम्भवतः । तथाहि--ज्ञानावरणा-ऽन्तराय-गोत्राणामुपशान्तमोहावस्थायां सर्वथाऽबन्धको भूत्वा प्रतिपत्य यदा पुनस्तान्येव बध्नाति तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धः । आयुषस्तु यदा त्रिभागादिसमयादौ बन्धकस्तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धः, द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः । वेदनीयद्विकस्य त्ववस्थितबन्धोऽस्ति, प्रभूतकालमवस्थितत्वेन बध्यमानत्वात्, अवक्तव्यबन्धस्तु न सम्भवति, स हि सर्वथाऽबन्धको भूत्वा यदा प्रतिपत्य पुनस्तदेव बध्नाति तदा सम्भवति, न चैतद् वेदनीयेऽस्ति, तस्य सर्वथाऽबन्धकत्वमयोगिकेवलिचरमसमय एव, न चायोगिकेवलिनो भगवतो भूयो बन्धोऽस्तीति । उक्तं च--

[2]नाणावरणे तह आउयम्मि गोयम्मि अंतराए य ।
ठियअव्वत्तगबंधा, अवट्ठिया वेयणिज्जम्मि ॥ (श० बृ० भा० गा० ३१७) इति ॥२५॥

तदेवं भूयस्कारादिप्रकारैश्चिन्तितः प्रकृतिबन्धः । साम्प्रतं स एव स्वामित्वद्वारेण चिन्तनीयः स च गुणस्थानकान्याश्रित्य **लघुकर्मस्तवटीकायां** मार्गणास्थानकान्याश्रित्य पुनः **स्वोपज्ञबन्धस्वामित्वटीकायां** विस्तरेण निरूपितस्तत एवावधारणीय इति [प्रकृति]बन्धः समाप्तः ।

इदानीं स्थितिबन्धं व्याचिख्यासुः प्रथमं मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टेतरं तं तावदाह-

वीसऽयरकोडिकोडी, नामे गोए य सत्तरी मोहे ।
तीसियर चउसु उदही, निरयसुराउम्मि तित्तीसा ॥२६॥

अतिमहत्त्वादुदधिवत् तरीतुम्-अचिरात् पारं नेतुं न शक्यन्त इत्यतराणि-सागरोपमाणि तेषां कोटिकोटयोऽतरकोटिकोटयः । कियत्यः ? इत्याह--'विंशतिः' विंशतिसङ्ख्या भवन्ति । क ? इत्याह--"नामे" त्ति नामकर्मणि गोत्रे चोत्कृष्टा स्थितिः, उत्तरगाथायां जघन्यस्थितेर्भणिष्यमाण-

१ बहुषु पुस्तकादर्शेषु ०दूरिते० इत्यपि पाठो दृश्यते, एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् ।
२ ज्ञानावरणे तथाऽऽयुष्के गोत्रेऽन्तराये च । स्थिता-ऽवक्तव्यकबन्धौ अवस्थितो वेदनीये ॥

त्वादिहोत्कृष्टा स्थितिर्लभ्यते । ततोऽयमर्थः--नाम[1] कर्मणि गोत्रे च उत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिकोटीकोटयः सागरोपमाणाम् । सप्ततिकोटीकोटयः सागरोपमाणां 'मोहे' मोहनीये । 'इतरेषु' आयुषो भणिष्यमाणत्वेन भणितोद्धरितेषु ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायलक्षणेषु चतुर्षु कर्मसु त्रिंशत्कोटीकोटयः सागरोपमाणां प्रत्येकमुत्कृष्टा स्थितिर्भवति । आयुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् 'निरय' त्ति निरया[2]युषि सुरायुषि चोत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशत् 'उदधयः' सागरोपमाणि भवन्तीति ॥२६॥

मुत्तुं अकसायठिइं, बार मुहुत्ता जहण्ण वेयणिए ।
अट्ठऽट्ठ नामगोएसु सेसएसुं मुहुत्तंतो ॥२७॥

इह वेदनीयकर्मणो हि स्थितिर्द्विधा सम्भवति—अकषायिणः प्रतीत्य सकषायिणश्च । तत्राकषायिणो वेदनीयस्य स्थितिर्द्विसमयस्थितिका, यतस्तत्कर्म प्रथमसमये बद्धं द्वितीयसमये वेदितं तृतीयसमयेऽकर्मतामनुभवति सा चेह नाधिक्रियते, सकषायिस्थितिबन्धस्यैवेहाधिकृतत्वात् । अत उक्तम्—'मुक्त्वा' त्यक्त्वा अकषायिणाम् उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलिनां जघन्यां वेदनीयस्थितिम् । तर्हि सकषायिणां जघन्या किंप्रमाणा ? इत्याह—'द्वादश मुहूर्ताः' चतुर्विंशतिघटिकाः 'जघन्या' लघीयसी 'वेदनीये' तृतीये कर्मणि स्थितिर्भवतीति । "अट्ठऽट्ठ नामगोएसु' त्ति मुहूर्तशब्दस्यात्रापि सम्बन्धात् प्रत्येकमष्टावष्टौ मुहूर्ता नाम-गोत्रयोर्जघन्या स्थितिर्भवति । 'शेषेषु' भणितोद्धरितेषु ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीया-ऽऽयुः-अन्तरायलक्षणेषु पञ्चसु कर्मसु "मुहुत्तंतो" त्ति मीयत इति मुहूर्तः मुहुरियर्तीति वा मुहूर्तः, पृषोदरादित्वादिष्टरूपसिद्धिः, घटिकाद्वयप्रमाणः कालः, मुहूर्तस्यान्तर्-मध्यं मुहूर्तान्तः, अन्तर्मुहूर्तप्रमाणा जघन्या स्थितिर्भवति । इह च "सेसएसुं" इत्यत्र ककारः स्वार्थिक इति । तथेहाबाधाकालः कर्मणोऽनुदयलक्षणो य उत्तराः प्रकृतीरुद्दिश्य "एवइयाबाह वाससया" (गा० ३२) इति गाथावयवेन वक्ष्यते स एव तदनुसारतो मूलप्रकृतिष्वपि द्रष्टव्यः । तत्र ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायाणां त्रीणि वर्षसहस्राणि अबाधा द्रष्टव्या, बद्धमपीत्थमेतत् कर्म वर्षसहस्रत्रयं यावद् विपाकोदयलक्षणां बाधां न करोतीत्यर्थः । तया च वर्षसहस्रत्रयलक्षणयाऽबाधया ऊना-हीना कर्मस्थितिः कर्मनिषेको द्रष्टव्यः । निषेको नाम—प्रथमसमये बहु द्वितीयसमये हीनं तृतीयसमये हीनतरं ततो हीनतमं कर्मदलिकं रच्यते [3]यत्र स एवम्भूतः कर्मदलिकरचनाविशेष उच्यते । अबाधां विहाय तत ऊर्ध्वं वेदनार्थं

---

१ अस्मत्पार्श्ववर्तिषु समस्तेषु पुस्तकादर्शेषु "०कर्मणि उत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिकोटिकोटयः सागरोपमाणाम्, तथा गोत्रेऽपि उत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिकोटीकोटयः सागरोपमाणाम्" इत्येवंरूपः पाठः ॥ २ अस्मत्पार्श्ववर्तिनीषु समस्ताषि प्रतिषु "०युषि उत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशद् 'उदधयः' सागरोपमाणि सुरायुषि चोत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशद् 'उदधयः' सागरोपमाणि भवन्तीति" इत्येवंरूपः पाठः ॥ ३ सं० १-२ छा० त० म० ०त्र एव०॥

कर्मनिषेको भवतीति भावना । स्थापना- 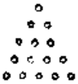 । मोहनीयस्य सप्त वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधोना च कर्मस्थितिः कर्मनिषेको निगदितलक्षणो द्रष्टव्यः । नाम-गोत्रयोर्द्वे द्वे वर्षसहस्रे अबाधा, अबाधोना च कर्मस्थितिः कर्मनिषेकः । आयुष्कस्य तु नरकायुः- सुरायुर्लक्षणस्योत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशदतराणि पूर्वकोटीत्रिभागोऽबाधा, अबाधोना च कर्मस्थितिः कर्मनिषेकः अत्र च सूत्रेऽबाधां प्रपात्य "निरयसुराउम्मि तित्तीसा" (गा० २६) इति निषेककाल एवोक्तः । अत एव श्रीशिवशर्मसूरिपादैः शतके—

[1]तित्तीसुदही आउम्मि केवला होइ एवमुक्कोसा । (गा० ५३)

इत्यत्र केवलाऽबाधारहितेत्युक्तम् । तथा मूलप्रकृतिस्थितिबन्धप्रस्तावेऽपि "निरयसुराउम्मि तित्तीसा" (गा० २६) इति यदुत्तरप्रकृतिस्थितिप्रतिपादनं तद् ग्रन्थलाघवार्थमिति परिभावनीयम् । जघन्या त्वबाधा सर्वासामप्यन्तर्मुहूर्तात्मिकेति ॥२७॥

प्ररूपिता मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टेतरभेदा स्थितिः । साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टां स्थितिं प्रतिपादयन्नाह—

विग्घावरणअसाए, तीसं अट्ठार सुहुमविगलतिगे ।
पढमागिइसंघयणे , दस दसुवरिमेसु दुगवुड्ढी ॥२८॥

"नपु कुखगइ सासचऊ" (गा० ३२) इति गाथोक्तकोटाकोटीशब्दस्य सर्वत्र सम्बन्धाद् एवं प्रयोजनीयम्—विघ्नानि च-दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायाख्यानि पञ्च, आवरणानि च—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवकलक्षणानि चतुर्दश, असातं च—असातवेदनीयं समाहारद्वन्द्वे विघ्नावरणासाते । विघ्नेषु पञ्चसु ज्ञानावरणेषु पञ्चसु दर्शनावरणेषु नवसु असातवेदनीये च त्रिंशत्कोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः सागरोपमाणामिति सर्वत्र योज्यम् । अष्टादश कोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिर्भवति, क्व ? इत्याह—त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् 'सूक्ष्मत्रिके' सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-साधारणरूपे 'विकलत्रिके' द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियलक्षणे तथा प्रथमशब्दस्य प्रत्येकं योगात् 'प्रथमाकृतौ' प्रथमसंस्थाने समचतुरस्रनामनि 'प्रथमसंहनने' वज्रऋषभनाराचाभिधे दश दश कोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिर्भवति । "उवरिमेसु दुगवुड्ढि" त्ति 'उपरितनेषु' न्यग्रोधपरिमण्डलादिसंस्थानेषु ऋषभनाराचादिसंहननेषु च 'द्विकवृद्धिः' सागरोपमकोटाकोटीदशकोपरि द्विकवृद्धिर्द्रष्टव्या । तद्यथा—न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान-ऋषभनाराचसंहननयोर्द्वादश सागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः, सादिसंस्थान-नाराचसंहननयोश्चतुर्दश सागरोपमकोटी-

---

१ त्रयस्त्रिंशदुदधय आयुषि केवला भवत्येवमुत्कृष्टा ॥

कोटय उत्कृष्टा स्थितिः, कुब्जसंस्थाना-ऽर्धनाराचसंहननयोः षोडश सागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः, वामनसंस्थान-कीलिकासंहननयोरष्टादश सागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः, हुण्डसंस्थान-सेवार्तसंहननयोर्विंशतिः सागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिरिति ॥२८॥

चालीस कसाएसु, मिउलहुनिद्धुण्हसुरहिसियमहुरे ।
दस दोसड्ढसमहिया, ते हालिद्दंबिलाईणं ॥२९॥

चत्वारिंशत् सागरोपमकोटीकोटयः 'कषायेषु' अनन्तानुबन्धिचतुष्का-ऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्क-प्रत्याख्यानावरणचतुष्क-संज्वलनचतुष्कलक्षणेषु षोडशसु उत्कृष्टा स्थितिः । मृदु-लघु-स्निग्ध-उष्णानां चतुर्णां शुभानां स्पर्शानां सुरभिगन्धस्य "सिय" त्ति सितवर्णस्य मधुररसस्य च "दस" त्ति दश सागरोपमकोटाकोटय उत्कृष्टा स्थितिः । तथा त एव दश द्विसार्धसमधिकाः सन्तो हारिद्रा-ऽम्लादीनां पश्चानुपूर्व्या उत्कृष्टा स्थितिर्वेदितव्या । इयमत्र भावना—हारिद्रवर्णस्याऽम्लरसस्य चार्धत्रयोदश सागरोपमकोटाकोटय उत्कृष्टा स्थितिः । लोहितवर्ण कषायरसयोः पञ्चदश सागरोपमकोटाकोटय उत्कृष्टा स्थितिः । नीलवर्ण-कटुकरसयोः सार्धसप्तदश सागरोपमकोटाकोटय उत्कृष्टा स्थितिः । कृष्णवर्ण-तिक्तरसयोर्विंशतिः सागरोपमकोटाकोटय उत्कृष्टा स्थितिः । यद्यपि वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शचतुष्कमेवाविवक्षितभेदं बन्धेऽधिक्रियते, भेदरहितस्यैव च तस्य कर्मप्रकृत्यादिषु विंशतिसागरोपमकोटाकोटीरूपा स्थितिर्निरूपिता, तथापि वर्णादिचतुष्कभेदानां विंशतेरपि पृथक् पृथक् स्थितिः **पञ्चसङ्ग्रहे** अभिहिता अतोऽस्माभिरपि तथैवाभिहिता, बन्धं तु प्रतीत्य वर्णादिचतुष्कमेवाविशेषितं गणनीयमिति ॥२९॥

दस सुहविहगइउच्चे, सुरदुग थिरछक्क पुरिसरइहासे ।
मिच्छे सत्तरि मणुदुग, इत्थी साएसु पन्नरस ॥३०॥

दश सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिर्भवति । क ? इत्याह—'शुभविहायोगतौ' प्रशस्तविहायोगतौ उच्चैर्गोत्रे 'सुरद्विके' सुरगति-सुरानुपूर्वीलक्षणे 'स्थिरषट्के' स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्तिसंज्ञिते 'पुरुषे' पुरुषवेदे रतौ हास्ये । तथा मिथ्यात्वे सप्ततिः सागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः । तथा 'मनुजद्विके' मनुजगति-मनुजानुपूर्वीस्वरूपे स्त्रीवेदे 'साते' सातवेदनीये पञ्चदश सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः ॥३०॥

भय कुच्छ अरइसोए, विउव्वितिरिउरलनरयदुग नीए ।
तेयपण अथिरछक्के, तसचउ थावर इग पणिंदी ॥३१॥
नपु कुखगइ सासचऊ, गुरुकक्खडरुक्खसीय दुग्गंधे ।
वीस कोडाकोडी, एवइयाबाह वाससया ॥३२॥

भये 'कुत्सायां' जुगुप्सायाम् अरति-शोके, द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् वैक्रियद्विके-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गरूपे, तिर्यग्द्विके--तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीलक्षणे, औदारिकद्विके-औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्गाख्ये, नरकद्विके-नरकगति-नरकानुपूर्वीस्वरूपे, नीचैर्गोत्रे 'तैजसपञ्चके' तैजस--कार्मणा--ऽगुरुलघु--निर्माण-उपघाताभिधे, अस्थिरषट्के–अस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिलक्षणे, त्रसचतुष्के--त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येकरूपे, स्थावरे "इग" त्ति एकेन्द्रियजातौ पञ्चेन्द्रियजातौ "नपु" त्ति नपुंसकवेदे 'कुखगतौ' अप्रशस्तविहायोगतौ, "सासचउ" त्ति 'उच्छ्वासचतुष्के' उच्छ्वास-उद्योता-ऽऽतप-पराघातलक्षणे, गुरु-कर्कश-रूक्ष-शीतेषु अशुभस्पर्शेषु 'दुर्गन्धे' दुरभिगन्धे चेत्येतासु द्विचत्वारिंशत्सङ्ख्यासु प्रकृतिषु विंशतिसागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिर्भवति। तथाऽऽहारकवर्जितानामौदारिकादिशरीराणां ये बन्धन-सङ्घातास्तेषामपि स्थितिः स्वशरीरस्थितितुल्यैव विज्ञेया, तेन बन्धनादीनामपि विंशतिः सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिरिति हृदयम् । तथा चोक्तं **पञ्चसङ्ग्रहटीकायाम्—**

"स्थिति-उदय-बन्धकालाः सङ्घातन-बन्धनानां स्वशरीरतुल्या ज्ञेयाः ।"

तदत्र स्थितितुल्यतया प्रयोजनमिति । सम्प्रत्युक्तोत्तरप्रकृतीनामेवोत्कृष्टाऽबाधामाह--"एवइया-बाह वाससय" त्ति लिङ्गव्यत्ययाद् एतावन्ति वर्षशतानि 'अबाधा' कर्मणः प्रदेश-विपाकाभ्यामनुदयकाल इत्यक्षरघटना । भावार्थस्त्वयम्--यासां प्रकृतीनां यावत्यः कोटीकोटयः स्थितिरुक्ता तासां तावन्ति वर्षशतान्यबाधेति, तावन्मात्रेषु समयेषु न वेद्यदलिकनिक्षेपं करोतीति यावत् । तद्यथा--पञ्चानां विघ्नप्रकृतीनां पञ्चानां ज्ञानावरणप्रकृतीनां नवानां दर्शनावरणप्रकृतीनामसातवेदनीयस्य त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिरुक्ता, तस्या अबाधाकालोऽप्युत्कृष्टस्त्रिंशद्वर्षशतानि वेदितव्यः। यथा--दानान्तरायमुत्कृष्टस्थितिकं बद्धं सत् त्रिंशद्वर्षशतानि यावन्न काञ्चिदपि स्वोदयतो जीवस्य बाधामुत्पादयति, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । एवं सर्वप्रकृतिष्वपि वाच्यम् । यथा--सूक्ष्मत्रिके विकलत्रिके चाऽष्टादश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। समचतुरस्रसंस्थान-वज्रऋषभनाराचसंहननयोर्दश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान-ऋषभनाराचसंहननयोर्द्वादश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । सादिसंस्थान-नाराचसंहननयोश्चतुर्दश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । कुब्जसंस्थाना-ऽर्धनाराचसंहननयोः षोडश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । वामनसंस्थान-कीलिकासंहननयोरष्टादश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । हुण्डसंस्थान-सेवार्तसंहननयोर्विंशतिवर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । षोडशसु कषायेषु चत्वारि वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः ।

मृदु-लघु-स्निग्ध-उष्ण-सुरभिगन्ध-श्वेतवर्ण-मधुररसलक्षणानां सप्तानां प्रकृतीनां वर्षसहस्रमेकमबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । हारिद्रवर्णा-ऽम्लरसयोः सार्धद्वादश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । लोहितवर्ण-कषायरसयोः पञ्चदश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । नीलवर्ण-कटुकरसयोः सार्धसप्तदश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । कृष्णवर्ण-तिक्तरसयोर्वर्षसहस्रद्वयमबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । तथा प्रशस्तविहायोगति-उच्चैर्गोत्र-सुरगति-सुरानुपूर्वी-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्ति-पुरुषवेद-हास्य-रतिलक्षणानां त्रयोदशप्रकृतीनामेकं वर्षसहस्रमबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । मिथ्यात्वस्य सप्त वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वी-स्त्रीवेद-सातवेदनीयलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनां पञ्चदश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । तथा भय-जुगुप्सा-ऽरति-शोक-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-नरकगति-नरकानुपूर्वी-नीचैर्गोत्र-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघाता-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्ति-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थावर-एकेन्द्रियजाति-पञ्चेन्द्रियजाति-नपुंसकवेदा-ऽप्रशस्तविहायोगति-उच्छ्वास-उद्योता-ऽऽतप-पराघात-गुरु-कर्कश-रूक्ष-शीत-दुरभिगन्धलक्षणानां द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनां द्वे वर्षसहस्रे अबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेक इति ॥३२॥

गुरु कोडिकोडिअंतो, तित्थाहाराण भिन्नमुहु बाहा ।
लहुठिइ संखगुणूणा, नरतिरियाणाउ पल्लतिगं ॥३३॥

स्थितिशब्दस्योत्तरपदस्थस्येहापि सम्बन्धाद् 'गुरुः' गरीयसी—उत्कृष्टा स्थितिः सागरोपमाणां कोटीकोट्या अन्तर्-मध्ये "तित्थाहाराण" त्ति तीर्थकरनामा-ऽऽहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां भवतीति शेषः । किमुक्तं भवति ?—तीर्थकरनाम्न आहारकद्विकस्य च सागरोपमाणामन्तःकोटीकोटीप्रमाण एवोत्कृष्टः स्थितिबन्धकालो भवति नोपरिष्टादिति । "भिन्नमुहु बाह" त्ति प्राकृतत्वादकारलोपे भिन्नमुहूर्तम्—अन्तर्मुहूर्तमात्रमेव कालम् 'अबाधा' अनुदयावस्था उत्कृष्टा, जघन्याऽप्यन्तर्मुहूर्तमात्रैव, ततः परं दलिकरचनायाः सद्भावेनावश्यं प्रदेशोदयस्य सम्भवादिति । केचित् "तीर्थकरनामकर्म अन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं कस्यचित् प्रदेशत उदेति, तदुदये चाज्ञैश्वर्यादय ऋद्धिविशेषा अन्यजीवेभ्यो विशिष्टतरास्तस्य सम्भवन्तीति सम्भावयामः" इति व्याचक्षते । उत्कृष्टा तीर्थकरा-ऽऽहारकयोः स्थितिरुक्ता । अथैतयोरेव जघन्यां स्थितिमाह—"लहुठिइ संखगुणूण" त्ति लघुस्थितिस्तीर्थकरा-ऽऽहारकयोः सङ्ख्येन-सङ्ख्यातकाललक्षणेन गुणेन-गुणकारेण ऊना—हीना सङ्ख्यगुणोना, उत्कृष्टस्थितिबन्धकाल एव सागरोपमान्तःकोटीकोटीरूपः

सङ्ख्येयगुणहीनो जघन्यस्थितिबन्धः, सागरोपमान्तःकोटीकोटीप्रमाण इति तात्पर्यम् । तथेहाप्या-हारकस्य ये बन्धनसङ्घातास्तेषामपि स्वशरीरस्थितिप्रमाणैव स्थितिर्विज्ञेयेति । ननु तीर्थकर नामकर्म तीर्थकरभवादर्वाक् तृतीयभव एव बध्यते । यदागमः—

[1]बज्झइ तं तु भगवओ, तइयभवोसक्कइत्ताणं । (आव० नि० गा० १८३)।

तत् कथं जघन्यतोऽप्यन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा तस्य स्थितिरुपपद्यते ? तदयुक्तम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, "बज्झइ तं तु" इत्यादिकं निकाचनापेक्षयोक्तम्, इतरथा तु तृतीयभवाद-र्वाक्तरामपि बध्यते ।

यदाहुः संशयशतशाखिशातनानिशिताकुण्टकुठारकल्पाः श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमण-पादाः विशेषणवत्याम्--

[2]कोडाकोडी अयरोवमाण तित्थयरनामकम्मठिई ।
बज्झइ य तं अणंतर भवम्मि तइयम्मि निद्दिट्ठं ॥ (गा० ७८)

ततः कथमेतत् परस्परं युज्यते ? अत्रोत्तरम्--

[3]जं बज्झइ त्ति भणियं, निकाइयं तं तु तत्थ नियमोऽयं ।
तदबंझफलं नियमा, भयणा अनिकाइयावत्थे ॥ (गा० ८०)

आह यदि तीर्थकरनाम्नो जघन्याऽपि स्थितिरन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा तर्हि तावत्याः स्थितेस्तिर्यग्भवभ्रमणमन्तरेण पूरयितुमशक्यत्वात् तिर्यग्गतावपि तीर्थकरनामसत्कर्मा जन्तुः कियन्तं कालं यावद् भवेत् ? तथा च सति आगमविरोधः, आगमे तिर्यग्गतौ तीर्थकरनामसत्कर्मा सन् प्रतिषिध्यते । अत्रोच्यते--निकाचितस्यैव तीर्थकरनामकर्मणस्तिर्यग्गतौ सतः प्रतिषेधात् ।

उक्तं च--

जमिह निकाइयतित्थं, तिरियभवे तं निसेहियं संतं ।
इयरम्मि नत्थि दोसो, उवट्टणोवट्टणासज्झे ॥ (पञ्चसं० गा० २५१)

अस्या अक्षरगमनिका--'इह' अस्मिन् प्रवचने यत् तीर्थकरनामकर्म 'निकाचितम्' अवश्यंवेद्यतया व्यवस्थापितं तदेव स्वरूपेण 'सत्' विद्यमानं तिर्यग्गतौ निषिद्धम् । 'इतरस्मिन् पुनः' अनिकाचिते उद्वर्तना-ऽपवर्तनासाध्ये तिर्यग्गतावपि विद्यमाने न कश्चिद्दोषः, यतस्तत् प्रभूतस्थितिकमप्यपवर्तनाकरणेन लघुस्थितिकं क्रियते, [4]उद्वर्तनया वा तद् अन्यप्रकृतित्वेना-वस्थाप्यत इति ॥

१ बध्यते तत्तु भगवतस्तृतीयभवेऽवष्वष्कयित्वा ॥ २ कोटाकोटी अतरोपमाणां तीर्थकरनामकर्म-स्थितिः । बध्यते च तदनन्तरे भवे तृतीये निर्दिष्टम् ॥ ३ यद् बध्यत इति भणितं निकाचितं तत्तु तत्र नियमोऽयम् । तदवन्ध्यफलं नियमाद् भजनाऽनिकाचितावस्थे ॥ ४ सं० १-२ छा० त० म० उद्वलनया ॥

"नरतिरियाणाउ पल्लतिगं" ति नर-तिरश्चामायुषोः 'पल्यत्रिकं' पल्योपमत्रिकमुत्कृष्टा स्थितिरिति। यद्यपि मूलप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिभणनप्रस्तावे देव-नारकायुषोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणैव स्थितिरुक्ता, नरतिर्यगायुषोस्तु पल्योपमत्रयप्रमाणैव, तथापि पूर्वकोटित्रिभागाधिकैवासौ सर्वा बध्यते इत्यवसेयम्। नन्वेवं तर्हि सूत्रे पूर्वकोटित्रिभागाधिकत्वं कस्मान्नोक्तम्? सत्यम्, असौ पूर्वकोटित्रिभागोऽबाधारूपतयैवापयाति न पुनरुदयमायाति, अतो यावती स्थितिरायुषो वेद्यते तावत्प्रमाणैवाबाधारहिता सूत्रे उपात्तेत्यदोष इति ॥३३॥

इगविगल पुव्वकोडिं, पलियासंखंस आउचउ अमणा।
निरुवकमाण छमासा, अबाह सेसाण भवतंसो ॥३४॥

एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाश्च पूर्वाणि--आगमप्रतीतानि, तद्यथा--

[1]पुव्वस्स उ परिमाणं, सयरिं खलु हुंति कोडिलक्खाओ।
छप्पन्नं च सहस्सा, बोधव्वा वासकोडीणं॥ (जिनभ० सङ्ग्र० गा० ३०२)

तेषां पूर्वाणां कोटी पूर्वकोटी तां पूर्वकोटीं यावदायुष उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति, न पूर्वकोटयभ्यधिकामपीति। आयुःशब्दश्च "आउचउ अमणा" इति पदाद् योजनीयः। इदमत्र हृदयम्--एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाश्चोत्कृष्टतोऽपि पूर्वकोटयायुष्केष्वेव नर-तिर्यक्षु समुत्पद्यन्ते, न नारकदेवा-ऽसङ्ख्येयवर्षायुष्कतिर्यङ्-मनुष्येषु, अत एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियाणामुत्कृष्टायुर्बन्धः पूर्वकोटी स्वस्वभवत्रिभागाभ्यधिका वेदितव्या। एषां स्वस्वभवत्रिभागोऽबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। यदुक्तं **कर्मप्रकृतौ**--

सेसाण पुव्वकोडी, साउतिभागो अबाहा सिं॥ (गा० ७४)

अत्र टीका-'शेषाणां च' एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाणां पर्याप्ता-ऽपर्याप्तानाम् असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां चापर्याप्तानामायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धकानां परभवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धः पूर्वकोटी स्वस्वभवत्रिभागाभ्य[2]धिका वेदितव्या। आयुष[3]उत्कृष्टस्वभवत्रिभागोऽबाधाकालः, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेक इति।

"पलियासंखंस आउचउ अमण" त्ति *'अमनसः' मनोयोगरहिताः, असंज्ञिनः पर्याप्ता* इत्यर्थः, 'पल्योपमासङ्ख्यांशं' पल्योपमासङ्ख्येयभागं आयुषां चतुष्कं बध्नन्ति, विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात्। किमुक्तं भवति?--असंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु आयुरुत्कृष्टस्थितिबन्धकेषु चतुर्णा-

१ पूर्वस्य तु प्रमाणं सप्ततिः खलु भवन्ति कोटिलक्षाणि। षट्पञ्चाशच्च सहस्राणि बोद्धव्यानि वर्षकोटीनाम्॥ २ सं० १ ०ऽभ्यधिको वेदितव्यः॥ ३ म० छा० ०षश्च उत्कृ०॥

मप्यायुषां परभवसम्बन्धिनामुत्कृष्टा स्थितिः पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रा पूर्वकोटित्रिभागाधिका भवति, पूर्वकोटित्रिभागश्चाबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः ।

यदवादि **कर्मप्रकृतौ** श्रीमदाराध्यपादैः—

[1]आउचउक्कुक्कोसं, पल्लासंखिज्जभाग अमणेसु । (गा० ७४) इति ।

आयुषामुत्कृष्टां स्थितिमभिधाय तेषामेवोत्कृष्टामबाधामाह—"निरुवकमाण छमासा अबाह" त्ति 'निरुपक्रमाणां' "सत्यभामा" इति न्यायात् निरुपक्रमायुषां देव-नारकाणामसङ्ख्येयवर्षायुषां नर-तिरश्चां च भवान्तरप्रायोग्यायुर्बन्धकारिणां 'षण्मासाः' षण्मासप्रमाणा 'अबाधा' व्यावर्णितस्वभावा भवतीति शेषः, यतस्ते षण्मासावशेषायुष एवोत्तरभवप्रायोग्यमायुर्बध्नन्ति ।

यदाह **भाष्यपीयूषपयोधिः**—

[2]देवा नेरइया वा, असंखवासाउया य तिरिमणुया ।

छम्मासऽवसेसाऊ, परभवियं आउ बंधंति ॥ (जिनभ० सङ्ग्र० गा० ३०७)

इति यथोक्त एवाबाधाकालः । केचित्तु मन्यन्ते—युगलधार्मिकाः पल्योपमासङ्ख्येयभागे निजायुषोऽवशिष्यमाणे परभवायुष्कं बध्नन्ति, तन्मतेनाबाधाऽपि युगलधार्मिकान् उद्दिश्य पल्योपमासङ्ख्येयभागप्रमाणैवेति मन्तव्यम् । यदुक्तम्—

[3]पलियासंखिज्जंसं, जुगधम्मीणं वयंतऽन्ने । (पञ्चसं० गा० २४८) इति ।

"सेसाण भवतंसो" त्ति 'शेषाणां' सङ्ख्येयवर्षायुषां सोपक्रम-निरुपक्रमायुषां नर-तिरश्चां भवस्य-स्वकीयजन्मनस्त्र्यंशः—त्रिभागो भवत्र्यंशोऽबाधेत्यत्रापि सम्बन्धनीयम्, यतस्ते निजजन्मनः त्रिभाग एवावशिष्टे "[4]सेसा पुणो तिभाए" (जिनभ० संग्र० गा० ३०९) इति वचनाद् उत्कृष्टतः परभवप्रायोग्यमायुर्बन्धं विदधतीति ॥३४॥

प्रतिपादिता सर्वोत्तरप्रकृतीनामबाधान्विता उत्कृष्टा स्थितिः । इदानीं तासामेव जघन्यां स्थितिं निरूपयितुकाम आह—

लहुठिइबंधो संजलणलोह पणविग्घनाणदंसेसु ।

भिन्नमुहुत्तं ते अट्ठ जसुच्चे बारस य साए ॥३५॥

'लघुस्थितिबन्धः' जघन्यस्थितिबन्धो भिन्नमुहूर्तं भवति, क्व ? इत्याह—संज्वलनलोभे प्रतीते, 'पण'शब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् विघ्नपञ्चके-दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायरूपे, ज्ञानावरण-

---

१ आयुश्चतुष्कमुत्कृष्टं पल्यासंख्येयभागोऽमनस्केषु ॥ २ देवा नैरयिका वा असंख्यवर्षायुष्काश्च तिर्यङ्-मनुजाः । षण्मासावशेषायुषः पारभविकं आयुर्बध्नन्ति ॥ ३ पल्यासंख्येयांशं युग्मधर्मिणां वदन्त्यन्ये ॥ ४ शेषाः पुनस्त्रिभागे ॥

पञ्चके–मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्याय-केवलज्ञानावरणलक्षणे, "दंसेसु" त्ति दर्शनचतुष्के-चक्षुः-अचक्षुः-अवधि-केवलदर्शनावरणस्वभावे। कोऽर्थः? ज्ञानावरणपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चक-दर्शनचतुष्क-संज्वलनलोभलक्षणानां पञ्चदशप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्तमात्र एव, यतः संज्वलनलोभस्याऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानके शेषचतुर्दशप्रकृतीनां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकचरमसमये स्वबन्धव्यवच्छेदकालेऽन्तर्मुहूर्तमात्रैव स्थितिर्बध्यते। "ते अट्ठ" त्ति "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायात् 'ते' मुहूर्ता घटिकाद्वयप्रमाणाः 'अष्टौ' अष्टसङ्ख्या यशःकीर्तिनाम-उच्चैर्गोत्रयोर्जघन्यस्थितिर्भवति। "बारस य" त्ति द्वादश मुहूर्ताः, 'चः' पुनरर्थे स च भिन्नक्रमः, ततः 'साते' सातवेदनीये कर्मणीति। उक्तं च **कर्मप्रकृतौ—**

> [1]भिन्नमुहुत्तं आवरणविग्घदंसणचउक्कलोहन्ते ।
> बारस साए मुहुत्ता, अट्ठ य जसकित्तिउच्चेसु ॥ (गा० ७६) इति ॥ ३५॥

> **दो इग मासो पक्खो, संजलणतिगे पुमट्ठवरिसाणि ।**
> **सेसाणुक्कोसाओ, मिच्छत्तठिईइ जं लद्धं ॥३६॥**

द्वौ मासौ एको मासः पक्षश्च जघन्या स्थितिः, क्व? इत्याह--'संज्वलनत्रिके' क्रोध-मान-मायारूपे। एतदुक्तं भवति—संज्वलनक्रोधे द्वौ मासौ जघन्या स्थितिः, संज्वलनमाने एको मासो जघन्या स्थितिः, संज्वलनमायायां पक्षः–पञ्चदशदिना[2]त्मको जघन्या स्थितिः। "पुमट्ठवरिसाणि" त्ति पुंवेदेऽष्टौ वर्षाणि जघन्या स्थितिः। यतश्चतसृणामप्येतासां प्रकृतीनामनिवृत्तिबादरगुणस्थाने निजनिजबन्धव्यवच्छेदसमये प्रतिपादितप्रमाणैव स्थितिर्बध्यत इति। यासां द्वाविंशतेः प्रकृतीनां स्वबन्धव्यवच्छेदसमये जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्तादिका सम्भवति तासां तथैव सा प्रतिपादिता। आहारकद्विक-तीर्थकरलक्षणप्रकृतित्रयस्य तदुत्कृष्टस्थितिप्रतिपादनप्रस्ताव एव जघन्याऽप्यसावभिहिता। आयुश्चतुष्टयस्य स्वामित्वप्रस्तावे वैक्रियषट्कस्य च जघन्यस्थितिर्वक्ष्यते। शेषपञ्चाशीतेः प्रकृतीनां बादरपर्याप्तैकेन्द्रियेष्वेव प्राप्यमाणजघन्यस्थितिबन्धानां जघन्यस्थितिनिरूपणार्थं करणमाह–"सेसाणुक्कोसाओ" इत्यादि गाथार्धम्। 'शेषाणां' भणित-वक्ष्यमाणपञ्चत्रिंशत्प्रकृतिभ्योऽवशिष्टानां निद्रापञ्चकादीनां पञ्चाशीतिप्रकृतीनाम् 'उत्कृष्टात्' सर्वप्रकृतीनां निजनिजोत्कृष्टस्थितिबन्धाद् 'मिथ्यात्वस्थित्या' सप्ततिकोटीकोटीरूपया भागे हृते 'यद् लब्धं' यद् अवाप्तं सा जघन्यस्थितिः। एवं च सति निद्रापञ्चकेऽसाते च [सागरोपमस्य] त्रयः सप्तभागाः $\frac{3}{7}$। मिथ्यात्वस्य सागरोपमम्। संज्वलनवर्जद्वादशकषायाणां चत्वारः सप्तभागाः

---

१ भिन्नमुहूर्त्तमावरणविघ्नदर्शनचतुष्कलोभान्ते। द्वादश साते मुहूर्त्ता अष्टौ च यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः॥ २ सं० १–२ त० म० ०त्मका॥

$\frac{४}{७}$ । स्त्रीवेद-मनुष्यद्विकयोस्त्रयश्चतुर्दशभागाः $\frac{३}{१४}$, यतः पञ्चदशानां पञ्चमे भागे त्रयः, सप्ततेश्च पञ्चमे भागे चतुर्दश लभ्यन्ते । सूक्ष्मत्रिके विकलेन्द्रियजातित्रिके च नव पञ्चत्रिंशद्भागाः $\frac{९}{३५}$, यत एतेषामष्टादशकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिरुक्ता तस्याः सप्तत्या भागे हृते लब्धा अष्टादश सप्ततिभागाः $\frac{१८}{७०}$, अनयोश्च भाज्य-भागहारकराश्योरुभयोरप्यर्धीकरणे सम्पन्नाः $\frac{९}{३५}$ । एवमन्यत्रापि निजं निजमुत्कृष्टस्थितिकं भाज्यराशिं मिथ्यात्वस्थितिरूपं भागहारकराशिं चार्धीकृत्य जघन्या स्थितिर्वाच्या । तथा स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-हास्य-रति-शुभविहायोगति-वज्रर्षभनाराच-संहनन-समचतुरस्रसंस्थान-सुरभिगन्ध-शुक्लवर्ण-मधुररस–मृदु–लघु–स्निग्ध–उष्णस्पर्शलक्षणस्य प्रकृतिसप्तदशकस्यैकः सप्तभागः $\frac{१}{७}$ । शेषस्य च शुभा-ऽशुभवर्णादिचतुष्कस्य द्वौ सप्तभागौ $\frac{२}{७}$, केवलं वर्णादिचतुष्कं बन्धेऽविशेषितमेवाधिक्रियते इति प्रागेवोक्तम् , ततः सप्तभागद्वयमेव चतुर्णामपि सामान्येन द्रष्टव्यम् । द्वितीययोः संस्थान-संहननयोः षट् पञ्चत्रिंशद्भागाः $\frac{६}{३५}$ । तृतीययोः संस्थान-संहननयोः सप्त पञ्चत्रिंशद्भागाः $\frac{७}{३५}$ । चतुर्थयोः संस्थान-संहननयोरष्टौ पञ्चत्रिंशद्भागाः $\frac{८}{३५}$ । पञ्चमयोः संस्थान-संहननयोर्नव पञ्चत्रिंशद्भागाः $\frac{९}{३५}$ । शेषाणां त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येका-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वासा-ऽस्थिरा--ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्ति--औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजाति-पञ्चेन्द्रियजाति-निर्माणा-ऽऽतप-उद्योता-ऽप्रशस्तविहायोगति-स्थावर-हुण्डसंस्थान-सेवार्तसंहनन-तैजस-कार्मण-नीचैर्गोत्रा-ऽरति-शोक-भय-जुगुप्सा-नपुंसकवेदलक्षणानां पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ $\frac{२}{७}$ । इयं चासां जघन्या स्थितिरेकेन्द्रियानेवोद्दिश्य प्राप्यते, न शेषजीवानिति । तथा जघन्यस्थितिप्रस्तावादेकेन्द्रियाणामुत्कृष्टोऽपि स्थितिबन्धो वाच्यः, यथाऽयमेव जघन्यस्थितिबन्धः पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्राभ्यधिक उत्कृष्टो भवतीति । तथा चोक्तम्—

'जा एगिंदि जहन्ना, पलियासंखंससंजुया सा उ । तेसिं जिट्ठ त्ति (पञ्चसं० गा० २६१)। इति पञ्चसङ्ग्रहाभिप्रायेण व्याख्यातम् । अथ चेदमेव गाथार्धं कर्मप्रकृत्यभिप्रायेणान्यथा व्याख्यायते–"सेसाणं" इत्यादि । 'शेषाणाम्' अवशिष्टानां पञ्चाशीतेः प्रकृतीनामित्यर्थः । "उक्कोसाउ" त्ति "सूचनात् सूत्रम्" इति न्यायाद् 'उत्कृष्टाद्' इति सामान्योक्तावपि वर्गोत्कृष्टात् स्थितिबन्धादिति दृश्यम् । अथ कोऽयं वर्गोत्कृष्टः स्थितिबन्धः ? उच्यते–सजातीयप्रकृतीनां समुदायो वर्गः । यथा—मतिज्ञानावरणादिप्रकृतिसमुदायो ज्ञानावरणवर्गः, चक्षुर्दर्शनावरणादिप्रकृतिसमुदायो दर्शनावरणवर्गः, वेदनीयप्रकृतिसमुदायो वेदनीयवर्गः, दर्शनमोहनीयप्रकृति-

१ या एकेन्द्रियाणां जघन्या पल्यासंख्यांशसंयुता सा तु । तेषां ज्येष्ठेति ॥

समुदायो दर्शनमोहनीय[1]वर्गः, कषायमोहनीयप्रकृतिसमुदायः कषायमोहनीयवर्गः, नोकषायमोहनीयप्रकृतिसमुदायो नोकषायमोहनीयवर्गः, नामप्रकृतिसमुदायो नामवर्गः, गोत्रप्रकृतिसमुदायो गोत्रवर्गः, अन्तरायप्रकृतिसमुदायोऽन्तरायवर्ग इति । एवंविधस्य वर्गस्य सम्बन्धी उत्कृष्टो वर्गोत्कृष्टः स्थितिबन्धोऽभिधीयते, तस्मात् वर्गोत्कृष्टात् स्थितिबन्धाद् मिथ्यात्वस्थित्या सागरोपमकोटीकोटीसप्ततिरूपया भागे हृते 'यद् लब्धं' यद् अवाप्तं तत् पल्योपमासङ्ख्येयभागोनं सद् जघन्यस्थितिनया भवतीति गम्यते । अत्र च वर्गोत्कृष्टादिति व्याख्यानेनैतदवसीयते–वर्गान्तर्गतानामवमस्थितिकानामपि सातवेदनीयादीनां प्रकृतीनां जघन्यस्थित्यानयनाय निजनिजवर्गस्यैवोत्कृष्टा त्रिंशत्कोटीकोट्यादिस्थितिर्विभजनीया, न तु स्वकीया पञ्चदशकोटीकोट्यादिकेति । तथा यद्यपि पल्योपमासङ्ख्येयभागोनमिति नोक्तं तथापि "पलियासंखंसहीण लहुबंधो" (गा० ३७) इति अनन्तरगाथावचनेनैकेन्द्रियाणां लब्धसप्तभागाः पल्योपमासङ्ख्येयभागोना एव जघन्यस्थिततयाऽभिधास्यन्ते; अतोऽत्रापि जघन्यस्थितिप्रस्तावात् पल्योपमासङ्ख्येयभागोनत्वमवसीयते ।

यदवादि दुर्वादिकुम्भिकुम्भस्थलदलनकेसरिवरिष्ठैः **शिवशर्मसूरिपादैः कर्मप्रकृतौ–**

वग्गुक्कोसठिईणं, मिच्छत्तुक्कोसगेण जं लद्धं ।
सेसाणं तु जहन्ना, पल्लासंखिज्जभागूणा ॥ (गा० ७९)

अस्या अक्षरगमनिका--इह ज्ञानावरणप्रकृतिसमुदायो ज्ञानावरणीयवर्गः, एवं दर्शनावरणवर्गः, वेदनीयवर्गः, दर्शनमोहनीयवर्गः, कषायमोहनीयवर्गः, नोकषायमोहनीयवर्गः, नामवर्गः, गोत्रवर्गः, अन्तरायवर्गः । एतेषां वर्गाणां या आत्मीया आत्मीया स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिलक्षणा तस्या मिथ्यात्वस्योत्कृष्टया स्थित्या सागरोपमसप्ततिकोटीकोटीरूपया भागे हृते सति यद् लभ्यते तत् पल्योपमासङ्ख्येयभागोनं सद् उक्तशेषाणां [पञ्चाशीतेः] प्रकृतीनां जघन्यस्थितेः परिमाणमवसेयम् । तथाहि--दर्शनावरण-वेदनीयवर्गयोरुत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा, तस्या मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे हृते सति "शून्यं शून्येन पातयेद्" इति वचनाद् लब्धास्त्रयः सागरोपमसप्तभागाः $\frac{3}{7}$, ते पल्योपमासङ्ख्येयभागोना निद्रापञ्चका-ऽसातवेदनीययोर्जघन्यस्थिततया मन्तव्याः । दर्शनमोहनीयवर्गस्य चोत्कृष्टा स्थितिः सागरोपमकोटाकोटीसप्ततिरूपा, तस्या मिथ्यात्वस्थित्या तावत्यैव भागे हृते लब्धाः सप्त सागरोपमसप्तभागाः $\frac{7}{7}$, ते च पल्योपमासङ्ख्येयभागोना मिथ्यात्वस्य जघन्यस्थिततयाऽवसेयाः । कषायमोहनीयवर्गस्य चोत्कृष्टा स्थितिश्चत्वारिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः, तस्या मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धाश्चत्वारः सागरोपमसप्तभागाः $\frac{4}{7}$, ते च पल्योपमासङ्ख्येयभागोनाः

१ सं० २ छा० ०वर्गः, चारित्रमोहनीयसमुदायश्चारित्रमोहनीयवर्गः, कषा० ॥

संज्वलनरहितकषायद्वादशकस्य जघन्यस्थितितया बोद्धव्याः । नोकषायमोहनीयस्य तु वर्गोत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः, तस्याश्च मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धौ द्वौ सागरोपमसप्तभागौ २/७ तौ च पल्योपमासङ्ख्येयभागोनौ पुरुषवेदवर्जानामष्टानां नोकषायाणां जघन्यस्थितितयाऽवसेयौ । नाम-गोत्रयोश्च प्रत्येकं विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यो वर्गोत्कृष्टा स्थितिः, तस्याश्च मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धौ द्वौ सागरोपमसप्तभागौ २/७, तौ च पल्योपमासङ्ख्येयभागोनौ देवगति-देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-तीर्थकर-यशःकीर्तिवर्जानां नाम्नः शेषसप्तपञ्चाशत्प्रकृतीनां नीचैर्गोत्रस्य च जघन्यस्थितितया बोद्धव्याविति ॥ ॥३६॥

उक्ता सर्वप्रकृतीनां जघन्या स्थितिः । इदानीमेकेन्द्रियाणां सर्वस्वप्रायोग्योत्तरप्रकृतीरुद्दिश्योत्कृष्टां जघन्यां च स्थितिमाह—

अयमुक्कोसो गिंदिसु, पलियासंखंसहीण लहुबंधो ।
कमसो पणवीसाए, पन्ना-सय-सहससंगुणिओ ॥ ३७ ॥

'अयम्' इत्यनन्तरोद्दिष्टो वर्गोत्कृष्टस्थितिबन्धाद् मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धसप्तभागरूप उत्कृष्टस्थितिबन्ध एकेन्द्रियेषु ज्ञातव्यः । तथाहि—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-वेदनीयद्विका-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामेकविंशतिप्रकृतीनां त्रयः सागरोपमसप्तभागाः ३/७, यत एतद्वर्गाणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः, तस्या मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते त्रय एव सागरोपमसप्तभागा लभ्यन्ते इति । एवमन्यत्रापि भागभावना कार्या । ततश्च मिथ्यात्वस्य सप्त सागरोपमसप्तभागाः ७/७, कषायषोडशकस्य चत्वारः सागरोपमसप्तभागाः ४/७, नोकषायनवकस्य द्वौ सागरोपमसप्तभागौ २/७, एकेन्द्रियबन्धयोग्यदेवगति-देवानुपूर्वी नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकद्विक-तीर्थकरवर्जानां शेषाणां नाम्नोऽष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां गोत्रद्वयस्य च प्रत्येकं द्वौ द्वौ सागरोपमसप्तभागाविति । उक्त एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टस्थितिबन्धः । इदानीं तेषामेव जघन्यस्थितिबन्धमाह—

"पल्लासंखंस" इत्यादि । पल्यस्य—पल्योपमस्यासङ्ख्यांशेन—असङ्ख्येयभागेन हीनः न्यूनः पल्यासङ्ख्यांशहीनोऽयमेवोत्कृष्टस्थितिबन्धः सप्तभागत्रयादिकः, किम्? इत्याह—'लघुबन्धः' जघन्यस्थितिबन्धो भवतीति । अयमभिप्रायः—यासां प्रकृतीनां यावत्प्रमाणः सप्तभागरूप एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्ध उक्तस्तासां तावत्प्रमाणः सप्तभागरूप एव पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनस्तेषां जघन्यस्थितितया मन्तव्य इति । निरूपित एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टो जघन्यश्च स्थितिबन्धो गाथापूर्वार्धेन । सम्प्रत्ययमेव एकेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धो यैर्गुणकारैः 'सङ्गुणितः'

ताडितो द्वीन्द्रियादीनामसंज्ञिपर्यन्तानां प्रायोग्यस्थितितया भवति तान् गुणकारानुत्तरार्धेनाह—"कमसो पणवीसाए" इत्यादि। 'क्रमशः' क्रमेण यथासङ्ख्यमित्यर्थः पञ्चविंशत्या सङ्गुणितः, प्राकृतत्वाद् विभक्तिलोपे पञ्चाशता सङ्गुणितः, शतेन सङ्गुणितः, सहस्रेण सङ्गुणितः ॥३७॥

ततः किम्? इत्याह–

विगलि असन्निसु जिट्ठो, कणिट्ठओ पल्लसंखभागूणो।
सुरनरयाउ समादससहस्स सेसाउ खुड्डभवं ॥ ३८ ॥

"विकलेषु' विकलेन्द्रियेषु-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियेषु 'असंज्ञिषु' सम्मूर्च्छजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्येषु 'ज्येष्ठः' उत्कृष्टः स्थितिबन्धो भवति। इयमत्र भावना–एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः सागरोपमसप्तभागत्रयादिकः पञ्चविंशत्या संगुणितो द्वीन्द्रियाणां ज्येष्ठः संभवत्सर्वप्रकृतीरुद्दिश्य स्थितिबन्धो भवति, स एवैकेन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः पञ्चाशता सङ्गुणितस्त्रीन्द्रियाणां ज्येष्ठः स्थितिबन्धो भवति, स एवैकेन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः शतेन सङ्गुणितश्चतुरिन्द्रियाणां ज्येष्ठः स्थितिबन्धः, सहस्रेण गुणितोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां स्वप्रायोग्यसर्वप्रकृतीरधिकृत्य ज्येष्ठः स्थितिबन्धो भवतीति। द्वीन्द्रियादीनामेव जघन्यस्थितिबन्धमानमाह–"कणिट्ठओ पल्लसंखभागूणु" त्ति पल्यस्य–पल्योपमस्य सङ्ख्यभागेन–सङ्ख्याततमभागेन ऊनः–न्यूनः उत्कृष्ट एव स्थितिबन्धः 'कनिष्ठकः' जघन्यस्थितिबन्धो भवति। एतदुक्तं भवति–द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामात्मीय आत्मीय उत्कृष्ट स्थितिबन्ध पल्योपमसङ्ख्येयभागहीनः कनिष्ठबन्धो भवति। आयुश्चतुष्टयस्य जघन्यस्थितिमानमाह–'सुरनारकायुषोः' देव-नारकायुष्कयोः समाः–वर्षाणि तासां दश सहस्राणि समादशसहस्राणि दशवर्षसहस्राणीत्यर्थः जघन्या स्थितिर्भवतीति प्रक्रमः। "सेसाउ खुड्डभवं" ति 'शेषायुषोः' तिर्यङ्-मनुष्यायुष्कयोः "खुड्डभवं" ति क्षुल्लकः–सर्वभवापेक्षया लघीयान् लिङ्गव्यत्ययाद् भवः–जन्म क्षुल्लकभवः स जघन्या स्थितिर्भवतीति ॥ ३८ ॥

प्ररूपिता जघन्यस्थितिः। इदानीं सर्वोत्तरप्रकृतीः प्रतीत्य जघन्याबाधामाह—

सव्वाण वि लहुबंधे, भिन्नमुहु अबाह आउजिट्ठे वि।
केइ सुराउसमं जिणमंतमुहू बिंति आहारं ॥३९॥

'सर्वासामपि' सर्वप्रकृतीनां–विंशत्युत्तरशतसङ्ख्यानामपि 'लघुबन्धे' जघन्यस्थितिबन्धे 'भिन्नमुहूर्तम्, अन्तर्मुहूर्तम् 'अबाधा' अनुदयकालः। किं सर्वप्रकृतीनां जघन्यबन्ध एवेयं जघन्याऽबाधा? आहोश्विदस्ति कासाञ्चिदियमुत्कृष्टेऽपि? इत्याह—"आउजिट्ठे वि" आयुषां–ज्येष्ठेऽपि

ज्येष्ठबन्धेऽपि, न केवलं जघन्य एवेत्यपिशब्दार्थः, जघन्याऽबाधाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणा भवतीति योगः। एतेनायुषश्चतुर्भङ्ग्यबाधेति सूचितम्, तद्यथा—ज्येष्ठे आयुःस्थितिबन्धे ज्येष्ठाऽबाधा १ ज्येष्ठे आयुःस्थितिबन्धे जघन्याऽबाधा २ जघन्ये आयुःस्थितिबन्धे ज्येष्ठाऽबाधा ३ जघन्ये आयुःस्थितिबन्धे जघन्याऽबाधा ४ इति। अधुना तीर्थकरा-ऽऽहारकद्विकयोः प्राङ्निरूपितामपि जघन्यां स्थितिं पुनर्मतान्तरेणाह--"केइ सुराउसमं" इत्यादि। केचिदाचार्याः सुरायुषा-देवायुष्केण दशवर्षसहस्रप्रमाणेन समं--तुल्यं सुरायुःसमं--देवायुस्तुल्यस्थितिकं जघन्यतो बध्यते। किं तद्? इत्याह—"जिणं" ति तीर्थकरनामकर्म ब्रुवते। तथा च तैरभ्यधायि----

सुरनारयाउयाणं, दसवाससहस्स लहु सतित्थाणं। (पञ्चसं० गा० २५३)

"लहु" त्ति जघन्या स्थितिः 'सतीर्थयोः' तीर्थकरनामयुक्तयोरित्यर्थः।

तथा "आहारं" ति आहारकद्विकम्--आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमन्तर्मुहूर्तं जघन्यतो बध्यते, किञ्चिदूनमुहूर्तस्थितिकं जघन्येन बध्यत इति ब्रुवते। तथा च तैरुक्तम्—

आहारकविग्घावरणाण किंचूणं (पञ्चसं० गा० २५४)

"किंचूणं" ति किञ्चिदूनं मुहूर्तं जघन्या स्थितिरिति ॥३९॥

तिर्यङ्मनुष्यायुषोर्जघन्या स्थितिः क्षुल्लकभवप्रमाणा भवतीति प्रागुक्तम्, ततस्तं क्षुल्लकभवं सप्रपञ्चं निरूपयितुकामो गाथायुगलमाह—

सत्तरस समहिया किर, इगाणुपाणुम्मि हुंति खुड्डभवा।
सगतीससयतिहुत्तर, पाणू पुण इगमुहुत्तम्मि ॥४०॥
पणसट्ठिसहस पणसय, छत्तीसा इगमुहुत्त खुड्डभवा।
आवलियाणं दो सय, छप्पन्ना एगखुड्डभवे ॥४१॥

सप्तभिरधिका दश सप्तदश 'समधिकाः' किञ्चित्समर्गलाः 'किल' इत्याप्तोक्ताविर्त्येवं ब्रुवते। 'एकाऽऽनप्राणे' हृष्टानवकल्पादिगुणोपेतस्य जन्तोरेकस्मिन्नुच्छ्वासनिःश्वासरूपे भवन्ति क्षुल्लकाः। सूत्रे च "आणुपाणुम्मि" त्ति उकारः "स्वराणां स्वराः" (सिद्ध० ८-४-२३७) इति प्राकृतसूत्रेण। अयमर्थः—एकस्मिन् प्राणापाने क्षुल्लकभवाः समधिकाः सप्तदश भवन्तीति किलाप्ता ब्रुवते। एते च साधिकसप्तदश क्षुल्लकभवा मुहूर्तगतक्षुल्लकभवग्रहणराशेर्वक्ष्यमाणगाथोपन्यस्तस्य भाज्यस्य मुहूर्तगतप्राणापानराशिनैव भागे हृते लभ्यन्ते, अतः प्रथमं मुहूर्तान्तर्गतप्राणापानराशेर्भागहारकरूपस्य प्रमाणनिरूपणार्थमाह—"सगतीससयतिहुत्तर" इत्यादि। सप्तत्रिंशच्छतानि त्रिसप्तत्यधिकानि, अङ्कतोऽपि ३७७३, "पाणु" त्ति प्राकृतत्वात् 'प्राणापानाः' उच्छ्वासनिःश्वासाः पुनः 'एकमुहूर्ते' घटिकाद्वयरूपे भवन्ति ॥४०॥

उक्तो भागहारको राशिः । अधुना भाज्यस्य मुहूर्तगतक्षुल्लकभवग्रहणराशेः प्रमाणमाह— "पणसट्ठि" इत्यादि । विभक्तिलोपात् पञ्चषष्टिसहस्राणि पञ्चशतानि 'षट्त्रिंशानि' षट्त्रिंशदधिकानि, अङ्कतोऽपि ६५५३६, एकमुहूर्ते क्षुल्लकभवाः, एकमुहूर्तेक्षुल्लकभवग्रहणानि भवन्तीत्यर्थः । पञ्चषष्टिसहस्रपञ्चशतषट्त्रिंशदधिकलक्षणस्य मुहूर्तगतक्षुल्लकभवग्रहणराशेर्भाज्यस्य मुहूर्तगतप्राणापानराशिना त्रिसप्तत्यधिकसप्तत्रिंशच्छतप्रमाणेन भागे हृते सति यद् लभ्यते तद् एकत्र प्राणापाने क्षुल्लकभवग्रहणप्रमाणं भवतीति । तानि तु सप्तदश १७ । तथा यैर्भागहाराङ्कमानैरंशैः क्षुल्लकभवग्रहणं भवति ते त्वत्रैकत्र प्राणापानेऽष्टादशस्यापि क्षुल्लकभवग्रहणस्यांशाः पञ्चनवत्यधिकत्रयोदशशतप्रमाणा अवशिष्यन्ते, अष्टसप्तत्यधिकत्रयोविंशतिशतानि चांशानां न पूर्यन्ते इति । स्थापना– । ७, अंशाः १३६५, शेषांशाः–२३७८ । अतो यदुक्तम्–"सत्तरस समहिया किर, इगाणुपाणुम्मि हुंति खुड्डभवा" इति तत् युक्तमिति । क्षुल्लकभवग्रहणं च सर्वेषामप्यौदारिकशरीरिणां भवतीत्यवसेयम्, **भगवत्यामेवमेवोक्तत्वात्**, **कर्मप्रकृत्यादिषु** औदारिकशरीरिणां तिर्यङ्-मनुष्याणामायुषो जघन्यस्थितेः क्षुल्लकभवग्रहणरूपायाः प्रतिपादनाच । यत् पुनरा**वश्यकटीकायां** क्षुल्लकभवग्रहणं वनस्पतिष्वेव प्राप्यत इत्युक्तं तन्मतान्तरमित्यवसीयत इति । साम्प्रतमेकस्मिन् क्षुल्लकभवग्रहणे आवलिकाद्वारेण कालमानं निरूपयितुकामो यावत्य आवलिका एकस्मिन् क्षुल्लकभवग्रहणे भवन्त्येतदेवाह–"आवलियाणं दो सय" इत्यादि । 'आवलिकानां' [1]असंखिज्जाणं समयाणं समुदयसमिइसमागमेण सा एगा आवलिय त्ति वुच्चइ । (अनुयो० पत्र-१७८-२) इत्यागमप्रतिपादितस्वरूपाणां द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके भवतः 'एकक्षुल्लकभवे' एव क्षुल्लकभवग्रहण इति ॥ ४१ ॥

प्रतिपादितं स्थितिबन्धप्रसङ्गागतं क्षुल्लकभवग्रहणप्रमाणम् । उक्त उत्कृष्टस्थितिबन्धो वैक्रियषट्कवर्जो जघन्यस्थितिबन्धश्च सर्वाः प्रकृतीराश्रित्य । सम्प्रत्येता एव प्रकृतीः प्रतीत्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो निरूपयन्नाह––

अविरयसम्मो तित्थं, आहारदुगामराउ य पमत्तो ।
मिच्छद्दिट्ठी बंधइ, जिट्ठठिइं, सेसपयडीणं ॥४२॥

'अविरतसम्यक्त्वः' अविरतसम्यग्दृष्टिः "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायाद् मनुष्यः पूर्वं नरकबद्धायुष्को नरकं जिगमिषुरवश्यं मिथ्यात्वं यत्र समये प्रतिपद्यते ततोऽनन्तरेऽत्रोत्कृष्टस्थितिबन्धे "तित्थं" ति तीर्थंकरनाम उत्कृष्टस्थितिकं बध्नाति, " [2]तित्थयरं पि मणूसो,

---

१ असंख्येयानां समयानां समुदयसमितिसमागमेन सा एका आवलिकेत्युच्यते ॥ २ तीर्थंकरमपि मनुष्योऽविरतसम्यक्त्वः समर्जयति ॥

अविरयसम्मे समज्जेइ ॥" (शत० गा० ६०) इति वचनात् । इयमत्र भावना—तीर्थकरनाम्नो ह्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणावसाना बन्धका भवन्ति किन्तूत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टसंक्लेशेन बध्यते, स च तीर्थकरनामबन्धकेष्वविरतस्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यत इति शेषव्युदासेनास्यैवोपादानमिति भावः । तत्र तिर्यञ्चस्तीर्थकरनाम्नः पूर्वप्रतिपन्नाः प्रतिपद्यमानकाश्च भवप्रत्ययेनैव न भवन्तीति मनुष्यग्रहणम् । बद्धतीर्थकरनामकर्मा च पूर्वमबद्धनरकायुर्नरकं न व्रजतीति पूर्वं नरकबद्धायुष्कस्य ग्रहणम् , क्षायिकसम्यग्दृष्टिश्च श्रेणिकादिवत् ससम्यक्त्वोऽपि कश्चिन्नरकं प्रयाति, किन्तु तस्य विशुद्धत्वेनोत्कृष्टस्थित्यबन्धकत्वात् तस्या एव चेह प्रकृतत्वाद् नासौ गृह्यते, अतस्तीर्थकरनामकर्मोत्कृष्टस्थितिबन्धकत्वाद् मिथ्यात्वाभिमुखस्यैव ग्रहणमिति ।

तथा 'आहारकद्विकम्' आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणं "पमत्तु" त्ति प्रमत्तसंयतोऽप्रमत्तभावाभिवर्तमान इति विशेषो दृश्यः, उत्कृष्टस्थितिकं बध्नाति । अशुभा हीयं स्थितिरित्युत्कृष्टसंक्लेशेनैवोत्कृष्टा बध्यते, तद्बन्धकश्च प्रमत्तयतिरप्रमत्तभावाभिवर्तमान एवोत्कृष्टसंक्लेशयुक्तो लभ्यत इतीत्थं विशिष्यते । तथा 'अमरायुः' देवायुष्कं प्रमत्तसंयतः पूर्वकोट्यायुरप्रमत्तभावाभिमुखो वेद्यमानपूर्वकोटीलक्षणायुषो भागद्वये गते सति तृतीयभागस्याद्यसमये उत्कृष्टस्थितिकं पूर्वकोटित्रिभागाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणं बध्नाति । पूर्वकोटीत्रिभागस्य द्वितीयादिसमयेषु बध्नतो नोत्कृष्टं लभ्यते, अबाधायाः परिगलितत्वेन मध्यमत्वप्राप्तेरित्याद्यसमयग्रहणम् । अप्रमत्तभावाभिमुखताविशेषणं तर्हि किमर्थम् ? इति चेद् उच्यते—शुभेयं स्थितिर्विशुद्ध्या बध्यते, सा चास्याऽप्रमत्तभावाभिमुखस्यैव लभ्यत इति । तर्ह्यप्रमत्त एव कस्माद् एतद्बन्धकत्वेन नोच्यते ? इति चेद् उच्यते—अप्रमत्तस्यायुर्बन्धारम्भनिषेधात् , "[1]देवाउयं पमत्तो" (शत० गा० ६०) इति वचनात् प्रमत्तेनैवारब्धमायुर्बन्धमप्रमत्तः कदाचित् समर्थयते, "[2]देवाउयं च इक्कं, नायव्वं अप्पमत्तम्मि" (बृ० कर्मस्तवगा० १६) इति वचनात् । शेषाणां षोडशोत्तरशतसङ्ख्यप्रकृतीनां 'ज्येष्ठस्थितिम्' उत्कृष्टस्थितिं मिथ्यादृष्टिः सर्वपर्याप्तिपर्याप्तः सर्वसंक्लिष्टो बध्नाति, यतः स्थितिरशुभा संक्लेशप्रत्यया च, संक्लिष्टश्च बन्धकेषु मध्ये मिथ्यादृष्टिरेव भवतीति भावः । अत्र च प्रायोवृत्त्या सर्वसंक्लिष्टत्वमुच्यते, यावता तिर्यङ्-मनुष्यायुषी उत्कृष्टे तत्प्रायोग्यविशुद्धो बध्नातीति द्रष्टव्यम् , तयोः शुभस्थितिकत्वेन विशुद्धिजन्यत्वात् । उक्तं च—

[3]सव्वठिईणं उक्कोसओ उ उक्कोससंकिलेसेण ।
विवरीए य जहन्नो, आउगतिगवज्जसेसाणं ॥ (शत० गा० ५८) इति ।

---

१ देवायुष्कं प्रमत्तः ॥ २ देवायुष्कं चैकं ज्ञातव्यं अप्रमत्ते ॥
३ सर्वस्थितीनामुत्कृष्टकस्तु उत्कृष्टसंक्लेशेन । विपरीते च जघन्य आयुष्कत्रिकवर्जं शेषाणाम् ॥

ननु यदि विशुद्धित इदमायुष्कद्वयं बध्यते तर्हि मिथ्यादृष्टेः सकाशात् सास्वादनो विशुद्धतरः प्राप्यते, स कस्माद् एतद्बन्धकत्वेन नोक्तः ? न च वक्तव्यं तिर्यङ् मनुष्यायुषी सास्वादनो न बध्नाति, तद्बन्धस्य सप्ततिकादिष्वस्यानुज्ञानात्, तथा चोक्तमायुःसंवेधभङ्गकावसरे सप्ततिटीकायाम्—

तिर्यगायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ् मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सास्वादनस्य वा । मनुष्यायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो मनुष्य-मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सास्वादनस्य वा । (पत्र १३१–२)

तत् कथमुक्तं "मिच्छदिट्ठी बंधइ, जिट्ठठिइं सेसपयडीणं ।।" ? इति । अत्र प्रतिविधीयते—सत्यामपि हि सामान्यतो मनुष्य-तिर्यगायुर्बन्धानुज्ञायामसङ्ख्ये यवर्षायुष्कयोग्यमुत्कृष्टं प्रस्तुतायुर्द्वयं सास्वादनो न निर्वर्तयति, सास्वादनस्य गुणप्रतिपाताभिमुखत्वेन गुणाभिमुखविशुद्धमिथ्यादृष्टेः सकाशाद् विशुद्ध्याधिक्यस्यानवगम्यमानत्वात्, शास्त्रान्तरेऽपि च मिथ्यादृष्टेः सकाशादविरतादय एव यथोत्तरमनन्तगुणविशुद्धाः पठ्यन्ते, न सास्वादनः । न चैतन्निजमनीषिकाशिल्पिकल्पितम्, यदाहुः शिवशर्मसूरिपूज्याः—

[1]सव्वुक्कोसठिईणं, मिच्छदिट्ठी उ बंधओ भणिओ ।
आहारग तित्थयरं, देवाउं वा वि मुत्तूणं ॥ (शत० गा० ५६) ॥ ४२ ॥

इह पूर्वं संक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः षोडशोत्तरप्रकृतिशतस्योत्कृष्टस्थितिबन्धकः सामान्येनैवोक्तः । स च नारकादिभेदेन चिन्त्यमानश्चतुर्धा भवति, ततो नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या देवाश्च मिथ्यादृष्टयः पृथक् केषां कर्मणां स्थितिरुत्कृष्टां बध्नन्ति ? इति भेदतश्चिन्तयन्नाह—

विगलसुहुमाउगतिगं, तिरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुगं ।
एगिंदिथावरायव, आ-ईसाणा सुरुक्कोसं ॥४३॥

त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् विकलत्रिकं—द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिलक्षणम्, सूक्ष्मत्रिकं—सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-साधारणरूपम्, आयुस्त्रिकं—देवायुर्वर्जं नारक-तिर्यङ्-मनुष्यायुर्लक्षणम्, द्विकशब्दस्यापि प्रत्येकं सम्बन्धात् सुरद्विकं-सुरगति-सुरानुपूर्वीस्वरूपम्, वैक्रियद्विकं-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणम्, नरकद्विकं—नरकगति-नरकानुपूर्वीलक्षणमित्येतासां पञ्चदशप्रकृतीनामुत्कृष्टां स्थितिं तिर्यङ्-मनुष्या एव मिथ्यादृष्टयो बध्नन्ति न देव-नारकाः । नारका ह्येतासां मध्ये तिर्यङ्-मनुष्यायुर्द्वयं मुक्त्वा शेषास्त्रयोदशप्रकृतीर्भवप्रत्ययेनैव न

१ सर्वोत्कृष्टस्थितीनां मिथ्यादृष्टिस्तु बन्धको भणितः । आहारकं तीर्थकरं देवायुः वाऽपि मुक्त्वा ॥

बध्नन्ति; तिर्यङ्-मनुष्यायुषोरपि देवकुर्वादिप्रायोग्य उत्कृष्टस्त्रिपल्योपमलक्षणः स्थितिबन्धः प्रकृतः, तत्र च देव-नारका भवप्रत्ययादेव नोत्पद्यन्ते इत्येतद्बन्धोऽप्यमीषां न सम्भवति; तस्मादेते तिर्यङ्-मनुष्यायुषी उत्कृष्टस्थितिके पूर्वकोट्यायुषस्तिर्यङ्-मनुष्या मिथ्यादृष्टयस्तत्प्रायोग्यविशुद्धाः स्वायुस्त्रिभागाद्यसमये वर्तमाना बध्नन्ति; सम्यग्दृष्टेरतिविशुद्धमिथ्यादृष्टेश्च देवायुर्बन्धः स्यादिति मिथ्यादृष्टित्व-तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वविशेषणद्वयम् । नारकायुषः पुनरेत एव तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा वाच्याः, अत्यन्तशुद्धस्यात्यन्तसंक्लिष्टस्य चायुर्बन्धस्य सर्वथा निषेधादिति । नरकद्विक-वैक्रियद्विकयोस्त्वेत एव सर्वसंक्लिष्टाः पूर्वोक्तोत्कृष्टस्थितेर्बन्धका वाच्याः । विकलजातित्रिक-सूक्ष्मत्रिकयोस्तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा द्रष्टव्याः, अतिसंक्लिष्टा हि प्रस्तुतप्रकृतिबन्धमुल्लङ्घ्य नरकप्रायोग्यमेव निर्वर्तयेयुः; विशुद्धास्तु विशुद्धितारतम्यात् पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं वा मनुष्यप्रायोग्यं वा देवप्रायोग्यं वा रचयेयुरिति तत्प्रायोग्यसंक्लेशग्रहणम् । देवद्विकस्यापि तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा द्रष्टव्याः, अतिसंक्लिष्टानामधोवर्तिमनुष्यादिप्रायोग्यबन्धप्रसङ्गात् , विशुद्धौ पुनरुत्कृष्टबन्धाभावादिति भाविताः पञ्चदशापि प्रकृतयः । तथा एकेन्द्रियजाति-स्थावरनामा-ऽऽतपनामलक्षणस्य प्रकृतित्रिकस्य 'आ ईशानाद् ' ईशानदेवलोकमभिव्याप्य 'सुराः' देवाः, कोऽर्थः ? भवनपतयो व्यन्तरा ज्योतिष्काः सौधर्मेशानदेवाः "उक्कोसं" ति उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति । तथाहि—ईशानादुपरितनदेवा नारकाश्च एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यन्त इत्येकेन्द्रियप्रायोग्याण्येतानि न बध्नन्त्येवेति तन्निषेधः, तिर्यङ्-मनुष्यास्त्वेतावति संक्लेशे वर्तमाना एतद्बन्धमतिक्रम्य नरकप्रायोग्यमेव बध्नन्तीति तेषामपि निषेधः, ईशानान्तास्तु देवाः सर्वसंक्लिष्टा अप्येकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नन्ति, अतस्त एव स्थावर-एकेन्द्रिया-ऽऽतपलक्षणप्रकृतित्रयस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टस्थितिं बध्नन्तीति ॥ ४३ ॥

तिरिउरलदुगुज्जोयं, छिवट्ठ सुरनिरय सेस चउगइया ।
आहारजिणमपुव्वोऽनियट्टि संजलण पुरिस लहुं ॥४४॥

द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् तिर्यग्द्विकं—तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीरूपम् , औदारिकद्विकम्—औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणम् , उद्योतनाम सेवार्तसंहनननाम इत्येतासां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिं सुर-नारका बध्नन्ति, सर्वत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् , न मनुष्य-तिर्यञ्चः, ते हि तद्बन्धार्हसंक्लेशे वर्तमाना एतासां षट्प्रकृतीनामुत्कृष्टतोऽप्यष्टादशकोटीकोटिलक्षणामेव मध्यमां स्थितिमुपरचयन्ति, अथाऽभ्यधिकसंक्लेशे वर्तमाना गृह्यन्ते तर्हि प्रस्तुतप्रकृतिबन्धमतिक्रम्य नरकप्रायोग्यमुपरचयेयुः, देव-नारकास्तु सर्वोत्कृष्टसंक्लेशा अपि तिर्यग्गतिप्रायोग्यमेव बध्नन्ति न नरकगतिप्रायोग्यम् , तत्र तेषामुत्पत्त्यभावात्; तस्माद् देव-नारका एव सर्वसंक्लिष्टाः

प्रस्तुतप्रकृतिषट्कस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टां स्थितिं रचयन्ति । अत्र च सामान्योक्तावपि सेवार्तसंहनन-औदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धका देवा ईशानादुपरितनसनत्कुमारादय एव द्रष्टव्या नेशानान्ता देवाः, ते हि तत्प्रायोग्यसंक्लेशे वर्तमानाः प्रकृतप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टतोऽप्यष्टादशकोटीकोटीलक्षणां मध्यमामेव स्थितिं रचयन्ति । अथ सर्वोत्कृष्टसंक्लेशा गृह्यन्ते तर्ह्येकेन्द्रियप्रायोग्यमेव निर्वर्तयेयुः, न चैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धे एते प्रकृती बध्येते, तेषां संहननोपाङ्गाभावात्, "[1]सुरनेरइया एगिंदिया य सव्वे असंघयणी" (जिनभ० सं० गा० १६४) इति वचनात् । सनत्कुमारादिदेवाः पुनः सर्वसंक्लिष्टा अपि पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यमेव बध्नन्ति नैकेन्द्रियप्रायोग्यम्, तेषामेकेन्द्रियेषूत्पत्त्यभावात् । तस्मात् प्रस्तुतप्रकृतिद्विकस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टस्थितिं सर्वसंक्लिष्टाः सनत्कुमारादय एव बध्नन्ति नाधस्तना देवा इति ।

तदेवं जिननामा-ऽऽहारकद्विक--देवायुः--विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकाऽऽयुष्कत्रिक--देवद्विक-वैक्रियद्विक-नरकद्विक-एकेन्द्रियजाति-स्थावरनामा-ऽऽतपनाम-तिर्यग्द्विकऔदारिकद्विक-उद्योतनाम-सेवार्तसंहननलक्षणानामष्टाविंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन उक्ताः ।

शेषप्रकृतीनां तु का वार्ता ? इत्याशङ्क्याह–"सेस चउगइय" त्ति भणिताष्टाविंशतिप्रकृतिभ्यः 'शेषाणां' द्विनवतिसङ्ख्यप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टयश्चतुर्गतिका अप्युत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति । तत्रैतासु मध्ये वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघात-भय-जुगुप्सा-मिथ्यात्व-कषायषोडशक-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवका-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पूर्वव्यावर्णितस्वरूपाणां तथाऽध्रुवबन्धिनीनामपि मध्येऽसाता-ऽरति-शोक-नपुंसकवेद-पञ्चेन्द्रियजाति-हुण्डसंस्थान-पराघात-उच्छ्वासा-ऽशुभविहायोगति-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येका-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुःस्वर-दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्ति-नीचैर्गोत्रलक्षणानां च विंशतेः प्रकृतीनां सर्वोत्कृष्टसंक्लेशेनोत्कृष्टां स्थितिं चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयो बध्नन्ति । शेषाणां त्वध्रुवबन्धिनीनां सात-हास्य-रति-स्त्री-पुंवेद-मनुष्यद्विक-सेवार्तवर्जसंहननपञ्चक-हुण्डवर्जसंस्थान-पञ्चक-प्रशस्तविहायोगति-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्ति-उच्चैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां तद्बन्धकेषु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टाश्चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टय उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्तीति । उक्ता उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः ।

अथ जघन्यस्थितिबन्धस्वामिन आह–"आहारजिणमपुव्वो" इत्यादि । आहारकद्विकं जिननाम "लहुं" ति 'लघुस्थितिकं' जघन्यस्थितिकं करोतीति शेषः । कः ? इत्याह–"अपुव्वु"

---

१ सुरनैरयिका एकेन्द्रियाश्च सर्वेऽसंहननाः ॥

त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् 'अपूर्वः' अपूर्वकरणक्षपकस्तद्बन्धस्य चरमस्थितिबन्धे वर्तमानः स्थितिमाश्रित्येत्यर्थः, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वात् , तिर्यङ्-मनुष्य-देवायुर्वर्जकर्मणां च जघन्यस्थितेर्विशुद्धिप्रत्ययत्वात् । तथा "अनियट्टि संजलण पुरिस लहु" ति संज्वलनानां-क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणानां चतुर्णां 'पुरुषस्य' पुरुषवेदस्य च "लहुं" ति 'लघुस्थितिं' जघन्यस्थितिबन्धम् , "अनियट्टि" त्ति अनिवृत्तिबादरः क्षपकस्तद्बन्धस्य यथास्वं चरमस्थितिबन्धे वर्तमानः करोति, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वादिति ।।४४।।

सायजसुच्चावरणा, विग्घं सुहुमो विउव्विछ असन्नी ।
सन्नी वि आउबायरपज्जेगिंदी उ सेसाणं ।।४५।।

'सातं' सातवेदनीयं "जस" त्ति यशःकीर्तिनाम "उच्च" त्ति उच्चैर्गोत्रम् "आवरण" त्ति ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कं 'विघ्नम्' अन्तरायपञ्चकं "सुहुमो" त्ति सूक्ष्मसम्पराय-क्षपकश्चरमस्थितिबन्धे वर्तमानो लघुस्थितिकं करोति, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वात् । "विउव्विछ असन्नि" ति 'वैक्रियषट्कं' नरकद्विक-वैक्रियद्विक-देवद्विकलक्षणम् , असंज्ञी तिर्यक्पञ्चेन्द्रियः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तो लघुस्थितिकं करोति । किमुक्तं भवति ?—वैक्रियषट्कं हि नामप्रकृतयः, नाम्नश्च द्वौ सप्तभागौ पल्योपमासङ्ख्येयभागोनौ एकेन्द्रियाणां जघन्या स्थितिः प्रतिपादिता, सा च सहस्रगुणिता सागरोपमसप्तभागसहस्रद्वयप्रमाणा वैक्रियषट्कस्य जघन्या स्थितिर्भवति, वैक्रियषट्कस्य च जघन्यस्थितिबन्धका असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव नैकेन्द्रियादयः, ते चासंज्ञिपञ्चेन्द्रिया जघन्यां स्थितिमेतावतीमेव बध्नन्ति न न्यूनामपि, यदुक्तम्—

वेउव्विछक्कि तं सहसताडियं जं असण्णिणो तेसिं ।
पलियासंखंसूणं, ठिई अबाहूणिय निसेगो ।। (पञ्चसं० गा० २५६)

अस्या अक्षरगमनिका—"वग्गुक्कोसठिईणं मिच्छत्तुक्कोसियाइ" (कर्मप्रक० गा० ७९) इत्यनेन करणेन यद् लब्धं तत् 'सहस्रताडितं' सहस्रगुणितं ततः पल्योपमासङ्ख्येयांशेन-भागेन न्यूनं सद् 'वैक्रियषट्के' देवगति-देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणे जघन्यस्थितेः परिमाणमवसेयम् । कुतः ? इत्याह-'यद्' यस्मात् कारणात् 'तेषां' वैक्रियषट्कलक्षणानां कर्मणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव जघन्यस्थितिबन्धकाः, ते च जघन्यां स्थितिमेतावतीमेव बध्नन्ति न न्यूनाम् । अन्तर्मुहूर्तमबाधा, अबाधाहीना च कर्मस्थितिः कर्मदलिकनिषेक इति ।।

किञ्च एताः षट् प्रकृतयो यथासम्भवं नरक-देवलोकप्रायोग्या बध्यन्ते । तत्र च देव-नारका-ऽसंज्ञिमनुष्य-एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिया नरकेषु देवलोकेषु [च] नोत्पद्यन्त एवेति तेषा-मेतद्बन्धासम्भवः । तिर्यङ्-मनुष्यास्तु संज्ञिनः स्वभावादेव प्रकृतप्रकृतिषट्कस्य स्थितिं मध्यमा-

मुत्कृष्टां वा कुर्वन्तीति तेऽपीहोपेक्षिताः । "सन्नी वि आउ" त्ति संज्ञी अपिशब्दाद् असंज्ञी गृह्यते, ततः संज्ञी असंज्ञी वा आयुश्चतुःप्रकारमपि जघन्यस्थितिकं करोति । तत्र देव-नारकायुषोः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ् मनुष्याः, मनुष्य-तिर्यगायुषोः पुनरेकेन्द्रियादयो जघन्यस्थितिकर्तारो द्रष्टव्याः । उक्ताः पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः ।

शेषाणामाह—"बायरपज्जेगिंदी उ सेसाणं" ति 'शेषाणां' भणितोद्धरितानां-निद्रापञ्चका-ऽसातवेदनीया-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्काऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्क-प्रत्याख्यानावरणचतुष्क- नपुंसकवेद-स्त्रीवेद-हास्यादिषट्क-मिथ्यात्व-मनुष्यगति-तिर्यग्गति-जातिपञ्चक-औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-तैजस कार्मण-संहननषट्क-संस्थानषट्क-वर्णचतुष्क-मनुजानुपूर्वी-तिर्यगानुपूर्वी-प्रशस्ताऽप्रशस्तविहायोगति-पराघात-उच्छ्वासा-ऽऽतप उद्योताऽगुरुलघु- निर्माण--उपघात-त्रसनवक-स्थावरदशक-नीचैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चाशीतेः प्रकृतीनां बादरः पर्याप्तस्तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्ध एकेन्द्रियः पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनसागरोपमद्विसप्तभागादिकां जघन्यां स्थितिं करोति । अन्ये ह्येकेन्द्रियास्तथाविधविशुद्ध्यभावात् बृहत्तरां स्थितिमुपकल्पयन्ति । विकलेन्द्रिय पञ्चेन्द्रियेषु शुद्धिरधिकाऽपि लभ्यते केवलं तेऽपि स्वभावादेव प्रस्तुतप्रकृतीनां महतीं स्थितिमुपरचयन्तीति शेषपरिहारेण यथोक्तैकेन्द्रियस्यैव ग्रहणमिति ॥४५॥

प्रतिपादितं जघन्यस्थितिबन्धमाश्रित्य स्वामित्वम् । अथ स्थितिबन्ध एवोत्कृष्टानुत्कृष्टादिभङ्गकान् विचारयितुमाह—

उक्कोसजहन्नेयर, भंगा साई अणाइ धुव अधुवा ।
चउहा सग अजहन्नो, सेसतिगे आउचउसु दुहा ॥४६॥

बन्धशब्दः प्रक्रमाद् लभ्यते, तत उत्कृष्टबन्धः १ जघन्यबन्धः २ "इयर" त्ति उत्कृष्टबन्धप्रतिपक्षोऽनुत्कृष्टबन्धः ३ जघन्यबन्धप्रतिपक्षोऽजघन्यबन्धः ४ इति चत्वारो भङ्गाः । तत्र यतोऽन्यो बृहत्तरबन्धो नास्ति स उत्कृष्टबन्धः, ततोऽधस्तात् समयहानिमादौ कृत्वा यावद् जघन्यबन्धस्तावत् सर्वोऽप्यनुत्कृष्टबन्ध इत्युत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टप्रकाराभ्यां सर्वे स्थितिविशेषाः सङ्गृहीताः । यस्मादन्यो हीनतरबन्धो नास्ति स जघन्यबन्धः, ततः परं समयवृद्धिमादौ कृत्वा यावद् उत्कृष्टस्तावत् सर्वोऽप्यजघन्यबन्ध इति जघन्या ऽजघन्यप्रकाराभ्यां वा सर्वेऽपि स्थितिविशेषाः सङ्गृहीताः । अथवाऽन्यथा बन्धस्य चत्वारो भङ्गाः, तद्यथा—सादिबन्धः १ अनादिबन्धः २ ध्रुवबन्धः ३ अध्रुवबन्धः ४ चेति । तत्र यः पूर्वं व्यवच्छिन्नः पश्चात् पुनरपि भवति स सादिर्बन्धः । यस्त्वनादिकालात् सन्तानभावेन प्रवृत्तो न कदाचिद् व्यवच्छिन्नः सोऽनादिबन्धः । यः पुनरग्रेऽपि न कदाचिद् व्यवच्छेदं प्राप्स्यति सोऽभव्यसम्बन्धी बन्धो ध्रुवः । यः पुनरायत्यां कदाचिद् व्यवच्छेदं प्राप्स्यति स भव्यसम्बन्धी बन्धोऽध्रुवबन्धः ।

एवं "चउहा सग अजहन्नु" त्ति "सग" त्ति सप्तानां मूलप्रकृतीनां ज्ञानावरण दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणानां सम्बन्धिन्यः याः स्थितयस्तासां यः 'अजघन्यः' अजघन्यबन्धः सः 'चतुर्धा' चतुर्विकल्पः सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्चेति । तथाहि–एतासां प्रकृतीनां मध्ये मोहनीयस्य क्षपकानिवृत्तिबादरचरमस्थितिबन्धे जघन्यः स्थितिबन्धः प्राप्यते, शेषप्रकृतिषट्कस्य तु क्षपकसूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धेऽसौ लभ्यते, ततोऽन्यः सर्वोऽप्युपशमश्रेणावप्यजघन्यो भवति, उपशमकस्यापि क्षपकाद् द्विगुणबन्धकत्वादजघन्य एव भवतीति भावः । ततश्चोपशान्तमोहावस्थायामजघन्यबन्धस्याबन्धको भूत्वा यदा प्रतिपत्य पुनरपि प्रस्तुतप्रकृतिसप्तकस्याजघन्यं बध्नाति तदाऽजघन्यबन्धः सादिर्भवति, बन्धव्यवच्छेदानन्तरं तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् । उपशान्तमोहाद्यवस्थां चाऽप्राप्तपूर्वाणां बन्धव्यवच्छेदाभावेनाऽनादिकालान्निरन्तरं बध्यमानत्वादनादिः । अभव्यानां ध्रुवोऽभाविपर्यन्तत्वात् । भव्यानामध्रुवो भाविपर्यन्तत्वात् ।

"सेसतिगे आउचउसु दुह" त्ति 'शेषत्रिके' जघन्यउत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टलक्षणे एतासां मूलप्रकृतीनां बन्धः "दुह" त्ति सादिरध्रुवश्च भवति । तथाहि–एतासां प्रकृतीनां मध्ये मोहनीयस्य क्षपकानिवृत्तिबादरचरमस्थितिबन्धे, शेषाणां तु क्षपकसूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे जघन्यो बन्धोऽन्तरमेवोक्तः, स चाऽबद्धपूर्वोऽजघन्यबन्धादवतीर्य तत्प्रथमतया तस्मिन्नेव समये बध्यत इति सादिः, ततः परं क्षीणमोहाद्यवस्थायां सर्वथा न भवतीत्यध्रुव इति द्वावेव विकल्पौ सम्भवतो न शेषौ । उत्कृष्टस्तु त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिकः सर्वसंक्लिष्टमिथ्यादृष्टिपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिये लभ्यते, स चानुत्कृष्टबन्धादवतीर्य कदाचिदेव बध्यते न सर्वदेति सादिः, अन्तर्मुहूर्ताच्च परं नियमादनुत्कृष्टं बध्नतोऽसौ निवर्तत इत्यध्रुवः, उत्कृष्टाच्च प्रतिपत्य अनुत्कृष्टं बध्नातीत्यनुत्कृष्टोऽपि सादिः, ततः परं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तेन उत्कृष्टतस्त्वनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीपर्यन्ते पुनरुत्कृष्टं बध्नतोऽनुत्कृष्टो निवर्तत इत्यध्रुव इति । एवमुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टेषु जीवाः परिभ्रमन्तीति द्वयोरप्यनादिध्रुवत्वासम्भवः । "आउचउसु दुह" त्ति आयुश्चतुष्टये 'द्विप्रकारः' द्विविकल्पः सादिरध्रुवश्च बन्धो भवतीत्यर्थः । आयुषो हि उत्कृष्टादिबन्धो वेद्यमानायुषस्त्रिभागादौ प्रतिनियतकाल एव बध्यमानत्वात् सादिः, अन्तर्मुहूर्ताच्च परमवश्यमुपरमत इत्यध्रुव इति ॥४६॥

चउभेओ अजहन्नो, संजलणावरणनवगविग्घाणं ।
सेसतिगि साइअधुवो, तह चउहा सेसपयडीणं ॥४७॥

संज्वलनानां–क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणानां चतुर्णाम् आवरणनवकस्य-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्कलक्षणस्य विघ्नानां पञ्चानां-दान–लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायलक्षणानां सम्बन्धी अजघन्यो बन्धः 'चतुर्भेदः, सादि-अनादि-ध्रुवा-ऽध्रुवलक्षणश्चतुर्विकल्पो भवति । तथाहि-एतासामष्टादशप्रकृतीनां पूर्वोक्तयुक्तित एवोपशमश्रेणौ बन्धव्यवच्छेदं कृत्वा प्रतिपत्य पुनरजघन्यं

बध्नतः सादिस्तद्बन्धः, तत्स्थानमप्राप्तपूर्वस्यानादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम् , अध्रुवो भव्यानामिति सर्वमिह पूर्ववदेव भावनीयम् । एतासामेव प्रकृतीनां "सेसतिगि साइअधुवु" त्ति 'शेषत्रिके' जघन्योत्कृष्टाऽनुत्कृष्टलक्षणे सादिरध्रुवश्च द्विविधो भवति । तथाहि—संज्वलनचतुष्टयस्य क्षपकाऽनिवृत्तिबादरगुणस्थाने आत्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेदसमये जघन्यो बन्धो ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां चतुर्दशप्रकृतीनां सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे जघन्यः । स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, तत ऊर्ध्वं न भवतीत्यध्रुवः । उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टेष्वप्यारोहणावतरणे कुर्वतां जन्तूनां साद्यध्रुवत्वं तथैव भावनीयमिति ।

"तह चउहा सेसपयडीणं" ति 'शेषप्रकृतीनां' भणिताष्टादशप्रकृतिभ्य उद्धरितानां द्व्युत्तरशतसङ्ख्यानां प्रकृतीनां चतुर्धा उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यलक्षणश्चतुर्विकल्पः "तह" त्ति सादिरध्रुवश्च भवति । तथाहि—निद्रापञ्चक–मिथ्यात्व–प्रथमद्वादशकषाय-भय-जुगुप्सा–तैजस-कार्मण-वर्णादिचतुष्का-ऽगुरुलघुउपघात-निर्माणलक्षणानामेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनां सर्वविशुद्धबादरपर्याप्तैकेन्द्रियो जघन्यस्थितिबन्धं विदधाति, ततोऽन्तर्मुहूर्तं संक्लिष्टो भूत्वा अजघन्यबन्धं करोति, ततस्तत्रैव भवे भवान्तरे वा विशुद्धिमासाद्य पुनरपि स एव जघन्यबन्धं निर्मापयतीत्येवं जघन्याऽजघन्ययोः परावृत्तिर्भवतीति द्वावप्येतौ जघन्याऽजघन्यौ सादि-अध्रुवौ भवतः । उत्कृष्टं बन्धं पुनरेतासां सर्वसंक्लिष्टपञ्चेन्द्रियो विदधाति, अन्तर्मुहूर्ताच्च पुनरपि अनुत्कृष्टबन्धं विरचयति, ततः पुनरपि कदाचिदुत्कृष्टमित्येवं परावृत्तिवशत एतावपि सादि-अध्रुवौ भवतः । शेषाणामध्रुवबन्धिनीनामौदारिकद्विक-वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विक-संस्थानषट्क-संहननषट्क-जातिपञ्चक-गतिचतुष्क-विहायोगतिद्विका-ऽऽनुपूर्वीचतुष्टय-जिननाम-उच्छ्वासनाम-उद्योतनामा-ऽऽतपनाम-पराघात-त्रसदशक -स्थावर-दशक-उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्र-साता–ऽसातवेदनीय–हास्य--रति-अरति-शोक-वेदत्रिका ऽऽयुश्चतुष्टयलक्षणानां त्रिसप्ततिप्रकृतीनां जघन्यादिस्थितिबन्धः सर्वोऽप्यध्रुवबन्धित्वादेव सादिरध्रुवश्चे ति ॥४७॥

निरूपिताः स्थितिबन्धे साद्यादिभङ्गाः । अधुना स्थितिमेव सामान्यतो गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह—

साणाइअपुव्वंते, अयरंतोकोडिकोडिओ नऽहिगो ।
बंधो न हु हीणो न य, मिच्छे भविअयरसन्निम्मि ॥ ४८ ॥

प्राकृतत्वान्निर्देशस्य सास्वादनमादौ यस्य तत् सास्वादनादि, अपूर्वकरणमन्ते यस्य गुणस्थानककदम्बकस्य तद् अपूर्वान्तम् , सास्वादनादि च तद् अपूर्वान्तं च सास्वादनाद्यपूर्वान्तं तस्मिन् सास्वादनाद्यपूर्वान्ते गुणस्थानककदम्बकेऽतराणां–सागरोपमाणाम् अन्तर्-मध्ये कोटीकोटी अतरान्तःकोटीकोटी तस्या अतरान्तःकोटीकोटीतः, आद्यादेराकृतिगणत्वात् तस्प्रत्ययः, 'न'

नैवाऽधिको बन्धो भवति, किन्तु, मिथ्यादृष्टेरेव भवतीति सामर्थ्याद् गम्यते । इदमुक्तं भवति—सास्वादनादिनामपूर्वकरणान्तानां भिन्नग्रन्थिकत्वात् सागरोपमान्तःकोटीकोटीरूपैव स्थितिर्युज्यते, न तु परतोऽपि । ननु भिन्नग्रन्थिकानप्याश्रित्य सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणो मिथ्यात्वस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः **कर्मप्रकृत्या**दिषु निरूपितः तत् कथमुच्यते भिन्नग्रन्थिकत्वादन्तःकोटीकोटीरूपैव स्थितिर्युज्यते न परतोऽपि ? सत्यम् , अस्ति भिन्नग्रन्थिकानामुत्कृष्टोऽपि स्थितिबन्धः, केवलं परित्यज्य सम्यक्त्वं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकं प्राप्तानामेवासौ सम्भवति, अत्र तु भिन्नग्रन्थिकानां सास्वादनादीनामेवान्तःसागरोपमकोटीकोटीपरतः स्थितिबन्धो निषिध्यत इत्यदोषः । यत् पुनः "[1]बंधेण न वोलइ कयाई" इति वचनाद् **आवश्यका**दिषु भिन्नग्रन्थिकस्य मिथ्यादृष्टेरप्युत्कृष्टः स्थितिबन्धः प्रतिषिध्यते तत् **सैद्धान्तिक**मतमेव । **कार्मग्रन्थिका**भिप्रायतस्तु भिन्नग्रन्थिभिर्मिथ्यात्वस्योत्कृष्टाऽपि स्थितिर्बध्यते, केवलं तथाविधतीव्रानुभागयुक्ताऽसौ न भवति ।

ननु सागरोपमान्तःकोटीकोटीतः समर्गलतरः सास्वादनादीनां बन्धो मा भूद् अधस्तात् ततो भवति वा न वा ? इत्याह—'न हु' नैव 'हीनः' न्यूनः सागरोपमान्तःकोटीकोटीतः सकाशात् स्थितिबन्धो भवति । एतदुक्तं भवति—सास्वादनादिष्वपूर्वकरणपर्यवसानेषु गुणस्थानकेषु सागरोपमान्तःकोटीकोटीप्रमाणैव स्थितिर्भवति, नाधिका नाप्यूनेत्यर्थः ।

ननु यदा एकेन्द्रियादिः सास्वादनगुणस्थानी भवति तदा सागरोपमत्र्यादिसप्तभागरूपमेव स्थितिबन्धं विधत्ते, अतः सास्वादनाद्यपूर्वान्तेषु न हु हीनो बन्ध इति कथं घटाकोटीमाटीकते ?, सत्यमेतत् , केवलं कादाचित्कोऽसौ न सार्वदिक इति न तस्य विवक्षा कृतेति सम्भावयामि ।

अपूर्वकरणात् परतोऽनिवृत्तिकरणादौ सागरोपमान्तःकोटीकोटीतोऽपि हीनः स्थितिबन्धो भवतीति सामर्थ्याद् गम्यते ।

अथ किं सास्वादनादिष्वेवान्तःसागरोपमकोटीकोटीतो हीनः स्थितिबन्धो न लभ्यते ? आहोश्विन्मिथ्यादृष्टेरपि प्रतिविशिष्टस्य कस्यचिज्जन्तोः ? इत्याह—"न य मिच्छे भव्वियरसन्निम्मि" त्ति 'न च' नैव "मिच्छे" त्ति मिथ्यादृष्टौ, संज्ञिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् भव्यश्चासौ संज्ञी च भव्यसंज्ञी तस्मिन् भव्यसंज्ञिनि, इतरश्च—अभव्यः स चासौ संज्ञी चेतरसंज्ञी तस्मिन्नितरसंज्ञिनि अभव्यसंज्ञिनीत्यर्थः, आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मप्रकृतीनां सागरोपमान्तःकोटीकोटीतो हीनो भवति । भव्यसंज्ञी मिथ्यादृष्टिरिति ग्रहणाद् भव्यसंज्ञिनः कस्मिंश्चिद् गुणस्थानकेऽनिवृत्तिबादरादौ हीनोऽपि बन्धो भवतीत्याचष्टे । संज्ञिग्रहणा[2]च्चाऽभव्येऽप्यसंज्ञिनि हीन एव, प्रतिनियतसप्तभागरूपाया एव प्रागसंज्ञिनः प्रतीत्य स्थितेर्भणनात् । अभव्यसंज्ञिनि तु सागरोपमान्तःकोटीकोटीतो हीनो बन्धो

---

१ बन्धेन न अतिक्रामति कदाचित् ॥ २ त० च्च भव्येऽप्य० ॥

न भवत्येव, यतो भिन्नग्रन्थिकस्यैव हीनो बन्धः स्यात्, अभव्यसंज्ञी चोत्कृष्टतोऽपि ग्रन्थिप्रदेशमेवाभ्येति, तदनन्तरं ग्रन्थिं प्राप्य भूयोऽपि निवर्तते, निवर्त्य च प्रभूतं स्थितिबन्धं करोतीति ॥४८॥

निरूपितः सर्वगुणस्थानकेषु स्थितिबन्धः। साम्प्रतमेकेन्द्रियादिजीवानाश्रित्य स्थितिबन्धानामेवाल्पबहुत्वं गाथात्रयेणाह–

जइलहुबंधो बायर, पज्ज असंखगुण सुहुमपज्जऽहिगो।
एसि अपज्जाण लहू, सुहुमेअरअपजपज्ज गुरू ॥४९॥

सर्वस्तोको यतिलघुबन्धो जघन्यस्थितिबन्ध इत्यर्थः, सूक्ष्मसम्पराये आन्तर्मौहूर्तिक एव भवतीति कृत्वा १। ततो यतिलघुस्थितिबन्धाद् बादरपर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धोऽसङ्ख्यातगुणः २। ततः सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धः "अहिगु" त्ति विशेषाधिकः ३। ततः "एसिं" ति अनयोर्बादर-सूक्ष्मयोरपर्याप्तयोः "लघु" त्ति जघन्यस्थितिबन्धोऽधिको वाच्यः। अयमर्थः–ततः सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धाद् बादरापर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः ४, ततः सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः ५। "सुहुमेयरअपजपज्ज गुरु" त्ति ततः सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियस्य "गुरु" त्ति उत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः ६, ततः "इयर" त्ति बादरापर्याप्तैकेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः ७, ततः सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः ८, ततो बादरपर्याप्तैकेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः ९ ॥४९॥

लहु बिय पज्जअपज्जे, अपजेयर बिय गुरू हिगो एवं।
ति चउ असन्निसु नवरं, संखगुणो बियअमणपज्जे ॥५०॥

ततः "लहु" त्ति 'लघुः' जघन्यः स्थितिबन्धः "बिय" त्ति द्वीन्द्रिये "पज्ज" त्ति पर्याप्ते वाच्यः। कियत्प्रमाणः? इत्याह–"संखगुणो बियअमणपज्जे" इति वचनात् सङ्ख्यातगुण इत्यर्थः। ततस्तस्मिन्नेवापर्याप्तेऽधिको लघुः स्थितिबन्धः, ततोऽपर्याप्तेतरद्वीन्द्रिये गुरुः स्थितिबन्धोऽधिको वाच्यः। एवं द्वीन्द्रियोक्तप्रकारेण "ति" त्ति त्रीन्द्रिये पर्याप्ता-पर्याप्ते लघुस्थितिबन्धौ द्वौ, त्रीन्द्रिये एवापर्याप्त-पर्याप्ते द्वौ गुरुस्थितिबन्धौ वाच्यौ। "चउ" त्ति चतुरिन्द्रिये पर्याप्ता-पर्याप्ते लघुस्थितिबन्धौ द्वौ, चतुरिन्द्रिये एवापर्याप्त-पर्याप्ते गुरुस्थितिबन्धौ द्वौ वाच्यौ। "असन्निसु" त्ति असंज्ञिनि पर्याप्ता-ऽपर्याप्ते लघुस्थितिबन्धौ द्वौ, असंज्ञिनि एवापर्याप्त-पर्याप्ते गुरुस्थितिबन्धौ द्वौ वाच्यौ। किंप्रमाणाः पुनरेते स्थितिबन्धा वाच्याः? इत्याह–"अहिगु" त्ति 'अधिकाः' विशेषाधिका वाच्याः। किं सर्वेऽपि स्थितिबन्धा विशेषाधिका एव वाच्याः?

उताहो कुत्रचिदस्ति विशेषोऽपि ? इत्याह--"नवरं संखगुणो बियअमणपज्जे" त्ति 'नवरं' केवलमियान् विशेषः, सङ्ख्यातगुणो वाच्यः, पर्याप्तशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् द्वीन्द्रिये पर्याप्ते असंज्ञिनि पर्याप्ते, अन्यत्र सामर्थ्यात् सर्वत्र विशेषाधिक इति गाथाक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयम्-बादरपर्याप्तैकेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धाद् द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः १० ततोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः ११ ततोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १२ ततः पर्याप्तद्वीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १३ ततः पर्याप्तत्रीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १४ ततोऽपर्याप्तत्रीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १५ ततोऽपर्याप्तत्रीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १६ ततः पर्याप्तत्रीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १७ ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १८ ततोऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १९ ततोऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः २० ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः २१ ततः पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सङ्ख्यातगुणः २२ ततोऽपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः २३ ततोऽपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः २४ ततः पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः २५ ॥५०॥

तो जइजिट्ठो बंधो, संखगुणो देसविरय हस्सियरो
सम्मचउ सन्निचउरो, ठिइबंधाणुकम संखगुणा ॥ ५१ ॥

ततो यतेः--संयतस्य ज्येष्ठो बन्धः सङ्ख्यातगुणः, ततो देशविरतस्य 'ह्रस्वः' जघन्यः 'इतरः' उत्कृष्टः, ततः "सम्मचउ" त्ति सम्यग्दृष्टेश्चत्वारः स्थितिबन्धाः क्रमेण भवन्ति। तद्यथा--अविरतसम्यग्दृष्टेः पर्याप्तस्य जघन्यस्तस्यैव चोत्कृष्टः स्थितिबन्ध इति द्वौ, एवमपर्याप्तस्यापि द्वौ, मिलिताश्चत्वार इति। "सन्निचउरु" त्ति संज्ञिनां-संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां मिथ्यादृष्टीनामिति सामर्थ्याद् गम्यते चत्वारः स्थितिबन्धाः, तद्यथा-संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्योत्कृष्टभेदाद् द्वौ, एवमपर्याप्तस्यापि जघन्योत्कृष्टभेदाद् द्वौ एव स्थितिबन्धाविति सर्वे चत्वारः। एते प्रदर्शितरूपाः सर्वेऽपि स्थितिबन्धा यथा यावद्गुणा भवन्ति तदाह-"ठिइबंधाणुकम संखगुण" त्ति स्थितीनां बन्धाः स्थितिबन्धाः-प्रदर्शितरूपाः 'अनुक्रमेण' उत्तरोत्तरपरिपाट्या 'सङ्ख्यगुणाः, सङ्ख्येयगुणा भवन्तीत्यक्षरार्थः। भावार्थः पुनरयम्-पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धाद् यतेरुत्कृष्टः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः २६ ततो देशविरतस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः २७ ततो देशविरतस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः २८ ततोऽविरतापर्याप्तस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः २९ ततः पर्याप्ताविरतस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः ३०

ततोऽपर्याप्ताविरतस्य उत्कृष्टः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः ३१ ततः पर्याप्ताविरतस्य उत्कृष्टः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः ३२ ततोऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः ३३ ततः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः ३४ ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः ३५ ततः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः ३६ ॥ अथैतद्गाथात्रयोक्ताल्पबहुत्वपदानां सुखावबोधार्थं विनेयजनानुग्रहाय यन्त्रकमुपदर्श्यते, तच्चेदम्—

एकोनपञ्चाशत्तमगाथाया यन्त्रम् ।

संयतस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सर्वस्तोकः १	बादरप० एके० ज० स्थि०असंख्यातगुणः२	सूक्ष्मप० एके० ज० स्थि० विशेषाधिकः३	बादराप० एके० ज० स्थि० विशेषाधिकः ४	सूक्ष्माप० एके० ज० स्थि० विशेषाधिकः ५
	बादरप० एके० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिकः ९	सूक्ष्मप० एके० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिकः ८	बादराप० एके० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिकः ७	सूक्ष्माप० एके० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिकः ६

पञ्चाशत्तमगाथाया यन्त्रम् ।

द्वीन्द्रियप० ज० स्थि० संख्येयगुणः १०	अप० द्वीन्द्रि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिकः १२	पर्या० त्रीन्द्रि० ज० स्थि० विशेषाधिकः १४	अप० त्रीन्द्रि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिकः १६
अप० द्वीन्द्रि० ज० स्थि० विशेषाधिकः ११	पर्या० द्वीन्द्रि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिकः १३	अप० त्रीन्द्रि० ज० स्थि० विशेषाधिकः १५	पर्या० त्रीन्द्रि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिकः १७
पर्या० चतुरि० ज० स्थि० विशेषाधिकः १८	अप० चतुरि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिकः २०	पर्याप्तासंज्ञिपञ्चे० ज० स्थि० संख्यातगुणः २२	अपर्याप्तासंज्ञिपञ्चे० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिकः २४
अप० चतुरि० ज० स्थि० विशेषाधिकः १९	पर्या० चतुरि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिकः २१	अपर्याप्तासंज्ञिपञ्चे० ज० स्थि० विशेषाधिकः २३	पर्याप्तासंज्ञिपञ्चे० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिकः २५

एकपञ्चाशत्तमगाथाया यन्त्रम् ।

संयतस्य उत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः २६	देशवि० ज० स्थि० संख्येयगुणः २७	अविरतापर्या० ज० स्थि० संख्येयगुणः २९	अप० अविर० उत्कृ० स्थि० संख्येयगुणः ३१	अप० संज्ञिपञ्चे० ज० स्थि० संख्येयगुणः ३३	संज्ञिपञ्चे० अप० उत्कृ० स्थि० संख्येयगुणः ३५
	देशवि० उत्कृ० स्थि० संख्येयगुणः २८	पर्या० अवि० ज० स्थि० संख्येयगुणः ३०	पर्या० अविर० उत्कृ० स्थि० संख्येयगुणः ३२	पर्या० संज्ञिपञ्चे० ज० स्थि० संख्येयगुणः ३४	पर्या० संज्ञिपञ्चे० उत्कृ० स्थि० संख्येयगुणः ३६

अत्र च विशेषानिर्देशेऽपि संयतोत्कृष्टस्थितिबन्धादारभ्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तोत्कृष्टस्थितिबन्धं यावद् ये केचन स्थितिबन्धा निरूपितास्ते सर्वेऽपि सागरोपमान्तः कोटीकोटीप्रमाणा एवावसेयाः, कर्मप्रकृत्यादिषु तथैवोक्तत्वात् । सर्वोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तु संज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टेः पर्याप्तस्यैव भवति नान्यस्य, " [1]सव्वाण वि पयडीणं, उक्कोसं सन्निणो कुणंति ठिइं" (पञ्चसं० गा० २७०) इति वचनात् ॥५१॥

तदेवं स्थितिबन्धस्याल्पबहुत्वद्वारेण स्वामिनश्चिन्तिताः । अधुना कर्मस्थितेरेव शुभा-ऽशुभप्ररूपणां प्रत्ययप्ररूपणागर्भामाह—

सव्वाण वि जिट्ठ ठिई, असुभा जं साऽइसंकिलेसेणं ।
इयरा विसोहिओ पुण, मुत्तुं नरअमरतिरियाउं ॥५२॥

'सर्वासामपि' शुभानामशुभानामपि कर्मप्रकृतीनां 'ज्येष्ठा स्थितिः' उत्कृष्टा स्थितिः 'अशुभा' अप्रशस्ता, कुतो हेतोः ? इत्याह—"जं साऽइसंकिलेसेणं" ति 'यद्' यस्मात् कारणात् 'सा' ज्येष्ठा स्थितिः 'अतिसंक्लेशेन' अत्यन्ततीव्रकषायोदयेनोत्कृष्टस्थितिबन्धाध्यवसायस्थानकेन जन्तुभिर्बध्यत इति शेषः । ननु कैः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैरियमुत्कृष्टा स्थितिर्निर्वर्त्यते ? इति चेद् उच्यते—इह ज्ञानावरणादिकर्मणः सर्वजघन्याया अपि स्थितेर्निर्वर्तकानि यथोत्तरं विशेषवृद्धानि असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति । एतैश्च सर्वैरप्येकैव जघन्या स्थितिर्नानाजीवानाश्रित्य जन्यते, पृथगनेकशक्त्युपेतबहुपुरुषैर्वारकवारकेण निर्वर्त्यमानकटाद्येककार्यवत् । ततः समयोत्तरां स्थितिं यानि निर्वर्तयन्ति तान्यपि यथोत्तरं विशेषवृद्धानि असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यन्यानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति, केवलं पूर्वेभ्यो विशेषाधिकानि । ततो द्विसमयोत्तरां स्थितिं निर्वर्तयन्ति यानि तान्यनन्तरेभ्योऽपि विशेषाधिकानि, त्रिसमयाधिकां तु तां यानि निर्वर्तयन्ति तान्यमीभ्योऽपि विशेषाधिकानि, तामेव चतुःसमयाधिकां यानि निर्वर्तयन्ति तानि तेभ्योऽपि विशेषाधिकानि, एवं तावन्नेयं यावत् सर्वोत्कृष्टां स्थितिं यानि निर्वर्तयन्ति तान्यपि समयोनोत्कृष्टस्थितिजनकाध्यवसायस्थानेभ्योऽन्यानि विशेषाधिकानि असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि यथोत्तरं विशेषवृद्धानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति । एतानि च स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमास्तृणन्ति ।

स्थापना—

तत्र प्रथमपङ्क्तावप्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि द्रष्टव्यानि, किन्त्वसत्कल्पनया चतुःसङ्ख्यात्वेन दर्शितानि, द्वितीयादिपङ्क्तिषु तान्येव विशेषाधिकानीति पञ्चादित्वेन दर्शितानि । एताश्चैवं पङ्क्तयो जघन्यायाः स्थितेरारभ्य यावदुत्कृष्टा

[1] सर्वासामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टां संज्ञिनः कुर्वन्ति स्थितिम् ॥

स्थितिस्तावत्समया भवन्ति तावत्प्रमाणा असङ्ख्येया द्रष्टव्याः, असत्कल्पनया च पञ्च दर्शिताः ।

तत्रैतत्स्यात्—इहैकस्थितिजनकान्यप्यध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्येयानि परस्परं विचित्राण्यभ्युपगम्यन्ते, तद्वैचित्र्याभ्युपगमे च स्थितेरपि वैचित्र्यं प्राप्नोतीति, तदयुक्तम् , तानि ह्येकस्थितिजनकान्यपि सन्ति क्षेत्र-काला-ऽनुभाग-योगादिवैचित्र्याद् विचित्राण्युच्यन्ते, न स्थितिमाश्रित्य, तेषामेकस्थितिजनकाविशेषेण वैचित्र्यासिद्धेरित्यलमप्रस्तुतेन । प्रस्तुतमुच्यते—इह सर्वोत्कृष्टस्थितिजनकानि चरमपङ्क्तिनिदर्शितानि यानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि तेषां मध्ये यच्चरममध्यवसायस्थानं तदुत्कृष्टसंक्लेश उच्यते, तेषामेवाद्यमीषदुच्यते, उभयान्तरालवर्तीनि तु मध्यमानि, ततश्चैतैरीषन्मध्यमोत्कृष्टैः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैरुत्कृष्टा स्थितिर्बध्यते । अथवा चरमस्थितिबन्धाध्यवसायस्थानमुत्कृष्टसंक्लेश उच्यते, शेषाणि तु चरमपङ्क्तिनिदर्शितानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि ईषन्मध्यमान्युच्यन्ते, तैश्चरमपङ्क्तिनिदर्शितैः सर्वोत्कृष्टस्थितिजनकैः सर्वैरपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैरुत्कृष्टा स्थितिर्जन्यत इति भावः । यदुक्तं बृहच्छतके ज्येष्ठस्थितिबन्धप्रस्तावे—

[1]उक्कोससंकिलेसेण ईसिमह मज्झिमेणावि ॥ (गा० ६२)

ततश्चायं प्रस्तुतार्थः—सर्वासामपि प्रकृतीनां ज्येष्ठा स्थितिरशुभा, यस्मात् साऽतिसंक्लेशेनात्यन्ततीव्रकषायोदयेन बध्यते । एतदुक्तं भवति—सर्वासां शुभानामशुभानां च प्रकृतीनां स्थितयः संक्लेशवृद्धौ वर्धन्ते तदपचये तु हीयन्त इत्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां संक्लेशमेव स्थितयोऽनुवर्तन्ते इत्यशुभाः, अशुभकारणनिष्पन्नत्वात् , अशुभवृक्षाशुभफलवत् । नन्वेवं तर्हि "ठिइ अणुभागं कसायओ कुणइ" (शत० गा० ९९) इति वचनाद् अनुभागोऽपि कषायप्रत्यय एव, ततोऽयमप्यशुभकारणत्वाद् अशुभ एव प्राप्नोति, अथ च शुभप्रकृतीनामसौ शुभ एवेष्यत इति, नैवम् , अभिप्रायापरिज्ञानात् , यतः सत्यपि हि कषायजन्यत्वे कषायवृद्धावनुभागोऽशुभप्रकृतीनामेव वर्धते शुभानां तु परिहीयत एव, कषायमन्दतया तु शुभप्रकृतीनामेवानुभागो वर्धतेऽशुभप्रकृतीनां तु हीयत इति न कषायमनुवर्तते ।

स्थितयस्तु शुभानामशुभानां च प्रकृतीनां कषायवृद्धौ नियमाद् वर्धन्ते तदपचये त्वपचीयन्त इत्येकान्तेन कषायान्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वाद् अशुभा एवेति । यदि वा यथा यथा शुभप्रकृतीनां स्थितिर्वर्द्धते तथा तथा शुभानुभागस्तत्सम्बन्धी हीयते, परिगालितरसेक्षुयष्टिकल्पानि शुभकर्माणि भवन्तीत्यर्थः, अशुभप्रकृतीनां तु स्थितिवृद्धावशुभरसोऽपि तत्सम्बन्धी वर्धत एवेत्यतोऽपि कारणात् स्थितीनामेवाशुभत्वम् , तद्वृद्धेः शुभानुभागक्षयहेतुत्वाद् अशुभानुभागवृद्धिहेतुत्वाच्चेति ।

---

१ उत्कृष्टसंक्लेशेन ईषदथ मध्यमेनापि ॥

ननु ज्येष्ठा स्थितिः संक्लेशेन बध्यते, जघन्या तु किंप्रत्यया ? इत्याह–"इयरा विसोहिओ पुण" त्ति 'इतरा' जघन्या पुनः 'विशोधितः' विशुद्ध्या कषायापचयरूपया बध्यते।

इदमुक्तं भवति–इह ये ये विवक्षितमूलोत्तरप्रकृतीनां बन्धकास्तेषां मध्ये यो यः सर्वोत्कृष्टविशुद्धियुक्तः स तत्तद्विवक्षितकर्मस्थितिं जघन्यां बध्नातीति भावः । किं सर्वप्रकृतीनामयमेव न्यायः ? यदुतोत्कृष्टा स्थितिः संक्लेशेनैव बध्यते अशुभा च भवति, जघन्या पुनर्विशुद्ध्यैव ?, न, इत्याह–"मुत्तु' नरअमरतिरियाउं" ति आयुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् 'मुक्त्वा' त्यक्त्वा नरायुरमरायुस्तिर्यगायुः । अयमर्थः–नरा-ऽमर-तिर्यगायुषां स्थितिं मुक्त्वा शेषस्थितीनामेवाऽशुभत्वं द्रष्टव्यम्, एतत्स्थितिः पुनः शुभैव भवतीत्यर्थः, विशुद्धिलक्षणस्य तत्कारणस्य शुभत्वात् । मनुष्य-तिर्यगायुषोर्हि वृद्धिस्त्रिपल्योपमावसाना, देवायुषस्तु वृद्धिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमावसानाऽपि शुभा, विशुद्धिलक्षणस्य तत्कारणस्य शुभत्वात्, विशुद्धितारतम्यादेव च भवति, अतो मनुष्य-तिर्यग्-देवायुःस्थितिः शुभा, शुभकारणप्रभवत्वात्, शुभद्रव्यनिष्पन्नघृतपूर्णादिद्रव्यवदिति। अथवा प्रस्तुतायुष्कत्रयस्थितिवृद्धौ रसोऽपि वर्धते, स च शुभः, सुखजनकत्वाद् इत्यतोऽपि प्रस्तुतायुष्कस्थितेः शुभत्वम्, तद्वृद्धेः शुभरसवृद्धिहेतुत्वात् । किञ्च नरा-ऽमर-तिर्यगाऽऽयुर्लक्षणं प्रकृतित्रयं मुक्त्वा शेषप्रकृतीनां प्रकृष्टसंक्लेशविशुद्धिभ्यां स्थित्युपचया-ऽपचयौ द्रष्टव्यौ, प्रस्तुतायुस्त्रयस्य तु तद्बन्धकेषु सर्वोत्कृष्टविशुद्धिः उत्कृष्टस्थितिबन्धं करोति, सर्वजघन्यसंक्लिष्टस्तु सर्वजघन्यमिति [1]विपरीतं तद् द्रष्टव्यमिति ॥५२॥

सर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टसंक्लेशेन कषायरूपेण बध्यत इत्युक्तम्, न च केवलकषायेण स्थितिर्बध्यते किं तर्हि ? योगसहचरितेन, अतस्तं योगं सर्वजीवेष्वल्पबहुत्वद्वारेण चिन्तयन्नाह–

सुहुमनिगोयाइखणऽप्पजोग बायरयविगलअमणमणा ।
अपज्ज लहु पढमदुगुरु, पज हस्सियरो असंखगुणो ॥ ५३ ॥

इह योगो वीर्यं स्थाम इत्यादि पर्यायाः । तथा चाह–

[2]योगो विरियं थामो, उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा ।
सत्ती सामत्थं चिय, जोगस्स हवंति पज्जाया ॥ (पञ्चसं० गा० ३९६)

स च योगस्त्रिधा–मनोयोगो वाग्योगः काययोगश्चेति । उक्तं च **कर्मप्रकृतौ**–

परिणामा-ऽऽलंबण-गहणसाहणं तेण लद्धनामतिगं ।
कज्जब्भासा-ऽन्नुन्नप्पवेसविसमीकयपएसं ॥ (गा० ४)

---

१ सं० १-२ त० ०परीतं द्रष्ट० ॥ २ योगो वीर्यं स्थाम उत्साहः पराक्रमस्तथा चेष्टा । शक्तिः सामर्थ्यं चैव योगस्य भवन्ति पर्यायाः ॥

अस्या अक्षरगमनिका—परिणमनं परिणामः, अन्तर्भूतणिगर्थाद् घञ्प्रत्ययः, परिणामापादनमित्यर्थः, आलम्ब्यत इत्यालम्बनं भावेऽनट्प्रत्ययः, गृहीतिर्ग्रहणम्, तेषां साधनं—साध्यतेऽनेनेति साधनं-योगसंज्ञं वीर्यं "करणाधारे" (सिद्ध० ५-३-१२९) इत्यनट्प्रत्ययः । तथाहि—'तेन' वीर्यविशेषेण योगसंज्ञितेनौदारिकादिशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलान् प्रथमतो 'गृह्णाति, गृहीत्वा च प्राणा-ऽपानादिरूपतया परिणमयति, परिणमय्य च तन्निसर्गहेतुसामर्थ्यविशेषसिद्धये तानेव पुद्गलानवलम्बते, यथा मन्दशक्तिः कश्चिन्नगरे परिभ्रमणाय यष्टिमवलम्बते, ततस्तदवष्टम्भतो जातसामर्थ्यविशेषः सन् तान् प्राणा-ऽपानादिपुद्गलान् विसृजतीति परिणामा-ऽऽलम्बन-ग्रहणसाधनं वीर्यम् । तेन च वीर्येण योगसंज्ञकेन मनोवाक्कायावष्टम्भतो जायमानेन "लद्धनामतिगं"ति लब्धं नामत्रिकं[2] मनोयोगो वाग्योगः काययोग इति । तत्र मनसा करणभूतेन योगो मनोयोगः, वाचा योगो वाग्योगः, कायेन योगः काययोगः । स्यादेतत्—सर्वेषु जीवप्रदेशेषु तुल्यक्षायोपशमिक्यादिलब्धिभावेऽपि किमिति क्वचित् स्तोकं क्वचित् प्रभूतं क्वचित् स्तोकतरमित्येवं वैषम्येण वीर्यमुपलभ्यते ? इत्यत आह—"कज्ज" इत्यादि । यदर्थं चेष्टते तत् कार्यं तस्याभ्याशः—अभ्यशनमभ्याशः "अशूट् व्याप्तौ" इत्यस्याभिपूर्वस्य घञन्तस्य प्रयोगः, कार्याभ्याशः--कार्यस्यासन्नता निकटीभवनमित्यर्थः, तथा जीवप्रदेशानामन्योऽन्यं--परस्परं प्रवेशः--शृङ्खलावयवानामिव परस्परं सम्बन्धविशेषः, ताभ्यां कृत्वा विषमीकृताः--सुप्रभूता-ऽल्पा-ऽल्पतरसद्भावतो विसंस्थुलीकृताः[3] प्रदेशा येन वीर्येण तत् कार्याभ्याशा-ऽन्योन्यप्रवेशविषमीकृतप्रदेशम् । तथाहि--येषामात्मप्रदेशानां हस्तादिगतानामुत्पाद्यमानघटादिलक्षणकार्यनैकट्यं तेषां प्रभूततरा चेष्टा, दूरस्थानामंसादिगतानां स्वल्पा, दूरतरस्थानां तु पादादिगतानां स्वल्पतरा, अनुभवसिद्धं चैतत्, अपि च लोष्टादिना निर्घाते सति यद्यपि सर्वप्रदेशेषु युगपद् वेदनोपजायते तथापि येषामात्मप्रदेशानामभिघातकलोष्टादिद्रव्यनैकट्यं तेषां तीव्रतरा वेदना, शेषाणां तु मन्दा मन्दतरा; तथेहापि जीवप्रदेशेषु परिस्पन्दात्मकं वीर्यमुपजायमानं कार्यद्रव्याभ्याशवशतः केषुचित् प्रभूतमन्येषु मन्दमपरेषु मन्दतमं भवति । एतच्चैवं जीवप्रदेशानां परस्परं सम्बन्ध[4]विशेषे भवति नान्यथा, यथा शृङ्खलावयवानाम् । तथाहि—तेषां शृङ्खलावयवानां परस्परं सम्बन्धविशेषे सति एकस्मिन्नवयवे परिस्पन्दमानेऽपरेऽप्यवयवाः परिस्पन्दन्ते, केवलं केचित् स्तोकमपरे तु स्तोकतरमिति, सम्बन्धविशेषाभावे त्वेकस्मिंश्चलति नापरस्यावश्यम्भावि चलनम्, यथा गो-पुरुषयोः । तस्मात् कार्यद्रव्याभ्याशवशतो जीवप्रदेशानां परस्परं सम्बन्धविशेषतश्च वीर्यं जीवप्रदेशेषु केषुचित् प्रभूतमन्येषु स्तोकमपरेषु तु स्तोकतरमित्येवं वैषम्येणोपजायमानं न विरुध्यत इत्यलं विस्तरेण ॥

१ कर्मप्रकृतिवृत्तौ तु-०ह्णाति गृहीत्वा चौदारिकादिरूपतया परिणमयति, तथा प्राणा-ऽपान-भाषा-मनोयोग्यान् पुद्गलान् प्रथमतो गृह्णाति गृ० इत्येवंरूपः पाठः ॥ २ °कं । तद्यथा-मनो° इति कर्मप्रकृतिवृत्तौ ॥ ३ कर्मप्रकृतिवृत्तौ तु-°शाः जीवप्रदेशा येन जीववी० इत्येवंरूपः पाठः ॥ ४ ०न्धविशेषे सति भव० इति कर्मप्रकृतिवृत्तौ ॥

प्रकृतं प्रस्तुमः–तत्र सूक्ष्मनिगोदस्य–सूक्ष्मसाधारणस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य सर्वजघन्यवीर्यस्येति च सामर्थ्याद् दृश्यम्, तस्यैव सर्वजघन्ययोगस्य प्राप्यमाणत्वाद्, आदिक्षणः–प्रथमोत्पत्तिसमयः सूक्ष्मनिगोदादिक्षणस्तत्र, सप्तम्येकवचनलोपश्च प्राकृतत्वात्। किम्? इत्याह–"अप्पजोग" त्ति अल्पः–सर्वस्तोको योगः–वीर्यं व्यापार इति यावत्। ततो बादरस्य "विगल" त्ति विकलत्रिकस्य "अमण" त्ति असंज्ञिनः "मण" त्ति संज्ञिनः "अपज्ज" त्ति प्रत्येकं सम्बन्धात् सूक्ष्मादीनां सप्तानामप्यपर्याप्तानां "लहु" त्ति जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणो वाच्यः, आदिक्षण इत्यपि सर्वत्र वाच्यम्, ततः प्रथमद्विकस्य–अपर्याप्तसूक्ष्मनिगोद-बादरलक्षणस्य 'गुरुः' उत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणो वाच्यः। ततः प्रथमद्विकस्य "पज हस्सियरो असंखगुणो" त्ति पर्याप्तस्य ह्रस्वः–जघन्य इतरः–उत्कृष्टयोगो यथाक्रममसङ्ख्येयगुणो वाच्य इति गाथाक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयम्–सूक्ष्मनिगोदस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगः सर्वस्तोकः १ ततो बादरैकेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः २ ततो द्वीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः ३ ततस्त्रीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगऽसङ्ख्येयगुणः ४ ततश्चतुरिन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः ५ ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः ६ ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः ७ ततः सूक्ष्मनिगोदस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः ८ ततो बादरैकेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः ९ ततः सूक्ष्मनिगोदस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः १० ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः ११ ततः सूक्ष्मनिगोदस्य पर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः १२ ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः १३ ॥५३॥

असमत्ततसुक्कोसो, पज्ज जहन्नियरु एव ठिइठाणा।
अपजेयर संखगुणा, परमपजबिए असंखगुणा ॥५४॥

असमाप्ताः–अपर्याप्तास्ते च ते त्रसाश्च–द्वीन्द्रियादयोऽसमाप्तत्रसाः–अपर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञि-संज्ञिपञ्चेन्द्रियास्तेषामुत्कृष्टोऽसमाप्तत्रसोत्कृष्टोऽसङ्ख्येयगुणो वाच्यः। अयमर्थः–पर्याप्तबादरैकेन्द्रियोत्कृष्टयोगाद् द्वीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः १४ ततस्त्रीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः १५ ततश्चतुरिन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽङ्ख्येयगुणः १६ ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः। १७ ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः

१८ । "पज्जजहन्नियरु" त्ति ततस्त्रसानां पर्याप्तानां जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणो वाच्यः, ततोऽपि "इयरु" त्ति त्रसानां पर्याप्तानामुत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणो वाच्य इत्यक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयम्—ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियलब्ध्यपर्याप्तकोत्कृष्टयोगात् पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः १९ ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः २० ततश्चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः २१ ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः २२ ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणः २३ ततः पर्याप्तद्वीन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः २४ ततः पर्याप्तत्रीन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः २५ ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः २६ ततः पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः २७ ततः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः २८ ततः पर्याप्तसंज्ञ्युत्कृष्टयोगाद् अनुत्तरोपपातिनामुत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः २९ ततो ग्रैवेयकदेवानामुत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः ३० ततो भोगभूमिजानां तिर्यङ्-मनुष्याणामुत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः ३१ ततोऽप्याहारकशरीरिणामुत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणः ३२ ततः शेषदेव-नारक-तिर्यङ्-मनुष्याणां यथोत्तरमुत्कृष्टयोगोऽसङ्ख्येयगुणः ३३। अथ सुखावबोधाय अल्पबहुत्वपदानां यन्त्रकमुपदर्श्यते, तच्चेदम्—

सूक्ष्मनि० लब्ध्यप० ज० योग: सर्वस्तोक: १	बाद० एकें० लब्ध्यप० ज० योगोऽसंख्येयगुण: २	द्वीन्द्रि० लब्ध्यप० ज० योगोऽसंख्येयगुण: ३	त्रीन्द्रि० लब्ध्यप० ज० योगोऽसंख्येयगुण: ४	चतुरिन्द्रि० लब्ध्यप० ज० योगोऽसंख्येयगुण: ५	असंज्ञिपञ्चे० लब्ध्यप० ज० योगोऽसंख्येयगुण: ६	संज्ञिपञ्चे० लब्ध्यप० ज० योगोऽसंख्येयगुण: ७
सूक्ष्मनि० लब्ध्यप० उत्कृष्टयोगोऽसंख्येयगुण: ८	बाद० एकें० लब्ध्यप० उ० योगोऽसंख्येयगुण: ९	सूक्ष्मनि० पर्या० ज० योगोऽसंख्येयगुण: १०	बाद० एकें० पर्या० ज० योगोऽसंख्येयगुण: ११	सूक्ष्मनि० पर्या० उत्कृ० योगोऽसंख्येयगुण १२	बाद० एकें० पर्या० उत्कृ० योगोऽसंख्येयगुण: १३	द्वीन्द्रि० लब्ध्यप० उत्कृ० योगोऽसंख्येयगुण: १४

त्रीन्द्रि० लब्ध्यप० उत्कृ० योगोऽसंख्येयगुण: १५	चतुरि० लब्ध्यप० उ० योगोऽसंख्येयगुण १६	असंज्ञिपञ्चे० लब्ध्यप० उ० योगोऽसंख्येयगुण: १७	संज्ञिपञ्चे० लब्ध्यप० उ० योगोऽसंख्येयगुण: १८	पर्या० द्वीन्द्रि० ज० योगोऽसंख्येयगुण: १९	त्रीन्द्रि० पर्या० ज० योगोऽसंख्येयगुण: २०	चतुरि० पर्या० ज० योगोऽसंख्येयगुण: २१	असंज्ञिपञ्चे० पर्या० ज० योगोऽसंख्येयगुण: २२	संज्ञिपञ्चे० पर्या० ज० योगोऽसंख्येयगुण: २३
पर्या० द्वीन्द्रि० उ० योगोऽसंख्येयगुण: २४	पर्या० त्रीन्द्रि० उ० योगोऽसंख्येयगुण: २५	पर्या० चतुरि० उ० योगोऽसंख्येयगुण: २६	पर्याप्तासंज्ञिपञ्चे० उत्कृ० योगोऽसंख्येयगुण: २७	पर्याप्तसंज्ञिपञ्चे० उत्कृ० योगोऽसंख्येयगुण: २८	अनुत्तरोप० उत्कृ० योगोऽसंख्येयगुण: २९	ग्रैवेयक० उत्कृ० योगोऽसंख्येयगुण: ३०	भोगभू. ति० म० उ० योगोऽसंख्येयगुण: ३१	आहा. शरी० उत्कृ० योगोऽसंख्येयगुण: ३२

गुणकारश्चात्रापि सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमासङ्ख्येयभागरूपः प्रत्येकं ग्राह्यः । तदत्र जघन्ययोगी जघन्यकर्मप्रदेशग्रहणं जघन्यस्थितिं च विदधाति योगवृद्धौ च तद्वृद्धिरपीति स्थितमिति ।

"एव ठिइठाणा" इत्यादि । 'एवं' मकारस्य लोपः प्राकृतत्वात् पूर्वोक्तयोगप्ररूपणान्यायेन सूक्ष्मैकेन्द्रियादिजीवक्रमेणैव स्थितीनां स्थानानि स्थितिस्थानानि वाच्यानीति शेषः । तत्र जघन्यस्थितेरारभ्य एकैकसमयवृद्ध्या सर्वोत्कृष्टनिजस्थितिपर्यवसाना ये स्थितिभेदास्ते स्थितिस्थानान्युच्यन्ते । कथं पुनरेतानि वाच्यानि ? इत्याह–"अपजेयर संखगुण" त्ति प्रथममपर्याप्तकान् सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियादीनुद्दिश्य वाच्यानि, ततः "इयर" त्ति पर्याप्तकान् सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियादीनुद्दिश्य वाच्यानीति । कियद्गुणानि पुनरेतानि ? इत्याह–सङ्ख्यगुणानि, तत्र सङ्ख्यानं सङ्ख्या तामर्ह(ती)ति सङ्ख्यः, दण्डादिभ्यो यः इति यप्रत्ययः, ततः सङ्ख्यः–सङ्ख्येयः सङ्ख्यात इत्यर्थः गुणः–गुणकारो येषां तानि सङ्ख्यगुणानि, सङ्ख्यातगुणितानीत्यर्थः । किं सर्वपदेषु सङ्ख्यातगुणान्येव ? आहोश्विदस्ति कस्मिंश्चित् पदे विशेषः ? इत्याह–"परमपजबिए असंखगुण" त्ति 'परं' केवलम् 'अपर्याप्तद्वीन्द्रिये' अपर्याप्तद्वीन्द्रियपदे तानि स्थितिस्थानानि 'असङ्ख्यगुणानि' असङ्ख्यातगुणितानि वाच्यानि । एतदुक्तं भवति–सूक्ष्मैकेन्द्रियस्यापर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि स्तोकानि १ ततो बादरैकेन्द्रियस्यापर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणानि २ ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणानि ३ ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणानि, एतानि च पल्योपमासङ्ख्येयभागसमयतुल्यानि स्थितिस्थानानि भवन्ति, यत एकेन्द्रियाणां जघन्योत्कृष्टस्थित्योरन्तरालमेतावन्मात्रमेवेति ४ ततोऽपर्याप्तस्य द्वीन्द्रियस्य स्थितिस्थानान्यसङ्ख्यातगुणितानि पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्राणीति कृत्वा ५ ततस्तस्यैव द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ६ ततस्त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ७ ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ८ ततश्चतुरिन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ९ ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि १० ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ११ ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणानि १२ ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि १३ ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि भवन्ति १४ ॥५४॥ स्थापना—

सूक्ष्मैकें० अप० स्थितिस्थानानि स्तोकानि १	सूक्ष्मैकें० पर्या० स्थि० स्था० संख्यातगुणानि ३	अप० द्वीन्द्रि० स्थिति० असंख्यातगुणानि ५	त्रीन्द्रि० अप० स्थिति० संख्यातगुणानि ७	चतुरि० अप० स्थिति संख्यातगुणानि ९	असंज्ञिपञ्चें० अप० स्थिति० संख्यातगुणानि ११	संज्ञिपञ्चें० अप० स्थि० संख्यातगुणानि १३
बादरैकें० अप० स्थि० संख्यातगुणानि २	बादरैकें० पर्या० स्थि० संख्यातगुणानि० ४	द्वीन्द्रि० पर्या० स्थिति० संख्यातगुणानि ६	त्रीन्द्रि० पर्या० स्थिति० संख्यातगुणानि ८	पर्या० चतुरि० स्थिति संख्यातगुणानि १०	असंज्ञिपञ्चें० पर्या० स्थि० संख्यातगुणानि १२	संज्ञिपञ्चें० पर्या० स्थि० संख्यातगुणानि १४

तदेवं निरूपितानि योगप्रसङ्गेन स्थितिस्थानानि। सम्प्रति योगप्रक्रम एवापर्याप्तावस्थायां वर्तमाना जन्तवः प्रतिसमयं यावत्या योगवृद्ध्या वर्धन्ते तन्निरूपणार्थमाह—

पइखणमसंखगुणविरिय अपज पइठिइमसंखलोगसमा ।
अज्झवसाया अहिया, सत्तसु आउसु असंखगुणा ॥५५॥

"अपज" त्ति 'अपर्याप्ताः' असमर्थितचतुर्थ्यादिपर्याप्तयो जीवा भवन्ति। किंभूताः ? इत्याह—'प्रतिक्षणं' प्रतिसमयं 'असङ्ख्यगुणवीर्याः' असङ्ख्यगुणयोगाः। यथोक्तम्—

[1]सव्वो वि अपज्जत्तो पइखणं असंखगुणाए जोगवुड्ढीए वड्ढइ।

अपर्याप्तानां योगवृद्धिमभिधाय साम्प्रतं प्राग्दर्शितानि स्थितिस्थानानि यैरध्यवसायैर्जन्यन्ते, ते एकैकस्मिन् स्थितिबन्धे जनकतया यावन्तो भवन्ति तदेतद् निरूपयन्नाह—"पइठिइमसंखलोगसमा" इत्यादि। स्थितिं स्थितिं प्रति-प्रतिस्थिति, वीप्सायां "योग्यतावीप्सार्थानतिवृत्तिसादृश्ये" (सिद्ध० ३-१-४०) इत्यव्ययीभावः। ततः स्थितिबन्धे स्थितिबन्धेऽध्यवसायास्तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम-मन्द-मन्दतर-मन्दतमकषायोदयविशेषा भवन्ति। कियन्तो भवन्ति ? इत्याह—'असङ्ख्यलोकसमाः' असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः। ननु किमेतेऽध्यवसायाः सर्वप्रकृतीनां सर्वस्थितिबन्धेष्वपि तुल्याः ? आहोस्विदस्ति कश्चित् प्रतिनियतो विभागः ? इत्याह—"अहिया सत्तसु" त्ति "अधिकाः' विशेषाधिकाः 'सप्तसु' आयुर्वर्जसप्तकर्मसु। इयमत्र भावना—ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितावसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्याः स्थितिबन्धाध्यवसायाः सर्वस्तोकाः, ततो ज्ञानावरणस्यैव द्वितीयस्थितौ विशेषाधिकाः, ततो ज्ञानावरणस्य तृतीयस्थितौ विशेषाधिकाः, ततो ज्ञानावरणस्य चतुर्थस्थितौ विशेषाधिकाः, एवं यावदुत्कृष्टस्थितौ विशेषाधिकाः। एवमायुष्कवर्जानां दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायकर्मणामपि

१ सर्वोऽपि अपर्याप्तः प्रतिक्षणमसंख्यगुणया योगवृद्ध्या वर्धते॥

द्वितीयादिस्थितिबन्धादारभ्य विशेषाधिकत्वमध्यवसायस्थानानां तावद् नेयं यावदुत्कृष्टः स्वकीयः स्वकीयः स्थितिबन्ध इति । तद्वायुष्केषु स्थितिबन्धे स्थितिबन्धेऽध्यवसायाः कियद्वृद्ध्या भवन्ति ? इत्याह–"आउसु असंखगुण" त्ति आयुःषु चतुर्ष्वप्यसङ्ख्यातगुणिता अध्यवसाया भवन्ति । तद्यथा–आयुष्काणां चतुर्णामपि जघन्यस्थितावसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा अध्यवसायाः सर्वस्तोकाः, तेषामेव द्वितीयस्थितौ अध्यवसाया असङ्ख्यातगुणाः, तेषामेव तृतीयस्थितावध्यवसाया असङ्ख्यातगुणाः, तेषामेव चतुर्थस्थितावध्यवसाया असङ्ख्यातगुणाः, एवमसङ्ख्यातगुणत्वं तावद् नेयं यावदायुषश्चरमस्थितिरिति ॥ ५५ ॥

प्ररूपिताः स्थितिबन्धमाश्रित्य सर्वकर्मणामध्यवसायाः । सम्प्रति यासां प्रकृतीनामेकचत्वारिंशत्सङ्ख्यानां पञ्चेन्द्रियेषु यावन्तं कालमुत्कृष्टतो बन्धो न भवति तास्तत्कालमानप्रदर्शनद्वारेण गाथाद्वयेन प्रतिपादयन्नाह—

तिरिनरयतिजोयाणं, नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठं ।
थावरचउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥५६॥

तिर्यञ्चश्च नरकाश्च तेषां "ति" त्ति त्रिकं तच्च "जोय" त्ति उद्योतं च तिर्यङ्-नरकत्रिक-उद्योतानि तेषां तिर्यङ्-नरकत्रिक-उद्योतानाम् । इह त्रिकशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, ततस्तिर्यक्त्रिकं-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-तिर्यगायुर्लक्षणम् , नरकत्रिकं–नरकगति-नरकानुपूर्वी-नरकायुःस्वरूपम् , उद्योतम् इत्येतासां सप्तप्रकृतीनाम् । किम् ? इत्याह— "नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठं" ति नराणां–मनुष्याणां भवाः–जन्मानि नरभवास्तैर्युतं–सहितं नरभवयुतं, विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात् , सह चतुर्भिः पल्योपमैर्वर्तत इति सचतुःपल्यं "तेसट्ठं" ति त्रिषष्ट्यधिकं शतमतराणाम् कोऽर्थः ? नरभवयुतं चतुःपल्योपमाधिकं त्रिषष्ट्यधिकं सागरोपमशतं पञ्चेन्द्रियेषु परमाऽबन्धस्थितिरासां प्रस्तुतसप्तप्रकृतीनां भवतीति द्वितीयगाथोत्तरार्धेन सम्बन्धः कार्यः ।

अयमभिप्रायः–यदा किल कश्चिद् जन्तुस्त्रिपल्योपमायुष्केषु देवकुर्वादिषु युगलधार्मिकेषु समुत्पन्नस्तत्र चैताः सप्त प्रकृतीर्न बध्नाति, एता हि नारक-तिर्यक्प्रायोग्या एव बध्यन्ते, युगलधार्मिकाश्च देवप्रायोग्या एव बध्नन्ति, ततः पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वमासाद्य पल्योपमस्थितिषु देवेषूत्पन्नस्तत्रापि सम्यक्त्वप्रत्ययादेता न बद्धवान् , ततोऽपरिपतितसम्यक्त्वो मनुष्येषूत्पद्य दीक्षामनुपाल्य नवमग्रैवेयके त्रिदश एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिकः समुत्पन्नः, ततोऽन्तर्मुहूर्तोर्ध्वं मिथ्यात्वं जगाम, अग्रे षट्षष्टिद्वयं सम्यक्त्वकालो वक्तव्यः, स चात्र सम्यक्त्वावस्थाने सति न सङ्गच्छत इति मिथ्यात्वगमनमभिधीयते, तत्र च वर्तमानो मिथ्यादृष्टिरपि भवप्रत्ययादेवैताः प्रकृतीर्न बध्नाति, तदनु पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यग्दर्शनमवाप्याप्रतिपतितसम्यक्त्वो मनुष्येषूत्पद्य

सर्वविरतिं परिपाल्य तथैव गृहीतसम्यक्त्वो वारद्वयं विजयादिगमनेन षट्षष्टिसागरोपमाणि पूरयित्वा मनुष्येष्वन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय तदन्तरितं द्वितीयषट्षष्टिसागरोपमाणि सम्यग्दर्शनकालं वारत्रयमच्युतगमनेन पूरयति । इह च सम्यक्त्वात् प्रच्युतस्य मिश्रगमनं यद् उच्यते तत् कार्मग्रन्थिकाभिप्रायेण सम्मतमेवेति, सैद्धान्तिकानां तु न सम्मतमिति । उक्तं च—

[1]मिच्छत्ता संकंती, अविरुद्धा होइ सम्ममीसेसु ।
मिसाओ वा दोसुं, सम्मा मिच्छं न उण मीसं ॥ (बृहत्क० भा० गा० ११४) इति ।

सर्वत्र च सम्यग्दर्शन-मिश्रयोर्वर्तमान एताः प्रकृतीर्न बध्नातीत्यनेन क्रमेणासां तिर्यक्त्रिक-नरकत्रिक-उद्योतलक्षणसप्तप्रकृतीनां नरभवयुतं चतुःपल्योपमाधिकं त्रिषष्टयधिकसागरोपमशतं परमा-प्रकृष्टा पञ्चेन्द्रियेष्वबन्धस्थितिः—अबन्धकाल इति । उक्तं च

[2]पलियाइं तिन्नि भोगावणिम्मि भवपच्चयं पलियमेगं ।
सोहम्मे सम्मत्तेण नरभवे सव्वविरईण ॥
मिच्छी भवपच्चयओ, गेविज्जे सागराइँ इगतीसं ।
अंतमुहुत्तूणाइं, सम्मत्तं तम्मि लहिऊणं ॥
विरयनरभवंतरिओ, अणुत्तरसुरो उ अयर छावट्ठी ।
मिस्सं मुहुत्तमेगं, फासिय मणुओ पुणो विरओ ॥
छावट्ठी अयराणं, अच्चुयए विरयनरभवंतरिओ ।
तिरिनिरयतिगुज्जोयाण एस कालो अबंधम्मि ॥

स्थावरचतुष्कं—स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त साधारणलक्षणम्, "इग" त्ति एकेन्द्रियजातिः, विकलाः—द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातयः, आतपम् एतेषां द्वन्द्वः, तेषु, एतासु नवसु प्रकृतिषु पञ्चाशीत्यधिकं शतं पञ्चाशीतिशतम् "अतर" त्ति न तीर्यन्ते बहुकालतरणीयत्वाद् 'अतराणि' सागरोपमाणि, षष्ठ्यर्थे चात्र प्रथमा, यतः प्राकृते हि विभक्तीनां व्यत्ययोऽपि भवति, यदाह **पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे**—"व्यत्ययोऽप्यासाम्" इति, तेषामतराणां "नरभवयुतं सचतुःपल्यम्" इत्यत्रापि सम्बन्धनीयम्, ततश्चतुःपल्योपमाधिकं पञ्चाशीत्यधिकं सागरोपमशतं नरभवयुतमासामबन्धस्थितिः परमा । अयमर्थः—यथा किल कश्चिद् जन्तुस्तमो-

---

१ मिथ्यात्वात् सङ्क्रान्तिरविरुद्धा भवति सम्यक्त्वमिश्रयोः । मिश्राद्वा द्वयोः सम्यक्त्वाद् मिथ्यात्वं न पुनर्मिश्रम् ॥ २ पल्यानि त्रीणि भोगावनौ भवप्रत्ययं पल्यमेकम् । सौधर्मे सम्यक्त्वेन नरभवे सर्वविरत्या ॥ मिथ्यात्वी भवप्रत्ययाद् ग्रैवेयके सागराणि एकत्रिंशत् । अन्तर्मुहूर्त्तोनानि सम्यक्त्वं तस्मिंल्लब्ध्वा ॥ विरतिमन्नरभवान्तरितोऽनुत्तरसुरस्त्वतराणि षट्षष्टिम् । मिश्रं मुहूर्तमेकं स्पृष्ट्वा मनुष्यः पुनर्विरतः ॥ षट्षष्टिः अतराणां अच्युते विरतिमन्नरभवान्तरितः । तिर्यङ्-नरत्रिक-उद्योतानां एष कालोऽबन्धे ॥

ऽभिधानायां षष्ठपृथिव्यां द्वाविंशतिसागरोपमाणि भवप्रत्ययादेताः प्रकृतीरबद्ध्वा पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वमासाद्य मनुष्येषूत्पद्य देशविरतिमासाद्य चतुःपल्योपमस्थितिषु देवेषु देवत्वमनुभूयाऽप्रतिपतितसम्यक्त्व एव मनुष्येषूत्पद्य सम्पूर्णं संयमं परिपाल्य नवमग्रैवेयक एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिकः सुरसद्मजन्मा समजनि, तत्र चान्तर्मुहूर्तोर्ध्वं मिथ्यात्वं जगाम,पुनरेव तत्र च वर्तमानो मिथ्यादृष्टिरपि भवप्रत्ययादेवैताः प्रकृतीर्न बध्नाति, तदनु पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वमवाप्याऽप्रतिपतितसम्यक्त्वो मनुष्येषूत्पद्य सर्वविरतिमनुपाल्य तथैव गृहीतसम्यक्त्वो वारद्वयं विजयादिगमनेन षट्षष्टिसागरोपमाणि सम्यक्त्वकालं पूरयित्वा मनुष्येष्वन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय तदन्तरितं द्वितीयं षट्षष्टिप्रमाणं सम्यक्त्वकालं वारत्रयमच्युतगमनेन पूरयति । तदेवं नरजन्मसहितं चतुःपल्योपमाधिकं पञ्चाशीत्यधिकं सागरोपमशतमासां स्थावरचतुष्टय-एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियजाति-आतपलक्षणानां नवानां प्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियेष्वबन्धस्थितिः परमा भवति ।

तथा चावाचि—

[1]छट्ठीए नेरइओ, भवपच्चयओ उ अयर बावीसं ।
देसविरओ उ भविउं, पलियचउक्कं पढमकप्पे ॥
पुव्वुत्तकालजोगो, पंचासीयं सयं सचउपल्लं ।
आयवथावरचउविगलतियगएगिन्दिय अबंधो ॥ इति ॥ ५६ ॥

अपढमसंघयणागिइखगईअणमिच्छदुभगथीणतिगं ।
निय नपु इत्थि दुतीसं, पणिंदिसु अबंधठिइ परमा ॥५७॥

अप्रथमशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् अप्रथमसंहननानि-ऋषभनाराच-नाराचा-ऽर्धनाराच-कीलिका-सेवार्तसंहननलक्षणानि पञ्च, अप्रथमा आकृतयः-संस्थानानि न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-वामन-कुब्ज-हुण्डस्वरूपाणि, अप्रथमखगतिः—अप्रशस्तविहायोगतिः, "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनः—क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणाश्चत्वारः, मिथ्यात्वम् , त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् दुर्भगत्रिकं—दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेयस्वभावम्, स्त्यानर्द्धित्रिकं—निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिरूपम् , "निय" त्ति नीचैर्गोत्रं "नपुंसकवेदः स्त्रीवेद इति, एतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां नरभवसहितं "दुतीसं" ति द्वात्रिंशं शतमतराणां भवतीति शेषः । एतदुक्तं भवति—कश्चिद् जन्तुः सर्वविरतिमनुपाल्य गृहीतसम्यक्त्वो वारद्वयं विजयादिगमनेन षट्षष्टिसागरोपमाणि सम्यग्दर्शनकालं प्रपूर्य मनुष्येष्वन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय तदन्तरितं द्वितीयं षट्षष्टिप्रमाणं

१ षष्ठ्यां नैरयिको भवप्रत्ययात् अतराणि द्वाविंशतिः । देशविरतस्तु भूत्वा पल्यचतुष्कं प्रथमकल्पे ॥ पूर्वोक्तकालयोगः पञ्चाशीतं शतं सचतुष्पल्यम् । आतपस्थावरचतुर्विकलत्रिकैकेन्द्रियाणामबन्धः ॥

सम्यग्दर्शनकाले वारत्रयमच्युतगमनेन पूरयति । तदेवमेतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां सम्यक्त्वादियुक्तस्य विजयादिगमनक्रमेण द्वात्रिंशं शतं ज्ञेयम् । तदुक्तम्—

[1]पणवीसाइ अबन्धो, उक्कोसो होइ सम्मगुणजुत्ते ।
बत्तीसं सयमयराण हुंति अहिया मणुस्सभवा ॥

एवमेकचत्वारिंशतः प्रकृतीनां विचित्रोऽबन्धकालः प्रतिपादितः सम्प्रति स एव यथाभूतो येषु जीवेषु भवतीत्येतदाह—"पणिंदिसु" इत्यादि । 'पञ्चेन्द्रियेषु' प्रदर्शितेष्वेव नर-नारकादिषु 'अबन्धस्थितिः' अबन्धनाद्धा 'परमा' प्रकृष्टोत्कृष्टा, न तु सर्वजीवेषु । उक्तं च—

[2]एयासिं पयडीणं, अबन्धकालो उ होइ सन्निस्स ।
उक्कोसो विन्नेओ, न उ सव्वजियाण एस विही ॥ इति ॥५७॥

साम्प्रतं पूर्वोदितद्वात्रिंशदधिक-त्रिषष्ट्यधिक-पञ्चाशीत्यधिकाऽतरशतसङ्ख्यापूरणोपायमाह—

विजयाइसु गेविज्जे, तमाइ दहिसय दुतीस तेसट्ठं ।
पणसीइ सययबंधो, पल्लतिगं सुरविउव्विदुगे ॥५८॥

"दहिसय" त्ति उकारलोपाद् उदधिशतं—सागरोपमशतम्, ततः प्रत्येकमुदधिशतशब्दस्य सम्बन्धः कार्यः । ततश्चायमर्थः—विजयादिषु गतस्य जीवस्येति शेषः, द्वात्रिंशमुदधिशतं भवति । तथा ग्रैवेयके विजयादिषु च गतस्य जीवस्य त्रिषष्ट्यधिकमुदधिशतं भवति । तथा "तमाइ" त्ति तमःप्रभायां षष्ठपृथिव्यां ग्रैवेयके विजयादिषु च गतस्य जीवस्य पञ्चाशीत्यधिकमुदधिशतं भवतीत्यक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्—विजय-वैजयन्त-जयन्ता--ऽपराजितसंज्ञितेषु चतुर्ष्वपि विमानेषु मध्येऽन्यतरस्मिन् कस्मिंश्चिद् विमाने वारद्वयगमनेन एका षट्षष्टिः, ततः सम्यग्मिथ्यात्वान्तर्मुहूर्तेनान्तरिता पुनरच्युतदेवलोके वारत्रयगमनेनान्या षट्षष्टिः,

यदाह **भाष्यसुधाम्भोधिः**—

[3]दो वारे विजयाइसु, गयस्स तिन्नऽच्चुए अहव ताइं ।
अइरेगं नरभवियं, नाणाजीवाण [4]सव्वद्धा ॥ (विशेषा० भा० गा० ४३६)

एवं च षट्षष्टिद्वयमीलने द्वात्रिंशं शतं सागरोपमाणां विजयादिषु पर्यटतो जन्तोः सम्पद्यत इति । तथा लोकपुरुषस्य ग्रीवायां भवानि विमानानि ग्रैवेयकाणि तेषु ग्रैवेयकेषु, जातावे-

१ पंचविंशत्या अबन्ध उत्कृष्टो भवति सम्यक्त्वगुणयुक्ते । द्वात्रिंशं शतमतराणां भवन्त्यधिका मनुष्यभवाः ॥ २ एतासां प्रकृतीनामबन्धकालस्तु भवति संज्ञिनः । उत्कृष्टो विज्ञेयो न तु सर्वजीवानामेष विधिः ॥ ३ द्वौ वारौ विजयादिषु गतस्य त्रयोऽच्युतेऽथवा तानि । अतिरिक्तं नरभविकं नानाजीवानां सर्वाद्धा ॥ ४ भाष्ये तु—"सव्वद्धं" ॥

कवचनम् । कोऽर्थः ? यदा नवमग्रैवेयके एकत्रिंशत्सागरोपमरूपां स्थितिमनुभूय ततश्च्युतः पुनः मनुष्येषूत्पद्य इत्यादिप्रागुक्तन्यायेन पुनर्विजयादिगमनेन षट्षष्टिद्वयं पूरयति तदा त्रिषष्ट्यधिकमुदधिशतं भवतीति । तथा तमःप्रभायां द्वाविंशतिसागरोपमाणि स्थितिमनुभूय ततो नवमग्रैवेयके एकत्रिंशत्सागरोपमाणि तदनु विजयादिषु षट्षष्टिद्वयमिति मिलितं पञ्चाशीत्यधिकमुदधिशतमिति । सर्वत्र चान्तरालभाविनरभवाधिकत्वं स्वत एव वाच्यमिति । एवं यासां प्रकृतीनां येषु जन्तुषु सर्वथैव बन्धो न भवति तास्तद्वारेण प्रदर्शिताः । सम्प्रति त्रिसप्ततिसङ्ख्यानामप्यध्रुवबन्धिनीनां जघन्यमुत्कृष्टं च सततबन्धकालप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—"सयय बन्धो" इत्यादि । द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् सुरद्विके-सुरगति-सुरानुपूर्वीलक्षणे वैक्रियद्विके-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्वरूपे 'पल्यत्रिकं' पल्योपमत्रयं सततं बन्धः सततबन्धः "नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुलम्" (सिद्ध० ३-१-१८) इति समासः, यथा विस्पष्टं पटुः विस्पष्टपटुरित्यादौ इत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—सुरद्विक वैक्रियद्विकलक्षणप्रकृतिचतुष्टयस्य पल्योपमत्रिकं सततबन्धकालः "तित्तीसयरा परमो" (गा० ६२) इति पदात् परमशब्दस्येहाकर्षणात् 'परमः' उत्कृष्टो भवति, यतो युगलधार्मिकेषु वर्तमानो जन्मत आरभ्य देवप्रायोग्यमिदं प्रकृतिचतुष्टयं पल्योपमत्रयं यावत् सततमेव-निरन्तरमेव बध्नातीति भावः, जघन्यतस्तु समयः परावर्तमानत्वादासामपीति ॥ ५८ ॥

समयादसंखकालं, तिरिदुगनीएसु आउ अंतमुहू ।
उरलि असंखपरट्टा, सायठिई पुव्वकोडूणा ॥५९॥

समयः—अत्यन्तसूक्ष्मः कालांशः, स च समयप्रसिद्धात् पट्टशाटिकापाटनदृष्टान्ताद् उत्पलपत्रशतवेधोदाहरणाद्वाऽवसेयः, तस्मात् समयादारभ्य समयमादौ कृत्वा एकोत्तरसमयवृद्ध्या तावत्सततं बन्धकालो नेयो यावदसङ्ख्येयकाल इति । तत्रासङ्ख्यः—सङ्ख्यातिक्रान्तः समयपरिभाषितः स चासौ कालश्चासङ्ख्यकालः तम्, सङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणसमयराशिरूपं यावदित्यर्थः । इह च समयशब्देन जघन्यो बन्धकाल उक्तः, स च सर्वत्र मन्तव्यः, क ? इत्याह—तिर्यग्द्विके—तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीरूपे नीचैर्गोत्रे च द्वन्द्वे च तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः । अयमाशयः- तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-नीचैर्गोत्रलक्षणप्रकृतित्रयमिदं जघन्यतः समयमेकं बध्यते, द्वितीयसमये परावृत्त्या तद्विपक्षस्य बन्धसम्भवात् । यदा तु तेजः-वायुषु जन्तुरुत्पद्यते तदा भवस्वभावादेवातिसंक्लिष्टे नीचैर्गोत्र-तिर्यग्द्विके एव बध्नाति, न तद्विपक्षमुच्चैर्गोत्रं मनुजद्विकं वा, अतस्तेजः-वायूनां कायस्थितिरूपमसङ्ख्येयकालं यावदासां तिसृणामपि प्रकृतीनां परमः सततबन्धकालः प्राप्यत इति । "आउ अन्तमुहु" त्ति आयुःषु चतुर्ष्वपि अन्त-

मुहूर्तमेव कालं यावत् परमः सततबन्धकालः, जघन्योऽपि चैतावानेवेति वक्ष्याम इति ।

तथैकदेशे समुदायोपचाराद् 'औदारिके' औदारिकशरीरविषयेऽसङ्ख्याः–सङ्ख्यातिक्रान्ताः "परट्ट" त्ति परावर्ताः-पुद्गलपरावर्ता वक्ष्यमाणस्वरूपाः परमः सततबन्धकाल इति । इहापि जघन्यतः समयेकं सततबन्धः सविपक्षत्वात्, उत्कृष्टतस्त्वसङ्ख्येयपुद्गलपरावर्ताः । कथम्? यतो व्यावहारिकसत्त्वा अपि स्थावरकायमुपगताः कायस्थित्या इयन्तं कालं तिष्ठन्ति, न च तत्र वैक्रिया-ऽऽहारकयोस्तद्विपक्षयोर्बन्धोऽस्तीति तात्पर्यम् । तथा "सायठिई पुव्वकोडूण" त्ति सातस्य-सातवेदनीयस्य स्थितिः–स्थितिबन्धः सततबन्धकालः परमः पूर्वकोटिरूना–न्यूना भवति । इहापि जघन्यतः सातस्य समयमेकं बन्धः सविपक्षत्वात्, उत्कृष्टतस्तु देशोना पूर्वकोटिः सततबन्धः, यतो यः कश्चिन्मानवः पूर्वकोट्यायुरष्टवार्षिकः सर्वविरतिमादाय नवमवर्षे केवलज्ञानमासादयेत् सोऽष्टाभिर्वर्षैरूनां पूर्वकोटिं सातवेदनीयं सततं बध्नाति, केवलिनः सातस्यैव बन्धात् । उक्तं च–

[1]उवसंतखीणमोहा, केवलिणो एगविहबन्धा ॥ (पञ्चाश० १६ गा० ४१) इति ॥५९॥

जलहिसयं पणसीयं, परघुस्सासे पणिंदि तसचउगे।
बत्तीसं सुहविहगइपुमसुभगतिगुच्चचउरंसे ॥६०॥

पराघातं चोच्छ्वासं च पराघातोच्छ्वासं तस्मिन् पराघातोच्छ्वासे, "पणिंदि" त्ति सूचनात् सूत्रम्, इति कृत्वा पञ्चेन्द्रियजातौ, त्रसेनोपलक्षितं चतुष्कं त्रसचतुष्कं तस्मिन् त्रसचतुष्के–त्रस-बादर-पर्याप्तप्रत्येक-लक्षणे प्रभूतकालनिस्तरणीयत्वाद् जलधय इव जलधयः–सागरोपमाणि, तेषां शतं जलधिशतं "पणसीयं" ति पञ्चाशीत्यधिकं परमः सततबन्धकालो भवति । इह च सचतुः–पल्यमित्यनिर्देशेऽपि सचतुःपल्यमिति व्याख्यानं कार्यम्, यतो यावानेतद्विपक्षस्याबन्धकालस्तावानेवासां बन्धकाल इति । पञ्चसङ्ग्रहादौ चोपलक्षणादिना केनचित्कारणेन यन्नोक्तं तदभिप्रायं न विद्म इति । तथा जघन्यत एता अपि समयमेकं बध्यन्ते, सविपक्षत्वादध्रुवबन्धित्वाच्च । उत्कृष्टतस्तु सचतुःपल्यं पञ्चाशीत्यधिकं जलधिशतं बन्धकालः । कथम्? षष्ठपृथिव्यामुत्कृष्टस्थितिको द्वाविंशतिसागरोपमाण्यनुभवन्नासां विपक्षबन्धासम्भवादेता एव प्रस्तुतसप्तप्रकृतीर्बद्धवान्, ततः पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वमासाद्य मनुष्यजन्म सम्प्राप्य देशविरतिरत्नं लब्ध्वा चतुःपल्योपमस्थितिकेषु देवेषु सुपर्वत्वमनुभूय अप्रतिपतितसम्यक्त्व एव मनुष्येषु समुत्पद्य सम्पूर्णसंयमं च परिपाल्य नवमग्रैवेयकविमाने एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिको महर्द्धिरमरो भूत्वा उत्पादोत्तरकालं मिथ्यात्वोदयवान् भवति, च्यवनकाले च सम्यक्त्वं प्रतिपद्य षट्षष्टिसागरोपमाण्यच्युतदेवलोके वारत्रयेणानुभवति, पुनरन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय भूयोऽपि सम्यग्दर्शनमवाप्य विजयादिषु

१ उपशान्तक्षीणमोहाः केवलिन एकविधबन्धाः ॥

वारद्वयेन पुनः षट्षष्टिसागरोपमाणि समनुभवति। तस्मादेतेषु तमःप्रभापृथिवीप्रभृतिस्थानेषु पर्यटन् जीवः क्वचिद् भवप्रत्ययात् क्वचिच्च सम्यक्त्वप्रत्ययादेतावन्तं कालमेताः सप्तापि प्रकृतीः सततं बध्नातीति। "बत्तीसं" ति द्वात्रिंशदधिकं जलधिशतमिति गम्यते, परमः सततबन्धकाल इति सम्बन्धः। क्व ? इत्याह—"सुहविहगइ" त्ति शुभविहायोगतिः "पुम" त्ति पुंवेदः 'सुभगत्रिकं' सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयलक्षणम् उच्चैर्गोत्रं "चउरंस" त्ति 'चतुरस्र' समचतुरस्रं प्रथमसंस्थानम्, तत एतेषां समाहारद्वन्द्वः, तत्र इहापि जघन्यतः समयमेकमासां सप्तानां प्रकृतीनां बन्धः सप्रतिपक्षत्वात्, उत्कृष्टतस्तु द्वात्रिंशं जलधिशतं सततबन्धकालो भवति। तथाहि—किल यदा कश्चिद् जन्तुः सर्वविरतिमनुपाल्य गृहीतसम्यक्त्वो वारद्वयं विजयादिगमनेन षट्षष्टिसागरोपमाणि सम्यक्त्वकालं प्रपूर्य मनुष्येष्वन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय तदन्तरितं द्वितीयं षट्षष्टिप्रमाणं सम्यग्दर्शनकालं वारत्रयमच्युतदेवलोकगमनेन परिपूरयति तदा सम्यग्दृष्टिर्जन्तुरेता एव बध्नाति, न पुनरेतत्प्रतिपक्षाः, तासां मिथ्यादृष्टि-सास्वादनगुणस्थानकयोर्बन्धव्यवच्छेदादिति ॥६०॥

असुखगइजाइआगिइसंघयणाहारनरयजोयदुगं ।
थिरसुभजसथावरदसनपुइत्थीदुजुयलमसायं ॥६१॥

सुशब्दः प्रशंसायाम्, न सुः असुः—अप्रशस्त इत्यर्थः। ततोऽसुशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, तद्यथा-असुखगतिः-अप्रशस्तविहायोगतिः, असुजातयः,-एक--द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियजातिलक्षणाश्चतस्रः, असुसंहननानि--ऋषभनाराचादीनि पञ्च, असवाकृतयः--आकाराः संस्थानानि न्यग्रोधपरिमण्डलादयः पञ्च, द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् आहारकद्विकम्--आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणं नरकद्विकं--नरकगति-नरकानुपूर्वीलक्षणं "जोयदुगं" ति उद्योतद्विकम्-उद्योता-ऽऽतपलक्षणम् "उज्जोयायवपरघा" (गा० ३) इति संज्ञागाथायां पठनात्, स्थिरनाम, शुभनाम, "जस" त्ति यशःकीर्तिनाम, स्थावरदशकं प्रतीतमेव "नपु" त्ति नपुंसकवेदः, स्त्रीवेदः, द्वयोर्युगलयोः समाहारो द्वियुगलं--हास्य-रति-अरति-शोकलक्षणम् 'असातम्' असातवेदनीयमिति ॥६१॥

समयादंतमुहुत्तं, मणुदुगजिणवइरउरलवंगेसु ।
तित्तीसयरा परमो, अंतमुहु लहू वि आउजिणे ॥६२॥

एतासां पूर्वोक्तानामसुखगतिप्रभृत्येकचत्वारिंशत्प्रकृतीनां किम् ? इत्याह--'समयात्' सूक्ष्मकालांशादारभ्य अन्तर्मुहूर्तं यावदुत्कृष्टतोऽपि सततबन्धो न परतोऽपि। किमुक्तं भवति ?—समयप्रमाणो जघन्यो बन्धकाल उत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, यतः समयादन्तर्मुहूर्ताद् वा उत्तरकालमासामध्रुवबन्धित्वेनावश्यं परावृत्तेः सद्भावात् सङ्गच्छत एव यथोक्तकाल इति। तथा "मणुदुगं" ति मनुजद्विकं--मनुजगति-मनुजानुपूर्वीरूपं, जिननाम "वइर" त्ति वज्रऋषभनाराचसंहननम्

औदारिकाङ्गोपाङ्गम् , ततो मनुजद्विकादीनां द्वन्द्वस्तेषु. एतासु प्रकृतिषु विषये त्रयस्त्रिंशदतराणि 'परमः' प्रकृष्टः सततबन्धो निरन्तरं बन्धकाल इति योगः । अत्रापि जिननामवर्जानां चतसृणां प्रकृतीनां जघन्यतः समयमेकं बन्धः सविपक्षत्वात् , उत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशदतराणि, यतो बद्धजिननामकर्माऽनुत्तरसुरेषु स्थित एतावन्तं कालमेतदेव प्रस्तुतप्रकृतिपञ्चकं सततं बध्नातीति । ननु किमध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां सर्वासामपि जघन्यबन्धकालः समयमात्र एव ? किमुत कासाञ्चिदन्यथाऽपि? अत आह—"अंतमुहु लहू वि आउजिणे" त्ति 'लघुरपि' जघन्यबन्धोऽपि ह्रस्वबन्धकालोऽपि न केवलमसुखगतिप्रभृतीनामुत्कृष्टोऽन्तर्मुहूर्तलक्षणो बन्धकाल इत्यपिशब्दार्थः, आयुःषु चतुर्षु जिननामकर्मणि चेत्यर्थः, "अंतमुहु" त्ति एकदेशे समुदायोपचारात् अन्तर्मुहूर्तलक्षणो न तु समयरूप इति ।

अयमत्र भावार्थः—इह कश्चिज्जन्तुस्तीर्थकरनामबन्धक उपशमश्रेणिमारूढः, तत्र चानिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहलक्षणगुणस्थानकत्रये वर्तमानोऽबन्धकः सम्पेदे, ततः श्रेणिं समाप्य प्रतिपतितः पुनरप्यन्तर्मुहूर्तं यावत् तदेव बद्ध्वा तदूर्ध्वं द्वितीयवारं श्रेण्यारोहणेऽबन्धको यदा भवति तदाऽसौ कालो लभ्यते । न च वाच्यं कथमेकस्मिन्नेव भवे वार[1]द्वयश्रेणिकरणम् ? यतः शास्त्रे तस्याभिहितत्वात् । उक्तं च—

[2]एगभवे दुक्खुत्तो, चरित्तमोहं उव[3]समिज्जा ॥ (कर्मप्र० ३७६) इति ।

आयूंषि चत्वार्यपि यावदन्तर्मुहूर्तं तावद् जघन्यतोऽपि बध्यन्ते, ततस्तत्प्रति सुप्रतीत एव यथोक्तकाल इति ॥ ६२ ॥

प्ररूपितः प्रसक्तानुप्रसक्तसहितः स्थितिबन्धः । इदानीमनुभागबन्धस्यावसरः—अनुभागो रसोऽनुभाव इति पर्यायाः । तत्रानुभागस्य किञ्चित् तावत् स्वरूपमुच्यते—इह गम्भीरापारसंसारसरित्पतिमध्यविपरिवर्ती रागादिसचिवो जन्तुः पृथक् सिद्धानामनन्तभागवर्तिभिरभव्येभ्योऽनन्तगुणैः परमाणुभिर्निष्पन्नान् कर्मस्कन्धान् प्रतिसमयं गृह्णाति, तत्र च प्रतिपरमाणु कषायविशेषात् सर्वजीवानन्तगुणाननुभागस्याविभागपलिच्छेदान् करोति । केवलिप्रज्ञया छिद्यमानो यः परमनिकृष्टोऽनुभागांऽशोऽतिसूक्ष्मतयाऽर्धं न ददाति सोऽविभागपलिच्छेद उच्यते । उक्तं च —

[4]बुद्धीइ छिज्जमाणो, अणुभागंसो न देइ जो अद्धं ।
अविभागपलिच्छेओ, सो इह अणुभागबंधम्मि ॥ (शत० बृ० भा० गा०४५६)

---

१ मुद्रितशतके तु-"द्वयं श्रेणिक" इत्येवंरूपः पाठः ॥ २ एकस्मिन् भवे द्विकृत्वः चारित्रमोहमुपशमयेत् ॥ ३ कर्मप्रकृतौ तु-"समेइ ॥ इत्येवंरूपः पाठः ॥ ४ बुद्ध्या छिद्यमानोऽनुभागांशो न ददाति योऽर्धम् । अविभागपरिच्छेदोऽसाविहानुभागबन्धे ॥

तत्र चैकैककर्मस्कन्धे यः सर्वजघन्यरसः परमाणुः सोऽपि केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः किल सर्वजीवेभ्यो अनन्तगुणान् रसभागान् प्रयच्छति । अन्यस्तु परमाणुस्तानविभागपलिच्छेदा-नेकाधिकान् प्रयच्छति, अपरस्तु तानपि द्व्यधिकान् , अन्यस्तु तानपि त्र्यधिकान् , अन्यस्तु तानपि चतुरधिकानित्यादिवृद्ध्या तावन्नेयं यावदन्त्य उत्कृष्टरसः परमाणुर्मूलराशेरनन्तगुणानपि रसभागान् प्रयच्छति । अत्र च सर्वजघन्यरसा ये केचन परमाणवस्तेषु सर्वजीवानन्तगुणरस-भागयुक्तेष्वप्यसत्कल्पनया शतं रसांशानां परिकल्प्यते, एतेषां च समुदायः समानजातीयत्वा-देका वर्गणेत्यभिधीयते, अन्येषां त्वेकोत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायो द्वितीया वर्गणा, अपरेषां तु द्व्युत्तरशतरसांशयुक्तानामणूनां समुदायस्तृतीया वर्गणा, अन्येषां तु त्र्युत्तरशतरस-भागयुक्तानामणूनां समुदायश्चतुर्थी वर्गणा, एवमनया दिशा एकैकरसभागवृद्धानामणूनां समुदा-यरूपा वर्गणाः सिद्धानामनन्तभागेऽभव्येभ्योऽनन्तगुणा वाच्याः । एतासां चैतावतीनां वर्गणानां समुदायः स्पर्धकमित्यभिधीयते, स्पर्धन्त इवोत्तरोत्तररसवृद्ध्या परमाणुवर्गणा अत्रेति कृत्वा । एताश्चानन्तरोक्तानन्तकप्रमाणा अप्यसत्कल्पनया षट् स्थाप्यन्ते इदमेकं स्पर्धकम् । इत ऊर्ध्वमेकोत्तरया निरन्तरवृद्ध्या वृद्धो रसो न लभ्यते, किं तर्हि ? सर्वजीवानन्तगुणैरेव रस-भागैर्वृद्धो लभ्यत इति तेनैव क्रमेण द्वितीयं रसस्पर्धकमारभ्यते, ततस्तेनैव क्रमेण तृतीयमित्यादि यावदनन्तानि रसस्पर्धकानि उत्तिष्ठन्ते ।

१०५
१०४
१०३
१०२
१०१
१००

अयं चानुभागः शुभा-ऽशुभभेदेन द्विविधानामपि प्रकृतीनां तीव्र-मन्दरूपतया द्विविधो भवत्यतोऽशुभ-शुभप्रकृतीनां येन प्रत्ययेनासौ तीव्रो बध्यते येन च मन्दस्तन्निरूपणार्थमाह—

तिव्वो असुहसुहाणं, संकेसविसोहिओ विवज्जयओ ।
मंदरसो गिरिमहिरयजलरेहासरिसकसाएहिं ॥६३॥

तत्र प्रथमं तावत् तीव्र मन्दस्वरूपमुच्यते पश्चादक्षरार्थः । इह घोषातकी पिचुमन्दाद्यशुभ-वनस्पतीनां सम्बन्धी सहजोऽर्धावर्तो द्विभागावर्तो भागत्रयावर्तश्च यथाक्रमं कटुकः कटुकतरः कटुकतमोऽतिशयकटुकतमश्च, तथेक्षु-क्षीरादिद्रव्याणां सम्बन्धी सहजोऽर्धावर्तो द्विभागावर्तो भाग-त्रयावर्तश्च यथासङ्ख्यं मधुरो मधुरतरो मधुरतमोऽतिमधुरतमश्च रसो जलाद्यसम्बन्धाद् यथा तीव्रो भवति; तथैतेषामेव पिचुमन्दादीनां क्षीरादीनां च द्रव्याणां सम्बन्धी सहजो रसो जललवबिन्दु-अर्धचुलुक-चुलुक प्रसृति-अञ्जलि-करक कुम्भ-द्रोणादिसम्बन्धाद् यथा बहुभेदं मन्द-मन्दतरादित्वं प्रतिपद्यते; तथाऽर्धावर्तादयोऽपि रसा यथा जललवादिसम्बन्धाद् मन्द-मन्दतर-मन्दतमादित्वं प्रति-पद्यन्ते तथैवाशुभप्रकृतीनां शुभप्रकृतीनां च रसास्तादृशतादृशकषायवशात् तीव्रत्वं मन्दत्वं चानुवि-दधतीति । अक्षरार्थोऽधुना विवियते—तीव्रो रसो भवति । कासाम् ? इत्याह—"असुहसुहाणं"

ति अशुभाश्च शुभाश्चाशुभ-शुभास्तासामशुभशुभानाम्, अशुभप्रकृतीनां शुभप्रकृतीनां चेत्यर्थः । कथम्? इत्याह—"संकेसविसोहिओ" त्ति संक्लेशश्च विशुद्धिश्च संक्लेश-विशुद्धी ताभ्यां संक्लेश-विशुद्धितः, आद्यादेराकृतिगणत्वात् तस्प्रत्ययः यथासङ्ख्यमशुभप्रकृतीनां संक्लेशेन शुभप्रकृतीनां विशुद्ध्येत्यर्थः । इदमत्र हृदयम्—अशुभप्रकृतीनां द्व्यशीतिसङ्ख्यानां संक्लेशेन-तीव्रकषायोदयेन तीव्रः-उत्कटो रसो भवति, सर्वाशुभप्रकृतीनां तद्बन्धविधायिनां जन्तूनां मध्ये यो य उत्कृष्ट-संक्लेशो जन्तुः स स तीव्ररसं बध्नातीत्यर्थः; शुभप्रकृतीनां तु विशुद्ध्या कषायविशुद्ध्या तीव्रो-ऽनुभागो भवति, शुभप्रकृतिबन्धकानां मध्ये यो यो विशुध्यमानपरिणामः स स तासां तीव्र-मनुभागं बध्नातीत्यर्थः । उक्तस्तीव्ररसस्य बन्धप्रत्ययः । सम्प्रति स एव मन्दरसस्याभिधीयते—"विवज्जयओ मन्दरसो" त्ति 'विपर्ययेण' विपर्ययत उक्तवैपरीत्येन मन्दः-अनुत्कटरसो भवति । अयमर्थः—सर्वप्रकृतीनामशुभानां विशुद्ध्या मन्दो रसो जायते, शुभानां तु मन्दः संक्लेशे-नेति । उक्तः संक्लेश-विशुद्धिवशादशुभ-शुभप्रकृतीनां तीव्रो मन्दश्चानुभागः, अयं त्वेक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकभेदाच्चतुर्धा भवति, अत एकस्थानिकादिरसो यैः प्रत्ययैर्यासां प्रकृतीनां भवति तदाह—"गिरिमहिरय" इत्यादि । गिरिश्च-पर्वतः मही च-पृथिवी रजश्च-वालुका जलं च पानीयं गिरि-मही-रजः-जलानि तेषु रेखाः—राजयस्ताभिः सदृशाः-तुल्या गिरि-मही-रजः-जल-रेखासदृशास्ते च ते कषायाश्च-सम्परायास्तैरसो भवतीति प्रक्रमः ॥६३॥

कीदृग्? इत्याह—

चउठाणाई असुहा, सुहऽन्नहा विग्घदे[1]सआवरणा ।
पुमसंजलणिगदुतिचउठाणरसा सेस दुगमाई ॥६४॥

चतुःस्थान आदिर्यस्य रसस्य त्रिस्थानिक-द्विस्थानिक-एकस्थानिकपरिग्रहः स चतुःस्थानादिः, कासाम्? इत्याह—"असुह" त्ति इह षष्ठ्यर्थे प्रथमा ततः 'अशुभानाम्' अशुभप्रकृतीनाम् । इयमत्र भावना—इह रेखाशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् गिरिरेखाशब्देन प्रभूतकालव्यपदेशाद-तितीव्रत्वं कषायाणां प्रतिपाद्यते, ततश्च गिरिरेखासदृशैः कषायैरनन्तानुबन्धिभिरित्यर्थः, सर्वासामशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानिकरसबन्धो भवति । आतपशोषिततडागमहीरेखासदृशैः कषा-यैरप्रत्याख्यानावरणैर्मनागमन्दोदयैरशुभप्रकृतीनां त्रिस्थानिकरसबन्धो भवति । वालुकारेखा-सदृशैः कषायैः प्रत्याख्यानावरणैरशुभप्रकृतीनां द्विस्थानिकरसबन्धः । जलरेखासदृशैः कषायैरति-मन्दोदयैः संज्वलनाभिधैर्विघ्नपञ्चकादिवक्ष्यमाणसप्तदशाऽशुभप्रकृतीनामेवैकस्थानिकरसबन्धो भवति, न शेषाणां शुभप्रकृतीनामशुभप्रकृतीनामिति हि वक्ष्यामः । उक्तोऽशुभानां रसस्य बन्धप्रत्ययः,

---

१ केषुचिदादर्शेषु '०सघाइआवरणा०' इत्येवंरूपः पाठः ॥

इदानीं शुभानां रसप्रत्ययविभागमाह–"सुहऽन्नह" त्ति शुभप्रकृतीनाम् 'अन्यथा' उक्तवैपरीत्येन हेतुविपर्ययाच्चतुःस्थानिकादिरसस्य बन्धो भवति । तत्र वालुका-जलरेखासदृशैः कषायैश्चतुःस्थानिको रसबन्धो भवति । महीरेखासदृशैः कषायैस्त्रिस्थानिको रसबन्धो भवति । गिरिरेखासदृशैः कषायैर्द्विस्थानिको रसबन्धः शुभप्रकृतीनां भवति । शुभप्रकृतीनां त्वेकस्थानिको रस एव नास्तीति पूर्वमेवोक्तम् । अथ यासां प्रकृतीनामेक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकभेदाच्चतुर्विधोऽपि रसबन्धः सम्भवति, यासां चैकस्थानिकवर्जस्त्रिविध एवेत्येतच्चिन्तयन्नाह—"विग्घदेस(घाइ)आवरणा" इत्यादि । विघ्नानि-दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायभेदादन्तरायाणि पञ्च, 'देशघात्यावरणाः' देशघात्यावारिकाः सप्त प्रकृतयः, तद्यथा–मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-मनःपर्यायज्ञानावरणाश्चतस्रः, चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शनावरणास्तिस्र इत्येताः, "पुम" त्ति पुंवेदः, संज्वलनाश्चत्वारः–क्रोध-मान-माया-लोभा इत्येताः सप्तदशप्रकृतयः । किम् ? इत्याह–"इगदुतिचउठाणरस" त्ति स्थानशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् एकस्थान-द्विस्थान-त्रिस्थान-चतुःस्थाना रसा यासां ता एक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानरसाः, एताः सप्तदशापि प्रकृतय एक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकरूपेण चतुर्विधेनापि रसेन संयुक्ता बध्यन्त इति तात्पर्यम् । तत्रानिवृत्तिबादरे गुणस्थाने सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेष्वासां सप्तदशानामपि प्रकृतीनामेकस्थानिको रसः प्राप्यते, शेषस्थानिकास्तु रसास्त्रयोऽप्यासां संसारस्थान् जीवानाश्रित्य प्राप्यन्त इति । शेषाः प्रकृतयस्तर्हि किंरूपा भवन्ति ? इत्याह—"सेस दुगमाई" इति । 'शेषाः' भणितसप्तदशप्रकृतिभ्य उद्धरिताः सर्वाः शुभा अशुभाश्च प्रकृतयो बध्यन्ते "दुगमाइ" त्ति "सूचनात् सूत्रम्" इति न्यायाद् द्विस्थानादिरसाः, आदिशब्दात् त्रिस्थानरसाश्चतुःस्थानरसाश्च, शेषाः प्रकृतयो द्विस्थानिक-त्रिस्थानिक-चतुःस्थानिकरसयुक्ता भवन्ति, न त्वेकस्थानिकरसयुक्ता इति भावः । अयमत्राशयः—सप्तदशप्रकृतिष्वेवैकस्थानिको रसो बध्यते, न तु शेषासु, यतोऽशुभप्रकृतीनामेकस्थानिको रसो यदि लभ्यते तदाऽनिवृत्तिबादरसङ्ख्येयभागेभ्यः परत एव, तत्र च सप्तदशप्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषाणामशुभप्रकृतीनां बन्ध एव नास्ति, अतः शेषाणामशुभानामेकस्थानिको रसो न भवति । ये अपि केवलज्ञान-केवलदर्शनावरणलक्षणे द्वे अपि प्रकृती तत्र बध्येते, तयोरपि सर्वघातित्वाद् द्विस्थानिक एव रसो निर्वर्त्यते नैकस्थानिक इति । शुभानां तु सर्वासामप्येकस्थानिको रसो न भवति, यत इहासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि संक्लेशस्थानानि भवन्ति, विशुद्धिस्थानान्यपि तावन्त्येव, यथा यान्येव संक्लिश्यमानः संक्लेशस्थानान्यारोहति तेष्वेव विशुध्यमानोऽवतरति, ततश्च यथा प्रासादमारोहतां यावन्ति सोपानस्थानानि अवतरतामपि तावन्त्येव, तथाऽत्रापीति भावः;केवलं विशुद्धिस्थानानि विशेषाधिकानि । कथम् ? इति चेद् उच्यते—क्षपको येष्वध्यवसायस्थानकेषु क्षपकश्रेणिकामारोहति न तेषु पुनरपि निवर्तते, तस्य संक्लेशाभावात् , अतस्तानि विशुद्धिस्थानान्येव भवन्ति,

न संक्लेशस्थानानीति तैरध्यवसायस्थानैर्विशुद्धिस्थानान्यधिकानि । एवं च स्थितेऽत्यन्तविशुद्धौ वर्तमानः शुभप्रकृतीनां चतुःस्थानिकं रसमभिनिर्वर्तयति, अत्यन्तसंक्लेशे तु वर्तमानस्य शुभप्रकृतयो बन्ध एव नागच्छन्ति । या अपि वैक्रिय-तैजस-कार्मणाद्याः शुभा नरकप्रायोग्याः संक्लिष्टोऽपि बध्नाति तासामपि स्वभावात् सर्वसंक्लिष्टोऽपि द्विस्थानिकमेव रसं विदधाति । येषु तु मध्यमाध्यवसायस्थानेषु शुभप्रकृतयो बध्यन्ते तेषु तासां द्विस्थानिकपर्यन्त एव रसो बध्यते नैकस्थानिकः, मध्यमपरिणामत्वादेवेति न क्वापि शुभप्रकृतीनामेकस्थानिकरससम्भव इति ॥६४॥

कृता चतुर्विधस्यापि रसस्य प्रत्ययप्ररूपणा । सम्प्रति शुभा-ऽशुभरसस्यैव विशेषतः किञ्चित् स्वरूपमाह--

निंबुच्छुरसो सहजो, दुतिचउभागकढिइक्कभागंतो ।
इगठाणाई असुहो, असुहाण सुहो सुहाणं तु ॥६५॥

इहैवमक्षरघटना–'अशुभानाम्' अशुभप्रकृतीनां रसोऽशुभः, अशुभाध्यवसायनिष्पन्नत्वात् । क इव ? इत्याह—'निम्बवत्' पिचुमन्दवद् , वत्शब्दस्य लुप्तस्येह प्रयोगो द्रष्टव्यः । तथा 'शुभानां' शुभप्रकृतीनां रसः शुभः, शुभाध्यवसायनिष्पन्नत्वात् । क इव ? इत्याह–'इक्षुवत्' इक्षुयष्टिवत् । तथा डमरुकमणिन्यायाद् निम्बेक्षुरसशब्द एवमप्यावर्त्यते--यथा निम्बरस एव इक्षुरस एव 'सहजः' स्वभावस्थ एकस्थानिकरस उच्यते, स एवैकस्थानिकरसो द्वि-त्रि-चतुर्भागक्वथितैकभागान्तो द्विस्थानिकादिर्भवति । कोऽर्थः ? द्वौ च त्रयश्च चत्वारश्च द्वि-त्रि-चत्वारः, ते च ते भागाश्च द्वित्रिचतुर्भागाः, द्वित्रिचतुर्भागाश्च ते पृथग् विभिन्न-विभिन्नेष्वाश्रयेषु क्वथिताश्च द्वि-त्रि-चतुर्भागक्वथितास्तेषाम् एकः–एकसङ्ख्यो भागोऽन्ते–अवसाने यस्य सहजरसस्य स द्वि-त्रि-चतुर्भागक्वथितैकभागान्तः । स किम् ? इत्याह–एकस्थानिकादिः, आदिशब्दाद् द्विस्थानिक-त्रिस्थानिक-चतुःस्थानिकरसपरिग्रह इत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्–इह यथा निम्ब-घोषातकी-प्रभृतीनां कटुकद्रव्याणां सहजः–अक्वथितः कटुको रस एकस्थानिक उच्यते, स एव भागद्वय-प्रमाणः स्थाल्यां क्वथितोऽर्द्धावर्तितः कटुकतरो द्विस्थानिकः, स एव भागत्रयप्रमाणः स्थाल्यां क्वथितस्त्रिभागान्तः कटुकतमस्त्रिस्थानिकः, स एव भागचतुष्टयप्रमाणो विभिन्नस्थाने क्वथितश्चतुर्थ-भागान्तोऽतिकटुकतमश्चतुःस्थानिकः । तथा इक्षु-क्षीरादीनां सहजो मधुररस एकस्थानिक उच्यते, स एव सहजो भागद्वयप्रमाणः पृथग्भाजने क्वथितोऽर्धावर्तितो मधुरतरो द्विस्थानिकः, स एव भागत्रयप्रमाणः पृथक्स्थाल्यां क्वथितस्त्रिभागान्तो मधुरतमस्त्रिस्थानिकः, स एव भागचतुष्क-प्रमाणो विभिन्नस्थाने क्वथितश्चतुर्थभागान्तोऽतिमधुरतमश्चतुःस्थानिकः । एवमशुभानां प्रकृतीनां तादृशतादृशकषायनिष्पाद्यः कटुकः कटुकतरः कटुकतमोऽतिकटुकतमश्च, शुभप्रकृतीनां तु मधुरो

मधुरतरो मधुरतमोऽतिमधुरतमश्च रसो यथासङ्ख्यमेक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानिको भवति । एवं च रसोऽशुभप्रकृतीनामशुभः शुभप्रकृतीनां शुभ इति । तुशब्दो विशेषणे, स चैवं विशिनष्टि—यथा सप्तदशाशुभप्रकृतीनामेकस्थानिकरसस्पर्धकान्यसङ्ख्येयान्यभिव्यक्तत्वाद् असङ्ख्येयानि भवन्ति । तत्र च सर्वजघन्यस्पर्धकरसस्येयं निम्बाद्युपमा, तदनु चानन्तेषु रसपलिच्छेदेष्वतिक्रान्तेषु तदुत्तरं द्वितीयस्पर्धकं भवति, एवमुत्तरोत्तरक्रमेण प्रवृद्ध-वृद्धतररसोपेतानि शेषस्पर्धकान्यपि भवन्ति । एवं शेषाशुभप्रकृतीनामपि द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकरसस्पर्धकान्यसङ्ख्येयान्यभिव्यक्तानि प्रत्येकमसङ्ख्येयानि भवन्ति, तान्यपि यथोत्तरमनन्तरसपलिच्छेदनिष्पन्नत्वात् परस्परमनन्तगुणरसानि. अत उत्तरोत्तरस्पर्धकान्यप्यनन्तगुणरसानि, किं पुनरशुभानां द्वि-त्रि-चतुःस्थानिका रसा इति । तथाहि—अशुभानां निम्बोपमवीर्यो य एकस्थानिको रसस्तस्माद् अनन्तगुणवीर्यो द्विस्थानिकः, ततोऽप्यनन्तगुणवीर्यस्त्रिस्थानिकः, तस्मादप्यनन्तगुणवीर्यश्चतुःस्थानिक इति परस्परं सुप्रतीतमेवानन्तगुणरसत्वमिति । शुभप्रकृतीनां पुनरेकस्थानिको रस एव नास्ति । यश्च शुभानामिक्षूपमो रसोऽभिहितः स द्विस्थानिकरसस्य सर्वजघन्यस्पर्धक एव दृश्यः, तदुत्तरस्पर्धकेषु चानन्तगुणा रसा भवन्ति, एतत् सर्वं पञ्चसङ्ग्रहाभिप्रायतो व्याख्यातम् । किञ्च केवलज्ञानावरणादिरूपाणां सर्वघातिनीनां विंशतिसङ्ख्यानां प्रकृतीनां सर्वाण्यपि रसस्पर्धकानि सर्वघातीन्येव । देशघातिनीनां पुनर्मतिज्ञानावरणप्रभृतिपञ्चविंशतिप्रकृतीनां रसस्पर्धकानि कानिचित् सर्वघातीनि, कानिचिद् देशघातीनि । तत्र यानि चतुःस्थानिकरसानि त्रिस्थानिकरसानि वा रसस्पर्धकानि तानि नियमतः सर्वघातीनि, द्विस्थानिकरसानि पुनः कानिचिद् देशघातीनि कानिचित् सर्वघातीनि, एकस्थानिकानि तु सर्वाण्यपि देशघातीन्येव । उक्तं च—

यानि [सर्वघातीनि] रसस्पर्धकानि सकलमपि स्वघात्यं ज्ञानादिगुणं घ्नन्ति, तानि च स्वरूपेण ताम्रभाजनवद् निश्छिद्राणि. घृतमिवातिशयेन स्निग्धानि, द्राक्षावत् तनुप्रदेशोपचितानि, स्फटिकाभ्रगृहवच्चातीवनिर्मलानि । उक्तं च—

[1]जो घाएइ[2] नियगुणं, सयलं सो होइ सव्वघाइरसो ।
सो निच्छिद्दो निद्धो, तणुओ फलिहब्भहरविमलो ।। (पञ्चसं० गा० १५४)

यानि च देशघातीनि रसस्पर्धकानि तानि स्वघात्यं ज्ञानादिगुणं देशतो घ्नन्ति, तदुदयेऽवश्यं क्षयोपशमसम्भवात् , तानि च स्वरूपेणानेकविधविवरसङ्कुलानि । तथाहि—कानिचित् कट इवातिस्थूरच्छिद्रशतसङ्कुलानि, कानिचित् कम्बल इव मध्यमविवरशतसङ्कुलानि, कानिचित् पुनर-

१ यो घातयति निजगुणं सकलं स भवति सर्वघातिरसः । स निश्छिद्रः स्निग्धः तनुकः स्फटिकाभ्रगृहविमलः ।। २ पञ्चसंग्रहे तु °इ सविसयं, सय° इति पाठः ।।

तिसूक्ष्मविवरनिकरसङ्कुलानि यथा वासांसि, तथा तानि देशघातीनि रसस्पर्धकानि स्तोकस्नेहानि भवन्ति वैमल्यरहितानि च। उक्तं च--

[1]देसविघाइत्तणओ, इयरो कडकंबलंसुसंकासो।

विविहबहुछिद्दभरिओ, अप्पसिणेहो अविमलो य॥ (पञ्चसं० गा० १५१) इति॥६५॥

प्ररूपितः सप्रपञ्चमनुभागबन्धः। इदानीमुत्कृष्टानुभागबन्धस्य स्वामिनो निरूपयन्नाह---

तिव्वमिगथावरायव, सुरमिच्छा विगलसुहुमनरयतिगं।

तिरिमणुयाउ तिरिनरा, तिरिदुगछेवट्ठ सुरनिरया॥६६॥

"इग" त्ति एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम आतपनाम इत्येतस्य प्रकृतित्रयस्य "सुरमिच्छ" त्ति सुराः-देवाः मिथ्यादृष्टयः तीव्रमनुभागमुत्कृष्टानुभागं कुर्वन्तीति शेषः। अत्र चाविशेषोक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायात् सुरा ईशानान्ता एव द्रष्टव्याः नोपरितनाः, तेषामेकेन्द्रियेषूत्पत्त्यभावाद् एकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतित्रयबन्धासम्भवात्। अयमपि चेशानान्तो देव एकेन्द्रियजाति-स्थावरयोरुत्कृष्टानुभागं सर्वसंक्लिष्टो बध्नाति, आतपस्य तु तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति द्रष्टव्यम्। इदं हि शुभप्रकृतित्वाद् विशुद्ध्या उत्कृष्टरसं जन्यते। साऽपि विशुद्धिर्यद्यधिकतरा गृह्यते तदा पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं मनुष्यप्रायोग्यं वा बध्नीयात्, न चातपं तत्प्रायोग्यबन्धे बध्यते, एकेन्द्रियप्रायोग्यत्वादेवेत्यालोच्य तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वविशेषणोपादानम्।

आह परः-ननु भवत्वेवं, किन्तु मिथ्यादृष्टिदेव एवैतास्तिस्र उत्कृष्टरसाः करोति नान्य इत्यत्र किं निबन्धनम्? अत्रोच्यते-नारकाणां तावदेता एकेन्द्रियप्रायोग्यत्वात् तत्रोत्पत्त्यभावाद् बन्ध एव नागच्छन्ति, तिर्यङ्-मनुष्यास्तु यावत्यां विशुद्धौ वर्तमानः अयमातपमुत्कृष्टरसं करोति तावत्यां विशुद्धौ वर्तमानाः पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिप्रायोग्यमन्यत् किञ्चित् शुभतरमुपरचयेयुः, यावति च संक्लेशे वर्तमानोऽसावेकेन्द्रियजाति-स्थावरयोरुत्कृष्टानुभागं बध्नाति तावति संक्लेशे स्थिता अमी नरकगतिप्रायोग्यं निर्वर्तयेयुः, देवास्तूत्कृष्टसंक्लेशेऽपि भवप्रत्ययाद् एकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नन्ति, न तु नरकयोग्यमिति तिर्यङ्-मनुष्याणामपि प्रक्रान्तकर्मत्रयोत्कृष्टानुभागबन्धकत्वासम्भवः, सुरा अपि सम्यग्दृष्टयो मनुष्ययोग्यमेव बध्नन्तीति मिथ्यादृष्टिग्रहणम्। तस्मादीशानान्ता मिथ्यादृष्टिदेवा यदा आतपस्य सर्वलघ्वीं स्थितिमुपकल्पयन्ति तदा तद्बन्धकेष्वतिविशुद्धा अस्योत्कृष्टानुभागं विदधति, यदा तूत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमाना एकेन्द्रियजाति-स्थावरयोः सर्वोत्कृष्टां स्थितिमुपरचयन्ति [2]तदा तयोरुत्कृष्टानुभागं कुर्वते इति स्थितम्। तथा त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् विकल-

---

१ देशविघातित्वादितरः कटकम्बलांशुकसङ्काशः। विविधबहुच्छिद्रभृतोऽल्पस्नेहोऽविमलश्च॥

२ सं० १-२ छा० °दा तयोरु°॥

त्रिकं–द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियलक्षणं सूक्ष्मत्रिकं–सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-साधारणाख्यं नरकत्रिकं-नरकगति-नरकानुपूर्वी-नरकायुःस्वरूपम् , आयुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् तिर्यगायुर्मनुजायुः इत्येतासामेकादशप्रकृतीनां कोलिकनलकन्यायेन मिथ्यादृष्टिशब्दस्येहाप्यनुकर्षणाद् मिथ्यादृष्टयः तिर्यञ्चश्च नराश्च तिर्यग्-नरास्त एवोत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति, न देवनारका इत्यर्थः । तथाहि-तिर्यङ्-मनुष्यायुर्वर्जा नवप्रकृतीर्भवप्रत्ययादेव नारका न बध्नन्ति, तिर्यङ्-मनुष्यायुषी अप्यत्र भोगभूमियोग्ये उत्कृष्टरसे प्रकृते अतस्ते अमी न बध्नन्ति, कुतस्तेषां तदनुभागबन्धसम्भवः ? तस्मात् संज्ञिनो मिथ्यादृष्टयस्तिर्यङ्-मनुष्या एतत्प्रायोग्यविशुद्धा एते आयुषी बध्नन्ति, नारकायुषस्तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा उत्कृष्टरसं बध्नन्ति, अतिसंक्लिष्टस्यायुर्बन्धनिषेधात् , नरकद्विकं त्वेत एव सर्वसंक्लिष्टा बध्नन्ति एकं द्वौ वा समयौ यावद् , उत्कृष्टसंक्लेशस्यैतावन्मात्रकालत्वादेव । शेषाणां तु विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकलक्षणानां षण्णां प्रकृतीनामेत एव तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा उत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति, सर्वसंक्लिष्टा ह्यमी प्रस्तुतप्रकृतिबन्धमुल्लङ्घ्य नरकप्रायोग्यं निर्वर्तयेयुरिति तत्प्रायोग्यसंक्लेशग्रहणमिति । तथा तिर्यग्द्विकं-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीस्वरूपं छेदपृष्ठसंहनन-मित्येतत्प्रकृतित्रयस्य सुरा नारका वा अत्यन्तसंक्लिष्टा उत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति । तिर्यङ्-मनुष्या ह्येतावति संक्लेशे वर्तमाना नरकगतिप्रायोग्यमेव निर्वर्तयेयुः, न च तद्योग्या एताः प्रकृतयो बध्यन्त इति तद्व्युदासेन देव-नारकाणां ग्रहणम् , ते हि सर्वसंक्लिष्टा अपि तिर्यग्गतिप्रायोग्यमेव बध्नन्तीति । इह च "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः" सेवार्तस्येशानादुपरि सनत्कुमारादयो देवा उत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति, न त्वीशानान्ताः; ते ह्यतिसंक्लिष्टा एकेन्द्रियप्रायोग्यमेव विरचयेयुः, न च तद्योग्यमिदं बध्यत इति ॥६६॥

विउविसुराहारदुगं, सुखगइवन्नचउतेयजिणसायं ।
समचउपरघातसदसपणिंदिसासुच्च खवगा उ ॥६७॥

द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् वैक्रियद्विकं वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गाख्यं, सुरद्विकं--सुरगति- सुरानुपूर्वीस्वरूपम् , आहारकद्विकम् - आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणं, सुखगतिः--प्रशस्तविहायोगतिः, वर्णचतुष्कं--वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शलक्षणं, "डमरुकमणिन्यायाद्" इहापि चतुःशब्दस्य सम्बन्धात् तैजसचतुष्कं–तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माणाख्यं, जिननाम सातवेदनीयम् "समचउ" त्ति समचतुरस्रं संस्थानम् "परघ" त्ति पराघातनाम त्रसदशकं–त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्तिस्वभावम् , "पणिंदि" त्ति पञ्चेन्द्रियजातिः "सास" त्ति उच्छ्वासनाम उच्चैर्गोत्रम् इत्येतासां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागं यथासम्भवं 'क्षपकौ' सूक्ष्मसम्पराया-ऽपूर्वकरणलक्षणौ कुरुतः । अपूर्वकरणो मोहनीयमक्षपय-

अपि योग्यतया राज्यार्हकुमारराजवत् क्षपक उक्त इति द्रष्टव्यम् । तत्र सातवेदनीय-यशः-कीर्ति-उच्चैर्गोत्रलक्षणप्रकृतित्रयस्य क्षपकसूक्ष्मसम्परायश्चरमसमये वर्तमान उत्कृष्टानुभागं बध्नाति, स्वगुणस्थानशेषसमयेभ्योऽन्येभ्यश्च तद्बन्धकेभ्योऽस्यानन्तगुणविशुद्धत्वादिति । शेषाणां त्वेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनां क्षपकापूर्वकरणो देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदसमये वर्तमानस्तीव्रमनुभागं बध्नाति, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वादिति ॥६७॥

तमतमगा उज्जोयं सम्मसुरा मणुयउरलदुगवइरं ।
अपमत्तो अमराउं, चउगइमिच्छा उ सेसाणं ॥६८॥

तमस्तमा—अधःसप्तमनरकपृथिवी तदाधारा नारकास्तमस्तमका उच्यन्ते, अमी उद्योतनामकर्मण उत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति । तथाहि—कश्चित् सप्तमनरकपृथिवीनारको यथाप्रवृत्त्यादीनि त्रीणि करणानि कृत्वाऽनिवृत्तिकरणे स्थितो मिथ्यात्वस्यान्तरकरणं करोति, तत्र च कृते मिथ्यात्वस्य स्थितिद्वयं भवति, अन्तरकरणाद् अधस्तनी प्रथमा स्थितिरन्तर्मुहूर्तमात्रा, तस्मादेवोपरितनी शेषा द्वितीया स्थितिः । स्थापना— 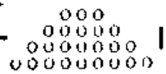 । तत्राधस्तनस्थितेर्मिथ्यात्ववेदनस्य चरमसमये उद्योतस्य तीव्रमनुभागं बध्नाति । इदं हि 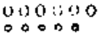 शुभप्रकृतित्वाद् विशुद्ध एवोत्कृष्टरसं करोति, तद्बन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्धः, अन्यस्थानवर्ती हि एतावत्यां विशुद्धौ वर्तमानो मनुष्यप्रायोग्यं देवप्रायोग्यं वा बध्नीयात् । इदं तु तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धसहचरितमेव बध्यत इति सप्तमपृथिवीनारकस्यैवोपादानम्, तत्र हि यावत् किञ्चिदपि मिथ्यात्वमस्ति तावत् क्षेत्रानुभावत एव तिर्यक्प्रायोग्यमेव बध्यत एवेति भावः । तथा द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् मनुजद्विकं—मनुजगति—मनुजानुपूर्वीरूपम्, औदारिकद्विकम्—औदारिकशरीर—औदारिकाङ्गोपाङ्गाख्यम् "वइरं" ति वज्रर्षभनाराचसंहननम् इत्येतासां पञ्चानां प्रकृतीनां "सम्मसुर" त्ति सम्यग्दृष्टिसुरा अत्यन्तविशुद्धास्तीव्रानुभागमेकं द्वौ वा समयौ यावद् बध्नन्ति । मिथ्यादृष्टेर्हि सम्यग्दृष्टिरनन्तगुणविशुद्ध इति सम्यग्दृष्टेर्ग्रहणम् । नारका अपि हि विशुद्धाः सन्त एताः प्रकृतीरुपरचयन्ति, केवलं वेदनानिवहविह्वलीकृतत्वाद् अमरवत् प्रकृष्टभावनिबन्धनतीर्थकरादिसमृद्धिसमुदायसन्दर्शन-तद्वचःश्रवण-नन्दीश्वरादिचैत्यदर्शनाद्यसम्भवाच्च तथाविधविशुद्ध्यसम्भवात् तेषामिहाग्रहणम् । तिर्यङ्मनुष्याणां पुनरतिविशुद्धानां देवगतिप्रायोग्यबन्धकत्वात् तद्योग्यप्रस्तुतप्रकृतिबन्धासम्भव इति सर्वव्युदासेन सुरस्यैवोपादानम् । तथा 'अप्रमत्तः' अप्रमत्तयतिरमरायुरुत्कृष्टानुभागं बध्नाति, अपरेभ्यो देवायुर्बन्धकमिथ्यादृष्टि-अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरतादिभ्योऽस्यानन्तगुणविशुद्धत्वादिति ।

तदेवं द्विचत्वारिंशतः पुण्यप्रकृतीनां चतुर्दशानां त्वशुभप्रकृतीनां तीव्रानुभागबन्धस्वामिन उक्ताः । साम्प्रतं शेषाणामष्टपष्टचशुभप्रकृतीनां बन्धस्वामिनो निरूपयन्नाह—"चउगइमिच्छा उ

सेसाणं" ति चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयः तुशब्दात् तीव्रोत्कटकषाया जीवाः 'शेषाणां' भणितोद्धरितानां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवका--ऽसातवेदनीय-मिथ्यात्व- कषायषोडशक--नोकषायनवक-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-प्रथमान्तिमवर्जसंहननचतुष्का-ऽप्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-उपघाता-ऽप्रशस्तविहायोगति-अस्थिरा ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्ति-नीचैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामष्टपञ्चाशुभप्रकृतीनां तीव्रमुत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति। तत्र हास्य-रति-स्त्रीवेद-पुंवेद-प्रथमान्तिमवर्जसंस्थान-संहननलक्षणा द्वादश प्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषाः [1]षट्पञ्चाशत्प्रकृतीरुत्कृष्टतत्प्रायोग्यसंक्लेशयुक्तास्तीव्रानुभागाः कुर्वन्ति। सर्वोत्कृष्टसंक्लेशो हि तावद् हास्य-रतियुगलमतिक्रम्य अरति-शोकयुगलमेव रचयति, स्त्रीवेद-पुंवेदौ त्वतिक्रम्य नपुंसकवेदं निर्वर्तयति। संस्थान-संहननेष्वपि सर्वसंक्लिष्टो विंशतिसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके हुण्ड-सेवार्ते निर्वर्तयति। ततो विशुद्धोऽष्टादशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके वामन-कीलिके रचयति, ततो विशुद्धतरः षोडशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके कुब्जा-ऽर्धनाराचे बध्नाति, ततोऽपि विशुद्धश्चतुर्दशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके सादि-नाराचे निर्वर्तयति, ततोऽपि विशुद्धो द्वादशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके न्यग्रोधपरिमण्डल-ऋषभनाराचे उपकल्पयति, ततोऽपि विशुद्धो दशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके समचतुरस्र-वज्रर्षभनाराचे बध्नाति। तस्मात् प्रथमा-ऽन्तिमवर्जसंस्थानचतुष्टयस्य तथा प्रथमा-ऽन्तिमवर्जसंहननचतुष्टयस्य चात्मीयात्मीयोत्कृष्टस्थितिबन्धकाले तत्प्रायोग्यसंक्लेशयुक्ता अमी उत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति, हीनाधिकसंक्लेशेऽन्यान्यबन्धसम्भवात् तत्प्रायोग्यसंक्लेशग्रहणमिति भावः। प्रथमा-ऽन्तिमसंस्थान-संहननवर्जनं किमर्थम्? इति चेद् उच्यते—हुण्डसंस्थानं तावत् "चउगइमिच्छा उ सेसाणं" ति गाथावयवे एवाभिहितम्, समचतुरस्रसंस्थानं तु "विउविसुराहारदुगं" (गा० ६७) इत्याद्यनन्तरगाथायां भावितम्, वज्रर्षभनाराचसंहननं तु "सम्मसुरा मणुयउरलदुगवइरं" इत्यत्र निरूपितम्, सेवार्तसंहननं पुनः "तिरिदुगछेवट्ठसुरनिरया" (गा० ६६) इत्यत्र भावितमिति पारिशेष्याद् मध्यमसंस्थानचतुष्टयं मध्यमसंहननचतुष्टयं च तत्प्रायोग्यसंक्लेशे वर्तमानाश्चतुर्गतिका मिथ्यादृष्टयो जीवा उत्कृष्टरसं कुर्वन्तीत्युक्तमिति ॥६८॥

अभिहिताः सर्वप्रकृतीः प्रतीत्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामिनः। इदानीं सर्वप्रकृतीरुद्दिश्य जघन्यानुभागबन्धस्वामिनश्चिन्तयन्नाह—

थीणतिगं अण--मिच्छं, मंदरसं संजमुम्मुहो मिच्छो ।
बियतियकसाय अविरय, देस पमत्तो अरइसोए ॥६९॥

स्त्यानर्द्धया उपलक्षितं त्रिकं स्त्यानर्द्धित्रिकं—निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिलक्षणम्

---

१ अत्र षट्पञ्चाशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टसंक्लेशे नैव ज्येष्ठानुभागबन्धप्रायोग्यत्वम्। हास्यादिद्वादशप्रकृतीनां तूत्कृष्टसंक्लेशे बन्धाभावेन तत्प्रायोग्यज्येष्ठसंक्लेशेन ज्येष्ठरसबन्धार्हत्वम् परिभावनीयम्।

"अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनः–क्रोध-मान-माया-लोभाख्याश्चत्वारः मिथ्यात्वम् इत्येतासामष्टानां प्रकृतीनां स्वगुणस्थानचरमसमये वर्तमानो मिथ्यादृष्टिः "संजमुम्मुहु" त्ति सम्यक्त्वसंयमाभिमुखः–सम्यक्त्वसामायिकं प्रतिपित्सुः 'मन्दरसं' जघन्यानुभागं बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेष्वयमेव सर्वविशुद्ध इति । तथा कषायशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्वितीयकषायचतुष्टयस्य--अप्रत्याख्यानावरणलक्षणस्य "अविरय" त्ति अविरतसम्यग्दृष्टिः स्वगुणस्थानचरमसमये वर्त्तमानः संयमोन्मुख इत्यत्रापि योज्यम् , संयमाभिमुखः-देशविरतिसामायिकं प्रतिपित्सुर्मन्दरसं बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेष्वस्यैव विशुद्धत्वात् । तथा तृतीयकषायचतुष्टयस्य–प्रत्याख्यानावरणकषायलक्षणस्य "देस" त्ति देशविरतः स्वगुणस्थानचरमसमये वर्तमानः संयमोन्मुखः--सर्वविरतिसामायिकं प्रतिपित्सुर्मन्दरसं करोति, तत्प्रकृतिबन्धकेष्वस्यैव विशुद्धतरत्वात् । तथा 'प्रमत्तः' प्रमत्तयतिः संयमोन्मुखः--अप्रमत्तसंयमं प्रतिपित्सुः, अरतिश्च शोकश्चाऽरति-शोकं तस्मिन्नरति-शोके अरति-शोकयोर्मन्दरसं विदधाति, इदं हि प्रकृतिद्वयमशुभत्वात् सर्वविशुद्ध एव जघन्यरसं करोति, तद्बन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति ॥६९॥

अपमाइ हारगदुगं, दुनिद्दअसुवन्नहासरइकुच्छा ।
भयमुवघायमपुव्वो, अनियट्टी पुरिससंजलणे ॥ ७० ॥

'आहारकद्विकं' आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणं न प्रमाद्यति इत्येवंशीलोऽप्रमादी-अप्रमत्तयतिः अनन्तरमेव प्रमत्तभावं प्रतिपित्सुर्मन्दरसं-जघन्यरसं करोतीति यावत् । इदं हि प्रकृतिद्वयं शुभस्वरूपत्वात् संक्लिष्ट एव जघन्यरसं करोति, तद्बन्धकेषु त्वयमेवातिसंक्लिष्ट इति भावः । तथा 'दुनिद्द' त्ति द्वयोर्निद्रयोः समाहारो द्विनिद्रं-निद्रा-प्रचलालक्षणं "सु" शोभनं "वन्नं" ति वर्णचतुष्कं न सुवर्णम् असुवर्णम् अप्रशस्तवर्णचतुष्कम् अप्रशस्तवर्णगन्ध-रस-स्पर्शा इत्यर्थः, हास्यं रतिः "कुच्छ" त्ति जुगुप्सा भयम् उपघातम् इत्येतासामेकादशप्रकृतीनां "अपुव्व" त्ति सामान्योक्तावपि क्षपकापूर्वकरण एकैकस्मिन्नात्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेदसमये जघन्यानुभागं बध्नाति । एता ह्यशुभप्रकृतयः, अशुभप्रकृतीनां च सर्वविशुद्ध एव जघन्यानुभागं बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति । तथा "पुरिस" त्ति पुरुषवेदः संज्वलनाः–क्रोध-मान-माया-लोभाश्चत्वार इत्येतस्य प्रकृतिपञ्चकस्यैकैकस्मिन्नात्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेदसमये "अनियट्टि" त्ति सामान्योक्तावपि क्षपकाऽनिवृत्तिबादरो जघन्यानुभागं निर्वर्तयति । एता ह्यशुभप्रकृतयः, अशुभप्रकृतीनां च सर्वविशुद्ध एव जघन्यानुभागं बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति ॥७०॥

विग्घावरणे सुहुमो, मणुतिरिया सुहुमविगलतिगआऊ ।
वेउव्विछक्कममरा, निरया उज्जोयउरलदुगं ॥ ७१ ॥

विघ्नानि—दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायलक्षणानि पञ्च, आवरणानि—मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणाऽवधिज्ञानावरण-मनःपर्यायज्ञानावरण-केवलज्ञानावरण-चक्षुर्दर्शनावरणाऽचक्षुर्दर्शनावरणाऽवधिदर्शनावरण-केवलदर्शनावरणलक्षणानि नव इत्येतासां चतुर्दशप्रकृतीनां "सुहुम" त्ति सामान्योक्तावपि क्षपकसूक्ष्मसम्परायश्चरमसमये वर्तमानो जघन्यानुभागं बध्नाति। एता ह्यशुभप्रकृतयः, अशुभप्रकृतीनां च सर्वविशुद्ध एव जघन्यानुभागं बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति। तथा त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सूक्ष्मत्रिकं—सूक्ष्माऽपर्याप्तक-साधारणाख्यं, विकलत्रिकं—द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिलक्षणम्, "आउ" त्ति आयूंषि—देव-मनुष्य-तिर्यङ्-नारकायुर्भेदाच्चत्वारि, वैक्रियषट्कं-देवगति-देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणम् इत्येतासां षोडशप्रकृतीनां "मणुतिरिय" त्ति मनुशब्देन मनुष्या उच्यन्ते, ततो मनुष्याश्च तिर्यञ्चश्च मनुष्य-तिर्यञ्चो जघन्यानुभागं कुर्वन्ति। अत्र हि तिर्यङ्-मनुष्यायुर्द्वयं वर्जयित्वा शेषाश्चतुर्दशप्रकृतीर्देव-नारका भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति। तिर्यङ्-मनुष्यायुर्द्वयमपि यदा जघन्यस्थितिकं बध्यते तदा जघन्यरसं क्रियते, देव-नारकास्तु तद् जघन्यं न बध्नन्त्येव, तत्स्थितिकेषु तेषामुत्पत्त्यभावात्। तस्माद् नैतत् प्रकृतिषोडशकं देव-नारका बध्नन्ति, अतस्तिर्यङ्-मनुष्याणामेव ग्रहणम्। तत्र नारकायुषोऽशुभप्रकृतित्वात् तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्धा दशवर्षसहस्रलक्षणजघन्यस्थितिबन्धकाले जघन्यानुभागं तिर्यङ्-मनुष्याः कुर्वन्ति, शेषस्य त्वायुस्त्रयस्य शुभप्रकृतित्वात् तद्बन्धकेषु सर्वसंक्लिष्टा आत्मीयात्मीयसर्वजघन्यस्थितिबन्धकालेऽमी जघन्यानुभागं रचयन्ति। नरकद्विकस्याशुभप्रकृतित्वाद् जघन्यस्थितिबन्धकाले तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्धा एते जघन्यानुभागं विदधति। देवद्विकस्य शुभप्रकृतित्वाद् आत्मीयोत्कृष्टस्थितिबन्धकाले तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा अमी जघन्यानुभागं बध्नन्ति। अतिसंक्लिष्टो नरकादियोग्यं बध्नीयादिति तत्प्रायोग्यसंक्लेशग्रहणम्। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। वैक्रियद्विकस्यापि शुभप्रकृतित्वाद् नरकगतिबन्धसहितां सर्वोत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्तो जघन्यानुभागं निर्वर्तयन्ति। विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकयोस्त्वशुभप्रकृतित्वात् तत्प्रायोग्यविशुद्धा अमी सर्वजघन्यमनुभागं बध्नन्ति। अतिविशुद्धा मनुष्यादिप्रायोग्यं बध्नन्तीति तत्प्रायोग्यविशुद्धग्रहणमिति। भाविताः षोडश प्रकृतयः। तथा उद्योतम् औदारिकद्विकम्—औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणम् इत्येतासां तिसृणां प्रकृतीनां "अमरा निरय" त्ति सामान्यतोऽमराः—देवाः, निरयाः—निर्गतम् अयम्—इष्टफलं दैवं कर्म येभ्यस्ते निरयाः—नारकाः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमानास्तिर्यक्प्रायोग्यं बध्नन्तो जघन्यानुभागं कुर्वन्ति, केवलमौदारिकाङ्गोपाङ्गमीशानादुपरि-

१ छा० सं० १ त० म० जातिरूपं ॥

ततः सनत्कुमारादय एव देवा जघन्यरसं विदधति नेशानान्ताः, ते हि सर्वोत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमाना एकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नन्ति, एकेन्द्रियाणां चाङ्गोपाङ्गं न भवति, अत ईशानान्तदेवानां जघन्यरसाङ्गोपाङ्गनामबन्धासम्भवेन तज्जघन्यरसबन्धकत्वासम्भवः। भवत्वेवम्, किन्तु तिर्यङ्-मनुष्याः कस्मादिदं प्रकृतित्रयं जघन्यरसं न कुर्वन्ति? इति अत्रोच्यते—एतत् प्रकृतित्रयं तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धसहचरितं जघन्यरसं बध्यते, तिर्यङ्-मनुष्यास्त्वेतावति संक्लेशे वर्तमाना नरकगतिप्रायोग्यमेव रचयेयुरिति तेषामिहाग्रहणमिति ॥७१॥

तिरिदुगनिअं तमतमा, जिणमविरय निरय विणिगथावरयं।
आसुहमायव सम्मो, व सायथिरसुभजसा सिअरा ॥७२॥

तथा तिर्यग्द्विकं-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीरूपं नीचं—नीचैर्गोत्रम् इत्येतासां तिसृणां प्रकृतीनां तमस्तमा—सप्तमनरकपृथिवी तस्यामुत्पन्ना नारका अपि तमस्तमाः, यद्वा तमस्तमो विद्यते येषां ते तमस्तमाः "अभ्रादिभ्यः" (सिद्ध० ७-२-४६) इत्यप्रत्ययः, सप्तमनरकपृथिवीनारका इत्यर्थः, जघन्यानुभागं कुर्वन्ति। तथाहि—कश्चित् सप्तमपृथिवीनारकः सम्यक्त्वाभिमुखो यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि कृत्वाऽनिवृत्तिकरणस्य चरमसमये मिथ्यात्वस्य चरमपुद्गलान् वेदयन् प्रकृतित्रयस्य जघन्यानुभागं बध्नाति, अस्य हि प्रकृतित्रयस्याशुभत्वात् सर्वविशुद्धो जघन्यानुभागं करोति, तद्बन्धकेषु स्वयमेव सर्वविशुद्ध इति सम्यक्त्वाभिमुखादिविशेषणोपादानम्। अन्यस्थानवर्ती त्वेतावत्यां विशुद्धौ वर्तमान उच्चैर्गोत्रं मनुष्यद्विकादियुक्तं बध्नीयादिति सप्तमपृथिवीनारकस्यैव ग्रहणम्। अस्यां हि यावत् किञ्चिदपि मिथ्यात्वमस्ति तावद् भवप्रत्ययादेव नीचैर्गोत्रसहचरितस्तिर्यग्गतिप्रायोग्य एव बन्धो भवतीति। तथा "जिणं" ति जिननाम तीर्थकरनामकर्मेत्यर्थः "अविरय" त्ति अविरतसम्यग्दृष्टिः सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायाद् अविरतसम्यग्दृष्टिः नरके बद्धायुष्को नरकोत्पत्त्यभिमुखोऽनन्तरमेव मिथ्यात्वं प्रतिपित्सुर्मनुष्यस्तीर्थकरनाम्नो जघन्यानुभागं बध्नाति, तद्बन्धकेष्वयमेव सर्वसंक्लिष्ट इति कृत्वा। इयमत्र भावना—तीर्थकरनाम्नो ह्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणावसाना अनुभागबन्धका भवन्ति, किन्तु जघन्यानुभागः शुभप्रकृतीनां संक्लेशेन बध्यते, स च तीर्थकरनामबन्धकेष्वविरतस्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यत इति शेषव्युदासेनास्यैवोपादानमिति। तत्र तिर्यञ्चस्तीर्थकरनाम्नः पूर्वप्रतिपन्नाः प्रतिपद्यमानकाश्च भवप्रत्ययेनैव न भवन्तीति मनुष्यग्रहणम्। बद्धतीर्थकरनामकर्मा च पूर्वमबद्धनरकायुर्नरकं न व्रजतीति पूर्वं नरके बद्धायुष्कस्य ग्रहणम्। क्षायिकसम्यग्दृष्टिश्च श्रेणिकादिवत् ससम्यक्त्वोऽपि कश्चिद् नरकं प्रयाति, किन्तु तस्य विशुद्धत्वेन जघन्यानुभागाबन्धकत्वात् तस्यैव चेह प्रकृतत्वाद् नासौ गृह्यते। अतस्तीर्थकरनामकर्मजघन्यस्थितिबन्धकत्वाद् मिथ्यात्वाभिमुखस्यैव ग्रहणमिति।

तथा "निरय विणिगथावरयं" ति 'निरयान्' नारकान् 'विना' वर्जयित्वा शेषगतित्रयवर्तिनो जीवाः "इग" त्ति एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम इत्येतत्प्रकृतिद्वयस्य सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायात् परावर्तमानमध्यमपरिणामा जघन्यानुभागं बध्नन्ति । इदं हि प्रकृतिद्वयमशुभम् , तत्रातिसंक्लिष्टो जन्तुरनयोरुत्कृष्टानुभागं बध्नाति, अतिविशुद्धस्त्विदमुल्लङ्घ्य उत्कृष्टानुभागे पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसनाम्नी बध्नातीत्यालोच्य मध्यमपरिणामग्रहणम् । अयं च मध्यमपरिणामो यदैकस्मिन्नन्तर्मुहूर्ते एकेन्द्रियजाति-स्थावरनाम्नी बद्ध्वा पुनर्द्वितीयेऽप्यन्तर्मुहूर्ते ते एव बध्नाति तदापि भवति, केवलं तदाऽवस्थितपरिणामे तथाविधा विशुद्धिर्न लभ्यते इति मध्यमपरिणामस्यापि परावर्तमानताविशेषणम् । इदमुक्तं भवति—यदैकेन्द्रियजाति-स्थावरे बद्ध्वा पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नी बध्नाति, ते अपि बद्ध्वा पुनरेकेन्द्रियजाति-स्थावरे बध्नाति, तदैवं परावृत्य परावृत्य बध्नन् परावर्तमानमध्यमपरिणामः तत्प्रायोग्यविशुद्धः प्रस्तुतप्रकृतिद्वयस्य जघन्यानुभागं बध्नाति । भवत्वेवम् , तत्रापि नारकवर्जनं किमर्थम् ? इति चेद् उच्यते—नारकाणां स्वभावादेव प्रस्तुत प्रकृतिद्वयबन्धकत्वासम्भवादिति ।

तथा "आसुहमायव" त्ति सुधर्मा नाम सभा विद्यते यत्र स सौधर्मः, "ज्योत्स्नादिभ्योऽण्" (सिद्ध० ७–२–३४) इत्यण्प्रत्ययः, इह च सौधर्मग्रहणेन समश्रेणिव्यवस्थितत्वाद् ईशानोऽपि गृह्यते, ततश्च भवनपत्यादय ईशानपर्यन्ता देवास्तद्बन्धकेषु सर्वसंक्लिष्टा एकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नन्त आतपनाम जघन्यानुभागं बध्नन्ति । अस्य हि शुभप्रकृतित्वात् सर्वसंक्लिष्ट एव जघन्यानुभागं बध्नाति, तद्बन्धकेषु चैत एव सर्वसंक्लिष्टा लभ्यन्ते, तिर्यङ्-मनुष्या ह्ये तावति संक्लेशे वर्तमाना नारकादिप्रायोग्यं रचयेयुः, नारकाः सनत्कुमारादिदेवाश्च भवप्रत्ययादेव तद् न बध्नन्तीति शेषपरिहारेण यथोक्तदेवानामेव ग्रहणम् ।

तथा सातवेदनीयं स्थिरनाम शुभनाम यशःकीर्तिनामेत्येताश्चतस्रः प्रकृतीः 'सेतराः' सप्रतिपक्षा असातवेदनीया-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामसहिताः सर्वा अष्टौ प्रकृतीः "सम्मो व" त्ति सम्यग्दृष्टिः, वाशब्दात् मिथ्यादृष्टिर्वा, सामान्योक्तावपि परावर्तमानमध्यमपरिणामो जघन्यानुभागाः करोति । कथम् ? इति चेद् उच्यते—इह पूर्वं सातस्य पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिरभिहिता, असातस्य तु त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः, तत्र प्रमत्तसंयतस्तत्प्रायोग्यविशुद्धोऽसातस्य सम्यग्दृष्टियोग्यस्थितिषु सर्वजघन्यामन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणां स्थितिं बध्नाति, ततोऽन्तर्मुहूर्तात् परावृत्य सातं बध्नाति, पुनरप्यसातमिति । एवं देशविरता-ऽविरतसम्य-

१ सं० १-म० तथापि ॥

ग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि-सास्वादन-मिथ्यादृष्टयोऽपि परावृत्य परावृत्य साता-ऽसाते बध्नन्ति । तत्र च मिथ्यादृष्टिः साता-ऽसाते परावृत्य तावद् बध्नाति यावत् सातस्य पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटी-लक्षणा ज्येष्ठा स्थितिः, ततः परतोऽपि संक्लिष्टः संक्लिष्टतरः संक्लिष्टतमोऽसातमेव केवलं तावद् बध्नाति यावत् त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः; प्रमत्तादपि परतोऽप्रमत्तादयो विशुद्धा विशुद्ध-तराः सातमेव केवलं बध्नन्ति यावत् सूक्ष्मसम्पराये द्वादशमुहूर्ताः । तदेवं व्यवस्थिते सातस्य समयोनपञ्चदशसागरोपमकोटीकोटीलक्षणायाः स्थितेरारभ्य असातेन सह परावृत्य परावृत्य बध्नतो जघन्यानुभागबन्धोचितः परावर्तमानमध्यमपरिणामस्तावद् लभ्यते यावत् प्रमत्तगुणस्था-नकेऽन्तःसागरोपमकोटाकोटीलक्षणा सर्वजघन्याऽसातस्थितिः । एतेषु हि सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि-योग्येषु स्थितिस्थानेषु प्रकृतेः प्रकृत्यन्तरसङ्क्रमे मन्दः परिणामो जघन्यानुभागबन्धयोग्यो लभ्यते, नान्यत्र । तथाहि–येऽप्रमत्तादयः सातमेव केवलं बध्नन्ति ते विशुद्धत्वात् तस्य प्रभूत-मनुभागमुपकल्पयन्ति, योऽपि मिथ्यादृष्टिः सातस्योत्कृष्टां स्थितिमतिक्रान्तोऽसातमेव केवलमुप-रचयति सोऽप्यतिसंक्लिष्टत्वात् तस्य प्रभूतरसमभिनिर्वर्तयति, सागरोपमसप्तभागत्रयादिरूपवेद-नीयस्थितिबन्धकेष्वेकेन्द्रियादिष्वपि जघन्यानुभागबन्धो न सम्भवति, तथाविधाध्यवसायाभा-वात् , तस्माद् यथोक्तस्थितिबन्ध एव जघन्यानुभागबन्धसम्भवः, तथाविधपरिणामसद्भावादिति। अस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तीनां विंशतिसागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिरुक्ता । स्थिर-शुभ-यशःकीर्तीनां तु दशसागरोपमकोटीकोटयः । तत्र प्रमत्तसंयतस्तत्प्रायोग्यविशुद्धोऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तीनां सम्यग्दृष्टियोग्यस्थितिषु सर्वजघन्यामन्तःसागरोपमकोटीकोटीलक्षणां स्थितिं बध्नाति। ततोऽन्तमुहूर्ताद् विशुद्धः पुनरपि स्थिरादिकाः प्रतिपक्षभूता बध्नाति, ततः पुनरप्यस्थिरा-दिका इति । एवं देशविरता-ऽविरत-मिश्र-सास्वादन-मिथ्यादृष्टयोऽपि परावृत्य परावृत्याऽस्थिरा-शुभा-ऽयशःकीर्ति-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तीर्बध्नन्ति । तत्र च मिथ्यादृष्टिः स्थिर-शुभ-यशःकीर्तीरस्थि-राऽशुभा-ऽयशःकीर्तीश्च परावृत्य तावद् बध्नाति यावद् मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने स्थिरादीनामुत्कृष्टा स्थितिः एतेषु च सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टियोग्येषु स्थितिस्थानेषु जघन्यानुभागबन्धो लभ्यते, नान्यत्र। दशसागरोपमकोटीकोटीपरतो ह्यस्थिरादय एवाशुभाः प्रकृतयो बहुरसा बध्यन्ते । अप्रमत्तादयस्तु विशुद्धाः स्थिरादिकाः शुभप्रकृतीरेव बहुरसा निर्वर्तयन्तीति नान्यत्र जघन्यानुभाग आसां लभ्यत इति शेषः । भावना तु सातवद् बोद्धव्येति ॥७२॥

तसवन्नतेयचउमणुखगइदुगपणिंदिसासपरवुच्चं ।
संघयणागिइनपुथीसुभगियरत्ति मिच्छ चउगइगा ॥७३॥

चतुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् त्रसचतुष्कं–त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येकाख्यं, वर्णचतुष्कं–वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाभिधं तैजसचतुष्कं–तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माणलक्षणं, द्विकशब्दस्य

प्रत्येकं सम्बन्धाद् मनुजद्विकं—मनुजगति-मनुजानुपूर्वीस्वरूपं खगतिद्विकं—प्रशस्तविहायोगति-अशुभविहायोगतिरूपं, पञ्चेन्द्रियजातिः उच्छ्वासनाम पराघातनाम उच्चम्—उच्चैर्गोत्रं संहननानि वज्रर्षभनाराच-ऋषभनाराच-नाराचा-ऽर्धनाराच-कीलिका-सेवार्तलक्षणानि षट्, आकृतयः—आकाराः संस्थानानि समचतुरस्र-न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-वामन-कुब्ज-हुण्डलक्षणानि षट्, "नपु" त्ति नपुंसकवेदः "थी"ति स्त्रीवेदः, त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सुभगत्रिकं—सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयलक्षणम्, 'इतरत्रिकं' दुर्भगत्रिकं—दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेयलक्षणम्, इत्येतासां चत्वारिंशत्प्रकृतीनां "मिच्छ" त्ति मिथ्यादृष्टयश्चतुर्गतिका जघन्यानुभागं कुर्वन्ति ।

इह सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायात् पञ्चेन्द्रियजाति-तैजस-कार्मण-प्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शा-ऽगुरुलघु-पराघात—उच्छ्वास-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-निर्माणलक्षणानां पञ्चदशप्रकृतीनां चतुर्गतिका अपि जीवा मिथ्यादृष्टयः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशा जघन्यानुभागं कुर्वन्ति । एता हि शुभप्रकृतित्वात् सर्वोत्कृष्टसंक्लेशैर्जघन्यरसाः क्रियन्ते । तत्र च तिर्यङ्—मनुष्याः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमाना नरकगतिसहचरिता एता बध्नन्तो जघन्यरसाः कुर्वन्ति । नारका देवाश्चेशानादुपरिवर्तिनः सनत्कुमारादयः सर्वसंक्लिष्टाः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्या एता बध्नन्तो जघन्यरसाः कुर्वन्ति, ईशानान्तास्तु देवाः सर्वसंक्लिष्टाः पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसवर्जाः शेषास्त्रयोदश प्रकृतीरेकेन्द्रियप्रायोग्या बध्नन्तो जघन्यरसा विदधतीति । पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसनाम्नी तु विशुद्धा अमी बध्नन्तीति जघन्यरसो न लभ्यत इति तद्वर्जनम् । स्त्रीवेदनपुंसकवेदलक्षणप्रकृतिद्वयस्य चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयो जीवा अशुभत्वाद् एतत्प्रकृतिद्विकस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धा जघन्यानुभागं रचयन्ति । अतिविशुद्धः पुरुषवेदबन्धकः स्यादिति तत्प्रायोग्यविशुद्धग्रहणमिति ।

मनुष्यद्विक-संहननषट्क-संस्थानषट्क-विहायोगतिद्विक-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेय-उच्चैर्गोत्रलक्षणानां त्रयोविंशतिप्रकृतीनां चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयो मध्यमपरिणामा जघन्यानुभागं कुर्वन्ति; सम्यग्दृष्टीनां ह्येतासां परावृत्तिर्नास्ति, तथाहि—तिर्यङ्मनुष्याः सम्यग्दृष्टयो देवद्विकमेव बध्नन्ति, न मनुष्यादिद्विकानि, संस्थानेषु तु समचतुरस्रमेव रचयन्ति, संहननं तु किञ्चिदपि न बध्नन्ति, तथा शुभविहायोगति-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-उच्चैर्गोत्राण्येव बध्नन्ति न प्रतिपक्षाः । देवा नारका अपि सम्यग्दृष्टयो मनुष्यद्विकमेव बध्नन्ति, न तिर्यग्द्विकादिकम्, संस्थानेषु तु समचतुरस्रसंस्थानमेव, संहननेषु पुनर्वज्रर्षभनाराचसंहननमेव, विहायोगत्यादिका अपि शुभा एव बध्नन्ति न प्रतिपक्षा इति, तेषां परावृत्त्यभावाद् मिथ्यादृष्टिग्रहणम् । तत्र मनुष्यगतिद्विकस्य पञ्चदशसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः, प्रशस्तविहायोगति-सुभग-सुस्वराऽऽदेय-उच्चैर्गोत्र-वज्रर्षभनाराचसंहनन-समचतुरस्रसंस्थानानां तु दशसा-

गरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः । एताः शुभप्रकृतय आत्मीयाऽऽत्मीयोत्कृष्टस्थितेरारभ्य प्रतिपक्षप्रकृतिभिः सह तावत् परावृत्य परावृत्य बध्यन्ते, यावत् तासामेव प्रतिपक्षप्रकृतीनां सर्वजघन्याऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीलक्षणा स्थितिः । एतेषु स्थितिस्थानेषु परावर्तमानमध्यमपरिणाम एतासां जघन्यानुभागं बध्नाति । हुण्ड-सेवार्तयोरपि वामन-कीलिकयोरुत्कृष्टस्थितेरारभ्य तावत् परावृत्तिर्लभ्यते यावदात्मीयाऽऽत्मीयजघन्यस्थितिः । शेषसंस्थान-संहनननामप्यात्मीयात्मीयोत्कृष्टस्थितेरारभ्य सम्भवदितरसंस्थान-संहननैः सह परावृत्तिस्तावद् लभ्यते यावदात्मीयाऽऽत्मीयजघन्यस्थितिः । एतेषु स्थितिस्थानेषु मिथ्यादृष्टिः परावर्तमानमध्यमपरिणामो जघन्यानुभागं बध्नातीति ॥७३॥

प्ररूपिताः सप्रपञ्चं जघन्यानुभागबन्धस्वामिनः । साम्प्रतमनुभागबन्धमेव मूलोत्तरप्रकृतीरुद्दिश्य भङ्गैर्विचारयन्नाह—

चउतेयवन्न वेयणियनामणुक्कोसु सेसधुवबंधी ।
घाईणं अजहन्नो, गोए दुविहो इमो चउहा ॥७४॥

इह ग्रन्थलाघवार्थं यथातथा प्रकृतयो भङ्गैर्विचार्यन्ते । तत्र चतुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् तैजसचतुष्कं—तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माणलक्षणं, वर्णचतुष्कम्—अग्रेऽप्रशस्तस्य वक्ष्यमाणत्वादिह प्रशस्तं वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाख्यं गृह्यते इति, एतासामुत्तरप्रकृतीनामष्टानामनुत्कृष्टः, "इमो चउह" त्ति पदं सर्वत्र योजनीयम् , अयमनुत्कृष्टो बन्धश्चतुर्धा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवति । तथा वेदनीय-नाम्नोर्मूलप्रकृत्योरनुत्कृष्टो बन्धश्चतुर्धा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवति । तथा "सेसधुवबंधि" त्ति षष्ठ्यर्थे प्रथमा, ततो भणितशेषाणां ध्रुवबन्धिनीनां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक मिथ्यात्व-कषायषोडशक-भय-जुगुप्सा-ऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्क-उपघाता-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धश्चतुर्धा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवति । तथा ज्ञान-दर्शन चारित्रलाभादिगुणान् घ्नन्तीत्येवंशीलानि घातीनि—ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीया-ऽन्तरायाणि तेषामजघन्यानुभागबन्धश्चतुर्धा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवति । तथा 'गोत्रे' गोत्रकर्मणि द्विविधोऽनुत्कृष्टा-ऽजघन्यलक्षणो बन्धश्चतुर्धा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवतीत्यक्षरार्थः ।

भावार्थस्त्वयम्— तत्र तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-प्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शलक्षणानामष्टानामुत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टाऽनुभागबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पोऽपि भवति । तथाहि—कर्मणां हि रसो यस्मादन्यो हीनो नास्ति स सर्वजघन्यः, तत ऊर्ध्वमेकं रसांशमादौ कृत्वा यावत् सर्वोत्कृष्टस्तावदजघन्य इत्यनन्तभेदभिन्नोऽप्यसौ जघन्याऽजघन्यप्रकारद्वयेन क्रोडीकृतः; तथा

यस्माद् अन्योऽधिको रसो न बध्यते स उत्कृष्टः, तत एकरसांशहानिमादौ कृत्वा यावत् सर्वजघन्यस्तावत् सर्वोऽप्यनुत्कृष्ट इतिः अनेन वा प्रकारद्वयेनानन्ता अपि रसविशेषाः संगृहीताः । तत एतासां प्रस्तुताष्टप्रकृतीनामुत्कृष्टमनुभागबन्धं क्षपकापूर्वकरणो देवगतिप्रायोग्याणां त्रिंशतः प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदसमये करोति । एता हि शुभप्रकृतयः, अत एतदुत्कृष्टानुभागं सर्वविशुद्ध एव रचयति, तद्बन्धकेषु स्वयमेव सर्वविशुद्धः । एतस्मात् पुनरन्यत्रोपशमश्रेणावप्यनुत्कृष्टो-ऽनुभागबन्धो लभ्यते, स चोपशान्तमोहाद्यवस्थायां सर्वथा न भवतीति ततः प्रतिपतितैर्जन्तु-भिर्बध्यमानः सादिः, तच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणां सदाबध्यमानत्वाद् अनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति । प्रतिपादितस्तैजसचतुष्क-वर्णचतुष्कलक्षणप्रकृत्यष्टकस्यानुत्कृष्टो बन्धः । शेषबन्धत्रिकस्य तु का वार्ता ? इत्याह–"सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते उत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यानुभागत्रिके द्विप्रकारः–सादि-अध्रुवलक्षणो बन्धो भवतीत्यर्थः । तथाहि–अस्य प्रकृत्यष्टकस्योत्कृष्टानुभागबन्धोऽनन्तरमेव क्षपकापूर्वकरणे प्रोक्तः, स च तत्प्रथमतया बध्यमान-त्वात् सादिः, एकं च समयं भूत्वाऽग्रेऽवश्यं न भवतीत्यध्रुवः । जघन्यानुभागं त्वेतासां शुभप्रकृति-त्वात् सर्वोत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमानो मिथ्यादृष्टिः पर्याप्तः संज्ञिपञ्चेन्द्रियो बध्नाति । पुनरपि जघन्यतः समयादुत्कृष्टतः समयद्वयादवश्यं स एवाजघन्यं बध्नाति, पुनः कालान्तरे स एवोत्कृष्टसंक्लेशं प्राप्य जघन्यं बध्नातीत्येवं जघन्या-ऽजघन्येषु परावर्तमानानां जन्तूनामुभयत्र साद्यध्रुवतैवेति ।

तथा "वेयणियनामणुक्कोसु" त्ति वेदनीय-नाम्नोरनुत्कृष्टोऽनुभागबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पो-ऽपि भवति । तथाहि–अनयोः कर्मणोः सात-यशःकीर्तिलक्षणं तदन्तर्गतं प्रकृतिद्वयमाश्रित्य सर्वोत्कृष्टो रसः क्षपक-सूक्ष्मसम्परायचरमसमये प्राप्यते, ततोऽन्यः सर्वोऽप्युपशमश्रेणावपि अनु-त्कृष्टोऽनुभागबन्धो लभ्यते, ततश्चोपशान्तमोहाद्यवस्थायां सर्वथा न भवतीति, ततः प्रतिपति-तैर्जन्तुभिर्बध्यमानोऽनुभागः सादिः, उपशान्तमोहाद्यवस्थायां त्वप्राप्तपूर्वस्यानादिः, अनादिकालाद् बध्यमानत्वाद्, ध्रुवोऽभव्यानामपर्यन्तत्वात्, अध्रुवो भव्यानां सपर्यन्तत्वादिति । भावितो वेद-नीयनाम्नोरनुत्कृष्टो बन्धः । शेषे तु का वार्ता ? इत्याह–"सेसम्मि दुह" त्ति एतत् पदं पूर्व-सम्बन्धितमप्यावृत्त्याऽत्रापि सम्बध्यते । ततः शेषे–भणितोद्धरिते उत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यलक्ष-णानुभागत्रिके द्विप्रकारः साद्यध्रुवलक्षणो बन्धो भवति । तथाहि–उत्कृष्टमनुभागबन्धं वेदनीय-नाम्नोरनन्तरमेव प्रस्तुततत्कर्मबन्धकेष्वतिविशुद्धत्वात् क्षपकसूक्ष्मसम्परायो बध्नातीत्युक्तम् । स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, क्षीणमोहावस्थायां तु नियमाद् न भविष्यतीत्यध्रुवः । जघन्यानुभागं त्वनयोः कर्मणोः सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा मध्यमपरिणामो बध्नाति, सर्वविशुद्धो

---

१० छा० सर्वोत्कृष्टसं० ॥

ह्यं तत्कर्मद्वयग्रहणगृहीतानां सात-यशःकीर्त्यादिलक्षणशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टस्वरूपं शुभरसं कुर्यात्, सर्वसंक्लिष्टस्त्वसात-नरकगत्यादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्वरूपमशुभरसं कुर्यादिति मध्यमपरिणामग्रहणम्। अयं च जघन्यानुभागोऽजघन्याद् अवतीर्य बध्यत इति सादिः, पुनर्जघन्यतः समयादुत्कृष्टतस्तु समयचतुष्टयादजघन्यानुभागं बध्नतो जघन्योऽध्रुवोऽजघन्यस्तु सादिः, पुनस्तत्रैव भवे भवान्तरे वा जघन्यं बध्नतोऽजघन्योऽध्रुव इत्येवं जघन्या-ऽजघन्यानुभागबन्धयोः परिभ्रमतामसुमतामुभयत्र साद्यध्रुवतैव भवतीति।

तथा "सेसधुवबंधि" त्ति शेषध्रुवबन्धिनीनां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-मिथ्यात्व-कषायषोडशक-भय जुगुप्सा—ऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चक-उपघातलक्षणानां त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनामजघन्योऽनुभागः साद्यादिचतुर्विकल्पो भवति। तथाहि—मति-श्रुता-ऽवधिमनःपर्याय -केवलावरणपञ्चक—चक्षुः-अचक्षुः—अवधि-केवलदर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां चतुर्दशप्रकृतीनां तावद् अशुभत्वात् क्षपकसूक्ष्मसम्परायश्चरमसमये जघन्यानुभागं बध्नाति, तद्बन्धकेष्वयमेव सर्वोत्कृष्टविशुद्धिमानिति कृत्वा। ततोऽन्यः सर्वोऽपि उपशमश्रेणावप्यजघन्यः प्राप्यते, स चोपशान्तावस्थायां सर्वथा न भवति, तस्मादितः प्रतिपत्य बध्यमानः सादितां भजते, उपशान्तावस्थां चाप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति। संज्वलनचतुष्कस्य त्वशुभत्वात्, क्षपकानिवृत्तिबादरो यथास्वबन्धव्यवच्छेदसमये एकैकं समयं जघन्यानुभागं बध्नाति। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः, तस्य चोपशमश्रेणौ बन्धव्यवच्छेदे कृते प्रतिपत्य पुनस्तमेव बध्नतः सादित्वम्, उपशान्तावस्थां चाप्राप्तपूर्वस्यानादित्वम्, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति। निद्रा-प्रचला-ऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्क-उपघात-भय-जुगुप्सालक्षणानां नवप्रकृतीनां क्षपकापूर्वकरणो यथास्वबन्धव्यवच्छेदकाले एकैकं समयं जघन्यमनुभागं बध्नाति। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः, तस्य चोपशमश्रेणौ बन्धव्यवच्छेदं कृत्वा प्रतिपत्य पुनस्तमेव बध्नतः सादित्वम्, बन्धाभावस्थानं चाप्राप्तपूर्वस्यानादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम् अध्रुवो भव्यानामिति। चतुर्णां प्रत्याख्यानावरणानां देशविरतः संयमप्रतिपत्त्यभिमुखोऽत्यन्तविशुद्धः स्वगुणस्थानस्य चरमसमये वर्तमानो जघन्यमनुभागं बध्नाति। तस्मात् पुनः स्थानात् पूर्वं सर्वोऽप्यजघन्यः। चतुर्णामप्रत्याख्यानावरणानामविरतसम्यग्दृष्टिः क्षायिकसम्यक्त्वं संयमं च युगपत् प्रतिपित्सुरत्यन्तविशुद्धः स्वगुणस्थानचरमसमये वर्तमानो जघन्यमनुभागं बध्नातीति। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः। स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयलक्षणानामष्टानां प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वं संयमं च युगपत् प्रतिपित्सुः सर्वविशुद्धो मिथ्यात्ववेदनस्य चरमसमये वर्तमानो जघन्यमनुभागं बध्नाति, एतस्माचान्यत्र सर्वोऽप्यजघन्यः। एते हि देशविरतादयस्तत्तद्बन्धकेष्वतिविशुद्धत्वाद् यथानिर्दिष्टकर्मणां जघन्यमनु(ग्रन्थाग्रम्—२५००)भागं बध्नन्ति। ततश्च संयमादीन् गुणान् प्राप्य

पुनरपि प्रतिपत्य यदाऽजघन्यानुभागं बध्नन्ति तदाऽयमजघन्यानुभागः सादिः, एतानि च स्थानान्यप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानामपर्यन्तत्वात् , अध्रुवो भव्यानां सपर्यन्तत्वादिति ।

तदेवं त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामजघन्यानुभागो भावितः । शेषत्रिके तु किम् ? इत्याह—"सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते जघन्य-उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टानुभागत्रिके 'द्विधा' द्विप्रकारः सादि-अध्रुवलक्षणो बन्धो भवति । तत्राजघन्यानुभागभणनप्रसङ्गेन सर्वासां जघन्यानुभागोऽपि सूक्ष्मसम्परायादिगुणस्थानकेषु स्थानतो निर्दिष्टः । स च तत्र तत्र तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, क्षीणमोहाद्युपरितनावस्थासु चावश्यं न भवतीत्यध्रुवः । उत्कृष्टं त्वनुभागमेतासां त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियो बध्नाति एकं द्वौ वा समयौ यावत् , ततः परं पुनरनुत्कृष्टं बध्नाति, कालान्तरे च पुनरुत्कृष्टसंक्लेशमासाद्य उत्कृष्टानुभागं रचयतीत्येवमुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टानुभागेषु संसरतां जन्तूनामुभयत्रापि साद्यध्रुवतैव सम्भवति, नेतरद् विकल्पद्वितयमपि ।

तदेवं जघन्यादिषु चतुर्ष्वपि भेदेषु साद्यादिभङ्गकाश्चिन्तिताः । सम्प्रत्यध्रुवबन्धिनीनां तेषु तानाह—"सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरितोत्तरप्रकृतिवृन्देऽध्रुवबन्धिनीप्रकृतिकदम्बके त्रिसप्ततिसङ्ख्ये उत्कृष्टोऽनुत्कृष्टो जघन्योऽजघन्यश्चानुभागबन्धः।'द्विधा' द्विप्रकारः सादिरध्रुव एव भवति । प्रकृतय एव ह्येता अध्रुवबन्धित्वात् साद्यध्रुवाः, ततस्तत्सत्तानुविधायी जघन्यादिरूपः तदनुभागोऽपि यथोक्त एव भवति, न त्वनादिध्रुवो वेति । तथा 'घातिनां' घातिकर्मणां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीया-ऽन्तरायलक्षणानां चतुर्णामजघन्योऽनुभागः साद्यादिचतुर्विकल्पो भवति । तथाहि—अशुभप्रकृतीनां सर्वजघन्यं शुभप्रकृतीनां तु सर्वोत्कृष्टमनुभागं यः कश्चित् तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्धः स एव निर्वर्तयति । तत्र ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणकर्मत्रयस्याशुभत्वात् क्षपकसूक्ष्मसम्परायश्चरमसमये जघन्यरसं निर्वर्तयति, तद्बन्धकेष्वयमेवातिविशुद्ध इति कृत्वा । मोहनीयस्य त्वनिवृत्तिबादरमेव यावद् बन्धो भवतीति स एव क्षपकश्चरमसमयेऽस्य जघन्यरसमुपकल्पयति, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वात् । इतः स्थानादन्यत्र सर्वत्रोपशमश्रेणावपि प्रकृतकर्मचतुष्टयस्यानुभागोऽजघन्य एव बध्यते, उपशमकानामपि क्षपकेभ्यो विशुद्ध्याऽनन्तगुणहीनत्वात् । ततश्चोपशान्तमोहः सूक्ष्मसम्परायश्च यथानिर्दिष्टप्रकृतकर्मचतुष्टयसम्बन्धिनोऽजघन्यानुभागस्याबन्धको भूत्वा प्रतिपत्य यदा पुनस्तं बध्नाति तदाऽयमजघन्यानुभागः सादिर्भवति, बन्धव्यवच्छेदे कृते तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् । यैस्तूपशान्तमोहाद्यवस्था नाद्यापि प्राप्ता तेषामनादिकालादारभ्याविच्छिन्नं बध्यमानत्वाद् अनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम् , अध्रुवो भव्यानाम् ।

तदेवं घातिकर्मणामजघन्योऽनुभागो भावितः। शेषत्रिके तु किम्? इत्याह–"सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' जघन्य-उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टलक्षणेऽनुभागत्रिके 'द्विधा' द्विविकल्पः सादि-अध्रुव-लक्षणो बन्धो भवति। तथाहि—प्रकृतकर्मचतुष्टयमध्ये मोहनीयस्य तावद् जघन्यानुभागः क्षपकानिवृत्तिबादरचरमसमयेऽनन्तरमेवोक्तः, शेषकर्मत्रयस्य तु क्षपकसूक्ष्मसम्परायचरमसमयेऽ-साबुक्तः। स चानादिकालेऽपि पर्यटता जीवेन पूर्वं न बद्ध इति तत्प्रथमतया तत्रैव बध्यमान-त्वात् सादिः, क्षीणमोहाद्यवस्थायां च प्राप्तस्य नियमान्न भविष्यतीति अध्रुवः। अनादिस्तु न भवति, पूर्वं कदाचिदपि तद्बन्धासम्भवात्। ध्रुवोऽप्यसौ न भवति, अभव्यानां तद्बन्धस्य दूरोत्सारितत्वादिति। उत्कृष्टानुभागं तु प्रस्तुतकर्मणामशुभत्वात् सर्वसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः पर्याप्त-संज्ञिपञ्चेन्द्रिय एकं द्वौ वा समयौ यावद् बध्नाति, न परतः। स चानुत्कृष्टादवतीर्य बध्यत इति सादिः। जघन्यतः समयादुत्कृष्टतस्तु समयद्वयात् पुनरप्यनुत्कृष्टानुभागबन्धं गतस्योत्कृष्टोऽध्रुवो भवति, अनुत्कृष्टस्तु सादिः। पुनरपि जघन्यतोऽन्तमुहूर्तेनोत्कृष्टतस्त्वनन्तानन्ताभिरुत्सर्पिणी-अवसर्पिणीभिरुत्कृष्टसंक्लेशं प्राप्य उत्कृष्टानुभागं बध्नतोऽनुत्कृष्टोऽध्रुवतां व्रजतीत्येवमुत्कृष्टानु-त्कृष्टेषु जन्तवो भ्राम्यन्तीत्युभयत्र साद्यध्रुवतैव सम्भवति, नेतरविकल्पद्वयमिति।

तथा 'गोत्रे' गोत्रकर्मणि 'द्विविधः' अजघन्योऽनुत्कृष्टश्च तद्बन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पो भवति। तथा "सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते जघन्योत्कृष्टभेदद्वये 'द्विधा' द्विविकल्पः साद्यध्रुवरूपो भवति। तत्रोत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टावनुभागबन्धौ यथाक्रमं द्वि-चतुर्विकल्पौ यथा वेदनीय-नाम्नोस्तथा निर्विशेषं भावनीयौ। इदानीं जघन्या-ऽजघन्यौ भाव्येते-तत्र कश्चित् सप्तमनरकपृथिवीनारकः सम्यक्त्वाभिमुखो यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि कृत्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणं करोति, तस्मिंश्च कृते मिथ्यात्वस्य स्थितिद्वयं भवति–अन्तमुहूर्तप्रमाणाऽधस्तनी शेषा तूपरितनी, स्थापना [　　] तत्र चाधस्तनीं स्थितिं प्रतिसमयं वेदयन् यस्मादनन्तरसमये सम्यक्त्वं प्राप्स्यति, तत्र चरम-समये वर्तमानो नीचैर्गोत्रमाश्रित्य गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागं बध्नाति। अन्यस्थानवर्ती-ह्य तावत्यां विशुद्धौ वर्तमान उच्चैर्गोत्रमजघन्यानुभागान्वितं बध्नीयादिति शेषपरिहारेण सप्तम-पृथिवीनारकस्य ग्रहणम्। अयं हि यावत् किञ्चिदपि मिथ्यात्वमस्ति तावद् भवप्रत्ययेनैव तिर्य-ग्प्रायोग्यं नीचैर्गोत्रं च बध्नाति। तच्चान्यदा बहुमिथ्यात्वावस्थायामजघन्यरसं निर्वर्तयति, प्राप्त-सम्यक्त्वोऽप्युच्चैर्गोत्रस्याजघन्यानुभागं बध्नातीति तद्बन्धकेष्वतिविशुद्धत्वाद् यथोक्तविशेषण-विशिष्टस्य सम्यक्त्वाभिमुखस्य ग्रहणम्। अयं च जघन्यानुभागस्तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, लब्धसम्यक्त्वस्तु स एवोच्चैर्गोत्रमाश्रित्य अजघन्यानुभागं रचयतीति जघन्योऽध्रुवः, अजघन्यानुभागस्तु सादिः, तच्च स्थानमप्राप्तपूर्वस्यानादिः, अभव्यानां ध्रुवः भव्यानामध्रुव इति जघन्या ऽजघन्यानुभागौ गोत्रकर्मणो यथोक्तद्वि-चतुर्विकल्पाविति।

"सेसम्मि दुह" त्ति शेषे भणितमूलप्रकृत्युत्तरप्रकृतिभ्योऽवशिष्टे आयुषि नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवायुर्भेदाच्चतुर्विधे जघन्या-ऽजघन्य-उत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टानुभागबन्धचतुष्केऽपि 'द्विधा' द्विप्रकारः सादि-अध्रुवबन्धलक्षणो बन्धो भवति। तथाहि—अनुभूयमानायुस्त्रिभागादौ प्रतिनियतकाल एवायुषो बध्यमानत्वात् सादित्वात् तदनुभागस्यापि जघन्यादिरूपस्य सादित्वम्, अन्तर्मुहूर्ताच्च परत आयुर्बन्धोऽवश्यमुपरमत इति तस्याध्रुवत्वात् तदनुभागबन्धस्याप्यध्रुवत्वमिति। भाविता अनुभागबन्धमाश्रित्य मूलोत्तरप्रकृतीराश्रित्य भङ्गका इति। अनुभागबन्धः समाप्तः॥७४॥

सम्प्रति प्रदेशबन्धस्यावसरः, ते च प्रदेशाः कर्मवर्गणास्कन्धानां सम्बन्धिनो जीवेन आत्मसात् क्रियन्ते, अतः कर्मवर्गणास्वरूपं वक्तव्यम्। तच्च प्राचीनवर्गणास्वरूपे निगदिते सति ज्ञातुं शक्यम्, अतः प्रसङ्गतः शेषवर्गणास्वरूपमपि निगदनीयम्। शेषाः पुनरौदारिकाद्याः, ताश्च ग्रहणप्रायोग्या-ऽग्रहणप्रायोग्यभेदाद् द्विधा, अत एकाणुक-द्व्यणुकादिस्कन्धनिष्पन्ना अग्रहणवर्गणाद्याः कर्मवर्गणावसाना वर्गणाः सजातीयद्रव्यसमुदायरूपा निरूपयन्नाह—

सेसम्मि दुहा (अनुभागबन्धः) इगदुगणुगाइ जा अभवणंतगुणियाणू।
खंधा उरलोचियवग्गणा उ तह अगहणंतरिया॥ ७५॥

"सेसम्मि दुह" त्ति पदं अनुभागबन्धाधिकारे बहुभिः प्रकारैर्व्याख्यातमित्यनुभागबन्धः समर्थितः। अणुकशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, ततः केवलोऽणुरेवाणुकः परमाणुरित्यर्थः, एकोऽणुको यत्र स एकाणुकः, द्वौ अणुकौ यत्र स द्व्यणुकः, एकाणुकद्व्यणुकस्कन्धा आदिर्येषां त्र्यणुकादीनां त एकाणुकद्व्यणुकादयः "मयूरव्यंसकेत्यादयः" (सिद्ध० ३-१-११६) इति मध्यमपदलोपी समासः, विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात्। किमवसानाः? इत्याह—"जा अभवणंत" इत्यादि। यावद् इत्यव्ययं पर्यवसानार्थे, अभव्येभ्योऽनन्तगुणिताः, उपलक्षणत्वात् सिद्धानामनन्तभागेऽणवो येषां तेऽभव्यानन्तगुणिताणवः। गमकत्वात् समासः। 'स्कन्धाः' द्विपरमाण्वादिरूपाः। अयमर्थः—एकाणुक-द्व्यणुकादयः स्कन्धा एकैकपरमाणुवृद्ध्या तावन्नेया यावदभव्येभ्योऽनन्तगुणैः सिद्धानन्तभागवर्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नास्ते स्कन्धा एवम्भूताः। किम्? इत्याह—औदारिकोचितवर्गणा भवन्ति। तत्रोदाराः—स्फारतामात्रसारा वैक्रियादिशरीरपुद्गलापेक्षया स्थूला इत्यर्थः, तैरित्थम्भूतैः पुद्गलैर्निष्पन्नमौदारिकशरीरम्, तस्यौदारिकस्य निष्पत्तौ कर्तव्यायामुचिताः—योग्या औदारिकोचिताः, ताश्च ता वर्गणाश्च समानजातीयपुद्गलसमूहात्मिका औदारिकोचितवर्गणा भवन्तीत्यक्षरार्थः।

भावार्थस्त्वयम्-इह समस्तलोकाकाशप्रदेशेषु ये केचन एकाकिनः परमाणवो विद्यन्ते तत्समुदायः सजातीयत्वाद् एका वर्गणा, एवं द्विप्रदेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धानां सजातीयत्वाद् द्वितीया वर्गणा, त्रिप्रदेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धानां सजातीयत्वात् तृतीया वर्गणा,

एवमेकैकपरमाणुवृद्ध्या सङ्ख्येयप्रदेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धानां सजातीयसमुदायरूपाः सङ्ख्याता वर्गणाः, असङ्ख्यातप्रदेशिकस्कन्धानामेकैकपरमाणुवृद्धानामसङ्ख्येया वर्गणाः, अनन्तपरमाणुनिष्पन्नस्कन्धानामनन्ता वर्गणाः, अनन्तानन्तप्रदेशिकानां स्कन्धानामनन्तानन्तवर्गणाः, सर्वा अप्येता अल्पपरमाणुमयत्वेन स्थूलपरिणामतया च स्वभावाद् जीवानां ग्रहे न समागच्छन्तीत्यग्रहणवर्गणा एताः सर्वा अप्युच्यन्ते । एताश्च सर्वाः समतिक्रम्य अभव्यानन्तगुणैः सिद्धानन्तभागवर्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नैः स्कन्धैरारब्धा ग्रहणप्रायोग्या जघन्यौदारिकवर्गणा भवन्ति । तत आरभ्य एकैकपरमाणुवृद्धस्कन्धारब्धा औदारिकशरीरयोग्योत्कृष्टवर्गणां यावदेता अपि जघन्योत्कृष्टमध्यवर्तिन्योऽनन्ता वर्गणा भवन्ति, यतो जघन्यायाः सकाशाद् उत्कृष्टाया अनन्तभागाधिकत्वं वक्ष्यते, अनन्तभागश्चानन्तपरमाणुमयः, तत एकोत्तरप्रदेशोपचये सति मध्यवर्तिनीनामानन्त्यं न विरुध्यते । "तह अगहणंतरिय" त्ति 'तथा' तेन एकैकपरमाणूपचयरूपेण प्रकारेण 'अग्रहणान्तरिताः' अग्रहणवर्गणान्तरिता वर्गणा भवन्ति । एतदुक्तं भवति—औदारिकशरीरोत्कृष्टवर्गणाभ्यः परत एकपरमाणुसमधिकस्कन्धरूपा वर्गणा औदारिकशरीरस्यैव जघन्याऽग्रहणप्रायोग्या, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीयाऽग्रहणप्रायोग्या, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वर्गणास्तावद् वाच्या यावदुत्कृष्टा अग्रहणप्रायोग्या वर्गणा भवति, जघन्यायाश्च वर्गणायाः सकाशाद् उत्कृष्टा वर्गणा अनन्तगुणा । गुणकारकश्चाऽभव्यानन्तगुण-सिद्धानन्तभागकल्पराशिप्रमाणो द्रष्टव्यः । एतासां चाग्रहणप्रायोग्यता औदारिकं प्रति प्रभूतपरमाणुनिष्पन्नत्वात् सूक्ष्मपरिणामत्वाच्च वेदितव्येति ॥ ७५ ॥

एमेव विउव्वाहारतेयभासाणुपाणमणकम्मे ।
सुहुमा कमावगाहो, ऊणूणंगुलअसंखंसो ॥ ७६ ॥

'एवमेव' वकारलोपः "यावत्तावज्जीवितवर्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवे वः" (सिद्ध० ८-१-२७१) इति प्राकृतसूत्रेण, पूर्वोक्तौदारिकशरीरग्रहणप्रायोग्या-ऽग्रहणप्रायोग्यवर्गणान्यायेन वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-भाषा-ऽऽनापान-मनः-कर्मविषया वर्गणा भवन्ति । तत्र विविधा-नानाप्रकारा क्रिया-विक्रिया, तथा च तद्धेतुभूतायाः क्रियाया वैक्रियसमुद्घातकरण-दण्डनिसर्गादिविविधत्वं प्रज्ञप्त्यादिषु निर्दिष्टमेव, औदारिकाद्यपेक्षया वा विशिष्टा विलक्षणा वा क्रिया विक्रिया, तस्यां भवं वैक्रियं शरीरम् । तथाऽपूर्वार्थग्रहणादिनिमित्तमुत्कृष्टतो हस्तप्रमाणं चतुर्दशपूर्वविदा आह्रियते—गृह्यते यत् तद् आहारकम्, कृत् "बहुलम्" (सिद्ध०५-१-२) इति कर्मणि णकः यथा पादहारक इत्यादौ; यद्वा आह्रियन्ते—गृह्यन्ते सूक्ष्मा जीवादयः पदार्थाः केवलिसमीपेऽनेनेति निपातनादाहारकम् । तथाऽऽहारपाककारणभूतास्तेजोनिसर्गहेतवश्चोष्णाः पुद्गलास्तेज इत्युच्यन्ते, तेन तेजसा निर्वृत्तं तैजसं शरीरं सूक्ष्मादिलिङ्गगम्यम् । तथा भाषणं भाषा ।

तथा आनापानः–उच्छ्वासनिःश्वासः। तथा मन्यते–चिन्त्यते वस्त्वनेनेति मनः। तथा कर्मणा–नामकर्मोत्तरप्रकृत्या निर्वृत्तं कार्मणम्, ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मस्वप्रायोग्यपुद्गलानां गृहीतानां तत्तद्रूपेण परिणामजनकमित्यर्थः। ततो वैक्रियादिनिष्पत्तियोग्याः पुद्गलवर्गणा अपि वैक्रियादिशब्दैः प्रोच्यन्ते, यावद् ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मपरिणामहेतुकं दलिकमपि कार्मणवर्गणेति। ततश्च वैक्रियं चाहारकं च तैजसं च भाषा चानापानश्च मनश्च कार्मणं चेति समाहारद्वन्द्वस्तस्मिन् वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-भाषा-ऽऽनापान-मनः-कार्मणे। एता वैक्रियाद्या वर्गणा अग्रहणवर्गणान्तरिता भवन्तीत्यक्षरार्थः।

भावार्थस्त्वयम्–तत्र याः पूर्वमौदारिकं प्रति प्रभूतपरमाणुनिष्पन्नत्वात् सूक्ष्मपरिणामत्वाच्चाग्रहणप्रायोग्या वर्गणा उक्तास्ता एव वैक्रियं प्रति स्वल्पपरमाणुनिष्पन्नत्वात् स्थूलपरिणामत्वाच्चाग्रहणप्रायोग्या वर्गणा वेदितव्याः। ततोऽग्रहणप्रायोग्योत्कृष्टवर्गणापेक्षया च एकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वर्गणा वैक्रियशरीरप्रायोग्या जघन्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धस्वरूपा द्वितीया वैक्रियशरीरस्य ग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वैक्रियशरीरप्रायोग्या वर्गणास्तावद् वाच्या यावदुत्कृष्टा ग्रहणप्रायोग्या वर्गणा भवति, जघन्यायाश्चोत्कृष्टा विशेषाधिका, विशेषश्च तस्या एव जघन्याया वर्गणाया अनन्ततमो भागः एवं अग्रहणप्रायोग्यवर्गणा अपि, केवलं जघन्यायाश्चोत्कृष्टा अनन्तगुणेति, गुणकारश्चाभव्यानन्तगुणसिद्धानन्तभागकल्पराशिप्रमाणो द्रष्टव्यः, एवं सर्वत्र। वैक्रियशरीरोत्कृष्टवर्गणापेक्षया च एकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा जघन्या अग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीया अग्रहणप्रायोग्या, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा अग्रहणप्रायोग्या वर्गणास्तावद् वाच्या यावदुत्कृष्टा अग्रहणप्रायोग्या वर्गणा। एताश्च प्रभूतद्रव्यनिष्पन्नत्वात् सूक्ष्मपरिणामोपेतत्वाच्च वैक्रियशरीरस्याग्रहणयोग्याः, आहारकस्याप्यल्पपरमाणुनिष्पन्नत्वाद् बादरपरिणामोपेतत्वाच्चाग्रहणयोग्याः, एवमुत्तरत्रापि भावना कार्या। अग्रहणप्रायोग्योत्कृष्टवर्गणापेक्षया च एकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वर्गणा आहारकशरीरप्रायोग्या जघन्या वर्गणा, जघन्याद्या उत्कृष्टान्ताः एता अपि यथोत्तरमेकोत्तरपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता भवन्ति। ततस्तदुपरि रूपाधिकस्कन्धैरारब्धा आहारक-तैजसयोरुक्तादेव हेतोरयोग्या जघन्या अग्रहणवर्गणा, जघन्याद्या उत्कृष्टान्ता एता अप्येकोत्तरपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता एव मन्तव्याः। तदुपरि च रूपाधिकस्कन्धारब्धा तैजसशरीरनिष्पादनहेतुर्जघन्या तैजसशरीरवर्गणा, जघन्याया उत्कृष्टां यावद् एता अप्येकोत्तरवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता एव मन्तव्याः। तदुपरि चैकोत्तरपरमाण्वारब्धाः स्कन्धाः प्रागुक्तहेतोरेव तैजस-भाषयोरयोग्यत्वादनन्ता अग्रहणवर्गणा वाच्याः। तदुपरि रूपाधिकस्कन्धैरारब्धा जघन्या भाषावर्गणा, यां भाषार्थं जीवोऽवलम्बते, यां च गृहीत्वा चतुर्विधभाषात्वेन

परिणमय्य विसृजतीति भावः; जघन्याया उत्कृष्टां यावदेता अप्येकैकपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता ज्ञेयाः। तदुपरि च रूपाधिकस्कन्धैरारब्धा जघन्या अग्रहणवर्गणा, जघन्यामादौ कृत्वोत्कृष्टां यावदेता अप्येकैकपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता अवसेयाः। तदुपरि रूपाधिकस्कन्धैरारब्धा जघन्या आनापानवर्गणा भवति, यां गृहीत्वा आनापानभावं नयति, जघन्याया आरभ्योत्कृष्टां यावदेता अप्येकैकोत्तरवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता मन्तव्याः। ततस्तदुपरि पुनरेकैकोत्तरस्कन्धारब्धा जघन्याद्या उत्कृष्टान्ता अनन्ता एवाग्रहणवर्गणा वाच्याः। तदुत्कृष्टाग्रहणवर्गणोपरि रूपे प्रक्षिप्ते जघन्या मनोनिष्पत्तिहेतुर्मनोवर्गणा भवति, यां गृहीत्वा जीवः सत्या-ऽसत्यादिचतुर्विधं[1]मनोयोगभावेन परिणमय्य चिन्तयति; जघन्याद्या उत्कृष्टान्ता एता अप्येकैकोत्तरपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता अवसेयाः। ततस्तदुपरि एकैकपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा जघन्याद्या उत्कृष्टवर्गणान्ता अनन्ता अग्रहणवर्गणाः। तत उत्कृष्टाग्रहणवर्गणोपरि रूपे प्रक्षिप्ते जघन्या ज्ञानावरणादिहेतुभूता कार्मणवर्गणा भवति, जघन्याया उत्कृष्टां यावदेता अप्येकैकोत्तरपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता मन्तव्याः। अत्रौदारिकादिवर्गणा आदौ कृत्वा जघन्यमध्यमोत्कृष्टा अग्रहण-ग्रहणा-ऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणाः स्थापनया दर्श्यन्ते–[2]

औदारिकाग्रहणवर्गणाः १	औदारिकग्रहणवर्गणाः २	अग्रहणवर्गणाः ३	वैक्रियग्रहणवर्गणाः ४	अग्रहणवर्गणाः ५	आहारकवर्गणाः ६	अग्रहणवर्गणाः ७	तैजसग्रहणवर्गणाः ८
३ शून्यानि	६ शून्यानि	९ शून्यानि	१२ शून्यानि	१५ शून्यानि	१८ शून्यानि	२१ शून्यानि	२४ शून्यानि
२ शून्ये	५ शून्यानि	८ शून्यानि	११ शून्यानि	१४ शून्यानि	१७ शून्यानि	२० शून्यानि	२३ शून्यानि
१ शून्यम्	४ शून्यानि	७ शून्यानि	१० शून्यानि	१३ शून्यानि	१६ शून्यानि	१९ शून्यानि	२२ शून्यानि
अग्रहणवर्गणाः ९	**भाषाग्रहणवर्गणाः १०**	**अग्रहणवर्गणाः ११**	**आनापानग्रहणवर्गणाः १२**	**अग्रहणवर्गणाः १३**	**मनोग्रहणवर्गणाः १४**	**अग्रहणवर्गणाः १५**	**कार्मणग्रहणवर्गणाः १६**
२७ शून्यानि	३० शून्यानि	३३ शून्यानि	३६ शून्यानि	३९ शून्यानि	४२ शून्यानि	४५ शून्यानि	४८ शून्यानि
२६ शून्यानि	२९ शून्यानि	३२ शून्यानि	३५ शून्यानि	३८ शून्यानि	४१ शून्यानि	४४ शून्यानि	४७ शून्यानि
२५ शून्यानि	२८ शून्यानि	३१ शून्यानि	३४ शून्यानि	३७ शून्यानि	४० शून्यानि	४३ शून्यानि	४६ शून्यानि

१ सं० १-२ म० त० °मनोभावे° ॥ २ अत्र शून्यसंख्यास्थापनं वर्गणागतस्कंधपरमाणुज्ञापनार्थम्। वर्गणात्रय-त्रयस्थापनं सर्वत्र जघन्य-मध्यम-उत्कृष्टभेदत्रयदर्शनार्थम्; अत्र मध्यमभेदेऽवान्तरभेदा प्रत्येकस्मिन्ननन्ता विज्ञेयाः। एषा स्थापनाऽसत्कल्पनारूपा विज्ञेया।

एवमेता औदारिकाद्याः कार्मणवर्गणावसाना वर्गणाः प्ररूपिताः। इत ऊर्ध्वमन्यत्र कर्मप्रकृत्यादिष्वन्या अपि ध्रुवा-ऽचित्ताद्या वर्गणा निरूपिताः, ताश्चेहानुपयोगित्वेन नोक्ताः, तत एवावसेयाः, संक्षेपरुचिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात् प्रस्तुतप्रारम्भस्येति।

उक्ता वर्गणाः, एताश्च बहुतरपरमाणुनिचयरूपा अभिहिताः, अतः कियन्मात्रं क्षेत्रं ता व्याप्नुवन्ति? इत्याह–"सुहुमा कमा" इत्यादि। एता औदारिकाद्या वर्गणाः 'क्रमात्' क्रमेण-उत्तरोत्तरपरिपाट्या सूक्ष्मा ज्ञातव्याः। अयमर्थः—प्रथममग्रहणवर्गणा औदारिकस्य सूक्ष्माः, ततस्तस्यैव ग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तस्यैवाग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः। ततो वैक्रियस्य ग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तस्यैवाग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः। तत आहारकग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः। ततस्तैजसग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः। ततो भाषाग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः। तत आनापानग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः। ततो मनोग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः। ततः कार्मणग्रहणवर्गणाः सूक्ष्मा इति। "अवगाहो ऊणूणंगुलअसंखंसु" त्ति अवगाहन्ते—अवस्थानं कुर्वन्ति वर्गणा यस्मिन् असाववगाहः—अवस्थानक्षेत्रम्, स च कियन्मात्रः? इत्याह-'ऊनोनाङ्गुलासङ्ख्येयांशः' न्यूनः न्यूनतरोऽङ्गुलस्यासङ्ख्येयांशः-अङ्गुलासङ्ख्येयभागो यत्र स तथा। एतदुक्तं भवति–पुद्गलद्रव्याणां हि यथा यथा प्रभूतपरमाणुनिचयः सम्पद्यते तथा तथा सूक्ष्मः सूक्ष्मतरः परिणामः सञ्जायते, तत औदारिकवर्गणास्कन्धानामवगाहनाऽङ्गुलासङ्ख्यभागः, स एव तदग्रहणवर्गणानां न्यूनः; स एव वैक्रियग्रहणवर्गणानां न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, आहारकग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः; तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तैजसग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः; भाषाग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, आनापानग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः; मनोग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः; कार्मणग्रहणवर्गणानां स एवाङ्गुलासङ्ख्येयभागो न्यूनतर इति ॥ ७६ ॥

उक्तं वर्गणानां स्वरूपमवगाहक्षेत्रमानं च। अधुनैकादिवृद्धया वर्धमानानामग्रहणवर्गणानां परिमाणनिरूपणायाह—

इक्किक्कहिया सिद्धाणंतंसा अंतरेसु अग्गहणा।
सव्वत्थ जहन्नुचिया, नियणंतंसाहिया जिट्ठा ॥ ७७ ॥

एकैकः परमाणुः प्रतिस्कन्धमधिकः–उत्तरप्रवृद्धो यासु ता एकैकाधिका एकैकपरमाणुवृद्धा इत्यर्थः, अग्रहणवर्गणा भवन्तीति योगः। कियत्यः? इत्याह-'सिद्धानन्तांशाः' सिद्धानामन-

न्तोऽशः-भागो यासां ताः सिद्धानन्तांशाः-सिद्धानन्तभागवर्तिन्यः, उपलक्षणत्वाद् अभव्यानन्तगुणाः । आसामाधारनिरूपणायाह–'अन्तरेषु अन्तरालेष्वौदारिक-वैक्रियादिवर्गणामध्येष्वित्यर्थः, 'अग्रहणाः' अग्रहणवर्गणाः । एतदुक्तं भवति-निजनिजजघन्याग्रहणवर्गणैकस्कन्धे ये परमाणवस्तेऽभव्यराशिप्रमाणेनानन्तकेन गुणिता यावन्तो भवन्ति तावत्योऽग्रहणवर्गणा एकैकपरमाणुवृद्धा अन्तरेषु मन्तव्याः । अधुना ग्रहणयोग्यवर्गणासु निजनिजजघन्यवर्गणायाःसकाशात् स्वस्वोत्कृष्टवर्गणायां यावन्मात्राधिकत्वं तदाह–"सव्वत्थ जहन्नुचिया नियणंतंसाहिया जिट्ठा" 'सर्वत्र' सर्वास्वप्यौदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-भाषा-ऽऽनापान-मनः-कार्मणवर्गणासु जघन्या चासावुचिता च–योग्या च जघन्योचिता योग्यजघन्येत्यर्थः, तस्याः सकाशात् , प्राकृतत्वात् पञ्चम्येकवचनस्य लुप् , निजेन- [1]स्वकीयेनानन्तांशेन-अनन्तभागेनाधिका-समर्गला भवति । काऽसौ ? इत्याह—'ज्येष्ठा' उत्कृष्टा । किमुक्तं भवति ?—औदारिकजघन्यग्रहणवर्गणारम्भकस्कन्धस्यानन्तभागे यावन्तोऽणवस्तत्प्रमाणेन विशेषेणोत्कृष्टवर्गणारम्भक एकैकस्कन्धोऽधिको मन्तव्यः । अत एवानन्तभागलब्धपरमाणूनामनन्तत्वेनैकैकपरमाणुवृद्ध्या जायमाना जघन्योत्कृष्टान्तरालवर्तिन्य औदारिकवर्गणा अप्यनन्ताः सिद्धा भवन्ति । एवं वैक्रियाऽऽहारक-तैजस-भाषा-ऽऽनापान-मनः-कार्मणवर्गणास्वपि ग्रहणप्रायोग्यासु निजनिजजघन्यवर्गणारम्भकस्कन्धस्यानन्तभागे येऽनन्तपरमाणवस्तावन्मात्रेणानन्तभागेन स्वस्वोत्कृष्टवर्गणारम्भक एकैकः स्कन्धोऽधिको वाच्यः, तस्य चानन्तभागस्यानन्तपरमाणुमयत्वेनैकैकपरमाणुवृद्धाः सर्वग्रहणवर्गणा अप्यनन्ता अवसेयाः, केवलमुत्तरोत्तरवर्गणास्कन्धानामनन्तगुणपरमाणूपचितत्वेनानन्तभागोऽप्युत्तरोत्त[2]रानुप्रवृद्ध-प्रवृद्धतरप्रवृद्धतमादिभेदेन नानाविधो दृश्य इति ॥७७॥

अथ यादृशं कर्मस्कन्धदलिकं जीवो गृह्णाति तदाह––

अंतिमचउफासदुगंधपंचवन्नरसकम्मखंधदलं ।
सव्वजियणंतगुणरसमणुजुत्तमणंतयपएसं ॥ ७८ ॥

जीवः कर्मस्कन्धदलं गृह्णातीत्युत्तरगाथायां सम्बन्धः । तत्र "अंतिम" त्ति अन्ते भवा अन्तिमाः "पश्चादाद्यन्ताग्रादिमः" (सिद्ध० ६-३-७५) इतीमप्रत्ययः, अन्त्याः-पर्यन्तवर्तिनः, अन्तिमत्वं च "[3]फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्हसिणिद्धरुक्खऽट्ठ" (गा० ४०) इति **कर्मविपाकसूत्रप्रतिपादितक्रममाश्रित्य** ज्ञेयम् । चत्वारः-चतुःसङ्ख्याः स्पर्शाः-शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्षलक्षणा यस्य कर्मस्कन्धदलस्य-कर्मस्कन्धद्रव्यस्येत्यर्थः, तदन्तिमचतुःस्पर्शम् । अयमत्राशयः—

१ सं० २ त० छा० °न स्वकीयेना° ॥ २ सं० १-२ °रानु° प्र० ॥ ३ स्पर्शा गुरुर्लघुर्मृदुः खरः शीत उष्णः स्निग्धो रूक्ष इत्यष्टौ ॥

अमीषां चतुर्णां स्पर्शानां मध्यात् कोऽपि परमाणुः केनाप्यविरुद्धेन स्पर्शद्वयेन संयुक्तस्तत्र विद्यते। तथाहि—स्निग्ध-उष्णस्पर्शद्वितयोपेतः कश्चित् परमाणुस्तत्र भवति, कश्चन रूक्ष-शीतस्पर्शद्वययुक्तः परमाणुः, कश्चिच्च स्निग्ध शीतस्पर्शद्वयोपेतः, कश्चित्तु रूक्ष-उष्णस्पर्शद्वयसमन्वित इति। अतः स्कन्धद्रव्यमभव्यानन्तगुणपरमाणुनिर्वृत्तं सिद्धानन्तभागवर्तिपरमाणुकलितमविरुद्धस्पर्शद्वयोपेतपरमाणुसहिततया चतुःस्पर्शसम्पन्नं सङ्गच्छत एव। गुरु-लघु-मृदु-कठिनस्पर्शवन्तश्च ये परमाणवस्ते कर्मस्कन्धद्रव्ये न भवन्तीति। एतच्च प्रज्ञप्ति कर्मप्रकृत्याद्यभिप्रायेणोक्तम्। बृहच्छतकटीकायां तु—"मृदु लघुलक्षणं स्पर्शद्वयं तावदवस्थितं भवति, अपरौ च स्निग्ध-उष्णौ स्निग्ध-शीतौ वा, रूक्ष-उष्णौ रूक्ष-शीतौ वा, द्वावविरुद्धौ भवतः" (पत्र १०४-१) इति चतुःस्पर्शाङ्कितरुक्ता। तथा द्वौ सुरभि-दुरभिलक्षणौ गन्धौ यस्य तद् द्विगन्धम्। पञ्चशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् पञ्चेति-पञ्चसङ्ख्या वर्णाः कृष्ण-नील-लोहित-हारिद्र-शुक्ललक्षणा यस्य तत् पञ्चवर्णम्। पञ्च रसाः-तिक्त-कटुक-कषाया-ऽम्ल-मधुरस्वरूपा यस्य तत् पञ्चरसम्। कार्मणवर्गणाप्रधानाः स्कन्धाः कर्मस्कन्धाः, त एव यथास्वकालं दलनाद् विशरारुभवनात् "दल त्रिफला विशरणे" (सिद्धहेमधा० पा० २२२) इति वचनात्, दलं-दलिकं कर्मस्कन्धदलम्। ततोऽन्तिमचतुःस्पर्शं च तद् द्विगन्धं चान्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धम्, अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धं च तत् पञ्चवर्णं चान्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णम्, अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णं च तत् पञ्चरसं चान्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णपञ्चरसम्, अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णपञ्चरसं च तत् कर्मस्कन्धदलं चान्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णपञ्चरसकर्मस्कन्धदलम्। इह स्कन्धग्रहणेनैतत् सूचयति—ये कर्मस्कन्धास्त एव चतुःस्पर्शवन्तो जीवेन गृह्यन्ते, औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकशरीरयोग्यास्तु स्कन्धा अष्टस्पर्शा एव गृह्यन्ते इति, तैजसाद्याश्च ये ग्रहणप्रायोग्यास्तेऽपि सर्वे चतुःस्पर्शवन्त एव जीवेन गृह्यन्त इति मन्तव्यम्। वर्ण-गन्ध-रसाः पुनरौदारिकादीनां सर्वेषामपि स्कन्धानां यथोक्तप्रमाणा एव भवन्ति। उक्तं च—

[1]पंचरसपंचवन्नेहिं परिणया अट्ठ फास दो गंधा।
जावाहारगजोगा, चउफासविसेसिया उवरिं॥ (पञ्चसं० गा० ४१०)

आहारकस्कन्धेभ्य उपरितनास्तैजसाद्याः स्कन्धा ग्रहणप्रायोग्याः सर्वे चतुःस्पर्शा भवन्तीत्यर्थः।

तथा सर्वजीवेभ्योऽनन्तो गुणो येषां ते सर्वजीवानन्तगुणाः, रस्यते—विपाकानुभवनेन आस्वाद्यत इति रसः—अनुभागस्तस्याणवः अंशा रसाणवः, सर्वजीवानन्तगुणाश्च ते रसाणवश्च सर्वजीवानन्तगुणरसाणवस्तैयुक्तं—समन्वितम्। इदमत्र हृदयम्—इह सर्वजघन्यस्यापि पुद्-

---

१ पञ्चरसपञ्चवर्णैः परिणता अष्ट स्पर्शा द्वौ गन्धौ। यावदाहारकयोग्याश्चतुःस्पर्शविशेषिता उपरि॥

लस्य रसः केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः सर्वजीवानन्तगुणान् भागान् प्रयच्छति । ते च भागा अतिसूक्ष्मतयाऽपरभागाभावान्निरंशा अंशा रसाणव इत्युच्यन्ते । रसाणवो रसविभागा रसपलिच्छेदा भावपरमाणव इति पर्यायाः । ते च रसाणवः प्रतिस्कन्धं सर्वकर्मपरमाणुषु सर्वजीवानन्तगुणा विद्यन्ते, तैश्चैवंविधै रसाणुभिर्युक्तं परिगतं कर्मस्कन्धदलिकं जीवो गृह्णातीति । एतदुक्तं भवति—निम्बेक्षुरसाद्यधिश्रयणैस्तण्डुलेषु प्रत्येकं यथा रसविशेषं तत्तद्रूपं पक्ता जनयति, तथा अनुभागबन्धाध्यवसायैः सर्वस्कन्धेष्वभव्यानन्तगुणकर्मप्रदेशनिष्पन्नेषु प्रतिपरमाणु सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् रसविभागपलिच्छेदान् जीवो जनयतीति । तथा "अणंतयपएसं" ति अनन्ता अभव्यानन्तगुणाः सिद्धेभ्योऽनन्तगुणहीनाः प्रदेशाः पुद्गला यत्र तदनन्तप्रदेशम् । इदमुक्तं भवति—अभव्येभ्योऽनन्तगुणैः सिद्धेभ्योऽनन्तगुणहीनैः परमाणुभिर्निष्पन्नमेकैकं कर्मस्कन्धं गृह्णाति, तानपि स्कन्धान् प्रतिसमयमभव्येभ्योऽनन्तगुणान् सिद्धानामनन्तभागवर्तिन एव गृह्णातीति ॥ ७८॥

एगपएसोगाढं, नियसव्वपएसओ गहेइ जिओ ।
थेवो आउ तदंसो, नामे गोए समो अहिओ ॥ ७९॥

एकस्मिन् प्रदेशेऽवगाढमेकप्रदेशावगाढं—येष्वाकाशप्रदेशेषु जीवोऽवगाढस्तेष्वेव यत् कर्मपुद्गलद्रव्यं तद् रागादिस्नेहगुणयोगाद् आत्मनि लगति । यदाह **वाचकमुख्यः**—

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य, रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवम् ॥ (प्रशम० का० ५५)

न त्वनन्तरपरम्परप्रदेशावगाढम् , भिन्नदेशस्थस्य कर्मपुद्गलद्रव्यस्य ग्राह्यत्वपरिणामाभावात् । यथा हि दहनः स्वप्रदेशस्थितान् योग्यपुद्गलानात्मभावेन परिणमयति इत्येवं जीवोऽपि स्वक्षेत्रस्थमेव द्रव्यमादत्ते न त्वनन्तरपरम्परप्रदेशस्थम् । एतच्च द्रव्यं गृह्यमाणं जीवेन नैकेन प्रदेशेन न द्व्यादिभिर्वा प्रदेशैः किन्तु सर्वैरप्यात्मीयप्रदेशैरित्येतदेवाह—निजाः—आत्मीयाः सर्वे—समस्ताः प्रदेशा निजसर्वप्रदेशास्तैर्निजसर्वप्रदेशतः, आद्यादेराकृतिगणत्वात् तसूप्रत्ययः, निजसर्वप्रदेशैः कर्मस्कन्धदलिकं गृह्णातीत्यर्थः, **जीवप्रदेशानां** सर्वेषामपि शृङ्खलावयवानामिव परस्परं संबन्धविशेषभावात् । तथाहि—एकस्य जीवस्य समस्तलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः प्रदेशा वर्तन्ते, मिथ्यात्वादिबन्धकारणोदये च सति एकस्मिन् जीवप्रदेशे स्वक्षेत्रावगाढग्रहणप्रायोग्यद्रव्यग्रहणाय व्याप्रियमाणे सर्वेऽप्यात्मप्रदेशा अनन्तरपरम्परतया तद्द्रव्यग्रहणाय व्याप्रियन्ते; यथा हस्ताग्रेण कस्मिंश्चिद् ग्राह्ये घटादिके गृह्यमाणे मणिबन्ध-कूर्परांऽसादयोऽपि तद्ग्रहणायाऽनन्तरपरम्परतया व्याप्रियन्त इति । अथैवमेकाध्यवसायगृहीतकर्मपुद्गलद्रव्यस्य यस्मिन् कर्मणि यावन्मात्रो भागो भवति इत्येतदभिधित्सुराह—"थेवो आउ तदंसो" त्ति इहाष्टविधबन्धकेन

जन्तुना यदेकेनाध्यवसायेन[1] विचित्रतागर्भेण गृहीतं दलिकं तस्याष्टौ भागा भवन्ति, सप्तविधबन्धकस्य सप्त भागाः, षड्विधबन्धकस्य षड् भागाः, एकविधबन्धकस्यैको भागः। तत्र यदाऽऽयुर्बन्धकालेऽष्टविधबन्धको जन्तुर्भवति तदा शेषकर्मस्थित्यपेक्षयाऽऽयुषोऽल्पस्थितित्वेन गृहीतस्य तस्यानन्तस्कन्धात्मककर्मद्रव्यस्यांशः-भागः सर्वस्तोकः आयुष्करूपतया परिणमति, ततो नाम्नि गोत्रे च तुल्यस्थितित्वेन स्वस्थाने द्वयोरपि भागः समः, तत आयुष्कभागात् 'अधिकः' विशेषाधिक इति ॥ ७९ ॥

विग्घावरणे मोहे, सव्वोवरि [2]वेयणीये जेणप्पे ।
तस्स फुडत्तं न हवइ, ठिईविसेसेण सेसाणं ॥ ८० ॥

विघ्नस्य–अन्तरायस्य आवरणयोः–ज्ञानावरण-दर्शनावरणयोर्भागः समः, स्वस्थाने त्रयाणामपि तुल्यस्थितिकत्वात्, नाम-गोत्रापेक्षया त्वधिकः, विशेषाधिक इत्यर्थः। ततोऽन्तराय-ज्ञानावरण-दर्शनावरणभागाद् 'मोहे' मोहनीये भागः 'अधिकः' विशेषाधिकः। ननु तर्हि वेदनीयस्य किंरूपो भागो भवति ? इत्याह—'सर्वोपरि' वेदनीये सर्वकर्मभागोपरिष्टाद् विशेषाधिको भागो भवति। इदमुक्तं भवति–शेषकर्मापेक्षया तावद् मोहनीयस्योपरि भाग उक्तः, वेदनीयस्य पुनर्मोहनीयभागादपि सकाशाद् उपर्येव भागः। अत्र विनेयः पृच्छति–किं पुनरिह कारणं येनोक्तक्रमेण कर्मणां भागाधिक्यं भवति ? इति, अत्र वेदनीयस्य तावत् भागाधिक्ये कारणमाह–"तस्स फुडत्तं न हवइ" त्ति 'येन' कारणेन 'अल्पे' स्तोके दलिके सति 'तस्य' वेदनीयस्य कर्मणः 'स्फुटत्वं' सुख-दुःखानुभवनव्यक्तिरिति यावत् 'न' नैव 'भवति' जायते। एतदुक्तं भवति–सुख-दुःखजननस्वभावं वेदनीयं कर्म, तद्भावपरिणताश्च पुद्गलाः स्वभावात् प्रचुरा एव सन्तः स्वकार्यं सुख-दुःखरूपं व्यक्तीकर्तुं समर्थाः, शेषकर्मपुद्गलाः पुनः स्वल्पा अपि स्वकार्यं निष्पादयन्ति। दृश्यते च पुद्गलानां स्वकार्यजननेऽल्पबहुत्वकृतं सामर्थ्यवैचित्र्यम्। यथा हि घृष्ट्यादिकदशनं बहुतरमुपभुक्तं तृप्तिलक्षणं स्वकार्यमाप्नोति, मृद्वीकादिकं स्वल्पमपि भुक्तं तृप्तिमुपकल्पयति; यथा विषं स्वल्पमपि मारणादिकार्यं साधयति, लेष्टुकादिकं तु प्रचुरमिति, एवमिहापि उपनयः कार्यः। तस्मात् प्रभूता वेदनीयपुद्गलाः सुख-दुःखे साधयन्तीति सुख-दुःखस्फुटत्वकारणाद् वेदनीयस्य महान् भाग इति स्थितम्। शेषकर्मणां भागस्य हीनाधिकत्वे कारणमाह–"ठिईविसेसेण सेसाणं" ति वेदनीयात् शेषकर्मणामायुष्कादीनां भागस्य हीनत्वमाधिक्यं वा विज्ञेयम्। केन ? इत्याह—स्थितिविशेषेण हेतुभूतेन, यस्य नाम-गोत्रादेरायुष्काद्यपेक्षया महती स्थितिस्तस्य तदपेक्षया भागोऽपि महान्, यस्य त्वसौ हीना तस्य सोऽपि हीन इति भावः।

---

१ सं० १-२-त० म० छा० ० न चित्र० ॥ २ सं १-२ त० म० छा० ०यणीइ जे० ॥

ननु स्थित्यनुरोधेन भागो भवन्नायुषः सकाशाद् नाम-गोत्रयोर्भागः सङ्ख्यातगुणः प्राप्नोति तत् किमित्युक्तं विशेषाधिक इति ? सत्यमेतत् किन्तु सर्वोऽपि नरकगत्यादिकर्मकलाप आयुष्कोदयमूलः, तदुदय एव तस्योदयात्, अत आयुष्कं प्रधानत्वाद् बहुपुद्गलद्रव्यं लभते । यद्येवं तदपेक्षयाऽप्रधानत्वाद् नाम-गोत्रयोर्भागस्य विशेषाधिकत्वमयुक्तमिति, सत्यमेतत्, किन्तु नाम-गोत्रे सततबन्धिनी, ततस्तदपेक्षया बहुद्रव्यमाप्नुतः, आयुष्कं तु कादाचित्कबन्धत्वादल्पद्रव्यमाप्नोति । इदमुक्तं भवति—स्थित्यनुसारेण सङ्ख्यातगुणहीनताप्राप्तावपि शेषकर्मोदयाक्षेपकत्वेन प्रधानत्वाद् नाम-गोत्रापेक्षया किञ्चिदूनमेव भागमायुष्कं लभते, नाम-गोत्रे त्वप्रधानतया हीनताप्राप्तावपि सततबन्धित्वादायुष्कापेक्षया विशेषाधिकमेव भागं लभेते । ननु तथापि ज्ञानावरणाद्यपेक्षया मोहनीयस्य सङ्ख्यातगुणो भागः प्राप्नोति, तत्स्थितेर्ज्ञानावरणीयादिस्थित्यपेक्षया सङ्ख्यातगुणत्वात्, अतः कथं विशेषाधिक उक्तः ? सत्यम्, दर्शनमोहनीयलक्षणाया एकस्या एव मिथ्यात्वप्रकृतेः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणा स्थितिरुक्ता, चारित्रमोहनीयस्य तु कषायलक्षणस्य चत्वारिंशत्सागरोपमकोटीकोटीलक्षणैव स्थितिः, अतस्तदनुसारेण विशेषाधिक एव तद्भाग उक्तो न तु सङ्ख्यानगुणः । दर्शनमोहनीयद्रव्यं तु सर्वमेव चारित्रमोहनीयदलिकात् सर्वघातित्वेनानन्तभाग एव वर्तत इति न किञ्चित् तेन वर्धत इति । युक्तिमात्रं चैतत्, निश्चयतस्तु श्रीसर्वज्ञवचनप्रामाण्यादेवातीन्द्रियार्थप्रतिपत्तिः । भवत्वेवम् तथाप्येकस्मिन् समये गृहीतद्रव्यस्य कथमष्टधा परिणामः ? कथं चैवं भागविकल्पना ? इति चेद् उच्यते— अचिन्त्यत्वाज्जीवशक्तेर्विचित्रत्वाच्च पुद्गलपरिणामस्य जीवव्यतिरिक्तानामपि ह्यभ्रेन्द्रधनुरादिपुद्गलानां विचित्रा परिणतिरवलोक्यते किमुत जीवपरिगृहीतानाम् ? इत्यलं विस्तरेणेति ॥ ८० ॥

कृता मूलप्रकृतीनां भागप्ररूपणा । साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीनां भागप्ररूपणां चिकीर्षुराह—

नियजाइलद्धदलियाणंतंसो होइ सव्वघाईणं ।
बज्झंतीण विभज्जइ, सेसं सेसाण पइसमयं ॥ ८१ ॥

यका यकाः प्रकृतयो यस्यां यस्यां मूलप्रकृतौ पठिता विद्यन्ते तासां सैव प्रकृतिर्निजजातिर्विज्ञेया । तया तया निजनिजमूलप्रकृतिरूपया निजजात्या यद् लब्धं-प्राप्तं दलिकाग्रं, तस्य योऽनन्तांशः-अनन्तभागः सर्वघातिरसयुक्तः, स एव 'सर्वघातिनीनां' प्रकृतीनां केवलज्ञानावरण-केवलदर्शनावरण-निद्रापञ्चक-मिथ्यात्व-संज्वलनवर्जद्वादशकषायलक्षणानां विंशतिसङ्ख्यानामपि 'भवति' जायते । काऽत्र युक्तिः ? इति चेद् उच्यते-इहाष्टानामपि मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं ये स्निग्धतराः परमाणवस्ते स्तोकाः, ते च स्वस्वमूलप्रकृतिपरमाणूनामनन्ततमो भागः, त एव च सर्वघातिप्रकृतियोग्याः । तस्मिंश्चानन्ततमे भागे सर्वघातिरसयुक्तेऽपसारिते शेषस्य दलिकस्य

देशघातिरसोपेतस्य का वार्ता ? इत्याह–"बज्झंतीण विभज्जइ" इत्यादि । बध्यमानानां न त्वबध्यमानानां 'विभज्यते' विभागीक्रियते, विभज्य विभज्य दीयत इत्यर्थः । 'शेषं' सर्वघातिप्रकृत्यनन्तभागावशिष्टं प्रदेशाग्रं, कासां बध्यमानानां विभज्यते ? इत्याह–'शेषाणां' 'सर्वघातिप्रकृत्यवशिष्टानां स्वजातिप्रकृतीनाम्, कथम् ? इत्याह–'प्रतिसमयं' प्रतिक्षणम्, बन्धन-विभजनक्रिययोरुभयोरपि क्रियाविशेषणमिदं योजनीयम् ।

अयमत्र तात्पर्यार्थः–इह ज्ञानावरणस्य पञ्च तावदुत्तरप्रकृतयः, तासु चैका केवलज्ञानावरणलक्षणा सर्वघातिनी, शेषाश्चतस्रो देशघातिन्यः । तत्र ज्ञानावरणस्य भागे यद् दलिकमायाति तस्य यद् अनन्तभागवर्ति सर्वघातिरसोपेतं द्रव्यं तत् केवलज्ञानावरणस्यैव भागतया परिणमति । शेषं तु देशघातिरसोपेतं द्रव्यं चतुर्धा विभज्यते, तच्च मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणा-ऽवधिज्ञानावरण-मनःपर्यायज्ञानावरणेभ्यो दीयते । दर्शनावरणस्य च नव उत्तरप्रकृतयः, तासु च केवलदर्शनावरणं निद्रापञ्चकं चेति षट् सर्वघातिन्यः, शेषास्तिस्रो देशघातिन्यः । तत्र दर्शनावरणस्य भागे यद् द्रव्यमागच्छति तस्य मध्ये यत् सर्वघातिरसोपेतमनन्ततमभागवर्ति द्रव्यं तत् षड्भिर्भागैर्भूत्वा सर्वघातिप्रकृतिषट्करूपतयैव परिणमति, शेषं तु देशघातिरसयुक्तं द्रव्यं शेषप्रकृतित्रयभागरूपतयेति । वेदनीयस्य पुनः सातरूपाऽसातरूपा वैकैव प्रकृतिरेकदा बध्यते, न युगपदुभे अपि, साता-ऽसातयोः परस्परं विरोधात्, अतो वेदनीयभागलब्धं द्रव्यमेकस्या एव बध्यमानायाः प्रकृतेः सर्वं भवति । मोहनीयस्य स्थित्यनुसारेण यो मूलभाग आभजति तस्यानन्ततमो भागः सर्वघातिप्रकृतियोग्यो द्वेधा क्रियते, अर्धं दर्शनमोहनीयस्य अर्धं चारित्रमोहनीयस्य । तत्रार्धं दर्शनमोहनीयसत्कं समग्रमपि मिथ्यात्वमोहनीयस्य ढौकते । चारित्रमोहनीयस्य तु सत्कमर्धं द्वादशधा क्रियते, ते च द्वादश भागा आद्येभ्यो द्वादशकषायेभ्यो दीयन्ते, स्वस्थाने तु कषायद्वादशकस्यापि तुल्यम्, शेषं तु देशघातिरससमन्वितं द्रव्यं द्विधा क्रियते, तत्रैको भागः कषायमोहनीयस्य, द्वितीयो नोकषायमोहनीयस्य । तत्र कषायमोहनीयस्य भागश्चतुर्धा क्रियते, ते च चत्वारोऽपि भागाः संज्वलनक्रोध-मान-माया-लोभानां दीयन्ते। नोकषायमोहनीयस्य पुनर्भागः पञ्चधा क्रियते ते च पञ्चापि भागा यथाक्रमं त्रयाणां वेदानामन्यस्मै वेदाय बध्यमानाय, हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगलयोरन्यतरस्मै युगलाय, भय-जुगुप्साभ्यां च दीयन्ते, नान्येभ्यः, बन्धाभावात् । न हि नवापि नोकषाया युगपद् बन्धमायान्ति, किन्तु यथोक्ताः पञ्चैव । आयुषस्तु भागे यद् द्रव्यमागच्छति तत् सर्वमेकस्या एव बध्यमानप्रकृतेर्भवति, यत आयुष एकस्मिन् काले एकैव प्रकृतिर्बध्यत इति । नामकर्मणो भागभावना कर्मप्रकृत्यभिप्रायेण दर्श्यते । तत्रेयं गाथा—

पिंडपगईसु बज्झंतिगाण वन्नरसगंधफासाणं ।
सव्वासिं संघाए, तणुम्मि य तिगे चउक्के वा ॥ (कर्मप्र० गा० २७)

अस्या अक्षरार्थगमनिका–पिण्डप्रकृतयो नामप्रकृतयः । यदुक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

पिंडपगईओ नामपगईओ त्ति ।

तासु मध्ये बध्यमानानामन्यतमगति-जाति-शरीर-बन्धन-संघात[1]न-संहनन-संस्थाना-ऽङ्गोपाङ्गाऽऽनुपूर्वीणां वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शा-ऽगुरुलघु-पराघात-उपघात-उच्छ्वास-निर्माण-तीर्थकराणां आतप-उद्योत-प्रशस्ता--ऽप्रशस्तविहायोगति-त्रस-स्थावर-बादर--सूक्ष्म-पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-प्रत्येक-साधारण-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-सुभग-दुर्भग-सुस्वर-दुःस्वरा-ऽऽदेया-ऽनादेय-यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्यन्यतराणां च मूलभागो विभज्य समर्पणीयः । अत्रैव विशेषमाह–वर्णेत्यादि । वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शानां प्रत्येकं यद् भागलब्धं दलिकमायाति तत् सर्वेभ्यस्तेषामेवावान्तरभेदेभ्यो विभज्य विभज्य दीयते । तथाहि---वर्णनाम्नो यद् भागलब्धं दलिकं तत् पञ्चधा कृत्वा शुक्लादिभ्योऽवान्तरभेदेभ्यो विभज्य विभज्य प्रदीयते, एवं गन्ध-रस-स्पर्शानामपि यस्य यावन्तो भेदास्तस्य सम्बन्धिनो भागस्य तति भागाः कृत्वा तावद्भ्योऽवान्तरभेदेभ्यो दातव्याः । तथा सङ्घाते तनौ च प्रत्येकं यद् भागलब्धं दलिकमायाति तत् त्रिधा चतुर्धा वा कृत्वा त्रिभ्यश्चतुर्भ्यो वा दीयते । तत्रौदारिक-तैजस-कार्मणानि वैक्रिय-तैजस-कार्मणानि वा त्रीणि शरीराणि सङ्घातान् वा युगपद्बध्नता त्रिधा क्रियते, वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणरूपाणि चत्वारि शरीराणि सङ्घातान् वा बध्नता चतुर्धा क्रियते । "सत्तेक्कार विगप्पा बंधणनामाण" (कर्मप्र० गा० २८) बन्धननाम्नां भागलब्धं यद् दलिकमायाति तस्य सप्त विकल्पाः-सप्त भेदाः शरीरत्रये, एकादश वा विकल्पाः शरीरचतुष्टये क्रियन्ते । तत्रौदारिकौदारिक १ औदारिकतैजस २ औदारिककार्मण ३ औदारिकतैजसकार्मण-४ तैजसतैजस ५ तैजसकार्मण ६ कार्मण[2]कार्मण ७ लक्षणबन्धनानि बध्नता सप्त, वैक्रियचतुष्का-ऽऽहारकचतुष्क-तैजसत्रिकलक्षणान्येकादश बन्धनानि बध्नता एकादश, अवशेषाणां च प्रकृतीनां यद् भागलब्धं दलिकमायाति तद् न भूयो विभज्यते, तासां युगपदवान्तरद्वित्र्यादिभेदबन्धाभावात् , तेन तासां तदेव परिपूर्णं दलिकं भवतीति । गोत्रस्य तु यद् भागागतं द्रव्यं तद् एकस्या एव बध्यमानप्रकृतेः सर्वं भवति, यद् गोत्रस्यैकदा उच्चैर्गोत्रलक्षणा नीचैर्गोत्रलक्षणा वैकैव प्रकृतिर्बध्यते । अन्तरायभागलब्धं तु द्रव्यं दानान्तरायादिप्रकृतिपञ्चकतया परिणमति, यत एताः पञ्चापि ध्रुवबन्धित्वात् सर्वदैव बध्यन्त इति ।

---

१ सं० १-२ छा० त० म० ०त–संहन० ॥ २ अस्मत्पार्श्ववर्तिषु समेष्वप्यादर्शेषु एतादृश एव पाठः, परं कर्मप्रकृतिटीकायां तु–०कार्मण ७-रूपाणि वैक्रियचतुष्क-तैजसत्रिकरूपाणि वा सप्त बन्धनानि बध्नता सप्त । वैक्रियच० इत्येवंरूपः पाठो दृश्यते ॥

ननु "बज्झंतीण विभज्जइ" इति वचनेन बध्यमानानामेवायं भागविधिरुक्तः, यदा च स्वस्वगुणस्थाने बन्धव्यवच्छेदः सम्पद्यते तदा तासां भागलभ्यं द्रव्यं कस्या भागतया भवति ? इति अत्रोच्यते—यस्याः प्रकृतेर्बन्धो व्यवच्छिद्यते तद्भागलभ्यं द्रव्यं यावदेकाऽपि सजातीयप्रकृतिर्बध्यते तावत् तस्या एव तद् भवति । यदा पुनः सर्वासामपि सजातीयप्रकृतीनां बन्धो व्यवच्छिन्नो भवति न च मिथ्यात्वस्येवापरा सजातीया प्रकृतिरस्ति तदा तद्भागलभ्यं द्रव्यं स्वमूलप्रकृत्यन्तर्गतानां विजातीयप्रकृतीनामपि भवति । यदा ता अपि व्यवच्छिन्ना भवन्ति तदा तद्दलिकं सर्वमप्यन्यस्या मूलप्रकृतेः सम्पद्यते ।

निदर्शनं चात्र यथा—स्त्यानर्द्धित्रिकस्य बन्धव्यवच्छेदे[1] तद्भागलभ्यं द्रव्यं सर्वमपि सजातीययोर्निद्रा-प्रचलयोर्भवति, तयोरपि बन्ध[2]विच्छेदे सति स्वमूलप्रकृत्यन्तर्गतानां चक्षुर्दर्शनावरणादीनां विजातीयानामपि भवति, तेषामपि च बन्धे विच्छिन्ने उपशान्तमोहाद्यवस्थायां निःशेषं सातवेदनीयस्यैव भवति। मिथ्यात्वस्य तु बन्धविच्छेदे सति सजातीयाभावात् तद्भागलभ्यं दलिकं सर्वं विजातीयानामेव क्रोधादीनामाद्यद्वादशकषायाणां भवतीत्यनया दिशा तावद् नेयं यावत् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने मोहनीयस्य भागलभ्यं द्रव्यं षड्भागतया भवति । तत ऊर्ध्वमुपशान्ताद्यवस्थायां सर्वथा शेषमूलप्रकृतीनां बन्ध[2]विच्छेदे तद्भागलभ्यं द्रव्यं सर्वं सातवेदनीयस्यैव भागतया भवतीति ।

अत्रैव कर्मप्रकृतिटीकाकारोपदर्शितं स्वस्वोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे जघन्यपदे चाल्पबहुत्वं विनेयजनानुग्रहाय प्रदर्श्यते—तत्रोत्कृष्टपदे सर्वस्तोकं प्रदेशाग्रं केवलज्ञानावरणस्य, ततो मनःपर्यवज्ञानावरणस्यानन्तगुणम्, ततोऽवधिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम्, ततः श्रुतज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम्, ततो मतिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम् । तथा दर्शनावरणे उत्कृष्टपदे सर्वस्तोकं प्रचलायाः प्रदेशाग्रम्, ततो निद्राया विशेषाधिकम्, ततः प्रचलाप्रचलाया विशेषाधिकम्, ततो निद्रानिद्राया विशेषाधिकम्, ततः स्त्यानर्द्धेर्विशेषाधिकम्, ततः केवलदर्शनावरणस्य विशेषाधिकम्, ततोऽवधिदर्शनावरणस्या[3]नन्तगुणम्, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकम्, ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकम् । तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमसातवेदनीयस्य, ततः सातवेदनीयस्य विशेषाधिकम् । तथा मोहनीये सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमप्रत्याख्यानावरणमानस्य, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषाधिकं, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिकं, ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्य विशेषाधिकं, ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्य विशेषाधिकं, ततः

१ सं० १ त० छा० ०न्धव्यवच्छे० । २ स० २ ०न्धव्यवच्छेदो ॥ ३ यद्यपि कर्मप्रकृतिटीकायाम्—'०स्यानन्तगुणं' एतादृश एव पाठः समस्ति' तथापि अस्मत्पार्श्वस्थेषु एतद्ग्रन्थस्य समेष्वप्यादर्शेषु-°-स्य विशेषाधिकम्' इत्येवंरूपः पाठः समस्तीति ॥

प्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषाधिकं, ततः प्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिकं, ततः प्रत्याख्यानावरणलोभस्य विशेषाधिकं, ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्य विशेषाधिकं, ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोधस्य विशेषाधिकं, ततोऽनन्तानुबन्धिमायाया विशेषाधिकं, ततोऽनन्तानुबन्धिलोभस्य विशेषाधिकम् । ततो मिथ्यात्वस्य विशेषाधिकम् । ततो जुगुप्साया अनन्तगुणम्, ततो भयस्य विशेषाधिकम् । ततो हास्य-शोकयोर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततो रति-अरत्योर्विशेषाधिकं, तयोः पुनः स्वस्थाने तुल्यम् । ततः स्त्रीवेद-नपुंसकवेदयोर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकं, ततः संज्वलनमानस्य विशेषाधिकम् । ततः पुरुषवेदस्य विशेषाधिकम् । ततः संज्वलनमायाया विशेषाधिकं, ततः संज्वलनलोभस्यासङ्ख्येयगुणम् । तथा चतुर्णामप्यायुषामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं परस्परं तुल्यम् । नामकर्मण्युत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं गतौ देवगति-नरकगत्योः सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि तुल्यम् । ततो मनुजगतौ विशेषाधिकं, ततस्तिर्यग्गतौ विशेषाधिकम् । तथा जातौ चतुर्णां द्वीन्द्रियादिजातिनाम्नामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यम्, तत एकेन्द्रियजातेर्विशेषाधिकम् । तथा शरीरनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकशरीरस्य, ततो वैक्रियशरीरस्य विशेषाधिकं, तत औदारिकशरीरस्य विशेषाधिकं, ततस्तैजसशरीरस्य विशेषाधिकं, ततः कार्मणशरीरस्य विशेषाधिकम् । एवं सङ्घातनाम्नोऽपि द्रष्टव्यम् । तथा बन्धननाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकाहारकबन्धननाम्नः, तत आहारकतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत आहारककार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत आहारकतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियवैक्रियबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत औदारिकौदारिकबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत औदारिकतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत औदारिककार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत औदारिकतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततस्तैजसतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततस्तैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततः कार्मणकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् । तथा संस्थाननाम्नि संस्थानानामाद्यन्तवर्जानां चतुर्णामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यं, ततः समचतुरस्रसंस्थानस्य विशेषाधिकं, ततो हुण्डसंस्थानस्य विशेषाधिकम् । तथाऽङ्गोपाङ्गनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नः, ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नो विशेषाधिकं, ततोऽप्यौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा संहनननाम्नि सर्वस्तोकमाद्यानां पञ्चानां संहननानामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यम्, ततः सेवार्तसंहननस्य विशेषाधिकम् । तथा वर्णनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं कृष्णवर्णनाम्नः, ततो नीलवर्णनाम्नो विशेषाधिकं, ततो लोहितवर्णनाम्नो विशेषाधिकं, ततो

हारिद्रवर्णनाम्नो विशेषाधिकं, ततः शुक्लवर्णनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा गन्धनाम्नि सर्वस्तोकं सुरभिगन्धनाम्नः, ततो दुरभिगन्धनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा रसनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं कटुरसनाम्नः, ततस्तिक्तरसनाम्नो विशेषाधिकं, ततः कषायरसनाम्नो विशेषाधिकं, ततोऽम्लरसनाम्नो विशेषाधिकं, ततो मधुररसनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा स्पर्शनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं कर्कश-गुरुस्पर्शनाम्नोः, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् , ततो मृदु-लघुस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकम् , स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् , ततो रूक्ष-शीतस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकम् , स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् , ततः स्निग्ध-उष्णस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । तथाऽऽनुपूर्वीनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं देवगति नरकगत्यानुपूर्व्योः, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् , ततो मनुजगत्यानुपूर्व्या विशेषाधिकं, ततस्तिर्यग्गत्यानुपूर्व्या विशेषाधिकम् । ❀[1]तथा विहायोगतिनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं प्रशस्तविहायोगतिनाम्नः, ततोऽप्रशस्तविहायोगतिनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं त्रसनाम्नः, ततो विशेषाधिकं स्थावरनाम्नः । एवं बादर-सूक्ष्मयोः पर्याप्ता-ऽपर्याप्तयोः प्रत्येक-साधारणयोः स्थिरा-ऽस्थिरयोः शुभा-ऽशुभयोः सुभग-दुर्भगयोः सुस्वर-दुःस्वरयोरादेया-ऽनादेययोर्यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योर्वाच्यम् । आतप-उद्योतयोरुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि तुल्यम्❀ । निर्माण-उच्छ्वास-पराघात-उपघाता-ऽगुरुलघु-तीर्थकराणां त्वल्पबहुत्वं नास्ति।

यत इदमल्पबहुत्वं सजातीयप्रकृत्यपेक्षया प्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षया वा चिन्त्यते, यथा कृष्णादिवर्णनाम्नः शेषवर्णापेक्षया, प्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षया वा यथा सुभग-दुर्भगयोः, न चैताः परस्परं सजातीया अभिन्नैकमूलपिण्डप्रकृत्यभावात् , नापि विरुद्धा युगपदपि बन्धसम्भवात् । तथा गोत्रे सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं नीचैर्गोत्रस्य, तत उच्चैर्गोत्रस्य विशेषाधिकम् । तथाऽन्तरायकर्मणि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं दानान्तरायस्य, ततो लाभान्तरायस्य, विशेषाधिकं, ततो भोगान्तरायस्य विशेषाधिकं, तत उपभोगान्तरायस्य विशेषाधिकं, ततो वीर्यान्तरायस्य विशेषाधिकम् ।

तदेवमुक्तमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्राल्पबहुत्वम् । सम्प्रति जघन्यपदे तदभिधीयते—

---

१ यद्यपि ❀ ❀ एतत् फुल्लिकाद्वयमध्यवर्ती पाठोऽस्मत्समीपवर्तिषु एतद्ग्रन्थस्य समेष्वप्यादर्शेषु एतादृश एव, परं ग्रन्थेऽत्र "कर्मप्रकृत्यभिप्रायेण दृश्यते" इत्युल्लेखे कृतेऽपि तया सह नैष संवादी । तत्स्थाने कर्मप्रकृतौ तु–"तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं त्रसनाम्नः, ततो विशेषाधिकं स्थावरनाम्नः । तथा सर्वस्तोकं प्रदेशाग्रं पर्याप्तनाम्नः' ततो विशेषाधिकमपर्याप्तनाम्नः । एवं स्थिरा-ऽस्थिरयोः शुभा-ऽशुभयोः सुभग-दुर्भगयोरादेया-ऽनादेययोः सूक्ष्म-बादरयोः प्रत्येक-साधारणयोर्वाच्यम् । तथा सर्वस्तोकमयशःकीर्तिनाम्नः प्रदेशाग्रम् , ततो यशःकीर्तिनाम्नः संख्येयगुणम् । शेषाणामातप-उद्योत-प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगति-सुस्वरदुःस्वराणां परस्परं तुल्यमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रम्। निर्मा० " एवंरूपः पाठो दृश्यते ।।

तत्र सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं केवलज्ञानावरणस्य, ततो मनःपर्यवज्ञानावरणस्यानन्तगुणं, ततोऽवधिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकं, ततः श्रुतज्ञानावरणस्य विशेषाधिकं, ततो मतिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम् । तथा दर्शनावरणस्य सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं निद्रायाः, ततः प्रचलाया विशेषाधिकं, ततो निद्रानिद्राया विशेषाधिकं, ततः प्रचलाप्रचलाया विशेषाधिकं, ततः स्त्यानर्द्धेर्विशेषाधिकं, ततः केवलदर्शनावरणस्य विशेषाधिकं, ततोऽवधिदर्शनावरणस्यानन्तगुणं, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकं, ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकम् । तथा मोहनीये सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रमप्रत्याख्यानावरणमानस्य, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषाधिकं, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिकं, ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्य विशेषाधिकम् । तत एवमेव प्रत्याख्यानावरणमान क्रोध-माया-लोभा-ऽनन्तानुबन्धिमान-क्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकत्वं वक्तव्यम् । ततो मिथ्यात्वस्य विशेषाधिकम् । ततो जुगुप्साया अनन्तगुणम् । ततो भयस्य विशेषाधिकम् । ततो हास्य-शोकयोर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततो रति-अरत्योर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततोऽन्यतरवेदस्य विशेषाधिकम् । ततः संज्वलनमान-क्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकम् । तथाऽऽयुषि सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं तिर्यङ्-मनुष्यायुषोः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यम् । ततो देव-नारकायुषोरसङ्ख्येयगुणं, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यम् । तथा नामकर्मणि गतौ सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं तिर्यग्गतेः, ततो मनुजगतेर्विशेषाधिकं, ततो देवगतेरसङ्ख्येयगुणं, ततो नरकगतेरसङ्ख्येयगुणम् । तथा जातौ सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं चतुर्णां द्वीन्द्रियादिजातिनाम्नां, तत एकेन्द्रियजातेर्विशेषाधिकम् । तथा शरीरनाम्नि, सर्वस्तोकमौदारिकशरीरनाम्नः, ततस्तैजसशरीरनाम्नो विशेषाधिकं, ततः कार्मणशरीरनाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽसङ्ख्येयगुणं, ततोऽप्याहारकशरीरनाम्नोऽसङ्ख्येयगुणम् । एवं [1]सङ्घातनाम्नोऽपि वाच्यम् । अङ्गोपाङ्गनाम्नि सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नः, ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽसङ्ख्येयगुणं, ततोऽप्याहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽसङ्ख्येयगुणम् । तथा सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं नरकगति-देवगत्यानुपूर्व्योः, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम्, ततो मनुजानुपूर्व्या विशेषाधिकं, ततस्तिर्यग्गत्यानुपूर्व्या विशेषाधिकम् । तथा सर्वस्तोकं त्रसनाम्नः, ततः स्थावरनाम्नो विशेषाधिकम् । एवं बादर-सूक्ष्मयोः पर्याप्ता-ऽपर्याप्तयोः प्रत्येक-साधारणयोश्च । शेषाणां तु नामप्रकृतीनामल्पबहुत्वं न विद्यते, तथा साता-ऽसातवेदनीययोरुच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रयोरपि । अन्तराये पुनर्यथोत्कृष्टपदे तथैवावगन्तव्यमिति ॥ ८१ ॥

---

१ कर्मप्रकृतिटीकायां तु-"सङ्घातननाम्नोऽ०" इत्येवंरूपः पाठः ॥

प्रतिपादितं मूलोत्तरप्रकृतीनां भागस्वरूपम् । सम्प्रति भागलब्धदलिकं प्रततरं गुणश्रेणिरचनयैव जन्तुः क्षपयति अतो गुणश्रेणिस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मदरसव्वविरई उ अणविसंजायदंसखवगे य ।
मोहसमसंतखवगे, खीणसजोगियर गुणसेढी ॥ ८२ ॥

गुणश्रेणय एकादश भवन्तीति सम्बन्धः । कुत्र कुत्र ? इत्याह—"सम्मदरसव्वविरई उ" इत्यादि । तत्र "[1]सम्म" त्ति सम्यक्त्वं-सम्यग्दर्शनं तल्लाभे एका गुणश्रेणिः । तथा विरतिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् दरविरतिः–देशविरतिस्तल्लाभे द्वितीया गुणश्रेणिः । सर्वविरतिः-सम्पूर्णविरतिस्तल्लाभे तृतीया गुणश्रेणिः । "अणविसंजोय" त्ति अनन्तानुबन्धिविसंयोजनायां चतुर्थी गुणश्रेणिः । "दंसखवगे" त्ति पदैकदेशे पदप्रयोगदर्शनाद् दर्शनस्य-दर्शनमोहनीयस्य क्षपको दर्शनक्षपकस्तत्र तद्विषया पञ्चमी गुणश्रेणिः । चशब्दः समुच्चये । "मोहसम" त्ति मोहस्य-मोहनीयस्य शमः-शमक उपशमकः स चोपशमश्रेण्यारूढोऽनिवृत्तिबादरः सूक्ष्मसम्परायश्चाभिधीयते, तत्र मोहशमे षष्ठी गुणश्रेणिः । "संत" त्ति शान्तः-उपशान्तमोहगुणस्थानकवर्ती तत्र सप्तमी गुणश्रेणिः । "खवगि" त्ति क्षपकः-क्षपकश्रेण्यारूढोऽनिवृत्तिबादरः सूक्ष्मसम्परायश्च निगद्यते, तत्र क्षपकेऽष्टमी गुणश्रेणिः । "खीण" त्ति क्षीणः-क्षीणमोह[स्त]स्य नवमी गुणश्रेणिः । "सजोगि" त्ति सयोगिकेवलिनो दशमी गुणश्रेणिः । "इयर" त्ति अयोगिकेवलिन एकादशी गुणश्रेणिरिति गाथाक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरयं-सम्यक्त्वलाभकाले मन्दविशुद्धिकत्वाद् जीवो दीर्घान्तर्मुहूर्तवेद्यामल्पतरप्रदेशाग्रां च गुणश्रेणिमारचयति । ततो देशविरतिलाभे सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां करोति । ततः सर्वविरतिलाभे सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां करोति । ततोऽप्यनन्तानुबन्धिविसंयोजनायां सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां विदधाति । ततो दर्शनमोहनीयक्षपकः सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां निर्मापयति । ततोऽपि मोहशमकः सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां विरचयति । ततोऽप्युपशान्तमोहगुणस्थानकवर्ती सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां विरचयति । ततोऽपि क्षपकः सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां विरचयति । ततोऽपि क्षीणमोहः सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां कुरुते । ततोऽपि सयोगिकेवली भगवान् सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां विधत्ते । ततोप्ययोगिकेवली परम-

१ सं० १-२ त० मा० छ० "सम्मं" ति ॥

विशुद्धिपरिकलितः सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां परिकल्पयति। तदेवं यथा यथाऽतिविशुद्धिस्तथा तथा ह्रस्वकाल-बहुप्रदेशाग्रत्वं च गुणश्रेणेर्भवतीति ॥ ८२ ॥

निरूपिता गुणश्रेणिरेकादशधा। सम्प्रत्यस्या एव स्वरूपं पूर्वप्रदर्शितसम्यक्त्वादिगुणारूढजन्तूनां मध्ये यस्य जन्तोर्यावद्गुणा दलिकनिर्जरा तां च प्ररूपयन्नाह—

[1]गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसंखगुणणाए ।
एयगुणा पुण कमसो, असंखगुणनिज्जरा जीवा ॥ ८३ ॥

गुणेन-गुणकारेण श्रेणिर्गुणश्रेणिः। श्रेणिशब्दवाच्यमाह—"दलरयण" त्ति दलस्य-उपरितनस्थितेरवतारितप्रदेशाग्रस्य रचना-सन्न्यासो दलरचना। कथं पुनर्दलिकरचना? कस्माच्चारभ्य केन च गुणकारेण विधीयते जन्तुना? इत्याह—'अनुसमयं' ति समयं समयमनु-लक्षीकृत्य प्रतिसमयमित्यर्थः, 'उदयाद्' उदयक्षणादारभ्य 'असङ्ख्यगुणनया' असङ्ख्यातगुणकारेण। इदमुक्तं भवति—उपरितनस्थितेरवतारितं दलिकमुदयक्षणे स्तोकं जन्तुर्विरचयति, द्वितीयक्षणेऽसङ्ख्यातगुणम्, तृतीयक्षणेऽसङ्ख्यातगुणम् इत्येवं प्रतिसमयमसङ्ख्यातगुणकारेण दलरचना तावद् नेया यावद् गुणश्रेणिमस्तकमिति। तथोपरितनस्थितेर्दलिकावतारणस्याप्ययमेव न्यायो वाच्यः। यथा—गुणश्रेणिन्यसनयोग्यमुपरितनस्थितेः प्रथमसमये स्तोकं गृह्णाति, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्यातगुणम्, एवं प्रतिसमयमसङ्ख्यातगुणकारेण तावद् नेयं यावत् चरमसमय इति। उक्तं च—

[2]उवरिल्लठिईहिंतो, घित्तूणं पुग्गले उ सो खिवइ ।
उदयसमयम्मि थोवे, तत्तो य असंखगुणिए उ ॥
बीयम्मि खिवइ समए, तइए तत्तो असंखगुणिए उ ।
एवं समए समए, अंतमुहुत्तं तु जा पुन्नं ॥
दलियं तु गिण्हमाणो, पढमे समयम्मि थोवयं गिण्हे ।
उवरिल्लठिईहिंतो, बीयम्मि असंखगुणियं तु ॥
गिण्हइ समए दलियं, तइए समए असंखगुणियं तु ।
एवं समए समए, जा चरिमो अंतसमओ त्ति ॥

---

१ सटीकेयं गाथा सार्द्धशतकप्रकरणस्य १०४ गाथा-तट्टीकासमाना ॥

२ उपरितनस्थितेर्गृहीत्वा पुद्गलांस्तु स क्षिपति। उदयसमये स्तोकांस्ततश्चासङ्ख्यगुणितांस्तु ॥
द्वितीये क्षिपति समये तृतीयस्मिंस्ततोऽसङ्ख्यगुणितांस्तु। एवं समये समये अन्तमुहूर्त्तं तु यावत् पूर्णम् ॥
दलिकं तु गृह्णन् प्रथमे समये स्तोककं गृह्णीयात्। उपरितनस्थितेर्द्वितीये असङ्ख्यगुणितं तु ॥
गृह्णाति समये दलिकं तृतीये समयेऽसङ्ख्यगुणितं तु। एवं समये समये यावच्चरमोऽन्तसमय इति ॥

तथेहापूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिकरणाद्धाद्वयाद् विशेषाधिकोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो गुणश्रेणेः कालो भवति, तावन्तं च कालं दलिकविरचनं करोति । तथाऽधस्तनाधस्तनोदयक्षणे वेदनतः क्षीणे सति शेषक्षणेषु दलिकं विरचयति, न पुनरुपरि गुणश्रेणिं वर्धयति । उक्तं च--

[1]सेढीएँ कालमाणं, दुण्ह य करणाण समहियं जाण ।
खिज्जइ सा उदएणं, जं सेसं तम्मि निक्खेवो ॥

सम्यक्त्वश्रेणेरयं क्रमः । शेषाणामपि श्रेणीनां दलरचनायां प्राय एष एव विधिः किञ्चिद्विशेषोऽपि चास्ति, केवलं स **कर्मप्रकृत्या**दिग्रन्थान्तरादवसेयो नेह प्रतन्यते, ग्रन्थगौरवभयात् । अधुना यद्गुणवशाद् जीवानां यावती निर्जरा तामाह—एते–प्रागुपदर्शिताः सम्यक्त्व-देशविरति-सर्वविरत्यादयो गुणाः धर्मा येषां ते एतद्गुणा जीवा इत्युत्तरेण सम्बन्धः । कथम् ? इत्याह-'पुनः' इति पुनःशब्दो गुणश्रेणिस्वरूपापेक्षया व्यतिरेकार्थः । 'क्रमशः' यथोत्तरं क्रमेणासङ्ख्यातगुणिता निर्जरा–कर्मपुद्गलपरिशाटरूपा येषां तेऽसङ्ख्यगुणनिर्जराः 'जीवाः' सत्त्वा भवन्तीति शेषः । तत्र सम्यक्त्वगुणा जीवाः स्तोकपुद्गलनिर्जरकाः, ततो देशविरता असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततः सर्वविरता असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततोऽनन्तानुबन्धिविसंयोजका असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततो दर्शनक्षपका असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततो मोहशमका असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, तत उपशान्तमोहा असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततः क्षपका असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततः क्षीणमोहा असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततः सयोगिकेवलिनोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततोऽप्ययोगिकेवलिनोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जराः ॥८३॥

इहोत्तरोत्तरगुणारूढानां जन्तूनामसङ्ख्येयगुणनिर्जराभाक्त्वमुक्तम्, उत्तरोत्तरगुणाश्च यथाक्रममविशुद्ध्यपकर्ष-विशुद्धिप्रकर्षस्वरूपाः सन्तो गुणस्थानकान्युच्यन्ते, अतस्तेषां गुणस्थानकानां जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरालं प्रतिपादयन्नाह—

[2]पलि[3]यासंखंसमुहू, सासणइयरगुण अंतरं हस्सं ।
गुरु मिच्छि बे छसट्ठी, इयरगुणे पुग्गलद्धंतो ॥ ८४ ॥

इह 'भामा सत्यभामा' इति न्यायात् पल्योपमासङ्ख्यांशोऽन्तर्मुहूर्तं च जघन्यमन्तरमिति योगः । केषाम् ? इत्याह–सास्वादनश्च इतरगुणाश्च–अवशिष्टगुणस्थानकानि सास्वादनेतरगुणास्तेषाम्, प्राकृतत्वादत्र विभक्तिलोपः । 'अन्तरं' विवक्षितगुणस्थानावस्थितेः प्रच्युतानां

---

१ श्रेणेः कालमानं द्वयोश्च करणयोः समधिकं जानीहि । क्षीयते सोदयेन यच्छेषं तस्मिन्निक्षेपः ॥
२ सटीकेयं गाथा सार्द्धशतकप्रकरणस्य १०५ गाथा–तट्टीकासमा ॥ ३ सं० १–२ त० म० छा० ०यासंखंतमु०॥

पुनस्तत्प्राप्तेर्व्यवधानम् अन्तरालमिति यावत् , 'ह्रस्वं' जघन्यम् । तत्र सास्वादनगुणस्थानकस्य जघन्यमन्तरं पल्योपमासङ्ख्येयभागः, इतरगुणस्थानकानां तु जघन्य[1]मन्तर्मुहूर्तमित्यक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरयम्-योऽनादिमिथ्यादृष्टिरुद्वलितसम्यक्त्व-मिश्रपुञ्जो वा मिथ्यादृष्टिः षड्विंशतिसत्कर्मा सन् अन्तरकरणादिना प्रकारेणोपलब्धौपशमिकसम्यक्त्वोऽनन्तानुबन्ध्युदयात् सास्वादनभावमासाद्य मिथ्यात्वं गतः सन् यदि तदेव सास्वादनत्वं पुनर्लभतेऽन्तरकरणप्रकारेणैव तदा जघन्यतोऽपि पल्योपमासङ्ख्येयभागोर्ध्वं लभते, नार्वाक् । किं कारणम् ? इति चेद् उच्यते-यतः सास्वादनाद् मिथ्यात्वं गतस्य प्रथमसमये सम्यक्त्व-मिश्रपुञ्जौ सत्तायामवश्यं तिष्ठत एव । न च तयोः सत्तायां वर्तमानयोः पुनरौपशमिकसम्यक्त्वं लभते, तदभावात् सास्वादनत्वं दूरापास्तमेव । यदि पुञ्जद्वयसद्भावे औपशमिकसम्यक्त्वस्य न लाभस्तर्हि पल्योपमासङ्ख्येयभागेऽप्यतिक्रान्ते कथं सास्वादनलाभः ? इति चेद् उच्यते-इह सम्यक्त्व-मिश्रपुञ्जौ मिथ्यात्वं गतः प्रतिसमयमुद्वर्तयति, तद्दलिकं प्रतिसमयं मिथ्यात्वे प्रक्षिपतीत्यर्थः । अनेन च क्रमेणैतावुद्वर्त्यमानौ पल्योपमासङ्ख्येयभागेन सर्वथोद्वर्तितौ निःसत्ताकं नीतौ भवतः, इत्थमेव **कर्मप्रकृत्यादिष्व**भिहितत्वात् । ततः पल्योपमासङ्ख्येयभागेन मिश्र-सम्यक्त्वपुञ्जयोरुद्वर्तितयोस्तदन्ते कश्चिद् जन्तुः पुनरप्यौपशमिकसम्यक्त्वमासाद्य सास्वादनत्वं गच्छतीत्येवं सास्वादनस्य पल्योपमासङ्ख्येयभागोऽन्तरं भवतीति ।

नन्वेकदोपशमश्रेणेः प्रतिपतितः सास्वादनभावमनुभूय यदा पुनरप्यन्तर्मुहूर्तेन एतामेवोपशमश्रेणिं प्रतिपद्य ततः प्रतिपतितः सास्वादनभावं लभते तदा जघन्यतोऽल्पमेवान्तरं लभ्यते, तत्किमिति पल्योपमासङ्ख्येयभागो जघन्यमन्तरमित्युक्तम् ? सत्यम्, उपशमश्रेणेः प्रतिपतितो यः सास्वादनत्वं गच्छति स केवलं मनुजगतिभावित्वेनाल्पत्वाद् नेह विवक्षित इतीतरस्यैव प्रभूतस्य चतुर्गतिवर्तित्वादन्तरालचिन्तेति । इतरगुणस्थानकेभ्यश्च मिथ्यादृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि-अविरत-सम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तोपशमश्रेणिगतापूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहलक्षणेभ्यः परिभ्रष्टः पुनर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तेऽतिक्रान्ते तान्येव गुणस्थानकानि लभते इति तेषां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमेवान्तरालं भवति । तथाहि-कश्चिद् जीव उपशमश्रेण्यारूढः सन् उपशान्तत्वमपि सम्प्राप्य प्रतिपतितो मिथ्यादृष्टित्वं या[2]वदवाप्नोति, ततो भूयोऽप्यन्तर्मुहूर्तेन तान्येवोपशान्तगुणस्थानान्तानि यदाऽऽरोहति त[3]दा शेषाणां सास्वादन-मिश्रगुणस्थानकवर्जितानां गुणस्थानकानां प्रत्येकं जघन्यत आन्तर्मौहूर्तिकमन्तरं भवति, एकस्मिंश्च भवे वारद्वयमुपशमश्रेणिकरणं समनुज्ञातमेव । उक्तं च--

---

१ साद्धंशतकप्रकरणटीकायां °न्यमन्तरमन्तर्मु° २ छा० म० °वदाप्नोति ॥ ३ सं० १ म० °दा शेषा° ॥

[1]एगभवे दुक्खुत्तो, चरित्तमोहं उवसमिज्जा ॥ (कर्मप्र० ३७६)

तत्र सास्वादनं प्रति जघन्यान्तरस्योक्तत्वात् श्रेणिप्रतिपतितस्य च मिश्रगमनाभावात् तयोर्वर्जनमुक्तम् । श्रेणिगमनाभावे तु मिश्रस्य सास्वादनवर्जशेषगुणस्थानकानां च मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्रमत्तान्तानां परावृत्य परावृत्य गमनत आन्तर्मौहूर्तिकमन्तरं प्राप्यते । क्षपक-क्षीणमोह सयोगिकेवलि-अयोगिकेवलिनां त्वन्तरचिन्ता नास्ति, तेषां प्रतिपातस्यैवाभावादिति ॥

उक्तं जघन्यमन्तरं सर्वगुणस्थानकानाम् । इदानीमुत्कृष्टमन्तरमाह—"गुरु मिच्छि बे छसट्ठी" इत्यादि । 'गुरु' उत्कृष्टमन्तरं "मिच्छि" त्ति 'मिथ्यात्वे' मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकस्य 'द्वे षट्षष्टी' षट्षष्टिद्वयम् । अयमत्र भावार्थः—यः कश्चिद् जन्तुर्विशुद्धिवशाद् मिथ्यादृष्टित्वं परित्यज्य सम्यक्त्वं प्रतिपन्नः, ततः सागरोपमषट्षष्टिप्रमाणमुत्कृष्टं सम्यक्त्वकालं प्रतिपाल्य अन्तर्मुहूर्तमेकं सम्यग्मिथ्यात्वं गच्छति, ततो भूयोऽपि सम्यक्त्वमासाद्य सागरोपमषट्षष्टिं यावत् तदनुपाल्य तत ऊर्ध्वं यो न सिध्यति सोऽवश्यं मिथ्यात्वं गच्छति, तत इत्थं सागरोपमषट्षष्टिद्वयरूपं सामर्थ्यतो मिश्रान्तर्मुहूर्त-नरभवाधिकमुत्कृष्टं मिथ्यात्वस्यान्तरालं भवतीति । "इयरगुणे" त्ति इतरगुणस्थानकविषये । कोऽर्थः? मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकापेक्षयाऽन्यगुणस्थानकेषु सास्वादनादिषूपशान्तमोहान्तेषु 'गुरु अन्तरम्' उत्कृष्टोऽन्तरालकालो भवति । कियद् ? इत्याह—"पुग्गलद्धंतो" त्ति सूचकत्वात् सूत्रस्य पुद्गलस्य—पुद्गलपरावर्तस्यार्धं पुद्गलपरावर्तार्द्धं तस्यान्तरं—मध्यं पुद्गलपरावर्तार्द्धान्तः, किञ्चिदूनं पुद्गलपरावर्तार्द्धमित्यर्थः। इदमत्र तात्पर्य—सास्वादनादय उपशमश्रेणिगतापूर्वकरणाद्युपशान्तमोहान्ताश्च जीवा निजनिजगुणस्थानकावस्थितेर्यदा परिभ्रष्टास्तदोत्कृष्टतः किञ्चिदूनं पुद्गलपरावर्तार्द्धं यावदपारसंसारपारावारमध्यमवगाह्य पुनस्तानि गुणस्थानकानि लभन्ते नार्वाक्, तत ऊर्ध्वं च सम्यक्त्वादिगुणान् सम्प्राप्य अवश्यं जीवाः सिध्यन्तीति, ततो देशोनार्धपुद्गलपरावर्तमानमेषामुत्कृष्टमन्तरं भवति । क्षपकक्षीणमोहादीनां चान्तरमेव नास्ति, प्रतिपाताभावादिति ॥ ८४ ॥

इह सास्वादनस्य जघन्यमन्तरं पल्योपमासङ्ख्येयांश उक्तम् । अतः पल्योपमस्वरूपं सप्रपञ्चं प्रचिकटयिषुराह—

उद्धार अद्ध खित्तं, पलिय तिहा समयवाससयसमए ।
केसवहारो दीवोदहिआउतसाइपरिमाणं ॥ ८५ ॥

धान्यपल्यवत् पल्यं--पल्योपमं 'त्रिधा' त्रिप्रकारं भवति । सिलोपः प्राकृतत्वात् । तथाहि-उद्धारपल्योपमम् अद्धापल्योपमं क्षेत्रपल्योपमं च । तत्र वालाग्राणां तत्खण्डानां वा प्रतिसमयमु-

१ एकस्मिन् भवे द्विश्चारित्रमोहमुपशमयेत् ॥

द्धरणमुद्धारस्तद्विषयं-तत्प्रधानं वा पल्योपममुद्धारपल्योपमम् १ । अद्धा-कालः, स च प्रस्तावाद् वालाग्राणां तत्खण्डानां वाऽपहारे प्रत्येकं वर्षशतलक्षणस्तत्प्रधानं पल्योपममद्धापल्योपमम् २ । क्षेत्रम्-आकाशप्रदेशरूपं तत्प्रधानं पल्योपमं क्षेत्रपल्योपमं च ३ इह । "समयवाससयसमए केसवहारो" त्ति तत्रोद्धारपल्योपमे केशानां-वालाग्राणां समये समयेऽपहारः-उद्धरणं क्रियते, अद्धापल्योपमे वर्षशते केशापहारः क्रियते, क्षेत्रपल्योपमे समये समये केशापहारः-केशस्पृष्टाऽस्पृष्टाकाशप्रदेशापहारः क्रियते । तत्र "दीवोदहिआउतसाइपरिमाणं" ति तत्रोद्धारपल्योपमेन प्रयोजनं द्वीपोदधिपरिमाणं-द्वीपा उदधयश्चानेन प्रमीयन्ते, तथाऽद्धापल्योपमेन प्रयोजनम् आयुःपरिमाणं-[1]देव-नारक-तिर्यङ्-मनुष्याणामायूंष्यनेन मीयन्त इत्यर्थः, क्षेत्रपल्योपमेन प्रयोजनं त्रसादिपरिमाणम्, आदिशब्दात् पृथिवीकायिका-ऽप्कायिक-तेजस्कायिक-वायुकायिक-वनस्पतिकायिकानां परिमाणं ग्राह्यम् । उक्तं च—

[2]एएण खित्तसागरउवमाणेणं हविज्ज नायव्वं ।
पुढविदगअगणिमारुयहरियतसाणं परीमाणं ॥ (जीवसमा० गा० १३३)

इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्—इह त्रिविधं पल्योपमम् । तद्यथा—उद्धारपल्योपमम् अद्धापल्योपमम् क्षेत्रपल्योपमम् । पुनरेकैकं द्विधा—बादरं सूक्ष्मं च । तत्रायाम-विस्तराभ्याम-वगाहेन चोत्सेधाङ्गुलनिष्पन्नैकयोजनप्रमाणो वृत्तत्वाच्च परिधिना किञ्चिदूनषड्भागाधिकयोजनत्रयमानः पल्यो मुण्डिते शिरसि एकेनाह्ना द्वाभ्यामहोभ्यां यावदुत्कर्षतः सप्तभिरहोभिः प्ररूढानि यानि वालाग्राणि तैः प्रचयविशेषाद् निबिडतरमाकर्णं तथा भ्रियते यथा तानि वालाग्राणि वह्निर्न दहति वायुर्नापहरति जलं नोत्कोथयति, ततः समये समये एकैकवालाग्रापहारेण यावता कालेन स पल्यः सकलोऽपि सर्वात्मना निर्लेपो भवति तावान् कालः सङ्ख्येयसमयमानो बादरमुद्धारपल्योपमम् । एतेषां च दशकोटिकोट्यो बादरमुद्धारसागरोपमम्, महत्त्वात् सागरेण—समुद्रेणोपमा यस्येति कृत्वा । बादरे च प्ररूपिते सूक्ष्मं सुखावसेयं स्यादिति बादरोद्धारपल्योपम-सागरोपमयोः प्ररूपणम्, न पुनरेतत्प्ररूपणेऽन्यद् विशिष्टं फलमस्तीति । एवं बादरेष्वद्धाक्षेत्रपल्योपम-सागरोपमेष्वपि वक्तव्यम् । यदुक्तमनुयोगद्वारेषु—

[3]तत्थ णं जे से वावहारिए उद्धारपलिओवमे से णं इमे, से जहानामए पल्ले सिया जोयणं आयामविक्खंभेणं जोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं तिगुणसविसेसं परिरएणं, से णं एगाहियबेहियतेहियाणं

१ त० म० देवानां नारका० । छा० सं १-२ देवानां नरक० ॥

२ एतेन क्षेत्रसागरोपमानेन भवेज्ज्ञातव्यम् । पृथ्वीदकाग्निमारुतहरितत्रसानां च परिमाणम् ॥

३ तत्र यत् तद् व्यावहारिकं उद्धारपल्योपमं तद् इदम् असौ यथानामकः पल्यः स्याद् योजनं आयामविष्कम्भाभ्यां योजनश्चोर्ध्वमुच्चैस्त्वेन सविशेषत्रिगुणः परिरयेण, स एकाहिकद्व्याहिकत्र्याहिकैः

[1]उक्कोससत्तरत्ताणं संसट्ठे संनिचिए भरिए वालग्गकोडीणं, ते णं वालग्गा नो अग्गी डहिज्जा नो वाऊ हरिज्जा नो कुच्छिज्जा नो विद्धंसिज्जा नो पूइत्ताए हव्वमागच्छिज्जा, तओ चेव णं समए समए एगमेगं वालग्गमवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए नीट्ठिए निल्लेवे भवइ[2] से तं वावहारिए उद्धारपलिओवमे ।

[3]एएसिं पल्लाणं, कोडाकोडी हविज्ज दसगुणिया ।
उद्धारसागरस्स उ, एगस्स भवे परीमाणं ॥

[4]एएहिं वावहारिएहिं उद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयणं ? नत्थि किंचि पओयणं, केवलं पन्नवइ[5]ज्जइ (अनुयो० पत्र १८०-१-२) इति ।

उक्तं बादरमुद्धारपल्योपमम् । अथ सूक्ष्मं तद् उच्यते—तत्रैकैकं वालाग्रमसङ्ख्येयानि खण्डानि कृत्वा पूर्ववत् पल्यो भ्रियते, तानि च खण्डानि द्रव्यतः प्रत्येकमत्यन्तशुद्धलोचनच्छद्मस्थो यदतीवसूक्ष्मं पुद्गलद्रव्यं चक्षुषा न पश्यति तदसङ्ख्येयभागमात्राणि । क्षेत्रतस्तु सूक्ष्मपनकशरीरं यावति क्षेत्रेऽवगाहते ततोऽसङ्ख्येयगुणानि, बादरपर्याप्तपृथ्वीकायिकशरीरतुल्यानीति वृद्धाः । एषां च वालाग्राणामसङ्ख्येयत्वात् प्रतिसमयमुद्धारे किल सङ्ख्येया वर्षकोट्योऽतिक्रामन्ति, अतः सङ्ख्येयवर्षकोटिमानमिदं सूक्ष्ममुद्धारपल्योपममवसेयम् । तद्दशकोटिकोट्यः सूक्ष्मोद्धारसागरोपमम् । आभ्यां पल्योपम-सागरोपमाभ्यां द्वीपाः समुद्राश्च मीयन्ते । उक्तं चानुयोगद्वारेषु—

[6]एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयणं ? एएहिं दीवसमुद्दाणं उद्धारे घिप्पइ । केवइया णं भंते ! दीवसमुद्दा उद्धारेणं पन्नत्ता ? गोयमा ! जावइया णं अड्ढाइज्जाणं उद्धारसागरोवमाणं उद्धारसमया एवइया णं दीवसमुद्दा उद्धारेणं पन्नत्ता ॥ (पत्र १८१-१)

भाष्यसुधाम्भोनिधिरप्याह—

१ यावदुत्कृष्टसप्तरात्रैः संसृष्टः संनिचितो भृतः वालाग्रकोटिभिः, तानि च वालाग्राणि नाग्निर्दहेद् न वायुर्हरेद् नोत्कोथयेयुः न विध्वंस्येयुः न पूतित्वेन शीघ्रमागच्छेयुः, ततश्च खलु समये समये एकैकं वालाग्रमपहरता यावता कालेनासौ पल्यः क्षीणो नीरजा निष्ठितो निर्लेपश्च भवति तदिदं व्यावहारिकं उद्धारपल्योपमम् ॥ २ सं० १-२ छा० त० म० ०इ से त्तं वा० एवमग्रेऽपि ॥ ३ एतेषां पल्यानां कोटाकोटीभवेद्दशगुणिता । उद्धारसागरस्य त्वेकस्य भवेत् परिमाणम् ॥ ४ एताभ्यां व्यावहारिकाभ्यामुद्धारपल्योपमसागरोपमाभ्यां किं प्रयोजनम् ? नास्ति किञ्चित् प्रयोजनं केवलं प्रज्ञाप्यते ॥ ५ सं० १-२ छा० त० म० इज्जा ॥

६ एताभ्यां सूक्ष्मोद्धारपल्योपमसागरोपमाभ्यां किं प्रयोजनम् ? एताभ्यां द्वीपसमुद्राणामुद्धारो गृह्यते । कियन्तो भदन्त ! द्वीप-समुद्रा उद्धारेण प्रज्ञप्ताः ? गौतम ! यावतामर्धतृतीयानामुद्धारसागरोपमाणां उद्धारसमया एतावन्तो द्वीपसमुद्रा उद्धारेण प्रज्ञप्ताः ॥

[1]उद्धारसागराणं, अड्ढाइज्जाण जत्तिया समया ।
दुगुणदुगुणपवित्थर, दीवोदहि हुंति एवइया ॥ (जिनभ० सङ्ग्र० गा० ८०)

इत्युक्तं बादर-सूक्ष्मभेदतो द्विविधमप्युद्धारपल्योपमम् १ । सम्प्रति द्विविधमेवाद्धापल्योपमं प्ररूप्यते–तत्र पूर्वोक्तपल्याद् वर्षशतेऽतिक्रान्ते एकैकवालाग्रापहारेण निर्लेपनाकालः सङ्ख्येयवर्षकोटीमानो बादरमद्धापल्योपमम्, तद्दशकोटीकोटयो बादरमद्धासागरोपमम् । तथैव पूर्वोक्तपल्याद् वर्षशते वर्षशतेऽतिक्रान्ते एकैकवालाग्रासङ्ख्येयतमखण्डापहारेण निर्लेपनाकालोऽसङ्ख्यातवर्षकोटीमानः सूक्ष्ममद्धापल्योपमम्, तद्दशकोटीकोटयः सूक्ष्ममद्धासागरो[2]पमम्, तद्दशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणाऽवसर्पिणी, तावत्प्रमाणैवोत्सर्पिण्यपि, अवसर्पिणी-उत्सर्पिण्योऽनन्ताः पुद्गलपरावर्ताः, अनन्ताः पुद्गलपरावर्ताः अतीताद्धा, अनन्ताः पुद्गलपरावर्ता अनागताद्धा चेति ।

उक्तं च **श्रीभगवतीटीकायां**—

[3]अहवा पडुच्च कालं, न सव्वभव्वाण होइ वुच्छित्ती ।
जं तीयऽणागयाओ, अद्धाओ दो वि तुल्लाओ ॥ (शत० १२ उ० २)

अयमत्राभिप्रायः—यथाऽनागताद्धाया अन्तो नास्ति, एवमतीताद्धाया आदिरिति व्यक्तं समत्वमिति । अन्ये त्वाहुः—

[4]उस्सप्पिणी अणंता, पुग्गलपरियट्टओ मुणेयव्वो ।
तेऽणन्ता तीयऽद्धा, अणागयद्धा अणंतगुणा ॥ (जीवस० गा० १२९)

अत्रेयं भावना—अतीताद्धातोऽनागताद्धाया अनन्तगुणत्वम्, समयावलिकादिभिरनवरतं क्षीयमाणाया अप्यनागताद्धाया अक्षयात् ।

आभ्यां च सूक्ष्माद्धापल्योपम-सागरोपमाभ्यां सुर-नरक-नर-तिरश्चां कर्मस्थितिः कायस्थितिः भवस्थितिश्च मीयते । उक्तं **चानुयोगद्वारेषु**—

[5]एएहिं सुहुमअद्धापलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयणं ? गोयमा ! एएहिं नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवाण य आउयाइं मविज्जंति (पत्र १८३–२) इति ।

अभिहितं बादर-सूक्ष्मभेदतो द्विविधमप्यद्धापल्योपमम् २ । साम्प्रतं द्विविधमेव क्षेत्रपल्योपमं निरूप्यते–तत्र पूर्वोक्तपल्याद् वालाग्रस्पृष्टनभःप्रदेशानां प्रतिसमयं एकैकापहारेण निर्लेपना-

---

१ उद्धारसागराणामर्धतृतीयानां यावन्तः समयाः । द्विगुणद्विगुणप्रविस्तरा द्वीपोदधयो भवन्त्येतावन्तः ॥
२ सं० १-२ त० म० छा० °पमं, दशसाग° ॥
३ अथवा प्रतीत्य कालं न सर्वभव्यानां भवति व्युच्छित्तिः । यदतीतानागते अद्धे द्वे अपि तुल्ये ॥
४ उत्सर्पिण्योऽनन्ताः पुद्गलपरावर्तो ज्ञातव्यः । तेऽनन्ता अतीताद्धाऽनागताद्धा चानन्तगुणा ॥
५ एताभ्यां सूक्ष्माद्धापल्योपम-सागरोपमाभ्यां किं प्रयोजनम् ? गौतम ! एताभ्यां नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्य-देवानामायूंषि मीयन्ते ।

कालोऽसङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानो बादरं क्षेत्रपल्योपमम्, तद्दशकोटीकोट्यो बादरं क्षेत्रसागरोपमम्। तथैवैकैकवालाग्रासङ्ख्येयतमखण्डैः स्पृष्टानामस्पृष्टानां च नभःप्रदेशानां प्रतिसमयमेकैकापहारेण निर्लेपनाकालो बादरासङ्ख्येयगुणकालमानः सूक्ष्मं क्षेत्रपल्योपमम्, तद्दशकोटीकोट्यः सूक्ष्मं क्षेत्रसागरोपमम्। उक्तं चानुयोगद्वारेषु–

'से किं तं सुहुमे खेत्तपलिओवमे ? से जहानामए पल्ले सिया एगजोयणं आयामविक्खंभेणं जोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं जाव भरिए वालग्गकोडीणं, तत्थ णं एक्कमिक्के वालग्गे असंखेज्जाइं खंडाइं कीरइ, ते णं वालग्गा दिट्ठीओगाहणाओ असंखेज्जभागमित्ता सुहुमस्स पणगजीवस्स सरीरोगाहणाओ असंखेज्जगुणा, ते णं वालग्गा नो अग्गी डहिज्जा नो वाऊ हरिज्जा जाव नो पूइत्ताए हव्वमागच्छिज्जा, जे णं तस्स आगासपएसा तेहिं वालग्गेहिं फुन्ना वा अणाफुन्ना वा तओ णं समए समए इक्कमिक्कमागासपएसं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे जाव निल्लेवे भवइ से तं सुहुमे खेत्तपलिओवमे। तत्थ चोयए पन्नवगं एवं वयासी—अत्थि णं तस्स पल्लस्स आगासपएसा जे णं तेहिं वालग्गेहिं अणाफुन्ना ? हंता अत्थि। जहा को दिट्ठंतो ? से जहानामए कुट्ठे सिया कुहंडाणं भरिए तत्थ माउलिंगा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ बिल्ला पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ आमलया पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं बयरा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं चिणगा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं मुग्गा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं सरिसवा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं गंगावालुया पक्खित्ता सा वि माया, एवमेव अत्थि णं तस्स पल्लस्स आगासपएसा जे णं तेहिं वालग्गेहिं अणाफुन्ना ॥ (पत्र १९२-१) इति।

एताभ्यां च सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपम-सागरोपमाभ्यां प्रायो दृष्टिवादे द्रव्यप्रमाणप्ररूपणायां प्रयोजनं सकृदेव नान्यत्र। यदागमः—

---

१ अथ किं तत् सूक्ष्मं क्षेत्रपल्योपमम् ? असौ यथानामकः पल्यः स्याद् एकयोजनं आयामविष्कम्भाभ्याम् योजनं ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन यावद् भृतः वालाग्रकोटिभिः तत्र खलु एकैकं वालाग्रमसंख्येयानि खण्डानि क्रियते, तानि च वालाग्राणि दृष्ट्यवगाहनातोऽसंख्येयभागमात्राणि सूक्ष्मस्य पनकजीवस्य शरीरावगाहनातोऽसंख्येयगुणानि, तानि च वालाग्राणि नाग्निर्दहेद् न वायुर्हरेद् यावद् न पूतित्वेन शीघ्रमागच्छेयुः, ये च तस्य आकाशप्रदेशाः तैर्वालाग्रैः स्पृष्टा वा अनास्पृष्टा वा ततः खलु समये समये एकैकमाकाशप्रदेशमपहाय यावता कालेन स पल्यः क्षीणः यावद् निर्लेपः भवति तदिदं सूक्ष्मं क्षेत्रपल्योपमम्। तत्र चोदकः प्रज्ञापकमेवमवादीत्—सन्ति तस्य पल्यस्याकाशप्रदेशा ये तैर्वालाग्रैरनास्पृष्टाः ? हन्त सन्ति। यथा को दृष्टान्तः ? असौ यथानामकः कोष्ठः स्यात् कूष्माण्डैर्भृतः, तत्र मातुलिङ्गानि क्षिप्तानि तान्यपि अवगाढानि, तत्र बिल्वानि क्षिप्तानि तान्यप्यवगाढानि, तत्रामलकानि प्रक्षिप्तानि तान्यप्यवगाढानि, तत्र बदराणि क्षिप्तानि तान्यपि अवगाढानि, तत्र चणकाः प्रक्षिप्तास्तेऽपि अवगाढाः, तत्र मुद्गाः प्रक्षिप्तास्तेऽपि अवगाढाः, तत्र सर्षपाः प्रक्षिप्तास्तेऽपि अवगाढाः, तत्र गङ्गावालुकाः प्रक्षिप्तास्ता अप्यवगाढाः, एवमेव सन्त्येव तस्य पल्यस्याकाशप्रदेशा ये तैर्वालाग्रैरनास्पृष्टा इति।

[1]एएहिं सुहुमखेत्तपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयणं ? गोयमा ! एएहिं सुहुमखेत्तपलिओवमसागरोवमेहिं दिट्ठिवाए दव्वाइं मविज्जंति (अनुयो० पत्र १९३-१) इति ।

आह–यदि स्पृष्टा अस्पृष्टाश्चेह सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमे नभःप्रदेशा गृह्यन्ते तर्हि वालाग्रैः किं प्रयोजनम् ? यथोक्तपल्यान्तर्गतनभःप्रदेशापहारमात्रतः सामान्येनैव वक्तुमुचितं स्यात्, सत्यम्, किन्तु सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमेन दृष्टिवादे द्रव्याणि मीयन्ते, तानि च कानिचिद् यथोक्तवालाग्रस्पृष्टैरेव नभःप्रदेशैर्मीयन्ते कानिचिदस्पृष्टैरिति, अतो दृष्टिवादोक्तद्रव्यमानोपयोगित्वाद् वालाग्रप्ररूपणाऽत्र प्रयोजनवतीति ॥८५॥

व्याख्यातं बादर-सूक्ष्मभेदतो द्विविधमपि क्षेत्रपल्योपमम् ३ । तद्व्याख्याने च समर्थितं सप्रपञ्चं पल्योपम-सागरोपमस्वरूपम् । इदानीं किञ्चिदूनं पुद्गलपरावर्तार्धं सास्वादनादीनामुत्कृष्टमन्तरमुक्तम् अतस्तमेव सप्रपञ्चं पुद्गलपरावर्तं गाथात्रयेण निरूपयितुकामः प्रथमं तावत् तस्यैव भेदान् परिमाणं चाह–

[2]दव्वे खित्ते काले, भावे चउह दुह बायरो सुहुमो ।
होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गलपरट्टो ॥ ८६ ॥

'द्रव्ये' द्रव्यविषयः 'क्षेत्रे' क्षेत्रविषयः 'काले' कालविषयः 'भावे' भावविषयः, इत्थं 'चतुर्धा' चतूरूपः पुद्गलपरावर्तो भवतीत्युत्तरेण सण्टङ्कः । पुनरेकैको द्रव्यादिकः 'द्विविधः' द्विप्रकारो भवति । द्वैविध्यमेवाह—"बायरो सुहुमो" त्ति बादर-सूक्ष्मभेदभिन्नः । अयमर्थः—द्रव्यपुद्गलपरावर्तो द्वेधा–बादरः सूक्ष्मश्च, क्षेत्रपुद्गलपरावर्तो द्वेधा–बादरः सूक्ष्मश्च, कालपुद्गलपरावर्तो द्वेधा–बादरः सूक्ष्मश्च, भावपुद्गलपरावर्तो द्वेधा--बादरः सूक्ष्मश्च । कियत्कालप्रमाणः पुनरयमेकैकः ? इत्याह--"होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो" त्ति 'भवति' जायते उत्सर्पन्ति--प्रतिसमयं कालप्रमाणं जन्तूनां वा शरीरा-ऽऽयुःप्रमाणादिकमपेक्ष्य वृद्धिमनुभवन्तीत्युत्सर्पिण्यः, ततोऽनन्ता उत्सर्पिण्यः, उपलक्षणत्वादवसर्पन्ति--प्रतिसमयं कालप्रमाणं जन्तूनां वा शरीरा-ऽऽयुःप्रमाणादिकमपेक्ष्य हानिमनुभवन्तीत्यवसर्पिण्यः, ताश्च परिमाणं यस्य सोऽनन्तोत्सर्पिणी-अवसर्पिणीपरिमाणः । पूरण-गलनधर्माणः पुद्गलाः, तेषां पुद्गलानां-चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकवर्तिसमस्तपरमाणूनां परावर्तः-औदारिकादिशरीरतया गृहीत्वा मोचनं यस्मिन् कालविशेषे स पुद्गलपरावर्तः । यद्यपि

---

१ एताभ्यां सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपम-सागरोपमाभ्यां किं प्रयोजनम् ? गौतम ! एताभ्यां सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपम-सागरोपमाभ्यां दृष्टिवादे द्रव्याणि मीयन्ते ॥

२ सटीकेयं गाथा सार्द्धशतकप्रकरणस्य १०६तमी गाथा-तट्टीकासमा ॥

क्षेत्रादिविषयस्य पुद्गलपरा[1]वर्तरूपोऽन्वर्थो न घटां प्राञ्चति तथाप्यन्यथाव्युत्पादितस्यापि शब्दस्यान्यथा गोशब्दवत् प्रवृत्तिदर्शनात् समयप्रसिद्धमर्थं विषयीकरोतीति न कश्चिद्दोष इति ॥८६॥

द्रव्यपुद्गलपरावर्तो बादरः सूक्ष्मश्च भवतीत्युक्तम् । अतः क्रमप्राप्तं बादर-सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तस्वरूपं प्ररूपयन्नाह–

उरलाइसत्तगेणं, एगजिओ मुयइ फुसिय सव्वअणू ।
जत्तियकालि स थूलो, दव्वे सुहुमो सगन्नयरा ॥ ८७ ॥

सूचकत्वात् सूत्रस्य 'औदारिकादिसप्तकत्वेन' औदारिकपरमाणून् औदारिकशरीरतया आदिशब्दाद् वैक्रियपरमाणून् वैक्रियशरीरतया, तैजसपरमाणून् तैजसशरीरतया, कार्मणपरमाणून् कार्मणशरीरतया, भाषापरमाणून् भाषात्वेन, प्राणापानपरमाणून् प्राणापानतया, मनोवर्गणापरमाणून् मनस्त्वेन, न पुनराहारकशरीरमप्यत्र ग्राह्यम् कादाचित्कत्वात् तल्लाभस्येति, 'स्पृष्ट्वा' परिणमय्य तथापरिणामं नीत्वा, 'एकजीवः' विवक्षितैकसत्त्वः 'मुञ्चति' त्यजति, 'सर्वाणून्' चतुर्दशरज्ज्वात्मक[2]लोकवर्तिसमस्तपरमाणून् , "जत्तियकालि" त्ति यावता कालेन, विभक्तिव्यत्ययश्च प्राकृतत्वात् , यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे-"व्यत्ययोऽप्यासाम्" इति । स इत्थं पुद्गलस्पर्शमानेनोपमितः कालविशेषः 'स्थूलः' बादरः "दव्वि" त्ति द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवतीति प्रक्रमः । इह किल संसारकान्तारे पर्यटन्नेकजीवोऽनेकैर्भवग्रहणैः सकललोकवर्तिनः सर्वानपि पुद्गलान् यावता कालेन औदारिकशरीर--वैक्रियशरीर-तैजसशरीर-भाषा-प्राणापान--मनः-कार्मणशरीरलक्षणपदार्थसप्तकभावेन यथास्वं परिणमय्य मुञ्चति स तावत्प्रमाणः कालो द्रव्यतो बादरः पुद्गलपरावर्तो भवतीति तात्पर्यमिति ।

अभिहितो बादरो द्रव्यपुद्गलपरावर्तः । इदानीं सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तमाह–"सुहुमो सगन्नयर" त्ति सूक्ष्मो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवतीति सम्बन्धः । कथम् ? इत्याह–'सप्तकान्यतरात्' [न्यतरस्मात्] सप्तकान्यतरेण, विभक्तिव्यत्ययश्च प्राकृतत्वात् । इदमत्र हृदयम्–सप्तानामौदारिक-वैक्रिय-तैजस भाषा-प्राणापान-मनः-कार्मणमध्यादन्यतरेण पुनरेकेन केनचिदौदारिकादिना पूर्वप्रदर्शितप्रकारेण सकललोकवर्तिपुद्गलानां स्पर्शने औदारिकादिशरीरतया गृहीत्वा मोचने सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति । विवक्षितभेदादितरैः षड्भिर्भेदैः परिणमिता अपि न गृह्यन्त इति । एके त्वाचार्या एवं द्रव्यपुद्गलपरावर्तस्वरूपं प्रतिपादयन्ति, तथाहि–यदैको जीवोऽनेकैर्भवग्रहणैरौदारिकशरीर-वैक्रियशरीर--तैजसशरीर--कार्मणशरीरचतुष्टयरूपतया यथास्वं सकललोकवर्तिनः सर्वान् पुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति तदा बादरो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति ।

---

१ त० म० °वर्तस्वरू° । सं० १-२ °वर्तत्वरू° ॥ २ सं० १–२ छा० म० ०कवर्ति० ॥

यदा पुनरौदारिकादिचतुष्टयमध्यादेकेन केनचित् शरीरेण सर्वपुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति शेषशरीरपरिणमितास्तु पुद्गला न गृह्यन्त एव तदा सूक्ष्मो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवतीति ॥८७॥

उक्तो द्वेधाऽपि द्रव्यपुद्गलपरावर्तः। सम्प्रति क्षेत्र-काल-भावपुद्गलपरावर्तान् बादर-सूक्ष्मभेदभिन्नान् निरूपयन्नाह—

लोगपएसोसप्पिणिसमया अणुभागबंधठाणा य।
जहतहकममरणेणं, पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥ ८८ ॥

लोकस्य—चतुर्दशरज्ज्वात्मकक्षेत्रखण्डस्य प्रदेशाः—निर्विभागा भागा लोकप्रदेशाः, तथोत्सर्पिणीशब्देनावसर्पिण्यप्युपलक्ष्यते दिनग्रहणे रात्र्युपलक्षणवत्, तयोः समयाः—परमनिकृष्टाः कालविशेषा उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीसमयाः, समयस्वरूपं च पट्टशाटिकापाटनदृष्टान्ताद् उत्पलपत्रशतभेदोदाहरणाच्चावसेयम्, ततो लोकप्रदेशाश्चोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयाश्चेति द्वन्द्वः। तथाऽनुभागस्य--रसस्य बन्धः--बन्धनं तस्य निमित्तभूतानि स्थानानि-कषायोदयविशेषलक्षणान्यनुभागबन्धस्थानानि, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानीत्यर्थः। चः समुच्चये, ततश्चैते प्रत्येकं त्रयोऽपि पदार्थाः यदा 'मरणशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद्' यथातथामरणेन-क्रमोत्क्रमाभ्यां प्राणपरित्यागलक्षणेन स्पृष्टाः-व्याप्ता भवन्ति तदा "खित्ताइ थूल" त्ति 'क्षेत्रादयः' क्षेत्रपुद्गलपरावर्त कालपुद्गलपरावर्तभावपुद्गलपरावर्ताः 'स्थूलाः' बादरा भवन्ति। यदा पुनस्त एव लोकाकाशप्रदेशा उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमया अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि चेति प्रत्येकं त्रयोऽपि पदार्थाः क्रममरणेन--पूर्वस्पृष्टाकाशप्रदेशादिभ्योऽव्यवधानतः प्राणपरित्यागलक्षणेन स्पृष्टा भवन्ति तदा क्षेत्रपुद्गलपरावर्त-कालपुद्गलपरावर्त-भावपुद्गलपरावर्ताः "इयर" त्ति इतरे सूक्ष्मा भवन्तीति गाथाक्षरार्थः।

भावार्थः पुनरयम्--यदाऽनन्तभवभ्रमणशीलो जन्तुरनन्तरेषु व्यवहितेषु वा अपरापराकाशप्रदेशेषु म्रियमाणः सर्वानपि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकाकाशप्रदेशान् मरणेन स्पृशति तदा बादरः क्षेत्रपुद्गलपरावर्तो भवति। नवरं येष्वपरप्रदेशवृद्धिरहितेषु पूर्वावगाढेष्वेव नभःप्रदेशेषु मृतस्ते न गण्यन्ते, अपूर्वास्तु दूरव्यवहिता अपि स्पृष्टा गण्यन्त एवेति १। कालतस्तु यदोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयेषु सर्वेष्वपि क्रमेणोत्क्रमेण वा अनन्तानन्तैर्भवैरेको जन्तुर्मृतो भवति तदा बादरः कालपुद्गलपरावर्तो भवति। केवलं येषु समयेष्वेकदा मृतोऽन्यदाऽपि यदि तेष्वेव समयेषु म्रियते तदा ते न गण्यन्ते, यदा पुनरेक-द्वितीयादिसमयक्रममुल्लङ्घ्यापि अपूर्वेषु समयेषु म्रियते तदा ते व्यवहिता अपि समया गण्यन्त इति २। भावतः पुद्गलपरावर्त उच्यते--अनु-

१ सं० १-२ त० छा० ०कादिशरीरादिचतु० ॥ २ सं० १-२ त० म० छा ०सर्पिण्युपल० ॥

भागबन्धाध्यवसायस्थानानि [1] मन्द-प्रवृद्ध-प्रवृद्धतरादिभेदतोऽसङ्ख्येयानि वर्तन्ते, एतेषां चासङ्ख्येयत्वप्रमाणमुत्तरत्र वक्ष्यामः । ततो यदैकैकस्मिन्ननुभागबन्धाध्यवसायस्थाने क्रमेणोत्क्रमेण च म्रियमाणेन जन्तुनाऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि सर्वाण्यपि तानि स्पृष्टानि भवन्ति तदा बादरो भावपुद्गलपरावर्तो भवति, अत्रापि यदध्यवसायस्थानमेकदा मरणेन स्पृष्टं तदेवान्यदाऽपि यदि स्पृशति तदा तन्न गण्यते, अपूर्वं तु दूरव्यवहितमपि स्पृष्टं गण्यत एवेति ३ ।

भाविता बादराः क्षेत्रपुद्गलपरावर्त-कालपुद्गलपरावर्त-भावपुद्गलपरावर्ताः । साम्प्रतमेत एव सूक्ष्मा भाव्यन्ते--इह येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढो जन्तुरेकदा मृतस्तेभ्योऽनन्तरव्यवस्थितेष्वेव नभःप्रदेशेष्वन्यदाऽपि यदि म्रियते, अपरस्यां वेलायां तेषामप्यनन्तरव्यवस्थितेष्वाकाशप्रदेशेषु, अन्यस्यां वेलायां तेषामप्यनन्तरव्यवस्थितेष्वाकाशप्रदेशेषु, अन्यस्यां तु वेलायां तेषामप्यनन्तरेष्वन्येषु, एवं तावद् नेयं यावदित्थमपरापरेषु नैरन्तर्यव्यवस्थितेषु नभःप्रदेशेषु क्रमेण म्रियमाणो जन्तुः सर्वानपि लोकाकाशप्रदेशान् स्पृशति, ये चापरप्रदेशवृद्धिरहिताः पूर्वावगाढा एव दूरव्यवस्थिता वाऽऽकाशप्रदेशा मरणेन स्पृष्टास्ते च न गण्यन्ते तदा सूक्ष्मः क्षेत्रपुद्गलपरावर्त इति १ ।

पञ्चसङ्ग्रहशास्त्रे तु सूक्ष्म-बादरभेदतो द्विविधोऽपि क्षेत्रपुद्गलपरावर्त इत्थं व्याख्यातः, यथा—चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकस्य सर्वप्रदेशेषु प्रत्येकं यावता कालेनैकजीवो मृतो भवति । कोऽर्थः ? यावन्तो लोकाकाशप्रदेशास्ते प्रदेशे प्रदेशे क्रमोत्क्रमाभ्यां मरणं कुर्वाणेन यदा सर्वे व्याप्ता भवन्ति तदा बादरः क्षेत्रपुद्गलपरावर्तः । सूक्ष्मस्तु यावता कालेन प्रथमप्रदेशानुबद्धप्रदेशक्रमेण मृतो भवति, कोऽर्थः ? यत्राकाशप्रदेशे मृतस्तदनन्तरप्रदेशक्रमेण यदा सर्वेऽपि लोकाकाशप्रदेशा मरणेन व्याप्ता भवन्ति तदाऽसौ भवति, व्यवहितेषु च मरणं न गण्यते । यद्यपि जीवस्यैकप्रदेशेऽवस्थानमेव नास्ति, तथापि जीवावस्थानप्रदेशानां प्राधान्येनैकः परिकल्प्यते, तस्माद् गणनाप्रवृत्तिः, अमुना च प्रकारेण प्रभूतकालख्यापनं कृतं भवतीति ।

सूक्ष्मस्तु कालपुद्गलपरावर्तस्तदा भवति यदोत्सर्पिण्या अवसर्पिण्या वा प्रथमसमये कश्चिद् मृतः, ततः पुनरपि समयोनविंशतिकोटीकोटीभिरतिक्रान्ताभिर्भूयोऽपि स एव जन्तुः कालान्तरेण तस्या एव द्वितीयसमये म्रियते, पुनरपि कदाचित् तथैव ताभिरतिक्रान्ताभिस्तस्या एव तृतीयसमये, एवं चतुर्थ--पञ्चम-षष्ठादिसमयक्रमेणानन्तानन्तैर्भवैर्यावत् सर्वेऽप्युत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्विंशतिसागरोपमकोटीकोटीमानयोः समया मरणेन व्याप्ता भवन्ति । ये तु **प्रथमादिसमय**क्रममुल्लङ्घ्य व्यवहितसमयाः पूर्वस्पृष्टा वा मरणेन व्याप्तास्ते तु न गृह्यन्त एवेति ।

सूक्ष्मो भावपुद्गलपरावर्त उच्यते—इह किलानुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि बध्यमानकर्मपुद्गलेषु तादृशानुभागपलिच्छेदनिर्वर्तकानि असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि मन्द-प्रवृद्ध-

[1] सं० १-२ म० छा० मन्द-प्रवृद्धतरादिभे० ॥

प्रवृद्धतरादिभेदतो वर्तन्ते, तत्र च सर्वस्तोकानुभागपलिच्छेदजनके कषायोदये वर्तमानः कश्चिद् जन्तुर्मृतः, ततः कदाचित् पुनरपि तस्मादनन्तरव्यवस्थिते द्वितीयेऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थाने विशेषाधिकानुभागपलिच्छेदजनके वर्तमानो मृतः, पुनरपि तस्मात् कदाचिद् विशेषाधिकानुभागपलिच्छेदजनके तृतीये, एवं क्रमेण क्रमेण विशेषाधिकानुभागपलिच्छेदजनकाध्यवसायस्थानेषु वर्तमानस्य मरणं तावद् वाच्यं यावत् सर्वोत्कृष्टानुभागबन्धाध्यवसायस्थाने म्रियमाणेन जन्तुनाऽनन्तानन्तैर्मरणैः सर्वाण्यपि स्पृष्टानि भवन्तीति, व्यवहितानि पूर्वस्पृष्टानि च न गण्यन्त इति ॥८८॥

व्याख्यातं सप्रपञ्चं पुद्गलपरावर्तस्वरूपम् । सम्प्रति यो जन्तुर्यथाविधः सन् उत्कृष्टं यथाविधश्च जघन्यं प्रदेशबन्धं विधत्ते इत्येतत् स्वामित्वद्वारेण निरूपयन्नाह—

[1]अप्पयरपयडिबंधी, उक्कडजोगी य सन्नि पज्जत्तो ।
कुणइ पएसुक्कोसं, जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥ ८९ ॥

अल्पतराश्च ताः प्रकृतयश्चाल्पतरप्रकृतयस्तासां बन्धः स विद्यते यस्यासावल्पतरप्रकृतिबन्धी, यो यो मौलानामौत्तराणां चाल्पप्रकृतिभेदानां बन्धकः स स उत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति, भागानामल्पत्वसद्भावात् । 'उत्कटयोगी' उत्कटवीर्यवान्, सर्वोत्कृष्टयोगव्यापारे वर्तमान इत्यर्थः । 'चः' समुच्चये, स च भिन्नक्रमे, पर्याप्तश्चेति योक्ष्यते । संज्ञा--मनोविकल्पनलब्धिः सा विद्यते यस्यासौ संज्ञी, 'पर्याप्तश्च' समाप्तपर्याप्तिकः, 'करोति' विदधाति प्रदेशानामुत्कर्षः--उत्कृष्टत्वं प्रदेशोत्कर्षस्तमुत्कृष्टप्रदेशमिति यावत् । इह संज्ञीति विशेष्यम्, शेषाणि तु विशेषणानि । अत्र च यो मनःपूर्विकां क्रियां विदधाति तस्य सर्वजीवेभ्य उत्कृष्टा चेष्टा भवति, तयैव चोत्कृष्टप्रदेशबन्धो भवतीति संज्ञिग्रहणम् । संज्ञ्यपि जघन्ययोग्युत्कृष्टयोगी च भवत्यतो जघन्ययोगिव्युदासार्थमुत्कृष्टयोगिग्रहणम्, तस्यैवोत्कृष्टप्रदेशबन्धात् । संज्ञ्यप्यपर्याप्तको नोत्कृष्टप्रदेशबन्धं विधातुमलमल्पवीर्यत्वात् तस्येति पर्याप्तग्रहणम् । एवंविधस्यापि बहुतरप्रकृतिबन्धकस्य भागबाहुल्यात् स्तोकप्रदेशबन्धो लभ्यते इत्यल्पतरप्रकृतिबन्धीत्युक्तम् । तस्मादेवंविधविशेषणविशिष्टो जन्तुरुत्कृष्टं प्रदेशबन्धं विधत्ते इति । तर्हि जघन्यं प्रदेशबन्धं कथं करोति ? इत्याह—"जहन्नयं तस्स वच्चासे" त्ति जघन्य एव जघन्यकः, "यावादिभ्यः" (सिद्ध० ७-३-१५) इति स्वार्थे कः प्रत्ययः, तं जघन्यकं प्रदेशबन्धमिति प्रक्रमः । 'तस्य' पूर्वप्रदर्शितस्य विशेष्यस्य विशेषणकलापस्य च 'व्यत्यासे' विपर्यये सति जन्तुः करोतीति योगः । अयमर्थः—बहुतरप्रकृतिबन्धको मन्दयोगोऽपर्याप्तकोऽसंज्ञी जीवो जघन्यं प्रदेशबन्धं विदधातीति ॥ ८९ ॥

अभिहितः सामान्येनोत्कृष्ट-जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी । सम्प्रति मूलप्रकृतीरुत्तरप्रकृतीश्च

---

१ सटीकेयं गाथा सार्द्धशतकप्रकरणस्य ९९तमी गाथा-तट्टीकासदृशी ॥

प्रतीत्य उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनं निरूपयन्नाह--

मिच्छ अजयचउ आऊ, बितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाई ।
छण्हं सतरस सुहुमो, अजया देसा बितिकसाए ॥ ९० ॥

"आउ" त्ति आयुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनः पञ्च, तद्यथा--"मिच्छ" त्ति मिथ्यादृष्टिः "अजयचउ" त्ति अयतेन--अविरतसम्यग्दृष्टिना उपलक्षिताश्चत्वारः--अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तलक्षणाः पञ्चैव जनाः "अप्पयरपयडिबंधी" (गा० ८९) इत्यादिभणितगाथासम्भवद्विशेषणविशिष्टा आयुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धमुपकल्पयन्ति । सम्यग्मिथ्यादृष्टिरपूर्वकरणादयश्चायुर्न बध्नन्तीति नेह गृहीताः । सास्वादनस्तर्ह्यायुर्बध्नात्येव स किमिति न गृहीतः ? इति चेद् उच्यते—तत्रोत्कृष्टप्रदेशनिबन्धनोत्कृष्टयोगाभावात् । तथाहि--अनन्तानुबन्धिनामुत्कृष्टोऽनुत्कृष्टश्च प्रदेशबन्धो मिथ्यादृष्टौ साद्यध्रुव एव भणिष्यते, यदि तु सास्वादनेऽप्युत्कृष्टयोगो लभ्यते तदाऽसावप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नात्येव, अतो यथाऽविरतादिष्वप्रत्याख्यानावरणादिप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धसद्भावतोऽनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पोऽप्यभिधास्यते तथैवानन्तानुबन्धिनां मिथ्यात्वभागलाभात् सास्वादने उत्कृष्टप्रदेशबन्धसद्भावतोऽनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पोऽपि स्यात् , न चैवं निर्दि(र्दे)क्ष्यते, तस्माद् ज्ञायतेऽल्पकालभावित्वेन तथाविधप्रयत्नाभावादन्यतो वा कुतश्चित्कारणात् सास्वादनस्योत्कृष्टयोगो नास्ति । किञ्च अनन्तरमेवोत्तरप्रकृतिस्वामित्वे मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां प्रत्येकं सूक्ष्मसम्परायादिषूत्कृष्टं प्रदेशबन्धमभिधाय भणितशेषप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिमेवोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनं निर्देक्ष्यति, न सास्वादनम् , यद् वक्ष्यति--"सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो" (गा० ९२)। बृहच्छतकेऽप्युक्तं--

सेसपएसुक्कडं मिच्छो ॥ (गा० ९६) इति ।

अतोऽपि ज्ञायते 'नास्ति सास्वादनस्योत्कृष्टयोगसम्भवः' । अतो ये सास्वादनमप्यायुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनमिच्छन्ति तन्मतमुपेक्षणीयमिति स्थितम् ।

"बितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाइ" त्ति 'मोहे' मोहनीयस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वे 'द्वितीय-तृतीयगुणौ विना' सास्वादनसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके च वर्जयित्वा शेषाणि मिथ्यादृष्ट्यादीनि अनिवृत्तिबादरान्तानि सप्त गुणस्थानकान्यधिक्रियन्ते ।

इदमत्र हृदयम्--मिथ्यादृष्टि-अविरत-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकवर्तिनः सप्त जना उत्कृष्टयोगे वर्तमानाः सप्तविधबन्धका मोहस्योत्कृष्टं प्रदेशबन्धं कुर्वन्ति । अन्ये तु सास्वादन-मिश्रावपि सङ्गृह्य "मोहस्स नव उ ठाणाणि" त्ति पठन्ति, तच्च न युक्तियुक्तम् , यतः सास्वादनस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यते इत्युक्तमेव, मिश्रेऽप्युत्कृष्टयोगो न

लभ्यते । तथाहि—द्वितीयकषायाणामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनमविरतमेव निर्देक्ष्यति "अजया देसा बितिकसाए" इति वचनात् । यदि तु मिश्रेऽप्युत्कृष्टयोगो लभ्यते तदा सोऽपि तत्स्वामितया निर्दिश्येत । न च वक्तव्यम्—मिश्रादल्पतरप्रकृतिबन्धकोऽविरत इत्ययमेव गृहीतः, यतोऽविरतोऽपि मूलप्रकृतीनां सप्तविधबन्धकस्तत्र ग्रहीष्यते, मिश्रोऽपि सप्तविधबन्धक एव, उत्तरप्रकृतीरपि मोहनीयस्य सप्तदशाविरतो बध्नाति, मिश्रोऽप्येतावतीरेव, तस्मादुत्कृष्टयोगाभावं विहाय नापरं तत्परित्यागे कारणं समीक्षामहे इति । मिश्रेऽप्युत्कृष्टयोगाभावात् सप्तैव मोहोत्कृष्टप्रदेशबन्धका इति स्थितम् । "छण्हं सतरस सुहुमु" त्ति मूलप्रकृतीनां 'षण्णां' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणानां सूचकत्वात् सूत्रस्य 'सूक्ष्मः' सूक्ष्मसम्पराय उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धं विदधाति । सूक्ष्मसम्परायो हि मोहा-ऽऽयुषी न बध्नाति, अतस्तद्भागोऽधिको लभ्यत इत्यस्यैव ग्रहणमिति । तथा 'सप्तदशानां' ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्टय-सातवेदनीय-यशःकीर्ति-उच्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामुत्तरप्रकृतीनां सूक्ष्मसम्पराय उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धं विदधाति, मोहा-ऽऽयुषी असौ न बध्नातीत्यत्र [1]तद्भागोऽधिको लभ्यते । अपरं च दर्शनावरणभागो नामभागश्च सर्वोऽपीह यथासङ्ख्यं दर्शनावरणचतुष्कस्य यशःकीर्तेश्चैकस्या भवतीति सूक्ष्मसम्परायस्यैव ग्रहणम् । "अजया देसा बितिकसाए" त्ति 'अयताः' अविरतसम्यग्दृष्टयः सप्तविधबन्धका उत्कृष्टयोगे वर्तमानाः 'द्वितीयकषायान्' अप्रत्याख्यानावरणानुत्कृष्टप्रदेशबन्धान् विदधति, मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्चैते न बध्नन्त्यतस्तद्भागद्रव्यमधिकं लभ्यत इत्यमीषामेव ग्रहणम् । तथा 'देशाः' देशविरताः सप्तविधबन्धका उत्कृष्टयोगे वर्तमानाः 'तृतीयकषायान्' प्रत्याख्यानावरणाख्यानुत्कृष्टप्रदेशबन्धान् कुर्वते, अप्रत्याख्यानावरणानामप्यमी अबन्धका अतस्तद्भागोऽधिको लभ्यत इति कृत्वा ॥९०॥

पण अनियट्टी सुखगइनराउसुरसुभगतिगविउव्विदुगं ।
समचउरंसमसायं, वइरं मिच्छो व सम्मो वा ॥ ९१ ॥

"पण" त्ति पञ्च प्रकृतीः—पुरुषवेद-संज्वलनचतुष्टयलक्षणाः अनिवृत्तिबादरः सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धाः करोति । तत्र पुरुषवेदस्य पुंवेद-संज्वलनचतुष्टयात्मकं पञ्चविधं बध्नन् असावुत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, हास्य-रति-भय-जुगुप्साभागो लभ्यत इत्यस्यैव ग्रहणम् । संज्वलनक्रोधस्यानिवृत्तिबादरः पुंवेदबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनक्रोधादिचतुष्टयं बध्नन् उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं विदधाति, मिथ्यात्वा-ऽऽद्यकषायद्वादशकभागः सर्वनोकषायभागश्च लभ्यत इति कृत्वा । संज्वलनमानस्य स एव क्रोधबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनमानादित्रयं बध्नन्

---

१ सं० १-२ म० छा० तद्भागो लभ्य० ॥

उत्कृष्टप्रदेशबन्धं मानस्य करोति, क्रोधभागो लभ्यत इति कृत्वा। स एव मानबन्धे व्यवच्छिन्ने मायालोभौ बध्नन् मायाया उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मानभागोऽपि लभ्यत इति कृत्वा। स एव मायाबन्धे व्यवच्छिन्ने लोभमेकं बध्नंस्तस्यैवोत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, एकं द्वौ वा समयौ, एतच्च विशेषणं प्रागपि द्रष्टव्यम्, समस्तमोहनीयभागस्तत्र लभ्यत इति लोभबन्धकस्यैव ग्रहणमिति। तथा सुखगतिः-प्रशस्तविहायोगतिः नरायुः त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सुरत्रिकं–सुरगति-सुरानुपूर्वी सुरायुर्लक्षणं सुभगत्रिकं–सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयस्वरूपं वैक्रियद्विकं–वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणं समचतुरस्रसंस्थानम् असातवेदनीयं "वइर" ति वज्रर्षभनाराचसंहननम् इत्येतास्त्रयोदश प्रकृतीर्मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा उत्कृष्टप्रदेशाः करोति।

तथाहि–असातं यथा मिथ्यादृष्टिः सप्तविधबन्धको बध्नाति तथा सम्यग्दृष्टिरपि सप्तविधबन्धक एवैतद् बध्नाति, अतः प्रकृतिलाघवादिविशेषाभावाद् उत्कृष्टयोगे वर्तमानौ द्वावप्यसातमुत्कृष्टप्रदेशबन्धं कुरुतः। देव-मनुष्यायुषोरप्यष्टविधबन्धकावुत्कृष्टयोगे वर्तमानौ द्वावप्यविशेषेणोत्कृष्टप्रदेशबन्धं कुरुतः। देवगति-देवानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग-समचतुरस्रसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयलक्षणा नव नामप्रकृतयो नाम्नोऽष्टाविंशतिबन्धकाले एव बन्धमागच्छन्ति, नाधस्तनेषु पूर्वोक्तरूपेषु त्रयोविंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धेषु। तां चाष्टाविंशतिं देवगतिप्रायोग्यां सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिश्च बध्नाति। तथाहि–देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वर्णचतुष्कम् अगुरुलघुनाम पराघातनाम उपघातनाम उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिनाम त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्ति अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणनाम इति। अतो देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धसहचरिता एता नवप्रकृतीर्निर्वर्तयति। सप्तविधबन्धकौ सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टी उत्कृष्टयोगे वर्तमानावविशेषेणोत्कृष्टप्रदेशा विधत्तः, यत एषाऽष्टाविंशतिर्मिथ्यादृष्टि-सास्वादन-मिश्रा-ऽविरत-देशविरतानां देवगतिप्रायोग्यं बध्नतामवसेया। अष्टाविंशतेरुपरितनेष्वेकोनत्रिंशदादिबन्धस्थानेष्वप्येता नव प्रकृतयो बध्यन्ते, केवलं तत्र भागबाहुल्यादुत्कृष्टः प्रदेशबन्धो न लभ्यत इत्यष्टाविंशतिसहचरितत्वेन ग्रहणम्। वज्रर्षभनाराचस्यापि सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा सप्तविधबन्धको नाम्नो वज्रर्षभनाराचसहितामेकोनत्रिंशतं तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्व्यौ पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकशरीरम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे वज्रर्षभनाराचसंहननं समचतुरस्रसंस्थानं वर्णचतुष्कम् अगुरुलघु उपघातं पराघातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं

निर्माणमितिलक्षणां, मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकशरीरम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननं वर्णचतुष्कम् अगुरुलघु पराघातम् उपघातनाम उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमितिलक्षणां वा निर्वर्तयन् उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति । एकोनत्रिंशतोऽधस्तनबन्धेष्विदं न बध्यते, त्रिंशद्बन्धे तु बध्यते, केवलं भागबाहुल्यात् तत्रोत्कृष्टप्रदेशबन्धो न लभ्यत इत्येकोनत्रिंशद्बन्धगतस्यैव ग्रहणमिति सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टयोरविरोधेन भावितस्त्रयोदशानामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टः प्रदेशबन्ध इति ॥ ९१ ॥

निद्दापयलादुजुयलभयकुच्छातित्थ सम्मगो सुजई ।
आहारदुगं सेसा, उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥ ९२ ॥

निद्रा प्रचला द्वयोर्युगलयोः समाहारो द्वियुगलं-हास्य-रति-अरति-शोकाख्यं, भयं "कुच्छ" त्ति जुगुप्सा "तित्थ" त्ति तीर्थकरनामेत्येतत् प्रकृतिनवकं सम्यग् गच्छति ज्ञानादिमोक्षमार्गमिति सम्यग्गः-सम्यग्दृष्टिः उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशं बध्नाति । तत्र निद्रा-प्रचलयोरविरतसम्यग्दृष्टयादयोऽपूर्वकरणान्ताः सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमानाः सप्तविधबन्धकाले एकं द्वौ वा समयावुत्कृष्टं प्रदेशबन्धं कुर्वन्ति, आयुर्द्रव्यभागोऽधिको लभ्यत इति सप्तविधबन्धकग्रहणम् । स्त्यानर्द्धित्रिकं सम्यग्दृष्टयो न बध्नन्त्यतस्तद्भागलाभोऽपि भवतीति सम्यग्दृष्टीनामेव ग्रहणम् । मिथ्यादृष्टि-सास्वादनौ स्त्यानर्द्धित्रिकं बध्नीत इति नेह गृहीतौ । मिश्रस्त्वेतद् न बध्नाति, केवलमुक्तनीत्या तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति सोऽपि नेहाधिकृतः । हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सानां तु ये ये सम्यग्दृष्टयोऽविरताद्यपूर्वकरणान्तानां मध्ये तद्बन्धकास्ते ते उत्कृष्टयोगे वर्तमाना उत्कृष्टं प्रदेशबन्धमभिनिर्वर्तयन्ति, मिथ्यात्वभागो लभ्यत इति सम्यग्दृष्टिग्रहणम् । तीर्थकरनाम्नोऽप्यविरताद्यपूर्वकरणान्तः सम्यग्दृष्टिर्मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धको देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानम् उच्छ्वासनाम पराघातनाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोः शुभा-ऽशुभयोर्यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योः पृथगन्यतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्कं तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघातनाम निर्माणमित्येतामष्टाविंशतिं तीर्थकरनामसहितामेकोनत्रिंशतं देवगतिप्रायोग्यामुत्तरप्रकृतीर्बध्नन् उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मिथ्यादृष्टिरेतद् न बध्नातीति सम्यग्दृष्टिग्रहणम् । तीर्थकरनामसहिताश्च त्रयोविंशत्यादिकाः पूर्वोक्तरूपा नाम्न उत्तरप्रकृतयो न बध्यन्ते । त्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धौ तु पूर्वोक्तनीत्या तीर्थकरनामसहितौ बध्येते, केवलं तत्र भागबाहुल्यादुत्कृष्टप्रदेशबन्धो न लभ्यत इति शेषपरिहारेणैकोनत्रिंशत्प्रकृति-

बन्धग्रहणम् । तथा 'सुयतिः' शोभनसाधुः प्रस्तावादप्रमत्तयतिरपूर्वकरणश्च गृह्यते, द्वयोरपि प्रमादरहितत्वेन सुयतित्वात् ततश्चैतौ द्वावपि देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानं पराघातनाम उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरनाम शुभनाम सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्तिनाम वर्णचतुष्कं तैजस-कार्मणे अगुरुलघुनाम उपघातनाम निर्माणनाम आहारकशरीरम् आहारकाङ्गोपाङ्गमित्येतद् देवगतिप्रायोग्यं त्रिंशन्नामोत्तरप्रकृतिकदम्बकं बध्नन्तौ उत्कृष्टयोगे वर्तमानौ आहारकद्विकम्—आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमुत्कृष्टप्रदेशं बध्नीतः । तीर्थकरनामसहिते एकत्रिंशद्बन्धेऽप्येतद् बध्यते, किन्तु तत्र भागबाहुल्याद् न गृह्यते । तथा 'शेषाः' भणितचतुःपञ्चाशत्प्रकृतिभ्य उद्धरिताः स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्टय-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-नारकायुष्क-तिर्यगायुष्क-नरकगति-नरकानुपूर्वी-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वी-एकेन्द्रियजाति-द्वीन्द्रियजाति-त्रीन्द्रियजाति-चतुरिन्द्रियजाति-पञ्चेन्द्रियजाति-औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-तैजस-कार्मण-प्रथमवर्जसंहनन-प्रथमवर्जसंस्थान-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वासा-ऽऽतप-उद्योता-ऽप्रशस्तविहायोगति-त्रस-स्थावर-बादर-सूक्ष्म-पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-प्रत्येक-साधारण-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्ति-निर्माण-नीचैर्गोत्राणि चेत्येताः षट्षष्टिप्रकृतयः 'उत्कृष्टप्रदेशकाः' उत्कृष्टप्रदेशबन्धाः "मिच्छो" त्ति मिथ्यादृष्टिरेव करोति । तथाहि—मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-औदारिकद्विक-तैजस-कार्मण-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वास-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-शुभा-ऽयशःकीर्ति-निर्माणलक्षणाः पञ्चविंशतिप्रकृतीर्मुक्त्वा शेषा एकचत्वारिंशत् सम्यग्दृष्टेर्बन्ध एव नागच्छन्ति । सास्वादनस्तु काश्चिद् बध्नाति परं तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यतेऽत एता एकचत्वारिंशत् प्रकृतीर्मिथ्यादृष्टिरेवोत्कृष्टयोगे वर्तमानो मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च यथासम्भवमल्पतरबन्धक उत्कृष्टप्रदेशाः करोति । या अपि चोक्तस्वरूपाः पञ्चविंशतिप्रकृतयः सम्यग्दृष्टेर्बन्धे समागच्छन्ति तास्वपि मध्ये औदारिक-तैजस-कार्मण-वर्णादिचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-बादर-प्रत्येका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्ति-निर्माणलक्षणानां पञ्चदशप्रकृतीनामपर्याप्तैकेन्द्रिययोग्यो नाम्नस्त्रयोविंशतिप्रकृतिनिष्पन्नः तैजस-कार्मण-वर्णादिचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-निर्माण-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-एकेन्द्रियजाति-औदारिकशरीर-हुण्डसंस्थान-स्थावर-बादर-सूक्ष्मैकतरा-ऽपर्याप्त-प्रत्येक-साधारणान्यतरा-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भगाऽनादेया-ऽयशःकीर्तिलक्षणो बन्धः तेनैव सह बध्यमानानामुत्कृष्टप्रदेशबन्धो लभ्यते, नोत्तरैः पञ्चविंशत्यादिबन्धैः, भागबाहुल्यात् । शेषाणां तु मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-पराघात-उच्छ्वास-त्रस-पर्याप्त-स्थिर-

१ सं. १-२ त० म० छा० °ऽशुभ-य° ॥

शुभलक्षणनां दशप्रकृतीनां यथासम्भवं पर्याप्तैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसयोग्यपञ्चविंशतिबन्धेनैव सह बध्यमानानामुत्कृष्टः प्रदेशबन्धो लभ्यते, नोत्तरैः षड्विंशत्यादिबन्धैः, भागबाहुल्यादेव । नाप्यधस्तनेन त्रयोविंशतिबन्धेन, तत्रैतासां बन्धाभावादेव । तौ च त्रयोविंशति-पञ्चविंशतिबन्धौ सम्यग्दृष्टेर्न भवतः, देव-पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वात् तस्येति, अत एतासामपि पञ्चविंशतिप्रकृतीनां यथोक्तप्रकारेण त्रयोविंशत्या पञ्चविंशत्या च सह बध्यमानानां सप्तविधबन्धक उत्कृष्टयोगी मिथ्यादृष्टिरेवोत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोतीति ॥ ९२ ॥

निरूपितमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वम् । अधुना तासामेव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमभिधित्सुराह—

सुमुणी दुन्नि असंन्नी, नरयतिग सुराउ सुरविउव्विदुगं ।
सम्मो जिणं जहन्नं, सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥ ९३ ॥

'सुमुनिः' प्रमादरहितत्वेन प्रधानसाधुः-अप्रमत्तयतिः "दुन्नि" त्ति द्वे प्रकृती आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणे जघन्यप्रदेशे बध्नाति । अयमर्थः—परावर्तमानयोगो घोलनयोगीत्यर्थः, अष्टविधबन्धकः स्वप्रायोग्यसर्वजघन्यवीर्ये व्यवस्थितो नाम्नो देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानम् उच्छ्वासनाम परा[1]घातनाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरनाम शुभनाम यशःकीर्तिनाम सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्कं तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघातं निर्माणं तीर्थकरनाम आहारकशरीरम् आहारकाङ्गोपाङ्गमित्येवमेकत्रिंशतं प्रकृतीर्बध्नन् अप्रमत्तयतिराहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणे द्वे प्रकृती जघन्यप्रदेशे बध्नाति । त्रिंशद्बन्धेऽप्येते बध्येते परं तत्राल्पा भागा इत्येकत्रिंशद्बन्धग्रहणम् । एतच्च प्रकृतिद्वयमन्यत्र न बध्यत इत्यप्रमत्तयतिग्रहणम् । तथा असंज्ञी सामान्योक्तावपि घोलमानयोगः परावर्तमानयोग इत्यर्थः, नरकत्रिकं—नरकगति-नरकानुपूर्वी-नरकायुर्लक्षणं सुरायुः इत्येताश्चतस्रः प्रकृतीर्जघन्यप्रदेशबन्धाः करोति । तथाहि—पृथिवी-अप्-तेजो-वायु-वनस्पतिकायिक-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया देव-नारकेषूत्पत्त्यभावादेवैताश्चतस्रः प्रकृतीर्न बध्नन्तीति नेहाधिक्रियन्ते । असंज्ञ्यप्यपर्याप्तकस्तथाविधसंक्लेशविशुद्ध्यभावाद् नैता बध्नाति, अतः सूत्रे सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायात् पर्याप्तकोऽसौ द्रष्टव्यः । सोऽपि यद्येकस्मिन्नेव वाग्योगे काययोगे वा चिरमवतिष्ठमानो गृह्येत तदा तीव्रचेष्टो भवेत् । योगात्तु योगान्तरं पुनः सङ्क्रामतः स्वभावादल्पचेष्टा भवतीति परावर्तमानयोगग्रहणम् । ततश्च परावर्तमानयोगोऽष्टविधं बध्नन् पर्याप्तोऽसंज्ञी स्वप्रायोग्य-

१ सं. १-२ म० त० छा० ०घातं० ।

सर्वजघन्यवीर्ये वर्तमानः प्रस्तुतप्रकृतिचतुष्टयस्यैकं, चतुरो वा समयान् यावद् जघन्यप्रदेशबन्धं करोतीति परमार्थः। पर्याप्तजघन्ययोगस्योत्कृष्टतोऽपि चतुःसमयावसानत्वादुत्तरत्राप्येष कालनियमो द्रष्टव्यः। ननु पर्याप्तसंज्ञी किमिति प्रकृतप्रकृतिचतुष्टयं न बध्नाति ? इति चेद् उच्यते—प्रभूतयोगत्वात् ; जघन्योऽपि हि पर्याप्तसंज्ञियोगः पर्याप्तासंज्ञ्युत्कृष्टयोगादप्यसङ्ख्येयगुण इति। तथा "सुरविउव्विदुगं" ति द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सुरद्विकं–सुरगति-सुरानुपूर्वीरूपं वैक्रियद्विकं–वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणं 'जिननाम' तीर्थंकरनामेत्येतत् प्रकृतिपञ्चकं "सम्मो" त्ति सम्यग्दृष्टिः "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायाद् भवाद्यसमये वर्तमानः "जहन्नं" ति जघन्यं–जघन्यप्रदेशं करोति।

तथाहि–कश्चिद् मनुष्यस्तीर्थंकरनाम बद्ध्वा देवेषु समुत्पन्नः प्रथमसमय एव मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थंकरनामसहितां नामप्रकृतित्रिंशतं मनुष्यगतिर्मनुष्यानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकशरीरमौदारिकाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननं पराघातमुच्छ्वासं प्रशस्तविहायोगतिस्त्रसं बादरं पर्याप्तं प्रत्येकं स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-शुभयोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं सुभगं सुस्वरमादेयं तीर्थंकरनाम वर्णचतुष्कं तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघातं निर्माणमितिलक्षणां बध्नन् मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धकोऽविरतसम्यग्दृष्टिः स्वप्रायोग्यजघन्यवीर्ये वर्तमानस्तीर्थंकरनाम जघन्यप्रदेशबन्धं करोति। नारकोऽपि श्रेणिकादिवदेवं तद्बन्धकः सम्भवति, परमिह देवोऽल्पयोगत्वादनुत्तरवासी गृह्यते, नारकेषु त्वेवम्भूतो जघन्ययोगो न लभ्यतेऽतस्तेषु समुत्पन्नो नेह गृहीतः। तिर्यञ्चस्तु तीर्थंकरनाम न बध्नन्तीत्युपेक्षिताः। मनुष्यास्तु भवाद्यसमये तीर्थंकरनामसहितां नाम्न एकोनत्रिंशतमेव बध्नन्त्यतस्तत्राल्पा भागा भवन्ति। एकत्रिंशद्बन्धस्तु तीर्थंकरनामसहितः संयतस्यैव भवति, तत्र च वीर्यमल्पं न लभ्यते। अन्येषु तु नामबन्धेषु तीर्थंकरनामैव न बध्यतेऽतः शेषपरिहारेण त्रिंशद्बन्धकस्य देवस्यैव ग्रहणम्। देवद्विक-वैक्रियद्विकयोस्तु बद्धतीर्थंकरनामा देव-नारकेभ्यश्च्युत्वा समुत्पन्नो मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धको देवगतिर्देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानम् उच्छ्वासं पराघातं प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्टयं तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघातं निर्माणं तीर्थंकरनामेतिलक्षणां देवगतिप्रायोग्यां नामैकोनत्रिंशतं निर्वर्तयन् स्वप्रायोग्यसर्वजघन्यवीर्ये व्यवस्थितो भवाद्यसमये वर्तमानो मनुष्यो जघन्यप्रदेशबन्धं करोति। देव-नारका हि तावद् भवप्रत्ययादेवैतत् प्रकृतिचतुष्टयं न बध्नन्तीति नेहाधिकृताः। तिर्यञ्चः पुनरभोगभूमिजा भवाद्यसमयेऽपि बध्नन्त्येतत्, केवलं ते देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिमेव पूर्वप्रदर्शितस्वरूपां रचयन्ति, नैकोनत्रिंशदादिबन्धान्, तेषां तीर्थंकरा-ऽऽहारकसहितत्वात्, तिरश्चां तु तदबन्ध-

कत्वात्; अतस्तेषु भागा अल्पा लभ्यन्ते इति तेऽपीह नाधिक्रियन्ते । मनुष्यस्याप्यष्टाविंशतिबन्धकस्य भागा बहवो न लभ्यन्ते । त्रिंशद्-एकत्रिंशद्बन्धौ तु देवगतिप्रायोग्यौ संयतस्य भवतः, तत्र च वीर्यमल्पं लभ्यते । अन्ये तु देवगतिप्रायोग्यबन्धा एव न सन्तीत्यालोच्य एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य मनुष्यस्यैव ग्रहणम् । ननु तिर्यक्षु पर्याप्तासंज्ञी देवगतिप्रायोग्यमेतत् प्रकृतिचतुष्टयं बध्नाति स कस्मादिह नाङ्गीकृतः ? उच्यते—प्रभूतयोगत्वात्; अपर्याप्तसंज्ञियोगाद्धि पर्याप्तासंज्ञियोगो जघन्योऽप्यसङ्ख्येयगुण इति । "सुहुमनिगोयाइखणि सेस" त्ति सूक्ष्मनिगोदजीवोऽपर्याप्तक आदिक्षणे—भवाद्यसमये 'शेषाः' भणितैकादशप्रकृतिभ्योऽवशिष्टा नवोत्तरशतसङ्ख्याः प्रकृतीराश्रित्य सर्वजघन्यवीर्यलब्धियुक्तो यथासम्भवं च बह्वीः प्रकृतीर्बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धाः करोति, सर्वासामप्यत्र बन्धसद्भावात्, सर्वजघन्यवीर्यस्य चात्रैव सम्भवादिति ॥९३॥

निरूपितं जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वम् । अधुना प्रदेशबन्धमेव साद्यादिभङ्गकैर्निरूपयन्नाह—

दंसणछगभयकुच्छाबितितुरियकसायविग्घनाणाणं ।
मूलछगेऽणुक्कोसो, चउह दुहा सेसि सव्वत्थ ॥९४॥

दर्शनषट्कं—चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन--केवलदर्शनावरण-निद्रा प्रचलालक्षणं, भय-जुगुप्से "बितितुरियकसाय" त्ति कषायशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्वितीयकषायाः—अप्रत्याख्यानावरणाः, तृतीयकषायाः—प्रत्याख्यानावरणाः, तुर्याः—चतुर्थाः कषायाः संज्वलनकषायाः, विघ्नानि पञ्चदान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायाख्यानि, ज्ञानानि—ज्ञानावरणानि मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणा--ऽवधिज्ञानावरण-मनःपर्यायज्ञानावरण--केवलज्ञानावरणलक्षणानि पञ्च इत्येतासामुत्तरप्रकृतिषु मध्ये त्रिंशतः प्रकृतीनां तथा "मूलछगे" त्ति मूलप्रकृतिषट्के—ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-नाम गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणेऽनुत्कृष्ट एव प्रदेशबन्धः "चउह" त्ति चतुर्धा सादि-अनादि-ध्रुवा ऽध्रुवरूपचतुर्विकल्पोऽपि भवतीत्यर्थः । इह तावद् यत्र सर्वबहवः कर्मस्कन्धा गृह्यन्ते स उत्कृष्टः प्रदेशबन्धः, ततः स्कन्धहानिमाश्रित्य यावत् सर्वस्तोककर्मस्कन्धग्रहणं तावत् सर्वोऽप्यनुत्कृष्ट इत्युत्कृष्टाऽनुत्कृष्टप्रकारद्वयेन सर्वोऽपि प्रदेशबन्धः सङ्गृहीतः । यत्र सर्वस्तोककर्मस्कन्धग्रहणं स जघन्यः प्रदेशबन्धः, ततः स्कन्धवृद्धिमाश्रित्य यावत् सर्वबहुस्कन्धग्रहणं तावत् सर्वोऽप्यजघन्य इति जघन्या-ऽजघन्यप्रकारद्वयेन सर्वोऽपि प्रदेशबन्धः सङ्गृहीत इति । अनया परिभाषया दर्शनावरणषट्कादीनामुत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पो भवति ।

तथाहि——चक्षुर्दर्शनावरणा--ऽचक्षुर्दर्शनावरणा -ऽवधिदर्शनावरण--केवलदर्शनावरणलक्षणप्रकृतिचतुष्कविषयः क्षपकस्योपशमकस्य वा सूक्ष्मसम्परायस्य सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमानस्यैकं द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्राप्यते । सूक्ष्मसम्परायो हि मोहनीया-ऽऽयुःकर्मद्वयं सर्वथा न

बध्नाति, दर्शनावरणस्याप्येतदेव प्रकृतप्रकृतिचतुष्टयं बध्नाति, न शेषप्रकृतीः, अतो मोहनीया-ऽऽयुर्भागयोर्यथास्वमत्र प्रवेशाद् निद्रापञ्चकभागस्यापि चात्र प्रवेशाद् बहुद्रव्यमिह लभ्यत इति सूक्ष्मसम्परायग्रहणम् । उत्कृष्टश्च प्रदेशबन्ध उक्तनीत्या उत्कृष्टेनैव योगेन भवतीत्युत्कृष्टयोगग्रहणम् । उत्कृष्टयोगावस्थानकालश्चैतावानेव भवतीत्येक-द्विसमयग्रहणम् । एवं चोत्कृष्टप्रदेशबन्धं कृत्वा उपशान्तमोहावस्थां चारुह्य पुनः प्रतिपत्य उत्कृष्टयोगाद्वाऽत्रैव प्रतिपत्य यदाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादिः, एतच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः सदा-निरन्तरं बध्यमानत्वात्, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति । निद्रा-प्रचलाद्विकस्य त्वविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणान्ताः सर्वोत्कृष्टयोगवृत्तयः सप्तविधबन्धकाले एकं द्वौ वा समयावुत्कृष्टप्रदेशबन्धं विदधति, आयुर्द्रव्यभागोऽधिको लभ्यत इति सप्तविधबन्धग्रहणम्, स्त्यानर्द्धित्रिकं सम्यग्दृष्टयो न बध्नन्तीत्यतस्तद्भागलाभोऽपि भवतीति सम्यग्दृष्टीनामेव ग्रहणम् । मिथ्यादृष्टि-सास्वादनौ स्त्यानर्द्धित्रिकं बध्नीत इति नेह गृहीतौ । मिश्रस्त्वेतन्न बध्नाति, केवलमुक्तनीत्या तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति सोऽपि नेहाधिकृतः । एते चाविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो यदोत्कृष्टयोगाद् बन्धव्यवच्छेदाद्वा प्रतिपत्य अनुत्कृष्टं प्रदेशबन्धमुपकल्पयन्ति तदाऽसौ सादिः, सम्यक्त्वसहितं चोत्कृष्टयोगमप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति । तथा भय-जुगुप्सयोः सम्यग्दृष्टिरविरतादिरपूर्वकरणान्त उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मिथ्यात्वभागो लभ्यत इति सम्यग्दृष्टिग्रहणम् । कषायभागः पुनः सजातित्वात् कषायाणामेव भवति नैतयोः । मिथ्यादृष्टिस्तु मिथ्यात्वं बध्नातीति मिथ्यात्वभागो न लभ्यत इति तस्येहाग्रहणम् । सास्वादन-मिश्रयोस्तु लभ्यते मिथ्यात्वभागः, केवलमुक्तनीत्या तयोरुत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति तावपि नेहाधिकृतौ । अपूर्वकरणोपरिवर्तिनस्तु भय-जुगुप्से न बध्नन्तीत्यपूर्वकरणान्तविशेषणम् । एते चाविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो यदोत्कृष्टयोगाद् बन्धव्यवच्छेदाद्वा प्रतिपत्य अनुत्कृष्टं प्रदेशबन्धमुपकल्पयन्ति तदाऽसौ सादिः, तत् स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति । तथाऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्टयस्योत्कृष्टयोगोऽविरतसम्यग्दृष्टिः सप्तविधबन्धक उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्चासौ न बध्नात्यतस्तद्भागद्रव्यमधिकं लभ्यत इत्यस्यैव ग्रहणम् । मिथ्यादृष्टिर्मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्च सास्वादनस्त्वनन्तानुबन्धिनो बध्नातीति तयोरग्रहणम् । मिश्रस्तु मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्च न बध्नाति, केवलमुक्तनीत्या तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यते । देशविरतादयस्त्वप्रत्याख्यानावरणान् न बध्नन्तीति शेषव्युदासेनाविरतसम्यग्दृष्टिरेवाधिकृतः । एष चाविरतसम्यग्दृष्टिर्यदा बन्धव्यवच्छेदादुत्कृष्टयोगाद्वा प्रतिपत्य पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं विदधाति तदाऽसौ सादिः, तत् स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति । तथा प्रत्याख्यानावरणचतु-

ष्टयस्योत्कृष्टयोगो देशविरतः सप्तविधबन्धक उत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति, अप्रत्याख्यानावरणानामप्यसावबन्धकोऽतस्तद्भागोऽधिको लभ्यत इति । एष च देशविरतो यदा बन्धव्यवच्छेदादुत्कृष्टयोगाद्वा प्रतिपत्य पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादिः, तत् स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति । तथा संज्वलनक्रोधस्यानिवृत्तिबादरः पुंवेदबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनक्रोधादिचतुष्टयं बध्नन् उत्कृष्टयोगे स्थित उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मिथ्यात्वा-ऽऽद्यकषायद्वादशकभागः सर्वनोकषायभागश्च लभ्यत इति कृत्वा । संज्वलनमानस्य स एव क्रोधबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनमानादित्रयं बध्नन् उत्कृष्टप्रदेशं करोति, क्रोधभागो लभ्यत इति कृत्वा । स एव मानबन्धे व्यवच्छिन्ने माया-लोभौ बध्नन् मायाया उत्कृष्टप्रदेशं करोति, मानभागोऽपि लभ्यत इति कृत्वा । स एव मायाबन्धे व्यवच्छिन्ने लोभमेकं बध्नन् तस्यैवोत्कृष्टप्रदेशं करोति एकं द्वौ वा समयौ, एतच्च विशेषणं प्रागपि द्रष्टव्यम्, समस्तमोहनीयभागस्तत्र लभ्यत इति लोभबन्धकस्यैव ग्रहणम् । एष चानिवृत्तिबादरो यदा बन्धव्यवच्छेदादुत्कृष्टयोगाद्वा प्रतिपत्य पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादिः, तत् स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति । तथा ज्ञानावरणपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चकविषयः क्षपकस्योपशमकस्य वा सूक्ष्मसम्परायस्य सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमानस्यैकं द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्राप्यते । सूक्ष्मसम्परायो हि मोहनीया-ऽऽयुःकर्मद्वयं न बध्नाति, एतयोर्भागयोरप्यत्र ज्ञानावरणपञ्चकेऽन्तरायपञ्चके च यथास्वं प्रवेशाद् बहुद्रव्यमिह लभ्यत इति सूक्ष्मसम्परायग्रहणम् । इह चोत्कृष्टप्रदेशबन्धं कृत्वोपशान्तमोहावस्थां चारुह्य पुनः प्रतिपत्य उत्कृष्टयोगाद्वाऽत्रैव प्रतिपत्य य[1]दा पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादिः, एतच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः सदा--निरन्तरं बध्यमानत्वात्, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति ।

तदेवं त्रिंशत उत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पोऽपि भावितः । शेषत्रयस्य का वार्ता ? इत्याह—"दुहा सेसि सव्वत्थ" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते उत्कृष्टजघन्या-ऽजघन्यप्रदेशबन्धलक्षणे सर्वत्र त्रिविधेऽपि 'द्विधा' द्विविकल्पः सादि-अध्रुवलक्षणो बन्धो भवतीत्यर्थः । तत्रानुत्कृष्टभणनक्रमेणोत्कृष्टस्त्रिंशतोऽपि प्रकृतीनां सूक्ष्मसम्परायादिषु दर्शितः, स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, सर्वथा बन्धाभावेऽनुत्कृष्टबन्धसम्भवे वाऽवश्यं न भवतीत्यध्रुवः । जघन्यः पुनरेतासां त्रिंशत्प्रकृतीनां प्रदेशबन्धोऽपर्याप्तस्य सर्वमन्दवीर्यलब्धिकस्य सप्तविधबन्धकस्य सूक्ष्मनिगोदस्य भवाद्यसमये लभ्यते । जघन्यप्रदेशबन्धो हि जघन्ययोगेन भवतीत्युक्तम्, स चास्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यते । द्वितीयादिसमयेषु पुनर-

१ सं० १-२ त० म० ०दा अनु० ॥

सावसङ्ख्येयगुणवृद्धेन वीर्येण वर्धत इति भवाद्यसमयग्रहणम् । द्वितीयादिसमयेष्वयमप्यजघन्यं बध्नाति, पुनः सङ्ख्यातेनासङ्ख्यातेन वा कालेन पूर्वोक्तजघन्ययोगं प्राप्य स एव जघन्यं प्रदेशबन्धं करोति, पुनरजघन्यमित्येवं जघन्या-ऽजघन्ययोः प्रदेशबन्धयोः संसरतामसुमतां द्वावप्येतौ सादि-अध्रुवौ भवतः ।

इति भावितस्त्रिंशत उत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धश्चतुर्द्धा, उत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यप्रदेशबन्धश्च द्विधा । शेषे का वार्ता ? इत्याह—"दुहा सेसि सव्वत्थ"त्ति पदं भूयोऽप्यनुवर्त्यते, 'शेषे' भणितत्रिंशत्प्रकृत्यवशिष्टे स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्टय-वर्णादिचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-उपघात-निर्माणलक्षणे सप्तदशध्रुवप्रकृतिकदम्बके औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकशरीरत्रया-ऽङ्गोपाङ्गत्रय- संस्थानषट्क-संहननषट्क-जातिपञ्चक-गतिचतुष्क-विहायोगतिद्विका-ऽऽनुपूर्वीचतुष्क-तीर्थकरनाम-उच्छ्वासनाम-उद्योतनामा-ऽऽतपनाम--पराघातनाम-त्रसदशक-स्थावरदशक-उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्र—साता-ऽसातवेदनीय-हास्य—रति-अरति-शोक-वेदत्रया-ऽऽयुश्चतुष्टय-लक्षणत्रिसप्ततिसङ्ख्याऽध्रुवबन्धिप्रकृतिसमूहे च सर्वत्रोत्कृष्टाऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यलक्षणे चतुर्विकल्पेऽपि प्रदेशबन्धे 'द्विधा' द्विप्रकारः सादिरध्रुवश्च बन्धो भवति । तथाहि—अध्रुवबन्धिनीनामध्रुवबन्धित्वादेवोत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यस्तत्प्रदेशबन्धः सर्वोऽपि सादि-अध्रुव एव भवति। स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिनां सप्तविधबन्धक उत्कृष्टयोगे वर्तमानो मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टप्रदेशबन्धमेकं द्वौ वा समयौ यावत् करोति, सम्यग्दृष्टिरेताः प्रकृतीर्न बध्नातीति मिथ्यादृष्टिग्रहणम् । मिथ्यात्ववर्जा एताः प्रकृतीः सास्वादनोऽपि बध्नाति, परं भणितप्रकारेण सास्वादनस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति तस्याग्रहणम् । उत्कृष्टयोगस्यैतावानेव काल इत्येक-द्विसमयनियमः। उत्कृष्टयोगात् प्रतिपत्य स एवानुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति. पुनः स एवोत्कृष्टमित्येवं द्वावप्येतौ सादि-अध्रुवौ । जघन्यप्रदेशबन्धं पुनरेतासां सर्वजघन्यवीर्यलब्धिर्भवाद्यसमये वर्तमानः सप्तविधं बध्नन् अपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदः करोति. द्वितीयादिसमयेषु च स एवाजघन्यं करोति, कालान्तरेण पुनः स एव जघन्यं करोतीत्येतावपि द्वौ सादि-अध्रुवौ भवतः । तथा वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-उपघात-निर्माणलक्षणस्य प्रकृतिनवकस्याप्युत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टौ जघन्या-जघन्यौ च प्रदेशबन्धौ सादि-अध्रुवावेवमेव वक्तव्यौ। नवरमुत्कृष्टयोगो मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धको नाम्नस्तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः औदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानं स्थावरनाम बादर-सूक्ष्मयोरन्यतरद् अपर्याप्तकं प्रत्येक-साधारणयोरन्यतरद् अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम अनादेयनाम अयशःकीर्तिः वर्णचतुष्कं तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघातं निर्माणमित्येवं त्रयोविंशतिमुत्तरप्रकृतीर्बध्नन् मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टप्रदेशबन्धको वाच्यः । शेषं तथैव। नाम्नो हि पञ्चविंशत्यादिबन्धग्रहणे बहवो भागा भवन्तीति त्रयोविंशतिबन्धग्रहणमिति ।

भाविता उत्तरप्रकृतीराश्रित्योत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यप्रदेशबन्धेषु साद्यादिविकल्पाः । सम्प्रति मूलप्रकृतीः प्रतीत्य उत्कृष्टप्रदेशबन्धादिभङ्गेषु साद्यादिभङ्गकानभिधित्सुराह–'मूलछगेऽणुक्कोसो चउह" त्ति 'मूलषट्के' मूलप्रकृतिषट्के--ज्ञानावरण- दर्शनावरण–वेदनीय -नाम-गोत्राऽन्तरायलक्षणेऽनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः 'चतुर्धा' सादि-अनादि-ध्रुवा-ऽध्रुवलक्षणश्चतुःप्रकारो भवति । तथाहि–प्रस्तुतकर्मषट्कविषयः क्षपकस्योपशमकस्य वा सूक्ष्मसम्परायस्य सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमानस्यैकं द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्राप्यते । सूक्ष्मसम्परायो हि मोहनीया-ऽऽयुःकर्मद्वयं न बध्नाति, किन्त्वेतदेव प्रस्तुतषट्कं बध्नाति, अतो मोहनीया-ऽऽयुर्भागयोरत्रैव कर्मषट्के प्रवेशाद् बहुद्रव्यमिह लभ्यत इति सूक्ष्मसम्परायग्रहणम् । उत्कृष्टश्च प्रदेशबन्ध उक्तनीत्या उत्कृष्टेनैव योगेन भवतीत्युत्कृष्टयोगग्रहणम् । उत्कृष्टयोगावस्थानकालश्चैतावानेव भवतीत्येक-द्विसमयग्रहणम् । एनं चोत्कृष्टं प्रदेशबन्धं कृत्वा उपशान्तमोहावस्थां चारुह्य पुनः प्रतिपत्य उत्कृष्टयोगाद्वाऽत्रैव प्रतिपत्य यदा[1] पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादिः, एतच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः सदा–निरन्तरं बध्यमानत्वात् , ध्रुवोऽभव्यानाम् , अध्रुवो भव्यानामिति ।

उक्तः षण्णां मूलप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धश्चतुर्विकल्पः । शेषबन्धत्रिके साद्यादिभङ्गकानाह—"दुहा सेसि सव्वत्थ" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते जघन्या-ऽजघन्य-उत्कृष्टप्रदेशबन्धलक्षणे त्रिके 'द्विधा' सादि-अध्रुवलक्षणो द्विप्रकारो बन्धो भवति। तत्रानुत्कृष्टभणनप्रसङ्गेनोत्कृष्टः सूक्ष्मसम्परायेऽनन्तरं दर्शितः, स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, उपशान्ताद्यवस्थायां पुनरनुत्कृष्टबन्धगमने चावश्यं न भवतीत्यध्रुवः । जघन्यः पुनरमीषां षण्णां कर्मणां प्रदेशबन्धोऽपर्याप्तस्य सर्वमन्दवीर्यलब्धिकस्य सप्तविधबन्धकस्य सूक्ष्मनिगोदस्य भवाद्यसमये लभ्यते । जघन्यप्रदेशबन्धो हि जघन्ययोगेन भवतीत्युक्तम् , स चास्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यते । द्वितीयादिसमयेषु त्वसावसङ्ख्येयगुणवृद्धेन वीर्येण वर्धत इति भवाद्यसमयग्रहणम् । द्वितीयादिसमयेष्वयमप्यजघन्यं बध्नाति, पुनः सङ्ख्यातेनासङ्ख्यातेन वा कालेन पूर्वोक्तजघन्ययोगं प्राप्य स एव जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, पुनरजघन्यमित्येवं जघन्याऽजघन्ययोः प्रदेशबन्धयोः संसरतामसुमतां द्वावप्येतौ सादि-अध्रुवौ भवत इति ।

भाविता मूलप्रकृतिषट्कस्योत्कृष्टादिबन्धविकल्पाः साद्यादिभङ्गकैः । अथावशिष्टयोर्मोहाऽऽयुषोरुत्कृष्टादिप्रदेशबन्धान् साद्यादिविकल्पतः प्ररूपयन्नाह–"दुहा सेसि सव्वत्थ" 'शेषे' भणितोद्धरिते मोहे आयुषि च सर्वत्रोत्कृष्टेऽनुत्कृष्टे जघन्येऽजघन्ये च प्रदेशबन्धे 'द्विधा' सादि-अध्रुवलक्षणो द्विविकल्पो बन्धो भवति । तत्र मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वाऽनिवृत्तिबादरान्तः सप्तविधबन्ध-

१ सं-१-२ त० म० °दा अनु° ॥

काले उत्कृष्टयोगे वर्तमानो मोहनीयस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति, पुनरनुत्कृष्टयोगं प्राप्यानुत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, पुनरुत्कृष्टं पुनरप्यनुत्कृष्टमित्येवमुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धयोः संसरतां जन्तूनां मोहस्योत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धौ द्वावपि सादि-अध्रुवौ भवतः । जघन्या-ऽजघन्यौ त्वेतत्प्रदेश-बन्धौ यथा सूक्ष्मनिगोदादिषु संसरतामसुमतां कर्मषट्कस्यानन्तरमेव भावितौ तथाऽत्रापि निर्वि-शेषं भावनीयौ । आयुष्कस्य त्वध्रुवबन्धित्वादेव तत्प्रदेशबन्ध उत्कृष्टादिचतुर्विकल्पोऽपि सादि-अध्रुव एव भवतीति ॥ ९४ ॥

निरूपितः प्रदेशबन्धः साद्यादिप्ररूपणतः । सम्प्रति प्रागुक्तचतुर्विधबन्धे योगस्थानानि कारणं प्रकृतयः प्रदेशाश्च तत्कार्यं प्रवर्तन्ते, तथा स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि कारणं स्थिति-विशेषास्तु तत्कार्यम्, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि कारणम् अनुभागस्थानानि तु तत्कार्यं वर्तन्ते इति कृत्वा सप्तानामप्येषां पदार्थानां परस्परमल्पबहुत्वमभिधित्सुराह—

सेढिअसंखिज्जंसे, जोगट्ठाणाणि पयडिठिइभेया ।
ठिइबंधज्झवसायाणुभागठाणा असंखगुणा ॥ ९५ ॥

योगः—वीर्यं तस्य स्थानानि-वीर्याविभागांशसङ्घातरूपाणि । कियन्ति पुनस्तानि भवन्ति ? इत्याह—"सेढिअसंखिज्जंसे" त्ति श्रेणेः असङ्ख्येयांशः श्रेण्यसङ्ख्येयांशः । एतदुक्तं भवति—श्रेणे-र्वक्ष्यमाणरूपाया असङ्ख्येयभागे यावन्त आकाशप्रदेशा भवन्ति तावन्ति योगस्थानानि, एतानि चोत्तरपदापेक्षया सर्वस्तोकानीति शेषः । तत्र यथैतानि योगस्थानानि भवन्ति तथोच्यते—इह किल सूक्ष्मनिगोदस्यापि सर्वजघन्यवीर्यलब्धियुक्तस्य प्रदेशाः केचिदल्पवीर्ययुक्ताः, केचित्तु बहु-बहुतर-बहुतमवीर्योपेताः । तत्र सर्वजघन्यवीर्ययुक्तस्यापि प्रदेशस्य सम्बन्धि वीर्यं केवलिप्रज्ञा-च्छेदेन छिद्यमानमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान् भागान् प्रयच्छति, तस्यैवोत्कृष्टवीर्ययुक्ते प्रदेशे यद् वीर्यं तदेतेभ्योऽसङ्ख्येयगुणान् भागान् प्रयच्छति । उक्तं च—

[1]पन्नाए छिज्जंता, असंखलोगाण जत्तिय पएसा ।
तत्तिय वीरियभागा, जीवपएसम्मि एक्केक्के ॥
सव्वजहन्नगविरिए, जीवपएसम्मि [2]एत्तिया संखा ।
तत्तो असंखगुणिया, बहुविरिए जियपएसम्मि ॥

(शत० बृ० भा० गा० ६६८-६९)

---

१ प्रज्ञया छिद्यमाना असङ्ख्यलोकानां यावन्तः प्रदेशाः । तावन्तो वीर्यभागा जीवप्रदेशे एकैकस्मिन् ॥ सर्वजघन्यकवीर्ये जीवप्रदेशे यावती सङ्ख्या । ततोऽसङ्ख्यगुणिता बहुवीर्ये जीवप्रदेशे ॥ २ सं० १-२-त०-म० छा० मुद्रि० तत्ति ॥

भागा अविभागपलिच्छेदा इति चानर्थान्तरम् । ततः सर्वस्तोकाविभागपलिच्छेदकलितानां लोकासङ्ख्येयभागवर्त्यसङ्ख्येयप्रतरप्रदेशराशिसङ्ख्यानां जीवप्रदेशानां समानवीर्यपलिच्छेदतया जघन्यैका वर्गणा, तत एकेन योगपलिच्छेदेनाधिकानां तावतामेव जीवप्रदेशानां द्वितीयवर्गणा, एवमेकैकयोगपलिच्छेदवृद्ध्या वर्धमानानां जीवप्रदेशानां समानजातीयरूपा घनीकृतलोकाकाशश्रेणेरसङ्ख्येयभागप्रदेशराशिप्रमाणा वर्गणा वाच्याः । एताश्चैतावत्योऽप्यसत्कल्पनया षट् स्थाप्यन्ते ।

१५	१५	१५
१४	१४	१४
१३	१३	१३
१२	१२	१२
११	११	११
१०	१०	१०

तत्र जघन्यवर्गणायां जीवप्रदेशा असङ्ख्येयवीर्यभागान्विता अप्यसत्कल्पनया दशभागान्विताः स्थाप्यन्ते । ते च[1] जीवप्रदेशा एकैकस्यां वर्गणायामसङ्ख्येयप्रतरप्रदेशमाना अप्यसत्कल्पनया त्रयस्त्रयः स्थाप्यन्ते । एताश्चैतावत्यः समुदिता एकं वीर्यस्पर्धकमित्युच्यते । अथ स्पर्धक इति कः शब्दार्थः ? उच्यते—एकैकोत्तरवीर्यभागवृद्ध्या परस्परं स्पर्धन्ते वर्गणा यत्र तत् स्पर्धकम् । तत ऊर्ध्वमेकेन द्व्यादिभिर्वा वीर्यपलिच्छेदैरधिका जीवप्रदेशा न प्राप्यन्ते, किं तर्हि ? प्रथमस्पर्धकचरमवर्गणायां जीवप्रदेशेषु यावन्तो वीर्यपलिच्छेदास्तेभ्योऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरेव वीर्यपलिच्छेदैरधिका जीवप्रदेशा लभ्यन्ते, अतस्तेषामपि समानवीर्यभागानां समुदायो द्वितीयस्पर्धकस्याद्यवर्गणा । तत एकेन वीर्यभागेनाधिकानां समुदायो द्वितीया वर्गणा, एवमेकोत्तरवृद्धिक्रमेणैता अपि श्रेण्यसङ्ख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिमाना वाच्याः । एतासामपि समुदायो द्वितीयं स्पर्धकम् । इत ऊर्ध्वं पुनरप्येकोत्तरवृद्धिर्न लभ्यते, किं तर्हि ? असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यैरेव वीर्यभागैरधिकास्तत्प्रदेशाः प्राप्यन्ते, अतस्तेनैव क्रमेण तृतीयस्पर्धकमारभ्यते, पुनस्तेनैव क्रमेण चतुर्थम् , पुनः पञ्चममित्येवमेतान्यपि वीर्यस्पर्धकानि श्रेण्यसङ्ख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणानि वाच्यानि । एषां चैतावतां स्पर्धकानां समुदाय एकं योगस्थानकमुच्यते । इदं तावदेकस्य सूक्ष्मनिगोदस्य भवाद्यसमये सर्वजघन्यवीर्यस्य योगस्थानकमभिहितम् । तदन्यस्य तु किञ्चिदधिकवीर्यस्य जन्तोरनेनैव क्रमेण द्वितीयं योगस्थानकमुत्तिष्ठते, तदन्यस्य तु तेनैव क्रमेण तृतीयम् , तदन्यस्य तु तेनैव क्रमेण चतुर्थमित्यमुना क्रमेणैतान्यपि योगस्थानानि नानाजीवानां कालभेदेन एकजीवस्य वा श्रेणेरसङ्ख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति ।

ननु जीवानामनन्तत्वात् तद्भेदाद् योगस्थानान्यनन्तानि कस्माद् न भवन्ति ? नैतदेवम् , यत एकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽनन्ताः स्थावरजीवा वर्तन्ते, त्रसास्त्वेकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽसङ्ख्याता वर्तन्ते, तेषां च तदेकैकमेव विवक्षितम् , अतो विसदृशानि यथोक्तमानान्येव योगस्थानकानि भवन्ति । तथाऽपर्याप्ताः सर्वेऽप्येकैकस्मिन् योगस्थानके एकसमयमेवावतिष्ठन्ते,

[1] सं० १ दे-छा० त० म० च प्रदे० ॥

ततः परमसङ्ख्येयगुणवृद्धेषु प्रतिसमयमन्याऽन्ययोगस्थानकेषु सङ्क्रामन्ति । पर्याप्तास्तु सर्वेऽपि स्वप्रायोग्ये सर्वजघन्ययोगस्थानके जघन्यतः समयमुत्कृष्टतश्चतुरः समयान् यावद् वर्तन्ते, ततः परमन्यद् योगस्थानकमुपजायते । स्वप्रायोग्योत्कृष्टस्था[1]नकेषु तु जघन्यतः समयम् , उत्कृष्टतस्तु द्वौ समयौ, मध्यमेषु जघन्यतः समयम् उत्कृष्टतस्तु क्वचित् त्रीन् क्वचिच्चतुरः क्वचित् पञ्च क्वचित् षट् क्वचित् सप्त क्वचिदष्टौ समयान् यावद् वर्तन्ते इति । अयं चैतावानपि योगो मनःप्रभृतिसहकारिकारणवशात् संक्षिप्य सत्यमनोयोगा-ऽसत्यमनोयोग-सत्यमृषामनोयोगा-ऽसत्यमृषामनोयोग-सत्यवाग्योगा-ऽसत्यवाग्योग-सत्यमृषावाग्योगा-ऽसत्यमृषावाग्योग-औदारिककाययोग-औदारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽऽहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगभेदतः पञ्चदशधा प्रोक्तः, इत्यलं प्रसङ्गेन ।

एतेभ्यश्च योगस्थानेभ्यः 'अङ्ख्येयगुणाः' असङ्ख्यातगुणिताः "पयडि" त्ति भेदशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् प्रकृतिभेदाः—ज्ञानावरणादीनां भेदाः । "असंखगुण" त्ति पदमनुभागबन्धस्थानानि यावत् सर्वत्र योजनीयम् । इयमत्र भावना—इह तावदावश्यकादिष्ववधिज्ञान-दर्शनयोः क्षयोपशमवैचित्र्यादसङ्ख्यातास्तावद् भेदा भवन्ति, ततश्चैतदावरणबन्धस्यापि तावत्प्रमाणा भेदाः सङ्गच्छन्ते, वैचित्र्येण बद्धस्यैव विचित्रक्षयोपशमोपपत्तेरिति । कथं पुनः क्षयोपशमवैचित्र्येऽप्यसङ्ख्येयभेदत्वं प्रतीयते ? इति चेद् उच्यते—क्षेत्रतारतम्येनेति । तथाहि—त्रिसमयाहारकसूक्ष्मपनकसत्त्वावगाहनामानं जघन्यमवधिद्विकस्य क्षेत्रं परिच्छेद्यतयोक्तम् । यदाह सकलश्रुतपारदृश्वा विश्वानुग्रहकाम्यया विहितानेकशास्त्रसन्दर्भो भगवान् **श्रीभद्रबाहुस्वामी**—

जावइया तिसमयाहारगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स ।
ओगाहणा जहन्ना, ओहीखेत्तं जहन्नं तु ॥ (आव० नि० गा० ३०)[2]

उत्कृष्टं तु सर्वबहुतैजस्कायिकजन्तूनां शूचिः सर्वतो भ्रमिता यावन्मात्रं क्षेत्रं स्पृशति तावन्मात्रं तस्य प्रमाणं भवति । यदाहुः **श्रीमदाराध्यपादाः**—

सव्वबहुअगणिजीवा, निरंतरं जत्तियं भरिज्जंसु ।
खेत्तं सव्वदिसागं, परमोहीखेत्त निद्दिट्ठो ॥ (आव० नि० गा० ३१) इति ।[3]

ततो जघन्यात् क्षेत्रादारभ्य प्रदेशवृद्धया प्रवृद्धोत्कृष्टक्षेत्रविषयत्वे सत्यसङ्ख्येयभेदत्वमवधिद्विकस्य क्षेत्रतारतम्येन भवति, अतस्तदावारकस्यावधिद्विकस्यापि नानाजीवानां क्षेत्रादिभेदेन

१ सं० १-२ त० छा० म० ०नके तु ज० ॥
२ यावती त्रिसमयाहारकस्य सूक्ष्मस्य पनकजीवस्य । अवगाहना जघन्या अवधिक्षेत्रं जघन्यं तु ॥
३ सर्वबहुकाग्निजीवा निरन्तरं यावद् भृतवन्तः । क्षेत्रं सर्वदिक्कं परमावधिक्षेत्रं निर्दिष्टम् ॥

बन्धवैचित्र्याद् उदयवैचित्र्याद्वाऽसङ्ख्येयगुणभेदत्वम् । एवं नानाजीवानाश्रित्य मतिज्ञानावरणादीनां शेषाणामप्यावरणानां तथाऽन्यासामपि सर्वासां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च क्षेत्रादिभेदेन बन्धवैचित्र्याद् उदयवैचित्र्याद्वाऽसङ्ख्याता भेदाः सम्पद्यन्ते इति । उक्तं च—

[1]जम्हा उ ओहिविसओ, उक्कोसो सव्वबहुयसिहिसूई ।
जत्तियमित्तं फुसई, तत्तियमित्तप्पएससमो ॥
तत्तारतम्मभेया, जेण बहुं हुंति आवरणजणिया ।
तेणासंखगुणत्तं, पयडीणं जोगओ जाणे ॥ इति ।

चतसृणामानुपूर्वीणां बन्ध-उदयवैचित्र्येणासङ्ख्याता भेदाः, ते च लोकस्यासङ्ख्येयभागवर्तिप्रदेशराशितुल्या इति बृहच्छतकचूर्णिकारोक्तो विशेषः ।

ननु जीवानामनन्तत्वात् तेषां बन्ध-उदयवैचित्र्येणानन्ता अपि प्रकृतिभेदाः कस्माद् न भवन्ति ? नैतदेवम्, सदृशानां बन्ध-उदयानामेकत्वेन विवक्षितत्वाद् विसदृशास्त्वेतावन्त एव तद्भेदा भवन्ति, ते च भेदाः प्रकृतिभेदत्वात् प्रकृतय इत्युच्यन्ते । ततश्च योगस्थानेभ्योऽसङ्ख्यातगुणाः प्रकृतयः यत एकैकस्मिन् योगस्थाने वर्तमानैर्नानाजीवैः कालभेदादेकजीवेन वा सर्वा अप्येताः प्रकृतयो बध्यन्त इति ।

तथा तेभ्यः प्रकृतिभेदेभ्यः 'स्थितिभेदाः' स्थितिविशेषा अन्तर्मुहूर्त-समयाधिकान्तर्मुहूर्तद्विसमयाधिकान्तर्मुहूर्त-त्रिसमयाधिकान्तर्मुहूर्तादिलक्षणा असङ्ख्यातगुणा भवन्ति, एकैकस्याः प्रकृतेरसङ्ख्यातैः स्थितिविशेषैर्बध्यमानत्वात् । एकमेव हि प्रकृतिभेदं कश्चिज्जीवोऽन्येन स्थितिविशेषेण बध्नाति, स एव च तं कदाचिदन्येन कदाचिदन्यतरेण कदाचिदन्यतमेनेत्येवमेकं प्रकृतिभेदमेकं च जीवमाश्रित्य असङ्ख्याताः स्थितिभेदा भवन्ति, किं पुनः सर्वप्रकृतीः सर्वजीवान् आश्रित्य प्रकृतिभेदेभ्यः स्थितिभेदानामसङ्ख्यातगुणत्वम् ? इति, अतः प्रकृतिभेदेभ्यः स्थितिभेदा असङ्ख्यातगुणा भवन्तीति ।

तथा स्थितिभेदेभ्यः सकाशात् 'स्थितिबन्धाध्यवसायाः' पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्" स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि असङ्ख्यातगुणानि । तत्र स्थानं-स्थितिः कर्मणोऽवस्थानं, तस्या बन्धः स्थितिबन्धः, अध्यवसानानि अध्यवसायाः, ते चेह कषायजनिता जीवपरिणामविशेषाः, तिष्ठन्ति जीवा एष्विति स्थानानि, अध्यवसाया एव स्थानानि अध्यवसायस्थानानि, स्थितिबन्धस्य

---

१ यस्मात्त्ववधिविषय उत्कृष्टः सर्वबहुकशिखिसूची । यावन्मात्रं स्पृशति तावन्मात्रप्रदेशसमः ॥ तत्तारतम्यभेदा येन बहवो भवन्त्यावरणजनिताः । तेनासंख्यगुणत्वं प्रकृतीनां योगतो जानीहि ॥

कारणभूतानि अध्यवसायस्थानानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि । तानि स्थितिभेदेभ्योऽसङ्ख्येयगुणानि, यतः सर्वजघन्योऽपि स्थितिविशेषोऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरध्यवसायस्थानैर्जन्यते, उत्त[1]रेषु तु स्थितिविशेषास्तैरेव यथोत्तरं विशेषवृद्धैर्जन्यन्ते, अतः स्थितिभेदेभ्यः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्यातगुणानि सिद्धानि भवन्ति ।

तथा "अणुभागट्ठाण" त्ति "पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद्" 'अनुभागस्थानानि' अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि । तत्रानु-पश्चाद् बन्धोत्तरकालं भज्यते—सेव्यतेऽनुभूयते इत्यनुभागः -रसस्तस्य बन्धोऽनुभागबन्धः, अध्यवसानानि अध्यवसायाः, ते चेह कषायजनिता जीवपरिणामविशेषाः, तिष्ठन्ति जीवा एष्विति स्थानानि, अध्यवसाया एव स्थानानि अध्यवसायस्थानानि, अनुभागबन्धस्य कारणभूतानि अध्यवसायस्थानानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि । स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यस्तान्यसङ्ख्येयगुणानि भवन्ति । स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानं ह्येकैकमन्तर्मुहूर्तप्रमाणमुक्तम् , अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानं त्वेकैकं जघन्यतः सामयिकम् उत्कृष्टतस्त्वष्टसामयिकान्तमेवोक्तम् , अत एकस्मिन्नपि नगरकल्पे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थाने तदन्तर्गतानि नगरान्तर्गतोच्चैर्नीचैर्गृहकल्पानि नानाजीवान् कालभेदेनैकं जीवं वा समाश्रित्य असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति । तथाहि—जघन्यस्थितिजनकानामपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानां मध्ये यदाद्यं सर्वलघुस्थितिकं बन्धाध्यवसायस्थानं तस्मिन्नपि देश-क्षेत्र-काल-भाव--जीवभेदेनासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि प्राप्यन्ते, द्वितीयादिषु तु तान्यप्यधिकान्यधिकतराणि च प्राप्यन्त इति सर्वेष्वपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेषु भावना कार्या, अतः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेभ्योऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्येयगुणानीति ॥ ९५ ॥

तत्तो कम्मपएसा, अणंतगुणिया तओ रसच्छेया ।
जोगा पयडिपएसं, ठिइअणुभागं कसायाओ ॥ ९६ ॥

'ततः' तेभ्योऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः 'कर्मप्रदेशाः' कर्मस्कन्धा अनन्तगुणिता भवन्ति । अयमत्र तात्पर्यार्थः—प्रत्येकमभव्यानन्तगुणैः सिद्धानन्तभागवर्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नानभव्यानन्तगुणानेव स्कन्धान् मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिः प्रतिसमयं जीवो गृह्णातीत्युक्तम् । अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तु सर्वाण्यप्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्येवाभिहितानि, अतोऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः कर्मप्रदेशा अनन्तगुणाः सिद्धा भवन्ति ।

---

१ सं० १-२ त० म० छा० ०त्तरे तु स्थिति० ॥

तथा "तओ रसच्छेय" त्ति 'ततः' तेभ्यः कर्मप्रदेशेभ्यो रसच्छेदा अनन्तगुणा भवन्ति । तथाहि--इह क्षीर-निम्बरसाद्यधिश्रयणैरिवानुभागबन्धाध्यवसायस्थानैस्तण्डुलेष्विव कर्मपुद्गलेषु रसो जन्यते, स चैकस्यापि परमाणोः सम्बन्धी केवलिप्रज्ञया च्छिद्यमानः सर्वजीवानन्तगुणान-विभागपलिच्छेदान् प्रयच्छति, यस्माद् भागादतिसूक्ष्मतयाऽन्यो भागो नोत्तिष्ठति सोऽविभाग-पलिच्छेद उच्यते, एवंभूताश्चानुभागस्याविभागपलिच्छेदा रसपर्यायाः सर्वकर्मस्कन्धेषु प्रतिपर-माणु सर्वजीवानन्तगुणाः सम्प्राप्यन्ते । उक्तं च—

[1]गहणसमयम्मि जीवो, उप्पाएइ उ गुणे सपच्चयओ ।
सव्वजियाणंतगुणे, कम्मपएसेसु सव्वेसु ।। (कर्मप्र० गा० २९)

गुणशब्देनेहाविभागपलिच्छेदा उच्यन्ते, शेषं सुगमम् ।

कर्मप्रदेशाः पुनः प्रतिस्कन्धं सर्वेऽपि सिद्धानामप्यनन्तभाग एव वर्तन्तेऽतः कर्मप्रदेशेभ्यो रसच्छेदा अनन्तगुणाः सिद्धा भवन्तीति ।

अत्राह—ननूक्तो भवद्भिः सप्रपञ्चं प्रदेशबन्धः, परं कस्माद् हेतोरमुं जीवः करोति ? इति वक्तव्यमिति प्रश्नमाशङ्क्य प्रदेशबन्धस्य प्रसङ्गतः पूर्वोक्तानां प्रकृति-स्थिति-अनुभागबन्धानां च हेतून् निरूपयन्नाह--"जोगा पयडिपएसं, ठिइअणुभागं कसायाउ" त्ति योगो वीर्यं शक्तिरुत्साहः पराक्रम इति पर्यायाः, तस्माद् योगात् प्रकरणं प्रकृतिः-कर्मणां ज्ञानावरणादिस्वभावः, प्रकृष्टाः पुद्गलास्तिकायदेशाः प्रदेशाः--कर्मवर्गणान्तःपातिनः कर्मस्कन्धाः, प्रकृतयश्च प्रदेशाश्च प्रकृति-प्रदेशम् समाहारो द्वन्द्वः, तद् जीवः करोतीति शेषः, प्रकृति-प्रदेशबन्धयोर्योगो हेतुरित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—यद्यपि **षडशीतिकशास्त्रे** मिथ्यात्वा-ऽविरति-कषाय-योगाः सामान्येन कर्मणो बन्धहेतव उक्तास्तथाप्याद्यकारणत्रयाभावेऽप्युपशान्तमोहादिगुणस्थानकेषु केवलयोगसद्भावे वेद-नीयलक्षणा प्रकृतिस्तत्प्रदेशाश्च बध्यन्ते, अयोग्यवस्थायां तु योगाभावे न बध्यन्ते इत्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां ज्ञायते प्रकृति-प्रदेशबन्धयोर्योग एव प्रधानं कारणम् । तथा " ठिइअणुभागं कसायाउ" त्ति स्थानं—स्थितिः, कर्मणोऽन्तर्मुहूर्तादिकं सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीपर्यन्तमवस्था-नमित्यर्थः, अनु—पश्चाद् बन्धोत्तरकालं भजनं--स्थितेः सेवनमनुभवनं यस्यासावनुभागो रस इत्यर्थः, स्थितिश्चानुभागश्च स्थित्यनुभागम् , समाहारो द्वन्द्वः, तद् जीवः करोतीति शेषः । कस्मात् ? इत्याह--'कषायात्' कषायवशात् । इयमत्र भावना---कषायाः--क्रोध-मान-माया-लोभाः, तज्ज-नितो जीवस्याध्यवसायविशेषः कषायशब्देनेहोच्यते, कषाया ह्युदीर्णा नानाजीवानां कालभेदे-नैकजीवस्य वा सर्वजघन्याया अपि ज्ञानावरणादिकर्मस्थितेर्निर्वर्तकान्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेश-

१ ग्रहणसमये जीव उत्पादयति तु गुणान् स्वप्रत्ययतः । सर्वजीवानन्तगुणान् कर्मप्रदेशेषु सर्वेषु ॥

प्रमाणान्यान्तर्मौहूर्तिकान्यध्यवसायस्थानानि जनयन्ति, समयाधिकतज्जघन्यस्थितिजनकानि तु त एव तेभ्यस्तानि विशेषाधिकानि जनयन्ति, द्विसमयाधिकतज्जघन्यस्थितिजनकानि पुनस्त एवानन्तरेभ्यस्तानि विशेषाधिकानि जनयन्ति, त्रिसमयाधिकतज्जघन्यस्थितिजनकानि पुनस्त एवानन्तरेभ्यस्तानि विशेषाधिकानि जनयन्ति, एवं समयोत्तरवृद्धतज्जघन्यस्थितिजनकानि विशेषाधिकानि तावद् वाच्यानि यावत् त एव कषायाः समयोनोत्कृष्टज्ञानावरणादिस्थितिजनकाध्यवसायस्थानेभ्यः सर्वोत्कृष्टतत्स्थितिजनकाध्यवसायस्थानानि विशेषाधिकानि निर्वर्तयन्ति । एतानि सर्वाण्यपि मिलितान्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्येव भवन्ति, स्थाप्यमानानि च विषमचतुरस्रं क्षेत्रमास्तृणन्ति । स्थापना चेयम्– 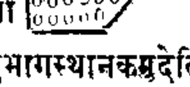 तदेवमेतैः कषायजनिताध्यवसायैर्जन्यत्वात् कर्मणः स्थितिः कषायप्रत्यया सिद्धा । तथा तेषामेव कषायाणां सम्बन्धि यद् दलिकमुदयप्राप्तं तत्र यदनुभागस्थानकमुदेति तेन जीवस्य योऽध्यवसायो जन्यते, तद्वशेन बध्यमानकर्मणामनुभागो निष्पद्यते । तथाहि–इह तावदनन्तैः परमाणुभिर्निष्पन्नान् स्कन्धान् जीवः कर्मतया गृह्णाति, तत्र चैकैकस्कन्धे यः सर्वजघन्यरसः परमाणुः सोऽपि केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः किल सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् भागान् प्रयच्छति, अपरस्तु तानप्येकाधिकान्, अन्यस्तु तानपि द्व्यधिकान्, अपरस्तु तानपि त्र्यधिकानित्यादिवृद्ध्या तावद् नेयं यावदन्त्य उत्कृष्टरसः परमाणुर्मौलराशेरनन्तगुणानपि रसभागान् प्रयच्छति । अत्र च जघन्यरसा ये केचन परमाणवस्तेषु सर्वजीवानन्तगुणरसभागयुक्तेष्वप्यसत्कल्पनया शतं रसांशानां परिकल्प्यते, एतेषां च समुदायः समानजातीयत्वाद् एका वर्गणेत्यभिधीयते, अन्येषां त्वेकोत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायो द्वितीया वर्गणा, अपरेषां द्व्युत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायस्तृतीया वर्गणा, अपरेषां तु त्र्युत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायश्चतुर्थी वर्गणा, एवमनया दिशा एकैकरसभागवृद्धानामणूनां समुदायरूपा वर्गणाः सिद्धानामनन्तभागेऽभव्येभ्योऽनन्तगुणा वाच्याः । एतासां चैतावतीनां वर्गणानां समुदायः स्पर्धकमित्युच्यते, स्पर्धन्त इवात्रोत्तरोत्तररसवृद्ध्या परमाणुवर्गणा इति कृत्वा । एताश्चानन्तरोक्तानन्तकप्रमाणा अप्यसत्कल्पनया षट् स्थाप्यन्ते —

१०५
१०४
१०३
१०२
१०१

इदमेकं स्पर्धकम् । इत ऊर्ध्वमेकोत्तरया निरन्तरवृद्ध्या वृद्धो रसो न लभ्यते, किं तर्हि ? सर्वजीवानन्तगुणैरेव रसभागैर्वृद्धो लभ्यत इति, तेनैव क्रमेण द्वितीयं स्पर्धकमारभ्यते, ततस्तथैव तृतीयमित्यादि यावदनन्तान्यनुभागस्पर्धकान्युत्तिष्ठन्ति । एषां चानुभागस्पर्धकानां सिद्धानन्तभागवर्तिनामभव्येभ्योऽनन्तगुणानां समुदायः प्रथममनुभागस्थानकं भवति, अन्येषु त्वधिकरसेषु स्कन्धेषु तेनैव क्रमेण द्वितीयं तावत्प्रमाणमेवानुभागस्थानकमुत्ति-

ष्ठति, अपरेषु त्वधिकरसेषु स्कन्धेषु तेनैव क्रमेण तृतीयमनुभागस्थानकमुत्तिष्ठतीत्येवं सर्वेष्वपि कषायकर्मस्कन्धेष्वसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यनुभागस्थानानि भवन्ति। ज्ञानावरणादिसमस्तकर्मस्कन्धेष्वप्येतावन्त्येवामूनि भवन्ति, परं तावदिह कषाया एव कारणत्वेन विचारयितुं प्रक्रान्ताः, तत्र च जघन्यान्यनुभागस्थानान्युत्कृष्टतश्चतुरः समयान् यावदुदये समागच्छन्ति, मध्यमानि तु कानिचिद् द्वौ समयौ कानिचित् त्रीन् समयान् अपराणि चतुरः समयान् अन्यानि पञ्च समयान् अन्यानि षट् समयान् अपराणि सप्त समयान् अन्यान्यष्टौ समयान् यावदुत्कृष्टत उदये समागच्छन्ति, उत्कृष्टानुभागस्थानान्युत्कृष्टतो द्वौ समयौ यावदुदये समागच्छन्ति, ततः परं सर्वत्रान्यत् परावर्तते। जघन्यतस्तु सर्वाण्यपि समयस्थितीन्येव भवन्ति, अतस्तज्जन्यो जघन्य-मध्यम-उत्कृष्टभेदभिन्नोऽध्यवसायोऽप्येतावत्कालस्थितिक एव भवति. तेन च जघन्यादिभेदेनाध्यवसायवैचित्र्येण बध्यमानकर्मानुभागो जघन्यादिभेदविचित्रो जन्यते, अतः कषायानुभागजनिताध्यवसायवैचित्र्यनिर्वर्त्यत्वात् कर्मणामनुभागः कषायप्रत्ययः सिद्धः। मिथ्यात्वा-ऽविरतिकारणद्वयाभावेऽपि कषायसद्भावेऽपि प्रमत्तादिषु स्थित्यनुभागबन्धौ भवतः, कषायाभावे तूपशान्तमोहादिषु न भवत इतीहाप्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां ज्ञायते कषाया एव स्थिति-अनुभागबन्धयोः प्रधानं कारणमिति ॥९६॥

'योगस्थानानि श्रेणेरसङ्ख्येयभागे भवन्ति' इति यदुक्तं तत्र श्रेणिस्वरूपं प्रतिपिपादयिषुः, सा च घनीकृतलोकस्वरूपप्ररूपणापूर्विकैव च वक्तुं शक्यतेऽतः प्रसङ्गतो घनस्वरूपमन्यत्र बहुस्थानोपयोगित्वात् प्रतरस्वरूपं च प्रचिकटयिषुराह—

[1]चउदसरज्जू लोओ, बुद्धिकओ होइ सत्तरज्जुघणो ।
तद्दीहेगपएसा, सेढी पयरो य तव्वग्गो ॥ ९७ ॥

चतुर्दश रज्जवो यस्य स चतुर्दशरज्जुः, रज्जुप्रमाणं तु स्वयम्भूरमणसमुद्रस्य पौरस्त्यपाश्चात्यवेदिकान्तं यावद् दक्षिणोत्तरवेदिकान्तं वा यावदवसेयम् , उच्छ्रयमानमिदमस्य, अधस्ताद् देशोनसप्तरज्जुविस्तरः, तिर्यग्लोकमध्ये एकरज्जुविस्तरः, ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जुविस्तीर्णः, उपरि तु लोकान्ते एकरज्जुविस्तृतः, शेषस्थानेषु पुनः कोऽपि कियानस्य विस्तर इति । तदेवंरूपो लोकः 'बुद्धिकृतः' मतिपरिकल्पनया विहितः 'भवति' सम्पद्यते । किंरूपो भवति ? इत्याह—सप्त रज्जवः प्रमाणतया यस्य स सप्तरज्जुः, स चासौ घनश्च—समचतुरस्र-आयामविष्कम्भबाहल्यैस्तुल्यत्वात् सप्तरज्जुघनः । स चेत्थं बुद्ध्या विधीयते—इह रज्जुविस्तीर्णायास्त्रसनाड्या दक्षिणदिग्वर्त्यधोलोकखण्डमधो देशोनरज्जुत्रयविस्तृतं क्रमेण हीयमानविस्तरं तावद् याव-

१ सटीकेयं गाथा सार्द्धशतकप्रकरणस्य ११४ तमी गाथा-तट्टीकासमाना ।

दुपरिष्टाद् रज्जु(ज्ज्व)सङ्ख्येयभागविस्तरं सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रयं गृहीत्वा त्रसनाडिकाया एवोत्तरदिग्भागे विपरीतं योज्यते, उपरितनं भागमधः कृत्वाऽधस्तनं चोपरि विधाय सङ्घात्यते इत्यर्थः; एवं च कृतेऽधस्तनं लोकस्यार्धं सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रितं किञ्चिदूनरज्जुचतुष्टयविस्तीर्णं बाहल्यतोऽप्यधः क्वचिद् देशोनसप्तरज्जुमानमन्यत्र पुनरनियतबाहल्यं जायते ।

इदानीमुपरितनलोकार्धं संवर्त्यते–तत्रापि रज्जुविस्तरायास्त्रसनाडिकाया दक्षिणदिग्वर्त्तिनी ब्रह्मलोकमध्यादधस्तनमुपरितनं च द्वे अपि खण्डे ब्रह्मलोकमध्ये प्रत्येकं द्विरज्जुविस्तरे उपर्यलोकसमीपेऽधस्तु रत्नप्रभाक्षुल्लकप्रतरसमीपेऽङ्गुलसहस्रभागविस्तरवती देशोनसार्धत्रयरज्जूच्छ्रिते बुद्ध्या गृहीत्वा त्रसनाडिकाया एवोत्तरपार्श्वे पूर्वोदितस्वरूपेणैव वैपरीत्येन सङ्घात्येते, एवं च कृते उपरितनं लोकस्यार्धं द्वाभ्यामङ्गुलसहस्रभागाभ्यामधिकरज्जुत्रयविष्कम्भम् , इह चतुर्णां खण्डानां पर्यन्तेषु चत्वारोऽङ्गुलसहस्रभागा भवन्ति, केवलमेकस्यां दिशि यौताभ्यां[1] द्वाभ्यामप्येक एवाङ्गुलसहस्रभाग एकदिग्वर्तित्वादेवापराभ्यामपि द्वाभ्यामित्थमेवेत्यतस्तद्द्वयाधिकत्वमुक्तम्, देशोनसप्तरज्जूच्छ्रितम् , बाहल्यतस्तु ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जुबाहल्यमन्यत्र त्वनियतबाहल्यम् , इदं च सर्वं गृहीत्वा आधस्त्यसंवर्तितलोकार्धस्योत्तरपार्श्वे सङ्घात्यते । एवं च योजिते आधस्त्यखण्डस्योच्छ्रये यद् इतरोच्छ्रयाधिकं तत् खण्डयित्वोपरितनसङ्घातितखण्डस्य बाहल्ये ऊर्ध्वायतं संयोज्यते, एवं च सातिरेकाः पञ्च रज्जवः क्वचिद् बाहल्यं सिध्यति । तथा आधस्त्यखण्डमधस्ताद् यथासम्भवं देशोनसप्तरज्जुबाहल्यं प्रागुक्तम् , अत उपरितनखण्डबाहल्याद् देशोनरज्जुद्वयमत्राधस्त्यखण्डेऽतिरिच्यते इत्यस्मादतिरिच्यमानबाहल्यार्धं देशोनरज्जुरूपं गृहीत्वोपरितनखण्डबाहल्ये सङ्घात्यते, एवं च कृते बाहल्यतस्तावत् सर्वमप्येतत् चतुरस्रीकृतनभःखण्डं कियत्यपि प्रदेशे रज्ज्वसङ्ख्येयभागाधिकाः षड् रज्जवो भवन्ति, व्यवहारतस्तु सर्वं सप्तरज्जुबाहल्यमिदमुच्यते । व्यवहारनयो हि किञ्चिदूनसप्तहस्तादिप्रमाणमपि पटादिवस्तु परिपूर्णसप्तहस्तादिमानं व्यपदिशति, देशतोऽपि च दृष्टं बाहल्यादिधर्मं परिपूर्णेऽपि वस्तुन्यध्यवस्यति, स्थूलदृष्टित्वादिति भावः । अत एतन्मतेनैवात्र सप्तरज्जुबाहल्यता सर्वगता द्रष्टव्या । आयामविष्कम्भाभ्यां तु प्रत्येकं देशोनसप्तरज्जुप्रमाणमिदं जातम्, व्यवहारतस्तु तत्रापि सप्तरज्जुप्रमाणता द्रष्टव्या । तदेवं लोको व्यवहारनयमतेन अत्रायाम-विष्कम्भ-बाहल्यैः प्रत्येकं सप्तरज्जुप्रमाणो घनो भवतीति समुदायार्थः । एतच्च वैशाखसंस्थानस्थितपुरुषाकारं सर्वत्र वृत्तस्वरूपं लोकं संस्थाप्य सर्वं भावनीयमिति ।

प्ररूपितो घनः । सम्प्रति श्रेणिनिरूपणायाह–"तदीहेगपएसा सेढि" त्ति स एव घनी-

१ मुद्रि० छा० ०योजिताभ्यां द्वा० ॥

कृतलोकः सप्तरज्जुप्रमाणो दीर्घं दैर्घ्यं यस्याः सा तद्दीर्घा, एकप्रदेशेति वीप्साप्रधानत्वाद् निर्देशस्यैकैकाकाशप्रदेशा शूचिः श्रेणिरित्युच्यते । एतेन च यत्र कुत्राप्यविशेषितायाः श्रेणेः सामान्येन ग्रहणं तत्र सर्वत्रास्य घनीकृतलोकस्य सम्बन्धिनी इयमेव सप्तरज्जुप्रमाणा एकप्रादेशिकीश्रेणिर्ग्राह्या ।

अधुना प्रतरं प्ररूपयितुमाह--'प्रतरश्च' प्रतरः पुनः कः ? इत्याह--'तद्वर्गः' तस्याः-शूचिस्वरूपायाः श्रेणेर्वर्गः-शूच्या शूचिगुणनलक्षणस्तद्वर्गः । कोऽर्थः ? शूच्या शूचेर्गुणनं प्रतर उच्यते । तद्यथा--इहासङ्ख्येययोजनकोटीकोटीदीर्घाऽपि श्रेणिरसत्कल्पनया त्रिप्रदेशप्रमाणा द्रष्टव्या 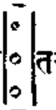 तस्याश्च तयैव गुणने प्रतरो नवप्रदेशात्मको भवति । स्थापना- इति ॥९७॥

निरूपितः सप्रपञ्चं प्रदेशबन्धस्तत्स्वामी च । तन्निरूपणे च समर्थिता "नमिय जिणं धुवबंधोदयसत्ताघाइपुन्नपरियत्ता । सेयर चउह विवागा, वुच्छं बंधविह सामी य ॥" इति आद्यद्वारगाथा । अधुना च-शब्दसूचितामुपशमश्रेणिं क्षपकश्रेणिं च व्याचिख्यासुः प्रथमं तावदुपशमश्रेणिं प्रकटयन्नाह----

[1]अण दंस नपुंसित्थी, वेय छक्कं च पुरिसवेयं च ।
दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥ ९८ ॥

तत्र प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिधीयते--अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत--प्रमत्ता-ऽप्रमत्तानामन्यतमोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्तमानस्तेजः-पद्म-शुक्ललेश्यानामन्यतमलेश्यायुक्तः साकारोपयोगोपयुक्तोऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा करणकालात् पूर्वमप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावदवदायमानचित्तसन्ततिरवतिष्ठते । तथाऽवतिष्ठमानश्च परावर्तमानाः प्रकृतीः शुभा एव बध्नाति, नाशुभाः; अशुभानां च प्रकृतीनामनुभागं चतुःस्थानकं सन्तं द्विस्थानकं करोति, शुभानां च द्विस्थानकं सन्तं चतुःस्थान-(ग्रन्थाग्रम् -४०००)कम्; स्थितिबन्धेऽपि च पूर्णे पूर्णे सति अन्यं स्थितिबन्धं पूर्वपूर्वस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनं करोति । इत्थं करणकालात् पूर्वमन्तर्मुहूर्तं कालं यावदवस्थाय ततो यथाक्रमं त्रीणि करणानि प्रत्येकमान्तर्मौहूर्तिकानि करोति । तद्यथा----यथाप्रवृत्तकरणम् अपूर्वकरणम् अनिवृत्तिकरणं चतुर्थी तूपशान्ताद्धा । तत्र यथाप्रवृत्तिकरणे प्रविशन् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रविशति, पूर्वोक्तं च शुभप्रकृतिबन्धा-

१ गाथेयं आवश्यकनिर्युक्तौ ११६ तमा । अस्या गाथायाष्टीका तु सप्ततिकाप्रकरणस्य "पढमकसायचउक्कं" इत्यस्या गाथायाष्टीकासमा ॥

दिकं तथैव तत्र कुरुते, न च स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिं गुणसङ्क्रमं वा करोति, तद्योग्यविशुद्ध्यभावात्। प्रतिसमयं च नानाजीवापेक्षया असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति षट्स्थानपतितानि च। अन्यच्च प्रथमसमयापेक्षया द्वितीयसमयेऽध्यवसायस्थानानि विशेषाधिकानि, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषाधिकानि, एवं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयः। एवमपूर्वकरणेऽपि द्रष्टव्यम्। अत एवैतानि स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमास्तृणन्ति।

स्थापना चेयम्—

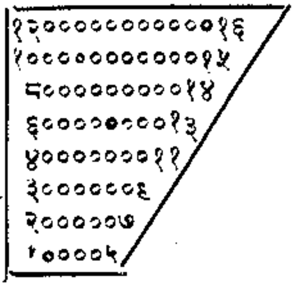

इह कल्पनया द्वौ पुरुषौ युगपत् करणप्रतिपन्नौ विवक्ष्येते, तत्रैकः सर्वजघन्यया विशोधिश्रेण्या प्रतिपन्नः, अपरस्तु सर्वोत्कृष्टया विशोधिश्रेण्या। तत्र प्रथमजीवस्य प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका, ततो द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एवं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरणाद्धायाः सङ्ख्येयो भागो गतो भवति। ततः सङ्ख्येये भागे गते सति चरमसमयजघन्यविशुद्धेः सकाशात् प्रथमसमये द्वितीयस्य जीवस्योत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि यतो जघन्यविशुद्धिस्थानाद् निवृत्तस्तत उपरितनं जघन्यविशोधिस्थानमनन्तगुणम्, ततो द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा, तत उपरितनं जघन्यं विशोधिस्थानमनन्तगुणम्, ततस्तृतीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा, एवमुपर्यधश्चैकैकं विशोधिस्थानमनन्तगुणतया द्वयोर्जीवयोस्तावद् नेयं यावद् यथाप्रवृत्तकरणस्य चरमसमये जघन्यं विशुद्धिस्थानम्। ततः शेषाणि उत्कृष्टानि यानि विशोधिस्थानान्यनुक्तानि तिष्ठन्ति तानि निरन्तरमनन्तगुणया वृद्ध्या तावद् नेतव्यानि यावच्चरमसमये उत्कृष्टं विशोधिस्थानम्।

भणितं यथाप्रवृत्तिकरणम्। सम्प्रत्यपूर्वकरणमुच्यते—तत्रापूर्वकरणे प्रतिसमयमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि भवन्ति, प्रतिसमयं च षट्स्थानपतितानि। तत्र प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका, सा च यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयसत्कोत्कृष्टविशोधिस्थानादनन्तगुणा। ततः प्रथमसमय एवोत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तस्मिन्नेव द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एवं जघन्यमुत्कृष्टं च विशोधिस्थानमनन्तगुणया वृद्ध्या तावद् नेयं यावदपूर्वकरणस्य चरमसमये जघन्यत उत्कृष्टविशुद्धिरनन्तगुणा। स्थापना चेयम्—

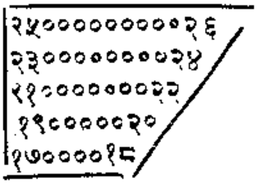

अस्मिंश्चापूर्वकरणे प्रविशन् स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिं गुणसङ्क्रममन्यं स्थितिबन्धं च युगपदारभते। तत्र स्थितिघातो नाम स्थितिसत्कर्मणोऽग्रिमः

भागाद् उत्कृष्टतः प्रभूतसागरोपमशतपृथक्त्वमात्रं जघन्यतः पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डं खण्डयति, तद्दलिकं चाधस्ताद् याः स्थितीर्न खण्डयिष्यति तत्र प्रक्षिपति, अन्तर्मुहूर्तेन च कालेन तत् स्थितिखण्डमुत्कीर्यते खण्ड्यत इत्यर्थः; ततः पुनरप्यधस्तात् पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्किरति पूर्वोक्तप्रकारेणैव च निक्षिपति, एवमपूर्वकरणाद्धायां प्रभूतानि स्थितिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति, तथा च सति अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये यत् स्थितिसत्कर्म आसीत् तत् तस्यैव चरमसमये सङ्ख्येयगुणहीनं जातम् ।

रसघातो नाम–अशुभप्रकृतीनां यदनुभागसत्कर्म तस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेनाशेषानपि विनाशयति, ततः पुनरपि तस्य प्राङ्मुक्तस्यानन्ततमभागस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति, एवमनेकान्यनुभागखण्डसहस्राण्येकस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति, तेषां च स्थितिखण्डानां सहस्रैरपूर्वकरणं परिसमाप्यते ।

गुणश्रेणिर्नाम–अन्तर्मुहूर्तप्रमाणानां स्थितीनामुपरि याः स्थितयो वर्तन्ते तन्मध्याद् दलिकं गृहीत्वा उदयावलिकाया उपरितनीषु स्थितिषु प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुणतया निक्षिपति, तद्यथा–प्रथमसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम् , एवं तावद् नेयं यावदन्तर्मुहूर्तचरमसमयः; तच्चान्तर्मुहूर्तमपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिकरणकालाभ्यां मनागतिरिक्तं वेदितव्यम् । एष प्रथमसमयगृहीतदलिकस्य निक्षेपविधिः । एवं द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकानां निक्षेपो वक्तव्यः । अन्यच्च–गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमये यद् दलिकं गृह्यते तत् स्तोकम् , ततोऽपि द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम् , ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् नेयं यावद् गुणश्रेणिकरणचरमसमयः । अपूर्वकरणसमयेषु अनिवृत्तिकरणसमयेषु चानुभवतः क्रमशः क्षीयमाणेषु गुणश्रेणिदलिकनिक्षेपः शेषे शेषे भवति उपरि च न वर्धत इति ।

तथा गुणसङ्क्रमो नाम–अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽनन्तानुबन्ध्यादीनामशुभप्रकृतीनां यद् दलिकं परप्रकृतिषु सङ्क्रमयति तत् स्तोकम् , ततो द्वितीयसमये परप्रकृतिषु सङ्क्रम्यमाणमसङ्ख्येयगुणम् , ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम् , एवं तावद् वक्तव्यं यावच्चरमसमयः ।

तथाऽन्यः स्थितिबन्धो नाम–अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽन्य एवापूर्वः स्तोकः स्थितिबन्ध आरभ्यते । स्थितिबन्ध-स्थितिघातौ युगपदारभ्येते युगपदेव च निष्ठां यातः । एवमेते पञ्च पदार्था अपूर्वकरणे प्रवर्तन्ते ।

व्याख्यातमपूर्वकरणम् , इदानीमनिवृत्तिकरणमुच्यते--अनिवृत्तिकरणं नाम–यत्र प्रविष्टानां सर्वेषामपि तुल्यकालानामेकमेवाध्यवसायस्थानम् । तथाहि–अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमसमये

ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषामपि सर्वेषामप्येकरूपमेवाध्यवसायस्थानम्, द्वितीयसमयेऽपि ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषामपि सर्वेषामेकरूपमध्यवसायस्थानम्, नवरं प्रथमसमयभाविविशोधिस्थानापेक्षयाऽनन्तगुणम्, एवं तावद् वाच्यं यावदनिवृत्तिकरणचरमसमयः। अत एवास्मिन् करणे प्रविष्टानां तुल्यकालानामसुमतां सम्बन्धिनामध्यवसायस्थानानां परस्परं निवृत्तिः व्यावृत्तिर्न विद्यत इत्यनिवृत्तिकरणमिति नाम। अस्मिंश्चानिवृत्तिकरणे यावन्तः समयास्तावन्त्यध्यवसायस्थानानि पूर्वस्मात् पूर्वस्मादनन्तगुणवृद्धानि। एतानि च मुक्तावलीसंस्थानेन स्थापयितव्यानि—|०००००|। अत्रापि च प्रथमसमयादेवारभ्य पूर्वोक्ताः पञ्च पदार्था युगपत् प्रवर्तन्ते। अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् भागेऽवतिष्ठमानेऽनन्तानुबन्धिनामधस्तादावलिकामात्रं मुक्त्वाऽन्तमुहूर्तप्रमाणमन्तरकरणमभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेनान्तमुहूर्त्तप्रमाणेन कालेन करोति, अन्तरकरणसत्कं च दलिकमुत्कीर्यमाणं परप्रकृतिषु बध्यमानासु प्रक्षिपति, प्रथमस्थितिगतं च दलिकमावलिकामात्रं वेद्यमानासु परप्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति। अन्तरकरणे कृते सति द्वितीयसमयेऽनन्तानुबन्धिनामुपरितनस्थितिगतं दलिकमुपशमयितुमारभते। तद्यथा—प्रथमसमये स्तोकमुपशमयति, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं यावदन्तमुहूर्तं कालम्। एतावता च कालेन साकल्यतोऽनन्तानुबन्धिन उपशमिता भवन्ति। उपशमिता नाम—यथा रेणुनिकरः सलिलबिन्दुनिवहैरभिषिच्य अभिषिच्य द्रुघणादिभिर्निष्कुट्टितो निःस्पन्दो भवति, तथा कर्मरेणुनिकरोऽपि विशोधिसलिलप्रवाहेण परिषिच्य परिषिच्य अनिवृत्तिकरणरूपद्रुघणनिष्कुट्टितः सङ्क्रमण-उदय-उदीरणा-निधत्ति-निकाचनकरणानामयोग्यो भवति। तदेवमेकेषामाचार्याणां मतेनानन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिहिता।

अन्ये त्वाचक्षते—अनन्तानुबन्धिनामुपशमना न भवति, किन्तु विसंयोजनैव। विसंयोजना—क्षपणा। सा चैवम्—इह श्रेणिमप्रतिपद्यमाना अपि अविरता विरताश्चतुर्गतिका अपि। तद्यथा—नारका देवा अविरतसम्यग्दृष्टयः, तिर्यञ्चोऽविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरता वा, मनुजा अविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरताः सर्वविरता वा अनन्तानुबन्धिनां विसंयोजनार्थं यथाप्रवृत्त्यादीनि त्रीणि करणानि कुर्वन्ति। करणवक्तव्यता सर्वाऽपि प्राग्वत्। नवरमिहानिवृत्तिकरणे प्रविष्टः सन् अन्तरकरणं न करोति। उक्तं च कर्मप्रकृतौ—

> चउगइया पज्जत्ता, तिन्नि वि संजोयणे विजोयंति।
> करणेहिं तीहिं सहिया, नंतरकरणं उवसमो वा॥ (गा० ३४३)

अस्या अक्षरगमनिका—'चतुर्गतिकाः, नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवाः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः 'त्रयोऽपि' अविरत-देशविरत-सर्वविरताः। तत्राविरतसम्यग्दृष्टयश्चतुर्गतिकाः, देशविरता-

स्तिर्यञ्चो मनुष्या वा, सर्वविरता मनुष्या एव । 'संयोजनान्' अनन्तानुबन्धिनः 'विसंयोजयन्ति' विनाशयन्ति । किंविशिष्टाः सन्तः ? इत्याह–'करणैस्त्रिभिः' यथाप्रवृत्ता-ऽपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरैः सहिताः । नवरमिहान्तरकरणं न वक्तव्यम्, उपशमो वा, उपशमश्चानन्तानुबन्धिनां न भवतीत्यर्थः ॥

किन्तु **कर्मप्रकृत्य**भिहितस्वरूपेणोद्वलनासङ्क्रमेणाधस्तादावलिकामात्रं मुक्त्वा उपरि निरवशेषाननन्तानुबन्धिनो विनाशयति, आवलिकामात्रं तु स्तिबुकसङ्क्रमेण वेद्यमानासु प्रकृतिषु सङ्क्रमयति ।

तदेवमुक्ताऽनन्तानुबन्धिनां विसंयोजना। सम्प्रति दर्शनत्रिकस्योपशमना भण्यते–तत्र मिथ्यात्वस्योपशमना मिथ्यादृष्टेर्वेदकसम्यग्दृष्टेश्च, सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु वेदकसम्यग्दृष्टेरेव । तत्र मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वोपशमना प्रथमं सम्यक्त्वमुत्पादयतः, सा चैवम्–पञ्चेन्द्रियः संज्ञी सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः करणकालात् पूर्वमप्यन्तर्मुहूर्तं कालं प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रवर्धमानोऽभव्यसिद्धिकविशुद्ध्यपेक्षयाऽनन्तगुणविशुद्धिको मति-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानानामन्यतमस्मिन् साकारोपयोगे उपयुक्तोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्तमानो जघन्यपरिणामेन तेजोलेश्यायां मध्यमपरिणामेन पद्मलेश्यायामुत्कृष्टपरिणामेन शुक्ललेश्यायां वर्तमानो मिथ्यादृष्टिश्चतुर्गतिकोऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा इत्यादि पूर्वोक्तं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तिकरणमपूर्वकरणं च परिपूर्णं भवति । नवरमिहापूर्वकरणे गुणसङ्क्रमो न वक्तव्यः, किन्तु स्थितिघात-रसघात-स्थितिबन्ध-गुणश्रेणय एव वक्तव्याः । गुणश्रेणिदलिकरचनाऽप्युदयसमयादारभ्य वेदितव्या । ततोऽनिवृत्तिकरणेऽप्येवं वक्तव्यम् । अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् सङ्ख्येयतमे भागेऽवतिष्ठमानेऽन्तर्मुहूर्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्रथमस्थितेः किञ्चित् समधिकं न्यूनं वाऽभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेनान्तर्मुहूर्तेन कालेन करोति । अन्तरकरणसत्कं च दलिकमुत्कीर्य प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति । प्रथमस्थितौ च वर्तमान उदीरणाप्रयोगेण यत् प्रथमस्थितिगतं दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणा, यत् पुनर्द्वितीयस्थितेः सकाशाद् उदीरणाप्रयोगेणैव दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणाऽपि पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते । उदय-उदीरणाभ्यां च प्रथमस्थितिमनुभवन् तावद् गतो यावदावलिकाद्विकं शेषं तिष्ठति, तस्मिंश्च स्थिते आगालो व्यवच्छिद्यते । तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते, साऽपि तावद् यावदावलिकाशेषो न भवति । आवलिकायां तु शेषीभूतायामुदीरणाऽपि निवर्तते, ततः केवलेनैवोदयेनावलिकामात्रमनुभवति । आवलिकामात्रचरमसमये च द्वितीयस्थितिगतं दलिकमनुभागभेदेन त्रिधा करोति । तद्यथा–सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं चेति । उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**—

[1]चरमसमयमिच्छद्दिट्ठी सेकाले उवसमसम्मदिट्ठी होहिई ताहे बिइयठिइं तिहाणुभागं करेइ। तं जहा—सम्मत्तं सम्मामिच्छत्तं मिच्छत्तं च। इति।

स्थापना-[०००]। ततोऽनन्तरसमये मिथ्यात्वस्योदयाभावाद् औपशमिकं सम्यक्त्वमवाप्नोति। उक्तं च **कर्मप्रकृतौ**—

[2]मिच्छत्तुदए खीणे, लहए सम्मत्तमोवसमियं सो।
लंभेण जस्स लब्भइ, आयहियमलद्धपुव्वं जं ॥ (गा० ३३०)

अन्यत्राप्युक्तम्—

जात्यन्धस्य यथा पुंसश्चक्षुर्लाभे शुभोदये ।
सद्दर्शनं तथैवास्य, सम्यक्त्वे सति जायते ॥
आनन्दो जायतेऽत्यन्तं, सात्त्विकोऽस्य महात्मनः ।
सद्व्याध्यपगमे यद्वद्व्याधितस्य सदौषधात् ॥

एष च प्रथमसम्यक्त्वलाभो मिथ्यात्वस्य सर्वोपशमनाद् भवति। उक्तं च—

[3]सम्मत्तपढमलंभो, सव्वोवसमा–(कर्मप्र० गा० ३३५) इति।

सम्यक्त्वं चेदं प्रतिपद्यमानः कश्चिद् देशविरतिसहितं प्रतिपद्यते, कश्चित् सर्वविरतिसहितम्। उक्तं च **पञ्चसङ्ग्रहे**—

[4]सम्मत्तेणं समगं, सव्वं देसं च को वि पडिवज्जे। (गा० ७६०)

बृहच्छतकबृहच्चूर्णावप्युक्तम्—

[5]उवसमसम्मदिट्ठी, अंतरकरणे ठिओ कोइ ॥
देसविरइं पि लहेइ, कोइ पमत्तापमत्तभावं पि ।
सासायणो पुण न किं पि लहेइ । इति।

ततो देशविरत प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयतेष्वपि मिथ्यात्वमुपशान्तं लभ्यते।

---

१ चरमसमयमिथ्यादृष्टिरेष्यत्काले औपशमिकसम्यग्दृष्टिर्भविष्यति तदा द्वितीयस्थितिं त्रिधानुभागं करोति। तद्यथा–सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं च॥ २ मिथ्यात्वोदये क्षीणे लभते सम्यक्त्वमौपशमिकं सः। लाभेन यस्य लभ्यत आत्महितमलब्धपूर्वं यत् ॥ ३ सम्यक्त्वप्रथमलाभः सर्वोपशमात् ॥ ४ सम्यक्त्वेन समकं सर्वं देशं च कोऽपि प्रतिपद्यते ॥

५ औपशमिकसम्यग्दृष्टिरन्तरकरणे स्थितः कोऽपि ॥ देशविरतिमपि लभते कोऽपि प्रमत्ताप्रमत्तभावमपि। सास्वादनः पुनर्न किमपि लभते ॥

सम्प्रति वेदकसम्यग्दृष्टेस्त्रयाणामपि दर्शनमोहनीयानामुपशमनाविधिरुच्यते—इह वेदकसम्यग्दृष्टिः संयमे वर्तमानः सन् अन्तर्मुहूर्तमात्रेण कालेन दर्शनत्रितयमुपशमयति, उपशमयतश्च करणत्रिकादिविधिर्यथा **कर्मप्रकृतिटीकायां** तथा वेदितव्यः।

एवमुपशान्तदर्शनमोहनीयत्रिकश्चारित्रमोहनीयमुपशमयितुकामः पुनरपि यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति। करणानां च स्वरूपं प्राग्वत्। केवलमिह यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्यम्, अपूर्वकरणमपूर्वकरणगुणस्थानके, अनिवृत्तिकरणमनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके। अत्रापि स्थितिघातादयः पूर्ववदेव प्रवर्तन्ते। नवरमिह सर्वासामशुभप्रकृतीनामबध्यमानानां गुणसङ्क्रमः प्रवर्तते इति वक्तव्यम्। अपूर्वकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयतमे भागे गते सति निद्रा-प्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदः। ततः प्रभूतेषु स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेषु सत्सु अपूर्वकरणाद्धायाः सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति एकोऽवशिष्यते। अत्र चान्तरे देवगति-देवानुपूर्वी-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-तैजस-कार्मण-समचतुरस्र-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वास-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-प्रशस्तविहायोगति-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-निर्माण-तीर्थकरसंज्ञितानां त्रिंशतः प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदः। ततः स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति अपूर्वकरणाद्धायाश्चरमसमये हास्य-रति-भय-जुगुप्सानां बन्धव्यवच्छेदः, हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सानामुदयव्यवच्छेदः, सर्वकर्मणां देशोपशमना-निधत्ति-निकाचनाकरणव्यवच्छेदश्च। ततोऽनन्तरसमयेऽनिवृत्तिकरणे प्रविशति, तत्रापि स्थितिघातादीनि पूर्ववत् करोति। ततोऽनिवृत्तिकरणाद्धायाः सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु दर्शनसप्तकशेषाणामेकविंशतिमोहनीयप्रकृतीनामन्तरकरणं करोति। तत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य संज्वलनस्य त्रयाणां च वेदानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य वेदस्य प्रथमा स्थितिः स्वोदयकालप्रमाणा, शेषाणां त्वेकादशकषायाणामष्टानां च नोकषायाणामावलिकामात्रम्। स्वोदयकालप्रमाणं च चतुर्णां संज्वलनानां त्रयाणां च वेदानामिदम्—स्त्रीवेद-नपुंसकवेदयोरुदयकालः सर्वस्तोकः, स्वस्थाने च परस्परं तुल्यः, ततः पुरुषवेदस्य सङ्ख्येयगुणः, ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकः, ततः संज्वलनमानस्य विशेषाधिकः, ततः संज्वलनमायाया विशेषाधिकः, ततः संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकः। इहानिवृत्तिकरणे बहु वक्तव्यं, तत्तु ग्रन्थगौरवभयाद् नोच्यते, केवलं विशेषार्थिना **कर्मप्रकृतिटीका** निरीक्षितव्या। अन्तरकरणं च कृत्वा ततो नपुंसकवेदमन्तर्मुहूर्तमात्रेणोपशमयति, ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण स्त्रीवेदम्, ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण हास्यादिषट्कम्, तस्मिंश्चोपशान्ते तस्मिन्नेव समये पुरुषवेदस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः, ततः समयोनावलिकाद्विकेन पुरुषवेदमुपशमयति। ततो युगपदन्तर्मुहूर्तमात्रेणाप्रत्याख्यानावरण-प्रत्या-

ख्यानावरणक्रोधावुपशमयति, तदुपशान्तौ च तत्समयमेव संज्वलनक्रोधोदय- उदीरणाव्यवच्छेदः, ततः समयोनावलिकाद्विकेन संज्वलनक्रोधमुपशमयति। ततोऽन्तमुहूर्तमात्रेणाऽप्रत्याख्यानावरणा प्रत्याख्यानावरणमानौ युगपदुपशमयति, तदुपशान्तौ च तत्समयमेव संज्वलनमानस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः, ततः समयोनावलिकाद्विकेन संज्वलनमानमुपशमयति। ततो युगपदन्तमुहूर्तमात्रेणाऽप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणमाये उपशमयति, तदुपशान्तौ च तत्समयमेव संज्वलनमायाया बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः, ततः समयोनावलिकाद्विकेन संज्वलनमायामुपशमयति। ततो युगपदप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणलोभावुपशमयति, तत्समयमेव संज्वलनलोभस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः, ततः संज्वलनलोभमुपशमयंस्त्रिधा करोति, द्वौ भागौ युगपदुपशमयति, तृतीयभागं सङ्ख्येयखण्डानि करोति, तान्यपि पृथक् पृथक् कालभेदेनोपशमयति, पुनः सङ्ख्येयानां खण्डानां किट्टीत्यपरपर्यायाणां चरमखण्डमसङ्ख्येयानि खण्डानि सूक्ष्मकिट्टीत्यपरपर्यायाणि करोति, ततः समये समये एकैकं खण्डमुपशमयतीति। इह च दर्शनसप्तके उपशान्ते निवृत्तिबादरोऽभिधीयते, तत ऊर्ध्वमनिवृत्तिबादरो यावद् लोभस्यासङ्ख्येयान्तिमचरमखण्डमिति।

प्ररूपिता मोहनीयस्याष्टाविंशतिभेदभिन्नस्याप्युपशमना। सम्प्रति गाथार्थो विव्रियते—इहोपशमश्रेणिप्रारम्भको भवत्यप्रमत्तसंयत एव। अन्ये तु प्रतिपादयन्ति—अविरत-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयतानामन्यतम इति। श्रेणिपरिसमाप्तौ चाविरत-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयतानामन्यतमो भवति। स च प्रथमं युगपत् "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनः क्रोध-मान-माया-लोभानुपशमयति। ततो दर्शनं दर्शस्तं दर्शं—मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यग्दर्शनं युगपदुपशमयति। ततोऽनुदीर्णमपि नपुंसकवेदम्। यदि पुरुषः प्रारम्भकस्ततः प्रथमं नपुंसकवेदम्, ततः पश्चात् स्त्रीवेदम्, ततः 'षट्कं' हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सालक्षणम्, ततः पुरुषवेदम्, अथ स्त्री प्रारम्भिका ततः प्रथमं नपुंसकवेदम्, ततः पुरुषवेदम्, ततः षट्कम्, ततः स्त्रीवेदमिति; अथ नपुंसक एव प्रारम्भकस्ततोऽसावनुदीर्णमपि प्रथमं स्त्रीवेदमुपशमयति, ततः पुरुषवेदम्, ततः षट्कम्, ततो नपुंसकवेदमिति। पुनश्च द्वौ द्वौ क्रोधाद्यौ 'एकान्तरितौ' संज्वलनविशेषक्रोधाद्यन्तरितौ 'सदृशौ, तुल्यावुपशमयति। अयमर्थः—अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणक्रोधौ सदृशौ क्रोधत्वेन युगपद् उपशमयति, ततः संज्वलनक्रोधमेकाकिनम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणमानौ युगपदुपशमयति, ततः संज्वलनमानम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणमाये युगपदुपशमयति, ततः संज्वलनमायाम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यावरणलोभौ युगपदुपशमयति, ततः संज्वलनलोभमिति। स्थापना चेयम्—

१ सं. १-२ त० म० छा० ०णक्रोधौ तदु०॥

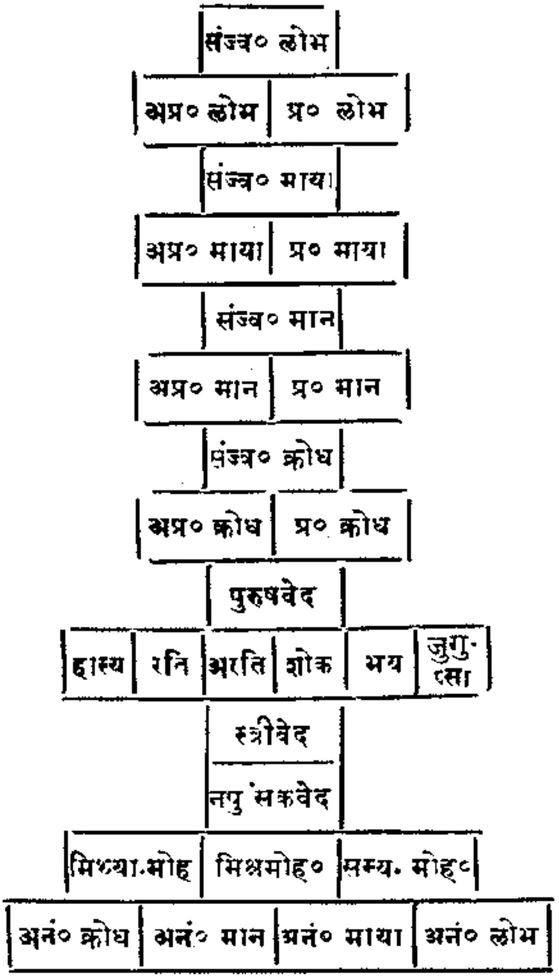

ननु संज्वलनादीनां युक्त उपशमः, अनन्तानुबन्धिनां तु दर्शनप्राप्तावेवोपशमितत्वाद् न युज्यते, न, दर्शनप्रतिपत्तौ तेषां क्षयोपशमादिह चोपशमादित्यविरोध इति । आह–क्षयोपशम-उपशमयोः कः प्रतिविशेषः ? उच्यते––क्षयोपशमो ह्युदीर्णस्य क्षयोऽनुदीर्णस्य च विपाकानुभवापेक्षयोपशमः, प्रदेशानुभवतस्तु उदयोऽस्त्येव, उपशमे तु प्रदेशानुभवोऽपि नास्तीति । यदाह भाष्यपीयूषपाथोधिः––

[1]वेएइ संतकम्मं, खओवसमिएऽत्थ नाणुभावं सो ।
उवसंतकसाओ पुण, वेएइ न संतकम्मं पि ॥
(विशेषा० गा० १२९३)

अन्यत्राप्युक्तम्–––

उवसंतं कम्मं जं, न तओ कड्ढेइ न देइ उदए वि ।
न य गमयइ परपगइं, न चेव उक्कड्ढए तं तु ॥

अस्या अक्षरगमनिका—सर्वोपशमेन यदुपशान्तं मोहनीयं कर्म, अन्यस्य सर्वोपशमायोगात्, "[2]सव्वोवसमो मोहस्स चेव[3]" इति वचनात्, 'न तदपकर्षति' न तदपवर्तनाकरणेन स्थिति-रसाभ्यां हीनं करोतीत्यर्थः । अपि-शब्दस्य भिन्नक्रमत्वाद् नाप्युदये तद् ददाति नापि तद् वेदयतीत्यर्थः, उपलक्षणात् तदविनाभाविन्यामुदीरणायामपि न ददातीत्यपि मन्तव्यम् । न च बध्यमानसजातीयरूपां परप्रकृतिं सङ्क्रमकरणेन 'गमयति' सङ्क्रमयति ।

१ वेदयति सत्कर्म क्षायोपशमिकोऽत्र नानुभावं सः । उपशान्तकषायः पुनर्वेदयति न सत्कर्मापि ॥
२ सर्वोपशमो मोहस्य चैव ॥ ३ एतद्वाक्यं कर्मप्रकृत्याः ३१५ तमगाथया संवादि ॥

न च तत् कर्म उपशान्तं सद् 'उत्कर्षयति' उद्वर्तनाकरणेन स्थिति-रसाभ्यां वृद्धिं नयति, निधत्ति-निकाच[1]नयोस्तु प्रागपूर्वकरणकाल एव निवृत्तत्वाद् नेहोपशान्तत्वेन तन्निषेधः क्रियते इति।

आह——संयतस्यानन्तानुबन्धिनामुदयो निषिद्धस्तत् कथमुपशमः ? इति उच्यते——स ह्यनुभागकर्माङ्गीकृत्य न तु प्रदेशकर्मेति। तथा चाभ्यधायि **परमगुरुणा**—

[2]जीवे णं भंते ! सयंकडं कम्मं वेएइ ? गोयमा ! अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं न वेएइ। से केणट्ठे णं पुच्छा, गोयमा ! दुविहे कम्मे पन्नत्ते, तं जहा—पएसकम्मे य अणुभागकम्मे य। तत्थ णं जं पएसकम्मं तं नियमा वेएइ, तत्थ णं जं अणुभागकम्मं तं अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं नो वेएइ'' इत्यादि।

ततश्च प्रदेशकर्मानुभावोदयस्येहोपशमो द्रष्टव्यः। आह——यद्येवं संयतस्यानन्तानुबन्ध्युदयतः कथं दर्शनविघातो न भवति ? इत्युच्यते-प्रदेशकर्मणो मन्दानुभावत्वात्। तथा कस्यचिदनुभागकर्मानुभावोऽपि नात्यन्तमपकाराय भवन् उपलभ्यते, यथा सम्पूर्णमत्यादिचतुर्ज्ञानिनस्तदावरणोदय इति। ततः सूक्ष्मलोभचरमकिट्ट्युपशमे संज्वलनलोभ उपशान्तो भवति, तत्समयमेव च ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चक-यशःकीर्ति-उच्चैर्गोत्राणां बन्धव्यवच्छेदः, ततोऽनन्तरसमयेऽसावुपशान्तकषायो भवति, स च जघन्येनैकं समयमात्रमुत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तं कालं यावत्, तत ऊर्ध्वं नियमादसौ प्रतिपतति। प्रतिपातश्च द्विधा——भवक्षयेण अद्धाक्षयेण च। तत्र भव[3]क्षयो म्रियमाणस्य, अद्धाक्षय उपशान्ताद्धायां समाप्तायाम्। अद्धाक्षयेण च प्रतिपतन् यथैवारूढस्तथैव प्रतिपतति, यत्र यत्र बन्ध-उदय-उदीरणा व्यवच्छिन्नास्तत्र तत्र पतता सता ते आरभ्यन्त इति यावत्। प्रतिपतंश्च तावत् प्रतिपतति यावत् प्रमत्तसंयतगुणस्थानकम्। कश्चित् पुनस्ततोऽप्यधस्तनं गुणस्थानकद्वयं याति, कोऽपि सास्वादनभावमपि। यः पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि बन्धनादीनि करणानि प्रवर्तयतीति शेषः। उत्कर्षतश्चैकस्मिन् भवे द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते। यश्च द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात् तस्मिन् भवे क्षपकश्रेण्यभावः। यः पुनरेकं वारं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिर्भवेदपि। उक्तं च **सप्ततिकाचूर्णौ**——

[4]जो दुवारे उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि। जो इक्कसिं

---

१ सं०१-२त०म० छ० ०नाया० ॥ २ जीवो भदन्त ! स्वयंकृतं कर्म वेदयति ? गौतम ! अस्त्येककं वेदयति अस्त्येककं न वेदयति। अथ केनार्थेन ? पृच्छा, गौतम ! द्विविधं कर्म प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-प्रदेशकर्म चानुभागकर्म च। तत्र यत् प्रदेशकर्म तद् नियमाद् वेदयति, तत्र यदनुभागकर्म तदस्त्येककं वेदयति, अस्त्येककं न वेदयति ॥ ३ मुद्रि० -क्षयो भवक्षयेण म्रिय० ॥ ४ यो द्वौ वारौ उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात् तस्मिन् भवे क्षपकश्रेणिर्नास्ति। यः सकृदेवोपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिः भवेत् ॥

उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी हुज्जा इति ।

एष कार्मग्रन्थिकाभिप्रायः। सिद्धान्ताभिप्रायेण त्वेकस्मिन् भवे एकामेव श्रेणिं प्रतिपद्यते। उक्तं च कल्पाध्ययने—

[1]एवं अप्परिवडिए, सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु ।
अन्नयरसेढिवज्जं, एगभवेणं च सव्वाइं ॥ (बृहत्कल्पभा० गा० १०७)

सर्वाणि सम्यक्त्व-देशविरत्यादीनि । अन्यत्राप्युक्तम्—

मोहोपशम एकस्मिन्, भवे द्विः स्यादसन्ततः ।
यस्मिन् भवे तूपशमः, क्षयो मोहस्य तत्र न ॥ इति ॥ ९८ ॥

तदेवमभिहिता सप्रपञ्चमुपशमश्रेणिः। सम्प्रति क्षपकश्रेणिमभिधित्सुराह—

अण मिच्छ मीस सम्मं, तिआउइगविगलथीणतिगुजोयं ।
तिरिनरयथावरदुगं, साहारायवअडनपुत्थी ॥ ९९ ॥

इह क्षपकश्रेणिप्रतिपत्ता मनुष्यो वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमानोऽविरतादीनामन्यतमोऽत्यन्तविशुद्धपरिणाम उत्तमसंहननः। तत्र पूर्वविदप्रमत्तः शुक्लध्यानोपगतोऽपि प्रतिपद्यते, अपरे तु धर्मध्यानोपगता एवेति। प्रतिपत्तिक्रमश्चायम्—अविरतो देशविरतः प्रमत्तसंयतोऽप्रमत्तसंयतो वा प्रथममन्तमुहूर्तेन "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनः क्रोध-मान-माया-लोभान् युगपत् क्षपयति। तदनन्ततमभागं तु मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य ततो मिथ्यात्वं सहैव तदंशेन युगपत् क्षपयति। यथा ह्यतिसम्भृतो दावानलः खल्वर्धदग्धेन्धन एवेन्धनान्तरमासाद्योभयमपि दहति, एवमसावपि क्षपकस्तीव्रशुभपरिणामत्वात् सावशेषमन्यत्र प्रक्षिप्य क्षपयतीति। एवं पुनः "मीस" त्ति सम्यग्मिथ्यात्वं क्षपयति, ततोऽनेनैव क्रमेण सम्यक्त्वं क्षपयति। सम्यक्त्वस्य च चरमस्थितिखण्डे उत्कीर्णे सति असौ क्षपकः कृतकरण इत्युच्यते। अस्यां च कृतकरणाद्धायां वर्तमानः कश्चित् कालमपि कृत्वा चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते। लेश्यायामपि च पूर्वं शुक्ललेश्यायामासीत्, सम्प्रत्यन्यतमस्यां गच्छति। तदेवं प्रस्थापको मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु भवति।

उक्तं च—

[2]पट्ठवगो उ मणुस्सो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु ॥

इह यदि बद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभतेऽनन्तानुबन्धिनां च क्षयादनन्तरं मरणसम्भवतो व्युपरमति, ततः कदाचिद् मिथ्यात्वोदयाद् भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिन उपचिनोति, तद्बीजस्य मिथ्या-

---

१ एवमपरिपतिते सम्यक्त्वे देवमनुजजन्मनोः। अन्यतरश्रेणिवर्जमेकभवेन च सर्वाणि (प्रतिपद्यते)।
२ प्रस्थापकस्तु मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु ॥

त्वस्याविनाशात् । क्षीणमिथ्यादर्शनस्तु नोपचिनोति, बीजाभावात् । क्षीणसप्तकस्त्वप्रतिपतितपरिणामोऽवश्यं त्रिदशेषूत्पद्यते । प्रतिपतितपरिणामस्तु नानापरिणामसम्भवाद् यथापरिणाममन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते । उक्तं च—

[1]बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमकसायक्खए जइ मरिज्जा ।
तो मिच्छत्तोदयओ, चिणिज्ज भूओ न खीणम्मि ॥ (विशेषा० गा० १३१६)
तम्मि मओ जाइ दिवं, तप्परिणामो य सत्तए खीणे ।
उवरयपरिणामो पुण, पच्छा नाणामइगईओ ॥ (विशेषा० गा० १३१७)

बद्धायुष्कोऽपि यदि तदानीं कालं न करोति तथापि सप्तके क्षीणे नियमादवतिष्ठते, न तु चारित्रमोहनीयक्षपणाय यत्नमारभते । उक्तं च—

[2]बद्धाऊ पडिवन्नो, नियमा खीणम्मि सत्तए ठाइ । (विशेषा० गा० १३२५) इति।

आह परः—ननु मिथ्यादर्शनादिक्षये किमसावदर्शनो जायते ? उत न ? इति, उच्यते—सम्यग्दृष्टिरेवासौ । आह—ननु सम्यग्दर्शनपरिक्षये कुतः सम्यग्दृष्टित्वम् ? उच्यते—निर्मदनीकृतकोद्रवकल्पा अपनीतमिथ्यात्वभावा मिथ्यात्वपुद्गला एव सम्यग्दर्शनं तत्परिक्षये च तत्त्वश्रद्धानलक्षणपरिणामाप्रतिपातात्, प्रत्युत श्लक्ष्णाभ्रपटलापगमे चक्षुर्दर्शनवद् विशुद्धतरापत्तेः ।

यदाह **भाष्यसुधाम्भोनिधिः**—

[3]खीणम्मि दंसणतिए, किं होइ तओ तिदंसणाईओ ? ।
भन्नइ सम्मदिट्ठी, सम्मत्तखए कओ सम्मं ? ॥
निव्वलियमयणकुद्दवरूवं मिच्छत्तमेव सम्मत्तं ।
खीणं न उ जो भावो, सद्दहणालक्खणो तस्स ॥
सो तस्स विसुद्धयरो, जायइ सम्मत्तपुग्गलक्खयओ ।
दिट्ठि व्व सण्हसुद्धब्भपडलविगमे मणूसस्स ॥

---

१ बद्धायुः प्रतिपन्नः प्रथमकषायक्षये यदि म्रियेत । तदा मिथ्यात्वोदयतश्चिनुयाद् भूयो न क्षीणे ॥ तस्मिन् मृतो याति दिवं तत्परिणामश्च सप्तके क्षीणे । उपरतपरिणामः पुनः पश्चान्नानामतिगतीः ॥ २ बद्धायुः प्रतिपन्नो नियमात् क्षीणे सप्तके तिष्ठति ॥ ३ क्षीणे दर्शनत्रिके किं भवति स त्रिदर्शनातीतः ? । भण्यते, सम्यग्दृष्टिः, सम्यक्त्वक्षये कुतः सम्यक्त्वम् ? ॥ निर्मदनीकृतमदनकोद्रवरूपं मिथ्यात्वमेव सम्यक्त्वम् । क्षीणं न तु यो भावः श्रद्धानलक्षणस्तस्य ॥ स तस्य विशुद्धतरो जायते सम्यक्त्वपुद्गलक्षयतः । दृष्टिरिव श्लक्ष्णशुद्धाभ्रपटलविगमे मनुष्यस्य ॥ यथा शुद्धजलानुगतं दुग्धं शुद्धं जलक्षये सुतराम् । सम्यक्त्वशुद्धपुद्गलपरिक्षये दर्शनमेवम् ॥ *तस्मिंश्च तृतीये चतुर्थे भवे सिध्यति क्षायिकसम्यक्त्वे । सुरनारकयुग्मिषु गतिरिदं तु जिनकालीननराणां ॥*

यदि वा—

जह सुद्धजलाणुगयं, दुद्धं सुद्धं जलक्खए सुतरं ।
सम्मत्तसुद्धपुग्गलपरिक्खए दंसणं एवं ॥ (विशेषा० भा० गा० १३१८-२१)
तम्मि य तइय चउत्थे, भवम्मि सिज्झंति खइयसम्मत्ते ।
सुरनरयजुगलिसु गई, इमं तु जिणकालियनराणं ॥

तदेवं सप्तकक्षयोऽविरतसम्यग्दृष्टौ देशविरते प्रमत्तसंयतेऽप्रमत्तसंयते वा प्राप्यते । यदि पुनरबद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभते ततः सप्तके क्षीणे नियमादनुपरतपरिणाम एव चारित्रमोहनीयक्षपणाय यत्नमारभते । उक्तं च भाष्यकृता—

[1]इयरो अणुवरओ च्चिय, सयलं सेढिं समाणेइ । (विशेषा० भा० गा० १३२५)

तत्र यः सकलश्रेणिं करोति तस्य क्षपकस्य निजनिजभवे सुर-नारक-तिर्यगायुस्त्रयं व्यवच्छिन्नमेव । उक्तं च—

[2]सुरनरयतिरियआउं, निययभवे सव्वजीवाणं ॥ इति ।

एतदेवाह—"तिआउ" त्ति देवायुः-नारकायुः-तिर्यगायुर्लक्षणमायुस्त्रयम्, स च क्षपकः स्वल्पसम्यग्दर्शनावशेष एव "अड" त्ति अष्टप्रकृतीः—अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणकषायरूपा युगपत् क्षपयितुमारभते । एतासु चार्धक्षपितास्वेवान्तराले त्रयोदश नामप्रकृतीस्तिस्रो दर्शनावरणप्रकृतीरुभयोः षोडश प्रकृतीः क्षपयति । तथाहि—"इगविगल" इत्यादि । "इग" त्ति एकेन्द्रियजातिः, त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् विकलत्रिकम्—द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिलक्षणं स्त्यानर्द्धित्रिकं—निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिरूपं "जोयं" त्ति उद्योतनाम, द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् तिर्यग्द्विकं--तिर्यग्गति--तिर्यगानुपूर्वीरूपं नरकद्विकं--नरकगति-नरकानुपूर्वीरूपं स्थावरद्विकं--स्थावर-सूक्ष्माख्यं "साहार" त्ति साधारणनाम आतपनामेति । ततो यदष्टानां कषायाणां यावदवशिष्टं तत् क्षपयति, सर्वमिदमन्तर्मुहूर्तमात्रेण क्षपयति, एष सूत्रादेशः । अन्ये पुनराहुः—षोडश कर्माण्येव पूर्वं क्षपयितुमारभते, केवलमपान्तरालेऽष्टौ कषायान् क्षपयति, पश्चात् षोडश कर्माणीति, ततो "नपु" त्ति नपुंसकवेदं क्षपयति, ततः स्त्रीवेदमिति ॥ ९९ ॥

छग पुं संजलणा दो, निद्दा विग्घवरणक्खए नाणी ।
देविंदसूरिलिहियं, सयगमिणं आयसरणट्ठा ॥१००॥

ततः 'षट्कं' हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सालक्षणम् , ततः पुंवेदं खण्डत्रयं करोति, तत्र खण्डद्वयं युगपत् क्षपयति, तृतीयखण्डं तु संज्वलनक्रोधे प्रक्षिपति, पुरुषे प्रतिपत्तर्ययं क्रमः ।

१ इतरोऽनुपरत एव सकलां श्रेणिं समापयति॥ २ सुरनिरयतिर्यगायूंषि निजकभवे सर्वजीवानाम् ॥

अथ स्त्री प्रारम्भिका ततः प्रथमं नपुंसकवेदं क्षपयति, ततः पुरुषवेदम् , ततो हास्यादिषट्कम् ,ततः स्त्रीवेदम् । अथ नपुंसकः प्रारम्भकः ततोऽसावनुदीर्णमपि प्रथमं स्त्रीवेदं क्षपयति, ततः पुरुषवेदम् , ततो हास्यादिषट्कम् , ततो नपुंसकवेदम् । ततः संज्वलनान् क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणान् प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तमात्रकालेनोक्तेनैव न्यायेन क्षपयति। श्रेणिपरिसमाप्तिकालोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव, अन्तर्मुहूर्तानामसङ्ख्येयभेदत्वात् । लोभचरमखण्डं तु सङ्ख्येयानि खण्डानि कृत्वा पृथक् पृथक् कालभेदेन क्षपयति । चरमखण्डं पुनरसङ्ख्येयानि खण्डानि करोति, तान्यपि समये समये एकैकं क्षपयति। स्थापना चेयम्—

संज्वलनलोभ
संज्वलनमाया
संज्वलनमान
संज्वलनक्रोध

पुरुषवेद

हास्य	रति	अरति	भय	शोक	जुगुप्सा

स्त्रीवेद
नपुंसकवेद

एकेन्द्रियादिषोडशप्रकृति

अप्र.क्रोध	प्र० क्रोध	अप्र.मान	प्र० मान	अप्र.माया	प्र. माया	अप्र.लोभ	प्र.लोभ

देव-नारक-तिर्यगायूंषि३

सम्यक्त्वमोह०
मिश्रमोह०
मिथ्यात्वमोह०

अनं० क्रोध	अनं० मान	अनं०माया	अनं० लोभ

इह च क्षीणदर्शनसप्तको निवृत्तिबादर उच्यते, तत ऊर्ध्वमनिवृत्तिबादरो यावच्चरमलोभखण्डमिति, तत ऊर्ध्वमसङ्ख्येयखण्डानि क्षपयन् सूक्ष्मसम्परायो यावच्चरमलोभाणुक्षयः, तत ऊर्ध्वं यथाख्यातचारित्री, स च महाप्रतरणपरिश्रान्तवद् मोहसागरं तीर्त्वा विश्राम्यति । ततश्छद्मस्थवीतरागत्वद्विचरमसमये "दो निद्द" त्ति 'द्वे निद्रे' निद्रा-प्रचलालक्षणे क्षपयति, ततश्चरमसमये

"विग्घवरणक्खए" त्ति विघ्नानि-दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायलक्षणानि "वरण" त्ति प्राकृतत्वादाकारलोपे आवरणानि--मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणा-ऽवधिज्ञानावरण-मनःपर्यायज्ञानावरण-केवलज्ञानावरण-चक्षुर्दर्शनावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरणा--ऽवधिदर्शनावरण--केवलदर्शनावरणलक्षणानि नव, ततो विघ्नानि चावरणानि च विघ्नावरणानि तेषां क्षये—निर्मूलोच्छेदेन 'ज्ञानी' केवलज्ञानी भवति । यदाहुः **श्रीमदाराध्यपादाः**--

[1]चरमे नाणावरणं, पंचविहं दंसणं चउवियप्पं ।
पंचविहमंतरायं, खवइत्ता केवली होइ ॥ (आव० नि० गा० १२६)

इदमुक्तं भवति—अविरतादीनामन्यतरः प्रथमसंहननः सुविशुद्धपरिणामः क्षपकश्रेणिमारूढो गुणस्थानक्रमेणानन्तानुबन्ध्यादीनुक्तप्रकारेण क्षपयन् यावत् क्षीणमोहचरमसमये विघ्नपञ्चक-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्कं क्षपयित्वा सर्वसङ्ख्यया तु ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-मोहनीयाष्टाविंशति-आयुस्त्रिक--नामप्रकृतित्रयोदशका-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणास्त्रिषष्टिप्रकृतीः क्षपयित्वा केवलज्ञानी भवति । स च भगवान् भवस्थकेवली लोकमलोकं सर्वं सर्वात्मनाऽविकलविमलकेवलेन पश्यति, न हि तदस्ति भूतं भवद् भविष्यद्वा यद् भगवान्न पश्यति । यदाहुः **श्रीमदाराध्यपादाः**—

[2]संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं ।
तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च ॥ (आव० नि० गा० १२७)

इत्थंभूतश्च सयोगिकेवली जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतो देशोनां पूर्वकोटीं विहृत्य अयोगिकेवलिगुणस्थानकमारुह्य तद्द्विचरमसमये द्वासप्ततिप्रकृतीः तच्चरमसमये त्रयोदशप्रकृतीश्च क्षपयित्वा शिवमचलमरुजमक्षयमव्याबाधममन्दानन्दरत्नसारमासादयतीति, उक्ता क्षपकश्रेणिः । तद्वर्णने च व्याख्याता "नमिय जिणं धुवबंधोदयसंता" इत्यादिद्वारगाथा । सम्प्रति शतगाथाप्रमाणत्वेन यथार्थनामकं **शतकशास्त्रं समर्थयन्नाह--"देविंदसूरिलिहियं, सयगमिणं आयसरणट्ठ"** त्ति देवेन्द्रसूरिणा—करालकलिकालपातालतलावमज्जद्विशुद्धधर्मधुरोद्धरणधुरीणश्रीमज्जगच्चन्द्र--सूरिचरणसरसीरुहचञ्चरीककल्पेन लिखितम्—**अक्षरविन्यासीकृतम्**, **कर्मप्रकृति-पञ्चसङ्ग्रह-बृहच्छतका**दिशास्त्रेभ्य इति शेषः । किम्? इत्याह—**'शतकं'** शतगाथाप्रमाणम् **'इदम्'** अधुनैव व्याख्यातस्वरूपम् । किमर्थम्? इत्याह—**'आत्मस्मरणार्थम्'** आत्मस्मृतिनिमित्तमिति ॥१००॥

॥ इति श्रीमद्देवेन्द्रसूरिविरचिता स्वोपज्ञशतकटीका ॥

---

१ चरमे ज्ञानावरणं पञ्चविधं दर्शनं चतुर्विकल्पम् । पञ्चविधमन्तरायं क्षपयित्वा केवली भवति॥
२ संपूर्णं पश्यन् लोकमलोकं च सर्वतः सर्वम् । तन्नास्ति यन्न पश्यति भूतं भवद्भविष्यद्वा ॥

॥ अथ प्रशस्तिः ॥

विष्णोरिव यस्य विभोः, पदत्रयी व्यानशी जगन्निखिलम् ।
शतमखशतकप्रणतः, स श्रीवीरो जिनो जयतु ॥
कुन्दोज्ज्वलकीर्तिभरः, सुरभीकृतसकलविष्टपाभोगः ।
लब्धिशतसिन्धुजलधिः, श्रीगौतमगणधरः पातु ॥
तदनु सुधर्मस्वामी, जम्बू-प्रभवादयो मुनिवरिष्ठाः ।
श्रुतजलनिधिपारीणाः, भूयांसः श्रेयसे सन्तु ॥
क्रमात् प्राप्ततपाचार्येत्यभिख्या भिक्षुनायकाः ।
समभूवन् कुले चान्द्रे, श्रीजगच्चन्द्रसूरयः ॥
जगज्जनितबोधानां, तेषां शुद्धचरित्रिणाम् ।
विनेयाः समजायन्त, श्रीमद्देवेन्द्रसूरयः ॥
स्वान्ययोरुपकाराय, श्रीमद्देवेन्द्रसूरिणा ।
स्वोपज्ञशतकटीका, सुबोधेयं विनिर्ममे ॥
विबुधवरधर्मकीर्ति-श्रीविद्यानन्दसूरिमुख्यबुधैः ।
स्वपरसमयैककुशलैस्तदैव संशोधिता चेयम् ॥
यद् गदितमल्पमतिना, सिद्धान्तविरुद्धमिह किमपि शास्त्रे ।
विद्वद्भिस्तत्त्वज्ञैः, प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥
स्वोपज्ञशतकटीकां, कृत्वेमां यन्मयाऽर्जितं सुकृतम् ।
ध्रुवबन्धादिविमुक्तः, समस्तु सर्वोऽपि तेन जनः ॥

समाप्तोऽयं स्वोपज्ञटीकोपेतः शतकनामा पञ्चमः कर्मग्रन्थः ।

॥ अर्हम् ॥

नमः कर्मतत्त्ववेदिभ्यः पूर्वसूरिभ्यः ।

महर्षिश्रीमच्चन्द्रर्षिमहत्तरविरचितं

सप्ततिकाप्रकरणम् ।

पूज्यश्रीमन्मलयगिरिमहर्षिविनिर्मितविवृतिसमलङ्कृतम् ।

ॐ सर्वविदे नमः ।

अशेषकर्मांशतमःसमूहक्षयाय भास्वानिव दीप्ततेजाः ।
प्रकाशिताशेषजगत्स्वरूपः, प्रभुः स जीयाज्जिनवर्धमानः ॥
जीयाज्जिनेशसिद्धान्तो, मुक्तिकामप्रदीपनः ।
कुश्रुत्यातपतप्तानां, सान्द्रो मलयमारुतः ॥
चूर्णयो नावगम्यन्ते, सप्ततेर्मन्दबुद्धिभिः ।
ततः स्पष्टावबोधार्थं, तस्याष्टीकां करोम्यहम् ॥
अहर्निशं चूर्णिविचारयोगाद् , मन्दोऽपि शक्तो विवृतिं विधातुम् ।
निरन्तरं कुम्भनिघर्षयोगाद् , ग्रावाऽपि कूपे समुपैति घर्षम् ॥

इह यत् शास्त्रं प्रकरणं वा सर्वविन्मूलं तत् प्रेक्षावतामुपादेयं भवति, नान्यत् । ततः **सप्ततिकाख्यं** प्रकरणमारभमाण आचार्यः प्रेक्षावतां प्रकरणविषये उपादेयबुद्धिपरिग्रहार्थं प्रकरणस्य सर्वविन्मूलताम् , तथा सर्वविन्मूलत्वेऽपि न प्रेक्षापूर्वकारिणोऽभिधेयादिपरिज्ञानमन्तरेण यथाकथञ्चित्[1] प्रवर्तन्ते प्रेक्षावत्ताक्षतिप्रसङ्गात् , ततस्तेषां प्रवृत्त्यर्थमभिधेयादिकं च प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—

सिद्धपएहिँ महत्थं, बंधोदयसंतपयडिठाणाणं ।
[2]वोच्छं सुण संखेवं, [3]नीसंदं दिट्ठिवायस्स ॥ १ ॥

सिद्धं—प्रतिष्ठितं चालयितुमशक्यमित्येकोऽर्थः । ततः सिद्धानि पदानि येषु ग्रन्थेषु ते सिद्धपदाः—**कर्मप्रकृति-प्राभृतादयः**, न हि तेषां पदानि कैश्चिदपि चालयितुं शक्यन्ते, तेषां सर्वज्ञोक्तार्थानुसारित्वात् तेभ्यो बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां संक्षेपं वक्ष्ये । अथवा स्वसमये

१ ०सं० १ त० ०त् तत्र प्रव० ॥ २ सं० १ त० म० छा० वुच्छं ॥ ३ सं० १ त० निस्संदं ॥

सिद्धानि–प्रसिद्धानि यानि जीवस्थान-गुणस्थानरूपाणिपदानि तानि सिद्धपदानि, तेभ्यः तान्याश्रित्य तेषु विषय इत्यर्थः। अत्र स्थाने "गम्ययपः कर्माधारे" (सिद्धहे० २–२–७४) इति सूत्रेण पञ्चमी, यथा प्रासादात् प्रेक्षते इत्यत्र। तत्र बन्धो नाम–कर्मपरमाणूनामात्मप्रदेशैः सह वह्न्ययःपिण्डवदन्योऽन्यानुगमः[1] १। कर्मपरमाणूनामेव विपाकप्राप्तानामनुभवनमुदयः २। तथा बन्धसमयात् सङ्क्रमेणात्मलाभसमयाद्वा आरभ्य यावत् ते कर्मपरमाणवो नान्यत्र सङ्क्रम्यन्ते यावद् वा न क्षयमुपगच्छन्ति तावद् तेषां[2] स्वस्वरूपेण यः सद्भावः सा सत्ता ३। सदिति सूत्रे निर्देशो भावप्रधानः, तेन सदिति सत्ता व्याख्याता। प्रकृतीनां स्थानानि–समुदायाः प्रकृतिस्थानानि द्वित्र्यादिप्रकृतिसमुदाया इत्यर्थः, स्थानशब्दोऽत्र समुदायवाची। बन्ध-उदय-सत्तासु प्रकृतिस्थानानि बन्ध-उदय-सत्ताप्रकृतिस्थानानि तेषां संक्षेपं वक्ष्ये। तं च वक्ष्यमाणं शृणु। 'शृणु' इति क्रियापदं च श्रोतॄणां कथञ्चिदनाभोगवशतः प्रमादसम्भवेऽप्याचार्येण नोद्विजितव्यम्, किन्तु सुमधुरवचोभिः शिक्षानिबन्धनैः श्रोतॄणां मनांसि प्रह्लाद्य यथार्हमागमार्थो निवेदनीय इति ख्यापनार्थम्। तदुक्तम्—

[3]अणुवत्तणाएँ सेहा, पायं पावेंति जोग्गयं परमं।
रयणं पि गुणुक्करिसं, उवेइ सोहम्मणगुणेणं ॥
एत्थ य पमायखलिया, पुव्वब्भासेण कस्स व न होंति?।
जो तेऽवणेइ सम्मं, गुरुत्तणं तस्स सफलं ति ॥
को नाम सारहीणं, स होज्ज जो भद्दवाइणो दमए।
दुट्ठे वि य जो आसे, दमेइ तं सारहिं बेंति ॥ (पञ्चव० गा० १७–१९)

संक्षेपस्यैव विशेषणार्थमाह—'महार्थं' महान्–प्रभूतोऽर्थः–अभिधेयं यस्य स महार्थः। ननु संक्षेपो विस्तरार्थसङ्ग्रहरूपः, ततः स महार्थ एव भवतीति किमर्थं महार्थमिति विशेषणम्? तदयुक्तम्, संक्षेपस्यान्यथाऽपि सम्भवात्। तथाहि—आख्याना-ऽऽलापक-सङ्ग्रहण्यः संक्षेपरूपा दृश्यन्ते न च महार्थाः, तत्तात्पर्यार्थस्याल्पीयस्त्वात्, ततस्तत्कल्पममुं संक्षेपं मा ज्ञासीद् विनेयजन इत्यमहार्थत्वाऽऽशङ्कापनोदार्थं महार्थमिति विशेषणम्।

---

१ सं० १ त० ०मः १। तथा कर्म० ॥ २ सं० १ सं० त० म० छा० ०षां स्वरूपेण ॥

३ अनुवर्तनया शैक्षाः प्रायः प्राप्नुवन्ति योग्यतां परमाम्। रत्नमपि गुणोत्कर्षमुपैति शोधकगुणेन ॥ अत्र च प्रमादस्खलितानि पूर्वाभ्यासेन कस्य वा न भवन्ति?। यस्तानि अपनयति सम्यग् गुरुत्वं तस्य सफलमिति ॥ को नाम सारथीनां स भवेद् यो भद्रवाजिनो दमयेत्?। दुष्टानपि च योऽश्वान् दमयति तं सारथिं ब्रुवते ॥

पुनरप्यमुं विशेषयति—'निस्यन्दं दृष्टिवादस्य' दृष्टिवादमहार्णवस्य बिन्दुभूतं—निस्यन्दकल्पम् । दृष्टिवादो हि परिकर्म १ सूत्र २ प्रथमानुयोग ३ पूर्वगत ४ चूलिका ५ रूपपञ्चप्रस्थानः । तत्र पूर्वेषु मध्ये द्वितीये **अग्रायणीया**भिधाने चतुर्दशवस्तुसमन्विते पूर्वे यत् पञ्चमं वस्तु विंशतिप्राभृतपरिमाणं तस्य चतुर्थं यत् **कर्मप्रकृति**नामकं चतुर्विंशत्यनुयोगद्वारमयं **प्राभृतं** तस्यादिमे त्रयो बन्धादयः सूत्रकृता लेशतो वक्ष्यन्ते । ततोऽयं बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां संक्षेपो दृष्टिवादस्य निस्यन्दरूपः । अनेन च प्रकरणस्य सर्वविन्मूलता ख्यापिता द्रष्टव्या । दृष्टिवादो हि भगवता परमार्हन्त्यमहिम्ना विराजमानेन **वीरवर्धमान**स्वामिना साक्षादर्थतोऽभिहितः, सूत्रतस्तु **सुधर्म**स्वामिना, तन्निस्यन्दरूपं चेदं प्रकरणमतः सर्वविन्मूलमिति ॥ १ ॥

ननु बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां संक्षेपोऽभिधातव्यः किं प्रत्येकम् ? आहोस्वित् संवेधरूपः ? उच्यते—संवेधरूपः, तथा चामुमेव संवेधरूपं संक्षेपं विवक्षुः शिष्यान् प्रश्नं कारयति—

कइ बंधंतो वेयइ, कइ कइ वा पयडिसंतठाणाणि ।　-बं/धं/
मूलुत्तरपगईसुं, भंगविगप्पा उ बोधव्वा ॥ २ ॥

कतिशब्दः परिमाणपृच्छायाम् । कति कर्मप्रकृतीर्बध्नन् कति कर्मप्रकृतीर्वेदयते ? कति वा तथातथाबध्नतो वेदयमानस्य च 'प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि' प्रकृतिसत्तास्थानानि ? । एवं शिष्यैः प्रश्ने कृते सति आचार्योऽस्मिन् विषये भङ्गजालमनेकप्रकारं वचोमात्रेण यथावत् प्रतिपादयितुमशक्यं जानानः सामान्येनैव प्रत्युत्तरमाह—"मूल" इत्यादि । मूलप्रकृतिषु—ज्ञानावरण-दर्शनावरणादिरूपासु उत्तरप्रकृतिषु च—मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणादिरूपासु, उभयीषु च वक्ष्यमाणस्वरूपासु प्रत्येकं बन्ध उदय-सत्ता-संवेधमधिकृत्य चिन्त्यमानासु बहवो भङ्गाः सम्भवन्ति, ते चास्मिन् प्रकरणे यथावद् वैविक्त्येन प्रतिपाद्यमानाः सम्यग् बोद्धव्याः । तत्र मूलप्रकृतयोऽष्टौ, तद्यथा—ज्ञानावरणं दर्शनावरणं वेदनीयं मोहनीयम् आयुः नाम गोत्रम् अन्तरायं च । तत्र ज्ञायते—परिच्छिद्यते वस्तु अनेनेति ज्ञानं—सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोधः, आव्रियतेऽनेनेत्यावरणं—मिथ्यात्वादिसचिवजीवव्यापाराहृतकर्मवर्गणान्तःपाती विशिष्टपुद्गलसमूहः, ज्ञानस्यावरणं ज्ञानावरणम् १ । तथा दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं—सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि सामान्यग्रहणात्मको बोधः, तस्यावरणं दर्शनावरणम् २ । तथा वेद्यते—आह्लादादिरूपेणानुभूयते यत् तद् वेदनीयं, यद्यपि च सर्वं कर्म वेद्यते तथापि पङ्कजादिशब्दवद् वेदनीयशब्दस्य रूढिविषयत्वात् सातासातरूपमेव कर्म वेदनीयमित्युच्यते न शेषम् ३ । तथा मोहयति—सदसद्विवेकविकलं करोत्यात्मानमिति मोहनीयम् , कृत् "बहुलम्" (सिद्धहे० ५-१-२) इति वचनात् कर्तर्यनीयः ४ । तथा एति—गच्छत्यनेन गत्यन्तरमित्यायुः, यद्वा एति—आगच्छति प्रति-

बन्धकर्ता स्वकृतकर्मावाप्तनरकादिकुगतिनिष्क्रमितुमनसो जन्तोरित्यायुः, उभयत्रापि औणादिको [1]णुस् प्रत्ययः ५ । तथा नामयति–गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम ६ । तथा गूयते–शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् तद् गोत्रम् ७ । तथा जीवं दानादिकं चान्तरा एति न जीवस्य दानादिकं कर्तुं ददातीत्यन्तरायम् ८ । एता मूलप्रकृतयः ।

एतासु प्रथमतो बन्ध-उदय-सत्ता अधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते, प्रकृतिस्थानेषु हि प्रथमं प्ररूपितेषु सत्सु तदाश्रितः संवेधः प्ररूप्यमाणः सुखेनैवावगन्तुं शक्यते । तत्र मूलप्रकृतीनामुक्तस्वरूपाणां बन्धं प्रतीत्य [2]चत्वारि प्रकृतिस्थानानि । तद्यथा—अष्टौ सप्त षड् एका च । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ, एतासां च [3]बन्धो जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, आयुषि हि बध्यमानेऽष्टानां प्रकृतीनां बन्धः प्राप्यते, आयुषश्च बन्धोऽन्तर्मुहूर्तमेव कालं भवति न ततोऽप्यधिकम् । तथा ता एवाष्टावायुर्वर्जाः सप्त, एतासां च बन्धो जघन्येनान्तर्मुहूर्तं यावद् , उत्कर्षेण च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि षण्मासोनानि अन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि । तथा ता एवाष्टावायुः-मोहनीयवर्जाः षट् , एतासां च बन्धो जघन्येनैकं समयम् , तथाहि–एतासामु[4]क्तरूपाणां षण्णां प्रकृतीनां बन्धः सूक्ष्मसम्पराये, स च उपशमश्रेण्यां कश्चिदेकं समयं भूत्वा द्वितीये समये भवक्षयेण दिवं गतः सन् अविरतो भवति, अविरतत्वे चावश्यं [5]सप्तप्रकृतीनां बन्ध इति षण्णां बन्धो जघन्येनैकं समयं यावत् , उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्त्तम् , सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । तथा सप्तानां प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदे एकस्या वेदनीयरूपायाः प्रकृतेर्बन्धः, स च जघन्येनैकं समयम् , एकसमयता चोपशमश्रेण्यामुपशान्तमोहगुणस्थाने प्रागुक्तप्रकारेण भावनीया, उत्कर्षेण पुनर्देशोनां पूर्वकोटिं यावत् ।

स चोत्कर्षतः कस्य वेदितव्यः? इति चेद् उच्यते–यो गर्भवासे माससप्तकमुषित्वाऽनन्तरं शीघ्रमेव योनिनिष्क्रमणजन्मना जातो वर्षाष्ट का[6]च्चोपरि संयमं प्रतिपन्नः, प्रतिपत्त्यनन्तरं च क्षपकश्रेणिमारुह्योत्पादितकेवलज्ञानदर्शनः, तस्य सयोगिकेवलिनो वेदितव्यः ।

तदेवं बन्धमाश्रित्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा कृता । सम्प्रति कस्यां प्रकृतौ बध्यमानायां कति प्रकृतिस्थानानि बन्धमाश्रित्य प्राप्यन्ते ? इति निरूप्यते–तत्रायुषि बध्यमानेऽष्टावपि प्रकृतयो नियमेन बध्यन्ते । मोहनीये तु बध्यमानेऽष्टौ सप्त वा । तत्राष्टौ सर्वाः प्रकृतयः, ता एवायुर्वर्जाः सप्त । ज्ञानावरण-दर्शनावरण-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायेषु बध्यमानेषु अष्टौ सप्त षड् वा । तत्राष्टौ सप्त च प्रागिव । मोहनीया-ऽऽयुर्वर्जाः षट् , ताश्च सूक्ष्मसम्पराये प्राप्यन्ते । वेदनीये तु बध्यमानेऽष्टौ

१ सं० णुसु प्र० ॥ २ सं० १ त० °त्वारि बन्धस्था° ॥ ३ सं० मुद्रि० बन्धोऽजघ° ॥
४ मुद्रि० °क्तस्वरूपा° एवमग्रेऽपि ॥ ५ सं० १ त० सप्तानां प्रकृ° ॥ ६ सं०१त०म० °कस्योप° ॥

सप्त षड् एका च । तत्राष्टौ सप्त षट् च प्रागिव । एका तु सैव वेदनीयरूपा प्रकृतिः, सा चोपशान्तमोहगुणस्थानकादौ प्राप्यते । उक्तं च—

[1]आउम्मि अट्ठ मोहेऽट्ठ सत्त एक्कं च छाइ वा तइए ।
बज्झंतयम्मि बज्झंति सेसएसु छ सत्तऽट्ठ ॥ (पञ्चसं० गा० ८३८)

सम्प्रति उदयमाश्रित्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते--उदयं प्रति त्रीणि प्रकृतिस्थानानि, तद्यथा—अष्टौ सप्त चतस्रः । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ, तासां चोदयोऽभव्यानधिकृत्य अनाद्यपर्यवसितः, भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानः, उपशान्तमोहगुणस्थानकात् प्रतिपतितानधिकृत्य पुनः सादिसपर्यवसानः, स च जघन्येनान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, उपशमश्रेणीतः प्रतिपतितस्य पुनरप्यन्तर्मुहूर्तेन कस्यापि उपशमश्रेणिप्रतिपत्तेः, उत्कर्षेण तु देशोनापार्धपुद्गलपरावर्तः । तथा ता एवाष्टौ मोहनीयवर्जाः सप्त, तासामुदयो जघन्येनैकं समयम् , तथाहि—सप्तानामुक्तस्वरूपाणां प्रकृतीनामुदय उपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा प्राप्यते, तत्र कश्चिद् उपशान्तमोहगुणस्थानके एकं समयं स्थित्वा द्वितीये समये भवक्षयेण दिवं गच्छन् अविरतो भवति, अविरतत्वे चावश्यमष्टानां प्रकृतीनामुदयः, ततः सप्तानामुदयो जघन्येनैकं समयं यावत् प्राप्यते । उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तम् , उपशान्तमोहगुणस्थानकस्य क्षीणमोहगुणस्थानकस्य वा सप्तोदयहेतोरान्तर्मौहूर्तिकत्वात् तथा घातिकर्मवर्जाश्चतस्रः प्रकृतयः, तासामुदयो जघन्येनान्तर्मौहूर्तिकः, उत्कर्षेण तु देशोनपूर्वकोटिप्रमाणः ।

तदेवं कृता उदयमधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा । सम्प्रति कस्याः प्रकृतेरुदये कति प्रकृतिस्थानान्युदयमाश्रित्य प्राप्यन्ते ? इति निरूप्यते-तत्र मोहनीयस्योदयेऽष्टानामप्युदयः, मोहनीयवर्जानां त्रयाणां घातिकर्मणामुदये अष्टानां सप्तानां वा । तत्राष्टानां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावत् , सप्तानामुपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा, वेदनीया-ऽऽयुः-नाम-गोत्राणामुदयेऽष्टानां सप्तानां चतसृणां वा उदयः । तत्राष्टानां सूक्ष्मसम्परायं यावत् , सप्तानामुपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा, चतसृणामेतासामेव वेदनीयादीनां सयोगिकेवलिनि अयोगिकेवलिनि च ।

सम्प्रति सत्तामधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते—सत्तां प्रति त्रीणि प्रकृतिस्थानानि । तद्यथा—अष्टौ सप्त चतस्रः । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ, एतासां चाष्टानां सत्ता अभव्यानधिकृत्य अनाद्यपर्यवसाना, भव्यानधिकृत्य अनादिसपर्यवसाना । तथा मोहनीये क्षीणे सप्तानां सत्ता, [2]सा च जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तप्रमाणा, सा हि क्षीणमोहे, क्षीणमोहगुणस्थानकं चान्तर्मुहूर्त-

---

१ आयुषि अष्टौ मोहेऽष्टौ सप्तैकं च षडादयो वा तृतीये । बध्यमाने बध्यन्ते शेषेषु षट् सप्ताष्टौ ॥
२ सं० १ मुद्रि० सा चाज° ॥

प्रमाणमिति। घातिकर्मचतुष्टय[1]क्षये च चतसृणां सत्ता, सा च जघन्येनान्तर्मुहूर्तप्रमाणा, उत्कर्षेण पुनर्देशोनपूर्वकोटिमाना ।

कृता सत्तामधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा। सम्प्रति कस्यां प्रकृतौ सत्यां कति प्रकृतिस्थानानि सत्तामधिकृत्य प्राप्यन्ते ? इति निरूप्यते— मोहनीये सत्यष्टानामपि सत्ता, ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायाणां सत्तायां अष्टानां सप्तानां वा सत्ता। तत्राष्टानामुपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत्, मोहनीये क्षीणे सप्तानां, सा च क्षीणमोहगुणस्थानके। वेदनीया-ऽऽयुः-नाम-गोत्राणां सत्तायामष्टानां सप्तानां चतसृणां वा सत्ता। तत्राष्टानां सप्तानां च भावना प्रागिव, चतसृणां सत्ता वेदनीयादीनामेव, सा च सयोगिकेवलिगुणस्थानके अयोगिकेवलिगुणस्थानके च द्रष्टव्या ॥२॥

सम्प्रति बन्ध-उदय-सत्ताप्रकृतिस्थानानां परस्परं संवेधप्ररूपणार्थमाह—

अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयसंताइं[2] ।
एगविहे तिविगप्पो, एगविगप्पो अबंधम्मि ॥ ३॥

अष्टविधबन्धक-सप्तविधबन्धक-षड्विधबन्धकेषु प्रत्येकमुदये सत्तायां चाष्टौ कर्माणि प्राप्यन्ते। कथम् ? इति चेद् उच्यते--इहाष्टविधबन्धका अप्रमत्तान्ताः, सप्तविधबन्धका अनिवृत्तिबादरसम्परायपर्यवसानाः, षड्विधबन्धकाश्च सूक्ष्मसम्परायाः, एते च सर्वेऽपि सरागाः। सरागत्वं च मोहनीयोदयाद् उपजायते, उदये च सत्यवश्यं सत्ता, ततो मोहनीयोदये सत्तासम्भवाद् अष्टविध-सप्तविध-षड्विधबन्धकेष्ववश्यमुदये सत्तायां चाष्टौ प्राप्यन्ते। एतेन च त्रयो भङ्गा दर्शिताः, तद्यथा---अष्टविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता। एष विकल्प आयुर्बन्धकाले, एष च मिथ्यादृष्टयादीनामप्रमत्तान्तानामवसेयो न शेषाणाम्, आयुर्बन्धासम्भवात्। तथा सप्तविधो बन्धोऽष्टविध उदयोऽष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धाभावे, एष च मिथ्यादृष्टयादीनामनिवृत्तिबादरसम्परायान्तानामवसेयः। तथा षड्विधो बन्धोऽष्टविध उदयोऽष्टविधा सत्ता, एष विकल्पः सूक्ष्मसम्परायाणाम्। "एगविहे तिविगप्पो" त्ति 'एकविधे' एकप्रकारे बन्धे एकस्मिन् केवले वेदनीये बध्यमाने इत्यर्थः, 'त्रिविकल्पः' इति समाहारद्विगुत्वेऽप्यार्षत्वात् पुंस्त्वनिर्देशः, त्रयो विकल्पा भवन्तीत्यर्थः। तद्यथा–एकविधो बन्धः सप्तविध उदयोऽष्टविधा सत्ता, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्यते, तत्र हि मोहनीयस्योदयो न विद्यते, सत्ता पुनरस्ति। तथा एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः सप्तविधा सत्ता, एष विकल्पः क्षीणमोहगुणस्थानके प्राप्यते, तत्र हि मोहनीयस्य निःशेषतोऽपगमात्। तथा एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्च-

---

१ त० छा० मुद्रि० °क्षये चत° ॥ २ सं० त० °दयसत्ता°॥

तुर्विधा सत्ता, एष पुनर्विकल्पः सयोगिकेवलिगुणस्था[1]नके, तत्र घातिकर्मणाम[2]नवयवशोऽपगमात् चतसृणां चाघातिप्रकृतीनामुदये सत्तायां च प्राप्यमाणत्वात्। "एगविगप्पो अबंधम्मि" त्ति 'अबन्धे' बन्धाभावे एक एव विकल्पः, तद्यथा—चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष चायोगिकेवलिगुणस्थानके प्राप्यते, तत्र हि योगाभावाद् बन्धो न भवति, उदय-सत्त्वे चाघातिकर्मणां भवतः ॥३॥

तदेवं मूलप्रकृतीरधिकृत्य बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां परस्परं संवेधे सप्त विकल्पा उक्ताः। सम्प्रति एतानेव जीवस्थानेषु चिन्तयन्नाह—

सत्तट्ठबंधअट्ठुदयसंत तेरससु जीवठाणेसु ।
एगम्मि पंच भंगा, दो भंगा हुंति केवलिणो ॥ ४ ॥

इह जीवस्थानानि चतुर्दश, तद्यथा-अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियः १ पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियः २ अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियः ३ पर्याप्तबादरैकेन्द्रियः ४ अपर्याप्तद्वीन्द्रियः ५ पर्याप्तद्वीन्द्रियः ६ अपर्याप्तत्रीन्द्रियः ७ पर्याप्तत्रीन्द्रियः ८ अपर्याप्तचतुरिन्द्रियः ९ पर्याप्तचतुरिन्द्रियः १० अपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियः ११ पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियः १२ अपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियः १३ पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियः १४ इति। एतानि च सप्रपञ्चं **षडशीतिकवृत्तौ** व्याख्यातानीति नेह भूयो व्याख्यायन्ते।

तत्र त्रयोदशसु आद्येषु जीवस्थानेषु प्रत्येकं द्वौ द्वौ विकल्पौ भवतः, तद्यथा--सप्तविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकालं मुक्त्वा शेषकालं सर्वदैव लभ्यते; अष्टविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकाले, एष चान्तर्मौहूर्तिकः, आयुर्बन्धकालस्य जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्। "एगम्मि पंच भंग" त्ति 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे पञ्च भङ्गा भवन्ति। तत्रादिमौ द्वौ भङ्गौ प्रागिव भावनीयौ, त्रयस्तु शेषा इमे--षड्विधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्पः सूक्ष्मसम्परायस्य उपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा वर्तमानस्य वेदितव्यः, तथा एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्यते; तथा एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः सप्तविधा सत्ता, एष च क्षीणमोहगुणस्थानके। तथा द्वौ भङ्गौ भवतः केवलिनः, तद्यथा-एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष विकल्पः सयोगिकेवलिनः, बन्धाभावे चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिनः। इह केवलिग्रहणं संज्ञिव्यवच्छेदार्थम्, द्वौ भङ्गौ भवतः केवलिनो न तु संज्ञिन इत्यर्थः। अत एव च केवलिग्रहणादिदमवसीयते केवली मनोविज्ञानरहितत्वात् संज्ञी न भवतीति ॥४॥

---

१ सं० छा० °नके प्राप्यते तत्र ॥ २ सामस्त्येनेत्यर्थः ॥

सम्प्रति तानेव सप्त विकल्पान् गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह----

अट्ठसु एगविगप्पो, छस्सु वि गुणसंनिएसु दुविगप्पो।

पत्तेयं पत्तेयं, बंधोदयसंतकम्माणं ॥५॥

इह गुणस्थानकानि चतुर्दश, तानि च षडशीतिकवृत्तौ सविस्तरमभिहितानीति नेह भूयोऽभिधीयन्ते। तत्राष्टसु गुणस्थानकेषु सम्यग्मिथ्यादृष्टि-अपूर्वकरणाऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोह क्षीणमोह-सयोगिकेवलि-अयोगिकेवलिलक्षणेषु प्रत्येकं बन्ध-उदय-सत्कर्मणामेको विकल्पो भवति, तद्यथा—सम्यग्मिथ्यादृष्टि-अपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरेषु सप्तविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता। अथैतेषु अष्टविधोऽपि बन्धः कस्माद् न भवति? उच्यते---स्वभावत एवैषामायुर्बन्धयोग्याध्यवसायस्थानशून्यत्वात्। सूक्ष्मसम्पराये षड्विधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, सूक्ष्मसम्परायो हि बादरकषायोदयाभावाद् आयुर्मोहनीयं च न बध्नाति, ततस्तस्य षड्विध एव बन्धो भवति। उपशान्तकषायस्य एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः अष्टविधा सत्ता, यत उपशान्तमोहः कषायोदयाभावाद् न ज्ञानावरणीयादि बध्नाति, किन्तु वेदनीयमेकं केवलम्, ततस्तत्रैकविध एव बन्धो भवति, मोहनीय[1]स्य चोपशान्तत्वेनोदयाभावाद् उदयः सप्तविधः। क्षीणमोहस्य एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः सप्तविधा सत्ता, अत्र मोहनीयं क्षीणत्वाद् उदये सत्तायां च न प्राप्यते, ततः सप्तविध उदयः सप्तविधा सत्ता। सयोगिकेवलिनि एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, केवली हि चतसृणामपि घातिप्रकृतीनां क्षयेण भवति, ततस्तस्य चतुर्विध एवोदयश्चतुर्विधै[2]व सत्ता। अयोगिकेवलिनो बन्धो न भवति योगाभावात्, तत्तुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता। तथा षट्सु गुणसंज्ञितेषु 'गुणस्थानकेषु' मिथ्यादृष्टि-सासादना-ऽविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तरूपेषु प्रत्येकं बन्ध-उदय-सत्कर्मणां द्वौ द्वौ विकल्पौ भवतः, तद्यथा—अष्टविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकाले, एतेषां ह्यायुर्बन्धयोग्याध्यवसायस्थानसम्भवाद् आयुर्बन्ध उपपद्यते। तथा सप्तविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकालं मुक्त्वा शेषकालं सर्वदा लभ्यते ॥ ५ ॥

तदेवं मूलप्रकृतीरधिकृत्य बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां परस्परं संवेध उक्तः स्वामित्वं च। सम्प्रति उत्तरप्रकृतीरधिकृ[3]त्य बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां परस्परं संवेधः प्रोच्यते[4] —

१ सं० १ त० 'यस्योप' ॥ २ छा० मुद्रि० 'व च सत्ता ॥ ३ सं० 'त्य प्रोच्य' ॥ ४ इत ऊर्ध्वम्—'पंच नव दुन्नि अट्ठावीसा चउरो तहेव बायाला। दुन्नि य पंच य भणिया, पयडीओ आणुपुव्वीए॥" इत्यष्टकर्मोत्तरप्रकृतिसूचकं गाथासूत्रं अस्मत्पार्श्ववर्तित्रिपाठपुस्तकादर्शेष्वेव दृश्यते; चिरन्तनताडपत्रीयकागदोपरिलिखितसूत्रगाथाटीकामिश्र (शुद्ध) पुस्तकादर्शेषु तु नोपलभ्यते। यदत्र

उत्तरप्रकृतयश्चेमाः, तद्यथा—मतिज्ञानावरणं श्रुतज्ञानावरणम् अवधिज्ञानावरणं मनःपर्यवज्ञानावरणं केवलज्ञानावरणम्, एताश्च पञ्चापि ज्ञानावरणस्योत्तरप्रकृतयः। "मन ज्ञाने" मननं मतिः, यद्वा मन्यते-इन्द्रिय-मनोद्वारेण नियतं वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मतिः, योग्यदेशावस्थितवस्तुविषय इन्द्रिय-मनोनिमित्तोऽवगमविशेषः, मतिश्च सा ज्ञानं च मतिज्ञानं तस्यावरणं मतिज्ञानावरणम् १। श्रवणं-श्रुतं अभिलापप्लावितार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिविशेषः, "एवमाकारं वस्तु घटशब्दाभिलाप्यं जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थम्' इत्यादिरूपतया प्रधानीकृतत्रिकालसाधारणसमानपरिणामः [1]शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रिय-मनोनिमित्तोऽवगमविशेष इत्यर्थः, श्रुतं च तद् ज्ञानं च श्रुतज्ञानं तस्यावरणं श्रुतज्ञानावरणम् २। तथा अवशब्दोऽधःशब्दार्थः, अव—अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते-परिच्छिद्यतेऽनेनेति अवधिः, यद्वा अवधिः-मर्यादा, रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा, तदुपलक्षितं ज्ञानमपि अवधिः, अवधिश्च तद् ज्ञानं च अवधिज्ञानं तस्यावरणं अवधिज्ञानावरणम् ३। तथा [2]परिः-सर्वतोभावे, अवनं अवः, तुदादिभ्योऽनकावित्यधिकारे अकितौ चेत्यनेनौणादिकोऽकारप्रत्ययः, अवनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवः मनःपर्यवः सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः, मनःपर्यव[3]श्च स ज्ञानं च मनःपर्यवज्ञानम्, इदं चार्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्तिसंज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनमवसेयम्, मनःपर्यायज्ञानमित्येवमप्येतदुच्यते, तत्र मनसः पर्यायाः-बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा धर्मा मनःपर्यायाः, तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्, तस्यावरणं मनःपर्यायज्ञानावरणं मनःपर्यवज्ञानावरणं वा ४। तथा केवलम्—एकं मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वात् "[4]नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" (आव० नि० गा० ५३९) इति वचनात्, शुद्धं वा केवलं तदावरणमलकलङ्कापगमात्, सकलं वा केवलं प्रथमत एवाशेषतदावरणविगमतः सम्पूर्णोत्पत्तेः, असाधारणं वा केवलं अनन्यसदृशत्वात्, अनन्तं वा केवलं ज्ञेयानन्तत्वात्, केवलं च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानम्, तस्यावरणं केवलज्ञानावरणम् ५॥

दर्शनावरणस्य नवोत्तरप्रकृतयः, तद्यथा—निद्रा १ निद्रानिद्रा २ प्रचला ३ प्रचलाप्रचला ४ स्त्यानर्द्धिः ५ चक्षुर्दर्शनावरणम् ६ अचक्षुर्दर्शनावरणम् ७ अवधिदर्शनावरणं ८ केवलदर्शनावरणं च ९। तत्र "द्रा कुत्सायां गतौ" नितरां द्राति—कुत्सितत्वम् अविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यं यस्यां सा निद्रा, भिदादित्वादङ्, यस्यां नखच्छोटिकामात्रेण स्वप्तुः प्रबोध

श्रीमद्भिर्मलयगिरिभिरष्टकर्मोत्तरप्रकृतीनां विवेचनं कृतमस्ति तद् यद्यपि उपर्युक्तगाथानुसारि दृश्यते तथापि तद्विहितान्यगाथाव्याख्यानशैल्या अस्यामदर्शनात् प्रसङ्गतः कृतमिति प्रतिभाति। अतः सम्भाव्यते केनापि विदुषा अष्टकर्मोत्तरप्रकृतिनिबद्धं गाथासूत्रं प्रक्षिप्तमिति॥ १ सं० १ त० म० °मशब्दा°॥ २ सं० १ त० म० °परि सर्व°॥ ३ त० छा० °वश्च तद् ज्ञा°॥ ४ नष्टे तु छाद्मस्थिके ज्ञाने॥

उपजायते सा स्वापावस्था निद्रा, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रा, कारणे कार्योपचारात् १। तथा निद्रातोऽतिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रा, मयूरव्यंसकादित्वाद् मध्यपदलोपी समासः, तस्यां हि चैतन्यस्यात्यन्तमस्फुटीभूतत्वाद् बहुभिर्घोलनाप्रकारैः प्रबोध उपजायते, अतः सुखप्रबोधहेतुनिद्रातोऽस्या अतिशायिनीत्वम्, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रानिद्रा २। तथा उपविष्ट ऊर्ध्वस्थितो वा प्रचलति–विघूर्णते यस्यां स्वापावस्थायां सा प्रचला, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचला ३। तथा प्रचलातोऽतिशायिनी प्रचला प्रचलाप्रचला, अत्रापि मध्यपदलोपी समासः, एषा हि चङ्क्रमणमपि कुर्वत उपतिष्ठते, ततः स्थानस्थितस्वप्तृभवप्रचलापेक्षया अस्या अतिशायिनीत्वम्, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचलाप्रचला ४। तथा स्त्याना–पिण्डीभूता ऋद्धिः–आत्मशक्तिरूपा यस्यां स्वापावस्थायां सा स्त्यानर्द्धिः, तद्भावे हि उत्कर्षतः प्रथमसंहननस्य केशवार्धबलसदृशी शक्तिर्भवति, श्रूयते चैतत् कथानकमागमे—

क्वचित् प्रदेशे कोऽपि क्षुल्लको विपाकप्राप्तस्त्यानर्द्धिनिद्रासहितो द्विरदेन दिवा खलीकृतः, ततः स तस्मिन् बद्धाभिनिवेशो रजन्यां स्त्यानर्द्ध्युदये वर्तमानः समुत्थाय तद्दन्तयुगलमुत्पाट्य स्वोपाश्रयद्वारि च प्रक्षिप्य पुनः सुप्तवान् इत्यादि।

तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि स्त्यानर्द्धिः ५। तथा चक्षुषा दर्शनं चक्षुर्दर्शनम्, तस्यावरणं चक्षुर्दर्शनावरणम् ६। अचक्षुषा–चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रिय-मनोभिर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनम्, तस्यावरणमचक्षुर्दर्शनावरणम् ७। अवधिरेव दर्शनं–रूपिद्रव्यसामान्यग्रहणमवधिदर्शनम्, तस्यावरणमवधिदर्शनावरणम् ८। केवलमेव–सकलजगद्भाविवस्तुस्तोमसामान्यग्रहणरूपं दर्शनं केवलदर्शनम्, तस्यावरणं केवलदर्शनावरणम् ९। अत्र निद्रापञ्चकं प्राप्ताया दर्शनलब्धेरुपघातकृत्, चक्षुर्दर्शनावरणादिचतुष्टयं तु मूलत एव दर्शनलब्धिमुपहन्ति। आह च गन्धहस्ती—

निद्रादयः समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते, दर्शनावरणचतुष्टयं तु उद्गमोच्छेदित्वात् समूलघातं हन्ति दर्शनलब्धिमिति॥

(तत्त्वा० अ० ८ सू० ८ भाष्यटी० भाग० २ पत्र १३५)॥

वेदनीयस्य द्वे उत्तरप्रकृती, तद्यथा—सातवेदनीयमसातवेदनीयं च। तत्र सातं–सुखं तद्रूपेण यद् वेद्यते तत् सातवेदनीयम् १। असातं–दुःखं तद्रूपेण यद् वेद्यते तद् असातवेदनीयम् २॥

मोहनीयस्योत्तरप्रकृतयोऽष्टाविंशतिः। मोहनीयं हि द्विधा, तद्यथा—दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयं च। दर्शनमोहनीयमपि त्रिधा, तद्यथा—मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वं च। तत्र

---

१ सं १ त० म० ०ष्टयं उद्गमोच्छेदित्वात् समूलघातं दर्श० ॥

यदुदयाद् जिनप्रणीततत्त्वाश्रद्धानं तद् मिथ्यात्वम् १ । यदुदयात् पुनर्जिनप्रणीतं तत्त्वं न सम्यक् श्रद्धत्ते नापि निन्दति, मतिदौर्बल्यादिना सम्यगसम्यग् वा एकान्तेन निश्चयाकरणतः सम्यक्श्रद्धानैकान्तविप्रतिपत्त्ययोगात् तत् सम्यग्मिथ्यात्वम् २ । उक्तं च शतकबृहच्चूर्णौ—

[1]जहा नालिकेरदीववासिस्स अइखुहाइयस्स वि पुरिसस्स एत्थं ओयणाइए अणेगविहे ढोइए तस्स आहारस्स उवरिं न रुई न य निंदा, जेण कारणेण सो ओयणाइओ आहारो न कयाइ दिट्ठो नावि सुओ, एवं सम्मामिच्छदिट्ठिस्स वि जीवादिपयत्थाणं उवरिं न रुई न य निंदा इत्यादि ।

यदुदयात् पुनः सम्यग् जिनप्रणीतं तत्त्वं श्रद्धत्ते तत् सम्यक्त्वम् ३ । चारित्रमोहनीयं पुनर्द्विधा, तद्यथा---कषाया नोकषायाश्च । तत्र कष्यन्ते-हिंस्यन्ते परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः--संसारः, तमयन्ते--गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कषायाः-क्रोध-मान-माया-लोभाः, ते च प्रत्येकमनन्तानुबन्धि-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनभेदाच्चतुर्विधाः तत्रा[2]नन्तं संसारमनुबध्नन्तीत्येवंशीला अनन्तानुबन्धिनः । [उक्तं च----

यस्मादनन्तं संसारमनुबध्नन्ति देहिनाम् । ततोऽनन्तानुबन्धीति, संज्ञाऽऽद्येषु निवेशिता ।।]

तथा न विद्यते स्वल्पमपि प्रत्याख्यानं येषामुदयात् तेऽप्रत्याख्यानाः । उक्तं च----

नाल्पमप्युत्सहेद् येषां, प्रत्याख्यानमिहोदयात् । अप्रत्याख्यानसंज्ञाऽतो द्वितीयेषु निवेशिता ।।

तथा प्रत्याख्यानं--सर्वविरतिरूपं आवृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणाः, कृत् "बहुलं" (सिद्धहे० ५-१-२) इति वचनात् कर्तर्यनट्, सर्वविरतिविघातिनो देशविरतिनिबन्धना इत्यर्थः । उक्तं च--

सर्वसावद्यविरतिः, प्रत्याख्यानमिहोच्यते । तदावरणसंज्ञाऽतस्तृतीयेषु निवेशिता ।।

तथा परीषहोपसर्गोपनिपाते सति चारित्रिणमपि सम्--ईषद् ज्वलयन्तीति संज्वलनाः । [उक्तं च--

परीषहोपसर्गोपनिपाते यतिमप्यमी । समीषज्ज्वलयन्त्येव, तेन संज्वलनाः स्मृताः ।।]

चत्वारश्चतुर्गुणिताः षोडश भवन्तीति कृत्वा षोडश कषायाः ।

तथा क[3]षायसहचारिणो नोकषायाः । नोशब्दोऽत्र सहचारवाची । कषायसहचारित्वं च कषायैः सह सदा वर्तनात् कषायोद्दीपनाद्वा । उक्तं च--

क[4]षायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि । हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता ।।

---

१ यथा नालिकेरद्वीपवासिनोऽतिक्षुधार्दितस्यापि पुरुषस्य अत्र ओदनादिकेऽनेकविधे ढौकिते तस्याहारस्योपरि न रुचिर्न च निन्दा, येन कारणेन स ओदनादिक आहारो न कदाचिद् दृष्टो नापि श्रुतः, एवं सम्यग्मिथ्यादृष्टेरपि जीवादिपदार्थानामुपरि न रुचिर्न च निन्दा ।।

२ सं० सं० १ त० ० नन्तसंसा० ।। ३ सं० १ त० म० ०षायैः सह ।। ४ मुद्रि० ०षायैः सह ।।

ते च नोकषाया नव, तद्यथा----वेदत्रिकं हास्यादिषट्कं च। तत्र वेदत्रिकं-स्त्रीवेदः पुरुष--वेदो नपुंसकवेदश्च। तत्र यदुदयात् स्त्रियाः पुंस्यभिलाषः पित्तोदये मधुराभिलाषवत् स स्त्रीवेदः१। यदुदयाच्च पुंसः स्त्रियामभिलाषः श्लेष्मोदयादम्लाभिलाषवत् स पुरुषवेदः २। यदुदयात् पुनः स्त्रीपुंसयोरुपर्यभिलाषः पित्तश्लेष्मोदये मज्जिकाभिलाषवत् स नपुंसकवेदः ३। हास्यादिषट्कं हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सारूपम्। तत्र यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति तद् हास्यमोहनीयम् १। यदुदयाद् बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु प्रमोदमाधत्ते तद् रतिमोहनीयम् २। यदुदयात् पुनर्बाह्याभ्यन्तरेष्वेव वस्तुष्वप्रीतिरुपजायते तद् अरतिमोहनीयम् ३। तथा यदुदय-वशात् प्रियविप्रयोगे सोरस्ताडमाक्रन्दति परिदेवते दीर्घं च निःश्वसिति भूपीठे च लुठति तत् शोक-मोहनीयम्४। यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा तथारूपस्वसङ्कल्पतो बिभेति तद् भयमोहनीयम्५। यदुदयवशात् पुनर्जन्तोः शुभा-ऽशुभवस्तुविषयं व्यलीकमुपजायते तद् जुगुप्सामोहनीयम् ६ ॥

आयुषश्चतस्र उत्तरप्रकृतयः, तद्यथा—नरकायुस्तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्देवायुश्च ॥

नाम्नो द्विचत्वारिंशदुत्तरप्रकृतयः, तद्यथा--गतिनाम जातिनाम शरीरनाम अङ्गोपाङ्गनाम बन्धननाम सङ्घातनाम संहनननाम संस्थाननाम वर्णनाम गन्धनाम रसनाम स्पर्शनाम आनु-पूर्वीनाम विहायोगतिनाम त्रसनाम स्थावरनाम बादरनाम सूक्ष्मनाम पर्याप्तनाम अपर्याप्त-नाम प्रत्येकनाम साधारणनाम स्थिरनाम अस्थिरनाम शुभनाम अशुभनाम सुस्वरनाम दुःस्वर-नाम सुभगनाम दुर्भगनाम आदेयनाम अनादेयनाम यशःकीर्तिनाम अयशःकीर्तिनाम अगुरुलघु-नाम उपघातनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम आतपनाम उद्योतनाम निर्माणनाम तीर्थकरनाम चेति।

तत्र गम्यते—तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यत इति गतिः—नारकत्वादिपर्यायपरिणतिः। सा चतुर्धा, तद्यथा—नरकगतिः तिर्यग्गतिः मनुष्यगतिः देवगतिश्च। तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि गतिश्चतुर्धा।

तथा एकेन्द्रियादीनामेकेन्द्रियत्वादिरूपसमानपरिणतिलक्षणमेकेन्द्रियादिशब्दव्यपदेशभाग् यत् सामान्यं सा जातिः, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि जातिः। इदमत्र तात्पर्यं—द्रव्य-रूपमिन्द्रियमङ्गोपाङ्गेन्द्रियपर्याप्तिनामकर्मसामर्थ्यात् सिद्धम्, भावरूपं तु स्पर्शनादीन्द्रियावरण-क्षयोपशमसामर्थ्यात् "क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि" इति वचनात्। यत् पुनरेके-न्द्रियादिशब्दप्रवृत्तिनिबन्धनं तथारूपसमानपरिणतिलक्षणं सा[1]मान्यं तदव्यभिचारसाध्यत्वाद् जातिनामसाध्यम्। उक्तं च—

१ सं० सं० १ म० त० ०मान्यं तदनन्यसाध्य० ॥

अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा जातिः तन्निमित्तं जातिनाम । तच्च पञ्चधा, तद्यथा—एकेन्द्रियजातिनाम द्वीन्द्रियजातिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम चतुरिन्द्रियजातिनाम पञ्चेन्द्रियजातिनाम ।

तथा शीर्यत इति शरीरम्, तत् पञ्चधा—औदारिकं वैक्रियम् आहारकं तैजसं कार्मणं च । तत्र उदारं-प्रधानम्, प्राधान्यं चास्य तीर्थकरगणधरशरीरापेक्षया, ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्यापि अनन्तगुणहीनत्वात्, यद्वा उदारं-सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात् शेषशरीरापेक्षया बृहत्प्रमाणम्, बृहत्ता चास्य वैक्रियं प्रति भवधारणीयसहजशरीरापेक्षया द्रष्टव्या, अन्यथा उत्तरवैक्रियं योजनलक्षमानमपि लभ्यते, उदारमेव औदारिकम्, विनयादिपाठादिकण्, तन्निबन्धनं नाम औदारिकनाम, यदुदयवशाद् औदारिकशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय औदारिकशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयति तद् औदारिकशरीरनामेत्यर्थः १ । एवं शेषशरीरनामस्वपि भावना कार्या । तथा विविधा क्रिया विक्रिया, तस्यां भवं वैक्रियम्, तथाहि—तदेकं भूत्वाऽनेकं भवति अनेकं भूत्वा एकम्, अणु भूत्वा महद् भवति महच्च भूत्वाऽणु, तथा खचरं भूत्वा भूमिचरं भवति भूमिचरं भूत्वा खचरम्, तथा अदृश्यं भूत्वा दृश्यं भवति दृश्यं भूत्वाऽदृश्यमित्यादि । तच्च द्विधा—औपपातिकं लब्धिप्रत्ययं च । तत्रौपपातिकं उपपातजन्मनिमित्तम्, तच्च देव-नारकाणाम् । लब्धिप्रत्ययं तिर्यङ्-मनुष्याणाम् । वैक्रियनिबन्धनं नाम वैक्रियनाम २ । तथा चतुर्दशपूर्वविदा तीर्थकरस्फातिदर्शनादिकतथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ सत्यां विशिष्टलब्धिवशाद् आह्रियते—निर्वर्त्यते इत्याहारकम्, कृत् "बहुलम्" (सिद्धहे० ५-१-२) इति वचनात्, कर्मणि वुञ् यथा पादहारक इत्यादौ, तच्च वैक्रियापेक्षयाऽत्यन्तशुभं स्वच्छस्फटिकशिलेव शुभ्रपुद्गलसमूहघटना[1]त्मकं वस्तुप्रतिबिम्बाधारभूतम्, तन्निबन्धनं नाम आहारकनाम ३ तथा तेजसा—तेजःपुद्गलैर्निर्वृत्तं तैजसम्, यद् भुक्ताहारपरिणमनहेतुः यद्वशाच्च विशिष्टतपोमाहात्म्यसमुत्थलब्धिविशेषस्य पुंसस्तेजोलेश्याविनिर्गमः, तन्निबन्धनं नाम तैजसनाम ४ । तथा कर्मणो विकारः कार्मणम्, कर्मपरमाणव एवात्मप्रदेशैः सह क्षीर-नीरवदन्योऽन्यानुगताः सन्तः कार्मणं शरीरम् । तदुक्तं—

कम्मविगारो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्नं ।

सव्वेसि सरीराणं, कारणभूयं मुणेयव्वं ।।[2] (अनुयो० हा० टी० पत्र ८७)

---

१ सं० सं १ त० ०त्मकं तन्नि० ।। २ कर्मविकारः कार्मणमष्टविधविचित्रकर्मनिष्पन्नम् । सर्वेषां शरीराणां कारणभूतं ज्ञातव्यम् ।।

अत्र "सव्वेसिं" इति सर्वेषाम्—औदारिकादीनां शरीराणां 'कारणभूतं' बीजभूतं कार्मणशरीरम् । न खल्वामूलमुच्छिन्ने भवप्रपञ्चप्ररोहबीजभूते कार्मणे वपुषि शेषशरीरप्रादुर्भावसम्भवः ।

इदं च कार्मणशरीरं जन्तोर्गत्यन्तरसङ्क्रान्तौ साधकतमं करणम्, तथाहि—कार्मणेनैव वपुषा परिकरितो जन्तुर्मरणदेशमपहाय उत्पत्तिदेशमभिसर्पति । ननु यदि कार्मणवपुःपरिकरितो गत्यन्तरं सङ्क्रामति तर्हि स गच्छन्नागच्छन् वा कस्माद् नोपलक्ष्यते ? उच्यते—कर्मपुद्गलानामतिसूक्ष्मतया चक्षुरादीन्द्रियागोचरत्वात् । आह च प्रज्ञाकरगुप्तोऽपि---

अन्तरा भवदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वान्नोपलक्ष्यते ।
निष्क्रामन् प्रविशन् वापि, नाभावोऽनीक्षणादपि ॥

तन्निबन्धनं नाम कार्मणनाम, यदुदयात् कर्मप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय कर्मरूपतया च परिणमय्य जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्ध[1]यति ५ ।

तथा अङ्गान्यष्टौ शिरःप्रभृतीनि, तदुक्तम्--

[2]सीसमुरोयर पिट्ठी, दो बाहू ऊरुया य अट्ठंगा । (बृहत्कर्म०वि०गा० ९१)

अङ्गुल्यादीन्युपाङ्गानि, शेषाणि तु तत्प्रत्यवयवभूतानि अङ्गुलिपर्व-रेखादीनि अङ्गोपाङ्गानि । अङ्गानि च उपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि अङ्गोपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि, "स्यादावसङ्ख्येयः" (सिद्धहे० ३-१-११९) इत्येकशेषः, तन्निबन्धनं नाम अङ्गोपाङ्गनाम। तत् त्रिधा तद्यथा--- औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम आहारकाङ्गोपाङ्गनाम । तत्र यदुदयाद् औदारिकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तद् औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम १, एवं वैक्रिया-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नी अपि २-३ भावनीये । तैजस-कार्मणयोस्तु जीवप्रदेशसंस्थानानुरोधित्वात् नाङ्गोपाङ्गसम्भव इति न तन्निब[3]न्धनमङ्गोपाङ्गनाम ।

तथा बध्यतेऽनेनेति बन्धनम् , यदुदयाद् औदारिकादिपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परमन्यशरीरपुद्गलैश्च सह सम्बन्धः । तत् पञ्चधा, तद्यथा----औदारिकबन्धनं वैक्रियबन्धनम् आहारकबन्धनं तैजसबन्धनं कार्मणबन्धनम् । तत्र यदुदयाद् औदारिकपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं तैजसादिशरीरपुद्गलैश्च सह सम्बन्धः तद् औदारिकबन्धनम् १ । एवं वैक्रियबन्धनम् २ आहारकबन्धनं ३ च भावनीयम् । यदुदयात् पुनस्तैजसपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं कार्मणशरीरपुद्गलैश्च सह सम्बन्धस्तत् तैजसबन्धनम् ४ । यदुदयात् कर्मपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं सम्बन्धस्तत् कार्मणबन्धनम्

---

१ सं० १ त० म० ०यति' तत् कार्मणशरीरनामेत्यर्थः ॥ २ शीर्षमुरः उदरं पृष्ठिः द्वौ बाहू ऊरुकौ च अष्ट अङ्गानि ॥३ सं० छा० मुद्रि० ०न्धनं नाम ॥

९। केचित् पुनर्बन्धनस्य पञ्चदश भेदानाचक्षते, ते च पञ्चसङ्ग्रहादिग्रन्थतो वेदितव्याः।

तथा सङ्घात्यन्ते- पिण्डीक्रियन्ते औदारिकादिपुद्गला येन तत् सङ्घातम्, तच्च तन्नाम च सङ्घातनाम, तच्च पञ्चधा, तद्यथा---औदारिकसङ्घातनाम वैक्रियसङ्घातनाम आहारकसङ्घातनाम तैजससङ्घातनाम कार्मणसङ्घातनाम। तत्र यदुदयाद् औदारिकपुद्गला ये यत्र योग्यास्तान् तत्र सङ्घातयति, यथा----शिरोयोग्यान् शिरसि, पादयोग्यान् पादयोः, शेषाङ्गयोग्यान् शेषाङ्गेषु तद् औदारिकसङ्घातनाम। एवं वैक्रियसङ्घातनामादिष्वपि भावनीयम्।

तथा संहननं--अस्थिरचनाविशेषः, तच्चौदारिकशरीरे एव नान्येषु शरीरेषु, तेषां अस्थि-रहितत्वात्। तच्च षोढा, तद्यथा---वज्रर्षभनाराचम् ऋषभनाराचं नाराचम् अर्धनाराचं कीलिका सेवार्तं च। तत्र वज्रं--कीलिका, ऋषभः- परिवेष्टनपट्टः, नाराचम्--उभयतो मर्कटबन्धः।

उक्तं च----

[1]रिसहो य होइ पट्टो, वज्जं पुण कीलिया मुणेयव्वा।
उभओ मक्कडबंधो, नारायं तं वियाणाहि॥ (बृहत्कर्म० वि० गा० १०९)

ततश्च द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः पट्टाकृतिना तृतीयेनास्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तद-स्थित्रयभेदि कीलिकाख्यं--वज्रनामकमस्थि यत्र भवति तद् वज्रर्षभनाराचम्, तन्निबन्धनं नाम वज्रर्षभनाराचनाम १। यत् पुनः कीलिकारहितं संहननं तद् ऋषभनाराचम्, तन्निबन्धनं नाम ऋषभनाराचनाम २। यत्र पुनर्मर्कटबन्ध एव केवलो भवति न पुनः कीलिका ऋषभसंज्ञः पट्टश्च तद् नाराचम्, तन्निबन्धनं नाम नाराचनाम ३। यत्र त्वेकपार्श्वेन मर्कटबन्धो द्वितीयपार्श्वेन च कीलिका भवति तद् अर्धनाराचम्, तन्निबन्धनं नाम अर्धनाराचनाम ४। यत्र त्वस्थीनि कीलिका-मा[2]त्रविद्धान्येव भवन्ति तत् कीलिकासंहननम्, तन्निबन्धनं नाम कीलिकानाम ५। यत्र तु पर-स्परं पर्यन्तसंस्पर्शलक्षणां सेवामागतान्यस्थीनि भवन्ति स्नेहाभ्यवहारतैलाभ्यङ्गविश्रामणादिरूपां च परिशीलनां नि[3]त्यमपेक्षन्ते यत्र तद् सेवार्तम् तन्निबन्धनं नाम सेवार्तनाम ६।

तथा संस्थानम्--आकारविशेषः, तच्च षोढा, तद्यथा--समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमण्डलं सादि वामनं कुब्जं हुण्डं चेति। तत्र समाः--यथोक्तप्रमाणाश्चतस्रोऽस्रयः--चतुर्दिग्विभागोपलक्षिताः शरीरावयवा यस्य तत् समचतुरस्रम्, समासान्तोऽत्प्रत्ययः, समचतुरस्रसंस्थाननिबन्धनं नाम समचतुरस्रनाम १। तथा न्यग्रोधवत् परिमण्डलं यस्य तद् न्यग्रोधपरिमण्डलम्, यथा न्यग्रोध उपरि सम्पूर्णावयवोऽधस्तु हीनस्तथा यत् संस्थानं नाभेरुपरि सम्पूर्णप्रमाणम्, अधस्तु न तथा तद् न्यग्रोधपरिमण्डलम्, तन्निबन्धनं नाम न्यग्रोधपरिमण्डलनाम २। तथा सह आदिना--

१ ऋषभश्च भवति पट्टो वज्रं पुनः कीलिका ज्ञातव्या। उभयतो मर्कटबन्धो नाराचं तद् विजा-नीहि॥ २ सं० छा० म० ०त्रबद्धा०॥ ३ छा० ०त्यमियर्ति येन त०॥

नाभेरधस्तनभागरूपेण यथोक्तप्रमाणयुक्तेन वर्तत इति सादि, सर्वमपि हि शरीरं सादि ततः सादित्वविशेषणान्यथानुपपत्तेरादिरिह विशिष्टो ज्ञातव्यः, ततो यत्र नाभेरधो यथोक्तप्रमाणयुक्त-मुपरि च हीनं तत् सादिसंस्थानम्, तन्निबन्धनं नाम सादिनाम ३। तथा यत्र शिरः-ग्रीवं हस्त-पादादिकं च यथोक्तप्रमाणोपपन्नं उरः-उदरादि च मण्डभं तत् कुब्जसंस्थानम्, तन्निबन्धनं नाम कुब्जनाम ४। यत्र पुनरुरः-उदरादि यथोक्तप्रमाणोपेतं हस्तपादादिकं च हीनं तत् संस्थानं वामनम्, तन्निबन्धनं नाम वामननाम ५। यत्र सर्वेऽप्यवयवा यथोक्तप्रमाणहीनास्तत् संस्थानं हुण्डम्, तन्निबन्धनं नाम हुण्डनाम।

तथा वर्ण्यते—अलङ्क्रियते शरीरमनेनेति वर्णः, तन्निबन्धनं नाम वर्णनाम, तत् पञ्चधा, तद्यथा----शुक्लनाम कृष्णनाम नीलनाम हारिद्रनाम लोहितनाम। तत्र यदुदयाद् जन्तुशरीरेषु शुक्लो वर्णो भवति तत् शुक्लनाम। एवं शेषाण्यपि भावनीयानि।

तथा "गन्ध अर्दने" गन्ध्यते—आघ्रायते इति गन्धः, तन्निबन्धनं नाम गन्धनाम, तद् द्विधा—सुरभिगन्धनाम दुरभिगन्धनाम। तत्र यदुदयात् शरीरेषु गन्धः सुरभिरुपजायते तत् सुरभिगन्धनाम, यदुदयात् पुनर्दुरभिगन्धो भवति तद् दुरभिगन्धनाम।

तथा रस्यते—आस्वाद्यते इति रसः, तन्निबन्धनं नाम रसनाम, तत् पञ्चधा, तद्यथा—तिक्तनाम कटुनाम कषायनाम अम्लनाम मधुरनाम। तत्र यदुदयाद् जन्तुशरीरेषु तिक्तो रसो भवति तत् तिक्तनाम। एवं शेषाण्यपि भावनीयानि।

तथा स्पृश्यत इति स्पर्शः, तन्निबन्धनं नाम स्पर्शनाम, तदष्टधा, तद्यथा--मृदुनाम कर्कश-नाम गुरुनाम लघुनाम स्निग्धनाम रूक्षनाम शीतनाम उष्णनाम। तत्र यदुदयाद् जन्तुशरीरेषु मृदुः स्पर्शो भवति तद् मृदुस्पर्शनाम। एवं शेषाण्यपि भावनीयानि।

तथा कूर्पर-लाङ्गल-गोमूत्रिकाकाररूपेण यथाक्रमं द्वि-त्रि-चतुःसमयप्रमाणेन विग्रहेण भवा-न्तरोत्पत्तिस्थानं गच्छतो जीवस्यानुश्रेणि गमनं आनुपूर्वी, तन्निबन्धनं नाम आनुपूर्वीनाम, तत् चतुर्विधम्, तद्यथा—नरकानुपूर्वीनाम तिर्यगानुपूर्वीनाम मनुष्यानुपूर्वीनाम देवानुपूर्वीनाम।

तथा विहायसा गतिः—गमनं विहायोगतिः। ननु सर्वगतत्वाद् विहायसस्ततोऽन्यत्र गतिरेव न सम्भवतीति किमर्थं विहायसा विशेषणम्? सत्यमेतत्, किन्तु यदि गतिरित्येवोच्येत तर्हि नाम्नः प्रथमप्रकृतिरपि गतिरस्तीति पौनरुक्त्याशङ्का स्यात् ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं विहायसा विशे-षणम्, विहायसा गतिः न तु नारकत्वादिपर्यायपरिणतिरूपा[२] गतिः विहायोगतिः, तन्निबन्धनं

१ छा० ०ण्डहं-प्रमाणरहितं तत् संस्थानं कुब्ज० ॥ २ सं० १ त० म० ०पा विहायोग० ॥

नाम विहायोगतिनाम, तद् द्विविधम्—प्रशस्तविहायोगतिनाम अप्रशस्तविहायोगतिनाम । तत्र यदुदयाद् जन्तोः प्रशस्ता विहायोगतिर्भवति यथा हंसादीनां तद् प्रशस्तविहायोगतिनाम १ । यदुदयात् पुनरप्रशस्ता विहायोगतिर्भवति यथा खरादीनां तद् अप्रशस्तविहायोगतिनाम २ ।

एताश्च गत्यादयो विहायोगतिपर्यन्ताश्चतुर्दश प्रकृतयः शास्त्रान्तरे पिण्डप्रकृतय इति विश्रुताः, अनेकावान्तरभेदपिण्डात्मकाः प्रकृतयः पिण्डप्रकृतय इति व्युत्पत्तेः ।

तथा त्रसन्ति—उष्णाद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानाद् उद्विजन्ते गच्छन्ति च छायाद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसाः—द्वीन्द्रियादयः, तत्पर्यायपरिणतिहेतुर्नाम त्रसनाम । तद्विपरीतं स्थावरनाम, यदुदयाद् उष्णाद्यभितापेऽपि तत्स्थानपरिहारासमर्थाः पृथिवी-अप्-तेजः-वायु-वनस्पतयः स्थावरा जायन्ते ।

तथा बादरनाम, यदुदयाद् जीवा बादरा भवन्ति, बादरत्वं च परिणामविशेषः, यद्वशात् पृथिव्यादेरेकैकस्य जन्तुशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वाभावेऽपि बहूनां समुदाये चक्षुर्ग्रहणं भवति । तद्विपरीतं सूक्ष्मनाम, यदुदयाद् न कदाचिदपि जन्तुशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यता भवति ।

पर्याप्तकनाम, यदुदयात् स्वयोग्यपर्याप्तिनिर्वर्तनसमर्थो भवति, पर्याप्तिः—आहारादिपुद्गलग्रहण-परिणमनहेतुरात्मनः शक्तिविशेष[1]ः, सा च षोढा, तद्यथा— आहारपर्याप्तिः शरीरपर्याप्तिः इन्द्रियपर्याप्तिः उच्छ्वासपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मनःपर्याप्तिश्च । तत्र यया बाह्यमाहारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति सा आहारपर्याप्तिः १ । यया रसीभूतमाहारं रसा-ऽसृग्-मांस-मेदः-अस्थि-मज्जा-शुक्रलक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्तिः २ । यया धातुरूपतया परिणमितमाहारमिन्द्रियरूपतया परिणमयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः ३ । यया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणादलिकमादाय उच्छ्वासरूपतया परिणमय्य आलम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्याप्तिः ४ । यया तु भाषाप्रायोग्यवर्गणादलिकं गृहीत्वा भाषात्वेन परिणमय्य आलम्ब्य च मुञ्चति सा भाषापर्याप्तिः ५ । यया पुनर्मनोयोग्यवर्गणादलिकमादाय मनस्त्वेन परिणमय्य आलम्ब्य च मुञ्चति सा मनःपर्याप्तिः ६ । एताश्च यथाक्रममेकेन्द्रियाणां संज्ञिवर्जानां द्वीन्द्रियादीनां संज्ञिनां च चतुः-पञ्च-षट्सङ्ख्या भवन्ति । पर्याप्तकनामविपरीतमपर्याप्तकनाम, यदुदयात् स्वयोग्यपर्याप्तिपरिसमाप्तिसमर्थो न भवति ।

प्रत्येकनाम, यदुदयाद् एकैकस्य जन्तोरेकैकमौदारिकं वैक्रियं वा शरीरं भवति । तद्विपरीतं साधारणनाम, यदुदयाद् अनन्तानां जीवानामेकमौदारिकं शरीरं भवति ।

---

१ सं० १ त० म० ०षः, स च ॥

तथा यदुदयात् शिरः-अस्थिग्रीवादीनामवयवानां स्थिरता भवति तत् स्थिरनाम । यदुदयात्-भ्रू-जिह्वादीनामवयवानामस्थिरता भवति तद् अस्थिरनाम ।

यदुदयवशाद् नाभेरुपर्यवयवाः शुभा भवन्ति तत् शुभनाम । यदुदयवशाद् नाभेरधः पादादयोऽवयवा अशुभा भवन्ति तद् अशुभनाम । शिरसा हि स्पृष्टस्तुष्यति, पादेन तु रुष्यति । कामिन्याः पादेनापि स्पृष्टस्तुष्यति ततो व्यभिचार इति चेद्, न, तत्तोषस्य मोहनीयनिबन्धनत्वात् , वस्तुस्थितिश्चेह चिन्त्यते ततोऽदोषः ।

तथा यदुदयवशाद् जीवस्य स्वरः श्रोत्रप्रीतिहेतुरुपजायते तत् सुस्वरनाम । यदु[1]दयात् स्वरः कर्णकटुः प्रादुर्भवति तद् दुःस्वरनाम ।

यदुदयवशाद् अनुपकार्यपि सर्वस्य मनःप्रियो भवति तत् सुभगनाम । यदुदयवशाद् उपकारकृदपि जनस्य द्वेष्यो भवति तद् दुर्भगनाम, उक्तं च—

[2]अणुवकए वि बहूणं, होइ पिओ तस्स सुभगनामुदओ ।
उवगारकारगो वि हु, न रुच्चई दूभगस्सुदए ॥
सुभगुदए वि हु [3]कोई, कंची आसज्ज दुब्भगो जइ वि ।
जायइ तद्दोसाओ, जहा अभव्वाण तित्थयरो ॥

यदुदयवशाद् यत् किञ्चिदपि ब्रुवाणः सर्वस्योपादेयवचनो भवति दर्शनसमनन्तरमेव च लोकोऽभ्युत्थानादि समाचरति तद् आदेयनाम । यदुदयवशाद् उपपन्नमपि ब्रुवाणो नोपादेयवचनो भवति, न च लोकोऽभ्युत्थानादि तस्य करोति तद् अनादेयनाम ।

यदुदयवशाद् मध्यस्थजनप्रशस्यो भवति तद् यशःकीर्तिनाम । यदुदयवशाद् मध्यस्थजनस्यापि अप्रशस्यो भवति तद् अयशःकीर्तिनाम । यशः-कीर्त्योश्चायं विशेषः—

दानपुण्यकृता कीर्तिः, पराक्रमकृतं यशः ।

अथवा—

एकदिग्गामिनी कीर्तिः, सर्वदिग्गामुकं यशः ।

तथा यदुदयवशाद् जीवानां शरीराणि न गुरूणि नापि लघूनि नापि गुरुलघूनि किन्त्वगुरुलघुपरिणामपरिणतानि भवन्ति तद् अगुरुलघुनाम । यदुदयवशात् स्वशरीरान्तःप्रवर्धमानैः प्रतिजिह्वा-गलवृन्द-लम्बक-चोरदन्तादिभिर्जन्तुरुपहन्यते तद् उपघातनाम । यदुदयवशाद् ओजस्वी

१ सं० १ त० ०दयवशात् ॥ २ अनुपकृतेऽपि बहूनां भवति प्रियस्तस्य सुभगनामोदयः । उपकारकारकोऽपि हि न रुच्यते दुर्भगस्योदये ॥ सुभगोदयेऽपि हि कोऽपि कञ्चिद् आसाद्य दुर्भगो यद्यपि । जायते तद्दोषाद् यथाऽभव्यानां तीर्थकरः ॥ ३ सं० १ त० म० जीवो, कं° ॥

दर्शनमात्रेण वाक्सौष्ठवेन वा महानृपसभामपि गतः सभ्यानामपि क्षोभमापादयति प्रतिपक्षप्रतिभाप्रतिघातं च करोति तत् पराघातनाम । यदुदयवशाद् उच्छ्वास-निःश्वासलब्धिरुपजायते तद् उच्छ्वासनाम। यदुदयवशाद् जन्तुशरीराणि भानुमण्डलगतपृथिवीकायिकरूपाणि स्वरूपेणाऽनुष्णान्यपि उष्णप्रकाशलक्षणमातपं कुर्वन्ति तद् आतपनाम । आतपनामोदयश्च वह्निशरीरे न भवति, सूत्रे प्रतिषेधात्; तत्रोष्णत्वमुष्णस्पर्शनामोदयात्, उत्कटलोहितवर्णनामोदयाच्च प्रकाशकत्वमिति।

तथा यदुदयवशाद् जन्तुशरीराणि अनुष्णप्रकाशरूपमुद्योतमातन्वन्ति यथा यति देवोत्तरवैक्रिय-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र-तारा-रत्न-औषधयः तद् उद्योतनाम । यदुदयवशाद् जन्तुशरीरेष्वङ्ग प्रत्यङ्गानां प्रतिनियतस्थानवर्तिता भवति तद् निर्माणनाम । यदुदयवशाद् अष्टमहाप्रातिहार्यप्रमुखाश्चतुस्त्रिंशदतिशयाः प्रादुर्भवन्ति तत् तीर्थकरनाम । इह पिण्डप्रकृतीनामवान्तरभेदगणने पञ्चषष्टिर्भवति, शेषाश्च प्रकृतयोऽष्टाविंशतिः, ततः सर्वसङ्ख्यया नाम उत्तरभेदास्त्रिनवतिः ॥

गोत्रस्योत्तरप्रकृती द्वे, तद्यथा—उच्चैर्गोत्रं च नीचैर्गोत्रं च । तत्र यदुदयादुत्तमजातिकुलप्राप्तिः सत्काराभ्युत्थानाञ्जलिप्रग्रहादिरूपपूजा [1]लाभसम्भवश्च तदुच्चैर्गोत्रम्, तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम् ॥

अन्तरायस्योत्तरप्रकृतयः पञ्च, तद्यथा—दानान्तरायं लाभान्तरायं भोगान्तरायम् उपभोगान्तरायं वीर्यान्तरायं च । तत्र यदुदयवशात् सति विभवे समागते च गुणवति पात्रे 'दत्तमस्मै बहुफलम्' इति जानन्नपि दातुं नोत्सहते तद् दानान्तरायम् १ । यदुदयवशात् पुनः प्रसिद्धादपि दातुर्गृहे विद्यमानमपि देयमर्थजातं याञ्चाकुशलो गुणवानपि याचको न लभते तद् लाभान्तरायम् २ । यदुदयात्तु सत्यपि विशिष्टाहारादौ असति च प्रत्याख्यानपरिणामे केवलकार्पण्याशक्त्यादि-कारणवशाद् नोत्सहते विशिष्टाहारादि भोक्तुं तद् भोगान्तरायम् ३ एवमेवोपभोगान्तरायमपि । नवरं भोगोपभोगयोरयं विशेषः—सकृद् भुज्यत इति भोगः, पुनः पुनर्भुज्यत इत्युपभोगः ४ । उक्तं च—

[2]सइ भुज्जइ त्ति भोगो, सो पुण आहारपुप्फमाईओ ।
उवभोगो उ पुणो पुण, उवभुज्जइ भवणविलयाई ॥ (बृहत्कर्म० वि० गा० १६५)

तथा यदुदयवशात् सत्यपि नीरुजि शरीरे यूनोऽप्यल्पप्राणता भवति तद् वीर्यान्तरायम् ५ ॥

इह बन्धे उदये च बन्धनानि सङ्घातनामानि च स्वशरीरनामग्रहणेनैव गृहीतानि विवक्ष्यन्ते, तद्यथा—औदारिकशरीरनामग्रहणेन औदारिकबन्धन-सङ्घातनाम्नी, वैक्रियशरीरनाम-ग्रहणेन वैक्रियबन्धन-सङ्घातनाम्नी इत्यादि । वर्णादीनां चावान्तरभेदा न विवक्ष्यन्ते । तथा बन्धे

---

१ सं० १ त० म० ०लाभादिसं०॥ २ सकृद् भुज्यत इति भोगः स पुनराहारपुष्पादिकः । उपभोगस्तु पुनः पुनरुपभुज्यते भवनवनितादि ॥

सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे न भवतः, यतो मिथ्यात्वपुद्गलानामेव जीवः सम्यक्त्वगुणेन मिथ्यात्वरूपतामपनीय केषाञ्चिदत्यन्तविशुद्धिमापादयति, अपरेषां त्वीषद्विशुद्धिम् , केचित् पुनर्मिथ्यात्वरूपा एवावतिष्ठन्ते; तत्र येऽत्यन्तविशुद्धास्ते सम्यक्त्वव्यपदेशभाजः, ईषद्विशुद्धाः सम्यग्मिथ्यात्वव्यपदेशभाजः, शेषा मिथ्यात्वमिति । उक्तं च--

सम्यक्त्वगुणेन ततो, विशोधयति कर्म तत् स मिथ्यात्वम् ।
यद्वत् शकृत्प्रमुखैः, शोध्यन्ते कोद्रवा मदनाः ॥
यत् सर्वथाऽपि तत्र विशुद्धं तद् भवति कर्म सम्यक्त्वम् ।
मिश्रं तु दरविशुद्धं, भवत्यशुद्धं च मिथ्यात्वम् ॥

उदये पुनः सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे अपि भवतः । ततो बन्धे उत्तरप्रकृतीनां विंशं शतम् , उदये च द्वाविंशं शतम्, सत्तायां च बन्धनानि सङ्घातनामानि च पृथग् विवक्ष्यन्ते, वर्णादीनां चावान्तरभेदाः पृथग् गण्यन्ते, ततः सर्वसङ्ख्यया सत्तायामष्टचत्वारिंशं शतमुत्तरप्रकृती[1]नामिति ॥

तदेवं कृता उत्तरप्रकृतीनां प्ररूपणा । सम्प्रति ज्ञानावरणीयस्य तत्तुल्यत्वादन्तरायस्य चोत्तरप्रकृतीरधिकृत्य बन्धादिस्थानप्ररूपणार्थमाह--

बंधोदयसंतंसा, नाणावरणंतराइए पंच ।
बंधोवरमे वि तहा, उदसंता हुंति पंचेव ॥ ६ ॥

ज्ञानावरणे अन्तराये च प्रत्येकं बन्ध-उदय-सत्तारूपा अंशाः 'पञ्च' पञ्चप्रकृत्यात्मकाः । इदमुक्तं भवति--ज्ञानावरणे बन्धमुदयं सत्तां चाधिकृत्य सदैव पञ्च प्रकृतयो मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणा-ऽवधिज्ञानावरण-मनःपर्यवज्ञानावरण-केवलज्ञानावरणरूपाः प्राप्यन्ते, न त्वेकद्वित्र्यादिकाः, ध्रुवबन्धादित्वात् । अन्तरायेऽपि बन्धमुदयं सत्तां चाधिकृत्य प्रत्येकं सदैव दानान्तराय-लाभान्तराय-भोगान्तराय-उपभोगान्तराय-वीर्यान्तरायरूपाः **पञ्च प्रकृतयः** प्राप्यन्ते, न त्वेकद्वित्र्यादिकाः, ध्रुवबन्धादित्वादेव । तथा च सति ज्ञानावरणेऽन्तराये च बन्धादिषु प्रत्येकमेकं पञ्चप्रकृत्यात्मकं प्रकृतिस्थानमिति ।

सम्प्रति संवेध उच्यते--ज्ञानावरणस्य बन्धकाले पञ्चविधो **बन्धः** पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता, एवमन्तरायस्यापि । एष च विकल्पो द्वयोरपि सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावदवगन्तव्यः । बन्धाभावे पुनर्ज्ञानावरणे अन्तराये च प्रत्येकं पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता । तथा चाह--"बंधोवरमे वि" इत्यादि । 'बन्धोपरमेऽपि बन्धाभावेऽपि ज्ञानावरणा-ऽन्तराययोः 'तथा'

१ सं० ०नामवसेयम् ।

इति समुच्चये उदय-सत्ते भवतः (ग्रन्थाग्रम्-५००) 'पञ्चैव' पञ्चप्रकृत्यात्मके एव, न त्वेकद्वित्र्यादिके, ध्रुवोदय-सत्ताकत्वात् । एष च विकल्पो द्वयोरप्युपशान्तमोहे क्षीणमोहे च प्राप्यते ॥६॥

सम्प्रति दर्शनावरणस्योत्तरप्रकृतीरधिकृत्य बन्धादिस्थानप्ररूपणार्थमाह—

बंधस्स य संतस्स य, पगइट्ठाणाइं तिन्नि तुल्लाइं ।
उदयट्ठाणाइं दुवे, चउ पणगं दंसणावरणे ॥ ७ ॥

दर्शनावरणाख्ये द्वितीये कर्मणि बन्धस्य सत्तायाश्च परस्परं 'तुल्यानि' तुल्यस्वरूपाणि त्रीणि प्रकृतिस्थानानि भवन्ति । तद्यथा—नव षट् चतस्रः । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायो नव, ता एव नव स्त्यानर्द्धित्रिकहीनाः षट्, एताश्च षड् निद्रा-प्रचलाहीनाश्चतस्रः । तत्र नवप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं मिथ्यादृष्टौ सासादने वा । तच्चाभव्यानधिकृत्यानाद्यपर्यवसानम्, कदाचिदपि व्यवच्छेदाभावात्; भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानम्, कालान्तरे व्यवच्छेदसम्भवात्, सम्यक्त्वात् प्रतिपत्य मिथ्यात्वं गतानां सादिसपर्यवसानम्; तच्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं कालं यावत्, उत्कर्षतो देशोनापार्धपुद्गलपरावर्तम् । षट्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्याऽपूर्वकरणस्य प्रथमं भागं यावत् । तच्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं कालम्, उत्कर्षतो द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणाम्, सम्यक्त्वस्यापान्तराले सम्यग्मिथ्यात्वान्तरितस्यैतावन्तं कालमवस्थानसम्भवात्; तत ऊर्ध्वं तु कश्चित् क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते कश्चित् पुनर्मिथ्यात्वम्, मिथ्यात्वे च प्रतिपन्ने सति अवश्यं नवविधो बन्धः । चतुष्प्रकृत्यात्मकं तु बन्धस्थानमपूर्वकरणद्वितीयभागादारभ्य सूक्ष्मसम्परायं यावत् । तच्च जघन्येनैकं समयम्, उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्तम् । एकं समयं यावत् कथं प्राप्यते ? इति चेद् उच्यते—उपशमश्रेण्यामपूर्वकरणस्य द्वितीयभागप्रथमसमये चतुर्विधबन्धमारभ्याऽनन्तरसमये कश्चित् कालं करोति, कालं च कृत्वा दिवं गतः सन् अविरतो भवति, अविरतत्वे च षड्विधो बन्ध इत्येकसामयिकी चतुर्विधबन्धस्थानस्य स्थितिः ।

तथा नवप्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं दर्शनावरणस्य कालमधिकृत्य द्विधा—अनाद्यपर्यवसितं अनादिसपर्यवसितं च । तत्रानाद्यपर्यवसितमभव्यानाम्, कदाचिदप्यव्यवच्छेदात् । अनादिसपर्यवसानं भव्यानाम्, कालान्तरे व्यवच्छेदात् । सादिसपर्यवसानं तु न भवति, नवप्रकृत्यात्मकसत्तास्थानव्यवच्छेदो हि क्षपकश्रेण्यां भवति, न च क्षपकश्रेणीतः[1] प्रतिपातो भवतीति कृत्वा । एतच्च सत्तास्थानम् उपशमश्रेणिमधिकृत्य उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावदवाप्यते, क्षपकश्रेणिमधिकृत्य पुनरनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकस्य प्रथमभागम् । तथा षट्प्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तप्रमाणम्, तच्चानिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकस्य द्वितीयभागा-

१ सं० सं० १ त० छा० ०तीति । एत० ॥

दारभ्य क्षीणमोहगुणस्था[1]नकद्विचरमसमयं यावदवसेयम् । चतुष्प्रकृत्यात्मकं त्वेकसामयिकम्, क्षीणकषायचरमसमयभावित्वादिति ।

उदयस्थाने पुनर्द्वे भवतः, तद्यथा— चतस्रः पञ्च च । तत्र चतस्रश्चक्षुर्दर्शनावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरणा-ऽवधिदर्शनावरण-केवलदर्शनावरणरूपाः[2] । एतासां च समुदायो ध्रुवोदय[3] इति एकं प्रकृतिस्थानम् एतासु च चतसृषु मध्ये निद्रादीनां पञ्चानां प्रकृतीनां मध्याद् अन्यतमस्यां प्रकृतौ प्रक्षिप्तायां पञ्च । न हि निद्रादयो द्वित्रा[4]दिका युगपदुदयमायान्ति किन्त्वेकस्मिन् काले एकैवान्यतमा काचित् । निद्रादयश्च ध्रुवोदया न भवन्ति, कालादिसापेक्षत्वात् । अत इदं पञ्चप्रकृत्यात्मकमुदयस्थानं कदाचिद् लभ्यते ॥ ७ ॥

तदेवमुक्तानि दर्शनावरणस्य बन्ध-उदय-सत्ता अधिकृत्य प्रकृतिस्थानानि । सम्प्रति संवेधमभिधित्सुराह—

बीयावरणे नवबंधगेसु चउ पंच उदय नव संता ।
छच्चउबंधे चेवं, चउ बंधुदए छलंसा य ॥ ८ ॥
उवरयबंधे चउ पण, नवंस चउरुदय छच्च चउसंता ।

द्वितीयावरणं–दर्शनावरणं तस्मिन् द्वितीयावरणे 'नवबन्धकेषु' सकलदर्शनावरणोत्तरप्रकृतिबन्धकेषु मिथ्यादृष्टि-सासादनेषु "चउ पंच उदय" त्ति उदयश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा । तत्र चतुर्विधश्चक्षुर्दर्शनावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरणा-ऽवधिदर्शनावरण-केवलदर्शनावरणरूपः । स एव निद्रापञ्चकसत्कान्यतमप्रकृतिप्रक्षेपात् पञ्चविधः । सत्तामधिकृत्य पुनः प्रकृतिस्थानं 'नव' नवप्रकृत्यात्मकम् । तदेवं नवविधबन्धकेषु द्वौ विकल्पौ दर्शितौ, तद्यथा–नवविधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता, एष विकल्पो निद्रोदयाभावे; निद्रोदये तु नवविधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता । "छच्चउबंधे चेवं" ति षड्बन्धे चतुर्बन्धे च 'एवं' पूर्वोक्तप्रकारेण उदय-सत्तास्थानानि वेदितव्यानि । इदमुक्तं भवति-ये षड्विधबन्धकाः सम्यग्मिथ्यादृष्टि अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्ताः कियत्कालमपूर्वकरणाश्च तेषां चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयो नवविधा सत्ता । एतेन च द्वौ विक[5]ल्पौ दर्शितौ, तद्यथा–षड्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयः नवविधा सत्ता, अथवा षड्विधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता, एतौ च द्वौ विकल्पौ क्षपकं मुक्त्वाऽन्यत्र सर्वत्रापि प्राप्येते । क्ष[6]पके त्वेक एव विकल्पः, तद्यथा–षड्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता । क्षपकस्य हि अत्यन्तविशुद्धत्वेन निद्रा-प्रचलयोर्नोदयः सम्भवति । तदुक्तं **सत्कर्मग्रन्थे**

१ सं० १ त० ०नके द्विच० ॥ २ सं० १ त० ०पाः । तासां च ॥ ३ म० मुद्रि० इति कृत्वा एकं प्रकृ० ॥ ४ सं० २ त० म० छा० ०त्र्यादिका ॥ ५ सं १ त० ०कल्पौ दर्शयति, त० ॥ ६ सं० १ त० ०पकत्वे त्वे० ॥

निद्दा[1]दुगस्स उदओ खीणगखवगे परिचज्ज ॥

तथा चतुर्विधबन्धकेषु कियत्कालमपूर्वकरणेषु अनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्परायेषु चोपशमश्रेणिं प्रतीत्य चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः नवविधा सत्ता । क्षपकश्रेणिमधिकृत्य पुनरुदयश्चतुर्विध एव, कारणमत्र प्रागेवोक्तम् । केचित् पुनः क्षपकक्षीणमोहेष्वपि निद्रा-प्रचलयोरुदयमिच्छन्ति, तत् सत्कर्म-कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थैः सह विरुध्यते इत्युपेक्ष्यते । यावच्च क्षपकश्रेण्यामपि स्त्यानर्द्धित्रिकं न क्षीयते तावत् सत्ता नवविधैव, स्त्यानर्द्धित्रिके तु क्षीणे षड्विधा तथा चाह—"चउबंधुदए छलंसा य" त्ति इह अंश इति सत्कर्माभिधीयते । यदाह चूर्णिकृत्—

[2]अंस इति संतकम्मं भन्नई ।

चतुर्विध बन्धे चतुर्विध उदये अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकाद्धायाः सङ्ख्येयेभ्यो भागेभ्यः परतः स्त्यानर्द्धित्रिके क्षीणे षड्विधा सत्ता । एष च विकल्पस्तावत् प्राप्यते यावत् सूक्ष्मसम्प[3]रायाद्धायाश्चरमसमयः, परतस्तु न प्राप्यते, बन्धाभावात् । तदेवं चतुर्विधबन्धकस्य त्रयो विकल्पाः, तद्यथा—चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता, एष विकल्प उपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा यावत् स्त्यानर्द्धित्रिकं न क्षीयते । चतुर्विधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता, एष उपशमश्रेण्याम्, क्षपकश्रेण्यां पञ्चविधोदयस्याभावात् तथा चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयः षड्विधा सत्ता, एष च विकल्पः क्षपकश्रेण्यां स्त्यानर्द्धित्रिकक्षयानन्तरमवसेयः ॥८॥

"उवरयबंधे" इत्यादि । 'उपरते' व्यवच्छिन्ने बन्धे चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयो नवविधा सत्ता, एतौ च द्वौ विकल्पावुपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्येते । उपशमश्रेण्यां हि निद्रा-प्रचलयोरुदयः सम्भवति, स्त्यानर्द्धित्रिकं च न क्षयमुपगच्छति ततश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयो नवविधा च सत्ता प्राप्यते । तथा चतुर्विध उदयः षड्विधा सत्ता, एष विकल्पः क्षीणकषायस्य द्विचरमसमयं यावदवाप्यते । तथा चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष विकल्पः क्षीणकषायस्य चरमसमये, निद्रा-प्रचलयोर्द्विचरमसमये एव क्षपितत्वात् । तदेवं दर्शनावरणे सर्वसङ्ख्यया एकादश विकल्पाः । यदि पुनः क्षपकक्षीणकषायेष्वपि निद्रा-प्रचलयोरुदय इष्यते तर्हि चतुर्विधो बन्धः पञ्चविध उदयः षड्विधा सत्ता, बन्धाभावे पञ्चविध उदयः षड्विधा सत्तेत्येतौ द्वौ विकल्पावधिकौ प्राप्येते इति त्रयोदश ज्ञातव्याः ॥

सम्प्रति वेदनीया-ऽऽयुः-गोत्रेषु संवेधविकल्पोपदर्शनार्थमाह—

वेयणियाउयगोए, विभज्ज

१ निद्राद्विकस्य उदयः क्षीणकक्षपकौ परित्यज्य ॥ २ अंश इति सत्कर्म मण्यते० ॥ ३ मुद्रि० रायगुणस्थानकाद्धा० ॥

वेदनीये आयुषि गोत्रे च यथागमं बन्धादिस्थानानि संवेधमाश्रित्य 'विभजेत्' विकल्पयेत्। तत्र वेदनीयस्य सामान्येनैकं बन्धस्थानम्, तद्यथा—सातमसातं वा, द्वयोः परस्परविरुद्धत्वेन युगपद्बन्धाभावात्। उदयस्थानमपि एकम्, तद्यथा—सातमसातं वा, द्वयोर्युगपदुदयाभावात् परस्परविरुद्धत्वात्। सत्तास्थाने द्वे, तद्यथा—द्वे एकं च। तत्र यावदेकमन्यतरद् न क्षीयते तावद् द्वे अपि सती, अन्यतरस्मिंश्च क्षीणे एकमिति।

सम्प्रति संवेध उच्यते—असातस्य बन्धः असातस्य उदयः साता-ऽसाते सती, अथवा असातस्य बन्धः सातस्य उदयः साता-ऽसाते सती; एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकात् प्रभृति प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् प्राप्येते न परतः, परतोऽसातस्य बन्धाभावात्। तथा सातस्य बन्धः सातस्योदयः सात-ऽसाते सती, अथवा सातस्य बन्धः असातस्योदयः साता-ऽसाते सती; एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिगुणस्थानकं यावत् सम्भवतः। ततः परतो बन्धाभावे असातस्योदयः साता-ऽसाते सती, अथवा सातस्योदयः साता-ऽसाते सती; एतौ द्वौ विकल्पौ अयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावत् प्राप्येते। चरमसमये तु असातस्योदयः असातस्य सत्ता यस्य द्विचरमसमये सातं [1]क्षीणम्, यस्य त्वसातं द्विचरमसमये क्षीणं तस्यायं विकल्पः—सातस्योदयः सातस्य सत्ता; एतौ च द्वौ विकल्पावेकसामयिकौ। सर्वसङ्ख्यया च वेदनीयस्याष्टौ भङ्गाः॥

तथा आयुषि सामान्येनैकं बन्धस्थानं चतुर्णामन्यतमत्, परस्परविरुद्धत्वेन युगपद् द्वित्रायुषां बन्धाभावात्। उदयस्थानमप्येकम्, तदपि चतुर्णामन्यतमत् युगपद् द्वित्रायुषां उदयाभावात्। द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्वे एकं च। तत्रैकं चतुर्णामन्यतमत् यावदन्यत् परभवायुर्न बध्यते, परभवायुषि च बद्धे यावदन्यत्र परभवे नोत्पद्यते तावद् द्वे सती।

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्रायुषस्तिस्रोऽवस्थाः, तद्यथा—परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वावस्था परभवायुर्बन्धकालावस्था परभवायुर्बन्धोत्तरकालावस्था च। तत्र नैरयिकस्य परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वं नारकायुष उदयः नारकायुषः सत्ता, एष विकल्प आद्येषु चतुर्षु गुणस्थानकेषु, शेषगुणस्थानकस्य नरकेष्वसम्भवात्; परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धो नारकायुष उदयः नारक-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा, द्वयोरेवाद्ययोर्गुणस्थानकयोस्तिर्यगायुषो बन्धसम्भवात्; अथवा मनुष्यायुषो बन्धः नारकायुष उदयः मनुष्य-नारकायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्वा। बन्धोत्तर[2]कालं नारकायुष उदयो नारक-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्प आद्येषु चतुर्ष्वपि गुणस्थानकेषु, तिर्यगायुर्बन्धानन्तरं

१ त० छ० क्षीणं तस्यैवायं विकल्पः य०॥ २ मुद्रि० ०कालं ना०॥

कस्यापि सम्यक्त्वे सम्यग्मिथ्यात्वे वा गमनसम्भवात्, अथवा नारकायुष उदयो मनुष्य-नारकायुषी सती। इह नारका देवायुः नारकायुश्च भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति, तत्रोत्पत्त्यभावात्।

तदुक्तम्——

[1]देवा नारगा वा देवेसु नारगेसु वि न उववज्जंति। इति।

ततो नारकाणां परभवायुर्बन्धकाले बन्धोत्तरकाले च देवायुः-नारकायुर्भ्यां विकल्पाभावात् सर्वसङ्ख्यया पञ्चैव विकल्पा भवन्ति।

एवं देवानामपि [2]पञ्च विकल्पा भावनीयाः। नवरं नारकायुःस्थाने देवायुरिति वक्तव्यम्, तद्यथा—देवायुष उदयो देवायुषः सत्ता इत्यादि।

तथा तिर्यगायुष उदयस्तिर्यगायुषः सत्ता, एष विकल्प आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु, शेषगुणस्थानकस्य तिर्यक्ष्वसम्भवात्, एष विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम्। बन्धकाले तु नारकायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयो नारक-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः, अन्यत्र नारकायुषो बन्धाभावात्; अथवा तिर्यगायुषो बन्धः, तिर्यगायुष उदयः,[3] तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा; अथवा मनुष्यायुषो बन्धः, तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा नान्यस्य, तिरश्चोऽविरतसम्यग्दृष्टेर्देशविरतस्य वा देवायुष एव बन्धसम्भवात्; अथवा देवायुषो बन्धः, तिर्यगायुष उदयो देव-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्देशविरतस्य वा, न सम्यग्मिथ्यादृष्टेः, तस्यायुर्बन्धाभावात्। एते चत्वारो विकल्पाः परभवायुर्बन्धकाले। बन्धे तु व्यवच्छिन्ने तिर्यगायुष उदयो नारक-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्प आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु, नारकायुर्बन्धानन्तरं सम्यक्त्वादावपि गमनसम्भवात्, अथवा तिर्यगायुष उदयस्तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो देव-तिर्यगायुषी सती, एतेऽपि त्रयो विकल्पा आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु। सर्वसङ्ख्यया तिरश्चां नव विकल्पाः, चतसृष्वपि गतिषु तिरश्चामुत्पादसम्भवात्।

तथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिनं यावत्। तथा नारकायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो नारक मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्या[4]दृष्टेः। तथा तिर्यगायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ्-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा। मनु-

१ देवा नारका वा देवेषु नारकेष्वपि नोपपद्यन्ते॥ २ सं० १ त० म० पञ्चैव वि०॥ ३ सं० त० ०यः, तिर्यगा०॥ ४ सं० त० म० ०वत्। बन्धकाले तु नार०। सं० ०वत्। नार०॥ ५ सं० १ सं० त० म० ०दृष्टेः। तिर्यगा०॥

ष्यायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो मनुष्य-मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा । देवायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो देव-मनुष्यायुषी सती, एष [1]विकल्पोऽप्रमत्तगुणस्थानकं यावत् । एते चत्वारो विकल्पाः परभवायुर्बन्धकाले । बन्धे तु व्यवच्छिन्ने मनुष्यायुष उदयो नारक-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पोऽप्रमत्तगुणस्थानकं यावत्, नारकायुर्बन्धानन्तरं संयमप्रतिपत्तेरपि सम्भवात् । मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ्-मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्पोऽप्रमत्तगुणस्थानकं यावत् । मनुष्यायुष उदयो मनुष्य-मनुष्यायुषी सती, [2]एषोऽपि विकल्पः प्राग्वत् । मनुष्यायुष उदयो देव-मनुष्यायुषी सती, [3]एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत्, देवायुषि बद्धेऽप्युपशमश्रेण्यारोहसम्भवात् । सर्वसङ्ख्यया मनुष्याणां नव भङ्गाः । तदेवमायुषि सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतिभङ्गाः ॥

तथा गोत्रे सामान्येनैकं बन्धस्थानम्, तद्यथा—उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं वा, द्वयोः परस्परविरुद्धत्वेन युगपद्बन्धाभावात् । उदयस्थानमप्येकम्, तदपि द्वयोरन्यतरत्, परस्परविरुद्धत्वेन युगपद् द्वयोरुदयाभावात् । द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्वे एकं च । तत्र उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रे समुदिते द्वे, तेजस्कायिक-वायुकायिकावस्थायां उच्चैर्गोत्रे उद्वलिते [4]एकम्, अथवा नीचैर्गोत्रेऽयोगिकेवलिद्विचरमसमये क्षीणे एकम् ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रं सत्, एष विकल्पस्तेजस्कायिक-वायुकायिकेषु लभ्यते । तद्भवाद् उद्वृत्तेषु चाशेषजीवेष्वेक-द्वि-त्रि-चतुः-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु कियत्कालं नीचैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, अथवा नीचैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिषु सासादनेषु वा, न सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिषु, तेषां नीचैर्गोत्रबन्धाभावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य देशविरतिगुणस्थानकं यावत् प्राप्यते न परतः, परतो नीचैर्गोत्रस्योदयाभावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेरारभ्य- सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावद् न परतः, परतो बन्धाभावात् । बन्धाभावे उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकादारभ्य अयोगिकेवलिद्विचरमसमयं यावदवसेयः । उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्चैर्गोत्रं सत्, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिचरमसमये । तदेवमेते गोत्रस्य सर्वसङ्ख्यया सप्त भङ्गाः ॥

---

१ सं० १ त० म० ०कल्पो मिश्रवर्जमप्र० ॥ २ मुद्रि० अयमप्यप्रमत्तगुणस्थानकं यावत् ॥ ३ मुद्रि० अयमुपशा० ॥ ४ मुद्रि० एकम्, अथवा नीचैर्गोत्रे उद्वलिते एकम्, अथ० ॥

मोहं परं वोच्छं ॥ ९ ॥

अतः परं मोहं वक्ष्ये, मोहनीयस्य बन्धादिस्थानानि वक्ष्य इत्यर्थः ॥ ९ ॥

तत्र प्रथमतो बन्धस्थानप्ररूपणार्थमाह—

[1]बावीस एक्कवीसा, सत्तरसा तेरसेव नव पंच ।
चउ तिग दुगं च एक्कं, बंधट्ठा[2]णाणि मोहस्स ॥ १० ॥

'मोहस्य' मोहनीयस्य बन्धस्थानानि, तद्यथा–द्वाविंशतिः एकविंशतिः सप्तदश त्रयोदश नव पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च । तत्र सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे बन्धे न भवतः, न च त्रयाणां वेदानां युगपद् बन्धः किन्त्वेककालमेकस्यैव, हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगले अपि न युगपद् बन्धमायातः किन्त्वेकतरमेव युगलम्, ततो मोहनीयस्योत्कर्षतः प्रभूतप्रकृतिबन्धो द्वाविंशतिः, सा च मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके प्राप्यते । ततः सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके मिथ्यात्वस्य बन्धाभावाद् एकविंशतिः, यद्यप्यत्र नपुंसकवेदस्यापि बन्धो न भवति, तथापि तत्स्थाने स्त्रीवेदः पुरुषवेदो वा प्रक्षिप्यत इत्येकविंशतेरेव[3] बन्धः । ततो मिश्रा-ऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकयोरनन्तानुबन्धिनामपि बन्धाभावात् सप्तदश । ततोऽपि देशविरतिगुणस्थानकेऽप्रत्याख्यानकषायाणां बन्धाभावात् त्रयोदश । ततोऽपि प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणेषु प्रत्याख्याना[4]वरणानां बन्धाभावाद् नव, यद्यपि अरति-शोकरूपं युगलं प्रमत्तगुणस्थानके एव व्यवच्छिन्नं, तथापि तत्स्थाने हास्य-रतियुगलं प्रक्षिप्यते इत्यप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणयोर्नवकबन्धो न विरुध्यते । ततो हास्य-रति-भय-जुगुप्सा अपूर्वकरणचरमसमये बन्धमाश्रित्य व्यवच्छिद्यन्ते इति अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके प्रथमभागे पञ्चानां बन्धः । द्वितीयभागे पुरुषवेदस्य बन्धाभावात् चतसृणां बन्धः । तृतीयभागे संज्वलनक्रोधस्य बन्धाभावात् तिसृणां[5] बन्धः । चतुर्थभागे संज्वलनमानस्य बन्धाभावाद् [6]द्वयोर्बन्धः । पञ्चमभागे संज्वलनमायाया अपि बन्धाभावादेकस्याः संज्वलनलोभप्रकृतेर्बन्धः । ततः परं बादरसम्परायोदयाभावात् तस्या अपि न बन्धः ॥१०॥

तदेवमुक्तानि मोहनीयस्य बन्धस्थानानि । सम्प्रत्युदयस्थानान्यभिधित्सुराह—

[7]एक्कं व दो व चउरो, एत्तो एक्काहिया दसुक्कोसा ।
ओहेण मोहणिज्जे, [8]उदयट्ठाणा नव हवंति ॥ ११ ॥

---

१ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये एकोनविंशतितमी ॥ २ भाष्ये तु–०णाणि दस मोहे ॥ ३ सं० त० ०व । ततो ॥ ४ सं० १ त० ०वरणबन्धा० ॥ ५ मुद्रि० विना–०णाम्, चतु० ॥ ६ मुद्रि० विना–०योः, पञ्च० ॥ ७ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये पञ्चविंशतितमी ॥ ८ म० उदये ठाणाणि नव हुंति । सं० १ त० ०यट्ठाणाणि नव हुंति ॥

'ओघेन' सामान्येन मोहनीये उदयस्थानानि नव भवन्ति, तद्यथा—एकं द्वे चत्वारि 'अतः' चतुष्कादूर्ध्वं त्वेकाधिका उदयविकल्पास्तावदवगन्तव्या यावदुत्कर्षतो 'दश' दशकमुदयस्थानं भवतीत्यर्थः १-२-४-५-६-७-८-९-१०। एतानि चानिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकादारभ्य पश्चानुपूर्व्या किञ्चिद् भाव्यन्ते—तत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमस्योदये एकमुदयस्थानम्, तदेव वेदत्रयान्यतमवेदोदयप्रक्षेपे द्विकम्, तत्रापि हास्य-रतिरूपयुगलप्रक्षेपे चतुष्कम्, तत्रैव भयप्रक्षेपात् पञ्चकम्, जुगुप्साप्रक्षेपात् षट्कम्, तत्रैव चतुर्णां प्रत्याख्यानावरणकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपे सप्तकम्, तत्रैव चाप्रत्याख्यानावरणकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपेऽष्टकम्, तत्रैव चतुर्णामनन्तानुबन्धिकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपे नवकम्, तत्रैव मिथ्यात्वप्रक्षेपे दशकम्। एतच्च सामान्येनोक्तम् विशेषतस्त्वग्रे सूत्रकृदेव सप्रपञ्चं कथयिष्यतीति तत्रैव भावयिष्यते ॥११॥

तदेवमुक्तान्युदयस्थानानि। सम्प्रति सत्तास्थानानि प्रतिपिपादयिषुराह—

[3]अट्ठगसत्तगछच्चउतिगदुगएगाहिया भवे वीसा।
तेरस बारिकारस, इत्तो पंचाइ एक्कूणा ॥ १२ ॥
संतस्स पगइठाणाइँ ताणि मोहस्स हुंति पन्नरस।
बंधोदयसंते पुण, भंगवि[4]गप्पा बहू जाण ॥ १३ ॥

विंशतिः अष्टक-सप्तक-षट्क-चतुः-त्रि-द्वि-एकाधिका, तथा त्रयोदश द्वादश एकादश, 'अतः' एकादशकात् सत्तास्थानाद् 'एकोनानि' एकैकोनानि पञ्चादीनि सत्तायाः प्रकृतिस्थानानि मोहनीयस्यावगन्तव्यानि, तानि च सर्वसङ्ख्यया पञ्चदश भवन्ति। इदमत्र तात्पर्यम्—मोहनीये पञ्चदश सत्ताप्रकृतिस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टाविंशतिः। [5]ततः सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशतिः। ततोऽपि सम्यग्मिथ्यात्वे उद्वलिते षड्विंशतिः, अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिः। अष्टाविंशतिसत्कर्मणोऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयक्षये चतुर्विंशतिः। ततोऽपि मिथ्यात्वे क्षपिते त्रयोविंशतिः। ततोऽपि सम्यग्मिथ्यात्वे क्षपिते द्वाविंशतिः। ततः सम्यक्त्वे क्षपिते एकविंशतिः। ततोऽष्टस्वप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणसंज्ञेषु कषायेषु क्षीणेषु त्रयोदश। ततो नपुंसकवेदे क्षपिते द्वादश। ततोऽपि स्त्रीवेदे क्षपिते एकादश। ततः षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु पञ्च। ततोऽपि पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः। ततोऽपि संज्वलनक्रोधे क्षपिते तिस्रः। ततोऽपि संज्वलनमाने क्षपिते द्वे। ततोऽपि संज्वलन-

१ सं० १ त० ०हनीयस्य ॥ २ सं० १ सं० त० म० ०ख्यानकषा० ॥ ३ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये एकचत्वारिंशत्तमी ॥ ४ सं० १ सं० त० ०गप्पे ॥ ५ सं० म० छा० तत्र सं० ॥

मायायां क्षपितायामेका प्रकृतिः [1]सतीनि। तदेवमुक्तानि सत्तास्थानानि एतेषु पुनर्बन्ध-उदय-सत्तास्थानेषु प्रत्येकं संवेधेन च बहवो भङ्गा भवन्ति, [2]तांश्च भङ्गान् यथावत् प्रतिपाद्यमानान् सम्यग् जानीहि ॥१२॥ १३॥

तत्र प्रथमतो बन्धस्थानेषु भङ्गनिरूपणार्थमाह—

छब्बावीसे चउ इगवीसे सत्तरस तेरसे दो दो ।
नवबंधगे वि दोन्नि उ, एक्केक्कमओ परं भंगा ॥१४॥

'द्वाविंशतौ' द्वाविंशतिबन्धे षड् विकल्पा भवन्ति। तत्र द्वाविंशतिरियम्–मिथ्यात्वं, षोडश कषायाः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगलयोन्यतरद् युगलं, भयं जुगुप्सा च। अत्र भङ्गाः षट् तथाहि–हास्य-रतियुगले अरति-शोकयुगले च प्रत्येकं द्वाविंशतिः प्राप्यते इति द्वौ भङ्गौ, तौ च द्वौ भङ्गौ त्रिष्वपि वेदेषु प्रत्येकं विकल्पेन प्राप्येते इति द्वौ त्रिभिर्गुणितौ जाताः षट्। सैव द्वाविंशतिर्मिथ्यात्वेन विना एकविंशतिः, नवरमत्र द्वयोर्वेदयोरन्यतरो वेद इति वक्तव्यम्, यत एकविंशतिबन्धकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः, ते च स्त्रीवेदं वा बध्नन्ति पुरुषवेदं वा, न नपुंसकवेदम्, नपुंसकवेदबन्धस्य मिथ्यात्वोदयनिबन्धनत्वात्, सासादनानां च मिथ्यात्वोदयाभावात्। अत्र च भङ्गाश्चत्वारः, तथा चाह–"चउ एगवीसे" त्ति 'एकविंशतौ' एकविंशतिबन्धे चत्वारो भङ्गाः। तत्र हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगलाभ्यां प्रागिव द्वौ भङ्गौ, तौ च प्रत्येकं स्त्रीवेदे पुरुषवेदे च प्राप्येते इति द्वौ द्वाभ्यां गुणितौ जाताश्चत्वारः। सैव चैकविंशतिरनन्तानुबन्धिचतुष्टयबन्धाभावे सप्तदश, नवरमत्र वेदेषु मध्ये पुरुषवेद एवैको वक्तव्यः, न स्त्रीवेदोऽपि, यतः सप्तदशबन्धकाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽविरतसम्यग्दृष्टयो वा, न चैते स्त्रीवेदं बध्नन्ति, तद्बन्धस्यानन्तानुबन्ध्युदयनिमित्तत्वात्, सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादीनां चानन्तानुबन्ध्युदयाभावात्। अत्र च हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगलाभ्यां प्रागिव द्वौ भङ्गौ। ता एव सप्तदश प्रकृतयोऽप्रत्याख्यानकषायचतुष्टयरहितास्त्रयोदश, अत्रापि प्रागिव द्वौ भङ्गौ, तथा चाह—"सत्तरस तेरसे दो दो" सप्तदशबन्धे त्रयोदशबन्धे च प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ। ता एव त्रयोदश प्रत्याख्यानावरणचतुष्टयरहिता नव, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ, यत आह–"नवबंधगे वि दोन्नि उ" नवबन्धके द्वौ भङ्गौ, तौ च प्रमत्ते द्वावपि द्रष्टव्यौ, अप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणयोस्त्वेक एव भङ्गः, तत्रारति-शोकरूपस्य युगलस्य बन्धासम्भवात्। तथा ता एव नव हास्य-रतियुगल-भय-जुगुप्साबन्धव्यवच्छेदे पञ्च, अत्रैको भङ्गः। एवं चतुः-त्रि-द्वि-एकबन्धेष्वपि प्रत्येकमेकैक एव भङ्गो वाच्यः, तथा चाह–"एक्केक्कमओ परं भंगा" 'अतः' नवकबन्धात् परं पञ्चादिषु भङ्गाः प्रत्येकम् 'एकैकः' एकैकसङ्ख्या[3] वेदितव्याः। मकारस्त्वलाक्षणिकः।

---

१ सं० त० सती। त०॥ २ सं० १ त० ततश्च भङ्गान् प्रति०॥ ३ मुद्रि० एकैव संख्या॥

अमीषां च द्वाविंशत्यादिबन्धस्थानानां कालप्रमाणमिदम्--द्वाविंशतिबन्धस्य कालोऽभव्यानधिकृत्य अनाद्यपर्यवसितः, भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसितः सम्यक्त्वपरिभ्रष्टानधिकृत्य जघन्येनान्तमुहूर्तप्रमाणः, उत्कर्षतो देशोनोऽपार्धपुद्गलपरावर्तः। एकविंशतिबन्धस्य कालो जघन्येन समयमात्रः, उत्कर्षतः षडावलिकाः। सप्तदशबन्धस्य कालो जघन्येनान्तमुहूर्तम्, उत्कर्षतः किञ्चित् समधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। तथाहि--त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अनुत्तरसुरस्य प्राप्यन्ते, अनुत्तरसुरभवाच्च च्युत्वा यावदद्यापि देशविरतिं सर्वविरतिं वा न प्रतिपद्यते तावत् सप्तदशबन्ध एवेति किञ्चित्समधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। त्रयोदशबन्धस्य नवबन्धस्य च कालः प्रत्येकं जघन्येनान्तमुहूर्तम्, उत्कर्षतस्तु देशोना[1] पूर्वकोटी, यतस्त्रयोदशबन्धो देशविरतौ, नवकबन्धस्तु सर्वविरतौ, देशविरतिः सर्वविरतिश्चोत्कर्षतोऽपि देशोनपूर्वकोटिप्रमाणा। पञ्चादिषु पुनर्बन्धस्थानेषु कालः प्रत्येकं जघन्येनैकं समयम्, उत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तम्, एकसमयता कथम्? इति चेद् उच्यते--उपशमश्रेण्यां पञ्चविधं बन्धमारभ्य द्वितीये समये कश्चित् कालं कृत्वा देवलोकं याति, देवलोके च गतः सन् अविरतो भवति, अविरतत्वे च सप्तदशबन्ध इत्येकसमयता। एवं चतुर्विधबन्धादिष्वपि भावनीयम्॥ १४॥

तदेवं कृता कालनिरूपणा सम्प्रत्येतेषामेव बन्धस्थानानां मध्ये कस्मिन् कियन्ति प्रागुक्तान्युदयस्थानानि भवन्ति? इत्येतद् निरूप्यते----

दश बावीसे नव इक्कवीस सत्ताइ उदयठाणाइं।
छाई नव सत्तरसे, तेरे पंचाइ अट्ठेव ॥ १५॥
च[2]त्तारिमाइ नवबंधगेसु उक्कोस सत्त उदयंसा।
पंचविहबंधगे पुण, उदओ दोण्हं मुणेयव्वो ॥ १६॥

'द्वाविंशतौ' द्वाविंशतिबन्धे सप्तादीनि दशपर्यन्तानि चत्वारि उदयस्थानानि भ[3]वन्ति। तद्यथा---सप्त अष्टौ नव दश। तत्र मिथ्यात्वम् अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे त्रयः क्रोधादिकाः, यत एकस्मिन् क्रोधे वेद्यमाने सर्वेऽपि क्रोधा वेद्यन्ते, समानजातीयत्वात्। एवं मान-माया-लोभा अपि द्रष्टव्याः। न च युगपत् क्रोध मान-माया-लोभानामुदयः, परस्परविरोधाद् इत्यन्यतमे त्रयो गृह्यन्ते। तथा त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगलयोरन्यतरद् युगलम्, एतासां सप्तप्रकृतीनां द्वाविंशतिबन्धके मिथ्यादृष्टावुदयो ध्रुवः। अत्र भङ्गाश्चतुर्विंशतिः, तद्यथा---हास्य-रतियुगले अरति-शोकयुगले च प्रत्येकमेकैको भङ्गः प्राप्यत इति द्वौ भङ्गौ, तौ च प्रत्येकं त्रिष्वपि वेदेषु प्राप्येते इति द्वौ त्रिभिर्गुणितौ

१ सं० १ त० °नपूर्व° ॥ २ सं० १ म० छा० °त्तारिआइ॥ ३ सं० १ °वन्तीत्यर्थः।

जाताः षट्, ते च प्रत्येकं क्रोधादिषु चतुर्षु प्राप्यन्ते इति षट् चतुर्भिर्गुणिता जाताश्चतुर्विंशतिः । तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा अनन्तानुबन्धिनि वा प्रक्षिप्ते अष्टानामुदयः । अत्र भयादौ प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रः चतुर्विंशतयोऽत्र द्रष्टव्याः ।

ननु मिथ्यादृष्टेरवश्यमनन्तानुबन्धिनामुदयः सम्भवति तत् कथमिह मिथ्यादृष्टिः सप्तोदये अष्टोदये वा कस्मिंश्चिदनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्रोक्तः ? उच्यते---इह सम्यग्दृष्टिना सता केनचित् प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनो विसंयोजिताः, एतावतैव च स विश्रान्तो, न मिथ्यात्वादिक्षयाय उद्युक्तवान् तथाविधसामग्र्यभावात्, ततः कालान्तरे मिथ्यात्वं गतः सन् मिथ्यात्वप्रत्ययतो भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति, ततो बन्धावलिका[1] यावत् नाद्याप्यतिक्रामति तावत् तेषामुदयो न भवति, बन्धावलिकायां त्वतिक्रान्तायां भवेदिति ।

ननु कथं बन्धावलिकातिक्रमेऽप्युदयः सम्भवति ? यतोऽबाधाकालक्षये सत्युदयः, अबाधाकालश्चानन्तानुबन्धिनां जघन्येनान्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण तु चत्वारि वर्षसहस्राणीति, नैष दोषः, यतो बन्धसमयादारभ्य तेषां तावत् सत्ता भवति, सत्तायां च सत्यां बन्धे प्रवर्तमाने पतद्ग्रहता, पतद्ग्रहतायां च शेषसमानजातीयप्रकृतिदलिकसङ्क्रान्तिः, सङ्क्रमाच्च दलिकं पतद्ग्रहप्रकृतिरूपतया परिण[2]मते, ततः सङ्क्रमावलिकायामतीतायामुदयः, ततो बन्धावलिकायामतीतायामुदयोऽभिधीयमानो न विरुध्यते ।

तथा तस्मिन्नेव सप्तके भय-जुगुप्सयोः अथवा भया-ऽनन्तानुबन्धिनोः यद्वा जुगुप्सा-ऽनन्तानुबन्धिनोः प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः । अत्राप्येकैकस्मिन् विकल्पे प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानां चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयो द्रष्टव्याः । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भय-जुगुप्सा-ऽनन्तानुबन्धिषु प्रक्षिप्तेषु दशानामुदयः । अत्रैकैव भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । सर्वसङ्ख्यया द्वाविंशतिबन्धे अष्टौ चतुर्विंशतयः[3] ।

"नव एक्कवीसे" त्ति 'एकविंशतौ' एकविंशतिबन्धे सप्तादीनि नवपर्यन्तानि त्रीणि उदयस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव । तत्र सप्त अनन्तानुबन्धि-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे चत्वारः क्रोधादिकाः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलम्, एतासां सप्तप्रकृतीनामुदयः एकविंशतिबन्धे ध्रुवः । अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा क्षिप्तायामष्टानामुदयः । अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानाम् । भय जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः । अत्र

१ सं० म० मुद्रि० °वलिकां यां° ॥ २ सं० १ त० म० ०मति ॥ ३ सं० १ प्रं० त० म० ०यः । नव एकविंशतिः 'एक० ॥

चैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । सर्वसङ्ख्यया एकविंशतिबन्धे चतस्रश्चतुर्विंशतयः । अयं चैकविंशतिबन्धः सासादने प्राप्यते । सासादनश्च द्विधा, श्रेणिगतोऽश्रेणिगतश्च । तत्राश्रेणिगतं सासादनमाश्रित्यामूनि सप्तादीनि उदयस्थानान्यवगन्तव्यानि ।

यस्तु श्रेणिगतस्तत्रादेशद्वयम्–केचिदाहुः–अनन्तानुबन्धिसत्कर्मसहितोऽप्युपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते, तेषां मतेनानन्तानुबन्धिनामप्युपशमना भवति । एतच्च सूत्रेऽपि संवादि, तदुक्तं सूत्रे-

अणदंसणपुंसित्थी, (आव० नि० गा० ११६) इत्यादि ।

श्रेणितश्च प्रतिपतन् कश्चित् सासादनभावमप्युपगच्छति, सास्वादनभावं चोपगते यथोक्तानि त्रीणि उदयस्थानानि भवन्ति ।

अपरे पुनराहुः–अनन्तानुबन्धिनः क्षपयित्वैवोपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते न तत्सत्कर्मा, तेषां मतेन श्रेणितः प्रतिपतन् सासादनो न भवति, तस्यानन्तानुबन्ध्युदयासम्भवात् , अनन्तानुबन्ध्युदयसहितश्च सासादन इष्यते, "अणंताणुबंधुदयरहियस्स सासणभावो न संभवइ" इति वचनात् ।

अथोच्यते–यदा मिथ्यात्वं प्रत्यभिमुखो न चाद्यापि मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तदानीमनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽपि सासादनस्तेषां मतेन भविष्यतीति किमत्रायुक्तम् ? तदयुक्तम् , एवं सति तस्य षडादीनि नवपर्यन्तानि चत्वायुदयस्थानानि भवेयुः, न च भवन्ति, सूत्रे प्रतिषेधात् , तैरप्यनभ्युपगमाच्च, तस्मादनन्तानुबन्ध्युदयरहितः सासादनो न भवतीत्यवश्यं प्रत्येयम् ।

"छाई नव सत्तरसे" सप्तदशके बन्धस्थाने षडादीनि नवपर्यन्तानि चत्वायुदयस्थानानि भवन्ति, तद्यथा–षट् सप्त अष्टौ नव । सप्तदशबन्धका हि द्वये सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽविरतसम्यग्दृष्टयश्च । तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां त्रीणि उदयस्थानानि, तद्यथा–सप्त अष्ट नव । तत्रानन्तानुबन्धिवर्जाः त्रयोऽन्यतमे क्रोधादयः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलम् , सम्यग्मिथ्यात्वं चेति सप्तानां प्रकृतीनामुदयः सम्यग्मिथ्यादृष्टिषु ध्रुवः । अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । अस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायामष्टानामुदयः, अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानाम् । भय-जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः, अत्र चैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्यया सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां चतस्रचतुर्विंशतयः । अविरतसम्यग्दृष्टीनां सप्तदशबन्धकानां चत्वायुदयस्थानानि, तद्यथा–षट् सप्त अष्टौ नव । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां च अविरतसम्यग्दृष्टीनां अनन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधादिकाः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमिति षण्णामुदयो ध्रुवः । अत्र प्रागिव भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः । अस्मिन्नेव षट्के भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्य-

क्त्वे वा प्रक्षिप्ते सप्तानामुदयः। अत्र भयादिषु प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिः प्राप्यत इति तिस्रश्चतुर्विंशतयः। तथा तस्मिन्नेव षट्के भय-जुगुप्सयोर्भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोर्वा प्रक्षिप्तयोरष्टानामुदयः। तत्राप्येकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गकानां चतुर्विंशतिः प्राप्यत इति तिस्रश्चतुर्विंशतयः। भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वे[1]षु च युगपत् प्रक्षिप्तेषु नवानामुदयः, अत्र चैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः। अविरतसम्यग्दृष्टीनां सर्वाश्चतुर्विंशतयोऽष्टौ। सर्वसङ्ख्यया सप्तदशबन्धे द्वादश चतुर्विंशतयः।

"तेरे पंचाइ अट्ठ व" त्रयोदशके बन्धस्थाने पञ्चादीन्यष्टपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—पञ्च षट् सप्त अष्टौ। तत्र प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधादीनामन्यतमौ द्वौ क्रोधादिकौ, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां पञ्चानां प्रकृतीनामुदयः त्रयोदशबन्धे ध्रुवः। अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः। भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वानामन्यतमस्मिन् प्रक्षिप्ते षण्णामुदयः। अत्र भयादिभिस्त्रयो विकल्पाः, एकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गकानां चतुर्विंशतिरिति तिस्रश्चतुर्विंशतयः। तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भय-जुगुप्सयोरथवा भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्यद्वा जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोः प्रक्षिप्तयोः सप्तानामुदयः। अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयो भङ्गकानाम्। भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु पुनर्युगपत् प्रक्षिप्तेष्वष्टानामुदयः, अत्र चैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम्। सर्वसङ्ख्यया त्रयोदशबन्धे अष्टौ चतुर्विंशतयः ॥१५॥

"चत्तारि" इत्यादि। नवबन्धकेषु प्रमत्तादिषु चतुरादीनि सप्तपर्यन्तानि चत्वारि "उदयंस" त्ति उदयरूपविभागस्थानानि, उदयस्थानानीत्यर्थः। तद्यथा—चतस्रः पञ्च षट् सप्त। तत्र संज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एकः क्रोधादिकः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां चतसृणां प्रकृतीनामुदयः क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु औपशमिकसम्यग्दृष्टिषु वा प्रमत्तादिषु ध्रुवः, अत्र चैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः। अस्मिन्नेव चतुष्के भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते पञ्चानामुदयः, अत्र भङ्गकानां तिस्रश्चतुर्विंशतयः। तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भय-जुगुप्सयोरथवा भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्यद्वा जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोः प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदयः, अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयो भङ्गकानाम्। भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु तु युगपत् प्रक्षिप्तेषु सप्तानामुदयः, अत्र भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः। सर्वसङ्ख्यया नवबन्धके अष्टौ चतुर्विंशतयः। "पंचविह" इत्यादि। पञ्चविधबन्धकेषु पुनरुदयो द्वयोः प्रकृत्योर्ज्ञातव्यः, प्रकृतिद्वयात्मकमेकमुदयस्थानमिति भावः। तत्र चतुर्णां संज्वलनानामेकतमः क्रोधादिः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, अत्र त्रिभिर्वेदैश्चतुर्भिश्च संज्वलनैर्द्वादश भङ्गाः ॥ १६ ॥

---

१ सं० १ त० °षु युग° ॥

इत्तो चउबंधाई, इक्केक्कुदया हवंति सव्वे वि ।
बंधोवरमे वि तहा, उदयाभावे वि वा होज्जा ॥ १७ ॥

'इतः' पञ्चकबन्धादनन्तरं चतुर्बन्धादयः सर्वेऽपि प्रत्येकम् 'एकैकोदयाः' एकैकप्रकृत्युदयाः 'भवन्ति' ज्ञातव्याः, तथाहि—च[1]तुर्विधबन्धो भवति पुरुषवेदबन्धव्यवच्छेदे सति, पुरुषवेदस्य च युगपद् बन्ध-उदयौ व्यवच्छिद्येते ततश्चतुर्विधबन्धकाले एकोदय एव भवति, स च चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमः । अत्र चत्वारो भङ्गाः, यतः कोऽपि संज्वलनक्रोधेनोदयप्राप्तेन श्रेणिं प्रतिपद्यते, कोऽपि संज्वलनमानेन, कोऽपि संज्वलनमायया, कोऽपि संज्वलनलोभेनेति चत्वारो भङ्गाः । इह केचिच्चतुर्विधबन्धसङ्क्र[2]मकाले त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदयमिच्छन्ति, ततस्तन्मतेन चतुर्विधबन्धकस्यापि प्रथमकाले द्वादश द्विकोदयभङ्गा लभ्यन्ते । तदुक्तं **पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकायाम्**—

चतुर्विधबन्धकस्याप्याद्यविभागे त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदयं केचिदिच्छन्ति, अतश्चतुर्विधबन्धकस्यापि द्वादश द्विकोदयान् जानीहि । (पत्र २१६) इति ।

तथा च सति तेषां मतेन सर्वसङ्ख्यया द्विकोदये चतुर्विंशतिर्भङ्गा अवसेयाः । संज्वलनक्रोधबन्धव्यवच्छेदे च सति त्रिविधो बन्धः, तत्राप्येक[3]विध एवोदयः । अत्र त्रयो भङ्गाः, नवरमत्र संज्वलनक्रोधवर्जानां त्रयाणामन्यतम इति वक्तव्यम्, यतः संज्वलनक्रोधोदये सत्यवश्यं संज्वलनक्रोधस्य बन्धेन भवितव्यम् "जे[4] वेयइ[5] ते बंधइ" इति वचनात्, तथा च सति चतुर्विध एव बन्धः प्रसक्तः । ततः संज्वलनक्रोधस्य बन्धे व्यवच्छिद्यमाने उदयोऽपि व्यवच्छिद्यत इति त्रिविधे[6] बन्धे एकविध उदयस्त्रयाणामन्यतम इति व[7]क्तव्यम् । संज्वलनमानबन्धव्यवच्छेदे द्विविधो बन्धः, तत्राप्येकविध एवोदयः, केवलं स माया-लोभयोरन्यतर इति वक्तव्यः, युक्तिः प्रागिवात्राप्यनुसरणीया, अत्र च द्वौ भङ्गौ । संज्वलनमायाबन्धव्यवच्छेदे एकस्य संज्वलनलोभस्य बन्धः तस्यैव चोदयः, अत्रैको भङ्गः । इह यद्यपि चतुरादिषु बन्धस्थानेषु संज्वलनानामुदयमधिकृत्य न कश्चिद् विशेषः, तथापि बन्धस्थानापेक्षया भेदोऽस्तीति भङ्गाः पृथगग्रे गणयिष्यन्ते । तथा 'बन्धोपरमेऽपि' बन्धाभावेऽपि मोहनीयस्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके एकविध उदयो भवति, स च संज्वलनलोभस्यावसेयः, तद्गतसूक्ष्मकिट्टिवेदनात् । ततः परम् 'उदयाभावेऽपि' उदयेऽपगतेऽपि उपशान्तकषायमधिकृत्य मोहनीयं सद् भवति, एतच्च प्रसङ्गागतमिति कृत्वोक्तम्, अन्यथा बन्धस्थानोदयस्थानेषु परस्परं संवेधेन चिन्त्यमानेषु नेदं सत्कर्मताभिधानमुपयोगीति ॥ १७ ॥

---

१ सं० छा० °तुर्विधो ब° ॥ २ सं० छा० °मणका° ॥ ३ सं० त० ०क एकोद० । ४ यो वेदयति स बन्धयति ॥ ५ सं० स० १ त० छा० ०इ से ब० ॥ ६ सं० ०धबन्धे ॥ ७ सं० ०क्तव्यः ॥

सम्प्रति दशादिषु एकपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु यावन्तो भङ्गाः सम्भवन्ति तावतो निर्दिदिक्षुराह—

एक्कग छक्केक्कारस, दस सत्त चउक्क एक्कगा चेव ।
एए चउवीसगया, चउवीस दुगेक्कमिक्कारा ॥ १८ ॥

इह दशादीन्युदयस्थानान्यधिकृत्य यथासङ्ख्यं सङ्ख्यापदयोजना कर्तव्या, सा चैवम्-दशोदये एका चतुर्विंशतिः नवोदये षट्, तद्यथा–द्वाविंशतिबन्धे तिस्रः, एकविंशतिबन्धे मिश्राऽविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे च प्रत्येकमेकैका । अष्टोदये एकादश–तत्र द्वाविंशतिबन्धे अविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः, एकविंशतिबन्धे मिश्रसप्तदशबन्धे च प्रत्येकं द्वे द्वे, त्रयोदशबन्धे चैका । तथा सप्तोदये दश—तत्र द्वाविंशतिबन्धे एकविंशतिबन्धे मिश्रसप्तदशबन्धे च प्रत्येकमेकैका, अविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे त्रयोदशबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः, नवकबन्धे त्वेका । तथा षडुदये सप्त—तत्राविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे एका, त्रयोदशबन्धे नवकबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः । तथा पञ्चकोदये चतस्रः—तत्र त्रयोदशबन्धे एका, नवबन्धे तिस्रः । चतुष्कोदये एका चतुर्विंशतिः । "एए चउवीसगय" त्ति 'एते' अनन्तरोक्ता एकादिकाः सङ्ख्याविशेषाः 'चतुर्विंशतिगताः' चतुर्विंशत्यभिधायका एता अनन्तरोक्ताश्चतुर्विंशतयो ज्ञातव्या इत्यर्थः । एताश्च सर्वसङ्ख्यया चत्वारिंशत् । तथा 'चउवीस दुगे" त्ति द्विकोदये चतुर्विंशतिरेका भङ्गकानाम्, एतच्च मतान्तरेणोक्तम्, अन्यथा स्वमते द्वादशैव भङ्गा वेदितव्याः । "इक्कमिक्कार" त्ति एकोदये एकादश भङ्गाः । ते चैवम्-चतुर्विधबन्धे चत्वारः, त्रिविधबन्धे त्रयः, द्विविधबन्धे द्वौ, एकविधबन्धे एकः, बन्धाभावे चैक इति ॥ १८ ॥

सम्प्रत्येतेषामेव भङ्गानां[1] विशिष्टतरसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

नवपंचाणउइसएहुदयविगप्पेहिँ मोहिया जीवा ।

इह दशादिषु द्विकपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु उदयस्थानभङ्गकानामेकचत्वारिंशत् चतुर्विंशतयो लब्धाः, तत एकचत्वारिंशत् चतुर्विंशत्या गुण्यते, गुणितायां च सत्यां जातानि नव शतानि चतुरशीत्यधिकानि ९८४ । ततः तत्रैकोदयभङ्गा एकादश प्रक्षिप्यन्ते, तेषु च प्रक्षिप्तेषु नव शतानि पञ्चनवत्यधिकानि ९९५ भवन्ति । एतावद्भिरुदयस्थानविकल्पैर्यथायोगं सर्वे संसारिणो जीवाः 'मोहिताः' मोहमापादिता[2] विज्ञेयाः ॥

सम्प्रति पदसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

अउणत्तरिएगुत्तरिपयविंदसएहिँ विन्नेया ॥ १९ ॥

---

१ सं० भङ्गका० ॥ २ सं १त० ०ता वेदितव्याः ॥

इह पदानि नाम—मिथ्यात्वम् अप्रत्याख्यानावरणक्रोधः प्रत्याख्यानावरणक्रोध इत्येवमादीनि, ततो वृन्दानां—दशाद्युदयस्थानरूपाणां पदानि पदवृन्दानि, आर्षत्वाद् राजदन्तादिषु मध्ये पाठाभ्युपगमाद्वा वृन्दशब्दस्य परनिपातः, तेषां शतैरेकसप्तत्यधिकैकोनसप्ततिसङ्ख्यैः ६९७१ मोहिताः संसारिणो जीवा विज्ञेयाः, एतावत्सङ्ख्याभिः कर्मप्रकृतिभिर्यथायोगं मोहिताः संसारिणो जीवा ज्ञातव्या इत्यर्थः ।

[1]अथ कथमेकसप्तत्यधिकैकोनसप्ततिसङ्ख्यानि पदानां शतानि भवन्ति ? उच्यते—इह दशोदये दशपदानि, दशप्रकृतय उदयमागता इत्यर्थः, एवं नवोदयादिष्वपि नवादीनि पदानि भावनीयानि । ततो दशोदय एको दशभिर्गुण्यते, नवोदयाश्च षड् नवभिः, अष्टोदयाश्च एकादश अष्टभिः, सप्तोदया दश सप्तभिः, षडुदयाः सप्त षड्भिः, पञ्चकोदयाश्चत्वारः पञ्चभिः, चतुरुद[2]य एकश्चतुर्भिः, द्विकोदय एको द्वाभ्याम् , गुणयित्वा चैते सर्वेऽपि एकत्र मील्यन्ते ततो जाते द्वे शते नवत्यधिके २९० । एतेषु च प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां प्राप्यत इति भूयश्चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते, गुणितेषु च सत्सु एकोदयभङ्गपदान्येकादश प्रक्षिप्यन्ते ततो यथोक्तसङ्ख्यान्येव पदानां शतानि भवन्ति । इयं चोदयस्थानसङ्ख्या पदसङ्ख्या च ये मतान्तरेण चतुर्विधबन्धसङ्क्रमकाले द्विकोदये द्वादश भङ्गा उक्तास्तानधिकृत्य वेदितव्याः ॥ १९ ॥

यदा पुनरेते नाधिक्रियन्ते तदा इयमुदयस्थानपदसङ्ख्या—

नवतेसीयसएहिं, उदयविगप्पेहिँ मोहिया जीवा ।
अउणत्तरिसीयाला, पयविंदसएहिँ विन्नेया ॥ २० ॥

उदयविकल्पैस्त्र्यशीत्यधिकनवशतसङ्ख्यैः ९८३ तथा दशोदयादिरूपवृन्दान्तर्गतानां पदानां शतैः सप्तचत्वारिंशदधिकैकोनसप्ततिसङ्ख्यैः ६९४७ यथायोगं सर्वेऽपि संसारिणो जीवाः 'मोहिताः' मोहमापादिता विज्ञेयाः । तत्रोदयस्थानेषु पूर्वोक्तप्रकारेण परिसङ्ख्यायमानेषु ये मतान्तरेणोक्ताश्चतुर्विधबन्ध[3]स्थाने द्विकोदये द्वादश भङ्गास्तेऽपसार्यन्ते, ततो नव शतानि त्र्यशीत्यधिकानि ९८३ उदयविकल्पानां भवन्ति । पदेषु च परिसङ्ख्यायमानेषु मता[4]न्तरेणोक्तद्वादशभङ्गगतानि चतुर्विंशतिपदानि अपनीयन्ते, ततो यथोक्तपदानां सङ्ख्या भवति । इह दशादय उदयास्तद्भङ्गाश्च जघन्यत एकसामयिका उत्कर्षत आन्तर्मौहूर्तिकाः, तथाहि—चतुरादिषु दशोदयपर्यन्तेष्ववश्यमन्यतमो वेदोऽन्यतरद् युगलं विद्यते, वेदयुगलयोश्च मध्येऽन्यतरदवश्यं मुहूर्तादारतः परावर्तते, तदुक्तं **पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकायाम्**—

१ सं० त० छा० अत्र ॥ २ सं० १ त० °यश्च ए° ॥ ३ सं० त० °स्थानेषु द्वि° ॥ ४ सं० छा० °न्तरोक्ताद्वा० ।

वेदेन युगलेन वा अवश्यं मुहूर्तादारतः परावर्तितव्यम् (पत्र २१७) इति ।

तत उत्कर्षतः चतुष्कोदयादयः सर्वेऽप्यान्तर्मौहूर्तिकाः । द्विकोदयैककोदयाश्च आन्तर्मौहूर्तिकाः सुप्रतीता एव । तथा यदा विवक्षिते उदये भङ्गे वा एकं समयं वर्तित्वा द्वितीये समये गुणस्थानान्तरं [1]गच्छति तदा अवश्यं बन्धस्थानभेदाद् गुणस्थानभेदात् स्वरूपतो वा भिन्नमुदयान्तरं वा भङ्गान्तरं वा [2]यातीति सर्वेप्युदया भङ्गाश्च जघन्यत एकसामयिकाः ॥ २० ॥

तदेवं बन्धस्थानानामुदयस्थानैः सह परस्परसंवेध उक्तः । सम्प्रति सत्तास्थानैः सह तमभिधित्सुराह—

तिन्नेव य बावीसे, इगवीसे अट्ठवीस सत्तरसे ।
छ च्चेव तेरनवबंधगेसु पंचेव ठाणाइं ॥ २१ ॥
पंचविहचउ[3]विहेसुं, छ छक्क सेसेसु जाण पंचेव ।
पत्तेयं पत्तेयं, चत्तारि य बंधवोच्छेए ॥ २२ ॥

'द्वाविंशतौ' द्वाविंशतिबन्धे त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च । तथाहि—द्वाविंशतिबन्धो मिथ्यादृष्टेः, मिथ्यादृष्टेश्चत्वायुदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश । तत्र सप्तोदयेऽष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानम्, यतः सप्तोदयोऽनन्तानुबन्ध्युदयाभावे भवति, अनन्तानुबन्ध्युदयरहितश्च येन पूर्वं सम्यग्दृष्टिना सता अनन्तानुबन्धिन उद्वलिताः, ततः कालान्तरेण परिणामवशतो मिथ्यात्वं गतेन भूयोऽपि मिथ्यात्वप्रत्ययेन तेऽनन्तानुबन्धिनो बन्द्धुमारभ्यन्ते स एव मिथ्यादृष्टिर्बन्धावलिकामात्रं कालं यावदनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्राप्यते नान्यः, स चाष्टाविंशतिसत्कर्मा इति अष्टाविंशतिरेवैकं सप्तोदये सत्तास्थानम् । अष्टोदये त्रीण्यपि सत्तास्थानानि, यतोऽष्टोदयो द्विधा—अनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽनन्तानुबन्ध्युदयसहितश्च । तत्र योऽनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽष्टोदयस्तत्र प्रागुक्तयुक्तेरष्टाविंशतिरेव सत्तास्थानम् । अनन्तानुबन्ध्युदयसहिते तु त्रीण्यपि सत्तास्थानानि—तत्र यावद् नाद्यापि सम्यक्त्वमुद्वलयति तावदष्टाविंशतिः, सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशतिः, सम्यग्मिथ्यात्वेऽप्युद्वलिते षड्विंशतिः, अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिः । एवं नवोदयेऽप्यनन्तानुबन्ध्युदयरहितेऽष्टाविंशतिरेव, अनन्तानुबन्ध्युदयसहिते तु त्रीण्यपि । दशोदयस्त्वनन्तानुबन्ध्युदयसहित एव भवति, ततस्तत्रापि त्रीणि सत्तास्थानानि भावनीयानि ।

"इगवीसे अट्ठवीस" त्ति 'एकविंशतौ' एकविंशतिबन्धेऽष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानम् । एकविंशतिबन्धो हि सासादनसम्यग्दृष्टेर्भवति, सासादनत्वं च जीवस्यौपशमिकसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानस्योपजायते, सम्यक्त्वगुणेन च मिथ्यात्वं त्रिधा कृतम्, तद्यथा—सम्यक्त्वं मिश्रं मिथ्यात्वं

---

१ सं छा० गच्छन्ति ॥ २ सं० १ म० यान्तीति ॥ ३ छा० मुद्रि० ०उव्विहेसुः ॥

च, ततो दर्शनत्रिकस्यापि सत्कर्मतया प्राप्यमाणत्वाद् एकविंशतिबन्धे त्रिष्वप्युदयस्थानेष्वष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानं भवति ।

"सत्तरसे छ च्चेव" सप्तदशबन्धे षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । सप्तदशबन्धो हि द्वयानां भवति, तद्यथा—सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीनां च । तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव । अविरतसम्यग्दृष्टीनां चत्वारि, तद्यथा-षट् सप्त अष्टौ नव । तत्र षडुदयोऽविरतानामौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वा प्राप्यते । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिश्च । तत्राष्टाविंशतिः प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले, उपश[1]मश्रेणिप्रतिपाते तु उपशान्तानन्तानुबन्धिनामष्टाविंशतिः, उद्वलितानन्तानुबन्धिनां तु चतुर्विंशतिः । क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां त्वेकविंशतिरेव, क्षायिकं हि सम्यक्त्वं सप्तकक्षये भवति, सप्तकक्षये च जन्तुरेकविंशतिसत्कर्मेति । सर्वसङ्ख्यया षडुदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्चेति । सप्तोदये मिश्रदृष्टीनां त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः चतुर्विंशतिश्च । तत्र योऽष्टाविंशतिसत्कर्मा सन् सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्याष्टाविंशतिः । येन पुनर्मिथ्यादृष्टिना सता प्रथमं सम्यक्त्वमुद्वलितं सम्यग्मिथ्यात्वं च नाद्याप्युद्वलितुमारभ्यते अत्रान्तरे परिणामवशेन मिथ्यात्वाद् विनिवृत्य सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्य सप्तविंशतिः । यः पुनः पूर्वं सम्यग्दृष्टिः सन् अनन्तानुबन्धिनो विसंयोज्य पश्चात् परिणामवशतः सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्य चतुर्विंशतिः, सा च चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते, यतश्चतुर्गतिका अपि सम्यग्दृष्टयोऽनन्तानुबन्धिनो विसंयोजयन्ति । तदुक्तं कर्मप्रकृत्यां—

[2]चउगइया पज्जत्ता, तिन्नि वि संजोयणे विजोयंति ।
करणेहिं तीहिं सहिया, णंतरकरणं उवसमो वा ॥ (गा० ३४३)

अत्र "तिन्नि वि" त्ति अविरता देशविरताः सर्वविरता वा यथायोगमिति ।

अनन्तानुबन्धिविसंयोजनानन्तरं च केचित् परिणामवशतः सम्यग्मिथ्यात्वमपि प्रतिपद्यन्ते, ततश्चतसृष्वपि गतिषु सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां चतुर्विंशतिः सम्भवति । अविरतसम्यग्दृष्टीनां तु सप्तोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । तत्राष्टाविंशतिरौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा । चतुर्विंशतिरप्युभयेषाम्, नवरमनन्तानुबन्धिविसंयोजनानन्तरं सा अवगन्तव्या । त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिश्च

---

१ सं० १ त० ०मश्रेण्यां तूप० ॥ २ चतुर्गतिकाः पर्याप्ताः त्रयोऽपि संयोजनान् वियोजयन्ति । करणैस्त्रीभिः सहिता नान्तरकरणं उपशमो वा ॥

वेदकसम्यग्दृष्टीनामेव । तथाहि—कश्चिद् मनुष्यो वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमानो वेदकसम्यग्दृष्टिः क्षपणा[1]याम्युद्यतस्तस्यानन्तानुबन्धिषु मिथ्यात्वे च क्षपिते सति त्रयोविंशतिः, तस्यैव च सम्यग्मिथ्यात्वे क्षपिते द्वाविंशतिः । स च द्वाविंशतिसत्कर्मा सम्यक्त्वं क्षपयन् तच्चरमग्रासे वर्तमानः कश्चित् पूर्वबद्धायुष्कः कालमपि करोति, कालं च कृत्वा चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते । तदुक्तम्—

[2]पट्ठवगो उ मणूसो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु ।

ततो द्वाविंशतिश्चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते । एकविंशतिस्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामेव, यतः सप्तकक्षये क्षायिकसम्यग्दृष्टयः, सप्तके च क्षीणे सत्तायामेकविंशतिरिति । एवमष्टोदयेऽपि मिश्रदृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीनां चोक्तरूपाण्यन्यू[3]नानतिरिक्तानि सत्तास्थानानि भावनीयानि । एवं नवोदयेऽपि, नवरं नवोदयोऽविरतानां वेदकसम्यग्दृष्टीनामेव सम्भवतीति कृत्वा तत्र चत्वारि सत्तास्थानानि वाच्यानि, तद्यथा-अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिश्च । एतानि च प्रागिवावगन्तव्यानि ।

'तेरनवबंधगेसु पंचेव [4]ठाणाइं" त्रयोदशबन्धकेषु नवबन्धकेषु च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । तत्र त्रयोदशबन्धका देशविरताः, ते च द्विधा—तिर्यञ्चो मनुष्याश्च । तत्र ये तिर्यञ्चस्तेषां चतुर्ष्वप्युदयस्थानेषु द्वे एव सत्तास्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च । तत्राष्टाविंशतिरौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले, तथाहि—तदानीमन्तरकरणाद्धायां वर्तमान औपशमिकसम्यग्दृष्टिः कश्चिद् देशविरतिमपि प्रतिपद्यते, कश्चिद् मनुष्यः पुनः सर्वविरतिमपि । तदुक्तं शतकबृहच्चूर्णौ—

[5]उवसमसम्मदिट्ठी अंतरकरणे ठिओ कोइ देसविरइं कोइ पमत्तापमत्तभावं पि
गच्छइ, सासायणो पुण न किमवि लहइ । इति ।

वेदकसम्यग्दृष्टीनां त्वष्टाविंशतिः सुप्रतीता । चतुर्विंशतिः पुनरनन्तानुबन्धिषु विसंयोजितेषु वेदकसम्यग्दृष्टीनां वेदितव्या । शेषाणि तु सर्वाण्यपि त्रयोविंशत्यादीनि सत्तास्थानानि तिरश्चां न सम्भ[6]वन्ति, तानि हि क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयतः प्राप्यन्ते, न च तिर्यञ्चः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयन्ति, किन्तु मनुष्या एव ।

---

१ सं० त० ०यामभ्यु० ॥ २ प्रस्थापकस्तुमनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु ॥ ३ सं० छा० म० ०नातिरि० ॥ ४ सं० १ त० म० छा० ०णाणि" ॥ ५ उपशमसम्यग्दृष्टिरन्तरकरणे स्थितः कोऽपि देशविरतिं कोऽपि प्रमत्ताप्रमत्तभावमपि गच्छति, सासादनः पुनर्न किमपि लभते ॥ ६ सं० १ त० म० छा० ०वन्तीति ॥

अथ मनुष्याः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पाद्य यदा तिर्यक्षूत्पद्यन्ते तदा तिरश्चोऽप्येकविंशतिः प्राप्यत एव, तत् कथमुच्यते शेषाणि त्रयोविंशत्यादीनि सर्वाण्यपि न सम्भवन्ति ? इति तद् अयुक्तम् , यतः क्षायिकसम्यग्दृष्टिस्तिर्यक्षु न सङ्ख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समुत्पद्यते, किन्त्वसङ्ख्येयवर्षायुष्केषु, न च तत्र देशविरतिः, तदभावाच्च न त्रयोदशबन्धकत्वम् । [1]अत्र त्रयोदशबन्धे सत्तास्थानानि चिन्त्यमानानि वर्तन्ते तत एकविंशतिरपि त्रयोदशबन्धे तिर्यक्षु न प्राप्यते । तदुक्तं चूर्णौ—

[2]एगवीसा तिरिक्खेसु संजयाऽसंजएसु न संभवइ । कहं ? भण्णइ–संखेज्जवासाउएसु तिरिक्खेसु खाइगसम्मदिट्ठी न उववज्जइ, असंखेज्जवासाउएसु उववज्जेज्जा, तस्स देसविरई नत्थि । इति ।

ये च मनुष्या देशविरतास्तेषां पञ्चकोदये त्रीणि सत्तास्थानानि । तद्यथा–अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च । षट्कोदये सप्तोदये च प्रत्येकं पञ्चापि सत्तास्थानानि । अष्टकोदये त्वेकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि । तानि चाविरतसम्यग्दृष्ट्युक्तभावनानुसारेण भावनीयानि । एवं नवबन्धकानामपि प्रमत्ता-ऽप्रमत्तानां प्रत्येकं चतुष्कोदये त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च । पञ्चकोदये षट्कोदये च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि । सप्तोदये त्वेकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि सत्तास्थानानि वाच्यानि ॥२१॥

"पंचविहचउविहेसुं छ छक्क" त्ति पञ्चविधे चतुर्विधे च बन्धे प्रत्येकं षट् षट् सत्तास्थानानि । तत्र पञ्चविधे बन्धे अमूनि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश च । तत्राष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिश्चौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्याम् । एकविंशतिरुपशमश्रेण्यां क्षायिकसम्यग्दृष्टेः । क्षपकश्रेण्यां पुनरष्टौ कषाया यावद् न क्षीयन्ते तावदेकविंशतिः । अष्टसु कषायेषु क्षीणेषु पुनस्त्रयोदश । ततो नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश । ततः स्त्रीवेदे क्षीणे एकादश । पञ्चादीनि तु सत्तास्थानानि पञ्चविधबन्धे न प्राप्यन्ते, यतः पञ्चविधबन्धः पुरुषवेदे बध्यमाने भवति, यावच्च पुरुषवेदस्य बन्धस्तावत् षड् नोकषायाः सन्त एवेति । चतुर्विधबन्धे पुनरमूनि षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः चतुर्विंशति एकविंशतिः एकादश पञ्च चतस्रः । तत्राष्टाविंशति-चतुर्विंशति-एकविंशतय उपशमश्रेण्याम् । एकादश पुनरेवं प्राप्यन्ते–इह कश्चिद् नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नः, स च स्त्रीवेद-नपुंसकवेदौ युगपत्

---

१ सं० मुद्रि० अथ च ॥ २ एकविंशतिः तिर्यक्षु संयतासंयतेषु न सम्भवति, कथम् ? भण्यते–संख्येयवर्षायुष्केषु तिर्यक्षु क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्न उपपद्यते, असंख्येयवर्षायुष्केषु उपपद्येत, तस्य देशविरतिर्नास्ति ॥

क्षपयति, स्त्रीवेद-नपुंसकवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धो व्यवच्छिद्यते, तदनन्तरं च पुरुषवेद-हास्यादिषट्के युगपत् क्षपयति; यदि पुनः स्त्रीवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते, ततः प्रथमतो नपुंसकवेदं क्षपयति, ततोऽन्तर्मुहूर्तेन स्त्रीवेदम्, स्त्रीवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदः, ततस्तदनन्तरं पुरुषवेद-हास्यादिषट्के युगपत् क्षपयति, यावच्च न क्षीयते तावदुभयत्रापि चतुर्विधबन्धे वेदोदयरहितस्य एकोदये वर्तमानस्य एकादशकं सत्तास्थानमवाप्यते । पुरुषवेद-हास्यादिषट्कयोस्तु युगपत् क्षीणयोश्चतस्रः प्रकृतयः सत्यः । एवं च स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वा क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य पञ्चप्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं नावाप्यते । यस्तु पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य षण्णोकषायक्षयसमकालं पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदो भवति, ततस्तस्य चतुर्विधबन्धकाले एकादशरूपं सत्तास्थानं न प्राप्यते, किन्तु पञ्चप्रकृत्यात्मकम्, ताश्च पञ्च समयद्वयोनावलिकाद्विकं यावत् सत्यो वेदितव्याः । ततः पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः, ता अप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् सत्यः[1] प्रतिपत्तव्याः ।

"सेसेसु जाण पंचेव पत्तेयं पत्तेयं" शेषेषु त्रिविधद्विविधैकविधेषु बन्धेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि । तत्र त्रिविधबन्धे अमूनि—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः चतस्रः तिस्रः । तत्रादिमानि त्रीणि उपशमश्रेणिमधिकृत्य वेदितव्यानि । शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्याम्, ते चैवम्—संज्वलनक्रोधस्य प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां बन्ध-उदय-उदीरणा युगपद् व्यवच्छेदमायान्ति, व्यवच्छिन्नासु च तासु बन्धस्त्रिविधो जातः, संज्वलनक्रोधस्य च तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्रं समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं मुक्त्वा अन्यत् सर्वं क्षीणम्, तदपि च सत् समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमुपयास्यति, यावच्च न याति तावच्चतस्रः प्रकृतयः त्रिविधबन्धे सत्यः, क्षीणे तु तस्मिंस्तिस्रः, ताश्चान्तर्मुहूर्तं कालं यावदवगन्तव्याः । द्विविधबन्धे पुनरमूनि पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः तिस्रः द्वे च । तत्राद्यानि त्रीणि [2]प्रागिव । शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्याम्, ते चैवम्—संज्वलनमानस्य प्रथमस्थितौ आवलिकामात्रशेषायां संज्वलनमानस्य बन्ध-उदय-उदीरणा युगपद् व्यवच्छिद्यन्ते, तासु च व्यवच्छिन्नासु बन्धो द्विविधो भवति, संज्वलनमानस्य च तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्रं समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलि[3]कं सत्, अन्यत् सर्वं क्षीणम्, तदपि च सत् समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमापत्स्यते, यावच्च [4]नापद्यते तावत् तिस्रः सत्यः, क्षीणे तु

---

१ सं० छा० "०त्योऽवगन्तव्याः । "से० । सं० १ त० त्यः । "से० ॥

२ छा० म० प्रागिवोपशमश्रेण्याम् । शे० ॥ ३ सं० १ त० म० ०कं मुक्त्वा अ० ॥ ४ छा० नाद्यापि क्षीयते ता० ॥

तस्मिन् द्वे, ते अप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् सत्यौ[1]। एकविधबन्धे पुनः पञ्च सत्तास्थानान्यमूनि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः द्वे एका च। तत्राद्यानि त्रीणि प्रागिवोपशमश्रेण्याम्। शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्याम्, ते चैवम्–संज्वलनमायायाः प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां बन्ध-उदय-उदीरणा युगपद् व्यवच्छेदमुपयान्ति, व्यवच्छिन्नासु च तासु बन्ध एकविधो भवति, संज्वलनमायाश्च तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्रं समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च सदस्ति, अन्यत् समस्तं क्षीणम्, तदपि च सत् समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमुपगमिष्यति, यावच्च न क्षयमुपयाति तावद् द्वे सती, क्षीणे तु तस्मिन्नेका प्रकृतिः संज्वलनलोभरूपा, सती।

"चत्तारि य बंधवोच्छेए" बन्धव्यवच्छेदे' इति बन्धाभावे सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः एका च। तत्राद्यानि त्रीणि प्रागिवोपशमश्रेण्याम्। एका तु संज्वलनलोभरूपा प्रकृतिः क्षपकश्रेण्याम्॥ २२॥

तदेवं कृता संवेधचिन्ता। सम्प्रत्युपसंहारमाह—

दसनवपन्नरसाइं, बंधोदयसन्तपयडिठाणाइं।
भणियाइं मोहणिज्जे, इत्तो नामं परं वोच्छं॥ २३॥

बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानि यथासङ्ख्यं दश-नव-पञ्चदश-सङ्ख्यानि प्रत्येकं संवेधद्वारेण[2] च मोहनीयकर्मणि भणितानि। 'इतः परं' अत ऊर्ध्वं 'नाम वक्ष्ये' नाम्नो बन्धादिस्थानानि वक्ष्ये॥ २३॥

तत्र प्रथमतो बन्धस्थाननिरूपणार्थमाह—

[3]तेवीस पण्णवीसा, छव्वीसा अट्ठवीस[4] गुणतीसा।
तीसेगतीसमेक्कं, बंधट्ठाणाणि नामस्स॥ २४॥

नाम्नोऽष्टौ बन्धस्थानानि, तद्यथा–त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एका च। अमूनि च तिर्यग्मनुष्यादिगतिप्रायोग्यतया अनेकप्रकाराणि ततस्तथैवोपदर्श्यन्ते। तत्र तिर्यग्गतिप्रायोग्यं बध्नतः सामान्येन पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा–त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्राप्येकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतः–त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः। तत्र त्रयोविंशतिरियम्-तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्ण-रस-गन्ध-

१ सं० त० म० सत्यौ,॥ २ ० म० ०ण मोहनीयकर्मणि सर्वसंख्यया म०॥ ३ गाथेयं सप्तति-भाष्यस्य अष्टपञ्चाशत्तमी॥ ४ सं० १ छा० ०स उगुती०॥

स्पर्शा अगुरुलघु उपघातनाम स्थावरनाम सूक्ष्म-बादरयोरेकतरम् अपर्याप्तकनाम प्रत्येक-साधारणयोरेकतरम् अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम अनादेयनाम अयशःकीर्तिनाम निर्माणनाम । एतासां त्रयोविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्, एतच्चापर्याप्तकप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेयम् । अत्र भङ्गाश्चत्वारः, तथाहि—बादरनाम्नि बध्यमाने एका त्रयोविंशतिः प्रत्येकनाम्ना सह प्राप्यते, द्वितीया साधारणनाम्ना, एवं सूक्ष्मनाम्न्यपि बध्यमाने द्वे त्रयोविंशति, सर्वसङ्ख्यया चत्वारः । एषैव त्रयोविंशतिः पराघात-उच्छ्वाससहिता पञ्चविंशतिः । नवरमेवमभिलपनीया—तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम स्थावरनाम बादर-सूक्ष्मयोरेकतरं पर्याप्तकं प्रत्येक-साधारणयोरेकतरं स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभाऽऽशुभयोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेक[1]तरं दुर्भगम् अनादेयं निर्माणमिति । एतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम् एतच्च पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवगन्तव्यम् । अत्र भङ्गा विंशतिः—तत्र बादर-पर्याप्त-प्रत्येकेषु बध्यमानेषु स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा--ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभिरष्टौ भङ्गाः, तथाहि—बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिर-शुभेषु बध्यमानेषु यशःकीर्त्या सह एकः, द्वितीयोऽयशःकीर्त्या, एतौ च द्वौ भङ्गौ शुभपदेन लब्धौ, एवमशुभपदेनापि द्वौ भङ्गौ लभ्येते ततो जाताश्चत्वारः, एते चत्वारः स्थिरपदेन लब्धाः, एवमस्थिरपदेनापि चत्वारो लभ्यन्ते ततो जाता अष्टौ। एवं पर्याप्त-बादर-साधारणेषु बध्यमानेषु स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः, यतः साधारणेन सह यशःकीर्तिबन्धो न भवति "[2]नो सुहुमतिगेण जसं" इति वचनात्, ततस्तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते । सूक्ष्म-पर्याप्तनाम्नोर्बध्यमानयोः प्रत्येक-साधारण-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-शुभा-ऽयशःकीर्तिपदैरष्टौ, सूक्ष्मेणापि सह यशःकीर्तेर्बन्धाभावादत्रापि तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते । तदेवं सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशतिबन्धे विंशतिर्भङ्गाः । एषैव पञ्चविंशतिरातप-उद्योतान्यतरसहिता षड्विंशतिः, नवरमेवमभिलपनीया—तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु पराघातम् उपघातम् उच्छ्वासनाम स्थावरनाम आतप-उद्योतयोरेकतरं बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं दुर्भगम् अनादेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति । एतासां च षड्विंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम् । एतच्च पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यमातप-उद्यो[3]तान्यतरसहितं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवगन्तव्यम् । अत्र भङ्गाः षोडश, ते

---

१ केषुचिदादर्शेषु ०कतरा केषुचिद् ०कतरं एवमग्रेऽपि ॥ २ नो सूक्ष्मत्रिकेण यशः ॥
३ सं० १ त० ०ताभ्यां स० ॥

चातप-उद्योत-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैरवसेयाः, आतप-उद्योताभ्यां च सह सूक्ष्म-साधारणबन्धो न भवति, ततस्तदाश्रिता विकल्पा अत्र न प्राप्यन्ते। एकेन्द्रियाणां सर्वसङ्ख्या भङ्गाश्चत्वारिंशत्, तदुक्तम्—

[1]चत्तारि वीस सोलस, भंगा एगिंदियाण चत्ताला।

द्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो बन्धस्थानानि त्रीणि, तद्यथा—पञ्चविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिः औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातनाम त्रसनाम बादरनाम अपर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम अस्थिरम् अशुभं दुर्भगम् अनादेयम् अयशःकीर्तिः निर्माणमिति। एतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्, तच्चापर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेयम्। अपर्याप्तकेन च सह परावर्तमानप्रकृतयोऽशुभा एव बन्धमायान्तीति[2] कृत्वा अत्रैक एव भङ्गः। एषैव पञ्चविंशतिः पराघात-उच्छ्वासा-ऽप्रशस्तविहायोगति-पर्याप्तक-दुःस्वरसहिता अपर्याप्तकरहिता एकोनत्रिंशद् भवति, नवरमेवमेषा वक्तव्या—तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिः औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु पराघातम् उपघातम् उच्छ्वासनाम अप्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकं स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं दुःस्वरं दुर्भगम् अनादेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति। एतासामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्, तच्च पर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेः प्रत्येतव्यम्। अत्र स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गाः। सैव एकोनत्रिंशद् उद्योतसहिता त्रिंशत्, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः, सर्वसङ्ख्यया सप्तदश। एवं त्रीन्द्रियप्रायोग्यं चतुरिन्द्रियप्रायोग्यं च बध्नतो मिथ्यादृष्टेस्त्रीणि त्रीणि बन्धस्थानानि वाच्यानि, नवरं त्रीन्द्रियाणां त्रीन्द्रियजातिरभिलपनीया चतुरिन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियजातिः, भङ्गाश्च प्रत्येकं सप्तदश सप्तदश, सर्वसङ्ख्यया एकपञ्चाशत्। उक्तं च—

[3]एगऽट्ठ अट्ठ विगलिंदियाण इगवण्ण तिण्हं पि।

तिर्यग्गतिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतस्त्रीणि बन्धस्थानानि। तद्यथा—पञ्चविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र पञ्चविंशतिः द्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नत[4] इव वेदितव्या, नवरं द्वीन्द्रियजातिस्थाने पञ्चेन्द्रियजातिर्वक्तव्या, तत्र चैको भङ्गः। एकोनत्रिंशत् पुनरियम्—तिर्यग्गति-तिर्यगानु-

---

१ चत्वारि विंशतिः षोडश भङ्गा एकेन्द्रियाणां चत्वारिंशत्॥

२ सं सं० १ त० ०न्तीति, अत्रै०॥ ३ एकोऽष्टौ अष्टौ विकलेन्द्रियाणां एकपञ्चाशत् त्रयाणामपि॥ ४ मुद्रि० ०त एव वे०॥

पूर्व्यो पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग तैजस-कार्मणे षण्णां संस्थानानामेकतमत् संस्थानं षण्णां संहननानामेकतमत् संहननं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातं पराघातम् उच्छ्वास-नाम प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगत्योरेकतरा त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकं स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं सुभग-दुर्भगयोरेकतरं सुस्वर दुःस्वरयोरेकतरम् आदेया-ऽनादेययोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति। एतासामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्। एतच्च मिथ्यादृष्टेः पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो वेदितव्यम्। यदि पुनः सासादनो बन्धको भवति तर्हि तस्य प[1]ञ्चानामाद्यानां संस्थानानामन्यतमत् संस्थानं प[2]ञ्चानां संहननानामन्यतमत् संहननमिति वक्त[3]व्यम्, "[4]हुंडं असंपत्तं व सासणो न बंधइ" इति वचनात्। अस्यां चैकोनत्रिंशति सामान्येन षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगतिभ्यां स्थिरा-ऽस्थिराभ्यां शुभा-ऽशुभाभ्यां सुभग-दुर्भगाभ्यां सुस्वर-दुःस्वराभ्यां आदेया-ऽनादेयाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां भङ्गा अष्टाधिकषट्चत्वारिं-शच्छतसङ्ख्या वेदितव्याः ४६०८। एषैवैकोनत्रिंशद् उद्योतसहिता त्रिंशद् भवति, अत्रापि मिथ्यादृष्टि-सासादनानधिकृत्य तथैव विशेषोऽवगन्तव्यः, सामान्येन च भङ्गा अष्टाधिकषट्-चत्वारिंशच्छतसङ्ख्याः ४६०८। उक्तं च—

[5]गुणतीसे तीसे वि य, भंगा अट्ठाहिया छयालसया।
पंचिंदियतिरिजोगे, पणवीसे बंधि भंगिक्को॥

सर्वसङ्ख्यया द्वानवतिशतानि सप्तदशाधिकानि ९२१७। सर्वस्यां तिर्यग्गतौ सर्वसङ्ख्यया भङ्गाः त्रिनवतिशतान्यष्टाधिकानि ९३०८।

तथा मनुष्यगतिप्रायोग्यं बध्नतस्त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा-पञ्चविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र पञ्चविंशतिर्यथा प्राग् अपर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतोऽभिहिता तथैवावगन्तव्या। नवरमत्र मनुष्यगतिर्मनुष्यानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिरिति वक्तव्यम्। एकोनत्रिंशत् त्रिधा—एका मिथ्यादृष्टीन् बन्धकानाश्रित्य वेदितव्या, द्वितीया सासादनान्, तृतीया सम्यग्मिथ्यादृष्टीन् अविरतसम्यग्दृष्टीन् वा। तत्राद्ये द्वे प्रागिव भावनीये। तृतीया पुनरियम्—मनुष्यगतिः मनुष्यानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातं पराघातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्त-

१ सं० म० ०ञ्चानां संस्था०॥ २ सं० १ त० ०ञ्चानामाद्यानां संहनना०॥ ३ सं० छा० ०व्यम्। अस्यां॥ ४ हुण्डं असम्प्राप्तं वा सासादनो न बध्नाति॥ ५ एकोनत्रिंशत् त्रिंशदपि च भङ्गा अष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि। पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योग्ये पञ्चविंशतौ बन्धे भङ्ग एकः॥

विहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकं स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं सुभगं सुस्वरम् आदेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति । अस्यां चैकोनत्रिंशति त्रिप्रकारायामपि सामान्येन षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगतिभ्यां स्थिराऽस्थिराभ्यां शुभा-ऽशुभाभ्यां सुभग-दुर्भगाभ्यां सुस्वर-दुःस्वराभ्यां आदेया-ऽनादेयाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यामष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसङ्ख्याः ४६०८ भङ्गा वेदितव्याः । यैव तृतीया एकोनत्रिंशदुक्ता सैव तीर्थकरसहिता त्रिंशत् । अत्र च स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गाः । सर्वसङ्ख्यया मनुष्यगतिप्रायोग्यबन्धस्थानेषु भङ्गाः षट्चत्वारिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि ४६१७ । उक्तं च—

पणुवीसयम्मि एक्को, छायालसया अडुत्तर गुतीसे ।
मणुतीसेऽट्ठ उ सव्वे, छायालसया उ सत्तरसा ॥

तथा देवगतिप्रायोग्यं बध्नतश्चत्वारि बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्राष्टाविंशतिरियम्—देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु पराघातम् उपघातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिराऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं सुभगं सुस्वरम् आदेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति । एतासां समुदाय एकं बन्धस्थानम् । एतच्च मिथ्यादृष्टि-सासादन-मिश्रा-ऽविरतसम्यग्दृष्टि-देशविर[2]त-सर्वविरतानां देवगतिप्रायोग्यं बध्नतामवसेयम् । अत्र स्थिराऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गाः । एषैवाष्टाविंशतिस्तीर्थकरसहिता एकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः । नवरमेनां देवगतिप्रायोग्यां बध्नन्तोऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो बध्नन्ति। त्रिंशत् पुनरियम्—देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् आहारकम् आहारकाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातं पराघातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम शुभनाम स्थिरनाम सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्तिनाम निर्माणनामेति । एतासां त्रिंशत्प्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम् । एतच्च देवगतिप्रायोग्यं बध्नतोऽप्रमत्तसंयतस्याऽपूर्वकरणस्य वा वेदितव्यम् । अत्र सर्वाण्यपि शुभान्येव कर्माणि बन्धमाया[3]न्तीति कृत्वा एक एव भङ्गः । एषैव त्रिंशत् तीर्थकरसहिता एकत्रिंशद् भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया देवगति-

---

१ पञ्चविंशतावेकः षट्चत्वारिंशच्छतानि अष्टोत्तराणि एकोनत्रिंशति । मनुष्यत्रिंशति अष्टौ तु सर्वे षट्चत्वारिंशच्छतानि तु सप्तदश ॥ २ मुद्रि० छा० ०रतानां सर्वविरतानां । ० सं० सं० १ रतानां देवग० ॥ ३ सं० सं० १ त० ०न्तीति एक ए० ॥

प्रायोग्यबन्धस्थानेषु भङ्गा अष्टादश । तदुक्तम्—

[1]अट्ठऽट्ठ एक्क एक्कग, भंगा अट्ठार देव[2]जोगेसु ।

तथा नरकगतिप्रायोग्यं बध्नत एकं बन्धस्थानं अष्टाविंशतिः, सा चेयम्-नरकगतिः नरकानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे हुण्डसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातं पराघातम् उच्छ्वासनाम अप्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम अस्थिरम् अशुभं दुर्भगं दुःस्वरम् अनादेयम् अयशःकीर्तिः निर्माणमिति । एतासामष्टाविंशतिप्रकृतीनामेकं बन्धस्थानम् एतच्च मिथ्यादृष्टेरेवसेयम् । अत्र सर्वाण्यप्यशुभान्येव कर्माणीत्येक एव भङ्गः । एकं तु बन्धस्थानं यशःकीर्तिलक्षणम्, तच्च देवगतिप्रायोग्यबन्धे व्यवच्छिन्ने अपूर्वकरणादीनां त्रयाणामवगन्तव्यम् ॥ २४ ॥

सम्प्रति कस्मिन् बन्धस्थाने कति भङ्गाः सर्वसङ्ख्यया प्राप्यन्ते ? इति चिन्तायां तन्निरूपणार्थमाह—

[3]चउ पणवीसा सोलस, नव बाण[4]उईसया य अडयाला ।
एयालुत्तर छायालसया एक्केक्क बंधविही ॥ २५ ॥

त्रयोविंशत्यादिषु बन्धस्थानेषु यथासङ्ख्यं 'चतुरादिसङ्ख्या बन्धविधयः' बन्धप्रकाराः-बन्धभङ्गा वेदितव्याः । तत्र त्रयोविंशतिबन्धस्थाने भङ्गाश्चत्वारः, ते चैकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नतोऽवसेयाः, अन्यत्र त्रयोविंशतिबन्धस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात् । पञ्चविंशतिबन्धस्थाने पञ्चविंशतिर्भङ्गाः, तत्रैकेन्द्रियप्रायोग्यां पञ्चविंशतिं ब[5]ध्नतो विंशतिः, अपर्याप्तकद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्यां च बध्नतामेकैक इति सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशतिः । षड्विंशतिबन्धस्थाने भङ्गाः षोडश, ते चैकेन्द्रियप्रायो[6]ग्यमेव बध्नतोऽवसेयाः, अन्यत्र षड्विंशतिबन्धस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात् । अष्टाविंशतिबन्धस्थाने भङ्गा नव-तत्र देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतोऽष्टौ, नरकगतिप्रायोग्यां तु बध्नत ए[7]क इति । एकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने भङ्गा अष्टचत्वारिंशदधिकानि द्विनवतिशतानि ९२४८—तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६०८, मनुष्यगतिप्रायोग्यामपि बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६०८, द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियप्रायोग्यां देवगतिप्रायोग्यां च तीर्थकरसहितां बध्नतां प्रत्येकमष्टावष्टाविति ।

१ अष्टावष्टावेक एकको भङ्गा अष्टादश देवयोग्येषु ॥ २ सं० १ त० ०वजुग्गे० । सं० म० छा० ०वजोग्गे० ॥ ३ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये अशीतितमी ॥ ४ सं० सं० १ छा० ०उइयस० ॥ ५ मुद्रि० ०ध्नतो मिथ्यादृष्टेर्विंश० ॥ ६ छा० मुद्रि० ०ग्यामेव ॥ ७ मुद्रि० ०क एवेति ॥

त्रिंशति बन्धस्थाने भङ्गा एकचत्वारिंशदधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६४१—तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां त्रिंशतं बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६०८, द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियप्रायोग्यां मनुष्यगतिप्रायोग्यां च बध्नतां प्रत्येकमष्टावष्टौ, देवगतिप्रायोग्यामाहारकसहितां त्रिंशतं बध्नत एक इति । तथा एकत्रिंशति बन्धस्थाने एकः । एकविधे चैकः । सर्वसङ्ख्यया सर्वबन्धस्थानेषु भङ्गास्त्रयोदश सहस्राणि नव शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि १३९४५ इति ॥ २५ ॥

तदेवमुक्तानि सप्रभेदं बन्धस्थानानि । सम्प्रत्युदयस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

[1]वीसिगवीसा चउवीसगाइ[2] एगाहिया उ इगतीसा ।
उदयट्ठाणाणि भवे, नव अट्ठ य हुंति नामस्स ॥ २६ ॥

'नाम्नः' नामकर्मण उदयस्थानानि द्वादश । तद्यथा--विंशतिः एकविंशतिः चतुर्विंशत्यादयः 'एकाधिकाः' एकैकाधिकास्तावद् वक्तव्या यावदेकत्रिंशत् , तद्यथा—चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् , तथा नव अष्टौ च । एतानि चैकेन्द्रियाद्यपेक्षया नानाप्रकाराणीति तानाश्रित्य सप्रपञ्चमुपदर्श्यन्ते—

तत्रैकेन्द्रियाणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा---एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिश्च । तत्र तैजस-कार्मणे अगुरुलघु स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शा निर्माणमित्येता द्वादश प्रकृतय उदयमाश्रित्य ध्रुवाः । एताः तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी स्थावरनाम एकेन्द्रियजातिः बादर-सूक्ष्मयोरेकतरं पर्याप्ता-ऽपर्याप्तयोरेकतरं दुर्भगम् अनादेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरा इत्येतन्नवप्रकृतिसहिता एकविंशतिः । अत्र भङ्गाः पञ्च—बादर-सूक्ष्माभ्यां प्रत्येकं पर्याप्ता-ऽपर्याप्ताभ्यामयशःकीर्त्या सह चत्वारः, बादर-पर्याप्त-यशःकीर्तिभिः सह एक इति । सूक्ष्मा-ऽपर्याप्ताभ्यां सह यशःकीर्तेरुदयो न भ[3]वतीति कृत्वा तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते । एषा चैकविंशतिरेकेन्द्रियस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्य वेदितव्या । ततः शरीरस्थस्यौदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानम् उपघातं प्रत्येक-साधारणयोरेकतरमिति चतस्रः प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततश्चतुर्विंशतिर्भवति । अत्र च भङ्गा दश, तद्यथा—बादरपर्याप्तस्य प्रत्येक-साधारण-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः, अपर्याप्तबादरस्य प्रत्येक-साधारणाभ्यामयशःकीर्त्या सह द्वौ, सूक्ष्मस्य पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-प्रत्येक-साधारणैरयशःकीर्त्या सह चत्वार इति दश । बादरवायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वत औदारिकस्थाने वैक्रियं वक्तव्यम् , ततश्च तस्यापि चतुर्विंशतिरुदये प्राप्यते, केवलमिह बादर-पर्याप्त-प्रत्येका-ऽयशःकीर्तिपदैरेक एव भङ्गः । तेजस्कायिक-वायुकायिकयोः

१ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये अष्टाशीतितमी ॥ २ सप्ततिकाभाष्ये तु—०इ इगतीसगंत एगहिया ॥
३ सं० सं० १ त० ०वतीति तदा० ॥

साधारण-यशःकीर्त्युदयो न भवतीति तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते । सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशतौ एकादश भङ्गाः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशतिः । अत्र भङ्गाः षट्, तद्यथा—बादरस्य प्रत्येक-साधारण-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः, सूक्ष्मस्य प्रत्येक-साधारणाभ्यामयशःकीर्त्या सह द्वौ । तथा बादरवायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य (ग्रन्थाग्रम् १२३८) पराघाते क्षिप्ते पञ्चविं[1]शतिर्भवति, अत्र च प्राग्वदेक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशतौ सप्त भङ्गाः । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे [2]प्रक्षिप्ते षड्विंशतिः, अत्रापि भङ्गाः प्रागिव षट् । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते आतप-उद्योतयोरन्यतरस्मिन्नुदिते षड्विंशतिर्भवति । अत्रापि भङ्गाः षट्, तद्यथा—बादरस्योद्योतेन सहितस्य प्रत्येक-साधारण-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः; आतपसहितस्य च प्रत्येक-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैर्द्वौ । बादरवायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्ते प्रागुक्ता पञ्चविंशतिः षड्विंशतिर्भवति, तत्र च प्राग्वदेक एव भङ्गः । तेजस्कायिक-वायुकायिकयोरातप-उद्योत-यशःकीर्तीनामुदयाभावात् तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते । सर्वसङ्ख्यया षड्विंशतौ त्रयोदश भङ्गाः । तथा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां षड्विंशतौ आतप-उद्योतयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते सति सप्तविंशतिर्भवति, अत्र भङ्गाः षड्, ये प्रागातप-उद्योतान्यतरसहितायां षड्विंशतौ प्रतिपादिताः । सर्वसङ्ख्यया चैकेन्द्रियाणां भङ्गाः द्विचत्वारिंशत् ४२ ।

उक्तं च—

[3]एगिंदियउदयएसु, पंच य एकार सत्त तेरस या ।
छक्कं कमसो भंगा, बायाला हुंति सव्वे वि ॥

द्वीन्द्रियाणामुदयस्थानानि षट्, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्र तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्ता-ऽपर्याप्तयोरेकतरं दुर्भगम् अनादेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरा इत्येता नव प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह एकविंशतिः । एषा चापान्तरालगतौ वर्तमानस्य द्वीन्द्रियस्यावाप्यते । अत्र भङ्गास्त्रयः, तद्यथा—अपर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य अयशःकीर्त्या सह एकः, पर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां द्वाविति । तस्यैव च शरीरस्थस्य औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननम् उपघातं प्रत्येकमिति षट् प्रकृतयः प्रक्षि-

१ सं १ त० ०शतिः । अत्र ॥ २ सं स १ त० म० छा० ०से क्षिप्ते । एवमग्रेऽपि 'प्रक्षिप्ते' इत्येतत्स्थाने क्षिप्ते, 'क्षिप्ते' इत्येतत्स्थाने 'प्रक्षिप्ते' इति पाठान्तराणि सन्ति ॥ ३ एकेन्द्रियोदयेषु पञ्च चैकादश सप्त त्रयोदश च । षट् क्रमशो भङ्गा द्विचत्वारिंशद् भवन्ति सर्वेऽपि ॥

प्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते जाता षड्विंशतिः, अत्रापि भङ्गास्त्रयः, ते च प्रागिव द्रष्टव्याः। ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य अप्रशस्तविहायोगति-पराघातयोः प्रक्षिप्तयोरष्टाविंशतिः, अत्र यशः-कीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां द्वौ भङ्गौ, अपर्याप्तक-प्रशस्तविहायोगत्योरत्रोदयाभावात्। ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ। अथवा शरीर-पर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिं[1]शत्, अत्रापि[2] प्रागिव द्वौ भङ्गौ। सर्वेऽप्येकोनत्रिंशति चत्वारो भङ्गाः। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति सुस्वर-दुःस्वरयोरेकतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्र सुस्वर-दुःस्वर-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः। अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य[3] स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशद् भवति, अत्र यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिविकल्पाभ्यां द्वौ भङ्गौ, सर्वे त्रिंशति षड् भङ्गाः। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्त[4]स्य स्वरसहितायां त्रिंशति उद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते एकत्रिंशद् भवति, अत्र सुस्वर-दुःस्वर यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः। सर्वसङ्ख्यया द्वीन्द्रियाणां द्वाविंशतिर्भङ्गाः। एवं त्रीन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणां च प्रत्येकं षट् षड् उदयस्थानानि भावनीयानि, नवरं द्वीन्द्रियजातिस्थाने त्रीन्द्रियाणां त्रीन्द्रियजातिः, चतुरिन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियजातिरभिधातव्या, प्रत्येकं च भङ्गा द्वाविंशतिर्द्वाविंशतिरिति। सर्वसङ्ख्यया विकलेन्द्रियाणां भङ्गाः षट्षष्टिः ६६। तदुक्तम्—

[5]तिग तिग दुग चउ छ चउ, विगलाण छसट्ठि होइ तिण्हं पि।

प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुदयस्थानानि षट्, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्र तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्ता-ऽपर्याप्तयोरेकतरं सुभग-दुर्भगयोरेकतरम् आदेया-ऽनादेययोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरा इत्येता नव प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह एकविंशतिः, एषा चापान्तरालगतौ वर्तमानस्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वेदितव्या। अत्र भङ्गा नव—तत्र पर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य सुभग-दुर्भगाभ्यामादेया-ऽनादेयाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां चाष्टौ भङ्गाः, अपर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य तु दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिभिरेकः।

अपरे पुनराहुः—सुभगा-ऽऽदेये युगपदुदयमायातः दुर्भगा-ऽनादेये च, ततः पर्याप्तकस्य सुभगा-ऽऽदेययुगलदुर्भगा-ऽनादेययुगलाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां च चत्वारो भङ्गाः,

---

१ सं० १ म० ०शद् भवति, अत्रा० ॥ २ सं० १ ०पि तावेव ॥ ३ त० ०स्य दुःस्व० ॥ ४ त० ०स्य सुस्वर० ॥ ५ त्रिकः त्रिको द्विकश्चत्वारः षट् चत्वारो विकलानां षट्षष्टिर्भवति त्रयाणामपि ॥

अपर्याप्तकस्य त्वेक इति, सर्वसङ्ख्यया पञ्च । एवमुत्तरत्रापि मतान्तरेण भङ्गवैषम्यं स्वधिया परिभावनीयम् ।

ततः शरीरस्थस्य आनुपूर्वीमपनीय औदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्गं षण्णां संस्थानानामेकतमत् संस्थानं षण्णां संहननानामेकतमत् संहननम् उपघातं प्रत्येकमिति षट्कं प्रक्षिप्यते, ततो जाता षड्विंशतिः । अत्र भङ्गानां द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९—तत्र पर्याप्तस्य षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः सुभग-दुर्भगाभ्यामादेया-ऽनादेयाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां च द्वे शते भङ्गानामष्टाशीत्यधिके २८८, अपर्या[1]प्तकस्य हुण्डसंस्थान-सेवार्तसंहनन-दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशः-कीर्तिपदैरेक इति । तस्यामेव षड्विंशतौ शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगत्योरन्यतरविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायामष्टाविंशतिः, तत्र ये प्राक् पर्याप्तानां द्वे शते भङ्गानामष्टाशीत्यधिके २८८ उक्ते ते अत्र विहायोगतिद्विकेन गुणिते अवगन्तव्ये, तथा च सत्यत्र भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ भवन्ति । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशत् , अत्रापि भङ्गाः प्रागिव पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि भङ्गाः पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ । सर्वसङ्ख्यया भङ्गानामेकोनत्रिंशति द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि ११५२ । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वर-दुःस्वरयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्र ये प्रागुच्छ्वासेन पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ उक्तानि तान्येव स्वरद्विकेन गुण्यन्ते ततो जातानि द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२ । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशद् भवति, अत्रापि भङ्गानां प्रागिव पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ । सर्वसङ्ख्यया त्रिंशति भङ्गानां सप्तदश शतानि अष्टाविंशत्यधिकानि १७२८ । ततः स्वरसहितायां त्रिंशति उद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते एकत्रिंशद् भवति । अत्र ये पाक् स्वरसहितायां त्रिंशति भङ्गा द्विपञ्चाशदधिकैकादशशतसङ्ख्याः ११५२ उक्तास्त एवात्रापि द्रष्टव्याः । सर्वसङ्ख्यया प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां उ[2]दयभङ्गा एकोनपञ्चाशच्छतानि षडधिकानि ४९०६ ।

[3]तथा इदानीं तेषामेव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां वैक्रियं कुर्वतामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रम् उपघातं प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतयः प्रागुक्तायां तिर्यक्पञ्चेन्द्रिययोग्यायामेकविंशतौ

---

१ सं० सं० २ छा० मुद्रि० ०प्तकहुण्ड० ॥ २ सं० १ त० म० ०दये भ० ॥ ३ सं० १ सं० त० ०था तेषामे० ॥

प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततः पञ्चविंशतिर्भवति, अत्र सुभग-दुर्भगाभ्यामादेया-ऽनादेयाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां चाष्टौ भङ्गाः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिर्भवति, तत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासनाम्नि प्रक्षिप्तेऽष्टाविंशतिर्भवति, अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदितेऽष्टाविंशतिर्भवति, अत्राप्यष्टौ भङ्गाः । सर्वसङ्ख्ययाऽष्टाविंशतौ भङ्गाः षोडश । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामष्टाविंशतौ सुस्वरे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशत् , अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत् ; अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति षोडश । ततः सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते प्रक्षिप्ते त्रिंशत् , अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । सर्वसङ्ख्यया वैक्रियं कुर्वतां षट्पञ्चाशद् भङ्गाः ५६ । सर्वेषां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां सर्वसङ्ख्यया एकोनपञ्चाशच्छतानि द्विषष्ट्यधिकानि ४९६२ भङ्गानामवसेयानि ।

सामान्यमनुष्याणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतानि सर्वाण्यपि यथा प्राक् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुक्तानि तथैवात्रापि वक्तव्यानि, नवरं तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीस्थाने मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ वेदितव्ये । एकोनत्रिंशत् त्रिंशच्च उद्योतरहिता वक्तव्या, वैक्रिया-ऽऽहारकसंयतान् मुक्त्वा शेषमनुष्याणामुद्योतोदयाभावात् । तत एकोनत्रिंशति भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, त्रिंशत्येकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२ अवगन्तव्यानि । सर्वसङ्ख्यया प्राकृतमनुष्याणां षड्विंशतिशतानि द्विकाधिकानि २६०२ भङ्गानां भवन्ति ।

वैक्रियमनुष्याणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रम् उपघातं त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम सुभग-दुर्भगयोरेकतरम् आदेया-ऽनादेययोरेकतरं यशःकीर्त्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरा इति त्रयोदश प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह पञ्चविंशतिः २५ । अत्र सुभग-दुर्भगा-ऽऽदेया-ऽनादेय-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गाः । देशविरतानां संयतानां च वैक्रियं कुर्वतां सर्वप्रशस्त एव भङ्गो वेदितव्यः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्ता[1]यां सप्तविंशतिः, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्तेऽष्टाविंशतिः, अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । अथवा संयतानामुत्तरवैक्रियं कुर्वतां शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानामुच्छ्वासेऽनुदिते उद्योत-

---

१ सं० १ त० म० ०यां सत्यां सप्त० ॥

नाम्नि तूदितेऽष्टाविंशतिः, अत्रैक एव भङ्गः, संयतानां दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्त्युदयाभावात् । सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतौ भङ्गा नव । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामष्टाविंशतौ सुस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । अथवा संयतानां स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि प्रागिवैक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति भङ्गा नव । सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति संयतानामुद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्रापि प्रागिवैक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया वैक्रियमनुष्याणां भङ्गाः पञ्चत्रिंशत् ३५ ।

आहारकसंयतानामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्राहारकम् आहारकाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानम् उपघातं प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतयः प्रागुक्तायां मनुष्यगतिप्रायोग्यायामेकविंशतौ प्रक्षिप्यन्ते मनुष्यानुपूर्वी चापनीयते ततो जाता पञ्चविंशतिः, केवलमिह पदानि सर्वाण्यपि प्रशस्तान्येव भवन्ति, आहारकसंयतानां दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्त्युदयाभावात्, अत एक एवात्र भङ्गः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिः, अत्राप्येक एव भङ्गः । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्तेऽष्टाविंशतिर्भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते अष्टाविंशतिर्भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतौ द्वौ भङ्गौ । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामष्टाविंशतौ सुस्वरे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत्, अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति द्वौ भङ्गौ । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य[1] स्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया आहारकशरीरिणां सप्त भङ्गाः ।

केवलिनामुदयस्थानानि दश, तद्यथा—विंशतिः एकविंशतिः षड्विंशति सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च । तत्र मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकं सुभगम् आदेयं यशःकीर्तिरित्येता अष्टौ ध्रुवोदयाभिर्द्वादशसङ्ख्याभिः सह विंशतिः, अत्रैको भङ्गः । एषा चातीर्थकरकेवलिनः समुद्घातगतस्य कार्मणकाययोगे वर्तमानस्य वेदितव्या । सैव विंशतिस्तीर्थकरनामसहिता एकविंशतिः अत्राप्येको भङ्गः एषा च तीर्थकरकेवलिनः समुद्घातगतस्य कार्मणकाययोगे वर्तमानस्य वेदितव्या । तथा तस्यामेव विंशतावौदारिकशरीरं षण्णां संस्थानानामेकतमत् संस्थानम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं वज्रर्षभनाराचसंहननम् उपघातं प्रत्येकमिति षट् प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते ततः षड्विंशतिर्भवति, एषा

---

१ सं० सं० १ त० म० छा० °स्य सुस्व° ॥

चातीर्थकरकेवलिन औदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमानस्य वेदितव्या, अत्र षड्भिः संस्थानैः षड् भङ्गा भवन्ति परं ते सामान्यमनुष्योदयस्थानेष्वपि सम्भवन्तीति न पृथग् गण्यन्ते । एषैव षड्विंशतिः तीर्थकरसहिता सप्तविंशतिर्भवति, एषा तीर्थकरकेवलिन औदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमानस्यावसेया, अत्र संस्थानं समचतुरस्रमेव वक्तव्यम्, तत एक एवात्र भङ्गः । सैव षड्विंशतिः पराघात-उच्छ्वास-प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगत्यन्यतरविहायोगति-सुस्वर-दुःस्वरान्यतरस्वरसहिता त्रिंशद् भवति, एषा चातीर्थकरस्य सयोगिकेवलिन औदारिककाययोगे वर्तमानस्यावगन्तव्या, अत्र संस्थानषट्क-प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगति-सुस्वर-दुःस्वरैश्चतुर्विंशतिर्भङ्गाः, ते च सामान्यमनुष्योदयस्थाने[1]ष्वपि प्राप्यन्ते इति न पृथग् गण्यन्ते । एषैव त्रिंशत् तीर्थकरनामसहिता एकत्रिंशद् भवति, सा च सयोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्यौदारिककाययोगे वर्तमानस्यावसेया । एषैव एकत्रिंशद् वाग्योगे निरुद्धे त्रिंशद् भवति, उच्छ्वासेऽपि च निरुद्धे एकोनत्रिं[2]शत् । अतीर्थकरकेवलिनः प्रागुक्ता त्रिंशद् वाग्योगे निरुद्धे सत्येकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि षड्भिः संस्था[3]नैः विहायोगतिद्विकेन[4] च द्वादश भङ्गाः प्राप्यन्ते, ते च प्रागिव न पृथग् गण्यन्ते । तत उच्छ्वासे निरुद्धेऽष्टाविंशतिः, अत्रापि संस्था[5]नादिगताः द्वादश भङ्गा न पृथग् गणयितव्याः, सामान्यमनुष्योदयस्थानग्रहणेन गृहीतत्वात् । तथा मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभगम् आदेयं यशःकीर्तिः तीर्थकरमिति नवोदयः, एष च तीर्थकृतोऽयोगिकेवलिनश्चरमसमये वर्तमानस्य प्राप्यते । स एवातीर्थकरस्य तीर्थकरनामरहितोऽष्टोदयः । इह केवल्युदयस्थानमध्ये विंशति-एकविंशति-सप्तविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्-नवाऽष्टरूपेष्वष्टसूदयस्थानेषु प्रत्येकमेकैको विशेषभङ्गः प्राप्यते इत्यष्टौ भङ्गाः । तत्र विंशत्यष्टकयोर्भङ्गावतीर्थकृतः, शेषेषु षट्सु उदयस्थानेषु तीर्थकृतः षड् भङ्गाः, सर्वसङ्ख्यया मनुष्याणामुदयस्थानेषु षड्विंशतिशतानि द्विपञ्चाशदधिकानि २६५२ ।

देवानामुदयस्थानानि षट्, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकं सुभग-दुर्भगयोरेकतरम् आदेया-ऽनादेययोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरा इति नव प्रकृतयो[6] द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह एकविंशतिः, अत्र सुभग-दुर्भगा-ऽऽदेया-ऽनादेय-यशःकीर्त्ति-अयशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गाः । दुर्भगाऽनादेया-ऽयशःकीर्त्तीनामुदयः पिशाचादीनामवगन्तव्यः । ततः शरीरस्थस्य वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् उपघातं प्रत्येकं समचतुरस्रसंस्थानमिति

---

१ सं० १ त० ०ष्वपि इ० ॥ २ सं० १त० शद् भवति । अ० ॥ ३ छा० म० मुद्रि० °स्थानैः षड् भङ्गाः प्राप्यन्ते त्रि० ॥ ४ छा० म० न च द्वादश । ते च प्रागि० ॥ ५ छा० म० मुद्रि० स्थानगताः षड् म० ६ सं० १ त० म० °यो ध्रुवोदयाभिर्द्वादशसंख्याभिः ॥

पञ्च प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते देवानुपूर्वी चापनीयते ततो जाता पञ्चविंशतिः, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः। ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिः, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः देवानामप्रशस्तविहायोगतेरुदयाभावात् तदाश्रिता विकल्पा न भवन्ति। ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्तेऽष्टाविंशतिः, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः, अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदितेऽष्टाविंशतिः, अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः, सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतौ भङ्गाः षोडश। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्राप्यष्टौ भङ्गाः, दुःस्वरोदयो देवानां न भवतीति कृत्वा तदाश्रिता विकल्पा न भवन्ति, अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद् भवति, उत्तरवैक्रियं हि कुर्वतो देवस्योद्योतोदयो लभ्यते, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः। सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति षोडश भङ्गाः। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते क्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः, सर्वसङ्ख्यया देवानां चतुःषष्टिर्भङ्गाः ६४।

नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा–एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत्। तत्र नरकगतिः नरकानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगनाम अनादेयम् अयशःकीर्तिरित्येता नव प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिध्रुवोदयाभिः सहैकविंशतिः, अत्र सर्वाण्यपि पदानि अप्रशस्ता[1]न्येवेति एक एव भङ्गः। ततः शरी[2]रस्थस्य वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानम् उपघातं प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते, नरकानुपूर्वी चापनीयते, ततः पञ्चविंशतिर्भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः। ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाता-ऽप्रशस्तविहायोगत्योः प्रक्षिप्तयोः सप्तविंशतिः, अत्राप्येक एव भङ्गः। ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्तेऽष्टाविंशतिः, अत्राप्येक एव भङ्गः। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य दुःस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्राप्येक एव भङ्गः। सर्वसङ्ख्यया नैरयिकाणां पञ्च भङ्गाः। सकलोदयस्थानभङ्गाः पुनः सप्तसप्ततिशतानि एकनवत्यधिकानि ७७९१॥ २६॥

सम्प्रति कस्मिन्नुदयस्थाने कति भङ्गाः प्राप्यन्ते? इति चिन्तायां तन्निरूपणार्थमाह—

[3]एग बियालेक्कारस, तेत्तीसा छस्सयाणि तेत्तीसा।
बारससत्तरससयाणहिगाणि बिपंचसीईहिं ॥ २७॥
अउणत्तीसिक्कारससयाहिगा सतरसपंचसट्ठीहिं।
इक्केक्कगं च वीसादट्ठुदयंतेसु उदयविही ॥ २८॥

---

१ छा० मुद्रि० 'न्येवेति कृत्वा एक ए°॥ २ सं० मुद्रि० °रपर्याप्त्या पर्याप्तस्य वैक्रि°॥ ३ गाथेमे सप्ततिकाभाष्ये द्वाविंशति-त्रयोविंशत्यधिकैकशततम्यौ॥

विंशत्यादिष्वष्टपर्यन्तेषु द्वादशसूदयस्थानेषु यथासङ्ख्यमेकादिसङ्ख्याः 'उदयविधयः' उदयप्रकारा उदयभङ्गा इत्यर्थः। तत्र विंशतावेको भङ्गः, स चातीर्थकरकेवलिनोऽवसेयः। एकविंशतौ द्विचत्वारिंशत्–तत्रैकेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च, विकलेन्द्रियानधिकृत्य नव, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य नव, मनुष्यानप्यधिकृत्य नव, तीर्थंकरमधिकृत्यैकः, सुरानधिकृत्याष्टौ, नैरयिकानधिकृत्यैक इति द्विचत्वारिंशत् ४२। चतुर्विंशतावेकादश, ते चैकेन्द्रियानेवाधिकृत्य प्राप्यन्ते, अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात्। पञ्चविंशतौ त्रयस्त्रिंशत्—तत्रैकेन्द्रियानधिकृत्य सप्त, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, वैक्रियमनुष्यानप्यधिकृत्याष्टौ, आहारकसंयतानाश्रित्यैकः, देवानप्यधिकृत्याष्टौ, नैरयिकानधिकृत्यैक इति त्रयस्त्रिंशत् ३३। षड्विंशतौ षट् शतानि ६००–तत्रैकेन्द्रियानाश्रित्य त्रयोदश, विकलेन्द्रियानधिकृत्य नव, प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९, प्राकृतमनुष्यानप्यधिकृत्य द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९ इति षट् शतानि ६००। सप्तविंशतौ त्रयस्त्रिंशद्–तत्रैकेन्द्रियानाश्रित्य षट्, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्याष्टौ, आहारकसंयतानधिकृत्यैकः, केवलिनमधिकृत्यैकः, देवानधिकृत्याष्टौ, नैरयिकानधिकृत्यैक इति त्रयस्त्रिंशत् ३३। अष्टाविंशतौ द्व्यधिकानि द्वादश शतानि १२०२–तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य षट्, प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश, मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव, आहारकसंयतानधिकृत्य द्वौ, देवानधिकृत्य षोडश, नारकानधिकृत्यैक इति। एकोनत्रिंशति पञ्चाशीत्यधिकानि सप्तदश शतानि १७८५–तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश, मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव, आहारकसंयतानधिकृत्य द्वौ, तीर्थंकरमधिकृत्यैकः, देवानधिकृत्य षोडश, नारकानधिकृत्यैक इति। त्रिंशति एकोनत्रिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि २९१७–तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्याष्टादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सप्तदश शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि १७२८, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, मनुष्यानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्यैकः, आहारकसंयतानधिकृत्यैकः, केवलिनमधिकृत्यैकः, देवानधिकृत्याष्टौ। एकत्रिंशत्येकादश शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ११६५–तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, तीर्थंकरमधिकृत्यैकः। एको नवोदये। एकोऽष्टोदये। सर्वोदयस्थानेषु सर्वसङ्ख्यया भङ्गाः सप्तसप्ततिशतान्येकनवत्यधिकानि ७७९१ इति ॥२७–२८॥

१ त० म० °करान° ॥

तदेवमुक्तानि सप्रभेदान्युदयस्थानानि । सम्प्रति सत्तास्थानप्ररूपणार्थमाह–

तिदुनउई उगुनउई, अडच्छलसी असीइ उगुसीई ।
अडयछप्पणत्तरि, नव अड य नामसंताणि ॥ २९ ॥

नाम्नः–नामकर्मणो द्वादश सत्तास्थानानि, तद्यथा–त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः अष्टसप्ततिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टाविति । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायस्त्रिनवतिः । सैव तीर्थकररहिता द्विनवतिः । त्रिनवतिरेवाहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकसङ्घाता-ऽऽहारकबन्धनरूपचतुष्टयेन रहिता एकोननवतिः । सैव तीर्थ-कररहिता अष्टाशीतिः । ततो नरकगति-नरकानुपूर्व्योरथवा देवगति देवानुपूर्व्योरुद्वलितयोः षड-शीतिः; अथवा अशीतिसत्कर्मणो नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतो नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग-वैक्रियसङ्घात-वैक्रियबन्धनबन्धे षडशीतिः; अथवाऽशीतिसत्कर्मणो देवगतिप्रायोग्यं बध्नतो देवगति-देवानुपूर्वी-वैक्रियचतुष्टयबन्धे षडशीतिः । ततो नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रिय-चतुष्टयोद्वलने अथवा देवगति-देवानुपूर्वी-वैक्रियचतुष्टयोद्वलने कृते अशीतिः । ततो मनुजगति-मनुजानुपूर्व्योरुद्वलितयोरष्टसप्ततिः । एतान्यक्षपकाणां सत्तास्थानानि । क्षपकाणां पुनरमूनि–त्रिनवतेः नरकगति-नरकानुपूर्वी-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी--एकेन्द्रियजाति--द्वीन्द्रियजाति-त्रीन्द्रिय-जाति-चतुरिन्द्रियजाति स्थावरा-ऽऽतप-उद्योत-सूक्ष्म-साधारणरूपे त्रयोदशके क्षीणे अशीतिर्भवति, द्विनवतेः क्षीणे एकोनाशीतिः, एकोननवतेः क्षीणे षट्सप्ततिः, अष्टाशीतेः क्षीणे पञ्चसप्ततिः । मनुष्यगति–पञ्चेन्द्रियजाति–त्रस[1]-बादर-पर्याप्त–सुभगा-ऽऽदेय-यशःकीर्ति-तीर्थकराणीति नवकं सत्तास्थानम्, तच्चायोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्य चरमसमये वर्तमानस्य प्राप्यते । तदेवातीर्थकर-केवलिनश्चरमसमये तीर्थकरनामरहितमष्टकमिति ॥२९॥

तदेवमुक्तानि सत्तास्थानानि सम्प्रति संवेधप्रतिपाद[2]नार्थमुपक्रमते–

अट्ठ य बारस बारस, बंधोदयसंतपयडिठाणाणि ।
ओहेणादेसेण य, जत्थ जहासंभवं वि[3]भजे ॥३०॥

नाम्नो बन्धोदयसत्ताप्रकृतिस्थानानि यथाक्रममष्ट-द्वादश-द्वादशसङ्ख्यानि । तानि 'ओघेन' सामान्येन 'आदेशेन च' विशेषेण च 'यथासम्भवं' यानि यत्र यथा सम्भवन्ति तानि तत्र तथा 'विभजेत्' विकल्पयेद् उत्तरग्रन्थानुसारेण । तत्रामुकं बन्धस्थानं बध्नत एतावन्ति उदयस्थानानि एतावन्ति च सत्तास्थानानीति सामान्यम् । मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानेषु गत्यादिषु च मार्गणास्था-

१ छा० मुद्रि० ०सनाम बाद० ॥ २ सं १ त० म० ०नार्थमाह ॥ ३ छा० मुद्रि० ०भए ॥

नेषु प्रत्येकमेतावन्ति बन्धस्थानानि एतावन्ति उदयस्थानानि एतावन्ति च सत्तास्थानानि एवं च तेषां परस्परं संवेध इत्यादेशः ॥३०॥

तत्र प्रथमतः सामान्येन संवेधचिन्तां कुर्वन्नाह—

नव पंचोदय संता, तेवीसे पणवीस छव्वीसे ।
अट्ठ चउरट्ठवीसे, नव [1]सत्तुगतीस तीसम्मि ॥३१॥
एगेगमेगतीसे, एगे एगुदय अट्ठ संतम्मि ।
उवरयबंधे दस दस, वेयगसंतम्मि ठाणाणि ॥३२॥

त्रयोविंशतिबन्धे पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रत्येकं नव नव उदयस्थानानि पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि । तत्र त्रयोविंशतिबन्धोऽपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्य एव, तद्बन्धकाश्च एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च । एतेषां च त्रयोविंशतिबन्धकानां यथायोगं सामान्येन नवोदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् । तत्र त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदयोऽपान्तरालगतौ वर्तमानानामेकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय--चतुरिन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणामवसेयः, तेषामपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसम्भवाद् । चतुर्विंशत्युदयोऽपर्याप्त-पर्याप्तैकेन्द्रियाणाम् , अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्याप्राप्यमाणत्वात् । पञ्चविंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च मिथ्या[2]दृष्ट्यादीनाम् । षड्विंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्त-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चे[3]न्द्रिय-मनुष्याणां च मिथ्या[4]दृष्टीनाम् । सप्तविंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानां च मिथ्यादृष्टीनाम् । अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशदुदयाः पर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणां मिथ्यादृष्टीनाम् । एकत्रिंशदुदयो विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां मिथ्यादृष्टीनाम् । उक्तशेषास्त्रयोविंशतिबन्धका न भवन्ति । तेषां च त्रयोविंशतिबन्धकानां सामान्येन पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । तत्रैकविंशत्युदये वर्तमानानां सर्वेषामपि पञ्चापि सत्तास्थानानि, केवलं मनुष्याणामष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि वक्तव्यानि, यतोऽष्टसप्ततिर्मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्योरुद्वलितयोः प्राप्यते, न च मनुष्याणां तदुद्वलनसम्भवः । चतुर्विंशत्युदयेऽपि पञ्चापि सत्तास्थानानि, केवलं वायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतश्चतुर्विंशत्युदये वर्तमानस्याशीति-अष्टसप्ततिवर्जानि त्रीणि सत्तास्थानानि यतस्तस्य वैक्रियषट्कं मनुष्यद्विकं च

१ छा त० सत्तिगु० ॥ २ सं० मुद्रि० ०दृष्टीनाम् ॥ ३ मुद्रि० त० म० ०न्द्रियाणां मनु० ॥ ४ त० म० ०दृष्ट्यादीनाम् ॥

नियमा[1]दस्ति, यतो वैक्रियं हि साक्षादनुभवन् वर्तते इति न तदुद्वलयति, तदभावाच्च न देवद्विक-नरकद्विके अपि, समकालं वैक्रियषट्कस्योद्वलनसम्भवात् तथास्वाभाव्यात्, वैक्रियषट्के चोद्वलिते सति पश्चाद् मनुष्यद्विकमुद्वलयति न पूर्वम् , तथा चोक्तं चूर्णौ—

[2]वेउव्वियछक्कं उव्वलेउं पच्छा मणुयदुगं उव्वलेइ ।

इत्यशीत्यष्टसप्ततिसत्तास्थानासम्भवः । पञ्चविंशत्युदयेऽपि पञ्चापि सत्तास्थानानि । तत्राष्टसप्ततिरवैक्रियवायुकायिक-तैजस्कायिकान् अधिकृत्य प्राप्यते नान्यान् , यतस्तेजस्कायिकवायुकायिकवर्जोऽन्यः सर्वोऽपि पर्याप्तको नियमाद् मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ बध्नाति, तथा चाह चूर्णिकृत्-

[3]तेउवाउवज्जो पज्जत्तगो मणुयगइं नियमा बंधेइ, इति ।

ततोऽन्यत्राष्टसप्ततिर्न प्राप्यते । षड्विंशत्युदयेऽपि पञ्चापि सत्तास्थानानि । तत्राष्टसप्ततिरवैक्रियवायुकायिक-तैजस्कायिकानां द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चेन्द्रियाणां वा तेजो-वायुभवादनन्तरागतानां पर्याप्ता-ऽपर्याप्तानाम् ते हि यावद् मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ न बध्नन्ति तावत् तेषामष्टसप्ततिः प्राप्यते नान्येषाम् । सप्तविंशत्युदये अष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि, सप्तविंशत्युदयो हि तेजो-वायुवर्जपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणाम् , तेषां चावश्यं मनुष्यद्विकसम्भवादष्टस[4]प्ततिर्न प्राप्यते ॥

अथ कथं तेजो-वायूनां सप्तविंशत्युदयो न भवति, येन तद्वर्जनं क्रियते ? उच्यते—सप्तविंशत्युदय एकेन्द्रियाणामातप-उद्योतान्यतरप्रक्षेपे सति प्राप्यते, न च तेजो-वायुष्वातप-उद्योतोदयः सम्भवति, ततस्तद्वर्जनम् ।

अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशत् एकत्रिंशदुदयेषु नियमादष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि । अष्टाविंशत्याद्युदया हि पर्याप्तविकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणाम्, एकत्रिंशदुदयश्च पर्याप्तविकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियतिरश्चाम् , ते चावश्यं मनुजगति-मनुजानुपूर्वीसत्कर्माण इति । तदेवं त्रयोविंशतिबन्धकानां यथायोगं नवाप्युदयस्थानान्यधिकृत्य चत्वारिंशत्सङ्ख्यानि सत्तास्थानानि भवन्ति । पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धकानामप्येवमेव, केवलं पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यपञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धकानां देवानाम् एकविं[5]शति-षड्विंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्रूपेषु षट्सूदयस्थानेषु द्विनवतिरष्टाशीतिश्चेति द्वे द्वे सत्तास्थाने वक्तव्ये । अपर्याप्तविकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्यां तु पञ्चविंशतिं देवा न बध्नन्ति, अपर्याप्तेषु विकले-

१ सं० सं० १ त० म० ०दस्ति, वै० ॥ २ वैक्रियषट्कं उद्वलय्य पश्चाद् मनुजद्विकं उद्वलयति ॥ ३ तेजो-वायुवर्जः पर्याप्तको मनुजगतिं नियमाद् बध्नाति ॥ ४ सं० १ त० म० ०प्ततिर्नावाप्य० ॥ ५ सं० छा० ०शति-पञ्चविंशति-सप्त० ॥

न्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु च मध्ये देवानामुत्पादाभावात् । सामान्येन पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रत्येकं नवाप्युदयस्थानान्यधिकृत्य चत्वारिंशच्चत्वारिंशच्च सत्तास्थानानि ।

"अट्ठ चउरऽट्ठवीस" त्ति अष्टाविंशतौ बध्यमानायामष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा–एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । इह द्विधा अष्टाविंशतिः–देवगतिप्रतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या च । तत्र देवगतिप्रायोग्याया बन्धेऽष्टाप्युदयस्थानानि नानाजीवापेक्षया प्राप्यन्ते, नरकगतिप्रायोग्यायास्तु बन्धे द्वे, तद्यथा–त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्र देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदयः क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्याणामपान्तरालगतौ वर्तमानानामवसेयः । पञ्चविंशत्युदय आहारकसंयतानां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा । षड्विंशत्युदयः क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां शरीरस्थानाम् । सप्तविंशत्युदय आहारकसंयतानां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां तु [1]सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा । अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशदुदयावपि यथाक्रमं शरीरपर्या[2]प्त्या प्राणापानपर्याप्त्या च पर्याप्तानां तिर्यङ्-मनुष्याणां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा, तथा आहारकसंय[3]तानां वैक्रियसंयतानां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वाऽवसेयौ । त्रिंशदुदयस्तिर्यङ्-मनुष्याणां सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां वा, तथा आहारकसंयतानां वैक्रियसंयतानां वा । एकत्रिंशदुदयः पञ्चेन्द्रियतिरश्चां सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा । नरकगतिप्रायोग्यां त्वष्टाविंशतिं बध्नतां त्रिंशदुदयः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां मिथ्यादृष्टीनाम् । एकत्रिंशदुदयः पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मिथ्यादृशाम् । अष्टाविंशतिबन्धकानां सामान्येन चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च । तत्रैकविंशत्युदये वर्तमानानां देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानां द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । पञ्चविंशत्युदयेऽप्यष्टाविंशतिबन्धकानामाहारकसंयत-वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां सामान्येन ते एव द्वे सत्तास्थाने । तत्राहारकसंयतो नियमादाहारकसत्कर्मा ततस्तस्य द्विनवतिः सत्तास्थानाम् , शेषाश्च तिर्यञ्चो मनु[4]ष्या वा आहारकसत्कर्माणः तद्रहिताश्च भवन्ति ततस्तेषां द्वे अपि सत्तास्थाने । षड्विंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशदुदयेष्वपि ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने सामान्येन वेदितव्ये । त्रिंशदुदये देवगति-नरकगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानां सामान्येन चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च । तत्र द्विनवतिरष्टाशीतिश्च प्रागिव भावनीया ।

१ सं० १ त० म० च ॥ २ मुद्रि० छा० ०प्त्या पर्याप्तानां प्राणा० ॥ ३ सं० म० मुद्रि० ०तानां वैक्रियतिर्यग् म० ॥ ४ सं० १ त० म० ०ष्याश्च आ० ॥

एकोननवतिः पुनरेवम्—कश्चिद् मनुष्यस्तीर्थकरनामसत्कर्मा वेदकसम्यग्दृष्टिः पूर्वबद्धनरकायुष्को *नरकाभिमुखः सम्यक्त्वात् प्रच्युत्य मिथ्यात्वं गतः, तस्य तदा तीर्थकरनामबन्धाभावाद् नरकगति-*प्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतः एकोननवतिः सत्तायां प्राप्यते। षडशीतिस्त्वेवम्—इह तीर्थकरा-ऽऽहारकचतुष्क-देवगति-देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियचतुष्टयरहिता त्रिनवतिरशीति-र्भवति, ततस्तत्सत्कर्मा पञ्चेन्द्रियतिर्यङ् मनुष्यो वा जातः सन् सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो यदि विशुद्धः ततो देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति तद्बन्धे च देवद्विकं वैक्रियचतुष्टयं च सत्तायां प्राप्यते इति तस्य षडशीतिः। अथ सर्वसंक्लिष्टस्ततो नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति, तद्बन्धे च नरकद्विकं वैक्रियचतुष्टयं चावश्यं बध्यमानत्वात् सत्तायां प्राप्यते इत्येवमपि तस्य षडशीतिः। एकत्रिंशदुदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च। एको-ननवतिरिह न प्राप्यते, एकत्रिंशदुदयो हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु प्राप्यते, न च तिर्यक्षु तीर्थ-करनाम सद् भवति, तीर्थकरनामसत्कर्मणः तिर्यक्षूत्पादाभावात्। षडशीतिसत्तास्थानभावना च प्रागिव वेदितव्या। तदेवमष्टाविंशतिबन्धकानामष्टास्वुदयस्थानान्यधिकृत्यैकोनविंशतिसङ्ख्यानि सत्तास्थानानि भवन्ति।

"नव सत्तुगतीस तीसम्मि" एकोनत्रिंशति त्रिंशति च बध्यमानायां प्रत्येकं नव नवोदय-स्थानानि, सप्त सप्त सत्तास्थानानि। तत्रोदयस्थानान्यमूनि, तद्यथा एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्रैकविंश-त्युदयस्तिर्यङ्-मनुष्यप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतां पर्याप्ता-ऽपर्याप्तैकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-तिर्यङ्-मनुष्याणां देव नैरयिकाणां च[1]। चतुर्विंशत्युदयः पर्याप्ता ऽपर्याप्तैकेन्द्रियाणाम्। पञ्चविंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां देव नैरयिकाणां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च मिथ्यादृष्टीनाम् षड्विंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां पर्याप्ता-ऽपर्याप्तविकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणां[2]। सप्तविंशत्युदयः पर्या-प्तैकेन्द्रियाणां देव-नैरयिकाणां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च मिथ्यादृष्टीनाम्। अष्टाविंशत्युदय एकोनत्रिंशदुदयश्च विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्य[4]-देव-नैरयिकाणां च। त्रिंशदुदयो विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणां देवानां च उद्योतवेदकानाम्। एकत्रिं-शदुदयः पर्याप्तविकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां उद्योतवेदकानाम्। तथा देवगतिप्रायोग्यामेको-नत्रिंशतं बध्नतो मनुष्यस्याविरतसम्यग्दृष्टेरुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। आहारकसंयतानां वैक्रियसंयतानां च इमानि पञ्च उदय-

१ सं० सं० १ त० म० ०पु भवति। न॥ २ सं० १ म० न्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तविक०। सं० विकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियतिर्य०॥ ३ सं० १ म० चावसेयः। च०॥ ४ त० म० ०ष्याणां दे०॥

स्थानानि, तद्यथा-पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । असंयतानां संयतासंयतानां च वैक्रियं कुर्वतां मनुष्याणां त्रिंशद्वर्जानि चत्वार्युदयस्थानानि । त्रिंशत् कस्मान्न भवति ? इति चेदुच्यते-संयतान् मुक्त्वाऽन्येषां मनुष्याणां वैक्रियमपि कुर्वतामुद्योतोदयाभावात् । सामान्येनैकोनत्रिंशद्बन्धे सप्त सत्तास्था[1]नानि, तद्यथा-त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । तत्र विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यमेकोनत्रिंशतं बध्नतां पर्याप्ता-ऽपर्याप्तैकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकविंशत्युदये वर्तमानानां पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा-द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । एवं चतुर्विंशति-पञ्चविंशतिः-षड्विंशत्युदयेष्वपि वक्तव्यम् । सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशदुदयेष्वष्टसप्ततिव[2]र्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि, भावना यथा त्रयोविंशतिबन्धकानां प्राग् उक्ता तथाऽत्रापि कर्तव्या । मनुजगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतामेकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां तिर्यग्गति-मनुष्यगतिप्रायोग्यां पुनर्बध्नतां मनुष्याणां च स्वस्वोदयस्थानेषु यथायोगं वर्तमानानामष्टसप्ततिवर्जानि तान्येव च[3]त्वारि सत्तास्थानानि वेदितव्यानि । देव-नैरयिकाणां तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतां स्वस्वोदयेषु वर्तमानानां द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा-द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । केवलं नैरयिकस्य मिथ्यादृष्टेस्तीर्थकरसत्कर्मणो मनुष्यगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः स्वोदयेषु पञ्चसु यथायोगं वर्तमानस्यैकोननवतिरेवैका वक्तव्या, यतस्तीर्थकरनामसहितस्याहारकचतुष्टयरहितस्यैव मिथ्यात्वगमनसम्भवः, "[4]उभयंतिओ न मिच्छो" इति वचनात् ; ततस्त्रिनवतेराहारकचतुष्केऽपनीते सत्येकोननवतिरेव तस्य सत्तायां भवति । देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं तीर्थकरनामसहितां बध्नतः पुनरविरतसम्यग्दृष्टेर्मनुष्यस्यैकविंशत्युदये वर्तमानस्य द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा-त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशदुदयेष्वपि ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने वक्तव्ये । आहारकसंयतानां पुनः स्वस्वोदये वर्तमानानामेकमेव त्रिनवतिरूपं सत्तास्थानमवगन्तव्यम् । तदेवं सामान्येनैकोनत्रिंशद्बन्धे एकविंशत्युदये सप्त सत्तास्थानानि, चतुर्विंशत्युदये पञ्च, पञ्चविंशत्युदये सप्त षड्विंशत्युदये सप्त, सप्तविंशत्युदये षट्, अष्टाविंशत्युदये षट्, एकोनत्रिंशदुदये षट्, त्रिंशदुदये षट्, एकत्रिंशदुदये चत्वारि, सर्वसङ्ख्यया चतुःपञ्चाशत् सत्तास्थानानि ५४ । तथा यथा तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतामेकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय- तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुज देव-नैरयिकाणामुदय-सत्तास्थानानि भावितानि

---

१ मुद्रि॰ छा॰ ॰नान्यमूनि, त॰ ॥२ सं॰ सं॰ १ त॰ म॰ ॰र्जानि चत्वारि सत्ता॰ ॥३ सं॰ सं॰ १ त॰ ॰त्वारि चत्वारि सत्ता॰ ॥ ४ उभयसत्ताको न मिथ्यादृष्टिः ॥

तथा त्रिंशतमप्युद्योतसहितां तिर्यग्गतिप्रायोग्यां बध्नतामेकेन्द्रियादीनामुदय-सत्तास्थानानि भावनीयानि । मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां त्रिंशतं बध्नतां देव नैरयिकाणामुदय-सत्तास्थानान्युच्यन्ते, तत्र देवस्य यथोक्तां त्रिंशतं बध्नत एकविंशत्युदये वर्तमानस्य द्वे सत्तास्थाने— त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । एकविंशत्युदये वर्तमानस्य नैरयिकस्यैकं सत्तास्थानं एकोननवतिः । त्रिनवतिरूपं तु तस्य सत्तास्थानं न भवति, तीर्थकरा-ऽऽहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात् ।

उक्तं च चूर्णौ—

[1]जस्स तित्थगराऽऽहारगाणि जुगवं संति सो नेरइएसु न उववज्जइ । इति ।

एवं पञ्चविंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशदुदयेष्वपि भावनीयम् । नवरं नैरयिकस्य त्रिंशदुदयो न विद्यते, त्रिंशदुदयो हि उद्योते सति प्राप्यते, न च नैरयिकस्योद्योतोदयो भवति । तदेवं सामान्येन त्रिंशद्बन्धकानामेकविंशत्युदये सप्त, चतुर्विंशत्युदये पञ्च, पञ्चविंशत्युदये सप्त, षड्विंशत्युदये पञ्च, सप्तविंशत्युदये षट् अष्टाविंशत्युदये षट्, एकोनत्रिंशदुदये षट्, त्रिंशदुदये षट्, एकत्रिंशदुदये चत्वारि, सर्वसङ्ख्यया द्विपञ्चाशत् ५२ ॥ ३१ ॥

"एगेगमेगतीसे" त्ति एकत्रिंशति बध्यमानायामेकमुदयस्थानं त्रिंशत्, यत एकत्रिंशद् देवगतिप्रायोग्यं तीर्थकरा-ऽऽहारकस[2]हितं बध्नतोऽप्रमत्तसंयतस्यापूर्वकरणस्य वा प्राप्यते, न च ते वैक्रियमाहारकं वा कुर्वन्ति, ततः पञ्चविंशत्यादय उदया न प्राप्यन्ते । एकं सत्तास्थानं त्रिनवतिः, तीर्थकरा-ऽऽहारकचतुष्टययोरपि सत्तासम्भवात् ।

"एगे एगुदय अट्ठ संतम्मि" 'एकस्मिन्' यशःकीर्तिरूपे कर्मणि बध्यमाने एकमुदयस्थानं त्रिंशत्, एकां हि यशःकीर्तिं बध्नन्ति अपूर्वकरणादयः, ते चातिविशुद्धत्वाद् वैक्रियमाहारकं वा नारभन्ते, ततः पञ्चविंशत्यादीन्युदयस्थानानीहापि न प्राप्यन्ते । अष्टौ स[3]त्तायां स्थानानि, तद्यथा–त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । तत्राद्यानि चत्वारि सत्तास्थानानि उपशमश्रेण्याम् अथवा क्षपकश्रेण्यां यावदनिवृत्ति बादरगुणस्थाने गत्वा त्रयोदश नामानि न क्षप्यन्ते । त्रयोदशसु च नामसु क्षीणेसु नानाजीवापेक्षयोपरितनानि चत्वारि लभ्यन्ते, तानि च तावद् लभ्यन्ते यावत् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् ।

"उवरयबंधे दस दस वेयग संतम्मि ठाणाणि" उपरते बन्धे बन्धाभावे इत्यर्थः, "वेयग" त्ति वेदनं वेदो वेद एव वेदकस्तस्मिन् उदये इत्यर्थः सत्तायां च प्रत्येकं दश दश स्थानानि । तत्रामूनि दश उदयस्थानानि, तद्यथा–विंशतिः एकविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टा-

१ यस्य तीर्थकरा ऽऽहारके युगपत् स्तः स नैरयिकेषु नोपपद्यते ॥ २ सं० १ त० म० ०सहितं कर्म ब० ॥ ३ सं१ त० छा० म० त्तास्था० ॥

विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च । तत्र विंशती-एकविंशति-यथासङ्ख्यम-तीर्थंकर तीर्थंकरयोः सयोगिकेवलिनोः कार्मणकाययोगे वर्तमानयोः, षड्विंशति-सप्तविंशती तयोरेवौदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमानयोः । अतीर्थंकरस्य स्वभावस्थस्य त्रिंशत्, तस्यैव स्वरे निरुद्धे एकोनत्रिंशत्, उच्छ्वासेऽपि निरुद्धेऽष्टाविंशतिः, तीर्थंकरस्य स्वभावस्थस्य एकत्रिंशत्, तस्यैव स्वरे निरुद्धे त्रिंशत्, उच्छ्वासेऽपि निरुद्धे एकोनत्रिंशत्; एवं च द्विधा त्रिंशद्-एकोनत्रिंशतौ प्राप्येते । अयोगिनस्तीर्थंकरस्य चरमसमये वर्तमानस्य नवोदयः, अतीर्थंकरस्यायोगिनोऽष्टोदयः । दश सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोनवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टौ च । तत्र विंशत्युदये द्वे सत्तास्थाने—एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च । एवं षड्विंशत्युदयेऽष्टाविंशत्युदयेऽपि द्रष्टव्यम् । एकविंशत्युदये इमे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिश्च । एवं सप्तविंशत्युदयेऽपि । एकोनत्रिंशति चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिः एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च । यत एकोनत्रिंशत् तीर्थंकरस्यातीर्थंकरस्य च भवति, तत्राद्ये द्वे तीर्थंकरमधिकृत्य वेदितव्ये, अन्तिमे द्वे अतीर्थंकरमधिकृत्य । त्रिंशदुदयेऽष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । तत्राद्यानि चत्वार्युपशान्तकषायस्य[2] । अशीतिः क्षीणकषायस्य सयोगिकेवलिनो वा आहारकसत्कर्मणः तीर्थंकरस्य । तस्यैवातीर्थंकरस्यैकोनाशीतिः । आहारकचतुष्टयरहितस्य तीर्थंकरस्य क्षीणकषायस्य सयोगिकेवलिनो वा षट्सप्ततिः । तस्यैवातीर्थंकरस्य पञ्चसप्ततिः । एकत्रिंशदुदये द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिश्च । एते च तीर्थंकरकेवलिनो वेदितव्ये, अतीर्थंकरकेवलिन एकत्रिंशदुदयस्यैवाभावात् । नवोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिः नव च । तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयः तावदयोगिकेवलिनस्तीर्थंकरस्य वेदितव्ये, चरमसमये तु नव । अष्टोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिः अष्टौ च । तत्राद्ये द्वे अयोगिकेवलिनोऽतीर्थंकरस्य द्विचरमसमयं यावद् वेदितव्ये, चरमसमये त्वष्टाविति । एवमबन्धकस्य दशाप्युदयस्थानानि अधिकृत्य त्रिंशत् सत्तास्थानानि भवन्ति ॥ ३२ ॥

तदेवमुक्ता[3] नामप्रकृतीनां बन्धोदयसत्तास्थानभेदाः संवेधश्च । सम्प्रत्युक्तक्रमेणैतेषां जीवस्थानानि गुणस्थानानि चाधिकृत्य स्वामी [4]निदर्श्यते—

---

१ सं० छा० मुद्रि० ०शत्, तस्यैवोच्छ्वा० ॥ २ त० म० मुद्रि० ०स्य । अशीतिः क्षीणकषायस्य च यावत् त्रयोदशकं न क्षीयते । अन्त्यानि चत्वारि क्षीणत्रयोदशकस्य सयो° ॥ ३ सं० सं० १ सं० २°क्ताः प्रकृ° । मुद्रि० छा० ०क्ता उत्तरप्रकृ० ॥ ४ सं १ त० म० ०मी निर्दिश्यते ॥

तिविगप्पपगइठाणेहिं जीवगुणसन्निएसु ठाणेसु ।
भंगा पउंजियव्वा, जत्थ जहा संभवो भवइ ॥ ३३ ॥

त्रयो विकल्पाः—बन्ध-उदय-सत्तारूपास्तेषां सम्बन्धीनि प्रकृतिस्थानानि त्रिविकल्पप्रकृतिस्थानानि तैः जीवसंज्ञितेषु गुणसंज्ञितेषु च स्थानेषु जीवस्थानेषु गुणस्थानेषु चेत्यर्थः, भङ्गाः पूर्वोक्तानुसारेण वक्ष्यमाणानुसारेण च प्रयोक्तव्याः । कथम् ? इत्याह—"जत्थ जहा संभवो हवइ" यत्र येषु जीवस्थानेषु गुणस्थानेषु च 'यथा सम्भवो भवति' यथा घटना भवति तत्र तथा प्रयोक्तव्याः, यो यत्र यथा भङ्गो घटते स तत्र तथा[1] वक्तव्य इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

तत्र प्रथमतो जीवस्थानान्यधिकृत्य प्रतिपादयति—

तेरससु जीवसंखेवएसु नाणंतराय तिविगप्पो ।
एक्कम्मि तिदुविगप्पो, करणं पइ एत्थ अविगप्पो ॥ ३४ ॥

सङ्क्षिप्यन्ते-सङ्गृह्यन्ते जीवा एभिरिति सङ्क्षेपाः-अपर्याप्तैकेन्द्रियत्वादयोऽवान्तरजातिभेदाः, जीवानां सङ्क्षेपा जीवसङ्क्षेपा जीवस्थानानीत्यर्थः । पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु ज्ञानावरणा-ऽन्तराययोर्बन्ध-उदय-सत्तारूपास्त्रयो विकल्पाः प्राप्यन्ते, तद्यथा—पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता, ज्ञानावरणा-ऽन्तराययोध्रुवबन्धोदयसत्ताकत्वात् । सूत्रे "तिविगप्पो" इति द्विगुसमाहारत्वेऽप्यार्षत्वात् पुंस्त्वनिर्देशः । "एक्कम्मि तिदुविगप्पो" 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे जीवस्थाने त्रयो वा विकल्पा भवन्ति, द्वौ वा विकल्पौ । तत्र त्रयो विकल्पा इमे—पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता । एते च सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावत् प्राप्यन्ते । ततः परं बन्धव्यवच्छेदे उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च द्वौ विकल्पौ, तद्यथा—पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता । अत्रान्यो भङ्गो न सम्भवति, उदय-सत्तयोर्युगपद् व्यवच्छेदात् "करणं पइ एत्थ अविगप्पो" त्ति इह केवलिनो मनोविज्ञानमधिकृत्य संज्ञिनो न भवन्ति, द्रव्यमनःसम्बन्धात् पुनस्तेऽपि संज्ञिनो व्यवह्रियन्ते । उक्तं च चूर्णौ—

[2]मणकरणं केवलिणो वि अत्थि तेण सन्निणो वुच्चंति ।
मणोविण्णाणं पडुच्च ते सन्निणो न हवंति । इति ।

ततः करणं—द्रव्यमनोरूपं प्रतीत्य यः संज्ञी सयोगिकेवली अयोगिकेवली वा भवस्थस्तस्मिन् 'अत्र' ज्ञानावरणेऽन्तराये च 'अविकल्पः' त्रयाणामपि बन्धादिरूपाणां विकल्पानामभावः, आमूलं तदुच्छेदे सति केवलित्वभावात् ॥ ३४ ॥

---

१ छा० ०था कर्तव्य० ॥ २ मनःकरणं केवलिनोऽपि अस्ति तेन संज्ञिन उच्यन्ते । मनोविज्ञानं प्रतीत्य ते संज्ञिनो न भवन्ति ॥

सम्प्रति दर्शनावरणं जीवस्थानेषु चिन्तयति—

तेरे नव चउ पणगं, नव संतेगम्मि भंगमेक्कारा ।

पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु नवविधो बन्धः चतुर्विधः पञ्च-विधो वा उदयः नवविधा सत्ता इत्येतौ द्वौ विकल्पौ। "एगम्मि भंगमेक्कार" त्ति 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपे एकादश भङ्गाः, ते च यथा प्राक् सामान्येन संवेधचिन्तायामुक्तास्त-थैवात्राप्यन्यूनातिरिक्ता वक्तव्याः ॥

वेयणियाउयगोए, विभज्ज

वेदनीये आयुषि गोत्रे च यानि बन्धादिप्रकृतिस्थानानि तानि यथागमं जीवस्थानेषु 'विभ-जेत्' विकल्पयेत् । तत्रेयं वेदनीय-गोत्रयोर्विकल्पनिरूपणार्थमन्तर्भाष्यगाथा–

पज्जत्तगसन्नियरे, अट्ठ चउक्कं च वेयणियभंगा ।
सत्तग तिगं च गोए[1], पत्तेयं जीवठाणेसु ॥ १ ॥

पर्याप्ते संज्ञिनि वेदनीयस्याष्टौ भङ्गाः, तद्यथा–असातस्य बन्धः असातस्योदयः साता-साते सती, अथवा असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती, एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्या-दृष्टिगुणस्थान[2]कादू आरभ्य प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् प्राप्येते न परतः, परतोऽसातस्य बन्धा-भावात् । तथा सातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती, अथवा सातस्य बन्धः सातस्यो-दयः सातासाते सती, एतौ च द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिगुण-स्थानकं यावत् प्राप्येते । ततः परतो बन्धाभावे असातस्योदयः सातासाते सती, अथवा सातस्योदयः सातासाते सती, एतौ द्वौ विकल्पावयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावत् प्राप्येते । चरमसमये तु, 'असातस्योदयः असातस्य सत्ता' यस्य द्विचरमसमये सातं क्षीणं, यस्य त्वसातं द्विचरमसमये क्षीणं तस्य सातस्योदयः सातस्य सत्तेति सर्वसङ्ख्ययाऽष्टौ भङ्गाः । इह सयोगि-केवली अयोगिकेवली च द्रव्यमनोऽभिसम्बन्धात् संज्ञी व्यवह्रियते, ततः संज्ञिनि पर्याप्ते वेद-नीयस्याष्टौ भङ्गा उच्यमाना न विरुध्यन्ते । 'इतरेषु' पर्याप्तसंज्ञिव्यतिरिक्तेषु त्रयोदशसु जीव-स्थानेषु प्र[3]त्येकं प्रत्येकं चत्वारो भङ्गा भवन्ति, तद्यथा–असातस्य बन्धः असातस्योदयः साता-साते सती, अथवा असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती[4], अथवा सातस्य बन्धः असा-तस्योदयः सातासाते सती,[5] अथवा सातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती ।

---

१ सं० १ सं० २ मुद्रि० ०ए वत्तव्वा जीवठाणेसु ॥ २ मुद्रि० ०कात् प्रभृति प्र० ॥ ३ सं० सं० २ ०त्येकं चत्वा० ॥ ४-५ सं० १ त० म० ०ती, तथा सा० ॥

"सत्तग तिगं च गोए" इति 'गोत्रे' गोत्रस्य संज्ञिनि पर्याप्ते सप्त भङ्गाः, तद्यथा—नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रं सत् , एष विकल्पस्तेजः-वायुभवाद् उद्वृत्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंज्ञित्वेनो[1]त्पन्ने कियत्कालं प्राप्यते। नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च नीचैर्गोत्रे सती, अथवा नीचैर्गोत्रस्य बन्धः उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एतौ च विकल्पौ-पर्याप्ते संज्ञिनि मिथ्यादृष्टौ सासादने वा प्राप्येते न सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादौ, तस्य नीचैर्गोत्रबन्धाभावात् [2]। तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य देशविरतिगुणस्थानकं यावत् प्राप्यते न परतः, परतो नीचैर्गोत्रस्योदयाभावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावदवसेयः । परतो बन्धाभावे उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकादारभ्य अयोगिके[3]वलिनि द्विचरमसमयं यावदवाप्यते । उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्चैर्गोत्रं सत् , एष विकल्पोऽयोगिकेवलिचरमसमये । 'इतरेषु पुनः' पर्याप्तसंज्ञिव्यतिरिक्तेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भङ्गाः, तद्यथा—नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रं सत् , अयं विकल्पस्तेजः-वायुषु उच्चैर्गोत्रोद्वलनानन्तरं सर्वकालं तेजः-वायुभवाद् उद्वृत्य समुत्पन्नेषु वा पृथिव्यादि-द्वीन्द्रियादिषु कियत्कालं प्राप्यते, नान्येषु[4] । नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती । शेषा विकल्पा न सम्भवन्ति, तिर्यक्षूच्चैर्गोत्रस्योदयाभावात् ॥

सम्प्रत्यायुषो भङ्गा निरूप्यन्ते, तन्निरूपणार्थं चेय**मन्तर्भाष्यगाथा**—

पज्जत्तापज्जत्तग, समणे पज्जत्त अमण सेसेसु ।
अट्ठावीसं दसगं, नवगं पणगं च आउस्स ॥ २ ॥

समनाः—संज्ञी, तत्र पर्याप्ते संज्ञिनि आयुषो भङ्गा अष्टाविंशतिः, अपर्याप्ते संज्ञिनि भङ्गानां दशकम् , पर्याप्ते 'अमनसि' असंज्ञिनि पञ्चेन्द्रिये भङ्गानां नवकम् , 'शेषेषु' एकादशसु जीवस्थानेषु पुनर्भङ्गानां प्रत्येकं पञ्चकमिति । तत्र संज्ञिनि पर्याप्ते इमे अष्टाविंशतिर्भङ्गाः—नैरयिकस्य नरकायुष उदयो नरकायुः सत् , अयं परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम् , परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धः नरकायुष उदयः नरक-तिर्यगायुषी सती, अथवा मनुष्यायुषो बन्धः नरकायुष उदयः नरक-मनुष्यायुषी सती । परभवायुर्बन्धोत्तरकालं नरकायुष उदयः नरक-तिर्यगायुषी सती, अथवा नरकायुष उदयः मनुष्य[5]-नारकायुषी सती । इह नारका देवायु-

१ सं० १ त० म० ०त्पन्नेषु कि० ॥ २ सं० १ त० म० ०त् । उच्चै० ॥ ३ सं० २ मुद्रि० ०वलिद्वि० ॥ ४ छा० मुद्रि० ०षु । तथा नीचै० ॥ ५ छा० मुद्रि० ०ष्य-न० ॥

नारकायुश्च भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति, तत्रोत्पत्त्यभावात्, ततो नारकाणां परभवायुर्बन्धकाले बन्धोत्तरकाले च देवायुर्नारकायुर्भ्यां विकल्पाभावात् सर्वसङ्ख्यया पञ्च विकल्पाः । एवं देवानामपि पञ्च विकल्पा भावनीयाः, नवरं नारकायुःस्थाने देवायुरिति वक्तव्यम्, तद्यथा—देवायुष उदयः देवायुषः सत्ता इत्यादि । तथा तिर्यगायुष उदयः तिर्यगायुषः सत्ता, अयं विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम् । परभवायुर्बन्धकाले तु नरकायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः नरक-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, अथवा मनुष्यायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः मनुष्य-तिर्यगायुषी सती, अथवा देवायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः देव-तिर्यगायुषी सती । परभवायुर्बन्धोत्तर[1]कालं तिर्यगायुष उदयो नरक-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयः तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो देव-तिर्यगायुषी सती । सर्वसङ्ख्यया संज्ञिपर्याप्ततिरश्चां नव विकल्पाः । एवं मनुष्याणामपि नव भङ्गा भावनीयाः, केवलं तिर्यगायुःस्थाने मनुष्यायुरित्यभिधातव्यम्, तद्यथा—मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्तेत्यादि । तदेवं सर्वसङ्ख्यया संज्ञिनि पर्याप्तेऽष्टाविंशतिर्भङ्गाः । अपर्याप्ते संज्ञिनि आयुषो दश भङ्गा इमे—तिर्यगायुषः उदयः तिर्यगायुषः सत्ता, अयं विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम् । परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः तिर्यक्-तिर्यगायुषोः सत्ता, अथवा मनुष्यायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती । परभवायुर्बन्धोत्तरकालं तिर्यगायुष उदयः तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती । एवं तिरश्चोऽपर्याप्तसंज्ञिनः पञ्च भङ्गाः । एवं मनुष्यस्यापि पञ्च वक्तव्याः । सर्वसङ्ख्यया दश । शेषा न सम्भवन्ति, अपर्याप्तो हि संज्ञी तिर्यङ् मनुष्यो वा, न देव-नारकौ, न चापि स देवायुर्नारका[2]युर्वा बध्नाति, ततो दशैव यथोक्ता भङ्गाः । तथा ये प्राक् संज्ञितिरश्चां नव भङ्गा उक्तास्त एवासंज्ञिपर्याप्तेऽपि नव भङ्गा वक्तव्याः, यतोऽसंज्ञी पर्याप्तस्तिर्यगेव भवति न मनुष्यादिः, ततोऽत्र तदाश्रिता भङ्गा न प्राप्यन्ते । तथा येऽपर्याप्तसंज्ञितिरश्चः[3] पञ्च भङ्गाः प्रागुक्तास्त एव[4] पञ्च भङ्गाः शेषेष्वप्येकादशसु जीवस्थानेषु वक्तव्याः, सर्वेषामपि तिर्यक्त्वाद् देवादिषूत्पादाभावाच्च ।

मोहं परं वोच्छं ॥ ३५ ॥

अत परं 'मोहं' मोहनीयं जीवस्थानेषु वक्ष्ये ॥३५॥

अट्ठसु पंचसु एगे एग दुगं दस य मोहबंधगए ।
तिग चउ नव उदयगए, तिग तिग पन्नरस संतम्मि ॥ ३६ ॥

---

१ सं० ०काले तिर्य० ॥ २ सं० १ त० म० ०युर्बध्ना० ॥ ३ छा० ०श्चां प० ॥ ४ सं० सं० १ त० म० ०व भङ्गाः ॥ ५ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये ५५ तमी ॥

अष्टसु पञ्चसु एकस्मिंश्च यथाक्रमं एकं द्वे दश च मोहनीयप्रकृतिबन्धगतानि स्थानानि भवन्ति। तत्र 'अष्टसु' पर्याप्ता-ऽपर्याप्तसूक्ष्मा-ऽपर्याप्तबादर-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञि-संज्ञिरूपेषु एकं बन्धस्थानं द्वाविंशतिरूपम्। द्वाविंशतिश्चेयम्—मिथ्यात्वं षोडश कषायाः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगलयोरन्यतरद् युगलं भयं जुगुप्सा चेति। अत्र त्रिभिर्वेदैर्द्वाभ्यां युगलाभ्यां षड् भङ्गा भवन्ति। पर्याप्तबादर[1]-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञिरूपेषु पञ्चसु जीवस्थानेषु इमे द्वे द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा—द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च। तत्र द्वाविंशतिः प्रागिव [2]सभेदा वक्तव्या। सैव च द्वाविंशतिर्मिथ्यात्वहीना एकविंशतिः। सा च केषाञ्चित् करणापर्याप्तावस्थायां सासादनभावे सति लभ्यते न सर्वेषाम्, शेषकालं वा। अत्र चत्वारो भङ्गाः, यत इह नपुंसकवेदो न बन्धमायाति, मिथ्यात्वोदयाभावात्, नपुंसकवेद-बन्धस्य च मिथ्यात्वोदयनिबन्धनत्वात्। ततो द्वाभ्यां वेदाभ्यां द्वाभ्यां च युगलाभ्यां चत्वार एव भङ्गाः। एकस्मिंस्तु पर्याप्तसंज्ञिरूपे जीवस्थाने द्वाविंशत्यादीनि दश बन्धस्थानानि, तानि च प्राग्वद् [3]सभेदानि वक्तव्यानि।

"तिग चउ नव उदयगए" इति, यथोक्तरूपेषु अष्टसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं [4]त्रीणि त्रीण्यु-दयस्थानानि, तद्यथा—अष्टौ नव दश च। यत्तु सप्तकमुदयस्थानमनन्तानुबन्ध्युदयरहितं तन्न प्राप्यते, तेषामवश्यमनन्तानुबन्ध्युदयसहितत्वात्। वेदश्च तेषामुदयप्राप्तो नपुंसकवेद एव, न स्त्रीवेद-पुरुषवेदौ। ततः 'अष्टोदये' मिथ्यात्वं क्रोधादीनामन्यतमे चत्वारः क्रोधादिका नपुंसक-वेदोऽन्यतरद् युगलमित्येवंरूपे चतुर्भिः क्रोधादिभिर्द्वाभ्यां च युगलाभ्यां भङ्गा अष्टौ। अष्टोदये एव भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायां नवोदयः, अत्रैकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गा अष्टौ अष्टौ प्राप्यन्ते इति सर्वसङ्ख्यया नवोदये भङ्गाः षोडश। भय-जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोर्दशोदयः, अत्र भङ्गा अष्टौ। सर्वसङ्ख्यया अष्टसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशद् भङ्गाः। तथा उक्तरूपेषु पञ्चसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि उदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश। तत्र सासादनभावकाले एकविंशतिबन्धे सप्ताऽष्ट-नवरूपाणि त्रीण्युदयस्थानानि, वेदश्च तेषामुदयप्राप्तो नपुंसकवेदः, ततोऽन्यतमे चत्वारः क्रोधादिका नपुंसकवेदोऽन्यतरद् युगलमिति सप्तोदय एकविंशतिबन्धे ध्रुवः, अत्र प्रागिवाष्टौ भङ्गाः। ततो भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्ता-यामष्टोदयः, अत्र प्रत्येकं भये जुगुप्सायां चाष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते इत्यष्टोदये सर्वसङ्ख्यया भङ्गाः षोडश। ततो भय-जुगुप्सयोर्युगपत् प्रक्षिप्तयोर्नवोदयः, अत्राष्टावेव भङ्गाः। सर्वसङ्ख्यया सासादन-

१ सं० १ त० म० °दरपर्याप्तद्वि° ॥ २-३ मुद्रि० छा० सप्रभे° ॥ ४ अस्मत्पार्श्ववर्तिषु केषुचिदादर्शेषु "त्रीणि त्रीणि" इति वारद्वयं लिखितं नोपलभ्यते केषुचित् पुनर्लभ्यते। एवमग्रेऽपि "त्रीणि त्रीणि, चत्वारि चत्वारि, द्वादश द्वादश, द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशद्" इत्यादिष्वपि ज्ञेयम् ॥

भावे भङ्गा द्वात्रिंशत् । सासादनभावा-ऽभावे द्वाविंशतिबन्धे अमूनि त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा, अष्टौ नव दश च । एतानि च प्रागिव भावनीयानि । चूर्णिकारस्त्वसंज्ञिन्यपि लब्धिपर्याप्तके त्रीन् वेदान् यथायोगमु[1]दयप्राप्तानिच्छति, ततस्तन्मतेन तस्य द्वाविंशतिबन्धे एकविंशतिबन्धे च प्रत्येकमेकैकस्मिन् सप्तादावुदयस्थाने त्रिभिर्वेदैश्चतुर्विंशतिभङ्गा अवसेयाः । 'एकस्मिन्' पर्याप्त-संज्ञिरूपे जीवस्थाने नवोदयस्थानानि, तानि च प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि ।

"तिग तिग पन्नरस संतम्मि" 'अष्टसु' पूर्वोक्तरूपेषु जीवस्थानेषु त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च । 'पञ्चस्वपि च' उक्तरूपेषु जीवस्थानेषु तान्येव त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि । 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिनि पञ्चेन्द्रियरूपे जीवस्थाने पुनः पञ्चदश सत्तास्थानानि, तानि च प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्राष्टसु जीवस्थानेषु द्वाविंशतिबन्धस्थानम् त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—अष्टौ नव दश च । एकैकस्मिन्नुदयस्थाने त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टा-विंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च । सर्वसङ्ख्यया नव सत्तास्थानानि । पञ्चसूक्तरूपेषु जीवस्थानेषु द्वे द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा—द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । तत्र द्वाविंशतिबन्धे प्रागुक्तान्येव त्रीण्यु-दयस्थानानि, एकैकस्मिंश्च उदयस्थाने तान्येव पूर्वोक्तानि त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि । एकविं-शतिबन्धेऽमूनि त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव । एकैकस्मिंश्च उदयस्थाने एकैकं सत्तास्थानं अष्टाविंशतिः, एकविंशतिबन्धो हि सासादनभावमुपागतेषु प्राप्यते, सासादनाश्चाव-श्यमष्टाविंशतिसत्कर्माणः, तेषां दर्शनत्रिकस्य नियमतो भावात् , ततस्तेषु सत्तास्थानमष्टाविंशति-रेव । तदेवमेकविंशतिबन्धे त्रीणि सत्तास्थानानि, द्वाविंशतिबन्धे च नवेति । सर्वसङ्ख्यया पञ्चसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं द्वादश द्वादश सत्तास्थानानि भवन्ति । 'एकस्मिन्' संज्ञिपर्याप्ते पुनः जीव-स्थाने संवेधः प्रागुक्त एव सप्रपञ्चो द्रष्टव्यः ॥ ३६ ॥

सम्प्रति नामकर्म जीवस्थानेषु चिन्तयन्नाह—

पण दुग पणगं पण चउ, पणगं पणगा हवंति तिन्नेव ।
पण छ प्पणगं छ च्छ प्पणगं अट्ठऽट्ठ दसगं ति ॥ ३७ ॥
सत्तेव अपज्जत्ता, सामी तह सुहुम बायरा चेव ।
विगलिंदिया उ तिन्नि उ, तह य असन्नी य सन्नी य ॥ ३८ ॥

अनयोर्गाथयोः पदानां यथाक्रमं सम्बन्धः, तद्यथा—"पण दुग पण[2]गं" प्रति "सामी सत्तेव अपज्जत्ता" बन्ध-उदय-सत्ताप्रकृतिस्थानानां यथाक्रमं पञ्चकं पञ्चकं द्विकं च प्रति स्वामिनः

१ सं० १ त० म० ०दयस्थाने प्राप्ता० ॥ २ सं० स० १ त० म० ०णगं" ति "सा० ॥

सप्तैवापर्याप्ताः । इयमत्र भावना—सप्तानामपर्याप्तानां पञ्च पञ्च बन्धस्थानानि, द्वे द्वे उदयस्थाने, पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि । तत्र बन्धस्थानान्यमूनि- त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । अपर्याप्ता हि सप्तापि तिर्यग्-मनु[1]ष्यप्रायोग्यमेव बध्नन्ति, न देव-नारकप्रायोग्यम्, ततो यथोक्तान्येवेह बन्धस्थानानि प्राप्यन्ते, नोनाधिकानि । तानि च तिर्यग्-मनुष्यप्रायोग्याणि प्रागिव सप्रपञ्चं वक्तव्यानि । उदयस्थाने पुनरपर्याप्तबादर-सूक्ष्मैकेन्द्रिययोरिमे——एकविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च । तत्रापर्याप्तबादरस्यैकविंशतिरियम्——तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी तैजसं कार्मणं अगुरुलघु वर्णादिचतुष्टयम् एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम बादरनाम अपर्याप्तकनाम स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे दुर्भगम् अनादेयम् अयशःकीर्तिः निर्माणमिति । एषा चैकविंशतिरपान्तरालगतौ वर्तमानस्य प्राप्यते, अत्र चैक एव भङ्गः, अपर्याप्तस्य परावर्तमानशुभप्रकृतीनामुदयाभावात् । सूक्ष्मापर्याप्तकस्या[2]प्येषैवैकविंशतिरवसेया, नवरं बादरनामस्थाने सूक्ष्मनामेति वक्तव्यम्, अत्राप्येक एव भङ्गः । उभयोरपि तस्यामेकविंशतौ औदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानम् उपघातनाम प्रत्येक-साधारणयोरेकतरमिति प्रकृतिचतुष्टये प्रक्षिप्ते तिर्यगानुपूर्व्यां चापनीतायां चतुर्विंशतिः, अत्र प्रत्येक-साधारणाभ्यां सूक्ष्मापर्याप्तस्य बादरापर्याप्तस्य च प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ । तदेवं द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य द्वयोरपि प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भङ्गाः, विकलेन्द्रिया-ऽसंज्ञि-संज्ञ्यपर्याप्तानां प्रत्येकमिमे द्वे द्वे उदयस्थाने, तद्यथा——एकविंशतिः षड्विंशतिश्च । तत्रैकविंशतिरपर्याप्तद्वीन्द्रियाणामियम्——तैजसं कार्मणम् अगुरुलघु स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे वर्णादिचतुष्टयं निर्माणं तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम अपर्याप्तकनाम दुर्भगम् अनादेयम् अयशःकीर्तिरिति । एषा चैकविंशतिरपान्तरालगतौ वर्तमानस्यावसेया । अत्र सर्वाण्यपि पदान्यप्रशस्तान्येवेति[3] एक एव भङ्गः । ततः शरीरस्थस्यौदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननम् उपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिषट्कं प्रक्षिप्यते, तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते, ततः षड्विंशतिर्भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । एवं त्रीन्द्रियादीनामप्यवगन्तव्यम्, नवरं द्वीन्द्रियजातिस्थाने त्रीन्द्रियजातिरित्याद्युच्चारणीयम् । तदेवमपर्याप्तद्वीन्द्रियादीनां प्रत्येकं द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य द्वौ द्वौ भङ्गौ वेदितव्यौ, केवलमपर्याप्तसंज्ञिनश्चत्वारः, यतो द्वौ भङ्गावपर्याप्तसंज्ञिनस्तिरश्चः प्राप्येते, द्वौ चापर्याप्तसंज्ञिनो मनुष्यस्येति । तथा प्रत्येकं सप्तानामपर्याप्तानां पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । एतेषां च स्वरूपं प्रागिव द्रष्टव्यम् ।

"पण चउ पणगं" ति "सुहुमा" इति सम्बध्यते । सूक्ष्मस्य पर्याप्तस्य पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतानि च तिर्यग्-मनुष्य-

१ सं० १ त० म० छा० ०ष्यगतिप्रा० ॥ २ मुद्रि० छा० ०प्येषैव चैक० ॥ ३ छा० मुद्रि० ०ति कृत्वैक ए० ॥

प्रायोग्याण्येव द्रष्टव्यानि, तत्रैव सूक्ष्मपर्याप्तस्योत्पादसम्भवात्। एतेषां च स्वरूपं प्रागिव सप्रपञ्चं द्रष्टव्यम् । उदयस्थानानि चत्वारि, तद्यथा–एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिश्च । तत्रैकविंशतिरियम्–तैजसं कार्मणम् अगुरुलघु स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे वर्णादिचतुष्टयं निर्माणं तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम सूक्ष्मनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगम् अनादेयम् अयशःकीर्तिरिति । एषा चैकविंशतिः सूक्ष्मपर्याप्तस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्य वेदितव्या, अत्रैको भङ्गः, प्रतिपक्षपदविकल्पस्यैकस्याप्यभावात् । अस्यामेवैकविंशतौ औदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानम् उपघातं प्रत्येक-साधारणयोरेकतरमिति प्रकृतिचतुष्टयं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततश्चतुर्विंशतिर्भवति, सा च शरीरस्थस्य प्राप्यते, अत्र प्रत्येक-साधारणाभ्यां द्वौ भङ्गौ। ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशतिः, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते षड्विंशतिः, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ। सर्वसङ्ख्यया सूक्ष्मपर्याप्तस्य चत्वार्यप्युदयस्थानान्यधिकृत्य भङ्गाः सप्त । पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा–द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः, अष्टसप्ततिश्च । केवलं पञ्चविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च प्रत्येकं यः साधारणपदेन सह भङ्गस्तत्राष्टासप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि, वक्तव्यानि, शरीरपर्याप्त्या हि पर्याप्तस्तेजः-वायुवर्जः सर्वोऽपि मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्व्यौ नियमाद् बध्नाति, पञ्चविंशति-षड्विंशत्युदयौ च शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य भवतः, ततः साधारणस्य सूक्ष्मपर्याप्तस्य पञ्चविंशत्युदये षड्विंशत्युदये चाष्टासप्ततिर्न प्राप्यते । प्रत्येकपदे पुनस्तेजः-वायुकायिकावप्यन्तर्भवत इति तदपेक्षया तत्राष्टसप्ततिर्लभ्यते । तदेवं साधारणपदानुगौ पञ्चविंशति-षड्विंशतिसत्कौ द्वौ भङ्गौ चतुःसत्तास्थानकौ, शेषास्तु पञ्च भङ्गाः पञ्चसत्तास्थानकाः ।

"पणगा हवन्ति तिन्नेव" अत्र "बायरा" इति सम्बध्यते । पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशति षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतानि तिर्यग्-मनुष्यप्रायोग्याणि, तानि च प्रागिव द्रष्टव्यानि । उदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा–एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिश्च, तत्रैकविंशतिरियम्— तैजसं कार्मणम् अगुरुलघु स्थिरा-स्थिरे शुभाऽऽशुभे वर्णादिचतुष्टयं निर्माणं तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगम् अनादेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरेति । एषा चैकविंशतिः पर्याप्तबादरस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्यावसेया, अत्र यशः–कीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां द्वौ भङ्गौ । ततः शरीरस्थस्यौदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानम् उपघातनाम प्रत्येक-साधारणयोरेकतरमिति प्रकृतिचतुष्टयं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततश्चतुर्विंश-

१ स० २ त० म० ०र्नावाप्य० ॥

तिर्भवति, अत्र प्रत्येक-साधारण-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः । वैक्रियं कुर्वतः पुनर्बादरवायुकायिकस्यैकः, यतस्तस्य साधारण-यशःकीर्ती उदयं नागच्छतः, अन्यच्च वैक्रियवायुकायिकचतुर्विंशतावौदारिकशरीरस्थाने वैक्रियशरीरमिति वक्तव्यम् , शेषं तथैव । सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशतौ पञ्च भङ्गाः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रक्षिप्ते पञ्चविंशतिः, अत्रापि तथैव पञ्च भङ्गाः । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते षड्विंशति, अत्रापि तथैव पञ्च भङ्गाः । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासेऽनुदिते आतप-उद्योतान्यतरस्मिंस्तूदिते षड्विंशतिः, अत्रातपेन प्रत्येक-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैर्द्वौ भङ्गौ, साधारणस्यातपोदयाभावात् तदाश्रितौ विकल्पौ न भवतः । उद्योतेन प्रत्येक-साधारण-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः । सर्वसङ्ख्यया षड्विंशतावेकादश भङ्गाः । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां षड्विंशतौ आतप-उद्योतयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते सप्तविंशतिः, अत्र प्रागिवातपेन द्वौ, उद्योतेन सह चत्वार इति सर्वसङ्ख्यया सप्तविंशतौ षड् भङ्गाः । सर्वे बादरपर्याप्तस्य भङ्गा एकोनत्रिंशत् । सत्तास्थानानि पञ्च, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । इह पञ्चविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च प्रत्येकं प्रत्येका-ऽयशःकीर्तिभ्यां य एकैको भङ्गः, यौ च द्वौ भङ्गावेकविंशतौ, ये च वैक्रियबादरवायुकायिकवर्जाश्चतुर्विंशतौ भङ्गाश्चत्वारस्ते [1]सर्वसङ्ख्ययाऽष्टौ पञ्चसत्तास्थानकाः, शेषास्त्वेकविंशतिसङ्ख्याश्चतुःसत्तास्थानकाः । — ५१-३०८

"पण छ प्पणगं" ति अत्र "विगलिंदिया उ तिन्नि उ" इति सम्बध्यते । विकलेन्द्रियाणां त्रयाणां पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतान्यपि तिर्यङ्-मनुष्यप्रायोग्याणि, तानि च प्रागिव द्रष्टव्यानि । षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्र पर्याप्तद्वीन्द्रियस्यैकविंशतिरियम्—तैजसं कार्मणम् अगुरुलघु स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे वर्णादिचतुष्टयं निर्माणं तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगम् अनादेयं यशः-कीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरेति । एषा चैकविंशतिः पर्याप्तद्वीन्द्रियस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्यावसेया, अत्र द्वौ भङ्गौ यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्याम् । ततः शरीरस्थस्य औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननम् उपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिषट्कं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततः षड्विंशतिर्भवति, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघातेऽप्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायामष्टाविंशतिः, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ; अथवा तस्यामेवाष्टाविंशतौ उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत् , अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ,

१ मुद्रि० छा० सर्वेऽपि स० ॥

सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति चत्वारो भङ्गाः। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति सुस्वर-दुःस्वरयोरेकतरस्मिन् क्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्र भङ्गाः सुस्वर-दुःस्वर-यशःकीर्त्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः; अथवोच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशत् , अत्रोद्योत-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैर्द्वौ भङ्गौ; सर्वसङ्ख्यया त्रिंशति षड् भङ्गाः[1]। स्वरसहितायामेव त्रिंशति उद्योते प्रक्षिप्ते एकत्रिंशत् , अत्र सुस्वर-दुःस्वर-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैर्भङ्गाश्चत्वारः। सर्वसङ्ख्यया पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य भङ्गा विंशतिः। सत्तास्थानानि पञ्च, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च। अत्र यावेकविंशत्युदये द्वौ भङ्गौ यौ च षड्विंशत्यु[2]दये एते चत्वारः पञ्चसत्तास्थानकाः, यतोऽष्टसप्ततिस्तेजः-वायुभवादुद्धृत्य पर्याप्तद्वीन्द्रियत्वेनोत्पन्नानधिकृत्य कियत्कालं प्राप्यते, शेषास्तु षोडश भङ्गकाश्चतुःसत्तास्थानकाः, तेष्वष्टसप्ततेरप्राप्यमाणत्वात्। तेजः-वायुवर्जा हि शरीरपर्याप्त्या पर्याप्ता नियमतो मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ बध्नन्ति, [3]ततोऽष्टाविंशत्याद्युदयेष्वष्टसप्ततिर्न प्राप्यते। एवं त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाणामपि पर्याप्तानां वक्तव्यम्।

"छ च्छ प्पणगं" ति अत्र "असन्नी य" इति सम्बध्यते। असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य षड् बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया हि पर्याप्ताः नरकगति-देवगतिप्रायोग्यमपि बध्नन्ति। ततस्तेषामष्टाविंशतिरपि बन्धस्थानं लभ्यते। षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्रैकविंशतिरियम्—तैजसं कार्मणम् अगुरुलघु स्थिराऽस्थिरे शुभाऽशुभे वर्णादिचतुष्टयं निर्माणं तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभग-दुर्भगयोरेकतरं आदेया-ऽनादेययोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरेति। एषा चैकविंशतिरसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय[4]पर्याप्तस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्य प्राप्यते। अत्र सुभग-दुर्भगा-ऽऽदेया-ऽनादेय-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभिरष्टौ भङ्गाः। ततः शरीरस्थस्यौदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्गं षण्णां संस्थानानामेकतमत् संस्थानं षण्णां संहननानामेकतमत् संहननम् उपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिषट्कं प्रक्षिप्यते, तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते, ततः षड्विंशतिर्भवति, अत्र षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः सुभग-दुर्भगाभ्यामादेया-ऽनादेयाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां च द्वे शते भङ्गानामष्टाशीत्यधिके २८८। ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगत्यन्यतरविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायामष्टाविंशतिः, अत्र पाश्चात्या एव भङ्गा विहायोगतिद्विकेन गुण्यन्ते ततो भ[5]ङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि भवन्ति ५७६।

१ सं० १ त० म० °ङ्गाः। सुस्व°॥ २ सं० १ त० म० छा० °दये द्वौ भङ्गौ एते च°॥ ३ मुद्रि० ततः सप्तवि°॥ ४ सं० ०यस्य० पर्या०। छा० ०यस्यापर्या०॥ ५ सं० त० म० ०ङ्गाः पञ्च श०॥

ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत् , अत्रापि भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६; अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासेऽनुदिते [1]उद्योते तूदिते एकोनत्रिंशत् , अत्रापि पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि भङ्गानाम् ५७६, सर्वसङ्ख्यया एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधि कानि ११५२ । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति सुस्वर-दुःस्वरयोरेकतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्र पाश्चात्यान्युच्छ्वासलब्धानि भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ स्वरद्विकेन गुण्यन्ते तत एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२ भवन्ति; अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशद् भवति, अत्र भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ । सर्वसङ्ख्यया त्रिंशति भङ्गाः सप्तदश शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि १७२८ । ततः स्वरसहितायां त्रिंशति उद्योते प्रक्षिप्ते एकत्रिंशद् भवति, अत्र भङ्गानामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२ । सर्वसङ्ख्यया पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यैकोनपञ्चाशच्छतानि चतुरधिकानि ४९०४ । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाश्च वैक्रियलब्धिहीनत्वाद् वैक्रियं नारभन्ते ततस्तदाश्रिता उदयविकल्पा न प्राप्यन्ते । सत्तास्थानानि पञ्च, तद्यथा— द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । अत्रैकविंशत्युदयसत्का अष्टौ भङ्गाः षड्विंशत्युदयसत्काश्चाष्टाशीत्यधिकशतद्वयसङ्ख्याः २८८ पञ्चसत्तास्थानकाः, शेषाः सर्वेऽपि चतुःसत्तास्थानकाः, युक्तिरत्र प्रागुक्ता द्रष्टव्या ।

"अट्ठऽट्ठ दसगं" ति अत्र "सन्नीय" इति सम्बध्यते । संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य सर्वाणि बन्धस्थानानि, तानि चाष्टौ विंशति-चतुर्विंशति-नवा-ऽष्टरहितानि । सर्वाण्यप्युदयस्थानानि तान्यप्यष्टौ, विंशति-नवा-ऽष्टोदया हि केवलिनो भवन्ति, चतुर्विंशत्युदयश्चैकेन्द्रियाणाम् , अत एते वर्ज्यन्ते. अत्र केवली संज्ञित्वेन न विवक्षित इति[2] तदुदयप्रतिषेधः । नवा-ऽष्टरहितानि सर्वाण्यपि सत्तास्थानानि, तानि च दश । अत्राप्येकविंशत्युदयभङ्गा अष्टौ, षड्विंशत्युदयभङ्गाश्चाष्टाशीत्यधिकशतद्वयसङ्ख्याः, २८८ पञ्चसत्तास्थानकाः, शेषाश्चतुःसत्तास्थानकाः ।

सम्प्रति संवेधश्चिन्त्यते—सूक्ष्मैकेन्द्रियाणामपर्याप्तानां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा–द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । एवं चतुर्विंशत्युदयेऽपि । सर्वसङ्ख्यया दश । एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकानामपि द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य प्रत्येकं दश दश सत्तास्थानान्यवगन्तव्यानि, सर्वसङ्ख्यया पञ्चाशत् ५० । एवमन्येषामपि षण्णामपर्याप्तानां भावनीयम् , नवरमात्मीये आत्मीये द्वे द्वे उदयस्थाने प्रागुक्तस्वरूपे वक्तव्ये । सूक्ष्मपर्याप्तकानां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्यादिषु

---

१ मुद्रि० उद्योतनाम्नि तू० ॥ २ सं० १ त० म० °कानि ११५२ भवन्ति ॥ ३ मुद्रि छा० °ति कृत्वा त° ॥

चतुर्ष्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, सर्वसङ्ख्यया विंशतिः। एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम्। ततः सूक्ष्मपर्याप्तानां सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि शतम् १००। बादरैकेन्द्रियपर्याप्तानां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशति-चतुर्विंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशत्युदयेषु पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, सप्तविंशत्युदये चत्वारि, सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशतिः। एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकानामपि प्रत्येकं चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिः सत्तास्थानानि वाच्यानि[1]। सर्वसङ्ख्यया पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां विंशं शतं १२० सत्तास्थानानाम्। द्वीन्द्रियपर्याप्तकानां त्रयोविंशतिबन्धकानाम् एकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च[2] पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि[3], अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशदुदयेषु[4] तु प्रत्येकं चत्वारि चत्वारीति सर्वसङ्ख्यया षड्विंशतिः। एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्बन्धकानां प्रत्येकं षड्विंशतिः षड्विंशतिः सत्तास्थानानि, सर्वसङ्ख्यया त्रिंशं शतम् १३०। एवं त्रीन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणा[5]मपि पर्याप्तानां वक्तव्यम्। असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामपि पर्याप्तानां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद् एकत्रिंशदुदयेषु तु चत्वारि चत्वारीति सर्वसङ्ख्यया षड्विंशतिः। एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम्। अष्टाविंशतिबन्धकानां पुनस्तेषां द्वे एवोदयस्थाने, तद्यथा—त्रिंशदेकत्रिंशच्च। तत्र प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च। अष्टाविंशतिर्हि देवगतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या वा, ततस्तस्यां बध्यमानायामवश्यं वैक्रियचतुष्टयादि बध्यते इत्यशीति-अष्टसप्तती न प्राप्येते। सर्वसङ्ख्यया पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां षट्त्रिंशं सत्तास्थानानां शतम् १३६। पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानां प्रागिव षड्विंशतिः सत्तास्थानानि वाच्यानि। एवं पञ्चविंशतिबन्धकानामपि, नवरं देवानां पञ्चविंशतिबन्धकानां पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। एतानि च [6]प्रागुक्तषड्विंशतिसत्तास्थानापेक्षयाऽधिकानि प्राप्यन्ते इति सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशतिबन्धकानां त्रिंशत्। षड्विंशतिबन्धकानामपि त्रिंशत्। अष्टाविंशतिबन्धकानामष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशच्चेति। तत्रैकविंशतौ द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। एते एव द्वे पञ्चविंशति-षड्विंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशदुदयेष्वपि प्रत्येकं वक्तव्ये। त्रिंशदुदये चत्वारि, तद्यथा—द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च। एतेषां च भावना प्रागेवाष्टाविंशतिबन्धे संवेधचिन्तायां विस्तरेण कृतेति न भूयः क्रियते, विशे-

१ सं० वक्तव्यानि ॥ २ सं० १ त० म० च प्रत्येकं प० ॥ ३ सं० ०नि, ग्रन्थाग्रम् २०००, अ० ॥ ४ सं० १ त० म० तु चत्वा० ॥ ५ सं० सं० १ सं० २ त० म० ०मपि वक्त० ६ १ सं० छा० प्राक्तनव० ॥

षाभावाद् ग्रन्थगौरवभयाच्च । एकत्रिंशदुदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा–द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च । सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतिबन्धकानामेकोनविंशतिः सत्तास्थानानि । एकोनत्रिंशद्बन्धकानां सत्तास्थानानि पञ्चविंशतिबन्धकानामिव भावनीयानि, तानि च त्रिंशत्। नवरमत्र विशेषो भण्यते—अविरतसम्यग्दृष्टेर्देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः एकविंशति-षड्विंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशदुदयेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने भवतः, तद्यथा—त्रिनवतिः एकोननवतिश्च । पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च वैक्रियसंयत-संयतासंयतानधिकृत्य ते एव द्वे द्वे सत्ता[1]स्थाने । अथवा आहारकसंयतानधिकृत्य पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च त्रिनवतिः, नैरयिकं तीर्थकरसत्कर्माणं मिथ्यादृष्टिमधिकृत्यैकोननवतिः । [2]सर्वाणि चतुर्दश । सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशद्बन्धकानां सत्तास्थानानि चतुश्चत्वारिंशत् । त्रिंशद्बन्धकानामपि सत्तास्थानानि पञ्चविंशतिबन्धकानामिव भावनीयानि, तानि च त्रिंशत् । केवलं देवानां मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां त्रिंशतं बध्नतां एकविंशति-पञ्चविंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशदुदयेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । एतानि च द्वादश, ततः सर्वसङ्ख्यया त्रिंशद्बन्धकानां द्विचत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । एकत्रिंशद्बन्धकानामेकमेव त्रिनवतिरूपं सत्तास्थानम् , एकत्रिंशतं हि तीर्थकरा-ऽऽहारकसहितामेव बध्नाति, ततस्तीर्थकरा-ऽऽहारकयोरपि सत्तायां प्रक्षेपे त्रिनवतिरेव भवति । एकविधबन्धकानामष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा–त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्याम् अथवा क्षपकश्रेण्यां यावद् नाद्यापि त्रयोदश नामानि क्षीयन्ते, तेषु तु क्षीणेषु उपरितनानि चत्वारि सत्तास्थानानि लभ्यन्ते । बन्धाभावे संज्ञिपर्याप्तानामष्टौ सत्तास्थानानि, तानि चानन्तरोक्तान्येव द्रष्टव्यानि; केवलमाद्यानि चत्वार्युपशान्तमोहगुणस्थानके, उपरितनानि तु चत्वारि क्षीणमोहगुणस्थानके । तदेवं सर्वसङ्ख्यया संज्ञिपर्याप्तानां द्वे शते सत्तास्थानानामष्टाधिके २०८ । यदि पुनर्द्रव्यमनोऽभिसम्बन्धात् केवलिनोऽपि संज्ञिनो विवक्ष्यन्ते तदानीं केवलिसत्कानि षड्विंशतिसत्तास्थानान्यपि भवन्ति । तथाहि—केवलिनां दश उदयस्थानानि, तद्यथा—विंशतिः एकविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च । तत्र विंशत्युदये द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा–एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च । एते एव षड्विंशत्युदया-ऽष्टाविंशत्युदययोरपि प्रत्येकं द्रष्टव्ये । एकविंशत्युदये इमे द्वे सत्तास्थाने–अशीतिः षट्सप्ततिश्च[3] । ते एव सप्तविंशत्युदयेऽपि । एकोनत्रि-

---

१ सं० १त० म० ०स्थाने भवतः । अथ० ॥ २ सं० १ त० म० ०र्वाण्यपि चतु० ॥ ३ सं० २ ०श्च । एते च स० ॥

शदुदये चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा=अशीतिः षट्सप्ततिः एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च । एकोनत्रिंशदुदयो हि तीर्थकरेऽतीर्थकरे च प्राप्यते, तत्र तीर्थकरमधिकृत्याद्ये द्वे सत्तास्थाने, अतीर्थकरमधिकृत्य पुनरन्तिमे । एवं त्रिंशदुदयेऽपि चत्वारि । एकत्रिंशदुदये द्वे-अशीतिः षट्सप्ततिश्च । नवोदये[1] त्रीणि, तद्यथा-अशीतिः षट्सप्ततिः नव च । तत्राद्ये द्वे तीर्थकरस्यायोगिकेवलिनो द्विचरमसमयं यावत् प्राप्येते, चरमसमये तु नव । अष्टोदये त्रीणि, तद्यथा-एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिः अष्टौ च । तत्राद्ये द्वे अतीर्थकरस्यायोगिकेवलिनो द्विचरमसमयं यावत्, चरमसमये त्वष्टाविति । सर्वसमुदायेन संज्ञिनां चतुस्त्रिंशदधिके द्वे शते २३४ सत्तास्थानानाम्[2] ॥ ३७ ॥ ३८॥

तदेवं जीवस्थानान्यधिकृत्य स्वामित्वमुक्तम् । सम्प्रति गुणस्थानान्यधिकृत्याह-

नाणंतराय तिविहमवि दससु दो होंति दोसु ठाणेसु ।

मिथ्यादृष्टिप्रभृतिषु सूक्ष्मसम्परायपर्यन्तेषु दशसु गुणस्थानकेषु ज्ञानावरणमन्तरायं च 'त्रिविधमपि' बन्ध-उदय-सत्तापेक्षया त्रिप्रकारमपि भवति, मिथ्यादृष्ट्यादिषु दशसु गुणस्थानकेषु ज्ञानावरणस्यान्तरायस्य च पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता इत्यर्थः । 'द्वयोः पुनर्गुणस्थानकयोः' उपशान्तमोह-क्षीणमोहरूपयोः 'द्वे' उदय-सत्ते स्तः, न बन्धः, बन्धस्य सूक्ष्मसम्पराये व्यवच्छिन्नत्वात् । एतदुक्तं भवति—बन्धाभावे उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च ज्ञानावरणीयाऽन्तराययोः प्रत्येकं पञ्चविध उदयः पञ्चविधा च सत्ता भवतीति, परत उदय-सत्तयोरप्यभावः ।

मिच्छासाणे बिइए, नव चउ पण नव य संतंसा ॥३९॥

'द्वितीये' द्वितीयस्य दर्शनावरणस्य मिथ्यादृष्टौ सासादने च नवविधो बन्धः, चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः, नवविधा सत्ता[3], द्वयोरप्यनयोर्गुणस्थानकयोः स्त्यानर्द्धित्रिकस्य नियमतो बन्धात् । "नव य संतंस" त्ति नव च 'सत्तांशाः' सत्ताभेदाः सत्प्रकृतय इत्यर्थः । एतेन च द्वौ विकल्पौ दर्शितौ, तद्यथा-नवविधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता, अथवा नवविधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता ॥ ३९ ॥

मिस्साइ नियट्टीओ छ चउ पण नव य संतकम्मंसा ।
चउबंध तिगे चउ पण, नवंस दुसु जुयल छ स्संता ॥ ४० ॥

---

१ स० १ त० म० ०दयेऽपि त्रो० ॥ २ अत्र स० २ पुस्तके-"चतुर्दशसु जीवस्थानेषु सर्वसङ्ख्यया, सत्ताविकल्पाः १३३०" इति टिप्पणकं वर्तते ॥ स१त० म० पुस्तकेषु त्वित ऊर्ध्वम्-"तदेवं चतुर्दशसु जीवस्थानेषु सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि १३३०" इति पाठः टीकान्तरेषु दृश्यते । सं छा० मुद्रि० पुस्तकेषु च सर्वथा नास्ति ॥ ३ स० १ त० म० ०त्ता इत्यर्थः । छा० मुद्रि० ०त्ता इति द्वौ विकल्पौ द्वयोर० ॥

'मिश्रादिषु' मिश्रप्रभृतिषु गुणस्थानकेषु अप्रमत्तगुणस्थानकपर्यन्तेषु 'निवृत्तौ' च अपूर्वकरणे च अपूर्वकरणाद्धायाः प्रथमे सङ्ख्येयतमभागे चेत्यर्थः, परतो निद्राद्विकबन्धव्यवच्छेदेन षड्विधबन्धासम्भवात् , तत एतेषु षड्विधो बन्धश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः नवविधा सत्तेति द्वौ विकल्पौ । "चउबंध तिगे चउ पण नवंस" त्ति इहापूर्वकरणाद्धायाः प्रथमे सङ्ख्येयतमे भागे गते सति निद्रा-प्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदो भवति, ततोऽत ऊर्ध्वमपूर्वकरणेऽपि चतुर्विध एव बन्धः । ततः 'त्रिके' अपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्परायरूपे चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः, "नवंस" इति नवविधा सत्तेति प्रत्येकं द्वौ द्वौ विकल्पौ, अंश इति सत्ताऽभिधीयते । एतच्चोक्तमुपशमश्रेणीमधिकृत्य, क्षपकश्रेण्यां गुणस्थानकत्रयेऽपि पञ्चविधस्योदयस्य सूक्ष्मसम्पराये च नवविधायाः सत्ताया अप्राप्यमाणत्वात् "दुसु जुयल छ स्संत" त्ति इह क्षपकश्रेण्यामनिवृत्तिबादरसम्परायाद्धायाः सङ्ख्येयतमेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् भागे सङ्ख्येयतमेऽवतिष्ठमाने स्त्यानर्द्धित्रिकस्य सत्ताव्यवच्छेदो भवति, ततस्तदनन्तरमनिवृत्तिबादरेऽपि षड्विधैव सत्ता भवति, तत आह—"दुसु" त्ति 'द्वयोः' अनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराययोर्युगलमिति बन्ध-उदयावुच्येते । चतुरिति चानुवर्तते, ततश्चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयः "छ स्संत" त्ति षड्विधा सत्ता । अत्र पञ्चविध उदयो न प्राप्यते, क्षपकाणामत्यन्तविशुद्धतया निद्राद्विकस्योदयाभावात् । *उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णावुदीरणाकरणे**—*

[1]इंदियपज्जत्तीए अणंतरे समए सव्वो वि निद्दापयलमुदीरगो भवइ, नवरं खीणकसायखवगे मोत्तूणं, तेसिं उदओ नत्थि त्ति काउं ॥४०॥

उवसंते चउ पण नव, खीणे चउरुदय छच्च चउ संतं ।

'उपशान्ते' उपशान्तमोहे बन्धो न भवति, तस्य सूक्ष्मसम्पराये एव व्यवच्छिन्नत्वात्, ततः केवलश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयो नवविधा सत्ता । उपशमकोपशान्तमोहा ह्यत्यन्तविशुद्धा न भवन्ति, ततस्तेषु निद्राद्विकस्याप्युदयः सम्भवति 'क्षीणे' क्षीणमोहे चतुर्विध उदयः षड्विधा सत्ता, एष विकल्पो द्विचरमसमयं यावत् । चरमसमये तु निद्रा-प्रचलयोः सत्ताव्यवच्छेदाद् अयं विकल्पः—चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता ॥

वेयणियाउयगोए, विभज्ज

वेदनीयाऽऽयु-र्गोत्राणां बन्ध-उदय-सत्तास्थानानि यथागमं गुणस्थानकेषु 'विभजेत्' विकल्पयेत् ।

---

[1] इन्द्रियपर्याप्त्या अनन्तरे समये सर्वोऽपि निद्रा-प्रचलयोरुदीरको भवति, नवरं क्षीणकषाय-क्षपकान् मुक्त्वा, तेषामुदयो नास्तीति कृत्वा ॥ २ त० म०मके ३५० ॥

तत्र वेदनीय-गोत्रयोर्भङ्गनिरूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा—

चउ छस्सु दोण्णि सत्तसु, एगे चउ गुणिसु वेयणियभंगा ।
गोए पण चउ दो तिसु, एगऽट्ठसु दोण्णि एक्कम्मि ॥ ३ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादिषु प्रमत्तसंयतपर्यन्तेषु षट्सु गुणस्थानकेषु प्रत्येकं वेदनीयस्य प्रथमाश्चत्वारो भङ्गाः, ते चेमे —असातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती, असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती, सातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती, सातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती । तथाऽप्रमत्तसंयतादिषु सयोगिकेवलिपर्यन्तेषु सप्तसु गुणस्थानकेषु द्वौ भङ्गौ, तौ चानन्तरोक्तावेव तृतीयचतुर्थौ ज्ञातव्यौ, एते हि सातमेव बध्नन्ति नासातम् । तथा 'एकस्मिन्' अयोगिकेवलिनि चत्वारो भङ्गाः, ते चेमे—असातस्योदयः सातासाते सती, अथवा सातस्योदयः सातासाते सती, एतौ द्वौ विकल्पावयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावत् प्राप्येते; चरमसमये तु असातस्योदयः असातस्य सत्ता यस्य द्विचरमसमये सातं क्षीणम् , यस्य त्वसातं द्विचरमसमये क्षीणं तस्यायं विकल्पः—सातस्योदयः सातस्य सत्ता ।

"गोए" इत्यादि । 'गोत्रे' गोत्रस्य पञ्च भङ्गा मिथ्यादृष्टौ, ते चेमे—नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रं सत् , एष विकल्पस्तेजस्कायिक-वायुकायिकेषु लभ्यते, तद्भवादुद्वृत्तेषु वा शेषजीवेषु कियत्कालम् ; नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः उच्च-नीचैर्गोत्रे सती । अथवा नीचैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, अथवा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीच्चैर्गोत्रे सती, उच्चैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती । सासादनस्य प्रथमवर्जाः शेषाश्चत्वारो भङ्गाः । प्रथमो हि भङ्गस्तेजः-वायुकायिकेषु लभ्यते, तद्भवादुद्वृत्तेषु वा कियत्कालम् । न च तेजः-वायुषु सासादनभावो लभ्यते, नापि तद्भवादुद्वृत्तेषु तत्कालम् , अतोऽत्र प्रथमभङ्गप्रतिषेधः । तथा 'त्रिषु' मिश्रा-ऽविरत-देशविरतेषु चतुर्थ-पञ्चमरूपौ द्वौ भङ्गौ भवतः, न शेषाः, मिश्रादयो हि नीचैर्गोत्रं न बध्नन्ति । अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते-देशविरतस्य पञ्चम एवैको भङ्गः, "[1]सामन्नेणं वय जाईए उच्चागोयस्स उदओ होइ" । इति वचनात् ।

"एगऽट्ठसु" त्ति प्रमत्तसंयतप्रभृतिषु अष्टसु गुणस्थानेषु प्रत्येकमेकैको भङ्गः । तत्र प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्परायेषु केवलः पञ्चमो भङ्गः, तेषामुच्चैर्गोत्रस्यैव बन्ध-उदयसम्भवात् । उपशान्तमोहे क्षीणमोहे सयोगिकेवलिनि च बन्धाभावात् प्रत्येकमयं विकल्पः—उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती ।

---

१ सामान्येन व्रत-जात्योः उच्चैर्गोत्रस्य उदयो भवति ॥ २ स० त० म० °जाइ पडुच्च उ° एव ।

"दोन्नि एकम्मि" त्ति एकस्मिन् अयोगिकेवलिनि द्वौ भङ्गौ—उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पो द्विचरमसमयं यावत् । चरमसमये त्वेष विकल्पः—उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चैर्गोत्रं सत् । नीचैर्गोत्रं हि द्विचरमसमये क्षीणमिति चरमसमये न सत् प्राप्यते ॥

सम्प्रत्यायुर्भङ्गा निरूप्यन्ते, तन्निरूपणार्थं चेयमन्तर्भाष्यगाथा—

[1]अट्ठच्छाहिगवीसा सोलस वीसं च बार[2] छ दोसु ।
दो चउसु तीसु एक्कं, मिच्छाइसु आउगे भंगा ॥ ४ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु अयोगिकेवलिगुणस्थानकपर्यन्तेषु क्रमेणैतेऽष्टाधिकविंशत्यादय आयुषि भङ्गाः । तत्र मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकेऽष्टाधिका विंशतिरायुषो भङ्गाः । मिथ्यादृष्टयो हि चतुर्गतिका अपि भवन्ति । तत्र नैरयिकानधिकृत्य पञ्च, तिरश्चोऽधिकृत्य नव, मनुष्यानप्यधिकृत्य नव, देवानधिकृत्य पञ्च, एते च प्रागेव सप्रपञ्चं भाविता इति न भूयो भाव्यन्ते । सासादनस्य षडधिका विंशतिः, यतस्तिर्यञ्चो मनुष्या वा सासादनभावे वर्तमाना नरकायुर्न बध्नन्ति, ततः प्रत्येकं तिरश्चां मनुष्याणां च परभवायुर्बन्धकाले एकैको भङ्गो न प्राप्यत इति षड्विंशतिः । सम्यग्मिथ्यादृष्टेः षोडश, सम्यग्मिथ्यादृष्टयो हि नायुर्बन्धमारभन्ते, तत आयुर्बन्धकाले नारकाणां यौ द्वौ भङ्गौ, ये च तिरश्चां चत्वारः, ये च मनुष्याणामपि चत्वारः, यौ च देवानां द्वौ, तानेतान् द्वादश वर्जयित्वा शेषाः षोडश भवन्ति । अविरतसम्यग्दृष्टेर्विंशतिभङ्गाः, कथम् ? इति चेद् उच्यते—तिर्यङ्-मनुष्याणां प्रत्येकमायुर्बन्धकाले ये नरक-तिर्यङ्-मनुष्यगतिविषयास्त्रयस्त्रयो भङ्गाः, यश्च देव-नैरयिकाणां प्रत्येकमायुर्बन्धकाले तिर्यग्गतिविषय एकैको भङ्गः, ते अविरतसम्यग्दृष्टेर्न सम्भवन्ति, ततः शेषा विंशतिरेव भवति । देशविरतेर्द्वादश भङ्गाः, यतो देशविरतिस्तिर्यङ्-मनुष्याणामेव भवति, ते च तिर्यङ्-मनुष्या देशविरता आयुर्बध्नन्तो देवायुरेव बध्नन्ति, न शेषमायुः, ततस्तिरश्चां मनुष्याणां च प्रत्येकं परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वमेकैको भङ्गः, परभवायुर्बन्धकालेऽपि चैकैकः, आयुर्बन्धोत्तरकालं च चत्वारश्चत्वारः, यतः केचित् तिर्यञ्चो मनुष्याश्च चतु[3]र्णामेकमन्यतमदायुर्बद्ध्वा देशविरतिं प्रतिपद्यन्ते, ततस्तदपेक्षया यथोक्ताश्चत्वारश्चत्वारो भङ्गाः प्राप्यन्ते, सर्वसङ्ख्यया द्वादश । "छ दोसु" त्ति 'द्वयोः' प्रमत्ता-ऽप्रमत्तयोः प्रत्येकं षट् षड् भङ्गाः । प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयता हि मनुष्या एव भवन्ति, तत आयुर्बन्धकालात् पूर्वमेकः, आयुर्बन्धकालेऽप्येकः, प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता हि देवायुरेवैकं बध्नन्ति न शेषमायुः, बन्धोत्तरकालं च प्रागुक्तदेशवि[4]रत्युक्त्यनुसारेण चत्वार इति ।

---

१ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये त्रयोदशी ॥ २ मुद्रि० ०रस छ दोसु ॥ ३ सं० १ त० म० र्णामन्य० ॥
४ सं० १ म० त० ०रतिमुक्त्यनु० ॥

"दो चउसु" त्ति 'चतुर्षु' अपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहरूपेषु गुणस्थानकेषूपशमश्रेणिमधिकृत्य प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ, तद्यथा—मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता, एष विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम् ; अथवा मनुष्यायुष उदयो मनुष्य-देवायुषी सती, एष विकल्पः परभवायुर्बन्धोत्तरकालम् , एते ह्यायुर्न बध्नन्ति, अतिविशुद्धत्वात् । पूर्वबद्धे चायुषि उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते देवायुष्येव नान्यायुषि । तदुक्तं **कर्मप्रकृतौ**—

[1]तिसु आउगेसु बद्धेसु जेण सेढिं न आरुहइ ॥ (गा० ३७५)

तत उपशमश्रेणिमधिकृत्य एतेषु द्वौ द्वावेव भङ्गौ । पूर्वबद्धायुष्कास्तु क्षपकश्रेणिं न प्रतिपद्यन्ते, तत उपशमश्रेणिमधिकृत्येत्युक्तम् । क्षपकश्रेण्यां त्वेतेषामेकैक एव भङ्गः, तद्यथा—मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्तेति । "तीसु एक्कं" ति 'त्रिषु' क्षीणमोह-सयोगिकेवलि-अ[2]योगिरूपेषु प्रत्येकमेकैको भङ्गः, तद्यथा—मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता । शेषा न सम्भवन्ति ।

तदेवमायुषो गुणस्थानकेषु भङ्गा निरूपिताः, सम्प्रति मोहनीयं प्रत्याह—

मोहं परं वोच्छं ॥ ४१ ॥

अतः परं 'मोहं' मोहनीयं वक्ष्ये ॥ ४१ ॥

गुणठाणगेसु अट्ठसु एक्केक्कं मोहबंधठाणेसु ।
पंचानियट्टिठाणे, बंधोवरमो परं तत्तो ॥ ४२ ॥

मोहनीयसत्कबन्धस्थानेषु मध्ये एकैकं बन्धस्थानं मिथ्यादृष्ट्यादिषु अष्टसु गुणस्थानकेषु भवति, तद्यथा—मिथ्यादृष्टेर्द्वाविंशतिः सासादनस्यैकविंशतिः सम्यग्मिथ्यादृष्टेरविरतसम्यग्दृष्टेश्च प्रत्येकं सप्तदश सप्तदश, देशविरतस्य त्रयोदश, प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणानां प्रत्येकं नव नव । एतानि च द्वाविंशत्यादीनि नवपर्यन्तानि बन्धस्थानानि प्रागेव सप्रपञ्चं भावितानीति न भूयो भाव्यन्ते, विशेषाभावात् । केवलमप्रमत्ता ऽपूर्वकरणयोर्भङ्ग एकैक एव वक्तव्यः, अरति-शोकयोर्बन्धस्य प्रमत्तगुणस्थानके एव व्यवच्छेदात् । [3]प्राक् च प्रमत्तापेक्षया नवकबन्धस्थाने द्वौ भङ्गौ दर्शितौ । "पंचानियट्टिठाणे" अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च प्रकृतिरिति । 'ततः' अनिवृत्तिस्थानात् परं सूक्ष्मसम्परायादौ 'बन्धोपरमः' बन्धाभावः ॥ ४२ ॥

सम्प्रत्युदयस्थानप्ररूपणार्थमाह—

---

१ त्रिष्वायुष्केषु बद्धेषु येन श्रेणिं न आरोहति ॥ २ सं० १ त० म० ०योगिकेवलिरू० ॥ ३ सं १ त० म० छा० प्रागुक्तमम० ॥

सत्ताइ दस उ मिच्छे, सासायणमीसए नवुक्कोसा ।
छाई नव उ अविरए, देसे पंचाइ अट्ठेव ॥ ४३ ॥
विरए खओवसमिए, चउराई सत्त छच्चऽपुव्वम्मि ।
अनियट्टिबायरे पुण, इक्को व दुवे व उदयंसा ॥ ४४ ॥
एगं सुहुमसरागो, वेएइ अवेयगा भवे सेसा ।
भंगाणं च पमाणं, पुव्वुद्दिट्ठेण नायव्वं ॥ ४५ ॥

मिथ्यादृष्टेः सप्तादीनि दशपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश । तत्र मिथ्यात्वम् , अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे त्रयः क्रोधादिकाः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, हास्य-रति-युगला-ऽरति-शोक-युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां सप्तप्रकृतीनामुदयो ध्रुवः, अत्र चतुर्भिः कषायैस्त्रिभिर्वेदैर्द्वाभ्यां युगलाभ्यां भङ्गाश्चतुर्विंशतिः । तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा अनन्तानुबन्धिनि वा प्रक्षिप्ते अष्टानामुदयः, अत्र भयादौ प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिः प्राप्यत इति तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भय-जुगुप्सयोरथवा भया-ऽनन्तानुबन्धिनोर्यद्वा जुगुप्सा-ऽनन्तानुबन्धिनोः प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः, अत्राप्येकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गानां चतुर्विंशतिः प्राप्यत इति तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भय-जुगुप्सा-ऽनन्तानुबन्धिषु युगपत् प्रक्षिप्तेषु दशानामुदयः, अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । सर्वसङ्ख्यया मिथ्यादृष्टावष्टौ चतुर्विंशतयः । सासादने मिश्रे च सप्तादीनि 'नवोत्कर्षाणि' नवपर्यन्तानि त्रीणि त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव । तत्र सासादने अनन्तानुबन्धि-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे चत्वारः क्रोधादिकाः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां सप्तप्रकृतीनामुदयो ध्रुवः, अत्र प्रागिवैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । ततो भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायां अष्टोदयः, अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानाम् । भय-जुगुप्सयोस्तु प्रक्षिप्तयोर्नवोदयः, अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । सर्वसङ्ख्यया सासादने चतस्रश्चतुर्विंशतयः । मिश्रेऽनन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधादिकाः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलं, मिश्रमिति सप्तानां प्रकृतीनामुदयो ध्रुवः, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । ततो भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायामष्टोदयः, अत्र द्वे भङ्गकानां चतुर्विंशती । भय-जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्यया मिश्रेऽपि चतस्रश्चतुर्विंशतयः ।

"छाई नव उ अविरए" त्ति 'अविरते' अविरतसम्यग्दृष्टौ षडादीनि नवपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—षट् सप्त अष्टौ नव । तत्रानन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधा-

दिकाः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमिति षण्णां प्रकृतीनामुदयोऽविरतस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा ध्रुवः, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । ततो भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते सप्तानामुदयः, अत्र तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव षट्के भय-जुगुप्सयोर्भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोर्वा युगपत् प्रक्षिप्तयोरष्टानामुदयः, अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव षट्के भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु युगपत् प्रक्षिप्तेषु नवानामुदयः, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्ययाऽविरतसम्यग्दृष्टावष्टौ चतुर्विंशतयः ।

"देसे पंचाइ अट्ठे व" त्ति 'देशे' देशविरते पञ्चादीनि अष्टपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—पञ्च षट् सप्त अष्टौ । तत्र प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधादीनामन्यतमौ द्वौ क्रोधादिकौ, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमिति पञ्चानां प्रकृतीनामुदयो देशविरतस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा भवति; अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । ततो भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते षण्णामुदयः, अत्र तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भय-जुगुप्सयो[1]र्यद्वा जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोरथवा भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्युगपत् प्रक्षिप्तयोः सप्तानामुदयः, अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु युगपत् प्रक्षिप्तेष्वष्टानामुदयः; अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्यया देशविरतेऽष्टौ चतुर्विंशतयः ॥४३॥

तथा 'विरते क्षायोपशमिके' प्रमत्तेऽप्रमत्ते चेत्यर्थः, विरतो हि श्रेणेरधस्ताद्वर्तमानः क्षायोपशमिको विरत इति व्यवह्रियते । ततश्च प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रत्येकं चतुरादीनि सप्तपर्यन्तानि चत्वारि चत्वार्युदयस्था[2]नानि, तद्यथा—चतस्रः पञ्च षट् सप्त । तत्र क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा प्रमत्तस्याप्रमत्तस्य च प्रत्येकं संज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एकः क्रोधादिः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमिति चतसृणां प्रकृतीनामुदयः, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । ततो भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते पञ्चानामुदयः, अत्र तिस्रश्चतुर्विंशतयो भङ्गकानाम् । तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भय-जुगुप्सयोर्यदि वा जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोरथवा भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्युगपत् प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदयः, अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु युगपत् प्रक्षिप्तेषु सप्तानामुदयः, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्यया प्रमत्तस्याप्रमत्तस्य च प्रत्येकमष्टावष्टौ चतुर्विंशतयः ।

---

१ सं० २ र्यदि वा जु' ॥ २ मुद्रि० छा० ०नानि भवन्ति, तद्य० ॥

"छच्चऽपुव्वम्मि" अपूर्वकरणे चतुरादीनि षट्पर्यन्तानि त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा— चतस्रः पञ्च षट् । तत्र संज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एकः क्रोधादिः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां चतसृणां प्रकृतीनामुदयोऽपूर्वकरणे ध्रुवः, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । ततो भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायां पञ्चानामुदयः, अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानाम् । भय-जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदयः, अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । सर्वसङ्ख्ययाऽपूर्वकरणे चतस्रश्चतुर्विंशतयः ।

अनिवृत्तिबादरे पुनरेको द्वौ वा 'उदयांशौ' उदयभेदौ उदयस्थाने इत्यर्थः । तत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतम एकः क्रोधादिः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेद इति द्विकोदयः, अत्र त्रिभिर्वेदैश्चतुर्भिः संज्वलनैर्द्वादश भेदाः । ततो वेदोदयव्यवच्छेदे एकोदयः, स च चतुर्विधबन्धे त्रिविधबन्धे द्विविधबन्धे एकविधबन्धे च प्राप्यते । तत्र यद्यपि प्राक् चतुर्विधबन्धे चत्वारः त्रिविधबन्धे त्रयः द्विविधबन्धे द्वौ एकविधबन्धे एक इति दश भङ्गाः प्रतिपादिताः तथाप्यत्र सामान्येन चतुः-त्रि द्वि-एकबन्धापेक्षया चत्वार एव भङ्गा विवक्ष्यन्ते ॥४४॥

"एगं सुहुमसरागो वेएइ" त्ति सूक्ष्मसम्परायो बन्धाभावे एकं किट्टीकृतसंज्वलनलोभं वेदयते, ततोऽत्रैक एव भङ्गः । एवमेकोदयभङ्गाः सर्वसङ्ख्यया पञ्च । तथा 'शेषाः' उपरितना उपशान्तमोहादयः सर्वेऽप्यवेदकाः ।

"भंगाणं च पमाणं" इत्यादि । अत्र मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु उदयस्थानभङ्गकानां प्रमाणं 'पूर्वोद्दिष्टेन' पूर्वोक्तेन प्राक् [1]सामान्यनिर्दिष्टमोहनीयोदयस्थानचिन्ताधिकारोक्तेन प्रकारेण ज्ञातव्यम् ॥४५॥

सम्प्रति मिथ्यादृष्ट्यादीनधिकृत्य दशादिष्वेकपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु भङ्गसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

एक्क छडेक्कारेक्कारसेव एक्कारसेव नव तिन्नि ।
एए चउवीसगया, बार दुगे पंच एक्कम्मि ॥४६॥

इह दशादीनि चतुरन्तानि उदयस्थानान्यधिकृत्य यथासङ्ख्यमेकादिसङ्ख्यापदयोजना कर्तव्या । सा चैवम्—दशोदये एका चतुर्विंशतिः । नवोदये षट्—तत्र मिथ्यादृष्टौ तिस्रः, सासादने मिश्रेऽविरते च प्रत्येकमेकैका । अष्टोदये एकादश—तत्र मिथ्यादृष्टौ अविरते च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः, सासादने मिश्रे च प्रत्येकं द्वे द्वे, देशविरते चैका । सप्तोदये एकादश—तत्र मिथ्यादृष्टौ सासादने मिश्रे प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रत्येकमेकैका, अविरते देशविरते च प्रत्येकं तिस्र-

१ मुद्रि० ०मान्येनोक्तमोह० । छा० °मान्योक्तमोह° ॥

स्तिस्रः । षडुदये एकादश–तत्राविरतसम्यग्दृष्टौ अपूर्वकरणे च प्रत्येकमेकैका, देशविरते प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रत्येकं तिस्रस्तिस्रः । पञ्चकोदये नव–तत्र देशविरते एका, प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रत्येकं तिस्रस्तिस्रः, अपूर्वकरणे द्वे । चतुरुदये तिस्रः–प्रमत्तेऽप्रमत्तेऽपूर्वकरणे च प्रत्येकमेकैका । 'एते' अनन्तरोक्ता एकादिकाः सङ्ख्याविशेषाः 'चतुर्विंशतिगताः' चतुर्विंशत्यभिधायकाः, एता अनन्तरोक्ताश्चतुर्विंशतयो ज्ञातव्या इत्यर्थः । एताश्च सर्वसङ्ख्यया द्विपञ्चाशत् ५२ । 'द्विके' द्विकोदये भङ्गा द्वादश, एकोदये पञ्च, एते च प्रागेव भाविताः ॥

[1]सम्प्रत्येतेषामेव भङ्गानां विशिष्टतरसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

बारसपणसट्ठसया, उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा ।

इह दशादिषु चतुःपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु भङ्गकानां द्विपञ्चाशत् चतुर्विंशतयो लब्धाः । ततो द्विपञ्चाशत् चतुर्विंशत्या गुण्यते, गुणितायां च तस्यां द्विकोदयभङ्गा द्वादश एकोदयभङ्गाः पञ्च प्रक्षिप्यन्ते, ततो द्वादश शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि १२६५ भवन्ति । एतैरुदयविकल्पैर्यथायोगं [2]सर्वे संसारिणो जीवाः 'मोहिताः' मोहमापादिता विज्ञेयाः ॥

सम्प्रति पदसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

चुल[3]सीईसत्तत्तरिप[4]यविंदसएहिं विन्नेया ॥ ५ ॥

इह पदानि नाम–मिथ्यात्वम् अप्रत्याख्यानक्रोधः प्रत्याख्यानावरणक्रोध इत्येवमादीनि, ततो वृन्दानां–दशाद्युदयस्थानरूपाणां पदानि पदवृन्दानि, आर्षत्वाद् राजदन्तादिषु मध्ये पाठाभ्युपगमाद्वा वृन्दशब्दस्य परनिपातः, तेषां शतैः सप्तसप्तत्यधिकचतुरशीतिशतसङ्ख्यैः ८४७७मोहिताः संसारिणो जीवा विज्ञेयाः, एतावत्सङ्ख्याभिः कर्मप्रकृतिभिर्यथायोगं मोहिता जीवा ज्ञातव्या इत्यर्थः । अथ कथं सप्तसप्तत्यधिकानि चतुरशीतिशतानि ८४७७ पदानां भवन्ति ? उच्यते— इह दशोदये दश पदानि दश प्रकृतय उदयमागता इत्यर्थः, एवं नवोदयादिष्वपि नवादीनि पदानि भावनीयानि । ततो दशोदय[5] एको दशभिर्गुण्यते, नवोदयाः षड् नवभिः, अष्टोदया एकादश अष्टभिः, सप्तोदया एकादश सप्तभिः, षडुदया एकादश षड्भिः, पञ्चकोदया नव पञ्चभिः, चतुरुदयास्त्रयश्चतुर्भिः, गुणयित्वा चैते सर्वेऽप्येकत्र मील्यन्ते, जातानि द्विपञ्चाशद-

---

१ "एएसिं उदयविगप्पपयवंदनिरूवणत्थमन्तर्भाष्यगाथा–बारसपणसट्ठसया०" इत्यनेन सप्ततिकाचूर्णिगतावतरणेन गाथेयं चूर्णिकृताऽन्तर्भाष्यगाथातयोपात्ताऽपि टीकाकारैनान्तर्भाष्यगाथात्वेनोल्लिखिता, तथाप्यस्माभिश्चूर्णिमनुसृत्यान्तर्भाष्यगाथात्वेनोपस्थापितेयं गाथा॥

२ सं० सं० १ सं० २ °सर्वसं° ॥ ३ सं० १ °सीइसत्तसत्त° । म० °सीइसत्तहत्त° ॥ ४ सं० सं० २ °यवंद° ॥ ५ सं० १ त० म० °दयोऽत्रैकः स दश° सं० । २ सं० छा० °दयो दश° ॥

धिकानि त्रीणि शतानि ३५२ । एतानि च चतुर्विंशतिगतानि प्राप्यन्ते इति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते। ततो द्विकोदयपदानि चतुर्विंशतिः एकोदयपदानि च पञ्च प्रक्षिप्यन्ते ततस्तेषु प्रक्षिप्तेषु यथोक्तसङ्ख्यान्येव पदानां शतानि ८४७७ भवन्ति॥

सम्प्रति मिथ्यादृष्ट्यादिषु प्रत्येकमुदयभङ्गनिरूपणार्थं भाष्यकृदन्तर्गाथामाह—

अट्ठग चउ चउ चउरट्ठगा य चउरो य होंति चउवीसा।
मिच्छाइ अपुव्वंता, बारस पणगं च अनियट्टे ॥ ६ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणान्ता अष्टादिचतुर्विंशतयो भवन्ति। किमुक्तं भवति? -मिथ्यादृष्ट्यादिष्वपूर्वकरणपर्यवसानेषु गुणस्थानकेषु चतुर्विंशतयो यथा सङ्ख्यं अष्टादिसङ्ख्या भवन्ति। तत्र मिथ्यादृष्टावष्टौ, सासादने चतस्रः, मिश्रे चतस्रः। "चउरट्ठग" त्ति अविरतादिषु अप्रमत्तपर्यवसानेषु चतुर्षु गुणस्थानकेषु प्रत्येकमष्टावष्टौ। अपूर्वकरणे चतस्रः, एताश्च प्रागेव भाविताः। 'अनिवृत्तौ' अनिवृत्तिबादरे द्विकोदये द्वादश भङ्गाः एकोदये च पञ्च। चशब्दोऽनिवृत्तिबादरे एकोदये चत्वार एकः सूक्ष्मसम्पराय इति विशेषं द्योतयति ॥४६॥

सम्प्रत्येतेषामेवोदयभङ्गानामुदयपदानां च योगोपयोगादिभिर्गुणनार्थमुपदेशमाह—

जोगोवओगलेसाइएहिं गुणिया हवंति कायव्वा।
जे जत्थ गुणट्ठाणे, हवंति ते तत्थ गुणकारा ॥४७॥

मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु ये योगोपयोगादयस्तैरुदयभङ्गा गुणिताः कर्त्तव्याः, तैरुदयभङ्गा गुणयितव्या इत्यर्थः। कतिसङ्ख्यैर्गुणयितव्याः? इत्यत आह--ये योगादयो यस्मिन् गुणस्थानके यावन्तो भवन्ति तावन्तस्तस्मिन् गुणस्थानके गुणकाराः, तैस्तावद्भिस्तस्मिन् गुणस्थानके उदयभङ्गा गुणयितव्या इत्यर्थः। तत्र प्रथमतो योगैर्गुणनभावना क्रियते-- इह मिथ्यादृष्ट्यादिषु सूक्ष्मसम्परायपर्यवसानेषु सर्वसङ्ख्ययोदयभङ्गाः पञ्चषष्ट्यधिकानि द्वादश शतानि १२६५। तत्र वाग्योगचतुष्टय-मनोयोगचतुष्टय-औदारिककाययोगाः सर्वेऽपि मिथ्यादृष्ट्यादिषु दशसु गुणस्थानकेषु सम्भवन्तीति ते नवभिर्गुण्यन्ते, ततो जातान्येकादश सहस्राणि त्रीणि च शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि ११३८५। तथा मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगेऽष्टावपि चतुर्विंशतयः प्राप्यन्ते, वैक्रियमिश्रे औदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकं चतस्रश्चतस्रः, एताश्च या अनन्तानुबन्ध्युदयसहितास्ता एव द्रष्टव्याः। यास्त्वनन्तानुबन्ध्युदयरहितास्ता अत्र न प्राप्यन्ते।

---

१ सं० १ त० म० °थायोगं अ° ॥ २ सं० सं० २ छा० मुद्रि० °ट्ठाणेसु होंति ते त° ॥ ३ सं० स० १ सं० २ त० °संख्योदय° ॥ ४ सं० स० २ °षु गुण° ॥ ५ सं० १ स० २ त० म० °ति नवभि° ॥

किं कारणम् ? इति चेद् उच्यते—इह येन पूर्वं वेदकसम्यग्दृष्टिना सता अनन्तानुबन्धिनो विसंयोजिता, विसंयोज्य च परिणामपरावृत्त्या सम्यक्त्वात् प्रच्युत्य मिथ्यात्वं गतेन भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बन्द्धुमारभ्यन्ते तस्यैव मिथ्यादृष्टेर्बन्धावलिकामात्रं कालं यावदनन्तानुबन्ध्युदयो न प्राप्यते, न शेषस्य; अनन्तानुबन्धिनश्च विसंयोज्य भूयोऽपि मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तावशेषायुष्क एव, अनन्तानुबन्ध्युदयरहितस्य मिथ्यादृष्टेः कालकरणप्रतिषेधात् । तथोक्तम्—

[1]कुणइ जं न सो कालं । इति ।

ततस्तस्मिन्नेव भवे वर्तमानो मिथ्यात्वप्रत्ययेन भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति, बन्धावलिकातीतांश्च प्रवेदयते । ततोऽपान्तरालगतौ वर्तमानस्य भवान्तरे वा प्रथमत उत्पन्नस्य मिथ्यादृष्टेः सतोऽनन्तानुबन्ध्युदयरहिता उदयविकल्पा न प्राप्यन्ते । [2]अत्र च कार्मणकाययोगोऽपान्तरालगतौ औदारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोगौ च भवान्तरे उत्पद्यमानस्य, ततः कार्मणकाययोगादौ प्रत्येकं चतस्रश्चतस्रश्चतुर्विंशतयोऽनन्तानुबन्ध्युदयरहिता न प्राप्यन्ते । 'वैक्रियमिश्रकाययोगो भवान्तरे प्रथमत एवोत्पद्यमानस्य भवति' इति यदुक्तं तद् बाहुल्यमाश्रित्योक्तम् , अन्यथा तिर्यङ्-मनुष्याणामपि मिथ्यादृशां वैक्रियकारिणां वैक्रियमिश्रमवाप्यत एव परं चूर्णिकृता तद् नात्र विवक्षितमित्यस्माभिरपि न विवक्षितम् , एवमुत्तरत्रापि **चूर्णिकार**मार्गानुसरणं परिभावनीयम् । तथा सासादनस्य कार्मणकाययोगे वैक्रियकाययोगे औदारिकमिश्रकाययोगे च प्रत्येकं चतस्रश्चतस्रश्चतुर्विंशतयः, सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगे चतस्रः, अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियकाययोगेऽष्टौ, देशविरतस्य वैक्रिये वैक्रियमिश्रकाययोगे च प्रत्येकमष्टावष्टौ, प्रमत्तसंयतस्यापि वैक्रिये वैक्रियमिश्रे च प्रत्येकमष्टावष्टौ, अप्रमत्तसंयतस्य वैक्रि[3]यकाययोगेऽष्टौ, सर्वसङ्ख्यया चतुरशीतिश्चतुर्विंशतयः । चतुरशीतिश्चतुर्विंशत्या गुणिता जातानि षोडशाधिकानि विंशतिशतानि २०१६, तानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते । तथा सासादनस्य वैक्रियमिश्रे वर्तमानस्य ये चत्वारोऽप्युदयस्थानविकल्पाः, तद्यथा–सप्तोदय एकविधः अष्टोदयो द्विविधो नवोदय एकविधः, अत्र नपुंसकवेदो न लभ्यते, वैक्रिय[4]काययोगिषु नपुंसकवेदिषु मध्ये सासादनस्योत्पादाभावत् । ये चाविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकमष्टावष्टौ उदयस्थानविकल्पा [5]एषु स्त्रीवेदो न लभ्यते, वैक्रियकाययोगिषु स्त्रीवेदिषु मध्येऽविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पा-

१ करोति यद् न स कालम् ॥ २ सं० सं० २ छा० मुद्रि० अथ च ॥ ३ सं० सं० १ सं० २ त० म० ०ययो० ॥ ४ सं० १ त० म० ०यमिश्रका० ॥ ५ सं० त० म० ०श्रे वर्तमानस्य कार्म० ॥ ६ सं० त० म० एतेषु ॥

दाभावात् । एतच्च प्रायोवृत्तिमाश्रित्योक्तम् , अन्यथा कदाचिद् [1]स्त्रीवेदिष्वपि मध्ये तदुत्पादो भवति। उक्तं च **चूर्णौ** —

कयाइ होज्ज इत्थिवेयगेसु वि । इति ।

प्रमत्तसंयतस्य आहारककाययोगे आहारकमिश्रकाययोगे च अप्रमत्तसंयतस्य आहारककाययोगे ये प्रत्येकमष्टावष्टावुदयस्थानविकल्पास्तेऽपि स्त्रीवेदरहिता वेदितव्याः, आहारकं हि चतुर्दशपूर्विणो भवति, "आहारं[3] चोद्दसपुव्विणो उ" इति वचनात्; न च स्त्रीणां चतुर्दशपूर्वाधिगमः सम्भवति, सूत्रे प्रतिषेधात् । तदुक्तम्—

[4]तुच्छा गारवबहुला, चलिंदिया दुब्बला य धीईए ।
इय अइसेसज्झयणा, भूयावाओ य नो थीणं ॥ (बृ० कल्प० गा० १४६)

भूतवादो नाम दृष्टिवादः । एते सर्वेऽप्युदयस्थानविकल्पाः सर्वसङ्ख्यया चतुश्चत्वारिंशत् ४४ । एतेषु चोक्तप्रकारेण द्वौ द्वावेव वेदौ लब्धौ, ततः प्रत्येकं षोडश षोडश भङ्गाः ततश्चतुश्चत्वारिंशत् षोडशभिर्गुण्यते जातानि सप्त शतानि चतुरधिकानि ७०४, तानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते । तथाऽविरतसम्यग्दृष्टेरौदारिकमिश्रकाययोगे येऽष्टावुदयस्थानविकल्पास्ते पुंवेदसहिता एव प्राप्यन्ते, न स्त्रीवेद-नपुंसकवेदसहिताः, तिर्यग्-मनुष्येषु-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदिषु मध्येऽविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पादाभावात्; एतच्च प्राचुर्यमाश्रित्योक्तम् , तेन मल्लिस्वामिन्यादिभिर्न व्यभिचारः। एतेषु चैकेन वेदेन प्रत्येकमष्टावष्टावेव भङ्गा लभ्यन्ते, ततोऽष्टौ अष्टभिर्गुण्यन्ते जाताश्चतुःषष्टिः ६४, सा च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते, तत आगतानि चतुर्दश सहस्राणि शतं चैकोनसप्तत्यधिकम् १४१६९ । एतावन्तो मिथ्यादृष्ट्यादि[5]षु सूक्ष्मसम्परायपर्यवसानेषु गुणस्थानकेषु उदयभङ्गा योगगुणिताः प्राप्यन्ते । तदुक्तम्—

[6]चउदस य सहस्साइं, सयं च गुणहत्तरं उदयमाणं १४१६९ ।

सम्प्रति पदवृन्दानि योगगुणितानि भाव्यन्ते। तत्रोदयपदप्ररूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा—

[7]अट्ठट्ठी बत्तीसं, बत्तीसं सट्ठिमेव बावन्ना ।
चोयालं चोयालं, वीसा वि य मिच्छमाईसु ॥ ७ ॥

---

१ सं० १ तं० म० छा० ०स्त्रीवेदेष्व० ॥ २ कदाचिद् भवेत स्त्रीवेदकेष्वपि ॥ ३ आहारकं चतुर्दशपूर्विणस्तु ॥ ४ तुच्छा गौरवबहुलाः चलेन्द्रिया दुर्बलाश्च धृत्या । इत्यतिशेषाध्ययनाः भूतवादश्च नो स्त्रीणाम् ॥ ५ मुद्रि० ०षु अपूर्वकरणप० ॥ ६ चतुर्दश च सहस्राणि शतं च एकोनसप्ततमुदयमानम् ॥ ७ गाथेयं वृत्तिकृद्भिरन्तर्भाष्यगाथात्वेनोल्लिखिताऽपि चूर्णिकृद्भिर्नान्तर्भाष्यगाथात्वेन निर्दिष्टा ॥

मिथ्यादृष्टयादिष्वपूर्वकरणपर्यवसानेषु यथासङ्ख्यमष्टषष्टयादिसङ्ख्यानि उदयपदानि भवन्ति, तथाहि-मिथ्यादृष्टौ चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा-सप्त अष्टौ नव दश । तत्र दशोदय एको दशभिर्गुण्यते-जाता दश: नवोदयास्त्रयो नवभिः-जाता सप्तविंशतिः, अष्टोदयास्त्रयोऽष्टभिः, जाता चतुर्विंशतिः, सप्तोदयश्चैकः सप्तभिः, जाताः सप्त, सर्वसङ्ख्यया अष्टषष्टिः ६८ । एवं द्वात्रिंशदादीनामपि उदयपदानां भावना कर्तव्या । सर्वसङ्ख्यया त्रीणि शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ३५२ । एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते, जातानि अष्टचत्वारिंशदधिकानि चतुरशीतिशतानि ८४४८ । द्विकोदया द्वादश द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जाता चतुर्विंशतिः, एकोदयपदानि पञ्च, सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशत् । सा च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते, ततो जातानि सप्तसप्तत्यधिकानि चतुरशीतिशतानि ८४७७ । एतानि वाग्योगचतुष्टय-मनोयोगचतुष्टय-औदारिककाययोगसहितानि प्राप्यन्ते इति नवभिर्गुण्यन्ते, जातानि षट्सप्ततिसहस्राणि द्वे शते त्रिनवत्यधिके ७६२९३ । ततो वैक्रियकाययोगे मिथ्यादृष्टेरष्टषष्टिसङ्ख्यानि उदयपदानि, एतानि च प्राग्वद् भावनीयानि । वैक्रियमिश्रे औदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकं षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशदुदयपदानि । वैक्रियमिश्रादौ हि उदयपदान्यनन्तानुबन्ध्युदयसहितान्येव[1] प्राप्यन्ते, न शेषाणि, कारणं प्रागेवोक्तम् , ततः षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशदेव भवन्ति । तथाहि-एकोऽष्टोदयो द्वौ नवोदयौ एको दशोदयोऽनन्तानुबन्धिसहितः प्राप्यते । ततोऽष्टोदय एकोऽष्टभिर्गुण्यते, तत्राष्टौ पदानि सन्तीति कृत्वा, ततो जाता अष्टौ, नवोदयौ द्वौ नवभिः, जाता अष्टादश, दशोदय एको दशभिः, जाता दश, सर्वसङ्ख्यया षट्त्रिंशत् । एवमन्यत्रापि भावना स्वधिया कर्तव्या । सासादनस्य वैक्रियकाययोगे औदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशत् । सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगे द्वात्रिंशत् । अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियकाययोगे षष्टिः ६० । देशविरतस्य वैक्रिये वैक्रियमिश्रकाययोगे च प्रत्येकं द्विपञ्चाशद् द्विपञ्चाशत् । प्रमत्तसंयतस्य वैक्रिये वैक्रियमिश्रे[2] च प्रत्येकं चतुश्चत्वारिंशत् चतुश्चत्वारिंशत् । अप्रमत्तसंयतस्य वैक्रियकाययोगे चतुश्चत्वारिंशत् । सर्वसङ्ख्यया षट् शतानि ६०० । एतानि च चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते, जातानि चतुर्दश सहस्राणि चत्वारि शतानि १४४०० । एतानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते । तथा सासादनस्य वैक्रियमिश्रे द्वात्रिंशदुदयपदानि, एतेषु नपुंसकवेदो न लभ्यते, युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता । अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकं षष्टिः षष्टिः, अत्र स्त्रीवेदो न लभ्यते, कारणं प्रागेवोक्तम् । प्रमत्तसंयतस्य आहारके आहारकमिश्रे च प्रत्येकं चतुश्चत्वारिंशत् चतुश्चत्वारिंशत् । अप्रमत्तसंयतस्याहारक-

---

१ सं० १ त० म० छा० °बन्ध्युदयस° ॥ २ सं० १ त० म० छा० °क्रिये वैक्रियमि° ॥

काययोगे चतुश्चत्वारिंशत्, अत्रापि स्त्रीवेदो न लभ्यते, [1]युक्तिः प्रागेवोक्ता। सर्वसङ्ख्यया द्वे शते चतुरशीत्यधिके २८४। एतानि चोक्तप्रकारेण [2]द्विवेदसहितान्येव प्राप्यन्ते इति द्विवेद-सम्भवैः षोडशभिर्गुण्यन्ते जातानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि पञ्चचत्वारिंशच्छतानि ४५४४, तानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते। अविरतसम्यग्दृष्टेरौदारिकमिश्रकाययोगे षष्टिरुदयपदानि। एतानि पुरुषवेदे एव प्राप्यन्ते, न स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोः, कारणमत्र प्रागेवोक्तम्, तत एतानि अष्ट-भिर्गुण्यन्ते-जातानि चत्वारि शतानि अशीत्यधिकानि ४८०। एतान्यपि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातः पूर्वराशिः पञ्चनवतिसहस्राणि सप्त शतानि सप्तदशाधिकानि ९५७१७। एतावन्ति योगगुणितानि पदवृन्दानि। उक्तं च—

[3]सत्तरसा सत्त सया, पणनउइसहस्स पयसंखा। ९५७१७

सम्प्रत्युपयोगगुणिता उदयभङ्गा भाव्यन्ते—तत्र मिथ्यादृष्टौ सासादने च प्रत्येकं मत्य-ज्ञान श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान-चक्षुः-अचक्षुर्दर्शनरूपाः पञ्च पञ्च उपयोगाः। सम्यग्मिथ्यादृष्टि-अविरत-सम्यग्दृष्टि-देशविरतानां मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान-चक्षुः-अचक्षुः-अवधिदर्शनरूपाः प्रत्येकं षट् षट् प्रमत्तादीनां सूक्ष्मसम्परायान्तानां त एव षड् मनःपर्यवज्ञानसहिताः सप्त[4] मिथ्यादृष्ट्यादिषु च चतुर्विंशतिगता उदयस्थानविकल्पाः "अट्ठग चउ चउ चरट्ठगा य" (अन्तर्भाष्यगा० ६) इत्यादिना ये प्राग् उक्तास्ते यथायोगमुपयोगैर्गुण्यन्ते, तद्यथा—मिथ्यादृष्टेरष्टौ सासादने चत्वारः मिलिता द्वादश, ते पञ्चभिरुपयोगैर्गुण्यन्ते जाता षष्टिः ६०। मिश्रस्य चत्वार उदयस्थानविकल्पाः, अविरतसम्यग्दृष्टेरष्टौ देशविरतस्याप्यष्टौ, सर्वसङ्ख्यया विंशतिः, सा च षड्भिरुपयोगैर्गुण्यते जातं विंशं शतम् १२०। तथा प्रमत्तस्याष्टौ उदयस्थानविकल्पाः, अप्रमत्तस्याप्यष्टौ, अपूर्वक-रणस्य चत्वारः, सर्वे मिलिता विंशतिः, सा सप्तभिरुपयोगैर्गुण्यते जातं चत्वारिंशं शतम् १४०। सर्वसङ्ख्यया त्रीणि शतानि विंशानि ३२०। ये त्वाचार्या मिश्रेऽपि मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान विभङ्ग-ज्ञान-चक्षुर्दर्शना-अचक्षुर्दर्शनरूपान् पञ्चैवोपयोगान् इच्छन्ति तेषां [5]मतेन त्रीणि शतानि षोडशो-त्तराणि ३१६। एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते, ततो जातानि अशीत्यधि-कानि षट्सप्ततिशतानि ७६८० मतान्तरेण पञ्चसप्ततिशतानि चतुरशीत्यधिकानि ७५८४। ततो द्विकोदय [6]भङ्गा द्वादश, एकोदयभङ्गाः पञ्च, सर्वे मिलिताः सप्तदश, ते सप्तभिर्गुण्यन्ते जातमेकोनविंशं शतम् ११९। तत् पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते, ततः पूर्वराशिर्जातो नवनवत्यधिकानि सप्तसप्ततिशतानि ७७९९, मतान्तरेण सप्तसप्ततिशतानि त्र्युत्तराणि ७७०३। उक्तं च—

---

१ छा० मुद्रि० युक्तिरत्र प्रा० ॥ २ सं० १ त० म० द्विविधवेद० ॥ ३ सप्तदश सप्त शतानि पञ्चनवतिसहस्राणि पदसंख्या ॥ ४ सं० सं० २ त० छा० °प्त सप्त। मि° ॥ ५ सं० १ त० म० मते त्री° ॥ ६ इत ऊर्ध्वम्-छा० ग्रन्थाग्रम् २४१८ ॥

'उदयाणुवओगेसु' सगसयरिसया तिउत्तरा होंति । ७७०३

एतावन्त उपयोगगुणिता उदयभङ्गाः ।

सम्प्रति पदवृन्दानि उपयोगगुणितानि भाव्यन्ते—तत्रोदयस्थानपदानि चतुर्विंशतिगतानि "अट्ठट्ठी बत्तीसं" (अन्तर्भाष्यगा० ७)इत्यादिना यानि प्राग् उक्तानि तानि यथायोगमुपयोगैर्गुण्यन्ते । तत्र मिथ्यादृष्टेरष्टषष्टिरुदयस्थानपदानि, सासादनस्य द्वात्रिंशत्, मिलितानि शतम् १००, तत् पञ्चभिरुपयोगैर्गुण्यते जातानि पञ्च शतानि ५०० । सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्द्वात्रिंशत् , अविरतसम्यग्दृष्टेः षष्टिः, देशविरतस्य द्विपञ्चाशत् , सर्वमीलने चतुश्चत्वारिंशं शतम् १४४, एतत् षड्भिरुपयोगैर्गुण्यते-जातान्यष्टौ शतानि चतुःषष्ट्यधिकानि ८६४ । प्रमत्तस्य चतुश्चत्वारिंशत् , अप्रमत्तस्य चतुश्चत्वारिंशत् , अपूर्वकरणस्य विंशतिः, सर्वसङ्ख्यया अष्टाधिकं शतम् १०८, एतत् सप्तभिरुपयोगैर्गुण्यते-जातानि सप्त शतानि षट्पञ्चाशदधिकानि ७५६ । सर्वसङ्ख्यया विंशान्येकविंशतिशतानि २१२० । ये तु मिथ्यादृष्टाविव मिश्रेऽपि पञ्चोपयोगान् इच्छन्ति तन्मतेन सर्वसङ्ख्यया विंशतिशतान्यष्टाशीत्यधिकानि २०८८ । एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते, जातानि पञ्चाशत् सहस्राणि अष्टौ शतानि अशीत्यधिकानि ५०८८०, मतान्तरेण पञ्चाशत् सहस्राणि द्वादशोत्तरशताधिकानि ५०११२ । ततो द्विकोदयपदानि चतुर्विंशतिः, एकोदयपदानि पञ्च, सर्वमिलने एकोनत्रिंशत् , सा सप्तभिरुपयोगैर्गुण्यते जाते त्र्युत्तरे द्वे शते २०३ । ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्येते, ततो जातः पूर्वराशिरेकपञ्चाशत् सहस्राणि त्र्यशीत्यधिकानि ५१०८३, मतान्तरेण पुनः पञ्चाशत् सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चदशोत्तराणि ५०३१५ । उक्तं च—

[3]पन्नासं च सहस्सा, तिन्नि सया चेव प[4]न्नारा । ५०३१५

एतावन्त्युपयोगगुणितानि पदवृन्दानि ।

सम्प्रति लेश्यागुणिता उदयभङ्गा भाव्यन्ते—तत्र मिथ्यादृष्ट्यादिष्वविरतसम्यग्दृष्टिपर्यन्तेषु प्रत्येकं षट् षड् लेश्याः, देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तेषु तेजः-पद्म-शुक्लरूपास्तिस्रस्तिस्रः, कृष्णादिलेश्यासु देशविरत्यादिप्रतिपत्तेरभावात् । अपूर्वकरणादौ एका शुक्ललेश्या । मिथ्यादृष्ट्यादिषु च ये चतुर्विंशतिगता उदयस्थानविकल्पा अष्ट-चतुरादिसङ्ख्यास्ते यथायोगं लेश्याभिर्गुण्यन्ते । तद्यथा—मिथ्यादृष्टेरष्टावुदयस्थानविकल्पाः, सासादनस्य चत्वारः, सम्यग्मिथ्यादृष्टेश्चत्वारः, अविरतसम्यग्दृष्टेरष्टौ, मीलिताश्चतुर्विंशतिः, सा च षड्भिर्लेश्याभिर्गुण्यते, जातं चतुश्चत्वारिंशं शतम् १४४ । तथा देशविरतस्याष्टौ, प्रमत्तस्याष्टौ अप्रमत्तस्यापि चाष्टौ, सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशतिः,

---

१ उदयानामुपयोगेषु सप्तसप्ततिशतानि त्र्युत्तराणि भवन्ति ॥ २ सं० १ त० म० °मते सर्व° ॥ ३ पञ्चाशच्च सहस्राणि त्रीणि शतानि चैव पञ्चदश ॥ ४ त० म० पन्नरसा ॥

सा त्रिभिर्लेश्याभिर्गुण्यते जाता द्विसप्ततिः ७२ । अपूर्वकरणे चतस्रः, [1]अत्रैकैव लेश्या, एकेन च गुणितं तदेव भवतीति चत्वार एव । सर्वमिलिता द्वे शते विंशत्यधिके २२० । एते चतुर्विंशतिगते इति चतुर्विंशत्या गुण्येते, जातानि अशीत्यधिकानि द्विपञ्चाशच्छतानि ५२८० । ततो द्विकोदया द्वादश, एकोदयाः पञ्च, मिलिताः सप्तदश । ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातानि सप्तनवत्यधिकानि द्विपञ्चाशच्छतानि ५२९७ । एतावन्तो लेश्यागुणिता उदयभङ्गाः ।

सम्प्रति लेश्यागुणितानि पदवृन्दानि भाव्यन्ते—तत्रोदयस्थानपदानि चतुर्विंशतिगतानि मिथ्यादृष्टौ अष्टषष्टिः, सासादने द्वात्रिंशत्, मिश्रेऽपि द्वात्रिंशत्, अविरतसम्यग्दृष्टौ षष्टिः, सर्वसङ्ख्यया द्विनवत्यधिकं शतम् १९२, एतच्च षड्भिर्लेश्याभिर्गुण्यते ततो जातानि द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२ । तथा देशविरते द्विपञ्चाशत्, प्रमत्ते चतुश्चत्वारिंशत्, अप्रमत्तेऽपि चतुश्चत्वारिंशत्, सर्वे मीलिताश्चत्वारिंशं शतम् १४०, तच्च तिसृभिर्लेश्याभिर्गुण्यते जातानि विंशानि चत्वारि शतानि ४२० । अपूर्वकरणे विंशतिः, सा एकया लेश्यया गुणिता सैव विंशतिर्भवति । ततः सर्वसङ्ख्यया जातानि द्विनवत्यधिकानि पञ्चदश शतानि १५९२ । एतानि च चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते जातान्यष्टात्रिंशत् सहस्राणि द्वे शते अष्टाधिके ३८२०८ । ततो द्विकोदयैकोदयपदान्येकोनत्रिंशत् प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातान्यष्टात्रिंशत् सहस्राणि द्वे शते सप्तत्रिंशदधिके ३८२३७ । एतावन्ति लेश्यागुणितानि पदवृन्दानि । उक्तं च—

[4]तिगहीणा तेवन्ना, सया य उदयाण होंति लेसाणं ५२९७ ।
अडतीस सहस्साइं, पयाण सय दो य सगतीसा ३८२३७ ॥ ॥ ४७ ॥

तदेवमुक्तानि सप्रपञ्चमुदयस्थानानि । साम्प्रतं सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते—

तिण्णेगे एगेगं, तिग मीसे पंच चउसु[5] नियट्टिए तिन्नि ।
एक्कार बायरम्मी, सुहुमे चउ तिन्नि उवसंते ॥ ४८ ॥

'एकस्मिन्' मिथ्यादृष्टौ त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिः । अत्र भावना प्रागेवोक्ता । तथा 'एकस्मिन्' सासादने एकं सत्तास्थानम्, तद्यथा-अष्टाविंशतिः । मिश्रे त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा---अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च । तथा 'चतसृषु' अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तरूपेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा-

---

१ सं० १ त० म० अत्र चैके० ॥ २ सं० १ सं० २ त० म० °रतौ द्वि° ॥ ३ सं० सं० २ °कले° ॥ ४ त्रिकहीनानि त्रिपञ्चाशत् शतानि च उदयानां भवन्ति लेश्यानाम् । अष्टात्रिंशत् सहस्राणि पदानां शते द्वे च सप्तत्रिंशे ॥ ५ म० °सु तिगऽपुव्वे । एष एव पाठः समीचीनो भाति, परं वृत्तिकृद्भिः "नियट्टिए तिन्नि" इति पाठमनुसृत्य विवृतत्वादस्माभिर्मूले एष एवादृतः ॥

अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । 'निवृत्तौ, अपूर्वकरणे त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा–अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्च । तत्राद्ये द्वे उपशमश्रेण्याम्, एकविंशतिः क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा । "एक्कार बायरम्मि" त्ति 'बादरे' अनिवृत्तिबादरे एकादश सत्तास्थानानि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च । तत्राद्ये द्वे औपशमिकसम्यग्दृष्टेः, एकविंशतिः क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां अथवा क्षपकश्रेण्यामपि यावत् कषायाष्टकं न क्षीयते, कषायाष्टके तु क्षीणे त्रयोदश, नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश, ततः स्त्रीवेदे क्षीणे एकादश, षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु पञ्च, ततः पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः, ततः संज्वलनक्रोधे क्षीणे तिस्रः, संज्वलनमाने क्षीणे द्वे, ततः संज्वलनमायायां क्षीणायां एकेति । "सुहुमे चउ" त्ति सूक्ष्मसम्पराये चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः एका च । तत्राद्यानि त्रीणि उपशमश्रेण्याम्, एका प्रकृतिः क्षपकश्रेण्याम् । 'उपशान्ते' उपशान्तमोहे त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च ॥

सम्प्रति संवेध उच्यते–तत्र मिथ्यादृष्टौ द्वाविंशतिबन्धस्थाने, चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश । तत्र सप्तोदये अष्टाविंशतिरूपमेकं सत्तास्थानम् । अष्टादिषु तूदयस्थानेषु त्रिषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च । सर्वसङ्ख्यया दश । सासादने एकविंशतिर्बन्धस्थानं त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा–सप्त अष्टौ नव । एतेषु प्रत्येकमेकैकं सत्तास्थानम्, तद्यथा–अष्टाविंशतिः । सर्वसङ्ख्यया त्रीणि सत्तास्थानानि । सम्यग्मिथ्यादृष्टौ बन्धस्थानं सप्तदश त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा–सप्त अष्टौ नव । एतेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः चतुर्विंशतिश्च । सर्वसङ्ख्यया नव । अविरतसम्यग्दृष्टौ बन्धस्थानं सप्तदश, चत्वार्युदयस्थानानि तद्यथा–षट् सप्त अष्टौ नव । तत्र षडुदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा–अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च, सप्तोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । एतान्येव पञ्च अष्टोदये । नवोदये चत्वारि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः । सर्वसङ्ख्यया सप्तदश । देशविरते त्रयोदश बन्धस्थानं चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—पञ्च षट् सप्त अष्टौ । तत्र पञ्चकोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः । षडुदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिः । एतान्येव पञ्च सप्तोदये अष्टोदये एकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि, सर्वसङ्ख्यया सप्तदश । प्रमत्तसंयते बन्धस्थानं नव, चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा–चत्वारि पञ्च षट् सप्त । तत्र चतुरुदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा–

अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च । पञ्चकोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । एतान्येव पञ्च षडुदये । सप्तोदये चत्वारि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः । सर्वसङ्ख्यया सप्तदश । एवमप्रमत्तेऽपि बन्ध उदय-सत्तास्थानसंवेधोऽन्यूनातिरिक्तो वक्तव्यः । अपूर्वकरणे बन्धस्थानं नव त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—चत्वारि पञ्च षट् । एतेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च । सर्वसङ्ख्यया नव । अनिवृत्तिबादरे पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—चत्वारि त्रीणि द्वे एकं च । पञ्चके बन्धस्थाने द्विकोदये षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश । चतुष्के बन्धस्थाने एकोदये षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः एकादश पञ्च चत्वारि । त्रिके बन्धस्थाने एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः चत्वारि त्रीणि च । द्विके बन्धस्थाने एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः त्रीणि द्वे च । एकविधे बन्धस्थाने एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः द्वे एकं च । सर्वसङ्ख्यया सप्तविंशतिः । बन्धाभावे सूक्ष्मसम्पराये एकोदये चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः एकं च । उपशान्तमोहे बन्ध उदयो न स्तः, सत्तास्थानानि, पुनस्त्रीणि तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः । सर्वत्रापि च सत्तास्थाने भावना [1]यथा अधस्तादोघसंवेधचिन्तायां कृता तथाऽत्रापि कर्तव्या ॥४८॥

तदेवं चिन्तितं गुणस्थानकेषु मोहनीयम् । सम्प्रति नाम चिचिन्तयिषुराह—

छण्णव छक्कं तिग सत्त दुग दुग तिग दुग तिगऽट्ठ चऊ ।
दुग छ चउ दुग पण चउ, चउ दुग चउ पणग एग चऊ ॥४९॥
एगेगमट्ठ एगेगमट्ठ छउमत्थकेवलिजिणाण ।
एग चऊ एग चऊ, अट्ठ चउ दु छक्कमुदयंसा ॥५०॥

मिथ्यादृष्टौ नाम्नः षड् बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रापर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतस्त्रयोविंशतिः, तस्यां च बध्यमानायां बादर-सूक्ष्म-प्रत्येक-साधारणभङ्गाश्चत्वारः । पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यमपर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्यं च बध्नतः पञ्चविंशतिः । तत्र पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यायां पञ्चविंशतौ बध्यमानायां भङ्गा विंशतिः, अपर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रा-

[1] सं० छा० मुद्रि० °था प्रागध° ॥

योग्यायां तु बध्यमानायां प्रत्येकमेकैको भङ्ग इति, सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशतिः । पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतः षड्विंशतिः, तस्यां च बध्यमानायां भङ्गाः षोडश । देवगतिप्रायोग्यं नरकगतिप्रायोग्यं वा बध्नतोऽष्टाविंशतिः । तत्र देवगतिप्रायोग्यायामष्टाविंशतौ अष्टौ भङ्गाः, नरकगतिप्रायोग्यायां त्वेक इति, सर्वसङ्ख्यया नव । पर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्यं बध्नतामेकोनत्रिंशत् । तत्र पर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियप्रायोग्यायामेकोनत्रिंशति बध्यमानायां प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गाः, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यायां षट्चत्वारिंशच्छतान्यष्टाधिकानि ४६०८, मनुष्यगतिप्रायोग्यायामप्येतावन्त एव भङ्गाः ४६०८, सर्वसङ्ख्यया चत्वारिंशदधिकानि द्विनवतिशतानि ९२४० । या तु देवगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता एकोनत्रिंशत् सा मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायाति, तीर्थकरनाम्नः सम्यक्त्वप्रत्ययत्वात् मिथ्यादृष्टेश्च तदभावात् । पर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतस्त्रिंशत् । तत्र पर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियप्रायोग्याणां त्रिंशति बध्यमानायां प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गाः, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यायां त्वष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६०८, सर्वसङ्ख्यया द्वात्रिंशदुत्तराणि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६३२ । या च मनुष्यगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता त्रिंशत्, या च देवगतिप्रायोग्या आहारकद्विकसहिता, ते उभे अपि मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायातः, तीर्थकरनाम्नः सम्यक्त्वप्रत्ययत्वात्, आहारकनाम्नस्तु संयमप्रत्ययत्वात् । उक्तं च—

[2]सम्मत्तगुणनिमित्तं, तित्थयरं संजमेण आहारं । इति ।

त्रयोविंशत्यादिषु च बन्धस्थानेषु यथासङ्ख्यं भङ्गसङ्ख्यानिरूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा-

[3]चउ पणवीसा सोलस, नव चत्ताला सया य बाणउया ।
बत्तीसुत्तरछायालसया मिच्छस्स बन्धविही ॥८॥ सुगमा ॥

तथा मिथ्यादृष्टेर्नव उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । एतानि सर्वाण्यपि नानाजीवापेक्षया यथा प्राक् सप्रपञ्चमुक्तानि तथाऽत्रापि वक्तव्यानि, केवलमाहारकसंयतानां वैक्रियसंयतानां केवलिनां च सम्बन्धीनि न वक्तव्यानि, तेषां मिथ्यादृष्टित्वाभावात् । सर्वसङ्ख्यया मिथ्यादृष्टावुदयस्थानभङ्गाः सप्त सहस्राणि सप्त शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि ७७७३ । तथाहि—एकविंशत्यु[4]दये एकचत्वारिंशत्—तत्रैकेन्द्रियाणां पञ्च, विकलेन्द्रियाणां नव, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां नव, मनुष्याणां नव, देवानामष्टौ, नारकाणामेकः । तथा चतुर्विंशत्युदये एकादश, ते चैकेन्द्रियाणा-

१ इत ऊर्ध्वम्-छा० ग्रन्थाग्रम्-२५२३ ॥ २ सम्यक्त्वगुणनिमित्तं तीर्थकरं संयमेन आहारम् ॥
३ २४९ पृष्ठगता ७ संख्याका टिप्पणी अवलोकनीया ॥ ४ सं०, त० म० °दये वर्तमानस्य० ए°॥

मेव, अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्याभावात् । पञ्चविंशत्युदये द्वात्रिंशत्—तत्रैकेन्द्रियाणां सप्त, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ, वैक्रियमनुष्याणामष्टौ, देवानामष्टौ, नारकाणामेकः । षड्विंशत्युदये षट् शतानि ६००—तत्रैकेन्द्रियाणां त्रयोदश, वि[1]कलेन्द्रियाणां नव, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९, मनुष्याणामपि द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९ । सप्तविंशत्युदये एकत्रिंशत्—तत्रैकेन्द्रियाणां षट्, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ, वैक्रियमनुष्याणामष्टौ, देवानामष्टौ नारकाणामेकः । अष्टाविंशत्युदये एकादश शतानि नवनवत्यधिकानि ११९९—तत्र विकलेन्द्रियाणां षट्, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां षोडश, मनुष्याणां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियमनुष्याणामष्टौ, देवानां षोडश, नारकाणामेकः । एकोनत्रिंशदुदये सप्तदश शतान्येकाशीत्यधिकानि १७८१-तत्र विकलेन्द्रियाणां द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां षोडश, मनुष्याणां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियमनुष्याणामष्टौ, देवानां षोडश, नारकाणामेकः । त्रिंशदुदये एकोनत्रिंशच्छतानि चतुर्दशाधिकानि २९१४-तत्र विकलेन्द्रियाणामष्टादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां सप्तदश शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि १७२८, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ, मनुष्याणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२, देवानामष्टौ । एकत्रिंशदुदये एकादश शतानि चतुःषष्ट्यधिकानि ११६४—तत्र विकलेन्द्रियाणां द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२ । सर्वसङ्ख्यया सप्त सहस्राणि सप्त शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि ७७७३ ।

मिथ्यादृष्टेः षट् सत्तास्थानानि; तद्यथा—द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिः । तत्र द्विनवतिः चतुर्गतिकानामपि मिथ्यादृष्टीनामवसेया । यदा पुनर्नरकेषु बद्धायुष्को वेदकसम्यग्दृष्टिः सन् तीर्थकरनाम बद्ध्वा परिणामपरावर्तनेन मिथ्यात्वं गतो नरकेषु समुत्पद्यमानस्तदा तस्यैकोननवतिरन्तमु[2]हूर्तं कालं यावत् लभ्यते, उत्पत्तेरूर्ध्वमन्तमुहूर्तानन्तरं तु सोऽपि सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते । अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामपि मिथ्यादृष्टीनाम् । षड[3]शीतिरशीतिश्चैकेन्द्रियेषु यथायोगं देवगतिप्रायोग्ये नरकगतिप्रायोग्ये चोद्वलिते सति लभ्य[4]ते, एकेन्द्रियभवाद् उद्वृत्य विकलेन्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु वा मध्ये समुत्पन्नानां सर्वपर्याप्तिभावादूर्ध्वमप्यन्तमु[5]हूर्तं कालं यावद् लभ्यते, परतोऽवश्यं वैक्रियशरीरादिबन्धसम्भवाद् न

१ सं० १ त० म० °कलानां न°॥ २ सं० १ त० म० °हूर्तका°॥ ३ सं० १ त० म० °शीतिरेकेन्द्रि° ॥ ४ सं० १ त० म० छा० °ते । अशीतिस्तु त्रिनवतेस्तीर्थकराहारकचतुष्टयादिषु त्रयोदशसु प्रकृतिषु उद्वलितासु लभ्यते एके° ॥ ५ सं० १ त० म० °हूर्तका° ॥

लभ्यते । अष्टसप्ततिस्तेजो-वायूनां मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्योरुद्वलितयोः प्राप्यते । तेजो-वायुभवाद् उद्वृत्य विकलेन्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु वा मध्ये समुत्पन्नानामन्तर्मुहूर्तं कालं यावद् परतोऽवश्यं मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्योर्बन्धसम्भवात् ।

तदेवं सामान्येन मिथ्यादृष्टेर्बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्युक्तानि । सम्प्रति संवेध उच्यते-तत्र मिथ्यादृष्टेस्त्रयोविंशतिं बध्नतः प्रागुक्तानि नवाप्युदयस्थानानि सप्रभेदानि सम्भवन्ति ; केवलमेकविंशति-पञ्चविंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति--एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्रूपेषु षट्सूदयस्थानेषु देव-नैरयिकानधिकृत्य ये भङ्गाः प्राप्यन्ते ते न सम्भवन्ति । त्रयोविंशतिर्हि अपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्या, न च देवा अपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नन्ति, तेषां तत्रोत्पादाभावात् ; नापि नैरयिकाः, तेषां सामान्यतोऽप्येकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धासम्भवात् , ततोऽत्र देव-नैरयिकसत्कोदयस्थानभङ्गा न प्राप्यन्ते । सत्तास्थानानि पञ्च, तद्यथा-द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । तत्रैकविंशति-चतुर्विंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशत्युदयेषु पञ्चापि सत्तास्थानानि । नवरं पञ्चविंशत्युदये तेजो-वायुकायिकानधिकृत्याष्टसप्ततिः प्राप्यते, षड्विंशत्युदये तेजो-वायुकायिकान् तेजो-वायुभवाद् उद्वृत्य विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नान वाऽधिकृत्य प्राप्यते सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्रूपेषु पञ्चसु अष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि । सर्वसङ्ख्यया सर्वाण्युदयस्थानान्यधिकृत्य त्रयोविंशतिबन्धकस्य चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । एवं पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धकानामपि वक्तव्यम् , केवलमिह देवोऽप्यार्मीयेषु सर्वेष्वप्युदयस्थानेषु वर्तमानः पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यां पञ्चविंशतिं षड्विंशतिं च बध्नातीत्यवसेयम् । नवरं पञ्चविंशतिबन्धे बादर-पर्याप्त -प्रत्येक-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-दुर्भगा-ऽनादेय-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गा अवसेयाः न शेषाः, सूक्ष्म-साधारणा-ऽपर्याप्तकेषु मध्ये देवस्योत्पादाभावात् । सत्तास्थानभावना पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रागिव कर्तव्या । सर्वसङ्ख्यया चत्वारिंशत् चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । अष्टाविंशतिबन्धकस्य मिथ्यादृष्टेर्द्वे उदयस्थाने, तद्यथा-त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्र त्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यानधिकृत्य, एकत्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानेव । अष्टाविंशतिबन्धकस्य चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः । तत्र त्रिंशदुदये चत्वार्यपि; तत्राप्येकोननवतिर्या नाम बद्धसम्यग्दृष्टिर्बद्धतीर्थकरनामा परिणामपरावर्तनेन मिथ्यात्वं गतो नरकाभिमुखो नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति तमधिकृत्य वेदितव्या, शेषाणि पुनस्त्रीणि सत्तास्थानान्यविशेषेण तिर्यग्-मनुष्याणाम् । एकत्रिंशदुदये एकोननवतिवर्जानि त्रीणि सत्तास्थानानि, एकोननवतिर्हि तीर्थकरनामसहिता, न च तीर्थकरनाम तिर्यक्षु

१ सं० १ त० म० ०हूर्तका० । २ सं० स २ छा० ०त्य । सप्त० ॥

सम्भवति । सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतिबन्धे सप्त सत्तास्थानानि । देवगतिप्रायोग्यवर्जां शेषामेकोनत्रिंशतं विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां मनुष्यगतिप्रायोग्यां च बध्नतो मिथ्यादृष्टेः सामान्येन नवापि प्राक्तनानि उदयस्थानानि षट् च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिः । तत्रैकविंशत्युदये सर्वाण्यपीमानि प्राप्यन्ते; तत्राप्येकोननवतिर्बद्धतीर्थकरनामानं मिथ्यात्वं गतं नैरयिकमधिकृत्यावसेया, द्विनवतिरष्टाशीतिश्च देव-नैरयिक-मनुज-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-एकेन्द्रियानधिकृत्य, षडशीतिरशीतिश्च विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुज-एकेन्द्रियानधिकृत्य [1],अष्टसप्ततिरेकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य । चतुर्विंशत्युदये एकोननवतिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि, तानि चैकेन्द्रियानेवाधिकृत्य वेदितव्यानि, अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्याभावात् । पञ्चविंशत्युदये षडपि सत्तास्थानानि, तानि यथैकविंशत्युदये भावितानि तथैव भावनीयानि । षड्विंशत्युदये एकोननवतिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि, तानि प्रागिव भावनीयानि; एकोननवतिस्तु न लभ्यते, यतो मिथ्यादृष्टेः सत एकोननवतिर्नरकेषूत्पद्यमानस्य नैरयिकस्य प्राप्यते न शेषस्य, न च नैरयिकस्य षड्विंशत्युदयः सम्भवति । सप्तविंशत्युदयेऽष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि-तत्रैकोननवतिः प्रागुक्तस्वरूपं नैरयिकमधिकृत्य, द्विनवतिरष्टाशीतिश्च देव-नैरयिक-मनुज-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-एकेन्द्रियानधिकृत्य, षडशीतिरशीतिश्च एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यानधिकृत्य। अष्टसप्ततिस्तु न सम्भवति, यतः सप्तविंशत्युदयस्तेजो-वायुवर्जानामेकेन्द्रियाणामातप-उद्योतान्यतरसहितानां भवति, नारकादीनां वा, न च तेषामष्टसप्ततिः, तेषामवश्यं मनुष्यद्विकबन्धसम्भवात् । एतान्येव पञ्च सत्तास्थानान्यष्टाविंशत्युदयेऽपि—तत्रैकोननवतिर्द्विनवतिरष्टाशीतिश्च प्रागिव भावनीया, षडशीतिरशीतिश्च विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय [2]-मनुष्यानधिकृत्य वेदितव्या । एवमेकोनत्रिंशदुदयेऽप्येतान्येव पञ्च सत्तास्थानानि भावनीयानि । त्रिंशदुदये चत्वारि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः । एतानि विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यानधिकृत्य वेदितव्यानि । एकोननवतिस्तु न प्राप्यते, यतः सा [3] वेदकसम्यग्दृष्टेः सतो बद्धतीर्थकरनाम्नो मिथ्यात्वं गतस्य नैरयिकस्य प्राप्यते, न च नैरयिकस्य त्रिंशदुदयोऽस्ति । एकत्रिंशदुदयेऽप्येतान्येव चत्वारि, तानि च विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्रष्टव्यानि । सर्वसङ्ख्यया मिथ्यादृष्टेरेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्चचत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । या तु देवगतिप्रायोग्या एकोनत्रिंशत् सा मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायाति, कारणं प्रागेवोक्तम् । मनुष्य-देवगतिप्रायोग्यवर्जां शेषां त्रिंशतं विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां बध्नतः

१ छा० मुद्रि० ०त्य वेदितव्या, अष्ट० ॥ २ इत ऊर्ध्वम्-छा० म० ग्रन्थाग्रम् २६३० ॥ ३ सं० सं० १ सं० २ त० म० छा० सा मिथ्यादृष्टेः स० ॥

सामान्येन प्रागुक्तानि नवोदयस्थानानि एकोननवतिवर्जानि च पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि । एकोननवतिस्तु न सम्भवति, एकोननवतिसत्कर्मणस्तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धारम्भासम्भवात् । तानि च पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि एकविंशति-चतुर्विंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशत्युदयेषु प्रागिव भावनीयानि । सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्-एकत्रिंशद्रूपेषु च पञ्चसु उदयस्थानेषु अष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि भावनीयानि, अष्टसप्ततिप्रतिषेधे कारणं प्रागुक्तमनुसरणीयम् । सर्वसङ्ख्यया मिथ्यादृष्टेस्त्रिंशतं बध्नतश्चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । मनुजगति-देवगतिप्रायोग्या तु त्रिंशद् मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायाति, मनुजगतिप्रायोग्या हि त्रिंशत् तीर्थकरनामसहिता, देवगतिप्रायोग्या त्वाहारक[२]-तीर्थकरनामसहिता, ततः सा कथं मिथ्यादृष्टेर्बन्धमायाति[३] ? ।

तदेवमुक्तो मिथ्यादृष्टेर्बन्ध-उदय-सत्तास्थानसंवेधः । सम्प्रति सासादनस्य बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्युच्यन्ते—"तिग सत्त दुगं" ति त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्राष्टाविंशतिर्द्विधा—देवगतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या च । तत्र नरकगतिप्रायोग्या सासादनस्य न बन्धमायाति, देवगतिप्रायोग्यायाश्च बन्धकास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च । तस्यां चाष्टाविंशतौ बध्यमानायामष्टौ भङ्गाः । तथा सासादना एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या देवा नैरयिकाश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां मनुष्यगतिप्रायोग्यां वा एकोनत्रिंशतं बध्नन्ति न शेषाम् । अत्र च भङ्गाश्चतुःषष्टिशतानि ६४००, तथाहि—सासादना यदि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्याम् अथवा मनुष्यगतिप्रायोग्याम् एकोनत्रिंशतं बध्नन्ति तथापि न ते हुण्डसंस्थानं सेवार्तं च संहननं बध्नन्ति,[४]मिथ्यात्वोदयाभावात् ; ततश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्चभिः संस्थानैः पञ्चभिः संहननैः प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगतिभ्यां स्थिरा-ऽस्थिराभ्यां शुभा-ऽशुभाभ्यां सुभग-दुर्भगाभ्यां सुस्वर-दुःस्वराभ्याम् आदेया-ऽनादेयाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां च भङ्गा द्वात्रिंशच्छतानि ३२००, एवं मनुष्यगतिप्रायोग्यामपि बध्नतो द्वात्रिंशच्छतानि ३२००, ततः सर्वसङ्ख्यया चतुःषष्टिशतानि ६४०० भवन्ति । तथा सासादना एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या देवा नैरयिका वा यदि त्रिंशतं बध्नन्ति तर्हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेवोद्योतसहितां न शेषाम् । तां च बध्नतां प्रागिव भङ्गकानां द्वात्रिंशच्छतानि ३२०० । सर्वबन्धस्थानभङ्गसङ्ख्या अष्टाधिकानि षण्णवतिशतानि ९६०८ ।

उक्तरूपभङ्गसङ्ख्यानिरूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा—

---

१ म० छा० मुद्रि० ०षाणि प्रत्येकं चत्वा० ॥२ सं १ सं० २ त० म० ०कद्विकनामस० ॥ ३ मुद्रि० ०याति ? इति ॥ ४ मुद्रि० ०न्ति, तथास्वाभाव्यात् ; त० ॥

[1]अट्ठ य सय [2]चोवट्ठिं, बत्तीस सया य सा[3]सणे भेया ।
अट्ठावीसाईसुं, सव्वाणऽट्ठहिग छण्णउई ॥ ९ ॥   सुगमा ॥

सासादनस्योदयस्थानानि सप्त, तद्यथा—एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्रैकविंशत्युदय एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य-देवानधिकृत्य वेदितव्यः । नरकेषु सासादनो नोत्पद्यत इति कृत्वा तद्विषय एकविंशत्युदयो न गृह्यते । तत्रैकेन्द्रियाणामेकविंशत्युदये बादरपर्याप्तकेन सह यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां यौ द्वौ भङ्गौ तावेव सम्भवतः, न शेषाः, सूक्ष्मेषु अपर्याप्तकेषु च मध्ये सासादनस्योत्पादाभावात् । अत एव विकलेन्द्रियाणां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां मनुष्याणां च प्रत्येकमपर्याप्तकेन सह य एकैको भङ्गः स इह न सम्भवति, किन्तु शेषा एव । ते च विकलेन्द्रियाणां द्वौ द्वौ इति षट्, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ, मनुष्याणामप्यष्टौ, देवानामप्यष्टौ, सर्वसङ्ख्यया एकविंशत्युदये द्वात्रिंशत् । चतुर्विंशत्युदय एकेन्द्रियेषु मध्ये उत्पन्नमात्रस्य, अत्रापि बादरपर्याप्तकेन सह यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां यौ द्वौ भङ्गौ तावेव सम्भवतः, न शेषाः, सूक्ष्मेषु साधारणेषु तेजो-वायुषु च मध्ये सासादनस्योत्पादासम्भवात् । पञ्चविंशत्युदयो देवेषु मध्ये उत्पन्नमात्रस्य प्राप्यते न शेषस्य, तत्र चाष्टौ भङ्गाः, ते [4]च स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति अयशःकीर्तिपदैरवसेयाः । षड्विंशत्युदयो विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्येषु मध्ये उत्पन्नमा[5]त्रस्यावसेयः, अत्राप्यपर्याप्तकेन सह य एकैको भङ्गः स न सम्भवति, अपर्याप्तकमध्ये सासादनस्योत्पादाभावात्, शेषास्तु सम्भवन्ति । ते च विकलेन्द्रियाणां प्रत्येकं द्वौ द्वाविति षट्, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां द्वे शते अष्टाशीत्यधिके २८८, मनुष्याणामपि द्वे शते अष्टाशीत्यधिके २८८, सर्वसङ्ख्यया षड्विंशत्युदये पञ्च शतानि द्व्यशीत्यधिकानि ५८२ । सप्तविंशति-अष्टाविंशत्युदयौ न सम्भवतः, तौ हि उत्पन्नस्यनन्तरमन्तर्मुहूर्ते गते सति भवतः, सासादन[6]भावश्चोत्पत्त्यनन्तरमुत्कर्षतः किञ्चिद्नषडावलिकामात्रं का[7]लं भवति, तत एतौ सासादनस्य [8]न प्राप्येते । एकोनत्रिंशदुदयो देव-नैरयिकाणां स्वस्थानगतानां पर्याप्तानां प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानानां प्राप्यते । तत्र देवस्यैकोनत्रिंशदुदये भङ्गा अष्टौ, नैरयिकस्यैक इति, सर्वसङ्ख्यया नव । त्रिंशदुदयस्तिर्यग्-मनुष्याणां पर्याप्तानां प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानानां देवानां वा उत्तरवैक्रिये वर्तमानानां सासादनानाम् । तत्र तिरश्चां मनुष्याणां च त्रिंशदुदये प्रत्येकं द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, देवस्याष्टौ, सर्व-

---

१ अत्र २४६ पृष्ठगता ७ संख्याका टिप्पणी अवलोकनीया ॥ २ मुद्रि० चोसट्ठिं । छा० चउसट्ठिं । म० चउसट्ठी ॥ ३ छा० मुद्रि० ०सणे भणि० ॥ ४ सं० १ त० म० च सुभग-दुर्भगा-ऽऽदेयाना-ऽनादेय-यशः० ॥ ५ सं० २ ०त्रस्य, अत्राप्य० ॥ ६ सं० ०सं० २ ०नश्चोत्प० ॥ ७ सं० सं०२ ०लम्, ततः ॥ ८ म० मुद्रि० न सम्भवतः । एको० ॥

सङ्ख्यया त्रयोविंशतिशतानि द्वादशाधिकानि २३१२। एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तानां प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानानाम्। अत्र भङ्गा एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२।

उक्तरूपाया एव भङ्गसङ्ख्याया निरूपणार्थमियमन्तरभाष्यगाथा—

[1]बत्तीस दोन्नि अट्ठ य, बासीयसया य पंच नव उदया।
बारहिगा तेवीसा, बावन्नेक्कारस सया य ॥ १० ॥

सुगमा ॥

सर्वभङ्गसङ्ख्या सप्तनवत्यधिकानि चत्वारिंशच्छतानि ४०९७।

सासादनस्य द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। तत्र द्विनवतिर्य आहारकचतुष्टयं बद्ध्वा उपशमश्रेणीतः प्रतिपतन् सासादनभावमुपगच्छति तस्य लभ्यते, न शेषस्य। अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामपि सासादनानाम्।

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्राष्टाविंशतिं बध्नतः सासादनस्य द्वे उदयस्थाने, तद्यथा— त्रिंशद् एकत्रिंशत्। अष्टाविंशतिर्हि सासादनस्य बन्धयोग्या भवति देवगतिविषया, न च करणापर्याप्तः सासादनो देवगतिप्रायोग्यं बध्नाति, ततः शेषा उदया न सम्भवन्ति। [2]तत्र मनुष्यमधिकृत्य त्रिंशदुदये द्वे अपि सत्तास्थाने। तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसासादनानधिकृत्याष्टाशीतिरेव, यतो द्विनवतिरुपशमश्रेणीतः प्रतिपततो लभ्यते, न च तिरश्चामुपशमश्रेणिसम्भवः। एकत्रिंशदुदयेऽप्यष्टाशीतिरेव, यत एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणाम्। न च तिरश्चां द्विनवतिः सम्भवति, प्रागुक्तयुक्तेः। एकोनत्रिंशतं तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्यां बध्नतः सासादनस्य सप्ताप्युदयस्थानानि। तत्र एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य-देव-नैरयिकाणां सासादनानां स्वीयस्वीयोदयस्थानेषु वर्तमानानामेकमेव सत्तास्थानम्—अष्टाशीतिः। नवरं मनुष्यस्य त्रिंशदुदये वर्तमानस्योपशमश्रेणीतः प्रतिपततः सासादनस्य द्विनवतिः। एवं त्रिंशद्बन्धकस्यापि वक्तव्यम्। सर्वाण्यप्युदयस्थानान्यधिकृत्य सामान्येन सर्वसङ्ख्यया सासादनस्याष्टौ सत्तास्थानानि।

सम्प्रति सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते—"दुग तिग दुगं"ति द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत्। तत्र तिर्यग्मनुष्याणां सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां देवगतिप्रायोग्यमेव बन्धमायाति, ततस्तेषामष्टाविंशतिः, तत्र भङ्गा अष्टौ। एकोनत्रिंशद् मनुष्यगतिप्रायोग्यं बध्नतां देव-नैरयिकाणाम्, अत्राप्यष्टौ भङ्गाः। ते चोभयत्रापि स्थिरा-ऽस्थिरशुभाऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैर्वसेयाः। शेषास्तु परावर्तमानप्रकृतयः शुभा एव सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां बन्धमायान्ति, ततः शेषभङ्गा न प्राप्यन्ते।

---

१ अत्र २४६ पृष्ठगता ● सङ्ख्याका टिप्पणी द्रष्टव्या ॥ २ सं० १ त० ०वतीति दे० ॥ ३ छा० मुद्रि० अत्र मनुष्यानधि० ॥

त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्रैकोनत्रिंशति देवानधिकृत्याष्टौ भङ्गाः, नैरयिकानधिकृत्यैकः, सर्वसङ्ख्यया नव। त्रिंशति तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य[1] सर्वपर्याप्तिपर्याप्तयोग्यानि द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, मनुष्यानधिकृत्य[2] एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२, सर्वसङ्ख्यया त्रयोविंशतिशतानि चतुरधिकानि २३०४। एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य, तत्र भङ्गा द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२। सर्वोदयस्थानभङ्गसङ्ख्या चतुस्त्रिंशच्छतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ३४६५।

द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च।

सम्प्रति संवेध उच्यते—सम्यग्मिथ्यादृष्टेरष्टाविंशतिबन्धकस्य द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—त्रिंशद् एकत्रिंशत्। एकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य एकमुदयस्थानम्—एकोनत्रिंशत्। अत्रापि ते एव द्वे सत्तास्थाने। तदेवमेकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने इति सर्वसङ्ख्यया षट्।

सम्प्रत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते—"तिगऽट्ठ चउ" त्ति त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र तिर्यङ्-मनुष्याणामविरतसम्यग्दृष्टीनां देवगतिप्रायोग्यं बध्नतामष्टाविंशतिः, अत्राष्टौ भङ्गाः। अविरतसम्यग्दृष्टयो हि तिर्यङ्-मनुष्या न शेषगतिप्रायोग्यं बध्नन्ति, तेन नरकगतिप्रायोग्या अष्टाविंशतिर्न लभ्यते। मनुष्याणां देवगतिप्रायोग्यं तीर्थकरसहितं बध्नतामेकोनत्रिंशत्, अत्राप्यष्टौ भङ्गाः। देव-नैरयिकाणां मनुष्यगतिप्रायोग्यं बध्नतामेकोनत्रिंशत्, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः। तेषामेव मनुष्यगतिप्रायोग्यं तीर्थकरसहितं बध्नतां त्रिंशत्, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः।

अष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्रैकविंशत्युदयो नैरयिक-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य-देवानधिकृत्य वेदितव्यः क्षायिकसम्यग्दृष्टेः, पूर्वबद्धायुष्कस्य एतेषु सर्वेष्वपि तस्य सम्भवात्। अविरतसम्यग्दृष्टिश्चापर्याप्तकेषु मध्ये नोत्पद्यते, ततोऽपर्याप्तकोदयवर्जाः शेषभङ्गाः सर्वेऽपि वेदितव्याः। ते च पञ्चविंशतिः—तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, मनुष्यानधिकृत्याष्टौ, देवान-

---

१ सं० १ त० °त्य भङ्गा द्विपञ्चा०। म० मुद्रि० °त्य अष्टाविंशत्यधिकानि सप्तदश शतानि १७२८, मनुष्यानधिकृत्य एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२, सर्वसंख्यया अष्टाविंशतिशतानि अशीत्यधिकानि २८८०। एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य, तत्र भङ्गा द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२। सर्वोदयस्थानभङ्गसंख्या चत्वारिंशच्छतानि एकचत्वारिंशदधिकानि ४०४१। द्वे सत्तास्थाने॥ २ सं० १ त० °त्य भङ्गा एका०॥ ३ म० छा० °षा भ०॥

प्यधिकृत्याष्टौ, नैरयिकानधिकृत्यैकः। पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ देव-नैरयिकान् वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्यांश्चाधिकृत्याऽसेयौ। तत्र नैरयिकः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्वेदकसम्यग्दृष्टिर्वा, देवस्त्रिविधसम्यग्दृष्टिरपि। उक्तं च चूर्णौ—

[1]पणवीस-सत्तवीसोदया देव-नेरइए विउव्वियतिरिय-मणुए य पडुच्च,
नेरइगो खइग-वेयगसम्मदिट्ठी, देवो तिविहसम्मद्दिट्ठी वि। इति।

भङ्गा अत्र सर्वेऽप्यात्मीया आत्मीया द्रष्टव्याः। षड्विंशत्युदयः तिर्यङ्-मनुष्याणां क्षायिक-वेदक-सम्यग्दृष्टीनाम्। औपशमिकसम्यग्दृष्टिश्च तिर्यङ्-मनुष्येषु मध्ये नोत्पद्यत इति त्रिविधसम्यग्दृष्टीनामिति नोक्तम्। वेदकसम्यग्दृष्टिता च तिरश्चो द्वाविंशतिसत्कर्मणो वेदितव्या। अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशदुदयौ नैरयिक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवानाम्। त्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य-देवानाम्। एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणाम्। भङ्गा आत्मीया आत्मीयाः सर्वेऽपि द्रष्टव्याः।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च। तत्र योऽप्रमत्तसंयतोऽपूर्वकरणो वा तीर्थकरा-ऽऽहारकसहितामेकत्रिंशतं बद्ध्वा पश्चादविरतसम्यग्दृष्टि-देवो जातस्तमधिकृत्य त्रिनवतिः। यस्त्वाहारकं बद्ध्वा परिणामपरावर्तनेन मिथ्या[2]त्वमुपगम्य चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पन्नस्तस्य तत्र तत्र गतौ भूयोऽपि सम्यक्त्वं प्रतिपन्नस्य द्विनवतिः। देव-मनुष्येषु मध्ये मिथ्यात्वमप्रतिपन्नस्यापि द्विनवतिः प्राप्यते। एकोननवतिर्देव-नैरयिकमनुष्याणामविरतसम्यग्दृष्टीनाम्, ते हि त्रयोऽपि तीर्थकरनाम समर्जयन्ति। तिर्यक्षु तीर्थ-करनामसत्कर्मा नोत्पद्यत इति तिर्यङ् न गृहीतः। अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामविरतसम्यग्दृष्टीनाम्।

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्राविरतसम्यग्दृष्टेरष्टाविंशतिबन्धकस्य अष्टावप्युदयस्थानानि, तानि तिर्यङ्-मनुष्यानधिकृत्य। तत्रापि पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्यानधिकृत्य। एकैकस्मिन्नुदयस्थाने, द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। एकोनत्रिंशद्, द्विधा—देवगतिप्रायोग्या मनुष्यगतिप्रायोग्या, च। तत्र देवगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता, तां च मनुष्या एव बध्नन्ति। तेषां चोदयस्थानानि सप्त, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। मनुष्याणामेकत्रिंशन्न सम्भवति। एकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवतिः एकोननवतिश्च। मनुष्यगति-प्रायोग्यां चैकोनत्रिंशतं बध्नन्ति देव-नैरयिकाः। तत्र नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत्। देवानां पञ्च तावदेतान्येव,

१ पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ देवनैरयिकान् वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्यांश्च प्रतीत्य नैरयिकः क्षायिक-वेदकसम्यग्दृष्टिः, देवस्त्रिविधसम्यग्दृष्टिरपि॥ २ म० मुद्रि० ०त्वमनुग०॥

षष्ठं तु त्रिंशत्, सा चोद्योतवेद[1]कानां देवानामवगन्तव्या । एकैक[2]स्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । मनुष्यगतिप्रायोग्यां त्रिंशतमविरतसम्यग्दृष्टयो देवा नैरयिकाश्च बध्नन्ति । तत्र देवानामुदयस्थानानि षट् तान्येव । तेषु[3] उदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने—त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च, तेषु प्रत्येकं सत्तास्थानमेकोननवतिरेव, तीर्थकरा-ऽऽहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात् । तदेवं सामान्येनैकविंशत्यादिषु त्रिंशत्पर्यन्तेषूदयस्थानेषु सत्तास्थानानि प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च । एकत्रिंशदुदये द्वे—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । सर्वसङ्ख्यया त्रिंशत् ।

सम्प्रति देशविरतस्य बन्धादिस्थानान्युच्यन्ते—"दुग छ चउ" ति देशविरतस्य द्वे बन्धस्थाने तद्यथा—अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् । तत्राष्टाविंशतिर्मनुष्यस्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वा देशविरतस्य देवगतिप्रायोग्या, तत्राष्टौ भङ्गाः । सैव तीर्थकरसहिता एकोनत्रिंशत्, सा च मनुष्यस्यैव, तिर[4]श्चस्तीर्थकरसत्कर्म-बन्धाभावात्, अत्राप्यष्टौ भङ्गाः ।

षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्राद्यानि चत्वारि वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणाम् । अत्र मनुष्याणामेकैक एव भङ्गः, तिरश्चामाद्ययोरेकैकोऽन्तिमयोस्तु द्वौ द्वौ, सर्वपदानां प्रशस्तत्वात् । त्रिंशत् स्वभाव[5]स्थानां तिर्यङ्-मनुष्याणाम्, प्रत्येकमत्र भङ्गकानां चतुश्चत्वारिंशं शतम् १४४, तच्च षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः सुस्वर-दुःस्वराभ्यां प्रशस्ताऽप्रशस्तविहायोगतिभ्यां च जायते । दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिनामुदयो गुणप्रत्ययादेव न भवतीति तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते[6] । वैक्रियतिरश्चां एको भङ्गः—एकत्रिंशत् । तिरश्चामत्रापि त एव भङ्गाः[7] १४४ । सर्वसङ्ख्यया चत्वारि शतानि त्रिचत्वारिंशदधिकानि ४४३ ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च । तत्र योऽप्रमत्तोऽपूर्वकरणो वा तीर्थकरा-ऽऽहारकं बद्ध्वा परिणामह्रासेन देशविरतो जातः तस्य त्रिनवतिः । शेषाणां भावनाऽविरतसम्यग्दृष्टेरिव कर्तव्या ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्र मनुष्यस्य देशविरतस्याष्टाविंशतिबन्धकस्य पञ्च उदयस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतेषु च प्रत्येकं

१ सं० स० १ स २ त० °कानामव० ॥ २ सं० १ सां० २ त० म० छा० °स्मिन् द्वे द्वे ॥ ३ सं० सं० १ सां० २ त० म० °षु प्रत्ये० ॥ ४ सत्कर्म च बन्धश्च सत्कर्म-बन्धौ, तीर्थकरस्य सत्कर्मबन्धौ तीर्थकर-सत्कर्म-बन्धौ, तयोरभावस्तीर्थकरसत्कर्म-बन्धाभावस्तस्मादिति विग्रहः ॥ ५ छा० मुद्रि० °स्थानामपि तिर्य० ॥ ६ सं० सां० २ °न्ते । वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां प्रत्येकमेकैको भ० । छा० °न्ते । तिर्यग्मनुष्याणां प्रत्येकमेकैको भ० ॥ ७ सां० छा० मुद्रि० °ङ्गाः १४४ । चत्वारि सत्ता० ॥

द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा--द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एवं तिरश्चोऽपि, नवरं तस्यैकत्रिंशदुदयोऽपि वक्तव्यः, तत्रापि चैते एव द्वे सत्तास्थाने। एकोनत्रिंशद्बन्धो मनुष्यस्यैव देशविरतस्य, तस्योदयस्थानान्यनन्तरोक्तान्येव पञ्च, तेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा---त्रिनवतिरेकोननवतिश्च। तदेवं देशविरतस्य पञ्चविंशत्यादिषु त्रिंशत्पर्यन्तेषु चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि। एकत्रिंशदुदये द्वे सत्तास्थाने । सर्वसङ्ख्यया द्वाविंशतिः २२ ।

सम्प्रति प्रमत्तसंयतस्य बन्धादिस्थानान्युच्यन्ते---"दुग पण चउ" त्ति प्रमत्तसंयतस्य द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा--अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत्। एते च देशविरतस्येव भावनीये।

पञ्चोदयस्थानानि, तद्यथा--पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् , एतानि सर्वाण्यप्याहारकसंयतस्य वैक्रियसंयतस्य वा वेदितव्यानि। त्रिंशत् स्वभावस्थसंयतस्यापि। तत्र वैक्रियसंयतानामाहारकसंयतानां च पृथक् पृथक् पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदययोः प्रत्येकमेकैको भङ्गः ४, अष्टाविंशतावेकोनत्रिंशति च द्वौ द्वौ ८, त्रिंशति चैकैकः २ । सर्वसङ्ख्यया चतुर्दश १४। त्रिंशदुदयः स्वभावस्थस्यापि प्राप्यते। तत्र चतुश्चत्वारिंशं शतं भङ्गानाम् १४४, तच्च देशविरतस्येव भावनीयम्। सर्वसङ्ख्ययाऽष्टपञ्चाशदधिकं शतम् १५८।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च।

सम्प्रति संवेध उच्यते—अष्टाविंशतिबन्धकस्य पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा— द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । तत्राहारकसंयतस्य द्विनवतिरेव, आहारकसत्कर्मा ह्याहारकशरीरमुत्पादयतीति तस्य द्विनवतिरेव। वैक्रियसंयतस्य पुनर्द्वे [1] अपि। तीर्थकरनामसत्कर्मा चाष्टाविंशतिं न बध्नातीति त्रिनवतिरेकोननवतिश्च न प्राप्यते। एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा--त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । तत्राहारकसंयतस्य त्रिनवतिरेव, तस्यैकोनत्रिंशद्बन्धकस्य नियमतस्तीर्थकरा-ऽऽहारकसद्भावात् । वैक्रियसंयतस्य पुनर्द्वे अपि। तदेवं प्रमत्तसंयतस्य सर्वेष्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि प्राप्यन्त इति। सर्वसङ्ख्यया विंशतिः २०।

इदानीमप्रमत्तसंयतस्य बन्धादीन्युच्यन्ते-"चउ दुग चउ" त्ति अप्रमत्तसंयतस्य चत्वारि बन्धस्थानानि, तद्यथा-अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्राद्ये द्वे प्रमत्तसंयतस्येव भावनीये । सैवाष्टाविंशतिराहारकद्विकसहिता त्रिंशत्। आहारकद्विक-तीर्थकरसहिता त्वेकत्रिंशत्। एतेषु चतुर्ष्वपि बन्धस्थानेषु भङ्ग एकैक एव वेदितव्यः, अस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तीनामप्रमत्तसंयते बन्धाभावात्।

१ सं० मुद्रि० ०र्याप्त ततस्तस्य ॥ २ सं० अपि सत्तास्थाने। ती० ॥

द्वे उदयस्थाने, तद्यथा–एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रैकोनत्रिंशद् यो नाम पूर्वं प्रमत्तसंयतः सन् आहारकं वैक्रियं वा निर्वर्त्य पश्चादप्रमत्तभावं गच्छति तस्य प्राप्यते, अत्र द्वौ भङ्गौ–– एको वैक्रियस्य, अपर आहारकस्य। एवं त्रिंशदुदयेऽपि द्वौ भङ्गौ । स्वभावस्थस्याप्यप्रमत्त-संयतस्य त्रिंशदुदयो भवति, तत्र भङ्गाश्चतुश्चत्वारिंशं शतम् १४४। सर्वसङ्ख्ययाऽष्टचत्वारिंशं शतम् १४८ ।

सत्तास्थानानि चत्वारि, तद्यथा––त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च ।

सम्प्रति संवेध उच्यते–अष्टाविंशतिबन्धकस्य द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्–अष्टाशीतिः । एकोनत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्–एकोननवतिः । त्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्–द्विनवतिः । एकत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्–त्रिनवतिः । यस्य हि तीर्थकरमाहारकं वा सत् स नियमात् तद् बध्नाति, तेनैकैकस्मिन् बन्धे एकैकमेव सत्तास्थानम् । सर्वसङ्ख्ययाऽष्टौ ।

सम्प्रत्यपूर्वकरणस्य बन्धादीन्युच्यन्ते–"पणगेग चउ" त्ति अपूर्वकरणस्य पञ्च बन्ध-स्थानानि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् एका च । तत्राद्यानि चत्वारि अप्रमत्तसंयतस्येव द्रष्टव्यानि । एका तु यशःकीर्तिः, सा च देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सति वेदितव्या ।

एकमुदयस्थानम्–त्रिंशत् । अत्र वज्रर्षभनाराचसंहनन-षट्संस्थान-सुस्वर-दुःस्वर-प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगतिभिर्भङ्गाश्चतुर्विंशतिः २४ ।

अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते–आद्यसंहननत्रयान्यतमसंहननयुक्ता अप्युपशमश्रेणीं प्रतिपद्यन्ते तन्मतेन भङ्गा द्विसप्ततिः । एवमनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहेष्वपि द्रष्टव्यम् ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा–त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च ।

सम्प्रति संवेध उच्यते–अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्बन्धकानां त्रिंशदुदये सत्तास्थानानि यथाक्रममष्टाशीतिः एकोननवतिः द्विनवतिः त्रिनवतिश्च । एकविधबन्धकस्य त्रिंश-दुदये चत्वार्यपि सत्तास्थानानि, कथम् ? इति चेद् उच्यते–इहाष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्बन्धकाः प्रत्येकं देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सत्येकविधबन्धका भवन्ति, अष्टा-विंशत्यादिबन्धकानां च यथाक्रममष्टाशीत्यादीनि सत्तास्थानानि, तत एकविधबन्धे चत्वार्यपि[2] प्राप्यन्ते ॥४९॥

---

१ सं० १ त० म० °तरसं० ॥ २ सं० १ छा० °पि सत्तास्थानानि प्राप्य० ॥

अप्रत्यनिवृत्तिबादरस्य बन्धादिस्थानान्युच्यन्ते-"एगेगमट्ठ" त्ति अनिवृत्तिबादरस्यैकं बन्धस्थानम्—यशःकीर्तिः । एकमुदयस्थानम्—त्रिंशत् । अष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा यावद् नामत्रयोदशकं न क्षीयते । त्रयोदशसु च नामसु यथाक्रमं त्रिनवत्यादेः क्षीणेषूपरितनानि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति । बन्ध-उदय-स्थानभेदाभावादत्र संवेधो न सम्भवतीति नाभिधीयते ।

सूक्ष्मसम्परायस्य बन्धादीन्युच्यन्ते—"एगेगमट्ठ" त्ति सूक्ष्मसम्परायस्यैकं बन्धस्थानम्—यशःकीर्तिः । एकमुदयस्थानम्—त्रिंशत् । अष्टौ सत्तास्थानानि, तानि चानिवृत्तिबादरस्येव वेदितव्यानि । तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्यामेव, उपरितनानि तु क्षपकश्रेण्याम् ।

"छउमत्थकेवलिजिणाणं" इत्यादि । छद्मस्थजिनाः---उपशान्तमोहाः क्षीणमोहाश्च, केवलिजिनाः---सयोगिकेवलिनोऽयोगिकेवलिनश्च, तेषां यथाक्रममुदय-सत्तास्थानानि—"एक चउ" इत्यादीनि । तत्रोपशान्तमोहस्यैकमुदयस्थानम्---त्रिंशत् ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा---त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च ।

क्षीणकषायस्यैकमुदयस्थानम्—त्रिंशत् । अत्र भङ्गाश्चतुर्विंशतिरेव, वज्रर्षभनाराचसंहननयुक्तस्यैव क्षपकश्रेण्यारम्भसम्भवात् । तत्रापि तीर्थकरसत्कर्मणः क्षीणमोहस्य सर्वे संस्थानादि प्रशस्तमित्येक एव भङ्गः ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा---अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । एकोनाशीति-पञ्चसप्तती अतीर्थकरसत्कर्मणो वेदितव्ये । अशीति-षट्सप्तती तु तीर्थकरसत्कर्मणः ।

सयोगिकेवलिनोऽष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा--विंशतिः एकविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । एतानि सामान्यतो नाम्न उदयस्थानचिन्तायां सप्रपञ्चं विवृतानीति न भूयो विव्रियन्ते ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा---अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः ।

सम्प्रति संवेध उच्यते---स च जीवस्थानेषु पर्याप्तसंज्ञिद्वारे यथा कृतस्तथाऽत्रापि भावयितव्यः ।

अयोगिकेवलिनो द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—नव अष्टौ च । तत्राष्टोदयोऽतीर्थकरायोगिकेवलिनः, नवोदयस्तीर्थकरायोगिकेवलिनः ।

षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टौ च२ ।

---

१ सं १ त० म० ०ने वेदितव्ये, तद्य० ॥ २ सं०सं० २ मुद्रि० च । तत्राष्टो० ॥

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्राष्टोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिः अष्टौ च । तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयस्तावत् प्राप्येते, चरमसमयेऽष्टौ । नवोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिः नव च । तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयः, चरमसमये नव ॥ ५० ॥

तदेवं गुणस्थानकेषु बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्युक्तानि । साम्प्रतं गत्यादिषु मार्गणास्थानेषु तानि चिचिन्तयिषुः प्रथमतो गतिषु तावत् चिन्तयन्नाह—

> दो छक्कऽट्ठ चउक्कं, पण नव एक्कार छक्कगं उदया ।
> नेरइ[1]आइसु संता, ति पच एक्कारस चउक्कं ॥ ५१ ॥

नैरयिक तिर्यग्-मनुष्य-देवानां यथाक्रमं द्वे षड् अष्टौ चत्वारि बन्धस्थानानि । तत्र नैरयिकाणामिमे द्वे, तद्यथा—एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रैकोनत्रिंशद् मनुष्यगतिप्रायोग्या तिर्यग्गतिप्रायोग्या च वेदितव्या । त्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या उद्योतसहिता, मनुष्यगतिप्रायोग्या तु तीर्थंकरसहिता । भङ्गाश्च[2] प्रागुक्ताः सर्वेऽपि द्रष्टव्याः ।

तिरश्चां षड् बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतानि प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि, केवलमेकोनत्रिंशत् त्रिंशच्च या तीर्थंकरा-ऽऽहारकसहिता सा न वक्तव्या, तिरश्चां तीर्थंकरा-ऽऽहारकबन्धासम्भवात् ।

मनुष्याणामष्टौ बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिःषड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् एका च । एतान्यपि प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि, मनुष्याणां चतुर्गतिकप्रायोग्यबन्धसम्भवात् ।

देवस्य चत्वारि बन्धस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । अत्र पञ्चविंशतिः षड्विं[3]शतिश्च पर्याप्त-बादर-प्रत्येकसहितमेकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो वेदितव्या । अत्र स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभिरष्टौ भङ्गाः । षड्विंशतिः आतप-उद्योतान्यतरसहिता भवति, ततोऽत्र भङ्गाः षोडश । एकोनत्रिंशद् मनुष्यगतिप्रायोग्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या च सप्रभेदाऽवसेया । त्रिंशत् पुनस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या उद्योतसहिता अष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसङ्ख्यभेदोपेता ४६०८ प्रागिव[4]वक्तव्या । या तु मनुष्यगतिप्रायोग्या तीर्थंकरनामसहिता तत्र स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभिरष्टौ भङ्गाः ।

---

१ सं० सं० १ सं० २ त० छा० ०आई संता, ॥ २ छा० मुद्रि० ०श्च सर्वत्रापि प्रागु० ॥ ३ सं० १ त० म० ०शतिः पर्या० ॥ ४ मुद्रि० ०व सप्रभेदा वक्त० ॥

सम्प्रत्युदयस्थानान्यभिधीयन्ते--"पण नव एक्कार छक्कगं उदया" । नैरयिकाणां पञ्च[1] 'उदयाः' उदयस्थानानि, तद्यथा-एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् । एतानि सप्रभेदानि प्रागिव वक्तव्यानि ।

तिरश्चां नव उदयस्थानानि, तद्यथा--एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । एतानि एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-सवैक्रिया-ऽवैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सप्रभेदानि प्रागिव वक्तव्यानि ।

मनुष्याणामेकादशोदयस्थानानि, तद्यथा-विंशतिः एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च । एतानि च स्वभावस्थमनुष्य-वैक्रियमनुष्या-ऽऽहारकसंयत-तीर्थंकरा-ऽतीर्थंकरसयोगि-अयोगिकेवलिनोऽधिकृत्य[2] प्राग्वद् भावनीयानि ।

देवानां षड् उदयस्थानानि, तद्यथा-एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशद् त्रिंशत् । एतान्यपि प्रागेव सप्रपञ्चमुक्तानि, न भूय उच्यन्ते ।

सम्प्रति सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते--"संता ति पंच एक्कारस चउक्कं" । नैरयिकाणां सत्तास्थानानि त्रीणि, तद्यथा-द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च । एकोननवतिर्बद्धतीर्थंकरनाम्नो मिथ्यात्वं गतस्य नरकेषूत्पद्यमानस्यावसेया । त्रिनवतिस्तु न सम्भवति, तीर्थंकरा ऽऽहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात् ।

तिरश्चां पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा--द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । तीर्थंकरसम्बन्धीनि क्षपकसम्बन्धीनि च सत्तास्थानानि न सम्भवन्ति, तीर्थंकरनाम्नः क्षपकश्रेण्याश्च तिर्यक्ष्वभावात् ।

मनुष्याणामेकादश सत्तास्थानानि, तद्यथा-त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टौ च । अष्टसप्ततिस्तु न सम्भवति, मनुष्याणामवश्यं मनुष्यद्विकसम्भवात् ।

देवानां चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा--त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः । शेषाणि तु न सम्भवन्ति, शेषाणि हि कानिचिद् एकेन्द्रियसम्बन्धीनि कानिचित् क्षपकसम्बन्धीनि, ततः कथं तानि देवानां भवितुमर्हन्ति ? ।

सम्प्रति संवेध उच्यते--नैरयिकस्य तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्च उदयस्थानानि, तानि चानन्तरमेवोक्तानि । तेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा--द्विनवतिः अष्टा-

---

१ सं० १ त० म० ०ञ्च उदयस्थाना० ॥ २ सं० १ त० म० ०करसयो० ॥

शीतिः। तीर्थकरसत्कर्मणस्तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धासम्भवाद् एकोननवतिर्न लभ्यते। मनुष्यगतिप्रायोग्यां त्वेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा-द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च। तीर्थकरसत्कर्मा हि नरकेषूत्पन्नो यावद् मिथ्यादृष्टिस्तावद् एकोनत्रिंशतं बध्नाति, सम्यक्त्वं तु प्रतिपन्नस्त्रिंशतम्, तीर्थकरनामकर्मणोऽपि बन्धात्। तिर्यग्गतिप्रायोग्यामुद्योतसहितां त्रिंशतं बध्नतः पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा-द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। एकोननवत्यभावभावना प्रागिव भावनीया। मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां त्रिंशतं बध्नतः पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकमेकैकं सत्तास्थानम्--एकोननवतिः। सर्वबन्धस्थान-उदयस्थानापेक्षया सत्तास्था[1]नानि चत्वारिंशत्।

सम्प्रति तिरश्चां संवेध उच्यते—त्रयोविंशतिबन्धकस्य तिरश्च एकविंशत्यादीनि नव उदयस्थानानि, तानि चानन्तरमेवोक्तानि। तत्राद्येषु चतुर्षु एकविंशति-चतुर्विंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशतिरूपेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिः। इहाष्टसप्ततिस्तेजो-वायून् तद्भवादुद्वृत्तान् वाऽधिकृत्य वेदितव्या। शेषेषु तु सप्तविंशत्यादिषु पञ्चसूदयस्थानेषु अष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि। सप्तविंशत्याद्युदयेषु हि नियम[2]तो मनुष्यगतिद्विकसम्भवादष्टसप्ततिर्न लभ्यते। एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम्। नवरमेकोनत्रिंशतं मनुष्यगतिप्रायोग्यां ब[3]ध्नतः सर्वेष्वप्युदयस्थानेष्वष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि। अष्टाविंशतिबन्धकस्य अष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्रैकविंशति-षड्विंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्रूपाः पञ्च उदयाः क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा द्वाविंशतिसत्कर्मणां पूर्वबद्धायुषामवगन्तव्याः। एकैकस्मिंश्च द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च। पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ वैक्रियतिरश्चां वेदितव्यौ, तत्रापि ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने। त्रिंशद्-एकत्रिंशदुदयौ सर्वपर्याप्तिपर्याप्तानां सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां चाऽवसेयौ। एकैकस्मिंश्च त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च। षडशीतिर्मिथ्यादृष्टीनामवगन्तव्या। सम्यग्दृष्टीनां तु न सम्भवति, तेषामवश्यं देवद्विकादिबन्धसम्भवात्। तदेवं सर्वबन्धस्थान-सर्वोदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानानां द्वे शते अष्टादशाधिके २१८, तथाहि—त्रयोविंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्बन्धकेषु प्रत्येकं चत्वारिंशत् चत्वारिंशत्, अष्टाविंशतिबन्धे चाष्टादश।

---

१ सं० २ छा० मुद्रि० °नानि त्रिंशत् ॥ २ इत ऊर्ध्वम्-छा० ग्रन्थाग्रम् २६३०॥ ३ सं० १ त० म० °ध्नतां° ॥

सम्प्रति मनुष्याणां संवेध उच्यते—तत्र मनुष्यस्य त्रयोविंशतिबन्धकस्योदयाः सप्त, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्, शेषाः[1] केवल्युदया इति न सम्भवन्ति[2]। पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ च वैक्रियकारिणो वेदितव्यौ। एकैकस्मिंश्चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिश्च। नवरं पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च; शेषाणि तु सत्तास्थानानि तीर्थकर-क्षपकश्रेणि-के[3]वलि शेषगतिप्रायोग्याणीति न सम्भवन्ति; सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशतिः। एवं पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धकानामपि वक्तव्यम्। मनुजगतिप्रायोग्यां तिर्यग्गतिप्रायोग्यां चैकोनत्रिंशतं त्रिंशतं च बध्नतामप्येवमेव। अष्टाविंशतिबन्धकानां सप्त उदयाः, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्रैकविंशति-षड्विंशत्युदयौ अविरतसम्यग्दृष्टेः करणापर्याप्तस्य। पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ वैक्रियस्याहारकसंयतस्य वा। अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशतौ अविरतसम्य[4]ग्दृष्टीनां वैक्रियकारिणामाहारकसंयतानां च। त्रिंशत् सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा। एकैकस्मिन् द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च। आहारकसंयतस्य द्विनवतिरेव। त्रिंशदुदये चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च। तत्रैकोननवतिर्नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेया। सर्वसङ्ख्यया ऽष्टाविंशतिबन्धे षोडश सत्तास्थानानि। देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं तीर्थकरसहितां बध्नतः सप्त उदयस्थानानि, तानि चाष्टाविंशतिबन्धकानामिव द्रष्टव्यानि। न[5]वरं त्रिंशदुदयः सम्यग्दृष्टीनामेव वक्तव्यः, यत एकोनत्रिंशद्बन्धस्तीर्थकरनामसहितः, तीर्थकरनाम च बन्धमायाति सम्यग्दृष्टीनामिति। सर्वेष्वपि चोदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवतिः एकोननवतिश्च। आहारकसंयतस्य त्रिनवतिरेव। सर्वसङ्ख्यया चतुर्दश। आहारकसहितां त्रिंशतं बध्नतो द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र यो नामाऽऽहारकसंयतो[6]ऽन्तिमकालेऽप्रमत्तं[7]प्रति एकोनत्रिंशद् वेदितव्या, [8]अन्यत्रैकोनत्रिंशति आहारकबन्धहेतोर्विशिष्टसंयमस्यासम्भवात्। द्वयोरप्युदयस्थानयोः प्रत्येकमेकैकं सत्तास्थानम्—द्विनवतिः। एकत्रिंशद्बन्धकस्य एकमुदयस्थानम्—त्रिंशत्; एकं सत्तास्थानम्—त्रिनवतिः। एकविधबन्धकस्यैकमुदयस्थानम्—त्रिंशत्; अष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः

---

१ मुद्रि० °षाः संयतोद° ॥ २ सं० छा० मुद्रि० °न्ति। त्रयोविंशतिबन्धकस्य पञ्च° ॥ ३ छा० मुद्रि० °वलिसम्बन्धीनि शेषगतिप्रायोग्याणि चेति कृत्वा न ॥ ४ छा० मुद्रि० °दृष्टिवैक्रियाहारकसंयताम्। त्रि० ॥ ५ छा० मुद्रि० °वरमिह त्रि० ॥ ६ आहारकमोक्षकाले इत्यर्थः ॥ ७ छा० सं० मुद्रि० प्रतीत्यैको० ॥ ८ अप्रमत्तं विहायेत्यर्थः ॥ ६ सं० १ त० म० छा० °स्याभावा° ॥

एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । सर्वबन्धस्थान-उदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानानि शतमेकोनषष्ट्यधिकम् १५६, तद्यथा—त्रयोविंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धेषु प्रत्येकं चतुर्विंशश्चतुर्विंशतिः, अष्टाविंशतिबन्धे षोडश, मनुज-तिर्यग्गतिप्रायोग्यैकोनत्रिंशद्बन्धे (त्रिंशति च)प्रत्येकं चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिः, देवगतिप्रायोग्यतीर्थकरसहितैकोनत्रिंशद्बन्धे चतुर्दश, एकत्रिंशद्बन्धे एकम्, एकप्रकृतिबन्धेऽष्टाविति। बन्धाभावे उदयस्थान-सत्तास्थानयोः परस्परसंवेधः सामान्यतः संवेधचिन्तायामिव वेदितव्यः।

सम्प्रति देवानां संवेध उच्यते—तत्र देवानां पञ्चविंशतिबन्धकानां षट्स्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा-द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च । एवं षड्विंशति-एकोनत्रिंशद्बन्धकानामपि वेदितव्यम् । उद्योतसहितां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां त्रिंशतमपि बध्नतामेवमेव । तीर्थकरसहितां पुनस्त्रिंशतमर्थाद् मनुष्यगतिप्रायोग्यां बध्नतां षट्स्वपि उदयस्थानेषु द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवतिः एकोननवतिश्च । सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि षष्टिः ॥५१॥

तदेवं गतिमाश्रित्योक्तम् । सम्प्रति इन्द्रियमाश्रित्याभिधीयते—

इग विगलिंदिय सगले, पण पंच य अट्ठ बंधठाणाणि ।
पण छक्केक्कारुदया, पण पण बारस य संताणि ॥ ५२ ॥

एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय पञ्चेन्द्रियाणां यथाक्रमं बन्धस्थानानि पञ्च पञ्च अष्टौ । तत्रैकेन्द्रियाणाममूनि पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं त्रिंशतं च वर्जयित्वा शेषाणि सर्वाण्यपि सर्वगतिप्रायोग्याणि सप्रभेदानि[1] वक्तव्यानि । विकलेन्द्रियाणां त्रयाणामपि इमान्येव पञ्च पञ्च बन्धस्थानानि । पञ्चेन्द्रियाणां सर्वाण्यपि बन्धस्थानानि सर्वगतिप्रायोग्याणि सप्रभेदानि द्रष्टव्यानि ।

सम्प्रत्युदयस्थानान्युच्यन्ते—"पण छक्केक्कारुदय" त्ति एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाणां यथाक्रमं पञ्च षड् एकादश उदयस्थानानि । तत्रैकेन्द्रियाणाममूनि पञ्च उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिश्च; एतानि सप्रभेदानि प्रागिव वेदितव्यानि । विकलेन्द्रियाणां षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्; एतान्यपि यथाऽधस्तादुक्तानि तथैव वक्तव्यानि । पञ्चेन्द्रियाणाममून्येकादशोदयस्थानानि, तद्यथा—विंशतिः एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च । एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियसत्कान्युदयस्थानानि वर्जयित्वा शेषाणि सर्वाण्यपि पञ्चेन्द्रियाणां सप्रभेदानि वक्तव्यानि ।

[1] मुद्रि० छा० ०दानि बन्धस्थानानि वक्त० ॥

सम्प्रति सत्तास्थानान्युच्यन्ते—"पण पण बारस य संताणि" त्ति एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाणां यथाक्रमं पञ्च पञ्च द्वादश सत्तास्थानानि। तत्रैकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियाणां पञ्च इमानि, तद्यथा द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च। पञ्चेन्द्रियाणां सर्वाण्यपि सत्तास्थानानि।

तदेवं सामान्यतो बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्युक्तानि। सम्प्रति संवेध उच्यते—एकेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानामाद्येषु चतुर्षूदयस्थानेषु पूर्वोक्तानि पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, सप्तविंशत्युदये त्वष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि; एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम्; सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि विंशं शतम् १२०। विकलेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, शेषेषु तु चतुर्षूदयस्थानेषु अष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि; एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम्; सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि त्रिंशं शतम् १३०। पञ्चेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानां षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्, एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् मनुष्यांश्चाधिकृत्य भावनीयानि। अत्रैकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च पञ्च पञ्च अनन्तरोक्तानि सत्तास्थानानि, शेषेषूदयेष्वष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि, सर्वसङ्ख्यया षड्विंशतिः सत्तास्थानानि। पञ्चविंशतिबन्धकस्याष्टौ उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। इहैकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च पञ्च पञ्चानन्तरोक्तानि सत्तास्थानानि। पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च। शेषेष्वष्टाविंशत्यादिषु चतुर्षूदयस्थानेषु प्रत्येकमष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि। सर्वसङ्ख्यया त्रिंशत् सत्तास्थानानि। एवं षड्विंशतिबन्धकानामपि। अष्टाविंशतिबन्धकानामष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यानधिकृत्य वेदितव्यानि। एकविंशत्यादिष्वेकोनत्रिंशत्पर्यन्तेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च। त्रिंशदुदये चत्वारि—द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च। एकोननवतिस्तीर्थकरनामसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतो मनुष्यस्यावसेया, शेषाणि पुनः सामान्यतस्तिरश्चो मनुष्यान् वाऽधिकृत्य वेदितव्यानि। एकत्रिंशदुदये त्रीणि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च। एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणाम-

१ म० १ त० म० °दयस्थाने ष्व० ॥ २ सं० १ त० म० °न्यतिर० । छा० °न्येव तिर० ॥ ३ सं० १ त० म० °नयेऽपि त्रो० ॥

त्रसेयानि, अन्यत्र पञ्चेन्द्रियस्य सत एकत्रिंशदुदयाभावात् । षडशीतिश्च मिथ्यादृष्टीनां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामवसेया, न सम्यग्दृष्टीनाम्, सम्यग्दृष्टीनामवश्यं देवद्विकबन्धसम्भवेनाष्टाशीतिसम्भवात् । अत्र सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानान्येकोनविंशतिः १९ । एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य तान्येवाष्टावुदयस्थानानि । तत्रैकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च सप्त सप्त सत्तास्थानानि । तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिः त्रिनवतिः एकोननवतिः । तत्र तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नत आद्यानि पञ्च, मनुष्यगतिप्रायोग्यां बध्नत आद्यानि चत्वारि, देवगतिप्रायोग्यां बध्नतोऽन्तिमे द्वे अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशदुदये[१]षु एतान्येवाष्टसप्ततिवर्जानि षट् षट् सत्तास्थानानि । एकत्रिंशदुदये आद्यानि चत्वारि । पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदययोः पुनरिमानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः त्रिनवतिः एकोननवतिश्च । सर्वाङ्कस्थापना—$\frac{२१}{७}$ $\frac{२४}{४}$ $\frac{२६}{७}$ $\frac{२७}{४}$ $\frac{२८}{६}$ $\frac{२९}{६}$ $\frac{३०}{६}$ $\frac{३१}{४}$, सर्वसङ्ख्ययैकोनत्रिंशद्बन्धे चतुश्चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । त्रिंशद्बन्धकस्यापि तान्येवाष्टावुदयस्थानानि, तान्येव च प्रत्येकं सत्तास्थानानि । केवलमिहैकविंशत्युदये आद्यानि द्विनवति-अष्टाशीति-षडशीति-अशीति अष्टसप्ततिरूपाणि पञ्च सत्तास्थानानि तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेव त्रिंशतं बध्नतो वेदितव्यानि, न मनुष्यगतिप्रायोग्याम्, तस्यास्तीर्थकरनामसहितत्वात् । देवगतिप्रायोग्या तु त्रिंशदाहारकद्विकसहिता सा एकविंशत्युदये न सम्भवति । त्रिनवति एकोननवती मनुष्यगतिप्रायोग्यां त्रिंशतं बध्नतो देवस्य वेदितव्ये । षड्विंशत्युदये च तान्येव पञ्च सत्तास्थानानि, न त्रिनवति-एकोननवती । षड्विंशत्युदयो हि तिरश्चां मनुष्याणां वाऽपर्याप्तावस्थायाम्, न च तदानीं देवगतिप्रायोग्याया मनुष्यगतिप्रायोग्याया[२] वा त्रिंशतो बन्धोऽस्तीति त्रिनवति-एकोननवती न प्राप्येते, शेषं तथैव । सर्वाङ्कस्थापना—$\frac{२१}{७}$ $\frac{२४}{४}$ $\frac{२६}{५}$ $\frac{२७}{४}$ $\frac{२८}{६}$ $\frac{२९}{६}$ $\frac{३०}{६}$ $\frac{३१}{४}$, सर्वसङ्ख्यया त्रिंशद्बन्धे द्विचत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । एकत्रिंशद्बन्धकस्य एकविधबन्धकस्य चोदयसत्तास्थानसंवेधो यथा प्राग् मनुष्यस्योक्तस्तथैव वक्तव्यः[३] । तदेवमिन्द्रियाण्यधिकृत्य संवेध उक्तः ॥५२॥

> इय कम्मपगइठाणाइँ सुट्ठु बंधुदयसंतकम्माणं ।
> गइआइएहिं अट्ठसु, चउप्पगारेण नेयाणि ॥५३॥

'इति' उक्तेन प्रकारेण 'बन्ध-उदय-सत्कर्मणां' बन्ध-उदय-सत्तानां सम्बन्धीनि कर्मप्रकृतिस्थानानि 'सुष्ठु' अत्यन्तमुपयोगं कृत्वा 'गत्यादिभिः,

---

१ छा० मुद्रि० ०षु तान्ये० ॥ २ सं० सं० २ मुद्रि० ०याश्रिशा० ॥ ३ सं० १ ल० म० ०व्यः । सर्वसंख्यया सत्तास्थानानि त्रिशे द्वे शते २३० । तदे० ॥

[1]गइ इंदिए य काए, जोए वेए कसाय नाणे य ।
संजम दंसण लेसा, भव सम्मे सन्नि आहारे ॥
(पञ्चसं० गा० २१ जीवसमा० गा० १६)

इत्येवंरूपैश्चतुर्दशभिर्मार्गणास्थानैः 'अष्टसु' अनुयोगद्वारेषु

[2]संतपयपरूवणया, दव्वपमाणं च खित्तफुसणा य ।
कालो य अंतरं भाग भाव अप्पाबहुं चेव ॥ (आव० नि० गा० १३)

इत्येवंरूपेषु ज्ञातव्यानि । तत्र सत्पदप्ररूपणया संवेधो गुणस्थानकेषु सामान्येनोक्तः, विशेषतस्तु गतिरिन्द्रियाणि चाश्रित्य, एतदनुसारेण काय-योगादिष्वपि मार्गणास्थानेषु वक्तव्यः ।

शेषाणि तु द्रव्यप्रमाणादीनि रूपानुयोगद्वाराणि कर्मप्रकृतिप्राभृतादीन् ग्रन्थान् सम्यक् परिभाव्य वक्तव्यानि, ते च कर्मप्रकृतिप्राभृतादयो ग्रन्था न सम्प्रति वर्तन्ते इति लेशतोऽपि दर्शयितुं न शक्यन्ते । यस्त्वैदंयुगीनेऽपि श्रुते सम्यगत्यन्तमभियोगमास्थाय पूर्वापरौ परिभाव्य दर्शयितुं शक्नोति तेनावश्यं दर्शयितव्यानि, प्रज्ञोन्मेषो हि सतां महानपि तीव्र-तीव्रतरक्षयोपशमभावेनासीमो विजयमानो लक्ष्यते । अपि चान्यदपि यत् किञ्चिदिह क्षूणमापतितं तत् तेनापनीय तस्मिन् स्थानेऽन्यत् समीचीनमुपदेष्टव्यम् । सन्तो हि परोपकारकरणैकरसिका भवन्तीति ।

कथं पुनरष्टस्वप्यनुयोगद्वारेषु बन्ध-उदय-सत्तास्थानानि ज्ञातव्यानि ? इत्यत आह—'चतुःप्रकारेण' प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेशरूपेण । तत्र प्रकृतिगतानि बन्ध-उदय-सत्तास्थानानि प्राय उक्तानि, एतदनुसारेण स्थिति-अनुभाग-प्रदेशगतान्यपि भावनीयानि । इह बन्ध-उदय-सत्तास्थानसंवेधे चिन्त्यमाने उदयग्रहणेनोदीरणाऽपि गृहीता द्रष्टव्या, उदये सत्यवश्यं उदीरणाया अपि भावात् ॥५३॥

तथा चाह—

उदयस्सुदीरणाए, सामित्ताओ न विज्जइ [3]विसेसो ।
[4]मोत्तूण य[5] इगुयालं, सेसाणं सव्व[6]पगईणं ॥ ५४ ॥

इह कालप्राप्तानां कर्मपरमाणूनामनुभवनमुदयः, अकालप्राप्तानामुदयावलिकाबहिःस्थितानां कषायसहितेनासहितेन वा योगसंज्ञकेन वीर्यविशेषेण समाकृष्योदयप्राप्तैः कर्मपरमाणुभिः सहा-

---

१ गतौ इन्द्रिये च काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने च । संयमे दर्शने लेश्यायां भवे सम्यक्त्वे संज्ञिनि आहारे ॥
२ सत्पदप्ररूपणता द्रव्यप्रमाणं च क्षेत्रस्पर्शना च । कालश्च अन्तरं भागः भावः अल्पबहुत्वं चैव ॥
३ छा० मुद्रि० ०वयते ॥ ४ सं० १ त० म० छा० मुत्तूण ॥ ५ सं० सं० १ सं० ६ य ईया० ॥ ६ सं० १ त० म० छा० ०पयडीणं ॥

नुभवनमुदीरणा, अनयोरुदय-उदीरणयोः 'स्वामित्वात्' स्वामित्वमधिकृत्य विशेषो न विद्यते । एतदुक्तं भवति—य एव ज्ञानावरणादीनां कर्मणामुदयस्वामी स एव तेषां कर्मणामुदीरणाया अपि स्वामी, "[1]जत्थ उदओ तत्थ उदीरणा, जत्थ उदीरणा तत्थ उदओ ।" इतिवचनप्रामाण्यात् ।

तत्रातिप्रसक्तं लक्षणमित्यपवादमाह—"[2]मोत्तूण य" इत्यादि । 'मुक्त्वा एकचत्वारिंशतं' एकचत्वारिंशत्प्रकृतीर्मुक्त्वा शेषाणां सर्वासां प्रकृतीनामुदय-उदीरणयोः स्वामित्वं प्रति न विशेषः ॥ ५४ ॥

एकचत्वारिंशतं प्रकृतीर्निर्दिशति—

नाणंतरायदसगं दंसणनव वेयणिज्ज मिच्छत्तं ।

सम्मत्त लोभ वेयाऽऽउ[3]गाणि नवनाम उच्चं च ॥ ५५ ॥

एतासामेकचत्वारिंशत्प्रकृतीनामुदीरणामन्तरेणाप्युदयो भवति । तथाहि—पञ्चानां ज्ञानावरणप्रकृतीनां ५ पञ्चानामन्तरायप्रकृतीनां १० चतसृणां च चक्षुः-अचक्षुः-अवधि केवलदर्शनावरणरूपाणां दर्शनावरणप्रकृतीनामुदय उदीरणा च सर्वजीवानां युगपत् तावत् प्रवर्तते यावत् क्षीणमोहगुणस्थानकाद्धाया आवलिकाशेषो न भवति १४, आवलिकायां तु शेषीभूतायामुदय एव नोदीरणा, आवलिकागतस्योदीरणानर्हत्वात् । निद्रापञ्चकस्य शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानां शरीरपर्याप्तिसमाप्त्यनन्तरसमयाद् आरभ्य यावद् इन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तिर्नोपजायते तावद् उदय एव नोदीरणा, शेषकाले तूदय-उदीरणे युगपत् प्रवर्तेते युगपच्च निवर्तेते १५ । द्वयोर्वेदनीययोः पुनः प्रमत्तगुणस्थानकं यावद् उदय उदीरणा च युगपत् प्रवर्तेते, परतस्तूदय एव नोदीरणा २१ । तथा प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयतोऽन्तरकरणे कृते सति प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां मिथ्यात्वस्योदय एव नोदीरणा २२ । तथा वेदकसम्यग्दृष्टिना क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयता मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोः क्षपितयोः सम्यक्त्वं सर्वापवर्तनयाऽपवर्त्य अन्तर्मुहूर्तस्थितिकं कृतम्, तत उदय-उदीरणाभ्यामनुभूयमानम[4]नुभूयमानमावलिकाशेषं यदा भवति तदा सम्यक्त्वस्योदय एव नोदीरणा, अथवा उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यमानस्य अन्तरकरणे कृते सति प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां सम्यक्त्वस्योदय एव नोदीरणा २३ । संज्वलनलोभस्य उदय उदीरणा च युगपत् तावत् प्रवर्तेते यावत् सूक्ष्मसम्परायाद्धाया आवलिका[5] शेषा, तत आवलिकामात्रं कालमुदय एव नोदीरणा २४ । तथा त्रयाणां वेदानामन्यतमेन तेन तेन वेदेन श्रेणिं प्रतिपन्नस्यान्तरकरणे कृते तस्य तस्य वेदस्य प्रथमस्थितावावलिकाशेषायामुदय एव नोदीरणा २७। चतुर्णामप्या-

१ यत्र उदयस्तत्र उदीरणा, यत्र उदीरणा तत्र उदयः ॥ २ सं० १ त० म० छा० मुत्तूणं ॥ ३ स १ त० म० ०उयाणि ॥ ४ सं० सं २ ०रणप्रकृती० ॥ ५ स० सं० १ म० ०नमावलि० ॥ ६ सं १ स २ त० म० ०काशेषः ॥

युषां स्वस्वभवपर्यन्तावलिकायामुदय एव नोदीरणा, अन्यच्च मनुष्यायुषः प्रमत्तगुणस्थानका-दूर्ध्वमुदीरणा न भवति किन्तूदय एव केवलः ३१[1] । तथा मनुष्यगति-पञ्चेन्द्रियजाति त्रस-बादर-पर्याप्त-सुभगा-ऽऽदेय-यशःकीर्ति-तीर्थकररूपाणां [2]नवनामप्रकृतीनां ४० उच्चैर्गोत्रस्य च ४१ सयोगिकेवलिगुणस्थानकं यावद् युगपद् उदय-उदीरणे, अयोग्यवस्थायां तूदय एव नोदीरणा ॥५५॥

सम्प्रति कस्मिन् गुणस्थानके काः प्रकृतीर्बध्नाति ? इति बन्धविशेषनिरूपणार्थमाह—

तित्थगराहारगविरहियाओ अज्जेइ सव्वपगईओ ।
मिच्छत्तवेयगो सासणो वि इगुवीससेसाओ ॥५६॥

इह बन्धे प्रकृतीनां विंशं शतमधिक्रियते, एतच्च प्रागेव प्रकृतिवर्णनायामुक्तम् । तत्र 'मिथ्यात्ववेदकः' मिथ्यादृष्टिः 'तीर्थकरा-ऽऽहारकरहिताः' तीर्थकरा-ऽऽहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गो-पाङ्गवर्जाः शेषाः सर्वा अपि प्रकृतीः सप्तदशोत्तरशतसङ्ख्याः 'अर्जयति' बध्नाति, तीर्थकरा-ऽऽ-हारकद्विके तु न तस्य बन्धमायातः, तयोर्यथासङ्ख्यं सम्यक्त्व-संयमप्रत्ययत्वात् । तथा 'सासाद-नोऽपि' सासादनसम्यग्दृष्टिरपि 'एकोनविंशतिशेषाः' एकोनविंशतिवर्जाः शेषा एकोत्तरशतसङ्ख्याः प्रकृतीर्बध्नाति । तत्र तिस्रः प्रकृतयः प्राक्तन्य एव, तासां बन्धाभावे कारणमिहापि तदेवानु-सरणीयम् ; शेषास्तु षोडश प्रकृतय इमाः—मिथ्यात्वं नपुंसकवेदः नरकगतिः नरकानुपूर्वी नरकायुः एक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियजातयः हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननम् आतपनाम स्थावरनाम सूक्ष्मनाम साधारणनाम अपर्याप्तकनामेति । एता हि मिथ्यात्वोदयनिमित्ताः, न च मिथ्यात्वो-दयः सासादने विद्यते इत्येता अपि सासादनस्य न बन्धमायान्ति ॥५६॥

छायालसेस मीसो, अविरयसम्मो तियालपरिसेसा ।
तेवण्ण देसविरओ, विरओ सगवण्णसेसाओ ॥५७॥

'मिश्रः' सम्यग्मिथ्यादृष्टिः 'षट्चत्वारिंशच्छेषाः' षट्चत्वारिंशद्वर्जाः चतुःसप्ततिसङ्ख्याः प्रकृ-तीर्बध्नाति । तत्रैकोनविंशतिप्रकृतयो बन्धायोग्याः प्राक्तन्य एव, शेषास्त्विमाः—स्त्यानर्द्धित्रिकम् अनन्तानुबन्धिचतुष्टयं स्त्रीवेदः तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी तिर्यगायुः प्रथमा-ऽन्तिमवर्जानि चत्वारि संस्थानानि प्रथमा-ऽन्तिमवर्जानि चत्वारि संहननानि उद्योतम् अप्रशस्तविहायोगतिः दुर्भगं दुःस्वरम् अनादेयं नीचैर्गोत्रमिति । एताः पञ्चविंशतिप्रकृतयोऽनन्तानुबन्ध्युदयनिमित्ताः, न च

---

१ इत ऊर्ध्वम्-मणुयगइजाइतसबादरं च पज्जत्तसुभगमाइज्जं । जसकित्ती तित्थयरं नामस्स हवंति नव एया॥ इत्येषा गाथा सूत्रगाथातयोपात्ता मुद्रितादर्श एव विद्यते न च समस्तपार्श्ववर्तिषु सप्तस्वादर्शेष्वित न ह्यतोऽस्माभिरत्र ॥२ सं० १ त० म० छा० नवानां नामप्र० ॥

सम्यग्मिथ्यादृष्टावनन्तानुबन्धिनामुदयोऽस्ति, ततो न बन्धमायान्ति । अन्यच्च सम्यग्मिथ्यादृष्टिरायुर्बन्धमपि नारभते, ततो मनुष्य-देवायुषी अपि न बन्धमायात इति षट्चत्वारिंशदप्येताः प्रतिषिध्यन्ते । तथा अविरतसम्यग्दृष्टिस्त्रिचत्वारिंशद्वर्जाः शेषाः सप्तसप्ततिप्रकृतीर्बध्नाति । अविरतसम्यग्दृष्टिर्हि मनुष्य-देवायुषी अपि बध्नाति तीर्थकरनाम च, ततः शेषा एव त्रिचत्वारिंशत् प्रकृतयो वर्ज्यन्ते । तथा देशविरतः 'त्रिपञ्चाशच्छेषाः' त्रिपञ्चाशद्वर्जाः शेषाः सप्तषष्टिप्रकृतीर्बध्नाति । तत्र त्रिचत्वारिंशत् प्रकृतयो बन्धायोग्याः प्राक्तन्य एव, शेषाः पुनरिमाः–अप्रत्याख्यानचतुष्टयं मनुष्यगतिः मनुष्यानुपूर्वी मनुष्यायुः औदारिकशरीरम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं वज्रर्षभनाराचसंहननम्, एता हि दश प्रकृतयोऽविरतिहेतव इति न देशविरते बन्धमागच्छन्ति । तथा 'विरतः' प्रमत्तसंयतः 'सप्तपञ्चाशच्छेषाः' सप्तपञ्चाशद्वर्जाः शेषास्त्रिषष्टिप्रकृतीर्बध्नाति । तत्र त्रिपञ्चाशद् बन्धायोग्याः प्राक्तन्य एव शेषास्तु चतस्रः प्रकृतयः प्रत्याख्यानावरणक्रोध-मान-माया-लोभरूपाः । एता हि देशविरत एव, बन्धं प्रतीत्य व्यवच्छिन्नाः ॥५७॥

सम्प्रति प्रतिषेद्धव्याः प्रकृतयो बह्व्यो बन्धयोग्यास्तु स्तोका इति बन्धयोग्या एव निर्दिशति-

इगुसट्ठिमप्पमत्तो, बंधइ देवाउयस्स इयरो वि ।
अट्ठावण्णमपुव्वो, छप्पण्णं वा वि छव्वीसं ॥ ५८ ॥

'अप्रमत्तः' अप्रमत्तसंयत एकोनषष्टिप्रकृतीर्बध्नाति । ताश्च प्रमत्तसंयतस्य बन्धयोग्यास्त्रिषष्टिप्रकृतयोऽसातवेदनीया-ऽरति-शोका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिवर्जा आहारकद्विकसहिता वेदितव्याः, असातवेदनीयादयो हि षट् प्रकृतयः प्रमत्तसंयतगुणस्थानक एव बन्धं प्रतीत्य व्यवच्छिन्नाः, आहारकद्विकं चाप्रमत्तो विशिष्टसंयमभावाद् बध्नाति, तत एकोनषष्टिप्रकृतयोऽप्रमत्तस्य बन्धयोग्याः । "देवाउयस्स इयरो वि" त्ति 'इतरोऽपि' अप्रमत्तोऽपि देवायुषो बन्धकः । एतेनैतत् सूच्यते—प्रमत्तसंयत एवायुर्बन्धं प्रथमत आरभते, आरभ्य च कश्चिदप्रमत्तभावमपि गच्छति, तत एवमप्रमत्तसंयतोऽपि देवायुषो [१]बन्धको भवति, न पुनरप्रमत्तसंयत[२] एव सन् प्रथमत आयुर्बन्धमारभत इति । तथा 'अपूर्वः' अपूर्वकरणोऽष्टपञ्चाशत् प्रकृतीर्बध्नाति, तस्य देवायुर्बन्धाभावात् । ताश्चाष्टपञ्चाशत् प्रकृतीस्तावद् बध्नाति यावदपूर्वकरणाद्धायाः सङ्ख्येयतमो भागो गतो भवति । ततो निद्रा-प्रचलयोरपि बन्धव्यवच्छेदात् षट्पञ्चाशत्प्रकृतीर्बध्नाति, ता अपि तावद् यावदपूर्वकरणाद्धाया एकः सङ्ख्येयतमो भागोऽवशिष्यते । ततो देवगति-देवानुपूर्वी-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा--ऽऽहारकशरीरा--ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग--तैजस-कार्मण -समचतुरस्रसंस्थान-वर्ण-रस-गन्ध स्पर्शा-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वास-प्रशस्तविहायोगति-त्रस--बादर-

१ मुद्रि० बद्धा भ०॥ २ सं० १ त० म० ०त एवायुर्बन्धं प्रथमत आर० ॥

पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-निर्माण-तीर्थकररूपाणां त्रिंशत्प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदात् शेषाः षड्विंशतिप्रकृतीर्बध्नाति ता अपि तावद् बध्नाति यावदपूर्वकरणाद्धायाश्चरमसमयः, तस्मिंश्च समये हास्य-रति-भय-जुगुप्सा बन्धं प्रतीत्य व्यवच्छिद्यन्ते ॥ ५८ ॥ ततः---

बावीसा एगूणं, बंधइ अट्ठारसंतमनियट्टी ।
सत्तर सुहुमसरागो, सायममोहो सजोगि त्ति ॥ ५९ ॥

'अनिवृत्तिः' अनिवृत्तिबादरो द्वाविंशतिप्रकृतीर्बध्नाति । ताश्च तावद् यावदनिवृत्तिबादरसम्परायाद्धायाः सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवतिष्ठते, ततः 'एकोनम्' एकैकप्रकृत्यूनं बध्नाति तावद् यावदष्टादशान्तम् । एतदुक्तं भवति— तस्मिन् सङ्ख्येयतमे भागे शेषे पुरुषवेदबन्धव्यवच्छेदात् शेषा एकविंशतिप्रकृतीर्बध्नाति, ता अपि तावद् यावत् तस्याः शेषीभूताया अद्धायाः सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकः शिष्यते ततः संज्वलनक्रोधस्यापि बन्धव्यवच्छेदाद् विंशतिप्रकृतीर्बध्नाति, ता अपि तावद् यावत् तस्याः शेषीभूताया अद्धायाः सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवतिष्ठते; ततः संज्वलनमानस्यापि बन्धव्यवच्छेदादेकोनविंशतिप्रकृतीर्बध्नाति, ता अपि तावद् यावत् तस्याः शेषीभूताया अद्धायाः सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवतिष्ठते, ततः संज्वलनमायाया अपि बन्धव्यवच्छेदादष्टादशप्रकृतीर्बध्नाति, ताश्च तावद् यावदनिवृत्तिबादरसम्परायाद्धायाश्चरमसमयः, तस्मिंश्च समये संज्वलनलोभोऽपि बन्धं प्रतीत्य व्यवच्छिद्यते । ततः सूक्ष्मसम्परायः शेषाः सप्तदश प्रकृतीर्बध्नाति, ताश्च तावद् यावत् सूक्ष्मसम्परायाद्धायाश्चरमसमयः[1]; तस्मिंश्च समये ज्ञानावरणपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्टय-यशःकीर्ति-उच्चैर्गोत्ररूपाः षोडश प्रकृतयो बन्धमधिकृत्य व्यवच्छिद्यन्ते । ततः "सायममोहो सजोगि" त्ति 'अमोहः' मोहनीयोदयरहितः सातमेवैकं बध्नाति, स च तावद् यावत् 'सयोगी' सयोग्यवस्थाचरमसमय इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति— उपशान्तमोहः क्षीणमोहः सयोगकेवली च सातमेकं बध्नाति । अयोगिकेवली त्वेकस्यापि बन्धहेतोरभावाद् न किमपि बध्नातीति ॥५९॥

एसो उ बंधसामित्त[3]ओघो गइयाइएसु वि तहेव ।
ओहाओ साहिज्जा, जत्थ जहा पगडिसब्भावो ॥ ६० ॥

योऽयमनन्तरं प्राग् मिथ्यादृष्ट्यादिषु सयोगिकेवलिपर्यन्तेषु बन्धभेद उक्त एष बन्धस्वामित्वौघ उच्यते । अस्माद् 'ओघात्' ओघभणितप्रकाराद् 'गत्यादिष्वपि' चतुर्दशसु मार्गणास्थानेषु 'यत्र' मार्गणास्थाने 'यथा' येन प्रकारेण भवप्रत्ययादिना प्रकृतिसद्भावो घटते तत्र तथा 'साधयेत्' कथयेत्, यथैताः प्रकृतयोऽस्मिन् मार्गणास्थाने बन्धं प्रतीत्य घटन्त इति ॥६०॥

---

१ सं० १ तं० मं० °श्चरमस° ॥ २ सं० १ तं० मं० °रणान्तरायप° ॥ ३ मं० छा० °तओहु ग° ॥

सम्प्रति किं सर्वा अपि प्रकृतयः सर्वासु गतिषु प्राप्यन्ते ? किं वा न ? इति संशये सति तदपनोदार्थमाह—

तित्थगरदेवनिरयाउगं च तिसु तिसु गईसु बोद्धव्वं ।
अवसेसा पयडीओ, हवंति सव्वासु वि गईसु ॥६१॥

तीर्थकरनाम देवायुर्नरकायुश्च प्रत्येकं तिसृषु तिसृषु गतिषु बोद्धव्यम् । तथाहि—तीर्थकरनाम नरक देव मनुष्यगतिरूपासु तिसृषु गतिषु सत् प्राप्यते, न तिर्यग्गतावपि, तीर्थकरसत्कर्मणस्तिर्यक्षूत्पादाभावात् ; तत्र गतस्य च तीर्थकरनामबन्धासम्भवात् , तथाभवस्वाभाव्यात् । तथा तिर्यङ्-मनुष्य-देवगतिषु च देवायुः, न नरकगतौ, नैरयिकाणां देवायुर्बन्धासम्भवात् । तिर्यङ्-मनुष्य-नरकगतिषु च नरकायुः, न देवगतौ देवानां नरकायुर्बन्धासम्भवात् । शेषाः प्रकृतयः सर्वास्वपि गतिषु सत्तामधिकृत्य प्राप्यन्ते ।६१॥

इह गुणस्थानकेषु प्राग् बन्ध-उदय-सत्तास्थानसंवेध उक्तः, गुणस्थानकानि च प्राय उपशमश्रेणिगतानि क्षपकश्रेणिगतानि च, ततोऽवश्यमिहोपशमश्रेणि-क्षपकश्रेणी वक्तव्ये, तत्र प्रथमत उपशमश्रेणिप्रतिपादनार्थमाह—

पढमकसायचउक्कं, दंसणतिग सत्तगा वि उवसंता ।
अविरतसम्मत्ताओ, जाव नियट्टि त्ति नायव्वा ॥६२॥

'प्रथमकषायाः' अनन्तानुबन्धिनः 'दर्शनत्रिकं' मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वरूपम् , एताः 'सप्तका अपि' सप्तापि प्रकृतय उपशान्ताः 'अविरतसम्यक्त्वात्' अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकादारभ्य यावद् 'निवृत्तिः' अपूर्वकरणगुणस्थानं तावद् ज्ञातव्याः । अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयता-ऽपूर्वकरणेषु यथायोगमेताः सप्तापि प्रकृतय उपशान्ता लभ्यन्ते । अपूर्वकरणवर्जाः शेषा यथायोगमुपशमकाः, अपूर्वकरणे त्वेता नियमत उपशान्ता एव[1] प्राप्यन्ते ।

तत्र प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिधीयते-अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-विरतानामन्यतमोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्तमानस्तेजः-पद्म-शुक्ललेश्याऽन्यतमलेश्यायुक्तः साकारोपयोगोपयुक्तोऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा करणकालात् पूर्वमपि अन्तर्मुहूर्तं कालं यावदवदायमानचित्तसन्ततिरवतिष्ठते । तथाऽवतिष्ठमानश्च परावर्तमानाः प्रकृतीः शुभा एव बध्नाति, नाशुभाः । अशुभानां च प्रकृतीनामनुभागं चतुःस्थानकं सन्तं द्विस्थानकं करोति, शुभानां च द्विस्थानकं

१ सं १ त० म० ०व लभ्यन्ते ॥

सन्तं चतुःस्थानकम् । स्थितिबन्धेऽपि च पूर्णे पूर्णे सति अन्यं स्थितिबन्धं पूर्वपूर्वस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमसङ्ख्येयभागहीनं करोति ।

इत्थं करणकालात् पूर्वमन्तर्मुहूर्तं कालं यावदवस्थाय ततो यथाक्रमं त्रीणि करणानि-प्रत्येकमान्तर्मौहूर्तिकानि करोति । तद्यथा--यथाप्रवृत्तकरणम् अपूर्वकरणम् अनिवृत्तिकरणं च, चतुर्थी तूपशान्ताद्धा ।

तत्र यथाप्रवृत्तकरणे प्रविशन् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रविशति, पूर्वोक्तं च शुभप्रकृतिबन्धादिकं तथैव तत्र कुरुते, न च स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिं गुणसङ्क्रमं वा करोति, तद्योग्यविशुद्ध्यभावात् । प्रतिसमयं च नानाजीवापेक्षयाऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि भवन्ति, षट्स्थानपतितानि च । अन्यच्च प्रथमसमयापेक्षया द्वितीयसमयेऽध्यवसायस्थानानि विशेषाधिकानि, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषाधिकानि, एवं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयः। अत एवैतानि स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमास्तृणन्ति । स्थापना चेयम्—

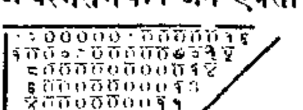

तत्र प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका, ततो द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एवं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरणाद्धायाः सङ्ख्येयो भागो गतो भवति । ततः प्रथमसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि यतो जघन्यस्थानाद् निवृत्तस्तस्योपरितनी जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, तत उपरि जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एवमुपर्यधश्चैकैकं विशोधिस्थानमनन्तगुणतया तावद् नेयं यावद् यथाप्रवृत्तकरणस्य चरमसमये जघन्यं विशोधिस्थानम् । तत उत्कृष्टानि यानि विशोधिस्थानानि अनुक्तानि तिष्ठन्ति तानि निरन्तरमनन्तगुणया वृद्ध्या तावद् नेतव्यानि यावत् चरमसमये उत्कृष्टं विशोधिस्थानम् ।

तदेवमुक्तं यथाप्रवृत्तकरणम् । सम्प्रत्यपूर्वकरणमुच्यते—तत्रापूर्वकरणे प्रतिसमयमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति, प्रतिसमयं च षट्स्थानपतितानि । तत्र प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका, सा च यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयसत्कोत्कृष्टविशोधिस्थानादनन्तगुणा, ततः प्रथमसमय एवोत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तस्मिन्नेव द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तस्मिन्नेव तृतीये समये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, एवं प्रतिसमयं तावद् वक्तव्यं यावत् चरमसमये उत्कृष्टा विशोधिः । स्थापना—

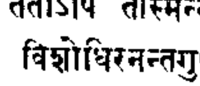

अस्मिंश्चापूर्वकरणे प्रथमसमये एव स्थितिघातो रसघातो गुणश्रेणिर्गुणसङ्क्रमोऽन्यश्च स्थितिबन्ध इति पञ्च पदार्था युगपत् प्रवर्तन्ते ।

तत्र स्थितिघातो नाम—स्थितिसत्कर्मणोऽग्रिमभागाद् उत्कर्षतः प्रभूतसागरोपमशतप्रमाणं जघन्यतः पल्यो[1]पमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमुत्किरति खण्डयतीत्यर्थः, उत्कीर्य च याः स्थितीरधो न खण्डयिष्यति तत्र तद् दलिकं प्रक्षिपति, अन्तर्मुहूर्तेन च कालेन तत् स्थितिखण्डमुत्कीर्यते। ततः पुनरप्यधस्तात् पल्यो[2]पमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्किरति, पूर्वोक्तप्रकारेणैव च निक्षिपति । एवमपूर्वकरणाद्धायां प्रभूतानि स्थितिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति । तथा च सति अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये यत् स्थितिसत्कर्म आसीत् तत् तस्यैव चरमसमये सङ्ख्येयगुणहीनं जातम् ।

रसघातो नाम-अशुभप्रकृतीनां यद् अनुभागसत्कर्म तस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तर्मु[3]हूर्तेन काले[4]न विनाशयति, ततः पुनरपि तस्य प्रागुक्तस्यानन्ततमभागस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति, [5]*ततः पुनरपि तस्य प्रागुक्तस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति। *एवमनेकान्यनुभागखण्डसहस्राण्येकस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति । तेषां च स्थितिखण्डानां सहस्रैरपूर्वकरणं परिसमाप्यते ।

गुणश्रेणिर्नाम—अन्तर्मुहूर्तप्रमाणानां स्थितीनामुपरि याः स्थितयो वर्तन्ते तन्मध्याद् दलिकं गृहीत्वा उदयावलिकाया उपरितनीषु स्थितिषु प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुणतया निक्षिपति । तद्यथा-प्रथमसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीये समयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् नेयं यावदन्तर्मुहूर्तचरमसमयः । तच्चान्तर्मुहूर्तमपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिकरणकालाभ्यां मनागतिरिक्तं वेदितव्यम् । एष प्रथमसमयगृहीतदलिकस्य निक्षेपविधिः । एवं द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकानां निक्षेपो वक्तव्यः । अन्यच्च—गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमये यद् दलिकं गृह्यते तत् स्तोकम्, ततोऽपि द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् ज्ञेयं यावद् गुणश्रेणिकरणचरमसमयः । अपूर्वकरणसमयेषु अनिवृत्तिकरणसमयेषु चानुभवतः क्रमशः क्षीयमाणेषु गुणश्रेणिदलिकनिक्षे[6]पः शेषे शेषे भवति, उपरि च न वर्धते ।

---

१ सं० १ त० छा० म० ०पमास० ॥ २ सं० १ त० म० ०पमास० ॥ ३ सं० १ त० म० ०हूर्तेनैव का० ॥ ४ सं० सं० २ मुद्रि० ०न अशेषानपि विना० ॥ ५ पुष्पिकाद्वयान्तर्वर्ती पाठः छा० मुद्रि० प्रत्योरेव दृश्यते, नान्यासु प्रतिषु ॥ ६ सं० १ त० छा० ०पः शेषे भव० ॥

गुणसङ्क्रमो नाम–अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽनन्तानुबन्ध्यादीनामशुभप्रकृतीनां दलिकं यत् परप्रकृतिषु सङ्क्रमयति तत् स्तोकम्, ततो द्वितीयसमये परप्रकृतिषु सङ्क्रम्यमाणमसङ्ख्येय-गुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं चतुर्थसमयादिष्वपि वक्तव्यम् ।

अन्यः स्थितिबन्धो नाम—अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽन्य एवापूर्वः स्तोकः स्थितिबन्ध आरभ्यते । स्थितिबन्ध-स्थितिघातौ च युगपदारभ्येते युगपदेव च निष्ठां यातः । एवमेते पञ्च पदार्था अपूर्वकरणे प्रवर्तन्ते ।

अनिवृत्तिकरणं नाम–यत्र प्रविष्टानां सर्वेषामपि तुल्यकालानामेकमेवाध्यवसायस्थानम् । तथाहि— अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमसमये ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषां सर्वेषा[1]-मप्येकरूपमेवाध्यवसायस्थानम्, द्वितीयसमयेऽपि च ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषामपि सर्वेषामेकरूपमध्यवसायस्थानम्, नवरं प्रथमसमयभाविविशोधिस्थानापेक्षयाऽनन्तगुणम्, एवं तावद् वक्तव्यं यावदनिवृत्तिकरणचरमसमयः । अत एवास्मिन्[2] करणे प्रविष्टानां तुल्यकाला-नामसुमतां सम्बन्धिनामध्यवसायस्थानानां परस्परं निवृत्तिः-व्यावृत्तिर्न विद्यते इत्यनिवृ[3]त्तिरिति नाम अस्मिंश्चानिवृत्तिकरणे यावन्तः समयास्तावन्त्यध्यवसायस्थानानि पूर्वस्मात् पूर्वस्मादनन्तगुण-वृद्धानि । एतानि च मुक्तावलीसंस्थानेन स्थापयितव्यानि-- 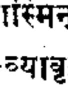 अत्रापि च प्रथमसमयादेवारभ्य पूर्वोक्ताः पञ्च पदार्था युगपत् प्रवर्तन्ते । अनिवृत्तिकरणा-- द्धायाश्च सङ्ख्येयतमेषु भागेषु गतेषु[4] सत्सु एकस्मिन् भागेऽवतिष्ठमानेऽनन्तानुबन्धिनामधस्तादावलिकामात्रं मुक्त्वाऽन्तर्मुहूर्त-प्रमाणमन्तरकरणमभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेनान्तर्मुहूर्तप्रमाणेन कालेन करोति, अन्तरकरणसत्कं [5] दलिकमुत्कीर्यमाणं परप्रकृतिषु बध्यमानासु प्रक्षिपति, प्रथमस्थितिगतं च दलिकमावलिकामात्रं वेद्यमानासु परप्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति । अन्तरकरणे कृते सति द्वितीये समयेऽन-न्तानुबन्धिनामुपरितनस्थितिगतं दलिकमुपशमयितुमारभते । तद्यथा–प्रथमसमये स्तोकमुपश-मयति, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं यावदन्तर्मुहूर्तम् । एतावता च कालेन साकल्यतोऽनन्तानुबन्धिन उपशमिता भवन्ति । उपशमिता नाम–यथा रेणुनिकरः सलिलबिन्दुनिवहैरभिषिच्य अभिषिच्य द्रुघणादि[6]भिर्निकुट्टितो निःस्यन्दो भवति, तथा कर्मरेणुनिकरोऽपि विशोधिसलिलप्रवाहेण परिषिच्य परिषिच्य अनिवृत्तिकरणरूपद्रुघ[7]णनिकुट्टितः सङ्क्रमण-उदय-उदीरणा-नि[8]धत्ति-निकाचनाकरणानामयोग्यो भवति ।

---

१ सं० १ त० म० ०षामेकरू० ॥ २ सं० १ त० ०न् प्रविष्टा० ॥ ३ सं० छा० मुद्रि० ०वृत्तिकरणमिति नाम ॥ ४ सं० १ त० म० ०षु एक० ॥ ५ सं छा० मुद्रि ०हूर्तं कालम्, एता० ॥ ६ सं० १ त० छा० म० ०भिर्निःकुट्टि० ॥ ७ सं० १ त० छा० म० ०णनिःकुट्टि० ॥ ८ छा० मुद्रि० ०धत्तनि० ॥

तदेवमेकेषामाचार्याणां मतेनानन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिहिता । अन्ये त्वाचक्षते—अनन्तानुबन्धिनामुपशमना न भवति, किन्तु विसंयोजनैव । विसंयोजना क्षपणा, सा चैवम्—

इह श्रेणिमप्रतिपद्यमाना अपि अविरताश्चतुर्गतिका [1]अपि वेदकसम्यग्दृष्टयो देशवि[2]रतास्तिर्यञ्चो मनुष्या वा सर्वविरता मनुष्या एव सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्ता अनन्तानुबन्धिनां क्षपणार्थं यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि कुर्वन्ति । करणवक्तव्यता च सर्वाऽपि प्रागिव निरवशेषा वेदितव्या । नवरमिहानिवृत्तिकरणे प्रविष्टः सन् अन्तरकरणं न करोति । उक्तं च कर्मप्रकृतौ—

[3]"चउगइया पज्जत्ता, तिन्नि वि संजोयणे विजोयंति ।
करणेहिं तीहिँ सहिया, नंतरकरणं उवसमो वा ॥ (गा० ३४३)

किन्तु कर्मप्रकृत्यभिहितस्वरूपेणोद्वलनासङ्क्रमेणाधस्तादावलिकामात्रं मुक्त्वा उपरि निरवशेषान् अनन्तानुबन्धिनो विनाशयति । आवलिकामात्रं तु स्तिबुकसङ्क्रमेण वेद्यमानासु प्रकृतिषु सङ्क्रमयति । ततोऽनन्तरमन्तर्मुहूर्तात् परतोऽनिवृत्तिकरणपर्यवसाने शेषकर्मणां स्थितिघात-रसघात-गुणश्रेणयो न भवन्ति किन्तु स्वभावस्थ एव स जीवो जायते ।

तदेवमुक्ता अनन्तानुबन्धिनां विसंयोजना, सम्प्रति दर्शनत्रिकस्योपशमना भण्यते—तत्र मिथ्यात्वस्योपशमना मिथ्यादृष्टेर्वेदकसम्यग्दृष्टेश्च । सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु वेदकसम्यग्दृष्टेरेव । तत्र मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वोपशमना प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयतः । सा चैवम्—पञ्चेन्द्रियः संज्ञी सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः करणकालात् पूर्वमप्यन्तर्मु[4]हूर्तं कालं प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्धया विशुद्धया प्रवर्धमानोऽभव्यसिद्धिकविशुद्ध्यपेक्षया अनन्तगुणविशुद्धिको मति-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानानामन्यतमस्मिन् साकारोपयोगे उपयुक्तोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्तमानो जघन्यपरिणामेन तेजोलेश्यायां मध्यमपरिमाणेन पद्मलेश्यायां उत्कृष्टपरिणामेन शुक्ललेश्यायां वर्तमानो मिथ्यादृष्टिश्चतुर्गतिकोऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा इत्यादि पूर्वोक्तं तदेव तावद् वक्तव्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणं च परिपूर्णं भवति । नवरमिहापूर्वकरणे गुणसङ्क्रमो न वक्तव्यः, किन्तु स्थितिघात-रसघात-स्थितिबन्ध-गुणश्रेणय एव वक्तव्याः, गुणश्रेणिदलिकरचनाऽप्युदयसमयादारभ्य वेदितव्या । ततोऽनिवृत्तिकरणेऽप्येवमेव वक्तव्यम् । अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् सङ्ख्येयतमे भागेऽवतिष्ठमानेऽन्तर्मुहूर्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्रथमस्थितेः किञ्चित् समधिकम् अभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेन

---

१ स० १ त० म० अपि अविरतसम्य० ॥ २ सं० १ त० म० ०रताश्च तिर्य० ॥ ३ चतुर्गतिकाः पर्याप्तास्त्रयोऽपि संयोजनान् वियोजयन्ति । करणैस्त्रिभिः सहिता नान्तरकरणमुपशमो वा ॥ ४ स० १ त० म० ०हुत्तकालं ॥

अन्तर्मुहूर्तेन कालेन करोति । अन्तरकरणसत्कं च दलिकमुत्कीर्य प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति । प्रथमस्थितौ च वर्तमान उदीरणाप्रयोगेण यत् प्रथमस्थितिगतं दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणा । यत् पुनर्द्वितीयस्थितेः सकाशाद् उदीरणाप्रयोगेणैव दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षि[1]पति सा आगाल इति । उदीरणाया एव विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इति द्वितीयं नाम पूर्वसूरिभिरावेदितम् । उदय-उदीरणाभ्यां च प्रथमस्थितिमनुभवन् तावद् गतो यावदावलिकाद्विकं शेषं तिष्ठति । तस्मिंश्च स्थिते आगालो व्यवच्छिद्यते । तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते । साऽपि तावद् यावदावलि[2]काशेषो न भवति । आवलिकायां तु शेषीभूतायामुदीरणाऽपि निवर्तते । ततः केवलेनैवोदयेनावलिकामात्रमनुभवति । आवलिकामात्रचरमसमये च द्वितीयस्थितिगतं दलिकमनुभागभेदेन त्रिधा करोति । तद्यथा—सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं चेति । उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**—

[3]चरमसमयमिच्छदिट्ठी सेकाले उवसमसम्मदिट्ठी होहिइ ताहे बिईयठिइं तिहाणुभागं करेइ, तं जहा--सम्मत्तं सम्मामिच्छत्तं मिच्छत्तं च । इति ।

ततोऽनन्तरसमये मिथ्यात्वदलिकस्योदयाभावाद् औपशमिकं सम्यक्त्वमवाप्नोति । उक्तं च—

[4]मिच्छत्तुदए झीणे, लहए सम्मत्तमोवसमियं सो ।
लंभेण जस्स[5] लब्भइ, आयहियमलद्धपुव्वं जं ।। (कर्मप्र० गा० ३३०)

एष च प्रथमसम्यक्त्वलाभो मिथ्यात्वस्य सर्वोपशमनाद् भवति । उक्तं च—

[6]सम्मत्तपढमलंभो सव्वोवसमा (कर्मप्र० गाथा० ३३५) इति ।

सम्यक्त्वं चेदं प्रतिपद्यमानः कश्चिद् देशविरतिसहितं प्रतिपद्यते, कश्चित् सर्वविरतिसहितम् । उक्तं च **पञ्चसङ्ग्रहे**--

[7]सम्मत्तेणं समगं, सव्वं देसं च कोइ पडिवज्जे । (गा० ७६०)

ततो देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयतेष्वपि मिथ्यात्वमुपशान्तं लभ्यते ।

सम्प्रति वेदकसम्यग्दृष्टेस्त्रयाणामपि दर्शनमोहनीयानामुपशमनाविधिरुच्यते—इह वेदक-

१ सं० २ ०पति सा आगाल इति । उदीरणैव पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते । उदय० । छा० मुद्रि० ०पति सा उदीरणाऽपि पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते । उदय० ॥ २ सं० १ त० छा० ०काशेषा न ॥ ३ चरमसमयमिथ्यादृष्टिः एष्यत्काले उपशमसम्यग्दृष्टिर्भविष्यति तदा द्वितीयस्थितिं त्रिधानुभागं करोति, तद्यथा—सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं च ॥ ४ मिथ्यात्वोदये क्षीणे लभते सम्यक्त्वमौपशमिकं सः । लाभेन यस्य लभते आत्महितमलब्धपूर्वं यत् ॥ ५ सं० १ त० म० मुद्रि० ०स्स लंभइ ॥ ६ सम्यक्त्वप्रथमलाभः सर्वोपशमात् ॥ ७ सम्यक्त्वेन समकं सर्वं देशं च कोऽपि प्रतिपद्येत ॥

सम्यग्दृष्टिः संयमे वर्तमानः सन् अन्तर्मुहूर्तमात्रेण कालेन दर्शनत्रितयमुपशमयति, उपशमयतश्च कर[1]णत्रिकविधिः पूर्ववत् तावद् वक्तव्यो यावदनिवृत्तिकरणाद्धायाः सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु अन्तरकरणं करोति, अन्तरकरणं च कुर्वन् सम्यक्त्वस्य प्रथमस्थितिमन्तर्मुहूर्तप्रमाणां स्थापयति, मिथ्यात्व-मिश्रयोश्चावलिका[2]मात्राम्, उत्कीर्यमाणं च दलिकं त्रयाणामपि सम्यक्त्वस्य प्रथमस्थितौ प्रक्षिपति, मिथ्यात्व-मिश्रयोः प्रथमस्थितिदलिकं सम्यक्त्वस्य प्रथम[3]स्थितिदलिकमध्ये स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति, सम्यक्त्वस्य पुनः प्रथमस्थितौ विपाकानुभवतः क्रमेण क्षीणायां सत्यामौपशमिकसम्यग्दृष्टिर्भवति । उपरितनदलिकस्य चोपशमना त्रयाणामपि मिथ्यात्वादीनामनन्तानुबन्धिनामुपरितनदलिकस्येवावसेया । एवमुपशान्तदर्शनमोहनीयत्रिकश्चारित्रमोहनीयमुपशमयितुकामः पुनरपि यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति, करणानां च स्वरूपं प्राग्वदवगन्तव्यम्, केवलमिह यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्यम्, अपूर्वकरणमपूर्वकरणगुणस्थानके, अनिवृत्तिक[4]रणमनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके । तत्र चापूर्वकरणे स्थितिघातादयः पूर्ववदेव प्रवर्तन्ते, नवरमिह सर्वासामशुभप्रकृतीनामबध्यमानानां गुणसङ्क्रमः प्रवर्तते इति वक्तव्यम् । अपूर्वकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयतमे भागे गते सति निद्रा-प्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदः । ततः प्रभूतेषु स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेषु सत्सु अपूर्वकरणाद्धायाः [5]सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवशिष्यते । अस्मिन्नन्तरे देवगति-देवानुपूर्वी-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मण-समचतुरस्र-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-वर्णादिचतुष्टया-ऽगुरुलघु–उपघात-पराघात-उच्छ्वास-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक प्रशस्तविहायोगति-स्थिर--शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-निर्माण-तीर्थकरसंज्ञितानां त्रिंशतः प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदः । ततः स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति अपूर्वकरणाद्धायाश्चरमसमये हास्य-रति-भय-जुगुप्सानां बन्धव्यवच्छेदो हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सानामुदयः सर्वकर्मणां च देशोपशमना-निधत्ति-निकाचनाकरणानि व्यवच्छिद्यन्ते । ततोऽनन्तरसमयेऽनिवृत्तिकरणं प्रविशति । अत्रापि स्थितिघातादीनि पूर्ववत् करोति । ततोऽनिवृत्तिकरणाद्धायाः सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु दर्शनसप्तकशेषाणामेकविंश[6]तेर्मोहनीयप्रकृतीनामन्तरकरणं करोति । तत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य संज्वलनस्य त्रयाणां च वेदानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य वेदस्य प्रथमा स्थितिः स्वोदयकालप्रमाणा । अन्येषां चैकादशकषायाणामष्टानां च नोकषायाणां प्र[7]थमा स्थितिरावलिकामात्रा । स्वोदयकालप्रमाणं च चतुर्णां संज्वलनानां

---

१ सं० १ त० म० ०णत्रितयवि० ॥२ सं० म० ०मात्रं उत्की० । सं० १ ०मात्रां उदीरणां उत्की० ॥३ सं० १ त० म० ०स्थितिमध्ये० ॥४ छा० ०रणं चानिवृत्तिबादरगु० ॥५ सं १ त० म० सङ्ख्येयतमा भा० ॥ ६ छा० मुद्रि० ०शतिमोह० ॥७ सं १ त० छा० म० ०थमस्थि० ॥

त्रयाणां च वेदानामिदम्—स्त्रीवेद-नपुंसकवेदयोरुदयकालः सर्वस्तोकः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः, ततः पुरुषवेदस्य सङ्ख्येयगुणः, ततोऽपि संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकः, ततोऽपि संज्वलनमानस्य विशेषाधिकः, ततोऽपि संज्वलनमायाया विशेषाधिकः, ततोऽपि संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकः।

उक्तं च—

[1]थीअपुमोदयकाला, संखेज्जगुणो उ पुरिसवेयस्स ।
[2]तत्तो वि विसेसअहिओ, कोहे तत्तो वि जहकमसो ॥ (पञ्चसं० ७९३)

तत्र संज्वलनक्रोधेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणक्रोधोपशमो न भवति तावत् संज्वलनक्रोधस्योदयः। संज्वलनमानेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणमानोपशमो न भवति तावत् संज्वलनमानस्योदयः। संज्वलनमायया चोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणमायोपशमो न भवति तावत् संज्वलनमायाया उदयः। संज्वलनलोभेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणलोभोपशमो न भवति तावत् संज्वलनलोभस्योदयः। तदेवमन्तरकरणमुपरितनभागापेक्षया सममधोभागापेक्षया चोक्तनीत्या विषममिति यावता च कालेन स्थितिखण्डं घातयति यद्वाऽन्यं स्थितिबन्धं करोति ता[3]वता कालेन अन्तरकरणमपि करोति। त्रीण्यपि युगपदारभते युगपदेव च निष्ठां नयति। तच्चान्तरं प्रथमस्थितेः सङ्ख्येयगुणम्। अन्तकरणसत्कदलिकप्रक्षेपविधिश्चायम्—येषां कर्मणां तदानीं बन्ध उदयश्च विद्यते तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति, यथा पुरुषवेदोदयारूढः पुरुषवेदस्य। येषां तु कर्मणामुदय एव केवलो न बन्धस्तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं प्रथमस्थितावेव प्रक्षिपति न द्वितीयस्थितौ, यथा स्त्रीवेदोदयारूढः स्त्रीवेदस्य। येषां पुनरुदयो न विद्यते किन्तु केवलो बन्धस्तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं [4]द्वितीयस्थितावेव क्षिपति न प्रथमस्थितौ, यथा संज्वलनक्रोधोदयारूढः शेषसंज्वलनानाम्। येषां पुनर्न बन्धो नाप्युदयस्तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं परप्रकृतिषु प्रक्षिपति यथा द्वितीयतृतीयकषायाणाम्। इहानिवृत्तिकरणे बहु वक्तव्यं तत् ग्रन्थगौरवभयाद् नोच्यते, केवलं विशेषार्थिना कर्मप्र[5]कृतिटीका निरीक्षितव्या। अन्तरकरणं च कृत्वा ततो नपुंसकवेदमुपशमयति। तं चैवम्—

---

१ स्त्रीनपुंसकवेदकालात् संख्येयगुणस्तु पुरुषवेदस्य। तस्मादपि विशेषाधिकः क्रोधस्तस्मादपि यथाक्रमशः ॥ २ सं० सं० २ छ० मुद्रि० तस्स वि विसे० ॥ ३ सं० १ त० म० ०वत्काले० ॥ ४ त० ०कं परप्रकृतिषु ॥ ५ छा० मुद्रि० ०कृतिसंग्रहणीटी० ॥

प्रथमसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुणं तावद् उपशमयति यावत् चरमसमयः; परकृतिषु[1] प्रतिसमयमुपशमितदलिकापेक्षया तावद् असङ्ख्येयगुणं प्रक्षिपति यावद् द्विचरमसमयः, चरमसमये पुनरुपशम्यमानं दलिकं परप्रकृतिषु सङ्क्रम्यमाणदलिकापेक्षयाऽसङ्ख्येयगुणं द्रष्टव्यम्। तदेवं नपुंसकवेद उपशमितः, तस्मिंश्चोपशान्तेऽष्टौ कर्माण्युपशान्तानि जातानि। तत उक्तप्रकारेणान्तमुहूर्तेन कालेन स्त्रीवेदमुपशमयति, तस्मिंश्चोपशान्ते नव। ततोऽन्तमुहूर्तेन कालेन हास्यादिषट्कमुपशमयति, तस्मिंश्चोपशान्ते पञ्चदश कर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। तस्मिन्नेव[2] च समये पुरुषवेदस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः प्रथमस्थितिव्यवच्छेदश्च। प्रथमस्थितौ च द्व्यावलिकाशेषायां प्रागुक्तस्वरूप आगालो न भवति। तस्मादेव[3] च समयादारभ्य षण्णां नोकषायाणां सत्कं दलिकं न पुरुषवेदे प्रक्षिपति किन्तु संज्वलनक्रोधादिषु, "[4]दुसु आवलियासु पढमठिईए सेसासु वि य वेओ" ॥ (कर्मप्र० गा० १०७) इति वचनात्। हास्यादिषट्कोपशमनानन्तरं च समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन पुरुषवेदं सकलमप्युपशमयति। तं चैवम्—प्रथमसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् वाच्यं यावत् समयद्वयोनावलिकाद्विकचरमसमयः; परप्रकृतिषु च प्रतिसमयं समयद्वयोनावलिकाद्विककालं यावद् यथाप्रवृत्तसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति, परं प्रथमसमये प्रभूतम्, द्वितीयसमये विशेषहीनम्, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषहीनम्, एवं तावद् वक्तव्यं यावत् चरमसमयः। पुरुषवेदे चोपशान्ते षोडश कर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। ततो यस्मिन् समये हास्यादिषट्कमुपशान्तम् पुरुषवेदस्य प्रथमस्थितिः क्षीणा ततः समयादनन्तरमप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधान् युगपदुपशमयितुमारभते। संज्वलनक्रोधस्य च प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायामप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणक्रोधदलिकं न संज्वलनक्रोधे प्रक्षिपति किन्तु संज्वलनमानादौ, "[5]तिसु आवलियासु समऊणियासु अपडिग्गहा उ संजलणा।" (कर्मप्र० गा० १०७) इति वचनात्। द्व्यावलिकाशेषायां त्वागालो न भवति, किन्तूदीरणैव केवला। साऽपि तावत् प्रवर्तते यावदावलिकाशेषो भवति। आवलिकायां च शेषीभूतायां संज्वलनक्रोधस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणौ च क्रोधावुपशान्तौ, तयोश्चोपशान्तयोरष्टादश कर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। तदानीं च संज्वलनक्रोधस्य प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां समयोनावलिकाद्विकबद्धं चोपरितनस्थितिगतं दलिकं मुक्त्वा शेषमन्यत् सर्वमुपशान्तम्, ततस्तां

१ छा० मुद्रि० ० पु च प्रति० ॥ २ सं० २ छा० ०व चरमस० ॥ ३ सं० १ त० छा० म० ०व चरमसया० ॥ ४ द्वयोरावलिकयोः प्रथमस्थितौ शेषयोरपि च वेदः ॥ ५ तिसृष्वावलिकासु समयोनासु अपतद्ग्रहास्तु संज्वलनाः ॥

प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां संज्वलनमाने स्तिबुकसङ्क्रमेण प्रक्षिपति, समयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं पुरुषवेदोक्तप्रकारेणोपशमयति सङ्क्रमयति च। ततः समयोनावलिकाद्विकेन कालेन[1] संज्वलनक्रोध उपशमितः, तस्मिंश्चोपशान्ते एकोनविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। यदा च संज्वलनक्रोधस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदस्ततोऽनन्तरसमयादारभ्य संज्वलनमानस्य द्वितीयस्थितेः सकाशाद् दलिकमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेद[2]यते च[3]। तत्रोदयसमये स्तोकं प्रक्षिपति, द्वितीयस्थितौ असङ्ख्येयगुणम्,[4]ततोऽपि तृतीयस्थितावसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् वाच्यं यावत् प्रथमस्थितेश्चरमसमयः। प्रथमस्थितिकरणप्रथमसमयादेव चारभ्य त्रीनप्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनरूपान् मानान् युगपद् उपशमयितुमारभते। संज्वलनमानस्य च प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायामप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणमानदलिकं न संज्वलनमाने प्रक्षिपति किन्तु संज्वलनमायादौ। आवलिकाद्विकशेषायां त्वागालो व्यवच्छिद्यते, तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते। साऽपि तावद् यावदावलिका[5] शेषा भवति। आवलिकायां तु शेषीभूतायां संज्वलनमानस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणौ च मानावुपशान्तौ, तयोश्चोपशान्तयोरेकविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। तस्मिंश्च समये संज्वलनमानस्य प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां समयोनावलिकाद्विकबद्धं चोपरितनस्थितिगतं दलिकं मुक्त्वा शेषमन्यत् सर्वमुपशान्तम्, ततस्तां प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां स्तिबुकसङ्क्रमेण संज्वलनमायायां प्रक्षिपति, समयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं पुरुषवेदोक्तप्रकारेणोपशमयति सङ्क्रमयति च। ततः समयोनावलिकाद्विकेन कालेन संज्वलनमान उपशमितः, तस्मिंश्चोपशान्ते द्वाविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। यदा च संज्वलनमानस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदस्ततोऽनन्तरसमयादारभ्य संज्वलनमायाया द्वितीयस्थितेः सकाशाद् दलिकमाकृष्य पूर्वोक्तप्रकारेण प्रथमां स्थितिं करोति वेदयते च, तत्समयादेव चारभ्य तिस्रोऽपि माया युगपद् उपशमयितुमारभते। संज्वलनमायायाश्च प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायामप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणमायादलिकं न संज्वलनमायायां प्रक्षिपति, किन्तु संज्वलनलोभे। आवलिकाद्विकशेषायां त्वागालो न भवति, किन्तूदीरणैव केवला। साऽपि तावत् प्रवर्तते यावदावलि[6]काशेषो भवति। आवलिकायां च शेषीभूतायां संज्वलनमायाया बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणे च माये उपशान्ते, तयोश्चोपशान्तयोश्चतुर्विंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। तस्मिंश्च समये संज्वलनमायायाः प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां समयोनावलिकाद्विकबद्धं चोपरितनस्थितिगतं दलिकं

---

१ सं० सं० १ सं० २ त० छा० म० ०न का० ॥ २ सं० छा० मुद्रि० ०यति ॥ ३ सं० १ च। प्रथमस्थितिकरण० ॥ ४ त० म० ततस्तृ० ॥ ५ सं० २ त० म० ०काशेषो भव०। ०सं० १ ०काशेषो न भव० ॥ ६ छा० मुद्रि० ०काशेषा न भव० ॥

मुक्त्वा शेषमन्यत् सर्वमुपशान्तम्, ततस्तां प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां स्तिबुकसङ्क्रमेण संज्वलनलोभे सङ्क्रमयति, समयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं पुरुषवेदोक्तप्रकारेणोपशमयति सङ्क्रमयति च । ततः समयोनावलिकाद्विकेन कालेन संज्वलनमाया उपशान्ता, तस्यां चोपशान्तायां पञ्चविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति । यदा च संज्वलनमाया बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदस्ततोऽनन्तरसमयादारभ्य संज्वलनलोभस्य द्वितीयस्थितेः सकाशाद् दलिकमाकृष्य लोभवेदकाद्धात्रिभागद्वयप्रमाणां प्रथमस्थितिं पूर्वोक्तप्रकारेण करोति वेदयते च । प्रथमश्च[1] त्रिभागोऽश्वकर्णकरणाद्धासंज्ञः, द्वितीयः किट्टिकरणाद्धासंज्ञः । प्रथमे चाश्वकर्णकरणाद्धासंज्ञे त्रिभागे वर्तमानः पूर्वस्पर्धकेभ्यो दलिकमादायापूर्वस्पर्धकानि करोति ।

अथ किमिदं स्पर्धकम् ? इति उच्यते--इह तावदनन्तानन्तैः परमाणुभिर्निष्पन्नान् स्कन्धान् जीवः कर्मतया गृह्णाति । तत्र चैकैकस्मिन् स्कन्धे यः सर्वजघन्यरसः परमाणुस्तस्यापि रसः केवलिप्रज्ञया च्छिद्यमानः सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् रसाविभागान् प्रयच्छति, अपरस्तु तान[2]प्येकाधि[3]कान्, अन्यस्तु द्व्यधिकान्, एवमेकोत्तरया वृद्ध्या तावद् नेयं यावदन्यः परमाणुः सिद्धानन्तभागाधिकान् रसाविभागान् प्रयच्छति । तत्र जघन्यरसा ये केचन परमाणवस्तेषां समुदायः समानजातीयत्वादेका वर्गणेत्युच्यते । अन्येषां त्वेकाधिकरसाविभागयुक्तानां समुदायो द्वितीया वर्गणा, अपरेषां तु द्व्यधिकरसाविभागयुक्तानां समुदायस्तृतीया वर्गणा, एवमनया दिशा एकैकरसाविभागवृद्धानामणूनां समुदायरूपा वर्गणाः सिद्धानामनन्तभागकल्पा अभव्येभ्योऽनन्तगुणा वाच्याः । एतासां च समुदायः स्पर्धकमित्युच्यते, स्पर्धन्त इवोत्तरो[4]त्तरवृद्ध्या परमाणुवर्गणा अत्रेति कृत्वा ।

इत ऊर्ध्वमेकोत्तरया निरन्तरवृद्ध्या प्रवर्द्धमानो रसो न लभ्यते किन्तु सर्वजीवानन्तगुणैरेव रसाविभागैः, ततस्तेनैव क्रमेण ततः प्रभृति द्वितीयं स्पर्धकमभिधानीयम्, एवमेव च तृतीयम्, एवं तावद् वाच्यं यावदनन्तानि स्पर्धकानि भवन्ति । एतानि च पूर्वं कृतत्वात् पूर्वस्पर्धकान्यभिधीयन्ते । तत एतेभ्य इदानीं प्रतिसमयं दलिकं गृहीत्वा तस्य चात्यन्तहीनरसतामापाद्य अपूर्वाणि स्पर्धकानि करोति । आसंसारं हि परिभ्रमता न कदाचनापि बन्धमाश्रित्येदृशानि स्पर्धकानि कृतानि, किन्तु सम्प्रत्येव विशुद्धिप्रकर्षवशात् करोति, ततोऽपूर्वाणीत्युच्यन्ते ।

अश्वकर्णकरणाद्धायां च गतायां किट्टिकरणाद्धायां प्रविशति । तत्र च पूर्वस्पर्धकेभ्योऽपूर्वस्पर्धकेभ्यश्च दलिकं गृहीत्वा प्रतिसमयमनन्ताः किट्टीः करोति । किट्टयो नाम पूर्वस्पर्धकाऽपूर्वस्पर्धकेभ्यो वर्गणा गृहीत्वा तासामनन्तगुणहीनरसतामापाद्य बृहदन्तरालतया यद् व्यव-

---

१ सं० १ त० म० ०श्च त्रिभा० ॥ २ छा० प्येकादिभागाधिकान् । एवमे० ॥ ३ सं० १ सं० २ त० म० ०कान् एवमे० ॥ ४ सं० १ त० म० ०त्तररसवृ० ॥

स्थापनम् , यथा– [1]यासामनन्तानन्तानामप्यसत्कल्पनयाऽनुभागभागानां शतमेकोत्तरं द्वयुत्तरं वाऽऽसीत् १०१–१०२ तासामेवानुभागभागानां पञ्चकं पञ्चदशकं पञ्चविंशतिरिति । किट्टिकरणाद्धा[2]याश्चरमसमये युगपद् अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणलोभावुपशान्तौ भवतः । तत्समयमेव च संज्वलनलोभबन्धव्यवच्छेदो बादरसंज्वलनलोभोदय-उदीरणाव्यवच्छेदोऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकव्यवच्छेदश्च । तदेवमनिवृत्तिबादरे सप्तभ्य आरभ्य पञ्चविंशतिं यावद् उप[3]शान्तानि कर्माणि लभ्यन्ते । तथा चाह—

[4]सत्तऽट्ठ नव य पनरस, सोलस अट्ठारसेव इगुवीसा ।
एगाहि दु चउवीसा, पणवीसा बायरे जाण ॥ सुगमा[5] ॥

अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणलोभोपशान्तौ च सप्तविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति । तानि च सूक्ष्मसम्पराये प्राप्यन्ते । आह च—

सत्तावीसं सुहुमे, अट्ठावीसं पि मोहपयडीओ ।
उवसंतवीयरागे, उवसंता होंति नायव्वा ॥

'सूक्ष्मे' सूक्ष्मसम्पराये सप्तविंशतिकर्माण्युप[6]शान्तानि लभ्यन्ते । सूक्ष्मसम्परायाद्धा चान्तर्मुहूर्तप्रमाणा । सूक्ष्मसम्परायाद्धायां च प्रविष्टः सन् उपरितनस्थितेः सकाशात् कतिपयाः किट्टीः समाकृष्य प्रथमस्थितिं सूक्ष्मसम्परायाद्धातुल्यां करोति वेद[7]यति च । शेषं च सूक्ष्मकिट्टीकृतं दलिकं समयोनावलिकाद्विकबद्धं चोपशमयति । सूक्ष्मसम्परायाद्धायाश्चरमसमये संज्वलनलोभ उपशान्तो भवति । तत्समयमेव च ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चक-यशःकीर्ति-उच्चैर्गोत्राणां बन्धव्यवच्छेदः । ततोऽनन्तरसमये उपशान्तकषायो भवति । तस्मिंश्चोपशान्तकषाये वीतरागेऽष्टाविंशतिरपि मोहनीयप्रकृतय उपशान्ता ज्ञातव्याः ।

उपशान्तकषायश्च जघन्येनैकं समयं भवति, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् , तत ऊर्ध्वं नियमादसौ प्रतिपतति । प्रतिपातश्च द्विधा—भवक्षयेण अद्धाक्षयेण च । तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य, अद्धाक्षय उपशान्ताद्धायां समाप्तायाम् । अद्धाक्षयेण च प्रतिपतन् यथैवारूढस्तथैव प्रतिपतति, यत्र यत्र बन्ध-उदय-उदीरणा व्यवच्छिन्नास्तत्र तत्र प्रतिपतता सता ते आरभ्यन्त इति यावत् । प्रतिपतंश्च तावत् प्रतिपतति यावत् प्रमत्तसंयतगुणस्थानकम् । कश्चित् पुनस्त-

१ स० सं० १ त० म० यासामेवासत्क० ॥ २ छा० मुद्रि० ०याश्च चर० ॥ ३ स० १ त० म० ०शान्तकर्मा० ॥ ४ सप्ताष्ट नव च पञ्चदश षोडश अष्टादशैव एकविंशतिः । एकाधिकद्वौ चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिर्बादरे जानीहि ॥ ५ स० १ त० म० ०मा ॥ अत्रापत्या० ॥ ६ स० १ त० म० ०नि भवन्ति ॥ ७ सं० छा० मुद्रि० ०यते च ॥

तोऽप्यधस्तनं गुणस्थानकद्विकं याति, कोऽपि सासादनभावमपि । यः पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि बन्धनादीनि करणानि प्रवर्तयतीत्येष विशेषः ।

उत्कर्षतश्चैकस्मिन् भवे द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते । यश्च द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात् तस्मिन् भवे क्षपकश्रेण्यभावः । यः पुनरेकं वारं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिर्भवेदपि । उक्तं च चूर्णौ—

[1]जो दुवे वारे उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि, जो एक्कसिं उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी होज्ज वा । इति ।

आगमाभिप्रायेण त्वेकस्मिन् भवे एकामेव श्रेणिं प्रतिपद्यते । तदुक्तम्—

मोहोपशम एकस्मिन् , भवे द्विः स्यादसन्ततः ।
यस्मिन् भवे तूपशमः, क्षयो मोहस्य तत्र न ।। इति ।।६२।।

तदेवमुक्ता सप्रपञ्चमुपशमश्रेणिः । सम्प्रति[2] क्षपकश्रेणिमभिधातुकाम आह—

पढमकसायचउक्कं, [3]एत्तो मिच्छत्तमीससम्मत्तं ।
अविरय देसे विरए, पम[4]त्ति अपमत्ति खीयंति ।।६३।।

इह यः क्षपकश्रेणिमारभते सोऽवश्यं मनुष्यो वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमानः । स च प्रथमतः 'प्रथमकषायचतुष्कम् ' अनन्तानुबन्धिसंज्ञं विसंयोजयति । तद्विसंयोजना च प्रागेवोक्ता । ततः इतः प्रथमकषायचतुष्कक्षयादनन्तरं मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्वानि क्षपयति । सूत्रे चैकवचनं समाहारविवक्षणात्, समाहारविवक्षा चामीषां त्रयाणामपि युगपत् क्षपणाय यतते इति ज्ञाप[5]नार्था । मिथ्यात्वादीनि च क्षपयन् यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणान्यारभते । करणानि च प्रागिव वक्तव्यानि । नवरमपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽनुदितयोर्मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोर्दलिकं गुणसङ्क्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति । उद्वलनासङ्क्रममपि तयोरेवमारभते, तद्यथा-प्र[6]थमस्थितिखण्डं बृहत्तरमुद्वलयति, ततो द्वितीयं विशेषहीनम्, ततोऽपि तृतीयं विशेषहीनम्, एवं तावद् वाच्यं यावदपूर्वकरणचरमसमयः । अपूर्वकरणप्रथमसमये च यत् स्थि[7]तिसत्कर्म आसीत् तत् तस्यैव चरमसमये सङ्ख्येयगुणहीनं जातम् । ततोऽनिवृत्तिकरणे प्रविशति, तत्रापि स्थितिघाता[8]दीन् सर्वानपि तथैव करोति । अनिवृत्तिकरणप्रथमसमये च दर्शनत्रिकस्यापि देशोपशमना-निधत्ति-

---

१ यो द्वौ वारौ उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात् तस्मिन् भवे क्षपकश्रेणिर्नास्ति, य एकवारं उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिर्भवेद् वा ।। २ सं० छा० मु० द्वि० ०ति श्रेणिप्रस्तावात् क्षप० ।। ३ सं० १ त० म० इत्ते ।। ४ सं० सं० २ छा० ०मते अपमत्ते खीं० । सं० १ त० म० ०मत्त अपमत्त खी० ।। ५ सं० १ त० म० छा० ०नार्थम्० ।। ६ त० मं० ०थम स्थि० ।। ७ सं० १ त० छा० म० ०तिकर्म ।। ८ सं० १ त० ०दीनि म० ।।

निकाचना व्यवच्छिद्यन्ते । दर्शनमोहनीयत्रिकस्य च स्थितिसत्कर्म अनिवृत्तिकरणप्रथमसमयादारभ्य स्थितिघातादिभिर्घात्यमानं घात्यमानं स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेष्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानं भवति, ततः स्थितिखण्डसहस्रपृथक्त्वे गते सति चतुरिन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम्, ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु त्रीन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम्, ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु द्वीन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम्, ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेष्वेकेन्द्रियसत्कर्मस्थितिसमानम्, ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु पल्यो[1]पमासङ्ख्येयभागप्रमाणं भवति । ततस्त्रयाणामपि प्रत्येकमेकैकं सङ्ख्येयभागं मुक्त्वा शेषं सर्वमपि घातयति । ततस्तस्यापि प्राग्मुक्तस्य सङ्ख्येयभागस्यैकं सङ्ख्येयतमं भागं मुक्त्वा शेषं सर्वं विनाशयति । एवं स्थितिघाताः सहस्रशो व्रजन्ति । तदनन्तरं च मिथ्यात्वस्यासङ्ख्येयान् भागान् खण्डयति, सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु सङ्ख्येयान् । तत एवं स्थितिखण्डेषु प्रभूतेषु गतेषु सत्सु मिथ्यात्वस्य दलिकमावलिकामात्रं जातम्, सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रम् । अमूनि च स्थितिखण्डानि खण्ड्यमानानि मिथ्यात्वसत्कानि सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोः प्रक्षिपति, सम्यग्मिथ्यात्वसत्कानि सम्यक्त्वे, सम्यक्त्वसत्कानि स्वधस्तात् स्वस्थाने इति । तदपि च मिथ्यात्वदलिकमावलिकामात्रं स्तिबुकसङ्क्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति । तदनन्तरं सम्यक्त्व—सम्यग्मिथ्यात्वयोरसङ्ख्येयान् भागान् खण्डयति, एकोऽवशिष्यते; ततस्तस्याप्यसङ्ख्येयान् भागान् खण्डयति, एकं मुञ्चति; एवं कतिपयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सम्यग्मिथ्यात्वमप्यावलिकामात्रं जातम् । तदानीं सम्य[2]क्त्वस्य स्थितिसत्कर्म वर्षाष्टकप्रमाणं भवति । तस्मिन्नेव च काले सकलप्रत्यूहापगमतो निश्चयमतेन दर्शनमोहनीयक्षपक उच्यते । तत ऊर्ध्वं सम्यक्त्वस्य स्थितिखण्डं अन्तर्मुहूर्तप्रमाणमुत्किरति, तद्दलिकं तूदयसमयादारभ्य प्रक्षिपति । केवलमुदयसमये सर्वस्तोकम्, ततो द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् वक्तव्यं यावद् गुणश्रेणीशिरः । तत ऊर्ध्वं तु विशेषहीनं विशेषहीनम् यावच्चरमा स्थितिः । एवमा[3]न्तर्मुहूर्तिकान्यनेकानि खण्डान्युत्किरति निक्षिपति च । तानि च तावद् यावद् द्विचरमं[4] स्थितिखण्डम् । द्विचरमात्तु स्थितिखण्डाद् चरमखण्डं सङ्ख्येयगुणम् । चरमे च स्थितिखण्डे उत्कीर्णे सति असौ क्षपकः कृतकरण इत्युच्यते । अस्यां च कृतकरणाद्धायां वर्तमानः कश्चित् कालमपि कृत्वा चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते । लेश्यायामपि च पूर्वं शुक्ललेश्यायामासीत्, सम्प्रति त्वन्यतमस्यां गच्छति । तदेवं प्रस्था[5]पको मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु भवति ।

---

१ सं० सं० २ छा० ०पमसंख्ये० ॥ २ सं० १ त० म० ०क्त्वस्थिति० ॥ ३ सं० १ त० म० ०न्तर्मोहूर्तिका० ॥ ४ सं० १ त० म० ०रमस्थिति० ॥ ५ सं० १ त० म० ०पको भूत्वा म० ॥

उक्तं च—

[1]पट्ठवगो उ मणूसो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु ॥

इह यदि बद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभते अनन्तानुबन्धिनां च क्षयादनन्तरं मरणसम्भवतो व्युपरमते, ततः कदाचिद् मिथ्यात्वोदयाद् भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिन उपचिनोति, तद्बीजस्य मिथ्यात्वस्याविनाशात् । क्षीणमिथ्यादर्शनस्तु नोपचिनोति, बीजाभावात् । क्षीणसप्तकस्त्वप्रतिपतितपरिणामोऽवश्यं त्रिदशेषूत्पद्यते । प्रतिपतितपरिणामस्तु नानापरिणामसम्भवाद् यथापरिणाममन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते । उक्तं च—

[2]बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमकसायक्खए जइ मरिज्जा ।
तो मिच्छत्तोदयओ, चिणिज्ज भूयो न खीणम्मि ॥
तम्मि मओ जाइ दिवं, तप्परिणामो य सत्तए खीणे ।
उवरयपरिणामो पुण, पच्छा नाणा[3] मइगईओ ॥ (विशेषा० गा० १३१६–१७)

बद्धायुष्कोऽपि यदि तदानीं कालं न करोति तथापि सप्तके क्षीणे नियमादवतिष्ठते, न तु चारित्रमोहक्षपणाय यत्नमारभते, यत आह—

[4] बद्धाऊ पडिवन्नो, नियमा खीणम्मि सत्तए ठाइ । (विशेषा० गा० १३२५)

[5]अथोच्येत–क्षीणसप्तको गत्यन्तरं सङ्क्रामन् कतितमे भवे मोक्षमुपयाति ? उच्यते–तृतीये चतुर्थे वा भवे । तथाहि–यदि देवगतिं नरकगतिं वा सङ्क्रामति ततो देवभवान्तरितो नरकभवान्तरितो वा तृतीयभवे मोक्षमुपयाति । अथ तिर्यक्षु मनुष्येषु वा मध्ये समुत्पद्यते तर्हि सोऽवश्यमसङ्ख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये गच्छति न सङ्ख्येयवर्षायुष्केषु, ततस्तद्भवानन्तरं देवभवे, तस्माच्च देवभवात् च्युत्वा मनुष्यभवे, ततो मोक्षं यातीति चतुर्थभवे मोक्षगमनम् । उक्तं च पञ्चसङ्ग्रहे—

[6]तइय चउत्थे तम्मि व, भवम्मि सिज्झंति दंसणे खीणे ।
जं देवनिरयऽसंखाउचरिमदेहेसु ते होंति ॥ (गा० ७७९)

एतानि च सप्त कर्माणि क्षपयन्ति अविरतसम्यग्दृष्टिः देशविरतः प्रमत्तोऽप्रमत्तो वा, तत एतेषु चतुर्ष्वपि सप्तकक्षयः प्राप्यते । तथा चाह सूत्रकृत्—"अवि[7]रय"[8] इत्यादि । अविरते

१ प्रस्थापकस्तु मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु ॥ २ बद्धायुः प्रतिपन्नः प्रथमकषायक्षये यदि म्रियेत । ततो मिथ्यात्वोदयतः चिनुयाद् भूयो न क्षीणे ॥ तस्मिन् मृतो याति दिवं तत्परिणामश्च सप्तके क्षीणे । उपरतपरिणामः पुनः पश्चाद् नानामतिगतिकः ॥ ॥ ३ सं० १ त० म० ०णागइमईओ ॥ ४ बद्धायुः प्रतिपन्नो नियमात् क्षीणे सप्तके तिष्ठति ॥ ५ छा० मुद्रि० ०थोच्यते–क्षी० ॥ ६ तृतीये चतुर्थे तस्मिन् वा भवे सिध्यन्ति दर्शने क्षीणे । यद् देव-निरयाऽसङ्ख्यायुःचरमदेहेषु ते भवन्ति ॥ ७ छा० मुद्रि० ०यरि्त अ० ॥ ८ सं० सं० १ सं० २ त० म० ०(इ" इ० ॥

'देशे' देशविरते प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रथमकषायचतुष्कादीनि सप्त कर्माणि 'क्षीयन्ते' क्षयमुपयान्ति।

यदि पुनरबद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभते ततः सप्तके क्षीणे नियमादनुपरतपरिणाम एव चारित्रमोहनीयक्षपणाय यत्नमारभते। यत आह **भाष्यकृत्**—

[1]इयरो अणुवरओ चिय, सयलं सेढिं समाणेई ॥ (विशेषा० गा० १३२५)

चारित्रमोहनीयं च क्षपयितुं यतमानो यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति, तद्यथा—यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरणं च। एषां च स्वरूपं पूर्ववदेवावगन्तव्यम्। नवरमिह यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्यम्, अपूर्वकरणमपूर्वकरणगुणस्थानके, अनिवृत्तिकरणमनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके। तत्रापूर्वकरणे स्थितिघातादिभिरप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-कषायाष्टकं तथा क्षपयति स्म यथा अनिवृत्तिकरणा[2]द्धायाः प्रथमसमये तत् पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रस्थितिकं जातम्। अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु स्त्यानर्द्धित्रिक-नरकगति-तिर्यग्गति-नरकानुपूर्वी-तिर्यगानुपूर्वी-एक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियजाति-स्थावरा-ऽऽतप उद्योत-सूक्ष्म-साधारणरूपाणां षोडशप्रकृतीनामुद्वलनासङ्क्रमेणोद्वल्यमानानां पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रा स्थितिर्जाता। ततो बध्यमानासु प्रकृतिषु तानि षोडश कर्माणि गुणसङ्क्रमेण प्रतिसमयं प्रक्षिप्यमाणानि प्रक्षिप्यमाणानि निःशेषतः क्षीणानि भवन्ति। इहाप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकं पूर्वमेव क्षपयितुमारब्धं परं तद् नाद्यापि क्षीणम्, केवलमपान्तराल एव पूर्वोक्तप्रकृतिषोडशकं क्षपितम् ततः पश्चात् तदपि कषायाष्टकमन्तर्मुहूर्तमात्रेण क्षपयति। तथा चाह—

अनियट्टिबायरे थीणगिद्धितिगनिरयतिरियनामाओ।
संखेज्जइमे सेसे, तप्पाओग्गाओ खीयंति ॥
एत्तो हणइ कसायट्ठगं पि

अनिवृत्तिबादरे गुणस्थानके सङ्ख्येयतमे भागे शेषे स्त्यानर्द्धित्रिकं 'नरय-तिरियनामसंज्ञी' निरयगति-तिर्यग्गतिनाम्नी 'तत्प्रायोग्याश्च' निरयगति-तिर्यग्गतिप्रायोग्याश्च एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजाति-निरयानुपूर्वी-तिर्यगानुपूर्वी-स्थावरा-ऽऽतप-उद्योत-सूक्ष्म--साधारणरूपाः सर्वसङ्ख्यया षोडश प्रकृतयः क्षीयन्ते। ततः 'इतः' प्रकृतिषो[3]डशकक्षयादनन्तरं निःशेषतः कषायाष्टकं हन्ति ॥

अन्ये पुनराहुः—षोडश कर्माण्येव पूर्वं क्षपयितुमारभते, केवलमपान्तरालेऽष्टौ कषायान् क्षपयति, पश्चात् षोडश कर्माणीति। ततोऽन्तर्मुहू[4]र्तमात्रेण नवानां नोकषायाणां चतुर्णां

---

१ इतरोऽनुपरत एव सकलां श्रेणिं समापयति ॥ २ सं० सं० २ ०द्धायाः प्रथ० ॥ ३ सं० १ त० छा० म० ०डशक्षया० ॥ ४ छा० ०र्तप्रमाणेन नवा० ॥

संज्वलनानामन्तरकरणं करोति । तच्च कृत्वा नपुंसकवेददलिकमुपरितनस्थितिगतमुद्वलनविधिना क्षपयितुमारभते तच्चान्तर्मुहूर्तमात्रेण[1] पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रं जातम् । ततः प्रभृति बध्यमानासु प्रकृतिषु गुणसङ्क्रमेण दलिकं प्रक्षिपति । तच्चैवं प्रक्षिप्य[2]माणमन्तर्मुहूर्तमात्रेण निःशेषं क्षीणम् । अधस्तनदलिकं च यदि नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिमारूढस्ततोऽनुभवतः क्षपयति, अन्यथा त्वावलिकामात्रं तद् भवति, तच्च वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति । तदेवं क्षपितो नपुंसकवेदः । ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण स्त्रीवेदोऽप्यनेनैव क्रमेण क्षप्यते । ततः षड् नोकषायान् युगपत् क्षपयितुमारभते । ततः प्रभृति च तेषामुपरितनस्थितिगतं दलिकं न पुरुषवेदे सङ्क्रमयति, किन्तु संज्वलनक्रोधे, तथा चाह सूत्रकृत्—

पच्छा नपुंसगं इत्थी ।

तो नोकसायछक्कं, छुभइ संजलणकोहम्मि ॥

कषायाष्टकक्षयानन्तरं पश्चात्, 'नपुंसकं' नपुंसकवेदं क्षपयति, ततः "इत्थि" त्ति स्त्रीवेदम्, ततः षड् नोकषायान् क्षपयन् तेषामुपरितनस्थितिगतं दलिकं संज्वलनक्रोधे "छुभइ" त्ति क्षिपति, न पुरुषवेदे । एतेऽपि च षड् नोकषायाः संज्वलनक्रोधे पूर्वोक्तविधिना क्षिप्यमाणाः क्षिप्यमाणा अन्तर्मुहूर्तमात्रेण निःशेषाः क्षीणाः । तत्समयमेव च पुरुषवेदस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः समयोनावलिकाद्विकबद्धं मुक्त्वा शेषदलिकस्य क्षयश्च, ततोऽसाविदानीमवेदको जातः । एवं पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम् । यदा तु नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते तदा प्रथमतः स्त्रीवेद-नपुंसकवेदौ युगपत् क्षपयति । स्त्रीवेद-नपुंसकवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धो व्यवच्छिद्यते । तदनन्तरं चावेदकः सन् पुरुषवेद-हास्यादिषट्के युगपत् क्षपयति । यदा तु स्त्रीवेदेन प्रतिपद्यते क्षपकश्रेणिं, तदा प्रथमतो नपुंसकवेदम्, ततः स्त्रीवेदम्, स्त्रीवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदः । ततोऽवेदकः पुरुषवेद-हास्यादिषट्के युगपत् क्षपयति ॥

सम्प्रति पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नमधिकृत्य प्रस्तुतमभिधीयते—क्रोधं वेदयमानस्य सतः तस्याः क्रोधाद्धायास्त्रयो विभागा भवन्ति, तद्यथा—अश्वकर्णकरणाद्धा किट्टिकरणाद्धा किट्टिवेदनाद्धा च । तत्राश्वकर्णकरणाद्धायां वर्तमानः प्रतिसमयमनन्तानि अपूर्वस्पर्धकानि चतुर्णामपि संज्वलनानामन्तरकरणाद् उपरितनस्थितौ करोति । अस्यां चाश्वकर्णकरणाद्धायां वर्तमानः पुरुषवेदमपि समयोनावलिकाद्विकेन कालेन क्रोधे गुणसङ्क्रमेण सङ्क्रमयन् चरमसमये सर्वसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति । तदेवं क्षीणः पुरुषवेदः । अश्वकर्णकरणाद्धायां च समाप्तायां किट्टिकरणाद्धायां प्रविशति । तत्र च प्रविष्टः सन् चतुर्णामपि संज्वलनानामुपरितनस्थितिगतस्य दलिकस्य किट्टीः

१ सं० हूर्तेन पल्यो० । छा० ०हूर्तेप्रमाणेन पल्यो० ॥ २ सं० सं० १ ०माणं प्रक्षिप्यमाणमन्त० ॥

करोति। ताश्च किट्टयः परमार्थतोऽनन्ता अपि [1]स्थूरजातिभेदापेक्षया द्वादश कल्प्यन्ते । एकैकस्य च कषायस्य तिस्रस्तिस्रः, तद्यथा—प्रथमा द्वितीया तृतीया च। एवं क्रोधेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम् । यदा तु मानेन प्रतिपद्यते, तदा उद्वलनविधिना क्रोधे क्षपिते सति त्रयाणां पूर्वक्रमेण नव किट्टीः करोति । मायया चेत् प्रतिपन्नस्तर्हि क्रोध-मानयोरुद्वलनविधिना क्षपितयोः सतोः शेषद्विकस्य पूर्वक्रमेण षट् किट्टीः करोति । यदि पुनर्लोभेन प्रतिपद्यते तत उद्वलनविधिना क्रोधादित्रिके क्षपिते सति लोभस्य किट्टित्रिकं करोति । एष किट्टीकरणविधिः । किट्टीकरणाद्धायां निष्ठितायां क्रोधेन प्रतिपन्नः सन् क्रोधस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथम[2]स्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । ततोऽनन्तरसमये द्वितीयकिट्टीदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथम[3]स्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथम[4]स्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्र शेषः । तिसृष्वपि चामूषु किट्टिवेदनाद्धासूपरितनस्थितिगतं दलिकं गुणसङ्क्रमेणापि प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुणवृद्धिलक्षणेन संज्वलनमाने प्रक्षिपति । तृतीयकिट्टिवेदनाद्धायाश्च चरमसमये संज्वलनक्रोधस्य बन्ध-उदय-उदीरणानां युगपद् व्यवच्छेदः, सत्कर्माऽपि च तस्य समयोनावलिकाद्विकबद्धं मुक्त्वा अन्यद् नास्ति, सर्वस्य माने प्रक्षिप्तत्वात् । ततोऽनन्तरसमये मानस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथम[5] स्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावदन्तमुहूर्तम् । क्रोध[6]स्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति तस्य सम्बन्धि दलिकं समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसङ्क्रमेण सङ्क्रमयन् चरमसमये सर्वसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति । मानस्यापि च प्रथमकिट्टिदलिकं प्रथमस्थितीकृतं वेद्यमानं वेद्यमानं समयाधिकावलिकाशेषं जातम् । ततोऽनन्तरसमये मानस्य द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । तस्मिन्ने[7]व च समये मानस्य बन्ध-उदय-उदीरणानां युगपद् व्यवच्छेदः, सत्कर्माऽपि च तस्य समयोनावलिकाद्विकबद्धमेव, शेषस्य, मायायां प्रक्षिप्तत्वात् । ततो मायायाः प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावदन्तमुहूर्तम् । मानस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति तस्य सम्बन्धि दलिकं समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसङ्क्रमेण मायायां प्रक्षिपति । मायाया अपि च प्रथमकिट्टि-

१ सं १ त० म० स्थूलजा० ॥ २ त० छा० म० ०स्थितिगतं क० ॥ ३-४-५ त० म० स्थितिगतं क० ॥ ६ सं० त० १ म० ०धस्य च ॥ ७ सं १ त० म० ०व चरमस० ।

दलिकं द्वितीयस्थितिगतं प्रथमस्थितीकृतं वेद्यमानं वेद्यमानं समयाधिकावलिकाशेषं जातम्। ततोऽनन्तरसमये मायाया द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। तस्मिन्नेव च समये मायाया बन्ध-उदय-उदीरणानां युगपद् व्यवच्छेदः, सत्कर्माऽपि च तस्याः समयोनावलिकाद्विक[1]बद्धमात्रमेव, शेषस्य गुणसङ्क्रमेण लोभे प्रक्षिप्तत्वात्। ततोऽनन्तरसमये लोभस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावदन्तर्मुहूर्तम्। संज्वलनमायायाश्च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तस्याः सम्बन्धि दलिकं समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसङ्क्रमेण लोभे सर्वं सङ्क्रमयति। लोभस्य च प्रथमकिट्टिदलिकं प्रथमस्थितीकृतं वेद्यमानं वेद्यमानं समयाधिकावलिकामात्रं शेषं जातम्। ततोऽनन्तरसमये लोभस्य द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च। तां च वेदयमानस्तृतीयकिट्टिदलिकं गृहीत्वा सूक्ष्मकिट्टीः करोति तावद् यावद् द्वितीयकिट्टिदलिकस्य प्रथमस्थितिकृतस्य समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। तस्मिन्नेव च समये संज्वलनलोभस्य बन्धव्यवच्छेदो, बादरकषायोदयोदीरणाव्यवच्छेदोऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानककालव्यवच्छेदश्च युगपद् जायते। ततोऽनन्तरसमये सूक्ष्मकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च। तदानीमसौ सूक्ष्मसम्पराय उच्यते। पूर्वोक्ताश्चावलिकास्तृतीयतृतीयकिट्टिगताः शेषीभूताः सर्वा अपि वेद्यमानासु परप्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति, प्रथम-द्वितीयकिट्टिगताश्च यथास्वं द्वितीय-तृतीयकिट्ट्यन्तर्गता वेद्यन्ते। सूक्ष्मसम्परायश्च लोभस्य सूक्ष्मकिट्टीर्वेदयमानः सूक्ष्मकिट्टिदलिकं समयोनावलिकाद्विकबद्धं[2] च प्रतिसमयं स्थितिघातादिभिस्तावत् क्षपयति यावत् सूक्ष्मसम्परायाद्धायाः सङ्ख्ये[3]या भागा गता भवन्ति, एकोऽवशिष्यते। ततस्तस्मिन् [4]सङ्ख्येयभागे संज्वलनलोभं सर्वापवर्तनयाऽपवर्त्य सूक्ष्मसम्परायाद्धासमं करोति। सा च सूक्ष्मसम्परायाद्धा अद्याप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणा। ततः प्रभृति च स्थितिघातादयो निवृत्ताः, शेषकर्मणां तु प्रवर्तन्त एव। तां च लोभस्यापवर्तितां स्थितिमुदय-उदीरणाभ्यां वेदयमानस्तावद् गतो यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। ततोऽनन्तरसमये उदीरणा स्थिता। तत उदयेनैव केवलेन[5] तां वेदयते यावत् चरमसमयः। तस्मिंश्च चरमसमये ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क-यशःकीर्ति-उच्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकरूपाणां षोडशकर्मणां बन्धव्यवच्छेदः मो[6]हनीयस्योदय-सत्ताव्यवच्छेदश्च ॥ ६३ ॥

---

१ सं० १ त० म० ०गतमाकृष्य प्रथ० ॥ २ सं० १ त० म० ०बद्धमेव, शेषस्य लोभे प्रक्षिप्तत्वात्। ततो लोभ०॥ ३ सं० १त० म० ०ख्येयभा० ॥ ४ सं सं० २ ख्येये भा० ॥ ५ सं० १ त० म० ०न तावद् वेद० ॥ ६ सं० १ त० म० ०हनीयोदयस० ।

अमुमेवार्थं सङ्कलय्य सूत्रकृत् प्रतिपादयति—

पुरिसं कोहे कोहं, माणे माणं च छुहइ मायाए ।
मायं च छुहइ लोहे, लोहं सुहुमं पि तो हणइ ॥ ६४ ॥

व्याख्या—'पुरुषं' पुरुषवेदं बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति गुणसङ्क्रमेण 'क्रोधे' संज्वलनक्रोधे "[1]छुहइ" त्ति सङ्क्रमयति। क्रोधस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तं क्रोधं 'माने' संज्वलनमाने सङ्क्रमयति। संज्वलनमानस्यापि बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तं संज्वलनमानं गुणसङ्क्रमेण 'मायायां' संज्वलनमायायां प्रक्षिपति। संज्वलनमायाया अपि बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तां संज्वलनमायां 'लोभे' संज्वलनलोभे गुणसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति। संज्वलनलोभस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तं संज्वलन-लोभं सूक्ष्ममपि, अपिशब्दात् शेषमपि 'हन्ति' स्थितिघातादिभिर्विनाशयति। लोभे च साकल्येन विनाशिते सति अनन्तरसमये क्षीणकषायो जायते। तस्य च क्षीणकषायस्य मोहनीयवर्जानां शेष-कर्मणां स्थितिघातादयः पूर्ववत् प्रवर्तन्ते तावद् यावत् क्षीणकषायाद्धायाः [2]सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकः [3]सङ्ख्येयो भागोऽवतिष्ठते। तस्मिंश्च ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्टया-ऽन्तरायपञ्चक-निद्राद्विकरूपाणां षोडशकर्मणां स्थितिसत्कर्म सर्वापवर्तनया अपवर्त्य क्षीण-कषायाद्धासमं करोति, केवलं निद्राद्विकस्य स्वरूपापेक्षया समयन्यूनम्, कर्मत्वमात्रापेक्षया तु तुल्यम्। सा च क्षीणकषायाद्धा अद्याप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, ततः प्रभृति च तेषां स्थितिघातादयः स्थिताः, शेषाणां तु भवन्त्येव। तानि च षोडश कर्माणि निद्राद्विकहीनानि उदय-उदीरणाभ्यां वेदयमानस्तावद् गतो यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। ततोऽनन्तर-समये उदीरणा निवृत्ता। तत आवलिकामात्रं कालं यावद् उदयेनैव केवलेन वेदयते यावत् क्षीणकषायाद्धाया द्विचरमसमयः। तस्मिंश्च द्विचरमसमये निद्राद्विकं स्वरूपसत्तापेक्षया क्षीणम्, चतुर्दशानां च शेषप्रकृतीनां चरमसमये क्षयः। तथा चाह सूत्रकृत्—

खीणकसायदुचरिमे, निद्दा पयला य हणइ छउमत्थो ।
आवरणमंत[4]राए, छउमत्थो चरिमसमयम्मि ॥ व्याख्यातार्था ॥

ततोऽनन्तरसमये सयोगिकेवली भवति। स च लोकमलोकं च सर्वं सर्वात्मना परिपूर्णं पश्यति। न हि तदस्ति भूतं भवद् भविष्यद्वा यद् भगवान् न पश्यति। उक्तं च—

[5]संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं ।
तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च ॥ (आव० नि० गा० १२७)

---

१ सं० १ सं० २ म० त० छुभइ ॥ २ सं १ सं० २ त० म० संख्येयभा० ॥ ३ सं १ त० म० संख्येयभा० ॥ ४ सं० सं० १ ०राये छ० ॥ ५ संभिन्नं पश्यन् लोकमलोकं च सर्वतः सर्वम्। तद् नास्ति यद् न पश्यति भूतं भव्यं भविष्यच्च ॥

इत्थम्भूतश्च सयोगिकेवली जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतो देशोनां पूर्वकोटीं विहृत्य कश्चित् कर्मणां समीकरणार्थं समुद्घातं करोति, यस्य वेदनीयादिकमायुषः सकाशादधिकतरं भवति। अन्यस्तु न करोत्येव। तथा चोक्तं **प्रज्ञापनायाम्**--

[1]'सव्वे वि णं भंते! केवली समुग्घायं गच्छंति? गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे।

जस्साउएण तुल्लाइं, बंधणेहिं ठिईहि य।
भवोवग्गहकम्माइं, न समुग्घायं स गच्छइ॥
अगंतूणं समुग्घायमणंता केवली जिणा।
जरमरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगइं गया॥ (पत्र ६०१--१)

अत्र "बंधणेहिं" ति बध्यन्ते इति बन्धनाः--कर्मपरमाणवः, कृत् "बहुलम्" (सिद्ध-हे० ५-१-३) इति वचनात् कर्मण्यनट् प्रत्ययः तैः, शेषं सुगमम्।

गत्वा चागत्वा च समुद्घातं भवोपग्राहिकर्मक्षपणाय लेश्यातीतमत्यन्ताप्रकम्पं परमनिर्जराकारणं ध्यानं प्रतिपित्सुर्योगनिरोधायोपक्रमत एव। तत्र पूर्वं बादरकाययोगेन बादरमनोयोगं निरुणद्धि, [2]ततो बादरवाग्योगम्, ततः सूक्ष्मकाययोगेन बादरकाययोगम्, ततस्तेनैव सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्ममनोयोगम्, ततः सूक्ष्मवाग्योगम्, ततः सूक्ष्मकाययोगं निरुन्धानः सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति ध्यानमारोहति। तत्सामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन सङ्कुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति। तस्मिंश्च ध्याने वर्तमानः स्थितिघातादिभिरायुर्वर्जानि सर्वाण्यपि भवोपग्राहिकर्माणि तावदपवर्तयति यावत् सयोग्यवस्थाचरमसमयः। त[3]स्मिंश्च चरमसमये सर्वाण्यपि कर्माणि[4] अयोग्यवस्थासमस्थितिकानि जातानि। नवरं येषां कर्मणामयोग्यवस्थायामुदयाभावस्तेषां स्थितिं स्वरूपं प्रतीत्य समयोनां विधत्ते, कर्मत्वमात्ररूपतां [5]त्वाश्रित्यायोग्यवस्थासमा[6]नाम्। तस्मिंश्च सयोग्यवस्थाचरमसमयेऽन्यतरद्वेदनीयमौदारिक-तैजस-कार्मणशरी[7]रसंस्थानषट्क-प्रथमसंहनन-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-वर्णादिचतुष्टया-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वास-शुभा-ऽशुभविहायोगति-प्रत्येक-स्थिरा-ऽस्थिर शुभा-ऽशुभ[8] सुस्वर-दुःस्वर-निर्माणनाम्नामुदयोदीर-

---

१ सर्वेऽपि भदन्त! केवलिनः समुद्घातं गच्छन्ति? गौतम! नायमर्थः समर्थः। यस्याऽऽयुषा तुल्यानि बन्धनैः स्थितिभिश्च। भवोपग्राहिकर्माणि न समुद्घातं स गच्छति॥ अगत्वा समुद्घातमनन्ताः केवलिनो जिनाः। जरामरणविप्रमुक्ताः सिद्धिं वरगतिं गताः॥ २ सं० सं० मुद्रि० ततो वाग्यो०॥ ३ सं० १ त० छा० म० ऽस्मिंश्चरम०॥ ४ सं० १ त० म० ०णि सयो॥ ५ सं० १ त० म० ०त्वाश्रि०॥ ६ सं० छा० ०नामेव स्थितिं करोति। तस्मिं० मुद्रि० नामेव। तस्मिं॥ ७ सं० १ सं० २ त० म० ०रसम्बद्धबन्धनसंघात-संस्था०॥ ८ सं० १ त० म० ०भ-शुभा०॥ ९ सं० १ सं० २त० म० ०भ-निर्मा०॥

णाव्यवच्छेदः । ततोऽनन्तरसमयेऽयोगिकेवली भवति । अयोगिकेवली च भवस्थोऽजघन्योत्कर्षमन्तर्मुहूर्तं कालं भवति । स च तस्यामवस्थायां वर्तमानो भवोपग्राहिकर्मक्षपणाय व्युपरतक्रियमप्रतिपाति ध्यानमारोहति । एवमसावयोगिकेवली स्थितिघातादिरहितो यान्युदयवन्ति कर्माणि तानि स्थितिक्षयेणानुभवन् क्षपयति, यानि पुनरुदयवन्ति तदानीं न सन्ति तानि वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयन् वेद्यमानप्रकृतिरूपतया च वेदयमानस्तावद् याति यावदयोग्यवस्थाद्विचरमसमयः[1] ॥ ६४ ॥

देवगइसहगयाओ, [2]दुचरमसमयभवियम्मि खीयंति ।

सविवागेयरनामा, नीयागोयं पि तत्थेव ॥ ६५ ॥

देवगत्या सह गताः-स्थिताः देवगतिसहगताः, देवगत्या सह एकान्तेन बन्धो यासां ता देवगतिसहगता इत्यर्थः । कास्ताः ? इति चेद् उच्यते—वैक्रिया-ऽऽहारकशरीरे वैक्रिया-ऽऽहारकबन्धने वैक्रिया ऽऽहारकसङ्घाते वैक्रिया-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गे देवानुपूर्वी च । एता देवगतिसहगताः 'द्विचरमसमयभवसिद्धिके' इति द्वौ चरमौ समयौ यस्य भवसिद्धिकस्य स द्विचरमसमयः, स चासौ भवसिद्धिकश्च तस्मिन् द्विचरमसमयभवसिद्धिके 'क्षीयन्ते' क्षयमुपगच्छन्ति । तथा 'तत्रैव' द्विचरमसमयभवसिद्धिके 'सविपाकेतरनामानि' विपाकः-उदयः, सह विपाकेन यानि वर्तन्ते तानि सविपाकानि, तेषामितराणि-प्रतिपक्षभूतानि यानि नामानि तानि सविपाकेतरनामानि, अनुदयवत्यो नामप्रकृतय इत्यर्थः । ताश्चेमाः—औदारिक-तैजस-कार्मणशरीराणि औदारिक-तैजस-कार्मणबन्धन-सङ्घातानि संस्थानषट्कं संहननषट्कमौदारिकाङ्गोपाङ्गं वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शा मनुजानुपूर्वी पराघातमुपघातमगुरुलघु प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगती प्रत्येकमपर्याप्तकमुच्छ्वासनाम स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे सुस्वर-दुःस्वरे दुर्भगमनादेयम् यशःकीर्तिर्निर्माणमिति । तथा नीचैर्गोत्रम् , अपिशब्दादन्यतरदनुदितं वेदनीयम् । सर्वसङ्ख्यया सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतयः क्षयमुपयान्ति ॥ ६५ ॥

अन्नयरवे[3]यणीयं, मणुया[4]उय उच्चगोय नव नामे ।

वेएइ अजोगिजिणो, उक्कोस ज[5]हन्न एक्कारं ॥ ६६ ॥

'अन्यतरद् वेदनीयं' सातमसातं वा द्विचरमसमयक्षीणाद् इतरद् मनुष्यायुरुच्चैर्गोत्रं 'नव नामानि' नव नामप्रकृतीः, सर्वसङ्ख्यया द्वादश प्रकृतीर्वेदयते 'अयोगिजिनः' अयोगिकेवली । जघन्येनैकादश, ताश्च ता एव द्वादश तीर्थकरवर्जा द्रष्टव्याः ॥ ६६ ॥

---

१ स० १ त० म० ०यः ॥ ६४॥ तस्मिंश्च एताः प्रकृतयः क्षीयन्ते, तदाह—" ॥

२ अस्मत्पार्श्ववर्तिषु समग्रादर्शेषु तु—"दुचरमसमयभवियम्मि" इति मूल आदृत एव पाठः समस्ति, परं विवृतिकृद्भिः श्रीमद्भिर्मलयगिरिभिः "दुचरमसमयभवसिद्धियम्मि" इत्येतत्पदानुसारेण व्याख्यातमस्ति ॥

३ म० ०यणिज्जं ॥ ४ स० १ त० ०याऊ उ० ॥ ५ म० ०हन्नगिक्कारे ॥

'नव [1]'नाम' इत्युक्तं ततस्ता एव नव नामप्रकृतीर्दर्शयति—

मणुयगइ जाइ तस बायरं च पज्जत्तसुभग[2]माइज्जं ।
जसकित्ती तित्थयरं, नामस्स हवंति नव एया ॥ ६७ ॥

गतार्था ॥ ६७ ॥ अत्रैव मतान्तरं दर्शयति—

तच्चाणुपुव्विसहिया, तेरस भवसिद्धियस्स चरिमम्मि ।
संतंसगमुक्कोसं, जहन्नयं बारस हवंति ॥ ६८ ॥

तृतीयानुपूर्वी-मनुष्यानुपूर्वी तया सहितास्ता एव द्वादश प्रकृतयस्त्रयोदश सत्यः 'भवसिद्धिकस्य' तद्भवमोक्षगामिनः "संतं सग" त्ति सत्कर्म उत्कृष्टं भवति । जघन्यं पुनर्द्वादश प्रकृतयो भवन्ति । ताश्च द्वादश प्रकृतयस्ता एव त्रयोदश तीर्थकरनामरहिता वेदितव्याः ॥६८॥

अथ कस्मात्ते एवमिच्छन्ति ? इत्यत आह—

मणुयगइसहगयाओ, भवखित्तविवा[3]गजीववाग त्ति ।
वेयणियन्नयरुच्चं, च चरिम भवियस्स खीयंति ॥ ६९ ॥

मनुजगत्या सह गताः—स्थिता मनुजगतिसहगताः, मनुष्यगत्या सह यासामुदयस्ता मनुजगतिसहगता इत्यर्थः । किंविशिष्टास्ताः ? इत्याह—"भवखित्तविवागजीववाग" त्ति भवविपाकाः क्षेत्रविपाका, जीवविपाकाश्च । तत्र भवविपाका मनुष्यायुः, क्षेत्रविपाका मनुष्यानुपूर्वी, शेषा नव जीवविपाकाः, तथाऽन्यतरद् वेदनीयम् उच्चैर्गोत्रं च, सर्वसङ्ख्यया त्रयोदश प्रकृतयः "भविकस्य" भवसिद्धिकस्य चरमे समये क्षीयन्ते, न द्विचरमसमये । [4]ततश्चरमसमये भवसिद्धिकस्योत्कृष्टं सत्कर्म त्रयोदश प्रकृतयो जघन्यतो द्वादश भवन्तीति । अन्ये पुनराहुः—मनुष्यानुपूर्व्या द्विचरमसमय एव व्यवच्छेदः, उदयाभावात् । उदयवतीनां हि स्तिबुकसङ्क्रमाभावात् स्वस्वरूपेण चरमसमये दलिकं[5]दृश्यत एवेति युक्तस्तासां चरमसमये सत्ताव्यवच्छेदः । आनुपूर्वीनाम्नां[6] तु चतुर्णामपि क्षेत्रविपाकितया भवापान्तरालगतावेवोदयः, तेन न भवस्थस्य तदुदयसम्भवः तदसम्भवाच्चायोग्यवस्थाद्विचरमसमय एव मनुष्यानुपूर्व्याः सत्ताव्यवच्छेद इति । एतदेव मतमधिकृत्य प्राग् द्विचरमसमये सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदो दर्शितः । चरमसमये तू[7]त्कर्षतो द्वादशानां जघन्यत एकादशानामिति । ततोऽनन्तरसमये कोशबन्धमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषाद् एरण्डफलमिव भगवानपि कर्मसम्बन्धविमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभाव-

---

१ सं० १ त० म० नामा 'इ' ॥ २ स० सं० २ छा० ०मादेज्जं ॥
३ म० ०गजियविवागाओ ॥ ४ सं० १ स० २ त० म० ०मभवसि० ॥ ५ सं० १ ०कं गृह्यत एवे०
॥ ६ सं०१ त० म० ०म्नां चतु० ॥ ७ सं० १ त० म० तूत्कृष्टतो ॥

विशेषाद् ऊर्ध्वं लोकान्ते गच्छति । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाढ-स्तावतः प्रदेशानूर्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसमयाच्चान्यत् समयान्तरमस्पृशन् गच्छति ।

उक्तं चावश्यकचूर्णौ—

[1]जत्तिए जीवोऽवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उड्ढं उज्जुगं गच्छइ,
न वंकं, बीयं च समयं न फुसइ ।। (प्रथ० भा० पत्र ५८३) इति ।।

इत्थं चानेके भगवन्तः कर्मक्षयं कृत्वा तत्र गताः सन्तः सिद्धिसुखं शाश्वतं कालमनु-भवन्तोऽवतिष्ठन्ते ।। ६९ ।।

तथा चाह—

अह सुइयसयलजगसिहरमरुयनिरुवमसहावसिद्धिसुहं ।
अनिहणमव्वाबाहं, तिरयणसारं अणुहवंति ।। ७० ।।

'अथ' इत्यानन्तर्ये, कर्मक्षयादनन्तरं 'शुचिकं' एकान्तशुद्धम् , न रागादिदोषव्यामिश्रम् , तथा 'सकलं' संपूर्णम् , तथा 'जगच्छिखरं' सकलसांसारिकलोकसम्भविसुखानिकुरम्बशेखर-भूतम् , कथम् ? इति चेद् अत आह—'अरुजं' लेशतोऽपि तत्र व्याधेरभावात् , उपलक्षण-मेतत्, तत आधेरप्यभावस्तत्र द्रष्टव्यः, सांसारिकं च सुखमाधि-व्याधिसङ्कुलम् । तथा 'निरु-पमं' उपमातीतम्, नहि तत्सदृशं किञ्चिदपीह संसारेऽस्ति सुखं येन तदुपमीयते तस्माद् निरुपमम् । तथा "सहाव" त्ति स्वभावभूतम्, न संसारसुखमिव कृत्रिमम् , अतस्तत् सकल-देवा-ऽसुर-मनुजसम्भविसुखसमूहशेखरकल्पम् । इत्थम्भूतं 'सिद्धिसुखं' मोक्षसुखं 'अनिधनम्' अपर्यवसानम्, कथमपर्यवसानता ? इति चेद् अत आह—'अव्याबाधं' व्याबाधारहितम् बाधयितुमशक्यमिति भावः । तथाहि—रागादयस्तत् सुखं बाधयितुमीशाः, ते च सर्वात्मना क्षीणाः; न च क्षीणा अपि पुनः प्रादुर्भावमश्नुवते, तत्कारणकर्मपुद्गलानामभावात् ; न च तेऽपि पुद्गला भूयोऽपि बध्यन्ते, संक्लेशमन्तरेण तद्बन्धाभावात् , न च सर्वात्मना रागादिक्ले-शविप्रमुक्तस्य भूयः संक्लेशोत्थानम् , तत्कारणकर्मपुद्गलाभावात् ; अतो रागादिसंक्लेशोत्थाना-भावात् सिद्धिसुखमव्याबाधम् । पुनः तत् कथम्भूतम् ? इत्याह—'त्रिरत्नसारं त्रीणि रत्नानि-सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्रलक्षणानि तेषां सारं—फलम् । तथाहि—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राण्येव कर्मक्षयकारणम् , कर्मक्षयाच्च सिद्धिसुखसम्प्राप्तिः, अतः सिद्धिसुखं त्रिरत्नसारम् । एतेन

१ यावति जीवोऽवगाढः तावत्या अवगाहनया ऊर्ध्वं ऋजुकं गच्छति न वक्रम्, द्वितीयं च समयं न स्पृशति ।। २ स० १ त० म० व्वादिति सि० ।।

किमुक्तं भवति ?—इत्थम्भूतं सिद्धिसुखमभिलषताऽवश्यं रत्नत्रये प्रेक्षावता यत्न आस्थेयः, उपायमन्तरेणोपेयसिद्ध्यसंभवात । उपायभूतं च सिद्धिसुखस्य रत्नत्रयम् , कर्मक्षयकारणत्वात् । तथाहि—अज्ञानादिनिमित्तं कर्म, अज्ञानादिप्रतिपन्थि च ज्ञानादि, ततोऽवश्यं ज्ञानाद्यासेवायां कर्मक्षय इति । इत्थम्भूतं सिद्धिसुखं तत्र गताः सन्तः 'अनुभवन्ति' वेदयन्ते ॥ ७० ॥

इह बन्धोदयसत्कर्मणां संवेधश्चिन्तितः । सोऽपि सामान्येन, ततो बन्धोदयसत्कर्मसु विशेषजिज्ञासायामतिदेशमाह—

दुरहिगम-निउण परमत्थ-रुइर बहुभंगदिट्ठिवायाओ ।
अत्था अणुसरियव्वा, बंधोदयसंतकम्माणं ॥ ७१ ॥

दुःखेन—महता कष्टेन प्रमाण-नय निक्षेपादिभिरधिगम्यत इति दुरधिगमः, निपुणः-सूक्ष्मबुद्धिगम्यः, परमार्थः-यथावस्थितार्थः, रुचिरः[1] सूक्ष्मसूक्ष्मतरा[2]र्थभेत्तृपटुप्रज्ञानां मनःप्रह्लादकरः, बहुभङ्गः-बहुवि[3]कल्पो यो दृष्टिवादस्तस्माद् बन्धोदयसत्कर्मणां विषये 'अर्थाः' विशेषरूपाः 'अनुसर्तव्याः' ज्ञातव्याः । इह तु संक्षिप्तरुचिसत्त्वानुग्रहप्रवृत्ततया ग्रन्थगौरवभयाद् नोच्यन्ते ॥७१॥

सम्प्रत्याचार्योऽनुद्धतत्वेनात्मनोऽल्पागमत्वं ख्यापयन् शेषबहुश्रुतानां च बहुमानं प्रकटयन् प्रकरणपरिपूर्णताविधिविषये तेषां प्रार्थनां विदधान आह—

जो जत्थ अपडिपुन्नो, अत्थो अप्पागमेण बद्धो त्ति ।
तं खमिऊण बहुसुया, पूरेऊणं परिकहंतु ॥ ७२ ॥

अत्र सप्ततिकाख्ये प्रकरणे 'यत्र' बन्धे उदये सत्तायां वा योऽर्थः 'अपरिपूर्णः' खण्डः 'अल्पागमेन' अल्पश्रुतेन मया 'बद्धः' निबद्धः, इतिशब्दः समाप्तिवचनः, स च गाथापर्यन्ते वेदितव्यः । 'तम्' अपरिपूर्णमर्थं तत्र[4]बन्धादौ ममाऽपरिपूर्णार्थाभिधानलक्षणमपराधं [5]क्षमित्वा 'बहुश्रुताः' दृष्टिवादज्ञाः 'पूरयित्वा' तत्तदर्थप्रतिपादिकां गाथां प्रक्षिप्य शिष्यजनेभ्यः 'परिकथयन्तु' सामस्त्येन प्रतिपादयन्तु । बहुश्रुता हि परिपूर्णज्ञा[6]नसम्भारसम्पत्समन्विततया परोपकारकरणैकरसि[7]कमानसा भवन्ति, ततो मम शिष्याणां च परमुपकारमाधित्सवस्तेऽवश्यं ममास्फुटापरिपूर्णार्थाभिधानलक्षणमपराधं त्रिपह्य परिपूर्णमर्थं पूरयित्वा शिष्येभ्यः कथयन्तु ॥ ७२ ॥

---

१ सं० १ त० छा० ०रः-सूक्ष्मतरा० ॥ २ सं० छा० ०रार्थः तत्र पटु० । त० म० रार्थभेदपटु० ॥ ३ सं० सं० २ छा० ०कल्पो दृ० ॥ ४ सं० सं० २ छा० ०त्र तत्र बन्धा० ॥ ५ छा० क्षमयित्वा ॥ ६ सं० १ त० म० नसारसं० ॥ ७ सं० १ त० म० ०कमनसो म० ॥

निरुपममनन्तमनघं, शिवपदमधिरूढमपगतकलङ्कम् ।
दर्शितशिवपुरमार्गं, वीरजिनं नमत परमशिवम् ॥
यस्योपान्तेऽपि सम्प्राप्ते, प्राप्यन्ते सम्पदोऽनघाः ।
नमस्तस्मै जिनेशश्रीवीरसिद्धान्तसिन्धवे ॥
यैरेषा विषमार्था, सप्ततिका सुस्फुटीकृता सम्यक् ।
अनुपकृतपरोपकृतश्चूर्णिकृतस्तान् नमस्कुर्वे ॥
प्रकरणमेतद् विषमं, सप्ततिकाख्यं विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः ॥
अर्हतो मङ्गलं सिद्धान् मङ्गलं संयतानहम् ।
आशिश्रियं जिनाख्यातं धर्मं परममङ्गलम् ॥

ग्रन्थाग्रम्[1]–३८८०

1 सं० २ ०म्-३७८० ॥

❀ शुद्धिपत्रकम् ❀

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
		(प्रथम कर्मग्रन्थः)	
२	१६	पओम उवघाय	उवघायपओस
७	२६	०मिनिबध्यते	०भिनिबुध्यते
१५	२८	०त्रिशत०	०त्रिंशत०
२१	८	अनुग०	अनुयोग०
२७	६	सर्वसङ्ख्या०	सर्वसङ्ख्यया०
३१	१५	तहि	तह
३३	८	स्त्वापा०	यस्यां स्वापा०
३३	११	स्त्यानयुद्ध्दये	स्त्यानद्ध्युदये
३३	१२	रजन्य मु०	रजन्यामु०
३३	१५	०त्वान्त्रशा०	०त्वान्निशा०
४९	६	अयमत्राशय;	अयमत्राशयः
५६	२०	०मुरालगे	मुरालंगे
५७	२५	०पाङ्गवयवः	०पाङ्गावयवः
६२	२७	यतिदेमूल	यतिदेवैर्मूल०
७०	४	सायमसाय	सायमसायं
७०	१२	०गुरु०	०गुरू०
७३	१०	असुह	असुहं
७४	८	कीर्त्य०	कीर्त्त्य०
		(द्वितीय कर्मग्रन्थः)	
७७	१४	वचनाद	वचनाद्
७७	१५	वीरणि०	वीर०
८१	१५	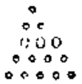	[अत्र मध्यरेखाद्वयान्तरवर्त्ति-अन्तरसूचका बिन्दवो ज्ञातव्याः, उपर्यधश्च द्वितीय-प्रथमस्थितिसंज्ञका बिन्दवः।]
९३	२५	०बधि	०बंधि
९५	७	गुणमद्धि	गुणसद्धि
१०५	२८	प्रसाद०	प्रमाद०
		(तृतीयः कर्मग्रन्थः)	
१२५	३	अहक्खा चरमचऊइ	अहक्खाइ चरमचउ
१२८	२७	कम्मभगो	कम्मणभंगो

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
		(चतुर्थः कर्मग्रन्थः)	
१४१	६	चा	च।
१४२	१०	सन्निज्जत्ते	सन्निपज्जत्ते
१४३	१५	असन्निमु	असन्निसु
१४३	१५	चपखु	चक्खु
१५०	५	०भरणा०	भरणा०
१५३	५	०छ्वारोषणं	छ्वारोपणं
१५३	१४	मज्झो	मज्झो
१५३	१६	मज्झिमओ	मज्झिमओ
१६३	२४	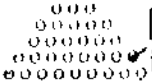	[अत्र द्वितीयपंक्तौ समबिन्दवः अन्तरस्थानसूचकतया ज्ञेयाः, अधस्तन प्रथमपंक्तिगतनत्रबिन्दवः प्रथमस्थितिरूपाः, तृतीयादिपंक्तिगताः षडादिबिन्दवः द्वितीयस्थितिरूपा ज्ञेयाः]
१६५	२८	अतिक्षधित०	अतिक्षुधित०
१७८	१०	ऽऽह्रियन्ते	ऽऽहियन्ते
१८०	७	सव्वेसि	सव्वेसिं
१८२	२०	उपशाम०	उपशम०
१८७	४	सद	सह
१८९	२६	परम	परमम्
१९०	११	माष्यकाराऽ	भाष्यकाराऽ
१९५	४	गुणस्थानक०	गुणस्थानक०
२०६	४	असख०	असंख०
२१२	२७	कस्याञ्चित्	कस्यचित्
२२०	२६	चतस्त्रो०	चतस्रो०
२३०	३	पद्माङ्ग	पद्माङ्गं
२३०	७	शपि०	शीर्ष०
२३२	२	रन्तराय० कर्म०	रन्तराय[ादि]कर्म०
२३६	१०	प्ररूपण०	प्ररूपणा०

[पंचम व षष्ठ कर्मग्रन्थः]

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१	२१	सम्बन्ध	सम्बन्धो
१	२५	सर्वातिन्यश्चे०	सर्वघातिन्य श्चे०
२	२३	घातत्वं	घातित्वं
७	२६	यादत्र०	यावद०
८	६	सुःस्वरा०	दुःस्वरा०
१२	१०	नांमयसंत	नोमयसंते
१६	२६	विषयो	विषयो घातित्वे
१७	२	देवगति०-	देवानुपूर्वी-
१७	२०	नाराच०	नाराचा०
२०	७	जान०	जिन०
२०	१३	०श्रतस्रः	०श्रतस्रः
२०	२५	०दिनि	०दीनि०
२२	१८	गोत्र-	गोत्रा-
२४	२७	द्वात्रक्त०	द्वावत्रक्त०
३८	७	०क्रमाणां'	०क्रमाणां 'सत्या'
४३	२४	अबह्य	अबाह्
४५	१०	अंशाः	१७ अंशाः
४६	४	०त्रविरत०	०त्वविरत०
५०	२६	बध्नति	बध्नन्ति
५४	२	धम्यते	गम्यते
५४	३	०नादिनाम०	०नादीनाम०
५८	१६	०वृद्धनि	०वृद्धानि
५६	३	तत्रैततत्	तत्रैतत्
६१	२४	परिस्मन्द०	परिस्पन्द०
६७	३०	०भावा०	०भवा०
८७	२८	०घयणा०	संघयणा०
६८	१४	असावगाहः	असावनगाहः
१०६	६	संमपि	सर्वमपि
११०	२	प्रततरं	प्रभूततरं
१३६	१७	ययैतानि	यथैतानि
१४४	२२	०घर्मं	०धर्मं
१४६	२४	०मुत्कर्ष्टं	०मुत्कृष्टं
१५०	२२	मिथ्यातत्र०	मिथ्यात्त्र०
१६३	१२	बधतो	बंधंतो
१९२	१२	०रहियस्य	०रहियस्स
२१३	४	त्रिंशद्रे	त्रिंशद्
२२३	१२	षड्विंशतदये	षड्विंशत्युदये
२२७	१४	०त्रौत्रं	०गोत्रं
२३२	४	शुभाऽभे	शुभा-ऽशुभे
२३३	१६	शेषास्त्वेक-विंशति-सङ्ख्याश्चतुः-सत्तास्था-नकाः	वैक्रियवायुकायानां ये त्रयो भङ्गास्ते त्रिसत्ता-स्थानकाः, शेषास्त्वष्टा-दशभङ्गाश्चतुःसत्ता-स्थानकाः,
२३५	२३	०बन्धनामे०	०बन्धकानामे०
२३७	२०	ताति	तानि
२३७	२७	०सप्रप्तिश्च	सप्रतिश्च
२४२	१६	पर	परं
२४५	८	तद्यथा-	तद्यथा-पञ्च
२६१	१८	कीर्त्ति०	कीर्त्ती०
२७६	१४	प्रज्ञान्मे०	प्रज्ञोन्मे०
२७८	१४	शेपा	शेषा
२८१	१५	उवसता	उवसंता
२८४	२०	पद्य०	वेद्य०
२९०	२१	गोति	करोति
२९७	२१	०मेलव	०लमेव
३०२	२०	यशः०	अयशः०